# जायसी ग्रंथावली

(सटीक)



# जायसी ग्रन्थावली

## पद्मावत, अखरावट, आखिरी कलाम और महरी बाईसी

## ( सटीक )

सम्पादक और टीकाकार

प्रो० मनमोहन 'गौतम' एम० ए०, साहित्यरत्न

दिल्ली कालेज, दिल्ली

भूमिका

डा० विमलकुमार जैन एम० ए०, पी-एच० डी०

प्रकाशक

**रीगल बुक डिपो**

प्रकाशक तथा पुस्तक विक्रेता

नई सड़क, देहली

प्रथम संस्करण ]    सं० १९५४    [ मूल्य ८)

# जायसी ग्रन्थावली

पद्मावत, अखरावट, आखिरी कलाम और महरी बाईसी

( सटीक )


सम्पादक और टीकाकार

प्रो० मनमोहन 'गौतम' एम० ए०, साहित्यरत्न

दिल्ली कालेज, दिल्ली

भूमिका

डा० विमलकुमार जैन एम० ए०, पी-एच० डी०



प्रकाशक

रीगल बुक डिपो

प्रकाशक तथा पुस्तक विक्रेता

नई सड़क, देहली

प्रथम संस्करण ] सं० १९५४ [ मूल्य ८)

प्रकाशक
श्री रामचन्द्र गुप्त
रीगल बुक डिपो
नई सड़क, देहली



मुद्रक
सम्राट् प्रेस
पहाड़ी धीरज, देहली

# समर्पण

जिन गुरु के अवलम्ब से,
टिकी शिष्य की टेक।
उन 'नगेन्द्र' करुणेन्द्र को,
यह श्रद्धा अभिषेक ॥

# दो-शब्द

जायसी ग्रंथावली हिंदी साहित्य के गिने-चुने महाकाव्यों में से है। विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में यह अनेक वर्षों से स्वीकृत भी रही है। यद्यइस ग्रंथावली के पाठ-संशोधन इत्यादि का कार्य विद्वानों द्वारा संपादित यथा समय हो चुका, परन्तु इसकी विस्तृत टीका की आवश्यकता बनी ही रही।

हमें हर्ष है कि उस अभाव की पूर्ति श्री गौतम जी के द्वारा हुई। वैसे इनकी रचनाएँ उच्च कक्षाओं के विद्यार्थियों में समादृत होती रही हैं।

विद्यार्थी समाज को आप की नवीनतम देन, जायसी ग्रंथावली की प्रस्तुत टीका है। सरल, सुबोध, एवं सारगर्भित टीका लिखने के अतिरिक्त पाठ-संशोधन के कार्य को आपने जिस परिश्रम एवं योग्यता से संपादित किया है, वह शोध कार्य में संलग्न व्यक्तियों के लिये प्रेरणाप्रद है। मुझे आशा ही नहीं प्रत्युत पूर्ण विश्वास है कि इस टीका से विद्यार्थी समाज को जायसी के अध्ययन में पूर्ण सहायता प्राप्त होगी।

विश्वम्भर नाथ भट्ट
एम० ए० एल-एल० बी० पी-एच० डी०
अध्यक्ष हिन्दी विभाग
दिल्ली कालेज, दिल्ली

दिल्ली—
मार्च १९५४

# विषय-सूची

# वक्तव्य

जायसी का पद्मावत एक लोकप्रिय ग्रन्थ बन चुका है, हिन्दी की उच्च कक्षाओं के पाठ्यक्रम में सर्वत्र चलता आ रहा है। पद्मावत के शुद्ध पाठ की भी एक समस्या थी क्योंकि इस प्रकार की पुस्तकों में शुद्ध पाठ का ही बहुत बड़ा महत्व होता है। नागरी प्रचारिणी-सभा द्वारा प्रकाशित ग्रन्थावली आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल द्वारा सम्पादित है, फिर भी उसके पाठ से विद्वानों को तृप्ति न थी। डा० माताप्रसाद गुप्त के अध्यवसाय से ग्रन्थावली का प्रामाणिक संस्करण हिन्दुस्तानी एकेडमी प्रयाग से प्रकाशित हुआ, पर उसके सम्बन्ध में भी आलोचकों के भिन्न-भिन्न प्रकार के मत प्रकाशित हुए। प्रस्तुत संस्करण में निम्नलिखित दृष्टिकोण रखे गये हैं—

(१) पाठ डा० गुप्त सम्पादित ग्रन्थावली का ही रखा गया है, साथ ही शब्दार्थ की टिप्पणी में पाठान्तरों का भी उल्लेख कर दिया गया है। टीका करते हुए प्रसंग, अर्थ और अवधी शैली की प्रकृति के अनुकूल जितने डा० गुप्त के पाठ टीकाकार को उपयुक्त लगे हैं उतने पं० शुक्ल सम्पादित ग्रन्थावली के नहीं, इसीलिए पाठ में प्रधानता डा० गुप्त वाली ग्रन्थावली को दी गयी है।

डा० गुप्त ने ग्रन्थावली के अनेक पदों को प्रक्षिप्त माना है और इन पदों को ग्रन्थ के अन्त में संगृहीत किया है। भूमिका में कतिपय पदों की अप्रामाणिकता का कारण भी बताया है। उनके कुछ प्रमाण तो बड़े ही उचित प्रतीत होते हैं, फिर भी प्रक्षिप्त पदों की शैली जायसी के सर्वथा अनुकूल है। पुनरुक्ति ही डा० गुप्त द्वारा प्रस्तुत किये हुए प्रमाणों में मुख्य है और यह जायसी जैसे ग्राम-कहानीकार की प्रकृति है, अतः प्रक्षिप्त मानते हुए भी ये पद यथास्थान रख दिये गये हैं, इन पदों पर पद संख्या नहीं लगी है। ऐसा करने से प्रस्तुत

ग्रन्थावली को डा० माताप्रसाद संपादित ग्रन्थावली तथा पं० शुक्ल सम्पादित ग्रन्थावली दोनों के साथ पढ़ा जा सकता है।

(२) डा० गुप्त ने अपनी ग्रन्थावली को खंडों में नहीं विभक्त किया है। पं० शुक्ल द्वारा सम्पादित ग्रन्थावली के स्तुति-खण्ड, सिंहलद्वीप वर्णन खण्ड, सुआ-खण्ड आदि शीर्षक डा० गुप्त की ग्रन्थावली में नहीं मिलते। इसमें तो छन्दों की संख्या मात्र है। सात अर्ध पंक्तियाँ और अन्त में एक दोहा मिलकर एक छन्द बनता है और इसी प्रकार (१) से आरम्भ होकर (६५३) छन्द पदमावत में मिलते हैं। इसका कारण हस्तलिखित प्रतियों का ज्यों का त्यों अनुकरण है। बात यह है कि जायसी ने फारसी-मसनवी-शैली में पदमावत की रचना की थी। फारसी की मसनवी में कथा में किसी प्रकार विभाजन नहीं होता। कवि एक सिलसिलेवार कहानी आरम्भ से अन्त तक कहता जाता है, किसी प्रकार के खंड, सर्ग आदि उसमें नहीं आते। मसनवी का मूल लेखक उसके बीच-बीच में शीर्षक नहीं डालता था पर बाद में जब सम्पादकों ने पुस्तकों का सम्पादन किया तो पाठकों की सुविधा के लिए बीच-बीच में शीर्षक लिख दिये। जलालुद्दीन रूमी, निजामी और जामी जैसे फारसी के प्रसिद्ध लेखकों की जो मसनवियाँ आज प्रकाशित हैं उनमें ये शीर्षक मिलते हैं। विशेषज्ञों का कथन है कि ये सारे शीर्षक सम्पादकों के दिये हुए हैं मूल लेखक के नहीं। प्रतीत होता है जायसी ने भी फारसी के मसनवी-कारों के अनुसरण में कोई शीर्षक या खंड नहीं दिया था और इसी लिए अनेक प्रामाणिक प्रतियों में शीर्षक नहीं मिलते। इसी लिए डा० माताप्रसाद गुप्त ने खंडों के रूप में शीर्षक नहीं दिये हैं। फिर भी फारसी की प्रायः सभी मसनवियों जैसे यूसुफ-जुलेखा, लैला-मजनू, खुसरो-शीरीं, मगजने-असरार आदि में बीच-बीच में शीर्षक उपलब्ध होते हैं। उर्दू की मसनवियों में तो इनका प्रचलन काफी है। शीर्षक से पाठकों के लिए बड़ी सुविधा हो जाती है,

अतः सम्पादक के नाते भी पं० रामचन्द्र शुक्ल का खंड-विभाजन मान्य है। प्रस्तुत संस्करण में डा० माताप्रसाद गुप्त के पदों की संख्या भी दी गयी है और खण्डों के नाम भी शुक्ल सम्पादित ग्रन्थावली से लेकर रखे गये हैं। ऐसा करने से सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों पक्षों का निर्वाह हो जाता है।

(३) पदमावत की टीका प्रस्तुत करना भी इस प्रकाशन का एक उद्देश्य रहा है। पदमावत की टीका बहुत दिनों से विद्यार्थियों की माँग सी रही है। इसके दो मुख्य कारण हैं एक तो जायसी की भाषा ग्रामीण अवधी रही है जो सरल होते हुए भी इतर भाषा-भाषियों के लिए दुर्बोध है। अवधी-भाषा-भाषी ही पदमावत का ठीक अर्थ लिख सकता है। श्री मुंशीराम शर्मा लिखित 'पदमावत भाष्य' ही एकमात्र टीका अब तक हिन्दी में उपलब्ध रही है। इसमें पदों का भावार्थ तो है पर शब्दार्थ और भाषा-विषयक टिप्पणियों का अभाव है, अतः उससे टीका का भी पूरा काम नहीं चलता। 'भाष्य' में प्रायः ऐसे भी स्थल मिलेंगे जहाँ पूर्ण अर्थ स्पष्ट करने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया है।

दूसरी बात यह है कि पदमावत फारसी शैली का मसनवी-काव्य है। फारसी मसनवियों की भान्ति कवि का उद्देश्य लौकिक कहानी के माध्यम से आध्यात्मिक तथ्य का निरूपण मात्र करना है। स्थल-स्थल पर कवि चतुराई से कथा से तनिक हट कर अपने रहस्य का गूढ़ संकेत करता है। यदि टीका में इस प्रकार के स्थलों, गूढ़ार्थों और समासोक्तियों का स्पष्टीकरण न हुआ तो टीका किस काम की? पद्य का गद्य रूप देना ही जायसी के पदमावत की टीका नहीं हो सकती। प्रस्तुत टीका में इस प्रकार के सभी स्थलों की गुत्थियों को सुलझाने का प्रयत्न किया गया है। ऐसा करने से जायसी के आध्यात्मिक सिद्धान्तों की भी क्रम-क्रम से विवेचना अर्थों के साथ होती गयी है।

जायसी का पदमावत काव्य-ग्रन्थ है। यद्यपि जायसी ने मसनवी शैली में ग्रन्थ की रचना की फिर भी उन्हें भारतीय काव्य-शास्त्र का

अतः सम्पादक के नाते भी पं० रामचन्द्र शुक्ल का खंड-विभाजन मान्य है। प्रस्तुत संस्करण में डा० माताप्रसाद गुप्त के पदों की संख्या भी दी गयी है और खण्डों के नाम भी शुक्ल सम्पादित ग्रन्थावली से लेकर रखे गये हैं। ऐसा करने से सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों पक्षों का निर्वाह हो जाता है।

(३) पद्मावत की टीका प्रस्तुत करना भी इस प्रकाशन का एक उद्देश्य रहा है। पद्मावत की टीका बहुत दिनों से विद्यार्थियों की माँग सी रही है। इसके दो मुख्य कारण हैं एक तो जायसी की भाषा ग्रामीण अवधी रही है जो सरल होते हुए भी इतर भाषा-भाषियों के लिए दुर्बोध है। अवधी-भाषा-भाषी ही पद्मावत का ठीक अर्थ लिख सकता है। श्री मुंशीराम शर्मा लिखित 'पद्मावत भाष्य' ही एकमात्र टीका अब तक हिन्दी में उपलब्ध रही है। इसमें पदों का भावार्थ तो है पर शब्दार्थ और भाषा-विषयक टिप्पणियों का अभाव है, अतः उससे टीका का भी पूरा काम नहीं चलता। 'भाष्य' में प्रायः ऐसे भी स्थल मिलेंगे जहाँ पूर्ण अर्थ स्पष्ट करने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया है।

दूसरी बात यह है कि पद्मावत फारसी शैली का मसनवी-काव्य है। फारसी मसनवियों की भान्ति कवि का उद्देश्य लौकिक कहानी के माध्यम से आध्यात्मिक तथ्य का निरूपण मात्र करना है। स्थल-स्थल पर कवि चतुराई से कथा से तनिक हट कर अपने रहस्य का गूढ़ संकेत करता है। यदि टीका में इस प्रकार के स्थलों, गूढ़ार्थों और समासोक्तियों का स्पष्टीकरण न हुआ तो टीका किस काम की? पद्य का गद्य रूप देना ही जायसी के पद्मावत की टीका नहीं हो सकती। प्रस्तुत टीका में इस प्रकार के सभी स्थलों की गुत्थियों को सुलझाने का प्रयत्न किया गया है। ऐसा करने से जायसी के आध्यात्मिक सिद्धान्तों की भी क्रम-क्रम से विवेचना अर्थों के साथ होती गयी है।

जायसी का पद्मावत काव्य-ग्रन्थ है। यद्यपि जायसी ने मसनवी शैली में ग्रन्थ की रचना की फिर भी उन्हें भारतीय काव्य-शास्त्र का

भी ज्ञान था। उनकी भाषा में आलंकारिकता ठीक उसी प्रकार की मिलती है जैसी कि तुलसी, सूर, बिहारी आदि की रचनाओं में। पदमावत एम० ए० के छात्रों का पाठ्य-ग्रन्थ भी है, अतः प्रयास किया गया है कि जायसी की शैली का भी विवेचन अर्थ के साथ-साथ होता जाय और उसमें प्राप्त अलंकारों का भी निर्देश होता जाय।

डाक्टर विमलकुमार जैन जायसी के विशेषज्ञ हैं। उन्होंने समय-समय पर टीका के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण परामर्श दिये हैं और एक छात्रोपयोगी भूमिका लिखी है। स्वकार्य में व्यस्त रहते हुए भी डा० जैन ने अपने सहयोग द्वारा हमारे उत्साह को बढ़ाया है, इसके लिए मैं इनका परम आभारी हूँ।

रीगल बुक डिपो दिल्ली द्वारा सटीक-जायसी-ग्रन्थावली के प्रकाशन का प्रयास प्रशंसनीय कहा जायेगा।

छपाई या टीका सम्बन्धी सभी प्रकार की आलोचनाओं का स्वागत होगा और आगामी संस्करण में आवश्यक संशोधन कर दिया जायेगा।

**दिल्ली कालेज**
दिल्ली विश्वविद्यालय
८ मार्च, १९५४

**मनमोहन गौतम**

# भूमिका

अन्तिम हिन्दू सम्राट् पृथ्वीराज के शहाबुद्दीन गौरी द्वारा निधन को प्राप्त हो जाने पर मुस्लिम सत्ता भारत में स्थापित हुई। सन् १२०६ में गौरी के एक गुलाम कुतुबुद्दीन ने दिल्ली का शासन अपने हाथ में लिया और गुलाम वंश की नींव डाली। उसके पश्चात् चार सुलतान वंश और हुए— खिलजी, तुगलक, सैयद और लोदी। तदनन्तर बाबर ने मुगल-शासन स्थापित किया। हिन्दी साहित्य का पूर्व मध्य काल जिसे भक्ति काल भी कहते हैं, खिलजी शासन काल से प्रारम्भ होता है। गुलाम वंश प्रथम मुस्लिम शासक वंश था अतः उसने हिन्दुओं पर इतने अत्याचार नहीं किये और किये भी तो उसकी प्रतिक्रिया आगे जाकर हुई। अलाउद्दीन खिलजी ही सर्व-प्रथम बादशाह था जिसने उत्तर से दक्षिण तक अपनी आततायिता से आतङ्क जमा दिया। राजपूताने के प्रायः सभी राजघराने परतन्त्र हो गये अतः अब हिन्दुओं के लिये आश्वासन का कोई आश्रय न था। उनके मन्दिर उनके समक्ष ध्वस्त किये जाते थे, तीर्थ भ्रष्ट होते थे, धर्म-पुस्तकें जलाई जाती थीं और उनका एवं उनकी स्त्रियों का मनमाना अपमान होता था। इस अवस्था में उन विपन्न प्राणियों का जगदीश्वर के अतिरिक्त और कोई सहारा न था। दुखियों का वही तो एकमात्र सहायक है। ऐसी विषम परिस्थिति में हिन्दू और मुसलमानों में क्रमशः शान्ति और सुबुद्धि उत्पन्न करना परमावश्यक था।

सर्वप्रथम कबीर इस पवित्र लक्ष्य को लेकर इस क्षेत्र में उतरे। उन्होंने दोनों में सद्भावना और प्रेम उत्पन्न करने के लिये एक मध्यम मार्ग खोजने का प्रयत्न किया, जिसमें मिथ्याचारों का कड़ा विरोध था। उनसे पूर्व गुरु गोरखनाथ, स्वामी रामानन्द एवं नामदेव आदि ने भी न्यूनाधिक रूप में प्रयत्न किया परन्तु इतनी प्रखरता से किसी ने भी प्रचार न किया जितना कबीर ने। स्वामी रामानन्द ने भक्ति के क्षेत्र में जाति-पाँति का भेद तो न माना परन्तु वे हिन्दू सीमा में ही आबद्ध रहे। कबीर के अतिरिक्त और भी

अनेक सन्त हुए जिन्होंने इस सद्भावना-प्रचार में योग दिया। इस कार्य में सूफी सन्तों का भी बड़ा योगदान है। यों तो मुस्लिम आक्रान्ताओं के साथ सूफी दरवेश बहुत पहले आगए थे परन्तु उनका भगीरथ प्रयत्न भक्ति काल में ही हुआ। यहाँ तक कि यहाँ के अनेक सूफी सन्तों ने अवधी में हिन्दू कथाओं को लेकर काव्य लिखे। हिन्दी के इन सूफी सन्त कवियों में मलिक मुहम्मद जायसी का स्थाम सर्वोपरि है।

## जायसी का जीवन वृत्त—

मलिक मुहम्मद जायसी हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवियों में से एक हैं। भक्तिकालिन कवियों की प्रेमाश्रयी शाखा के ये प्रतिनिधि कवि हैं। यद्यपि इनसे पूर्व कुतुबन, मञ्झन एवं और भी अनेक स्वप्नावती आदि काव्यों के रचयिता सूफी कवि हुए परन्तु जायसी ने पद्मावत की रचना कर अपना स्थान सर्वोपरि रखा। अन्य मध्यकालीन कवियों की भाँति इनके विषय में मिथ्या एवं कपोल कलिपत बातें प्रसिद्ध नहीं हैं क्योंकि इन्होंने बहुत कुछ संकेत अपने स्थान, काल एवं जीवन के सम्बन्ध में स्वयं अपने ग्रन्थों में दे दिये हैं। पद्मावत में इन्होंने अपना स्थान जायस नगर लिखा है—

जायस नगर धरम अस्थानू।
जायस नगर मोर अस्थानू। नगर क नाम आदि उदयानू॥

एक स्थान पर इन्होंने लिखा है—
तहां आइ कवि कीन बखानू।

अर्थात् वहाँ आकर कवि ने बखान किया। 'वहाँ' से तात्पर्य 'जायस नगर' है अतः तात्पर्य यह हुआ कि जायस नगर में आकर पद्मावती की कथा लिखी। इससे प्रतीत होता है कि जायसी किसी अन्य स्थान पर उत्पन्न हुए थे और जायस नगर में आकर बस गये थे। आखिरी कलाम में भी ये अपने को वहाँ का अतिथि ही लिखते हैं—

जायस नगर मोर अस्थानू। नगर क नावं आदि उदयानू॥
तहां दिवस दस पहुने आएउँ। भा वैराग बहुत सुख पाएउँ॥

इस अन्तःसाक्ष्य के आधार पर डा० ग्रियर्सन आदि अनेक विद्वानों ने

# भूमिका

अन्तिम हिन्दू सम्राट् पृथ्वीराज के शहाबुद्दीन गौरी द्वारा निधन को प्राप्त हो जाने पर मुस्लिम सत्ता भारत में स्थापित हुई। सन् १२०६ में गौरी के एक गुलाम कुतुबुद्दीन ने दिल्ली का शासन अपने हाथ में लिया और गुलाम वंश की नींव डाली। उसके पश्चात् चार सुलतान वंश और हुए— खिलजी, तुगलक, सैयद और लोदी। तदनन्तर बाबर ने मुगल-शासन स्थापित किया। हिन्दी साहित्य का पूर्व मध्य काल जिसे भक्ति काल भी कहते हैं, खिलजी शासन काल से प्रारम्भ होता है। गुलाम वंश प्रथम मुस्लिम शासक वंश था अतः उसने हिन्दुओं पर इतने अत्याचार नहीं किये और किये भी तो उसकी प्रतिक्रिया आगे जाकर हुई। अलाउद्दीन खिलजी ही सर्व-प्रथम बादशाह था जिसने उत्तर से दक्षिण तक अपनी आततायिता से आतङ्क जमा दिया। राजपूताने के प्रायः सभी राजघराने परतन्त्र हो गये अतः अब हिन्दुओं के लिये आश्वासन का कोई आश्रय न था। उनके मन्दिर उनके समक्ष ध्वस्त किये जाते थे, तीर्थ भ्रष्ट होते थे, धर्म-पुस्तकें जलाई जाती थीं और उनका एवं उनकी स्त्रियों का मनमाना अपमान होता था। इस अवस्था में उन विपन्न प्राणियों का जगदीश्वर के अतिरिक्त और कोई सहारा न था। दुखियों का वही तो एकमात्र सहायक है। ऐसी विषम परिस्थिति में हिन्दू और मुसलमानों में क्रमशः शान्ति और सुबुद्धि उत्पन्न करना परमावश्यक था।

सर्वप्रथम कबीर इस पवित्र लक्ष्य को लेकर इस क्षेत्र में उतरे। उन्होंने दोनों में सद्भावना और प्रेम उत्पन्न करने के लिये एक मध्यम मार्ग खोजने का प्रयत्न किया, जिसमें मिथ्याचारों का कड़ा विरोध था। उनसे पूर्व गुरु गोरखनाथ, स्वामी रामानन्द एवं नामदेव आदि ने भी न्यूनाधिक रूप में प्रयत्न किया परन्तु इतनी प्रखरता से किसी ने भी प्रचार न किया जितना कबीर ने। स्वामी रामानन्द ने भक्ति के क्षेत्र में जाति-पाँति का भेद तो न माना परन्तु वे हिन्दू सीमा में ही आबद्ध रहे। कबीर के अतिरिक्त और भी

अनेक सन्त हुए जिन्होंने इस सद्भावना-प्रचार में योग दिया। इस कार्य में सूफी सन्तों का भी बड़ा योगदान है। यों तो मुस्लिम आक्रान्ताओं के साथ सूफी दरवेश बहुत पहले आगए थे परन्तु उनका भगीरथ प्रयत्न भक्ति काल में ही हुआ। यहाँ तक कि यहाँ के अनेक सूफी सन्तों ने अवधी में हिन्दू कथाओं को लेकर काव्य लिखे। हिन्दी के इन सूफी सन्त कवियों में मलिक मुहम्मद जायसी का स्थाम सर्वोपरि है।

## जायसी का जीवन वृत्त—

मलिक मुहम्मद जायसी हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवियों में से एक हैं। भक्तिकालिन कवियों की प्रेमाश्रयी शाखा के ये प्रतिनिधि कवि हैं। यद्यपि इनसे पूर्व कुतुबन, मञ्झन एवं और भी अनेक स्वप्नावती आदि काव्यों के रचयिता सूफी कवि हुए परन्तु जायसी ने पद्मावत की रचना कर अपना स्थान सर्वोपरि रखा। अन्य मध्यकालीन कवियों की भाँति इनके विषय में मिथ्या एवं कपोल कल्पित बातें प्रसिद्ध नहीं हैं क्योंकि इन्होंने बहुत कुछ संकेत अपने स्थान, काल एवं जीवन के सम्बन्ध में स्वयं अपने ग्रन्थों में दे दिये हैं। पद्मावत में इन्होंने अपना स्थान जायस नगर लिखा है—

जायस नगर धरम अस्थानू।
जायस नगर मोर अस्थानू। नगर क नाम आदि उद्यानू॥

एक स्थान पर इन्होंने लिखा है—
तहां आइ कवि कीन बखानू।

अर्थात् वहाँ आकर कवि ने बखान किया। 'वहाँ' से तात्पर्य 'जायस नगर' है अतः तात्पर्य यह हुआ कि जायस नगर में आकर पद्मावती की कथा लिखी। इससे प्रतीत होता है कि जायसी किसी अन्य स्थान पर उत्पन्न हुए थे और जायस नगर में आकर बस गये थे। आखिरी कलाम में भी ये अपने को वहाँ का अतिथि ही लिखते हैं—

जायस नगर मोर अस्थानू। नगर क नावं आदि उद्यानू॥
तहां दिवस दस पहुने आएउँ। भा वैराग बहुत सुख पाएउँ॥

इस अन्तःसाक्ष्य के आधार पर डा० ग्रियर्सन आदि अनेक विद्वानों ने

यह अनुमान लगाया कि जायसी जायस नगर के निवासी नहीं थे तथा वे किसी अन्य स्थान से आकर जायस में रहने लगे थे। परन्तु यह मत हमें मान्य नही क्योंकि 'जायस नगर धरम अस्थानू' इस वाक्य से स्पष्ट विदित होता है कि जायस नगर इनका धर्मस्थान था। धर्मस्थान से तात्पर्य पवित्र स्थान से है और मनुष्य को अपनी जन्मभूमि ही सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वप्रिय जान पड़ती है। 'स्वर्गादपि गरीयसी' केवल दो ही वस्तु होती हैं--- जननी और जन्मभूमि। जायसी के लिए जायस नगर इसीलिये तीर्थस्थान के समान था। हाँ, इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि ये बाल्यकाल में ही अपनी जन्मभूमि से अन्यत्र चले गए थे और पुनः वहाँ आकर बसे थे। तदनन्तर भी ये वहाँ से यत्र-तत्र जाया करते थे और पुनः वहाँ आ जाया करते थे।

इन्होंने अपने जन्म-काल के विषय में भी संकेत दिए हैं जिनसे निश्चित संवत्सर तक पहुँचना सुलभ ही है। आखिरी कलाम में इन्होंने लिखा है—

भा औतार मो नौ सदी। तीस बरिस ऊपर कवि बदी॥

अर्थात् मेरा जन्म 'नौ सदी' के अनन्तर हुआ और जन्म से तीस वर्ष हो जाने पर मैंने इस ग्रन्थ की रचना की। इसके पश्चात् इस ग्रन्थ का निर्माण काल बतलाते हुए लिखते हैं—

नौ सौ बरिस छतीस जो गए। तब एहि कथा के आखर कहे।।

इससे स्पष्ट है कि हिजरी सन् ९३६ या सन् १५२८ ई० में इन्होंने आखिरी कलाम लिखा। यह बतला ही चुके हैं कि जन्मोपरान्त तीस वर्ष हो जाने पर इसे लिखा था। इससे यह सिद्ध होता है कि इनका जन्म काल हिजरी सन् ९०६ है। 'भा औतार मो नौ सदी' में 'नौ सदी' से तात्पर्य नौवीं सदी के पश्चात्' है। यह ठीक भी है क्योंकि हिजरी सन् ९३६ सन् १५२८ ई० के लगभग पड़ता है, जो मुगल सम्राट् बाबर का शासन-काल है। इन्होंने आखिरी कलाम में बाबर की प्रशंसा की भी है--

बाबर साह छत्रपति राजा। राजपाट उन कहँ विधि साजा॥

इन्होंने अपना एवं अपने सम्बन्धियों का परिचय देते हुए भी अनेक बातें लिखी हैं। इन्होंने लिखा है कि वे एक आँख और एक कान से

वञ्चित थे---

मुहम्मद बाईं दिसि तजा, एक सवरन, एक आंखि।

सम्भवतः यह शरीर-हानि जन्म से नहीं थी क्योंकि कवि ने 'तजा' शब्द से स्पष्ट कर दिया है कि वामाङ्ग और एक श्रवण एवं एक आँख ने उन्हें त्याग दिया, त्याग भाव के पश्चात् ही होता है अतः सिद्ध होता है कि पहले वे सर्वाङ्ग से क्रियाशील थे पर किसी रोग से उन्हें उक्त हानि उठानी पड़ी। 'बाइँ दिसि तजा' से प्रतीत होता है कि उन्हें अर्धाङ्ग ने विकृत कर दिया था अतएव एक आंख और कान भी संज्ञा शून्य हो गए थे। किसी-किसी के अनुसार चेचक से कुरूपता हुई थी परन्तु चेचक से अर्धाङ्ग विकृत या चेष्टाहीन नहीं होता उससे तो सर्वांश में समग्र कलेवर ही विकृत होता है।

इनके एक पुत्र भी था परन्तु वह किसी दुर्घटना से निधन को प्राप्त हो गया था अतः जायसी विरक्त हो गए थे। इन्होंने अपने चार मित्र भी लिखे हैं--मलिक यूसुफ, सलार कादिम, सलोने मियाँ और बड़े शेख।

ये सुन्दर तो न थे परन्तु माने हुए सन्त होने के कारण अमेठी के राजघराने में इनका बड़ा सम्मान था। राजा रामसिंह इन्हें बड़ी नम्रता से सम्मानित करते थे। कहते हैं कि मृत्यु से पूर्व इन्होंने राजा को बतला दिया था कि वे एक शिकारी की गोली से मरेंगे। राजा ने उस वन के चारों ओर पहरा लगा दिया, जिसमें जायसी निवास करते थे परन्तु 'जैसो हो भवितव्यता तैसी-मिले सहाय' के अनुसार एक दिन जायसी ने सिद्धि बल से बाघ का रूप धारण कर लिया और शिकारी ने गोली मार दी। अमेठी के कोट से थोड़ी दूर पर ही इनकी समाधि आज भी विद्यमान है।

निर्गुणिए सन्तों की भाँति सूफी भी गुरु-महिमा में विश्वास रखते हैं। जायसी ने भी अपने गुरुओं की प्रशंसा बड़ी श्रद्धा से की है। इन्होंने अपने तीनों ही ग्रन्थों--- पद्मावत, अखरावट और आखिरी कलाम में अपने गुरु का उल्लेख किया है। पदमावत में एक स्थान पर सैयद असरफ जहाँगीर को अपना गुरु लिखा है और दूसरे स्थान पर शेख मोहिदी (मुहीउद्दीन) को---

सैयद असरफ पीर पियारा। जेहि माहि पंथ दीन उजियारा॥

गुरु मोहिदी खेवक मैं सेवा । चले उताउल जेहि कर खेवा ॥

अखरावट में भी इन दोनों को ही गुरु माना है —

कही तरीकत चिश्ती पीरू । उधरित असरफ औ जहाँगीरू ॥
पा पाएउँ गुरु मोहिदी मीठा । मिला पंथ सो दरसन दीठा ॥

इस प्रकार पदमावत और अखरावट दोनों में ये असरफ जहाँगीर और शेख मुहीउद्दीन को अपना गुरु स्वीकार करते हैं परन्तु आखिरी कलाम में इन्होंने सैयद असरफ जहाँगीर को ही अपना गुरु और अपने को शिष्य माना है ।

मानिक एक पाएउँ उजियारा । सैयद असरफ पीर पियारा ॥
जहाँगीर चिश्ती निरमरा । कुल जग महँ दीपक विधि धरा ॥
तिन्ह घर हों मुरीद सो पीरू । संवरत विनु गुरु लावे तीरू ॥

जायसी ने इन दोनों पीरों की वंशावली भी दी है । पदमावत के स्तुति खंड में ये लिखते हैं—

सैयद असरफ पीर पियारा । जेहि मोहि पंथ दीन्ह उँजियारा ॥

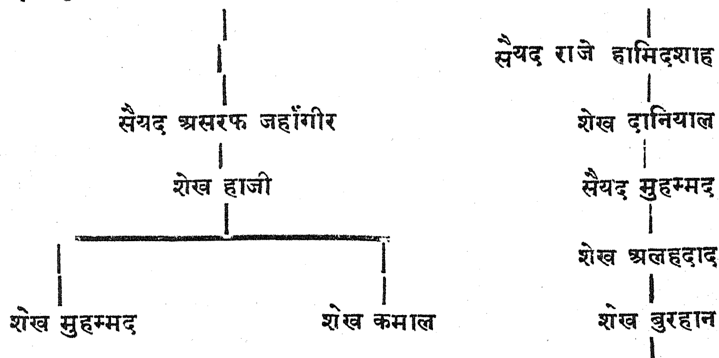
  

ओहि घर रतन एक निरमरा । हाजी सेख सबै गुन भरा ॥
तेहि घर दुइ दीपक उजियारे । पंथ देइ कहँ दैव सँवारे ॥
सेख मुहम्मद पून्यो-करा । सेख कमाल जगत निरमरा ॥

गुरु मोहिदी खेवक में सेवा । चले उताउल जेहि कर खेवा ॥
अगुवा भयउ सेख बुरहानू । पंथ लाइ जेहि दीन्ह गियानू ॥
अलहदाद भल तेहि कर गुरु । दीन दुनी रोसन सुरखुरु ॥
सैयद मुहमद के वै चेला । सिद्ध पुरुष-संगम जेहि खेला ॥
दानियाल गुरु पंथ लखाए । हजरत ख्वाज खिजिर तेहि पाए ॥
भए प्रसन्न ओहि हजरत ख्वाजे । लिये मेरइ जहँ सैयद राजे ॥

इस गुरु-परम्परा की तालिका निम्न प्रकार से बनाई जा सकती है।




शेस महोदी ( मुहीउद्दीन )

इस विवरण से प्रतीत होता है कि इन्होंने सैयद अशरफ जहाँगीर की शिष्य परम्परा और शेख मोहिदी की गुरु परम्परा ही लिखी है। सैयद अशरफ एवं सैयद राजे हामिदशाह से पूर्व गुरु परम्परा नहीं लिखी। परन्तु यह निश्चित है कि ये दोनों ही शाखाएँ निजामुद्दीन औलिया से सम्बन्ध रखती हैं। अतः यह निर्विवाद है कि जायसी निजामुद्दीन औलिया की शिष्य परम्परा में थे।

## रचनाएँ—

नागरी प्रचारिणी सभा, बंगाल एशियाटिक सोसाइटी, सैयद कल्वे मुस्तफा, डा० स्प्रेंगर और पं० रामचन्द्र शुक्ल एवं जनश्रुति के आधार पर इनकी कृतियों की जो सूची मिली है, उससे ज्ञात होता है कि वे संख्या में लगभग बीस हैं। सूची इस प्रकार है—

| | |
|---|---|
| १. पद्मावत | ७. मेहरी बाइसी |
| २. अखरावट | ८. पोस्तीनामा |
| ३. आखिरी कलाम | ९. मटरावत |
| ४. सखरावत | १०. खुर्वानामा |
| ५. चंपावत | ११. मोराईनामा |
| ६. इतरावत | १२. मुकहरानामा |

१३. मुहपनामा
१४. नैनावत
१५. कहारनामा
१६. मेखरावटनामा
१७. घनावत
१८. स्फुट छन्द
१९. सोरठ
२०. परमार्थ जपजी

इनमें से पदमावत, अखरावट और आखिरी कलाम ही उपलब्ध हैं।

'आखिरी कलाम' में कयामत अर्थात् निर्णय के दिन का वर्णन है। इसकी रचना इन्होंने तीस वर्ष की आयु में की थी। उस समय जायसी सूफीमत के रंग में नहीं रँगे थे। इसमें अल्लाह के आदेशानुसार मकाईल, जिबरईल, इसराफील और अजराईल फरिश्तों से प्रलय की घटना का वर्णन है। पुनः पुनर्जागरण, निर्णय तथा स्वर्ग के आनन्द का वर्णन है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि जायसी उस समय कुरान एवं हदीसों पर विश्वास रखते थे अतएव उन्होंने कट्टर मुसलमान की भाँति मुहम्मद साहब एवं फरिश्तों का चित्रण उन्हीं के अनुसार किया है।

'अखरावट' में सूफी सिद्धान्तों का प्रतिपादन है। वर्णमाला के कुछ अक्षरों को लेकर एक-एक वर्ण पर अक्रम से उनका विवेचन किया गया है। ईश्वर, सृष्टि, जीव, संसार-असारता, ईश्वरीय प्रेम एवं उनके साधनों का बड़े सुन्दर ढंग से विवेचन हुआ है।

इसके अनुसार सूफीमत के तत्वों का निरूपण इस प्रकार किया जा सकता है। सर्वादि और सर्वान्त ईश्वर ही है। चौदह भुवनों का विस्तार उसी का खेल है और इनमें वही व्याप्त है। इन भुवनों में अठारह सहस्र योनियों के सभी जीव उसी से उत्पन्न हुए हैं। यह दृश्य जगत् उसी का प्रपञ्च है। वास्तव में वही एक है, दूसरा कोई नहीं। वही नाना नामोपाधिरूप में प्रद-र्शित हो रहा है। सर्वप्रथम शून्य ही था, जिसमें वही ईश्वर व्याप्त था। तदनन्तर उसने मुहम्मद नाम की ज्योति का निर्माण किया और पुनः उसी के निमित्त सृष्टि की रचना की। सृष्टि में अष्टादश सहस्र योनियों का सृजन हुआ और उनमें पुण्य-पाप एवं तत्परिणाम स्वरूप सुख और दुख का विधान हुआ। ये अठारह हजार योनियाँ कोई भिन्न पदार्थ नहीं थीं। वही एक जल-संघात अठारह हजार बिन्दुओं और उप-बिन्दुओं में बरस पड़ा था, तदनन्तर

प्रकृति के नाना रूप-सागर, पर्वत, सूर्य, चाँद, तारे, वनस्पति, अन्न, फल-फूल आदि - सत्ता में आये। मुहम्मद साहब के लिए सृष्टि की रचना एवं अष्टादश सहस्र योनियों का विधान इस्लाम के अनुसार ही है। परन्तु सातवें आकाश पर सुन्दर पादपीठ पर विराजित अल्लाह के स्थान पर सर्व-व्यापक ईश्वर की मान्यता कुरान के विधान (शरीअत) के निपट विरुद्ध है।

वास्तव में सूफियों की दृष्टि में कुरान एक पवित्र ग्रन्थ और मुहम्मद साहब एक महान् पुरुष थे अतः वे इनका आदर तो करते थे परन्तु इस्लाम के अनुसार इन पर विश्वास न रखते थे। ईश्वर की सर्वव्यापकता एवं अद्वैतता में उन पर अद्वैत का प्रभाव स्पष्ट था। सम्पूर्ण सृष्टि उसी के सौन्दर्य का प्रदर्शन है। ईश्वर सर्वाधिक सुन्दर है अतः उसे अपने से ही प्रेम हो गया और आत्म-सौन्दर्य के अवलोकनार्थ ही उसने अपने को नाना रूपों में बिखेर दिया। इस प्रकार यह सृष्टि उसी के सौन्दर्य का प्रदर्शन है। जीव उसी का अंग है परन्तु प्रपंच में पड़ा हुआ वह भेदवृत्ति से युक्त हो गया है अतएव अहंभाव में लीन हुआ संसार में लिप्त रहता है। उसका विकृत आत्म-तत्त्व वास्तविकता की ओर उसे बढ़ने नहीं देता और न उसके अन्तः स्थल में वह स्थिति आने देता है, जिसमें वह अपने मूल स्रोत को पहचान कर एकीभाव में लीन हो सके। यद्यपि पाप और पुण्य उसी ईश्वर के दो रूप हैं तथापि संसार पक्ष में ये दुख-सुख के जनक हैं। अतः पृथक् से प्रतीत होते हैं तथा जीव को संसार-प्रपंच से मुक्त नहीं होने देते। विविध वासनाएं इन्हीं से पैदा होती हैं और पुनः इन्हीं की जननी भी होती हैं।

इस प्रपञ्च से मुक्त होने के लिए साधक को सर्वप्रथम शरीअत की स्थिति में साधना के लिए बाह्य विधानों का भी आश्रय लेना पड़ता है। पुनः वह मुरशिद (गुरु) द्वारा पथ-प्रदर्शक के प्रकाश में सच्चा मुरीद (शिष्य) बनकर तरीकत की अवस्था में ज्ञान के पथ पर आगे बढ़ता है। इस स्थिति में उसके कल्ब (हृदय) में एकनिष्ठा होती है, जिसके परिणामस्वरूप वह हकीकत (वास्तविकता) से परिचित होता है। तदनन्तर वह मारिफत की स्थिति में पहुँचता है। इसमें हाल (हर्षोन्माद) की अवस्था से वह फना (स्व-लीनता) और बका (तद्रूपावस्था) की स्थिति में पहुँच जाता है। यहीं उसे प्रियतमा

का साक्षात्कार होता है। सूफियों की 'फना' स्थिति बौद्धों के निर्वाण का ही प्रतिरूप है। अन्तर इतना है कि निर्वाण शरीर-त्याग पर होता है और फना की स्थिति हाल अवस्था के पश्चात् प्रियतम के मानसिक मिलन में ही है। इस प्रकार एक सूफी अपने इसी जीवन में अनेक बार इस स्थिति में पहुंच सकता है। फना और बका दोनों एक ही अवस्था के निषेधात्मक और विधेयात्मक दो रूप है। फना आत्म-निलय रूप निषेधात्मक अवस्था है तो बका तद्रूप विधेयात्मक स्थिति है।

इस साधना में सूफियों के यहाँ अन्तर्यात्रा होती है, जिस पर सात कयाम होते हैं। वे सात स्थितियाँ ही हैं। तदनन्तर साधक ब्रह्मरन्ध्र में ब्रह्म का साक्षात्कार करता है। इसमें योग का भी महत्त्व स्वीकृत किया गया है। बाह्य सूफीमत से भारतीय सूफीमत में यही एक विशेषता है।

प्रेम तो सूफी-साधना का तत्व है। वास्तव में सूफीमत का सारा ढाँचा इसी की आधारशिला पर खड़ा है। सूफियों का ईश्वर जहाँ सौन्दर्यरूप है वहाँ प्रेमरूप भी है। यह मान्यता ईसाईमत के अनुसार ही है। बाइबल में लिखा है—"God is love, God is beauty" परन्तु सूफीमत में ईश्वर की मान्यता ईसाईमत से भिन्न है। ईसाई ईश्वर, सृष्टि एवं जीव के सम्बन्ध में अद्वैत के पक्षपाती नहीं। सूफियों का विश्वास है कि प्रेमी ईश्वर को अपने सौन्दर्य से ही प्रेम हो गया, इसी रति के परिणामस्वरूप सृष्टि सत्ता में आई। एक सूफी भी अपने ईश्वर को रिझाने के लिए प्रेम को ही प्रमुख साधन बनाता है। वह सांसारिक प्रेम से ( इश्के मजाजी से ) ईश्वरीय प्रेम ( इश्के हकीकी ) को जगाता है। वह ज्ञान, ( इल्म ), ध्यान और जाप (जिक्र) का भी आश्रय लेता है परन्तु प्रेम ( इश्क ) उनमें सूत्र की भांति पिरोया रहता है। इसी प्रेम के आवेश में वह ईश्वर को अपनी प्रियतमा के रूप में देखता है और न जाने क्या-क्या जल्पना करता है। यही प्रेमोन्माद उसे हाल की अवस्था में पहुँचा देता है और अन्त में प्रियतमा के साक्षात्कार का कारण बनता है।

सूफी इस साधना में बाह्याचार के पक्षपाती नहीं हैं परन्तु वे निर्गुणी सन्तों की भाँति खण्डन भी नहीं करते क्योंकि संसार को उन्होंने उनके

समान मिथ्या नहीं माना तथा पुण्य-पाप को ईश्वरीय रूप ही स्वीकृत किया है अतः उनकी दृष्टि में जो जैसा है, ठीक है।

## पद्मावत—

यह काव्य ही वास्तव में जायसी को अमर बनाने वाली रचना है। यह बड़ी प्रौढ़ कृति है और हिन्दी-साहित्य का एक अमूल्य रत्न है। कवि ने रचना-काल के विषय में लिखा है—

सन् नवसै सत्ताइस अहा। कथा अरंभ बैन कवि कहा॥

अर्थात् हिजरी सन् ९२७ था, जब इस कथा का आरम्भ किया। हिजरी सन् ९२७ ई० सन् १५२० के लगभग पड़ता है, जो कि लोधी वंश का शासन-काल है। परन्तु जायसी ने पद्मावत के स्तुतिखण्ड में ईश्वर, मुहम्मद साहब एवं खलीफाओं की स्तुति करने के पश्चात् दिल्ली के सुलतान शेरशाह की प्रशंसा की है। मसनबियों की शैली के अनुसार शाहे वक्त .ी प्रशंसा होती है। शेरशाह का समय इतिहास के अनुसार सन् १५४०ई० है, जब वह दिल्ली के सिंहासन पर समासीन हुआ था। जायसी के निर्दिष्ट निर्माण काल एवं इस काल में विरोध उपस्थित होता है, अतः इसका यही समुचित समाधान जान पड़ता है कि सन् १५२० ई० में इसे प्रारम्भ किया होगा। कुछ अंश भी बनाया होगा परन्तु इसे समाप्त शेरशाह के समय में ही किया। 'सन् नवसै सत्ताइस अहा' इत्यादि में 'अहा' और 'कहा' भूतकालिक क्रिया रूपों से भी यही ज्ञात होता है कि आरम्भ जब किया था तब हिजरी सन् ९२७ था।

इस काव्य की रचना मसनबियों की पद्धति पर हुई है। मसनबियों में प्रथम अल्लाह, तदनन्तर क्रमशः मुहम्मद साहब, खलीफाओं, शाहेवक्त (तत्कालीन राजा) और गुरु की स्तुति होती है तथा सर्गों के नाम प्रसंगानुसार होते हैं। पदमावत में भी ऐसा ही है।

ऐसा होते हुए भी इसमें महाकाव्य के सभी लक्षण मिलते हैं। राजा रत्नसेन क्षत्रियकुलोत्पन्न धीरोदात्त नायक है और पद्मावती तदनुकूल नायिका है। इसमें ५८ सर्ग हैं और उन सर्गों में सात-सात अर्धालियों के पश्चात् एक-एक दोहे के क्रम से कथा का वर्णन है। इसमें प्रकृति वर्णन, ऋतु वर्णन, युद्ध वर्णन-विवाह वर्णन तथा और भी अनेक प्रकार के वर्णनों का योग है।

कथानक भी रत्नसेन के दीर्घकालीन जीवन से सम्बन्ध रखता है और उद्देश्य भी महान् है जिसमें अन्ततोगत्वा सफलता भी है। काव्य का दुखान्त होना मसनवी शैली का परिणाम है।

इसकी कथा हिन्दू परिवार से सम्बन्ध रखती है और ऐतिहासिकता लिये हुए है। इसकी कथा को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—प्रथम पद्मावती के विवाहोपरान्त चित्तौड़ लाए जाने तक की और राघव चेतन के चित्तौड़ से चले जाने तक की कथा तथा दूसरा भाग अलाउद्दीन के चित्तौड़ पर आक्रमण करने के पश्चात् की कथा से सम्पुष्ट है। प्रथमांश में अनैतिहासिकता अधिक है। इतिहास के अनुसार चित्तौड़ के राजा रत्नसेन नहीं, भीमसिंह थे और पद्मावती के स्थान पर पद्मिनी सिंहल के राजा गन्धर्वसेन की पुत्री न होकर हम्मीर शंक की कन्या थी। इस अंश को हम कल्पित ही कहेंगे क्योंकि नामों के अतिरिक्त कथा भी मनघड़न्त है, जिसमें रत्नसेन हीरामन तोता से पद्मावती के रूप सौन्दर्य की प्रशंसा सुनकर सोलह सहस्र राजकुमारों के साथ उसके वियोग में योगी हो जाता है और अपनी परिणीता स्त्री नागमती का परित्याग कर उसकी प्राप्ति के लिए अनेक कष्ट सहता हुआ सिंहलद्वीप जाता है, जहाँ हिन्दू-देवताओं की सहायता से वह गन्धर्वसेन को परास्त कर पद्मावती का पाणिग्रहण करता है और पुनः पक्षी से नागमती के विषम वियोग का समाचार पाकर पद्मावती के साथ चित्तौड़ आता है। राघव चेतन का रूप-दर्शन पाना और कड़े की कथा भी कल्पित ही है। कथा के उत्तरांश में ऐतिहासिकता अधिक है। पद्मावती ( पद्मिनी ) की प्रशंसा सुनकर दिल्ली का बादशाह अलाउद्दीन चित्तौड़ पर आक्रमण करता है। पुनः बादशाह दर्पण के षड्यन्त्र से राजा को बन्दी बनाकर दिल्ली ले जाता है, तदनन्तर रानी गोरा-बादल की सहायता से उसे छुड़ा लाती है। यह प्रसंग इतिहास के अनुसार ही है। किन्तु इसके पश्चात् देवपाल की कथा कल्पित है, जिसमें देवपाल राजा की अनुपस्थिति में पद्मावती के पास एक दूती भेजता है और जब राजा लौटने पर इस दुष्ट प्रस्ताव के विषय में सुनता है तो देवपाल से युद्ध करता है, जिसमें दोनों ही मारे जाते हैं।

इस सम्पूर्ण कथा में एक रहस्यात्मकता रही हुई है। जायसी ने इसकी पुष्टि के निमित्त स्थान-स्थान पर संकेत भी किए हैं। अन्त में तो उन्होंने स्पष्ट ही लिख दिया है—

मैं एहि अरथ पंडितन्ह बूझा। कहा कि इन्ह किछु और न बूझा॥
चौदह भुवन जो तर उपराहीं। ते सब मानुष के घट माहीं॥
तन चितउर, मन राजा कीन्हा। हिय सिंहल, बुधि पदमिनि चीन्हा॥
गुरु सुआ जेइ पंथ देखावा। बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा॥
नागमती यह दुनिया धंधा। बांधा सोइ न एहि चित बंधा॥
राघव दूत सोई सैतानू। माया अलाउद्दीन सुलतानू॥
प्रेम कथा एहि भाँति विचारहु। बूझि लेहु जौ बूझै पारहु॥

इसके अनुसार पिण्ड में ही ब्रह्माण्ड माना है। चित्तौड़ शरीर का प्रतीक है, सिंहल हृदय है, पद्मिनी ( पद्मावती ) बुद्धि है, तोता गुरु है। नागमती संसार का प्रपञ्च है, राघव शैतान है और सुलतान अलाउद्दीन माया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि जायसी स्वयं इस कथा में अध्यात्म के पक्षपाती हैं।

इस अध्यात्म को संक्षेप से हम इस प्रकार कह सकते हैं कि शरीर में हृदय एक चेतनांश है जो साधना द्वारा बुद्धि अर्थात् ईश्वरीय शक्ति को प्राप्त करने के लिए अग्रसर होता है। इस मार्ग पर गुरु पथ-प्रदर्शन करता है और उसकी कृपा से साधक सिद्धि के रहस्य से परिचित होता है। संसार का प्रपञ्च उसे अपनी ओर खींचता है, माया मोहिनी डालती है और शैतान उसे पथ-भ्रष्ट करना चाहता है तथा अनेक बाधाएँ भी मार्ग में आती हैं परन्तु अन्त में सत्य, धर्म एवं नियम के बल से वह सब पर विजय प्राप्त करता हुआ अपने लक्ष्य तक पहुँचता है।

इनमें रत्नसेन को प्रेम मार्ग का साधक चित्रित किया गया है। पद्मावती रूप ईश्वरीय शक्ति की प्राप्ति ही उसका चरम लक्ष्य है। नागमती प्रपञ्च, अलाउद्दीन रूप माया और राघव रूप शैतान अनेक कष्टों के कारण बनते हैं तथा समुद्र आदि रूप और भी अनेक बाधाएँ उपस्थित होती हैं परन्तु अन्त में सत्य के बल पर वह सिंहलद्वीप रूप हृदय (शिवलोक) में पहुंच कर ऊपर

चढ़ता है और पुनः चार या सात स्थितियों के पश्चात् ब्रह्मरन्ध्र में पहुंचता है। वहाँ उसे पद्मावती रूप सिद्धि की प्राप्ति होती है।

कथा में जो नखशिख, युद्ध, भोजन एवं शकुन आदि का वर्णन हुआ है उसने मूल रहस्यात्मक प्रवृत्ति में बड़ी बाधा उपस्थित की है। इसीलिए अनेक व्यक्ति अनेक स्थानों पर संकेतों के रहते हुए भी रहस्यात्मकता नहीं मानते परन्तु यह उनकी भूल है क्योंकि कथा में समग्र वाक्य एवं शब्द समुदाय से व्यजना नहीं होती। प्रस्तुत काव्य में जिस रहस्य की अभिव्यक्ति की गई है, वह प्रधान कथा-सूत्र में ही समझनी चाहिए न कि सविस्तार वर्णन सहित समूची काव्य-पदावली में। यह भी कहा जाता है कि नागमती संसार-प्रपंच का प्रतीक है किन्तु वह राजा की प्रिया है और अन्त में पद्मावती की प्रिय सहचरी होकर राजा के साथ सहयोगिनी की भाँति रहती है, जो ठीक नहीं है क्योंकि ब्रह्म और जीव के मेल में माया का मिलन अनुचित है। यह कहना भी ठीक नहीं क्योंकि सूफीमत में भला और बुरा दोनों ही ईश्वर के रूप हैं अतः इससे उपयुक्त विषय में कोई व्यभिचार नहीं आता।

प्रेम काव्यों में हम इसे प्रतिनिधि काव्य कह सकते हैं क्योंकि क्या काव्य की दृष्टि से और क्या अध्यात्म की दृष्टि से यह सर्वोत्कृष्ट है। नागमती-खण्ड में विरहवेदना की जो अभिव्यक्ति हुई है वह अनुपमेय है।

अन्य सूफी प्रेम काव्यों की भाँति इसमें भी नाथपंथ का व्यापक प्रभाव है। रत्नसेन स्वयं योगी हो कर जाता है। हठयोग को भी जायसी ने अंशतः ग्राह्य माना है, जिसके परिणाम स्वरूप इडा, पिंगला, सुषुम्णा और ब्रह्मरन्ध्र आदि को इन्होंने यत्र-तत्र प्रतिपादित किया है। इसके साथ वेदान्त का तो पूर्ण प्रभाव ही है क्योंकि साधना द्वारा जीवात्मा का परमात्मा से अभेद रूप में मिलन ही वस्तुतः इसका वर्ण्य विषय है।

पदमावत में काव्य-कला का सुन्दर आदर्श हमें दृष्टिगोचर होता है। इसकी कथा का आधार रत्नसेन का पद्मावती के प्रति प्रेम है। प्रेम-काव्य होने के कारण इसमें प्रधान रस शृंगार है। शृंगार के दोनों ही पक्ष संयोग और वियोग का इसमें बड़ा ही मार्मिक चित्रण हुआ है। यह काव्य मसनवियों के ढंग पर लिखा गया है परन्तु इसमें जायसी की अपनी मौलिकता

है जो भारतीय रंग से संपृक्त है। मसनवियों में नायक की ही विकलता और तड़पन का एकपक्षीय वर्णन रहता था परन्तु जायसी ने प्रेमावेश का चित्रण दोनों ही पक्ष में किया है। नागमती का वियोग वर्णन भारतीय पद्धति पर ही हुआ है। इस काव्य के प्रेम-चित्रण में एक आदर्श है और है अध्यात्म की गहनतम ऊँचाई।

शृंगार के अतिरिक्त अन्य रसों का चित्रण बहुत ही कम हुआ है। हास्य का तो प्रायः अभाव सा ही है। करुण का चित्रण दो प्रसङ्गों में मिलता है—एक तो रत्नसेन के योगी होने पर और पुनः देवपाल से युद्ध करते हुए मारे जाने पर। रौद्र की झलक मात्र तब दिखाई देती है जब रत्नसेन अलाउद्दीन का पत्र प्राप्त करता है। वीर रस की व्यंजना युद्धों में हुई है। युद्ध वर्णन में भयानक एवं बीभत्स रसों का चित्रण भी हमें मिलता है। चमत्कारपूर्ण वर्णन और संसार-नश्वरता के प्रतिपादन में क्रमशः अद्भुत और शान्त रस भी यत्र-तत्र व्यक्त हुए हैं।

प्रबन्ध काव्य की दृष्टि से इसमें कथा का निर्वाह बड़े सुन्दर रूप से हुआ है। आधिकारिक कथावस्तु को लक्ष्य तक पहुँचाने के लिए अनेक प्रासंगिक कथाओं ने बड़ा योग दिया है। सिंहलद्वीप वर्णन, यात्रा वर्णन, युद्ध-वर्णन, विवाह वर्णन एवं प्रकृति वर्णन आदि वर्णन अपने-अपने स्थान पर इस काव्य में बड़े मनोहर ढंग से जड़े हुए हैं।

इस ग्रन्थ में अलङ्कारों का विधान स्वाभाविक रूप से हुआ है। उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक इनके अत्यन्त प्रिय अलङ्कार हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि जायसी ने पिंगल पर विशेष ध्यान नहीं दिया क्योंकि अनेक स्थलों पर दोहा और चौपाइयों में मात्राएं न्यूनाधिक हो गई हैं, यथा निम्न चौपाइयों में १६ के स्थान पर १७ मात्राएं हैं —

रबि ससि नखत दिपहिं ओहि जोती।
× × × ×
एक एक बोल अरथ चौगुना॥

ज्ञात होता है कि जायसी को इतिहास, भूगोल, ज्योतिष, पशु-विद्या और भोज्य पदार्थ आदि का बड़ा विशद ज्ञान था। काव्य का कथानक उनके

इतिहास ज्ञान का, सिंहलद्वीप की यात्रा उनके भूगोल-ज्ञान का, शकुन-विचार ज्योतिष का, अश्वभेद-विवरण पशु-विद्या का और भोजनों की तालिका भोज्य पदार्थों के ज्ञान का परिचायक हैं।

पदमावत से हम यह जान सकते हैं कि जायसी संस्कृत के विद्वान् तो न थे परन्तु संस्कृत के ग्रन्थों से उनका परिचय अवश्य था क्योंकि अनेक संस्कृत के श्लोकों का ज्यों का त्यों भाव हम पदमावत के कई स्थलों पर देखते हैं, यथा—

चाणक्य नीति—

शैले शैले न माणिक्यं, मौक्तिकं न गजे गजे।
साधवो नहिं सर्वत्र, चन्दनं न वने वने॥

पदमावत—

थल थल नग न होहिं जेहि जोती। जल जल सीप न उपनहिं मोती।
बन बन बिरिछ न चन्दन होई। तन तन बिरह न उपनै सोइ॥

इस ग्रन्थ की भाषा ठेठ अवधी है, जिसमें तुलसी के रामचरित मानस की भाँति संस्कृत का पुट नहीं है। कहीं-कहीं व्रज और बंगला के कुछ शब्द तद्भव रूप में मिलते हैं, यथा व्रज का 'हतो' शब्द 'था' के ही अर्थ में 'हुता' रूप में प्रयुक्त हुआ है। बंगला की 'पार' एवं 'आछ' धातुओं के रूप भी क्रमशः 'सकना' और 'होना' के अर्थ में ही मिलते हैं यथा-पारा, आछै आदि।

प्राध्यापक, दिल्ली कालेज
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली।

विमलकुमार जैन
एम. ए., पी.-एच. डी.

# पदमावत-भाष्य

## १-स्तुति-खण्ड

[ १ ]

सँवरौं आदि एक करतारू। जेइँ जिउ दीन्ह कीन्ह संसारू॥
कीन्हेसि प्रथम जोति परगासू। कीन्हेसि तेहिं पिरीति कबिलासू॥
कीन्हेसि अगिनि, पवन, जल, खेहा। कीन्हेसि बहुतइ रंग उरेहा॥
कीन्हेसि धरती, सरग, पतारू। कीन्हेसि बरन बरन अवतारू॥
कीन्हेसि सात दीप ब्रह्मंडा। कीन्हेसि भुवन चौदहउ खंडा॥
कीन्हेसि दिन, दिनअर, ससि, राती। कीन्हेसि नखत, तराइन-पाँती॥
कीन्हेसि धूप, सीउ औ छाहाँ। कीन्हेसि मेघ, बीजु तेहिं माहाँ॥
कीन्ह सबई अस जाकर, दोसरहि छाज न काहु।
पहिलेहिं तेहिक नाऊँ लइ, कथा कहौं अवगाहु॥ १॥

शब्दार्थ—सँवरौं—सुमिरौं=स्मरण करूँ। करतारू=कर्त्ता-परमेश्वर। जिउ=जीव। दीन्ह=दिया (अवधी भाषा में सामान्य भूत में 'न' या 'न्ह' क्रिया के अन्त में होता है, जैसे 'दीन्ह मोहिं सिख नीक गुसाईं'—तुलसी।) जोति=ज्योति। पिरीति=प्रीति (खातिर)। कविलासू-कैलासू=स्वर्ग। खेहा=मिट्टी। उरेहा=चित्रकारी (अवधी-भाषाभाषी प्रान्तों में दीवारों पर चित्र लिखने के लिये उरेहना प्रयुक्त होता है)। बरन बरन—वर्ण वर्ण=अनेक ('वरन-वरन' भी प्रान्तीय प्रयोग है—'रंग-रंग' भी कभी-कभी अनेक अर्थ में प्रयुक्त मिलता है)। दिनअर=दिनकर (सूर्य)। सीउ=शीत। तेहि माहाँ=उसमें। कीन्ह (किया हुआ)=बनाया हुआ। अस=इस प्रकार। दोसरइ=दूसरा। छाज=शोभित होना। काहु=किसी के लिये। पहिलेहि=प्रथम ही। तेहिक=उसी का। नाउँ लइ=नाम लेकर। अवगाहु=अवगाहन करना, थाह लगाना।

चढ़ता है और पुनः चार या सात स्थितियों के पश्चात् ब्रह्मरन्ध्र में पहुंचता है। वहाँ उसे पद्मावती रूप सिद्धि की प्राप्ति होती है।

कथा में जो नखशिख, युद्ध, भोजन एवं शकुन आदि का वर्णन हुआ है उसने मूल रहस्यात्मक प्रवृत्ति में बड़ी बाधा उपस्थित की है। इसीलिए अनेक व्यक्ति अनेक स्थानों पर संकेतों के रहते हुए भी रहस्यात्मकता नहीं मानते परन्तु यह उनकी भूल है क्योंकि कथा में समग्र वाक्य एवं शब्द समुदाय से व्यजना नहीं होती। प्रस्तुत काव्य में जिस रहस्य की अभिव्यक्ति की गई है, वह प्रधान कथा-सूत्र में ही समझनी चाहिए न कि सविस्तार वर्णन सहित समूची काव्य-पदावली में। यह भी कहा जाता है कि नागमती संसार-प्रपंच का प्रतीक है किन्तु वह राजा की प्रिया है और अन्त में पद्मावती की प्रिय सहचरी होकर राजा के साथ सहयोगिनी की भाँति रहती है, जो ठीक नहीं है क्योंकि ब्रह्म और जीव के मेल में माया का मिलन अनुचित है। यह कहना भी ठीक नहीं क्योंकि सूफीमत में भला और बुरा दोनों ही ईश्वर के रूप हैं अतः इससे उपर्युक्त विषय में कोई व्यभिचार नहीं आता।

प्रेम काव्यों में हम इसे प्रतिनिधि काव्य कह सकते हैं क्योंकि क्या काव्य की दृष्टि से और क्या अध्यात्म की दृष्टि से यह सर्वोत्कृष्ट है। नागमती-खण्ड में विरहवेदना की जो अभिव्यक्ति हुई है वह अनुपमेय है।

अन्य सूफी प्रेम काव्यों की भाँति इसमें भी नाथपंथ का व्यापक प्रभाव है। रत्नसेन स्वयं योगी हो कर जाता है। हठयोग को भी जायसी ने अंशतः ग्राह्य माना है, जिसके परिणाम स्वरूप इडा, पिंगला, सुषुम्णा और ब्रह्मरन्ध्र आदि को इन्होंने यत्र-तत्र प्रतिपादित किया है। इसके साथ वेदान्त का तो पूर्ण प्रभाव ही है क्योंकि साधना द्वारा जीवात्मा का परमात्मा से अभेद रूप में मिलन ही वस्तुतः इसका वर्ण्य विषय है।

पद्मावत में काव्य-कला का सुन्दर आदर्श हमें दृष्टिगोचर होता है। इसकी कथा का आधार रत्नसेन का पद्मावती के प्रति प्रेम है। प्रेम-काव्य होने के कारण इसमें प्रधान रस शृंगार है। शृंगार के दोनों ही पक्ष संयोग और वियोग का इसमें बड़ा ही मार्मिक चित्रण हुआ है। यह काव्य मसनवियों के ढंग पर लिखा गया है परन्तु इसमें जायसी की अपनी मौलिकता

है जो भारतीय रंग से संपृक्त है। मसनबियों में नायक की ही विकलता और तड़पन का एकपक्षीय वर्णन रहता था परन्तु जायसी ने प्रेमावेश का चित्रण दोनों ही पक्ष में किया है। नागमती का वियोग वर्णन भारतीय पद्धति पर ही हुआ है। इस काव्य के प्रेम-चित्रण में एक आदर्श है और है अध्यात्म की गहनतम ऊँचाई।

शृंगार के अतिरिक्त अन्य रसों का चित्रण बहुत ही कम हुआ है। हास्य का तो प्रायः अभाव सा ही है। करुण का चित्रण दो प्रसङ्गों में मिलता है—एक तो रत्नसेन के योगी होने पर और पुनः देवपाल से युद्ध करते हुए मारे जाने पर। रौद्र की झलक मात्र तब दिखाई देती है जब रत्नसेन अलाउद्दीन का पत्र प्राप्त करता है। वीर रस की व्यंजना युद्धों में हुई है। युद्ध वर्णन में भयानक एवं बीभत्स रसों का चित्रण भी हमें मिलता है। चमत्कारपूर्ण वर्णन और संसार-नश्वरता के प्रतिपादन में क्रमशः अद्भुत और शान्त रस भी यत्र-तत्र व्यक्त हुए हैं।

प्रबन्ध काव्य की दृष्टि से इसमें कथा का निर्वाह बड़े सुन्दर रूप से हुआ है। आधिकारिक कथावस्तु को लक्ष्य तक पहुँचाने के लिए अनेक प्रासंगिक कथाओं ने बड़ा योग दिया है। सिंहलद्वीप वर्णन, यात्रा वर्णन, युद्ध-वर्णन, विवाह वर्णन एवं प्रकृति वर्णन आदि वर्णन अपने-अपने स्थान पर इस काव्य में बड़े मनोहर ढंग से जड़े हुए हैं।

इस ग्रन्थ में अलङ्कारों का विधान स्वाभाविक रूप से हुआ है। उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक इनके अत्यन्त प्रिय अलङ्कार हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि जायसी ने पिंगल पर विशेष ध्यान नहीं दिया क्योंकि अनेक स्थलों पर दोहा और चौपाइयों में मात्राएं न्यूनाधिक हो गई हैं, यथा निम्न चौपाइयों में १६ के स्थान पर १७ मात्राएं हैं —

रबि ससि नखत दिपहिं ओहि जोती।
× × × ×
एक एक बोल अरथ चौगुना॥

ज्ञात होता है कि जायसी को इतिहास, भूगोल, ज्योतिष, पशु-विद्या और भोज्य पदार्थ आदि का बड़ा विशद ज्ञान था। काव्य का कथानक उनके

इतिहास ज्ञान का, सिंहलद्वीप की यात्रा उनके भूगोल-ज्ञान का, शकुन-विचार ज्योतिष का, अश्वभेद-विवरण पशु-विद्या का और भोजनों की तालिका भोज्य पदार्थों के ज्ञान का परिचायक हैं।

पदमावत से हम यह जान सकते हैं कि जायसी संस्कृत के विद्वान् तो न थे परन्तु संस्कृत के ग्रन्थों से उनका परिचय अवश्य था क्योंकि अनेक संस्कृत के श्लोकों का ज्यों का त्यों भाव हम पदमावत के कई स्थलों पर देखते हैं, यथा—

चाणक्य नीति—

शैले शैले न माणिक्यं, मौक्तिकं न गजे गजे।
साधवो नहिं सर्वत्र, चन्दनं न वने वने॥

पदमावत—

थल थल नग न होहिं जेहि जोती। जल जल सीप न उपनहिं मोती।
बन बन बिरिछ न चन्दन होई। तन तन बिरह न उपनै सोइ॥

इस ग्रन्थ की भाषा ठेठ अवधी है, जिसमें तुलसी के रामचरित मानस की भाँति संस्कृत का पुट नहीं है। कहीं-कहीं व्रज और बंगला के कुछ शब्द तद्भव रूप में मिलते हैं, यथा व्रज का 'हतो' शब्द 'था' के ही अर्थ में 'हुता' रूप में प्रयुक्त हुआ है। बंगला की 'पार' एवं 'आछ' धातुओं के रूप भी क्रमशः 'सकना' और 'होना' के अर्थ में ही मिलते हैं यथा-पारा, आछै आदि।

प्राध्यापक, दिल्ली कालेज
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली।

विमलकुमार जैन
एम. ए., पी.-एच. डी.

# पदमावत-भाष्य

## १-स्तुति-खण्ड

[ १ ]

सँवरौं आदि एक करतारू। जेइँ जिउ दीन्ह कीन्ह संसारू ॥
कीन्हेसि प्रथम जोति परगासू। कीन्हेसि तेहिं पिरीति कबिलासू ॥
कीन्हेसि अगिनि, पवन, जल, खेहा। कीन्हेसि बहुतइ रंग उरेहा ॥
कीन्हेसि धरती, सरग, पतारू। कीन्हेसि बरन बरन अवतारू ॥
कीन्हेसि सात दीप ब्रह्मंडा। कीन्हेसि भुवन चौदहउ खंडा ॥
कीन्हेसि दिन, दिनअर, ससि, राती। कीन्हेसि नखत, तराइन-पाँती ॥
कीन्हेसि धूप, सीउ औ छाहाँ। कीन्हेसि मेघ, बीजु तेहिं माहाँ ॥
कीन्ह सबई अस जाकर, दोसरहि छाज न काहु।
पहिलेहिं तेहिक नाऊँ लइ, कथा कहौं अवगाहु ॥ १ ॥

शब्दार्थ—सँवरौं – सुमिरौं = स्मरण करूँ। करतारू = कर्त्ता-परमेश्वर। जिउ = जीव। दीन्ह = दिया (अवधी भाषा में सामान्य भूत में 'न' या 'न्ह' क्रिया के अन्त में होता है, जैसे 'दीन्ह मोहिं सिख नीक गुसाईं'—तुलसी।) जोति = ज्योति। पिरीति = प्रीति (खातिर)। कविलासू-कैलासू = स्वर्ग। खेहा = मिट्टी। उरेहा = चित्रकारी (अवधी-भाषाभाषी प्रान्तों में दीवारों पर चित्र लिखने के लिये उरेहना प्रयुक्त होता है)। बरन बरन—वर्ण वर्ण = अनेक ('बरन-बरन' भी प्रान्तीय प्रयोग है—'रंग-रंग' भी कभी-कभी अनेक अर्थ में प्रयुक्त मिलता है)। दिनअर=दिनकर (सूर्य)। सीउ=शीत। तेहि माहाँ=उसमें। कीन्ह (किया हुआ) = बनाया हुआ। अस = इस प्रकार। दोसरइ = दूसरा। छाज = शोभित होना। काहु = किसी के लिये। पहिलेहि = प्रथम ही। तेहिक = उसी का। नाउँ लइ = नाम लेकर। अवगाहु = अवगाहन करना, थाह लगाना।

अर्थ—मैं सर्वप्रथम (आदि) उस सृष्टिकर्ता का स्मरण करता हूं जो एक है और जिसने जीवन दान किया तथा सृष्टि की रचना की। उसने प्रथम ज्योति (नूर) की उत्पत्ति की। यह प्रथम ज्योति पैगम्बर मुहम्मद साहब हैं और उसी की प्रीति से उसी के लिए उसने स्वर्ग की रचना की। फिर उसने अग्नि, पवन, जल और मिट्टी आदि पंचतत्वों का निर्माण किया। इसके पश्चात् और अनेक रंगों के चित्र बनाये (तुलसीदास जी ने भी लिखा है—शून्य भीति पर चित्र रंग वहु तन बिनु लिखा चितेरे)। फिर उसने पृथ्वी, आकाश और पाताल बनाये और अनेक अवतारों की सृष्टि की। सप्तद्वीप, नवखंड, ब्रह्मांड, त्रिभुवन, चौदह खंड, दिन, सूर्य, चन्द्र, रात्रि, नक्षत्र, तारागणों की पंक्तियां, धूप, शीत, छाया, बादल, बिजली आदि सभी वस्तुएं उसी सृष्टि में ही रच दीं।

इस प्रकार की रचना ईश्वर ने की कि दूसरे किसी को भी वह शोभा नहीं प्राप्त हो सकती है अर्थात् दूसरा कोई ऐसा बना ही नहीं सकता। इसीलिए मैं सबसे पहले उसी परमेश्वर का नाम लेकर तब अपनी पदमावत की कथा का अवगाहन करता हूं।

*टिप्पणी—जायसी ने पदमावत की रचना भारतीय प्रबन्ध काव्यों की शैली पर न करके फारसी-मसनवी-शैली पर की है। भारतीय प्रबन्ध-काव्यों की भांति इसमें सर्ग नहीं होते। घटनाओं के शीर्षक इसमें होते हैं। ग्रन्थ के आरम्भ में ईश्वर की स्तुति, हज़रत मुहम्मद की वन्दना और तत्कालीन राजा की प्रशंसा होती है और तब कथा का प्रारम्भ होता है। स्तुति-खंड में मसनवी शैली की ही स्तुति है। सबसे पहले ईश्वर की स्तुति है। मुसलमान होने के कारण जायसी ने प्रथम पंक्ति में मुस्लिम एकेश्वरवादी ईश्वर का वर्णन किया है। 'एक-करतारू' शब्द द्रष्टव्य है। मुस्लिम एकेश्वरवाद और हिन्दू अद्वैतवाद शब्दार्थ की दृष्टि से अधिक भिन्न नहीं हैं पर इन दोनों मतों का सैद्धान्तिक भेद यही है कि एकेश्वरवाद के अनुसार ईश्वर कर्ता होता है, वही सृष्टि के अणु-अणु की रचना करता है और अद्वैतवाद में ब्रह्म रचना नहीं करता वरन् स्वयं आत्म-विकास करके सृष्टि का रूप धारण कर लेता है। जायसी ने एकेश्वरवादी सिद्धान्त का ही*

प्रतिपादन किया है। जायसी ने नैयायिकों और पौराणिकों के मतों का भी समन्वय बीच में करा दिया है। उसमें हिन्दू और मुस्लिम भावनाओं की गंगा-यमुना है। पुराणों के सप्त द्वीप और नव खंड हैं, साथ ही 'नूर' पैगम्बर की उत्पत्ति का भी उल्लेख है।

'कीन्हेसि' शब्द भी साभिप्राय है। इसमें भूतकाल (क्रिया) है। इस्लाम मतानुसार वर्तमान सृष्टि प्रथम और अन्तिम है। न तो इस सृष्टि के पहले परमेश्वर ने और कोई सृष्टि की थी और न करेगा। पुनर्जन्म की व्यवस्था वहां है ही नहीं। कयामत के समय सभी जीवात्माओं का एक साथ निर्णय होगा जिसमें अपने-अपने पुण्य के अनुसार वे या तो अनन्त काल तक स्वर्ग-में चली जायेंगी या नरक में। हिन्दू भावना के अनुसार जहाँ सृष्टि का वर्णन होता है वहां सामान्य वर्तमान काल 'सृष्टि करता है' का प्रयोग होता है।

[ २ ]

कीन्हेसि हेवँ समद्र अपारा। कीन्हेसि मेरु, खिखिन्द पहारा॥
कीन्हेसि नदी नार, औ झरना। कीन्हेसि मगर मंछ बहु बरना॥
कीन्हेसि सीप, मोंति बहु भरे। कीन्हेसि बहुतइ नग निरमरे॥
कीन्हेसि बनखँड औ जरि मूरी। कीन्हेसि तरिवर तार खजूरी॥
कीन्हेसि साउज आरन रहहीं। कीन्हेसि पंखि उड़हिं जहँ चहहीं॥
कीन्हेसि बरन सेत औ स्यामा। कीन्हेसि भूख नींद बिसरामा॥
कीन्हेसि पान फूल बहु भोगू। कीन्हेसि बहु ओषद, बहु रोगू॥

निमिख न लाग कर ओहि, सबइ कीन्ह पल एक।
गगन अंतरिख राखा, बाज खंभ बिनु टेक॥ २॥

शब्दार्थ—हेवँ समुन्द्र—इसके कई पाठान्तर मिलते हैं—१ भौर समुन्द्र-सात समुन्द्र, वहम समुन्द्र और भुवन समुन्द्र = सात समुद्र। मेरु = सुमेरु। खिखिन्द = किष्किन्धा पर्वत। नग = नगीना। निरमरे = निर्मल। जरि-मूरी = जड़-मूल। तरवरि = तरुवर (वृक्ष)। तार = ताड़। साउज = जानवर। आरन = अरण्य, वन। पंखि = पक्षी। जहँ चहहीं = जहाँ चाहें। बरन=रंग। सेत=श्वेत। बिसरामा=विश्राम। ओषद = औषधि। निमिख=पल। ओहि = उसे। अंतरिख=

अंतरिच्छ । बाज (सं०-वर्ज्य) = बिना (अवधी में 'बाज आना' मुहावरा है जैसे हम इससे बाज आये—अर्थात् इसके बिना ही रहेंगे ।) । टेक = सहारा ।

अर्थ—परमेश्वर ने अपार सात समुद्र, सुमेरु पर्वत, किष्किन्धा पहाड़ बनाये । नदी, नाले, झरने, मगर, तथा अनेक प्रकार की मछलियां बनाईं । समुद्रों में ऐसी सीपें उत्पन्न कीं जिनमें मोती भरे होते हैं । इसके अतिरिक्त और बहुत से निर्मल नगीने उपजाये । वन खंड, जड़, मूल, वृक्ष, ताड़, खजूर उगाये । बहुत से जानवर पैदा किये जो कि जंगल में निवास करते हैं । अनेक पक्षी बनाये जो इच्छानुसार जहां चाहें उड़ सकते हैं । उसने श्वेत और काले रंग भी बनाये । भूख, नींद, विश्राम, पान, फूल तथा अनेक प्रकार के भोग-सुख की सामग्रियों को उत्पन्न किया । साथ ही अनेक प्रकार के रोग और उनकी औषधियां भी पैदा कीं । इन सबकी रचना करने में उस परमेश्वर को पल भी न लगा, देखते ही उसने समस्त सृष्टि रच डाली । आकाश को बिना किसी खम्भे के सहारे यों ही खड़ा कर दिया ।

*नोट—जायसी की यह प्रवृत्ति रही है कि वे हिन्दू पुराण तथा रामायण आदि धार्मिक ग्रन्थों की वस्तुओं तथा पात्रों के नामोल्लेख यत्र-तत्र कर दें, चाहे वे प्रासङ्गिक हों या न हों सम्भवतः यह इन्होंने इसलिए किया जिससे पद्मावत हिन्दू-समाज मे प्रवेश पा सके । कैलाश, किष्किंधा तथा मेरु के प्रयोग इसी प्रवृत्ति के द्योतक हैं ।*

[ ३ ]

कीन्हेसि मानुस, दिहिस बड़ाई । कीन्हेसि अन्न, भुगुति तेहिं पाई ।
कीन्हेसि राजा भूँजहिं राजू । कीन्हेसि हस्ति घोर तिन्ह साजू ॥
कीन्हेसि तिन्ह कहँ बहुत बेरासू । कीन्हेसि कोई ठाकुर कोई दासू ।
कीन्हेसि दरब गरब जेहिं होई । कीन्हेसि लोभ, अघाइ न कोई ॥
कीन्हेसि जिअन, सदा सब चहा । कीन्हेसि मीचु, न कोई रहा ॥
कीन्हेसि सुख औ कोड अनंदू । कीन्हेसि दुख चिंता औ दंदू ॥
कीन्हेसि कोइ भिखारि, कोइ धनी । कीन्हेसि सँपति बिपति पुनि घनी ॥
कीन्हेसि कोइ निभरोसी, कीन्हेसि कोइ बरिआर ।
छार हुते सब कीन्हेसि, पुनि कीन्हेसि सब छार ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—दिहिस = दिया । भुगुति ( भुक्ति ) = भोजन । भूँजहिं =

भोगते हैं। घोर = घोड़ा। बेरासू = विलास। दरब ( द्रव्य ) = धन। गरब-(गर्व) = अभिमान। अघाइ = सन्तुष्ट होता। जिअन = जीवन। मीचु = मृत्यु। कोड-पाठान्तर कोटि = करोड़। दन्दू-द्वन्द्व=झंझट। निभरोसी = आश्रित (अवधी बोलचाल में कहीं-कहीं 'नि' उपसर्ग अनावश्यक भी लग जाता है जैसे निखालिस )। बरिआर = बलवान्। छार (क्षार) = मिट्टी। हुते-पाठान्तर हिंते = भी से या ही से।

अर्थ—उस परमेश्वर ने मनुष्य को उत्पन्न किया और उसे बड़प्पन दिया, क्योंकि ईश्वर की सृष्टि में मनुष्य ही सभी योनियों में सर्वश्रेष्ठ है। उसने अन्न बनाया जिससे आहार मिलता है। उसने राजाओं को बनाया जो राज्य को भोगते हैं, और हाथी-घोड़ों को राजा के साजबाज के लिये उत्पन्न किया। उनके लिये अनेक प्रकार की विलास की सामग्रियाँ बनाईं। संसार में कितनों को राजा बनाया और कितनों को दास। उसने धन की रचना की जिसे पाकर लोगों को अभिमान हो जाता है ('प्रभुता पाई काहि मद नाहीं'—तुलसीदास) उसी ने लोभ बनाया जिसके कारण मनुष्य को कभी सन्तुष्टि नहीं होती। उसने जीवन दिया जिसकी इच्छा सब को होती है। उसने मृत्यु बनाई जिससे कोई संसार में अमर नहीं रह सकता। उसने सुख और करोड़ों आनन्द बनाये, साथ ही दुःख, चिन्तायें और झंझट उत्पन्न किये। किसी को तो भिखारी बनाया और किसी को अमीर बनाया। फिर अनेक प्रकार की सम्पत्तियां और विपत्तियां बनाईं। परमेश्वर ने किसी को तो दूसरे का आश्रित बनाया और किसी को बलवान् बनाया। मिट्टी से ही उसने सभी वस्तुयें बनाईं और फिर सब वस्तुओं को मिट्टी ही में मिला दिया।

नोट—पंडित रामचन्द्र शुक्ल द्वारा संपादित नागरीप्रचारिणी सभा वाली प्रति में उक्त अंश (३) अंश (४) से बाद में छपा है पर हमने डा० माताप्रसाद गुप्त द्वारा संपादित ग्रन्थावली का पाठ लिया है।

*टिप्पणी—मिट्टी के सम्बन्ध में जायसी की वैदान्तिक दृष्टि अन्यत्र भी मिलती है—*

*"माटी मोल न किछु लहै औ माटी सब मोल।"*

*अवधी-भाषाभाषी प्रांत में बोल-चाल में भी 'माटी' का प्रयोग शरीर के*

*लिए होता है। जायसी ने मिट्टी की रचना से मनुष्य शरीर की ओर संकेत किया है।*

[ ४ ]

कीन्हेसि अगर कस्तुरी बेना। कीन्हेसि भीवँसेन औ चेना॥
कीन्हेसि नाग, मुखहि बिष बसा। कीन्हेसि मन्त्र, हरइ जेहिं डसा॥
कीन्हेसि अमिअ जिअन जेहि पाएँ। कीन्हेसि बिष जो मीचु तेहि खाएँ॥
कीन्हेसि ऊखि मीठि रस-भरी। कीन्हेसि करुइ बेलि बहु फरी॥
कीन्हेसि मधु लावइ लइ माखी। कीन्हेसि भवँर, पतंग औ पाँखी॥
कीन्हेसि लोवा इंदुर चाँटी। कीन्हेसि बहुत रहहिं खनि माँटी॥
कीन्हेसि राकस भूत परेता। कीन्हेसि भोकस देव दयंता॥
कीन्हेसि सहस अठारह, बरन बरन उपराजि।
भुगुति दिहेसि पुनि सब कहँ, सकल साजना साजि॥४॥

शब्दार्थ—अगर = सुगन्धित द्रव्य जिसकी अगरबत्ती प्रचलित है। बेना = खस। भीवँसेन—पाठान्तर भीमसेन = एक प्रकार का कपूर। चेना = एक प्रकार का कपूर। नाग = सर्प। बसा = है। डसा = कटा हुआ। अमिअ = अमृत। ऊखि = गन्ना। करुइ = कड़वी। फरी = फली। मधु = शहद। लावइ = लगावें। लइ = लाकर। भँवर = भ्रमर। पतंग = पतिंगा। पाँखी = पक्षी। राकस = राक्षस। भोकस = दानव। दयन्ता = दैत्य। उपराजि = उत्पन्न करके। साजना साजि = सुसज्जित करके। सहस अठारह = अठारह हज़ार प्रकार के जीव (इस्लाम धर्म-ग्रंथों के अनुसार जीवों की संख्या अठारह हजार है, भारतीय मतानुसार चौरासी लक्ष नहीं)।

अर्थ—परमेश्वर ने अगर, कस्तूरी, खस, भीमसेन और चेना कपूर आदि सुगन्धित वस्तुएं बनाईं। उसी ने सर्प बनाये जिनके मुख में विष होता है। साथ ही साथ ऐसे मंत्रों का भी निर्माण किया जो सर्पदंश के प्रभाव को दूर कर देते हैं। उसने अमृत बनाया जिसके पाने पर जीवन मिलता है और विष बनाया जिसके खाने से मृत्यु मिलती है। उसने गन्ना बनाया जिसमें मीठा रस भरा होता है, उसी ने कड़वी लतायें बनायीं जिसमें अनेक फलियाँ लगती हैं। उसने शहद बनाया जिसे मधु मक्खियाँ ला कर छत्ता लगाती हैं। उसने

भौंरे, पतिंगे और अनेक पक्षी भी बनाये। उसने राक्षस, भूत, प्रेत, दानव और दैत्य भी बनाये। इस प्रकार उस परमेश्वर ने अनेक प्रकार के, अठारह हज़ार जीवों की सृष्टि की, फिर सब को सर्व प्रकार से सुसज्जित करके भोजन दिया।

[ ५ ]

धनपति उहइ जेहिक संसारू। सबहि देइ नित, घट न भँडारू॥
जावँत जगति हस्ति औ चाँटा। सब कहँ भुगुति रात दिन बाँटा॥
ताकरि दिस्टि सबहिं उपराहीं। मित्र सत्रु कोइ बिसरइ नाहीं॥
पंखि पतंग न बिसरइ कोई। परगट गुपुत जहाँ लगि होई॥
भोग भुगुति बहु भाँति उपाई। सबहि खियावइ, आपु न खाई॥
ताकर इहइ सो खाना पिअना। सब कहँ देइ भुगुति औ जिअना॥
सबहिं आस ताकरि हरि स्वाँसा। ओह न काहु कइ आस निरासा॥
जुग जुग देत घटा नहिं, उभै हाथ तस कीन्ह।
अउर जो देहिं जगत महँ, सो सब ताकर दीन्ह॥५॥

शब्दार्थ—उहइ = वही। जेहिक = जिसका। देइ = देता है। घट = कम होता है। भँडारू = कोष। जावँत = जितना। जगति = संसार में। हस्ति = हाथी। चाँटा = चींटी। कहँ = को। ताकरि = उसकी। दिस्टि = दृष्टि। उपराही=ऊपर रहती है। बिसरई = भूलता है। परगट = प्रकट। गुपुत = छिपा हुआ। लगि = तक। खियावइ = खिलाता है। ताकर = उसका। इहइ = यही। पिअना = पीना। जिअना = जीवन। ओह = उसको। काहुकइ = किसी की। सबहिं आस ताकरि हरि स्वाँसा—इसके दो और पाठान्तर हैं—१. सबै आस-हर ताकर आसा—२. सबहि सो ताकरि हेरइ आसा–१. आस-हर = निराश-भावार्थ है सबको उसी की आशा-निराशा है। २—हेरइ = देखता है—अर्थात् सभी उसी की आशा देखता है। वास्तव में तीनों पाठों का भावार्थ यही है कि सभी को उसी की आशा है। घटा = कम हुआ। उभै = दोनों। अस = इस प्रकार। अउर = और।

अर्थ—धनपति तो वही है जिसका संसार है। वही सबको अपने कोष में से दान करता है और इस देने से उसके भंडार में किसी प्रकार की कमी

नहीं होती। इस संसार में जितने भी हाथी से चींटीं तक प्राणी हैं सबको वही रात दिन भोजन देता है। सबके ऊपर उसकी कृपा-दृष्टि है; मित्र और शत्रु किसी को भी नहीं भूलता। पक्षी और पतिंगे किसी को भी नहीं भुलाता। संसार में जितने भी प्रकट और अप्रकट प्राणधारी हैं; सबका ख्याल रखता है। वह निष्काम कर्म करने वाला है—उसने जो कुछ बनाया है दूसरों के लिए। भोजन तथा भोग की जितनी सामग्रियाँ उसने बना रखी हैं सब जीवों को ही खिलाता है, स्वयं नहीं खाता। जीवों को खिलाना और पालना ही उसका खाना-पीना है। सबको भोजन और जीवन देता है। सबको उसी की ही आशा है। ईश्वर ही श्वास है। उसे किसी से कोई आशा या निराशा नहीं है। युग-युग से वह दोनों हाथों से संसार को दे रहा है पर उसका भंडार बिल्कुल नहीं घटा। अन्य लोग जो संसार में कुछ दान आदि करते हैं वह भी सब उसी का दिया हुआ है।

नोटः—इन पंक्तियों में जायसी ने भगवान् की पालन-शक्ति और दान-शीलता का वर्णन किया है।

[ ६ ]

आदि सोई बरनौं बड़ राजा। आदिहुँ अंत राज जेहि छाजा॥
सदा सरबदा राज करेई। औ जेहिं चहइ राज तेहि देई॥
छत्रहि अछत, निछत्रहि छावा। दोसर नाहिं जो सरबरि पावा॥
परबत ढाह देख सब लोगू। चाँटिहि करइ हस्ति कर जोगू॥
बज्रहिं तिनकै मारि उड़ाई। तिनहि बज्र की देइ बड़ाई॥
ताकर कीन्ह न जानइ कोई। करै सोइ जो मन चित होई॥
काहू भोग भुगुति सुख सारा। काहू भीख भवन दुख भारा॥
सबइ नास्ति वह अस्थिर, अइस साज जेहिं केर।
एक साजइ अउ भाँजई, चहइ सँवारइ फेर॥ ६॥

शब्दार्थ—बड़ = पाठान्तर सोइ। आदिहुँ—पाठान्तर = आदि न। छाजा = शोभा पाना। सरबदा = सर्वदा-हमेशा। करेई = करता है। चहइ=चाहता है। देई=देता है। छत्रहि = छत्रधारी = राजा को। अछत = छत्र-विहीन, रंक। निछत्रहिं = रंक को। छावा = छा देता है—छत्रपति बना देता है। सरबरि = बराबरी।

ढाह = गिरा देता है । ·कर = का । जोगू = जोग-प्रबन्ध वज्रहि = वज्र को । तिनकै = तिनके से । तिनहि = तिनके को । काहू = किसी को । सारा = सार । नास्ति = अस्थायी । अस्थिर = स्थिर । अइस = ऐसा । केर = का । भाँजइ = नष्ट करता है · सँवारइ = बनावे । फेर = फिर ।

अर्थ—मैं आरम्भ में उसी बड़े राजा का वर्णन करता हूँ जिसका राज्य आदि से अन्त तक सुशोभित है । सदैव से वह शाश्वत राज्य करता है और जिसको ही चाहता है राज्य दे देता है । छत्रपति को छत्रविहीन और रंक को राजा कर देता है ( 'रंक चलै सिर छत्र धराई'—सूरदास ) । दूसरा कोई भी उसकी बराबरी नहीं कर सकता । सभी लोग देखते हैं कि वह बड़े-बड़े पर्वतों को गिरा देता है । चींटी को हाथी के समान कर देता है । वज्र को वह तिनके से मगर कर उड़ा देता है और तिनके को वज्र बना देता है । उस प्रभु का जो कुछ किया हुआ है उसे कोई जान नहीं सकता । जो कुछ वह मन में लाता है उसे ही कर डालता है । किसी को तो वह सभी प्रकार के भोग और सभी सुख देता है और किसी को भीख देता है; उसके लिए घर ही दुःख का भार है-बेचारा दाने-दाने को तरसता है ।

इस संसार में सभी अस्थिर है, स्थिर केवल वह परमेश्वर है जिसके इस प्रकार के संसार के साज हैं । वह एक को बनाता है और फिर नष्ट करता है और चाहता है तो नष्ट करने के बाद फिर उसे सँवार देता है ।

[ ७ ]

अलख अरूप अबरन सो करता । वह सब सों, सब ओहिसों बरता ॥
परगट गुपुत सो सरबबिआपी । धरमी चीन्ह, चीन्ह नहिं पापी ॥
ना ओहि पूत न पिता न माता । ना ओहि कुटुँब न कोइ सँग नाता ॥
जना न काहु, न कोइ ओइँ जना । जहँ लगि सब ताकर सिरजना ॥
ओइँ सब कीन्ह जहाँ लगि कोई । वह न कीन्ह काहू कर होई ॥
हुत पहिलेइँ औ अब है सोई । पुनि सो रहहि रहिहि नहिं कोई ॥
अउर जो होइ सो बाउर अंधा । दिन दुइ चारि मरै करि धंधा ॥

जो ओइँ चहा सो कीन्हेसि, करइ जो चाहइ कीन्ह ।
बरजनहार न कोई, सबइ चहइ जिअ दीन्ह ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—अलख=अलक्ष्य, जो देखा न जा सके। अबरन=अवर्णनीय-जिसका वर्णन न हो सके। करता (कर्ता)=सृष्टिकर्ता। ओहिसौं=उससे। सरबबियापी=सर्वव्यापी। धरमी=धर्मात्मा। चीन्ह=पहिचानता है। ओहि=उसके। जना=पैदा किया। जहँ लगि=जहां तक। सिरजना, (सृजन)=रचना। हुत=था। धंधा=काम, नौकरी। बरजनहार=रोकने वाला।

अर्थ—वह संसार की रचना करने वाला परमेश्वर न तो देखा जा सकता है और न उसका कोई रूप है, उसका वर्णन सम्भव नहीं। वह सबसे सम्बन्धित है और सब लोग उसी से व्यवहार करते हैं। तात्पर्य यह है कि संसार के जितने कार्य-व्यापार हो रहे हैं उनके पीछे वही निराकार ब्रह्म विद्यमान है। वह सर्वव्यापी है और प्रकट और अप्रकट सब में वही है। जो धर्मात्मा है वह अणु-अणु में विद्यमान अरूप ब्रह्म को पहचान लेता है पर जो पापी हैं, स्वयं अपने सुख और अहम्मन्यता में लिप्त हैं, वे उसकी सत्ता का ज्ञान नहीं पाते। न उसके कोई पुत्र है और न माता-पिता, उसके कोई कुटुम्बी या नातेदार भी नहीं हैं। उसने किसी को पैदा नहीं किया (यहां पैदा करने का तात्पर्य पितृत्व-मात्र से है—स्थूल रूप से वह किसी का जनक नहीं है) और न उसे किसी ने पैदा किया है। इस सृष्टि में जो कुछ दिखाई पड़ता है सब उसी की रचना है पर उसे कोई भी नहीं बना सकता। जो कुछ भी सृष्टि पहले थी या अब है उसी की कृति है और भविष्य में स्थायी रूप से केवल वही रह जायगा और कुछ न रह सकेगा। तात्पर्य यह कि संसार की सभी वस्तुयें नाशवान् हैं; भूत, वर्तमान और भविष्य की रचना परमेश्वर के हाथ का खिलौनामात्र है, फिर भी यदि कोई होने का दम भरता है तो वह पागल और अन्धा है, ज्ञान-नेत्र से हीन है, संसार के मद से मतवाला है। दो-चार दिन की जिन्दगी में दासता का काम करके मर जायगा। तात्पर्य यह कि यह संसार अपना नहीं है। जो लोग अज्ञानतावश उसे अपना समझते हैं वे भूल करते हैं। मनुष्य मोह में पड़ कर दूसरे का काम (धंधा) करके थोड़े दिनों बाद मर जायगा। अब तक उस परमेश्वर ने जो चाहा है वही किया है और जो चाहता है वही करता है, उसे रोकने वाला कोई नहीं है चाहे सब लोग अपनी जान दे दें।

[ ८ ]

एहि विधि चीन्हहु करहु गिआनू। जस पुरान महँ लिखा बखानू ॥
जीउ नाहिं, पै जिअइ गोसाईं। कर नाहीं, पै करइ सबाईं ॥
जीभ नाहीं, गुनना सब बोला। तन नाहीं, जो डोलाव सो डोला ॥
स्रवन नाहिं, पै सब किछु सुना। हिअ नाहिं, पै सब किछु गुना ॥
नैन नाहिं, पै सब किछु देखा। कवन भाँति अस जाइ विसेखा ॥
ना कोइ है ओहि के रूपा। न ओहि काहु असत इस अनूपा ॥
ना ओहि ठाउँ, न ओहि बिनु ठाऊँ। रूप रेख बिनु निरमल नाऊँ ॥
ना वह मिला न बेहरा, अइस रहा भरपूरि।
दिष्टिवंत कहँ निअरें, अन्ध मूरुख कहँ दूरि ॥ ८ ॥

शब्दार्थ – चीन्हहु = पहिचानो। गिआनू = ज्ञान। सबाईं = सब कुछ। किछु = कुछ। डोलाव = चलाता है। स्रवन (श्रवण) = कान। हिअ = हृदय। गुनना = मनन करना। विसेषा = विशेषताओं का अनुभव करना। ना ओहि काहु अस तइस अनूपा–पाठान्तर–ना ओहि सन कोइ आहि अनूपा ( अर्थ दोनों पाठों के समान हैं)। ठाऊँ = जगह। निर्मल = निर्विकार। नाऊँ = नाम। मिला = मिला हुआ ( विश्व की वस्तुओं में विलीन )। बेहरा = अलग (बिहरना = फटना)। दिस्टिवन्त = दृष्टिमान्, (ज्ञानी)। निअरे = निकट। मुरुख = मूर्ख।

अर्थ—इस प्रकार उसको पहिचानो। जैसा कि धर्म ग्रन्थों में लिखा है या वर्णन किया गया है उसी रीति से उसे समझना चाहिए। उसकी लीला विचित्र है। उसके जीव नहीं है फिर भी वह जीता है, हाथ नहीं हैं पर सब कुछ करता है, जिह्वा के न होते हुए भी सब कुछ बोलता है, शरीर नहीं है फिर भी जिसे वह चलाता है वही चलता है। उसके कान नहीं हैं पर सब कुछ सुनता है, हृदय नहीं है पर सब कुछ विचार और मनन करता है। आँखें नहीं हैं पर सब कुछ देखता है। ( गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी इसी प्रकार का कथन रामायण में किया है–"बिनु पग चलै सुनै बिनु काना। कर बिन कर्म करै विधि नाना ॥" ) इस प्रकार के अलौकिक परमेश्वर की विशेषताओं का वर्णन कैसे किया जाय। उसके रूप का कोई

नहीं है, वह ऐसा अनुपम है कि कोई वैसा हो ही नहीं सकता ' उसके लिए कोई स्थान नहीं है पर ऐसा कोई भी स्थान नहीं है, जहाँ वह न हो। उसमें कोई आकार नहीं है जिसमें किसी प्रकार का रूप या रेखा आदि हों। वह सर्वथा निर्लिप्त, निर्दोष और निर्विकार है। वह समस्त संसार में इस प्रकार पूरी तरह व्याप्त है कि न तो वह संसार के पदार्थों में मिला है और न अलग; संसार के अणु-अणु में विद्यमान होते हुए भी उसकी अपनी पृथक् सत्ता भी है इससे न तो वह विश्व में विलीन कहा जा सकता है और न पृथक्। जो लोग ज्ञानी और अन्तर्दृष्टि वाले हैं उन्हें तो अत्यन्त निकट प्रतीत होता है पर जो लोग ज्ञान से अन्धे हैं उनके लिए वह अत्यन्त दूर है।

[ ६ ]

अउर जो दीन्हेसि रतन अमोला। ताकर मरम न जानइ भोला ॥
दीन्हेसि रसना औ रस भोगू। दीन्हेसि दसन जो बिहँसइ जोगू ॥
दीन्हेसि जग देखइ कहँ नैना। दीन्हेसि स्रवन सुनइ कहँ बैना ॥
दीन्हेसि कंठ बोल जेहि माहाँ। दीन्हेसि कर-पल्लौ, बर बाहाँ ॥
दीन्हेसि चरन अनूप चलाहीं। सोई जान जेहि दीन्हेसि नाहीं ॥
जोबन मरम जान पै बूढा। मिला न तरुनापा जब ढूँढा ॥
सुख कर मरम न जानइ राजा। दुखी जान जा कहँ दुख बाजा ॥
कया क मरम जान पै रोगी, भोगी रहइ निचिंत।
सब कर मरम गोसाईं जानइ, जो घट घट महँ नित ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—अमोला = अमूल्य । मरम = रहस्य, भेद। भोला = भोला मनुष्य। रसना = रसों को प्राप्त करने वाली-जिह्वा। दसन ( दशन ) = दाँत। बिहँसइ जोगू = हँसने के योग्य। कहँ = को। बैना = वचन, बोली। बोल = बोली। पल्लौ = पल्लव। बाहाँ = भुजायें। बाजा = बजता है, पड़ता है। कया = शरीर। निंत = नित्य।

अर्थ—परमेश्वर ने मनुष्य को और भी अनेक अमूल्य रत्न दिये हैं पर भोला मनुष्य इनका मर्म नहीं जानता। तात्पर्य यह है कि हमारे शरीर में परमेश्वर ने जो सुन्दर अंग दिये हैं वे अन्य जीव जन्तुओं को प्राप्त नहीं हैं। मनुष्य इन्हीं से अनेक प्रकार के सुख-सौन्दर्य का लाभ पाता है पर सहज रूप

से प्राप्त होने के कारण वह उनका मूल्य नहीं समझता। जायसी जी इन अमूल्य निधियों का वर्णन करते हैं:—

परमेश्वर ने हमें जीभ दी है और भाँति-भाँति के रस और भोग दिये हैं, हम जिह्वा से सब प्रकार के स्वाद का सुख पाते हैं। उसने दाँत दिये हैं जो हँसी के योग्य हैं अर्थात् दाँतों की मनोहर पंक्ति से मनुष्य की हँसी मनोहर हो जाती है, अन्य जीवों को दाँतों की पंक्तियों को हँसी का सौन्दर्य अलभ्य है। संसार का सौंदर्य देखने को उसने आँखें दी हैं; आँखें तो अन्य जीवों को भी दी हैं पर सौंदर्यानुराग को वह शक्ति उनको आँखों को नहीं मिली है जो मनुष्य को। इसी प्रकार सुमधुर वचनों के श्रवण का सुख प्राप्त करने को कान दिये हैं। उसने कंठ दिया है जिस में मधुर बोली है। पल्लव सदृश सुन्दर हथेलियाँ और सुन्दर बाँहें उसने दी हैं। चलने को सुन्दर-सुन्दर चरण दिये हैं।

मनुष्य को सभी सुविधायें सुलभ हैं अतः वह इनका महत्व नहीं जानता। जिनको उसने नहीं दिया वे इनका महत्व जानते हैं। जवानी का क्या मूल्य है, वह बूढ़ा ही जानता है जिसके हाथ से जवानी निकल चुकी है—क्योंकि फिर जवानी को खोजता है और नहीं पाता। इसी प्रकार सुख के मर्म को राजा क्या जाने जिसे सुख का कभी अभाव नहीं। सुख का मूल्य तो वह दुःखी ही जानता है जिसके ऊपर दुःख आ पड़ता है। सुन्दर और स्वस्थ शरीर का महत्व तो रोगी ही जानता है, भोगी तो निश्चिन्त होता है। अर्थात् स्वस्थ रहने की अवस्था में मनुष्य अपने शरीर की परवाह नहीं करता, भोगों में पड़ कर प्रसन्नतापूर्वक शरीर को नष्ट करता है पर जब रोगी हो जाता है तो खोये हुए स्वास्थ्य के लिए हाथ मलता है। सभी वस्तुओं के रहस्य को परमेश्वर ही जानता है जो सर्वदा प्रत्येक के हृदय में निवास करता है।

[ १० ]

अति अपार करता कर करना। बरनि न कोई पारइ बरना॥
सात सरग जौं कागर करई। धरती सात समुँद मसि भरई॥
जावँत जग साखा बन ढाँखा। जावँत केस रोवँ पँखि पाँखा॥
जावँत रेह खेह जहँ ताईं। मेघ बूँद औ गगन तराईं॥

नहीं है, वह ऐसा अनुपम है कि कोई वैसा हो ही नहीं सकता। उसके लिए कोई स्थान नहीं है पर ऐसा कोई भी स्थान नहीं है, जहाँ वह न हो। उसमें कोई आकार नहीं है जिसमें किसी प्रकार का रूप या रेखा आदि हों। वह सर्वथा निर्लिप्त, निर्दोष और निर्विकार है। वह समस्त संसार में इस प्रकार पूरी तरह व्याप्त है कि न तो वह संसार के पदार्थों में मिला है और न अलग; संसार के अणु-अणु में विद्यमान होते हुए भी उसकी अपनी पृथक् सत्ता भी है इससे न तो वह विश्व में विलीन कहा जा सकता है और न पृथक्। जो लोग ज्ञानी और अन्तर्दृष्टि वाले हैं उन्हें तो अत्यन्त निकट प्रतीत होता है पर जो लोग ज्ञान से अन्धे हैं उनके लिए वह अत्यन्त दूर है।

[ ६ ]

अउर जो दीन्हेसि रतन अमोला। ताकर मरम न जानइ भोला ॥
दीन्हेसि रसना औ रस भोगू। दीन्हेसि दसन जो बिहँसइ जोगू ॥
दीन्हेसि जग देखइ कहँ नैना। दीन्हेसि स्रवन सुनइ कहँ बैना ॥
दीन्हेसि कंठ बोल जेहि माहाँ। दीन्हेसि कर-पल्लौ, बर बाहाँ ॥
दीन्हेसि चरन अनूप चलाहीं। सोई जान जेहि दीन्हेसि नाहीं ॥
जोबन मरम जान पै बूढा। मिला न तरुनापा जब ढूँढा ॥
सुख कर मरम न जानइ राजा। दुखी जान जा कहँ दुख बाजा ॥
कया क मरम जान पै रोगी, भोगी रहइ निचिंत।
सब कर मरम गोसाईं जानइ, जो घट घट महँ निंत ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—अमोला = अमूल्य। मरम = रहस्य, भेद। भोला = भोला मनुष्य। रसना = रसों को प्राप्त करने वाली-जिह्वा। दसन (दशन) = दाँत। विहँसइ जोगू = हँसने के योग्य। कहँ = को। बैना = वचन, बोली। बोल = बोली। पल्लौ = पल्लव। बाहाँ = भुजायें। बाजा = बजता है, पड़ता है। कया = शरीर। निंत = नित्य।

अर्थ—परमेश्वर ने मनुष्य को और भी अनेक अमूल्य रत्न दिये हैं पर भोला मनुष्य इनका मर्म नहीं जानता। तात्पर्य यह है कि हमारे शरीर में परमेश्वर ने जो सुन्दर अंग दिये हैं वे अन्य जीव जन्तुओं को प्राप्त नहीं हैं। मनुष्य इन्हीं से अनेक प्रकार के सुख-सौन्दर्य का लाभ पाता है पर सहज रूप

से प्राप्त होने के कारण वह उनका मूल्य नहीं समझता। जायसी जी इन अमूल्य निधियों का वर्णन करते हैं:—

परमेश्वर ने हमें जीभ दी है और भाँति-भाँति के रस और भोग दिये हैं, हम जिह्वा से सब प्रकार के स्वाद का सुख पाते हैं। उसने दांत दिये हैं जो हँसी के योग्य हैं अर्थात् दाँतों की मनोहर पंक्ति से मनुष्य की हँसी मनोहर हो जाती है, अन्य जीवों को दाँतों की पंक्तियां को हँसी का सौन्दर्य अलभ्य है। संसार का सौंदर्य देखने को उसने आँखें दी हैं; आँखें तो अन्य जीवों को भी दी हैं पर सौंदर्यानुराग को वह शक्ति उनको आँखों को नहीं मिली है जो मनुष्य को। इसी प्रकार सुमधुर वचनों के श्रवण का सुख प्राप्त करने को कान दिये हैं। उसने कंठ दिया है जिस में मधुर बोली है। पल्लव सदृश सुन्दर हथेलियाँ और सुन्दर बांहें उसने दी हैं। चलने को सुन्दर-सुन्दर चरण दिये हैं।

मनुष्य को सभी सुविधायें सुलभ हैं अतः वह इनका महत्व नहीं जानता। जिनको उसने नहीं दिया वे इनका महत्व जानते हैं। जवानी का क्या मूल्य है, वह बूढ़ा ही जानता है जिसके हाथ से जवानी निकल चुकी है—क्योंकि फिर जवानी को खोजता है और नहीं पाता। इसी प्रकार सुख के मर्म को राजा क्या जाने जिसे सुख का कभी अभाव नहीं। सुख का मूल्य तो वह दुःखी ही जानता है जिसके ऊपर दुःख आ पड़ता है। सुन्दर और स्वस्थ शरीर का महत्व तो रोगी ही जानता है, भोगी तो निश्चिन्त होता है। अर्थात् स्वस्थ रहने की अवस्था में मनुष्य अपने शरीर की परवाह नहीं करता, भोगों में पड़ कर प्रसन्नतापूर्वक शरीर को नष्ट करता है पर जब रोगी हो जाता है तो खोये हुए स्वास्थ्य के लिए हाथ मलता है। सभी वस्तुओं के रहस्य को परमेश्वर ही जानता है जो सर्वदा प्रत्येक के हृदय में निवास करता है।

[ १० ]

अति अपार करता कर करना। बरनि न कोई पारइ बरना॥
सात सरग जौं कागर करई। धरती सात समुँद मसि भरई॥
जावँत जग साखा बन ढाँखा। जावँत केस रोवँ पँखि पाँखा॥
जावँत रेह खेह जहँ ताईं। मेघ बूँद औ गगन तराईं॥

सब लिखनी कइ लिखि संसारू। लिखि न जाइ गति समुँद अपारू॥
एत कीन्ह सब गुन परगटा। अबहूँ समुँद बूँद नहिं घटा॥
अइस जानि मन गरब न होई। गरब करइ मन बाउर सोई॥
बड़ गुनवंत गोसाईं चहइ, सो होइ तेहि बेगि।
औ अस गुनी सँवारइ, जो गुन करइ अनेग॥१०॥

शब्दार्थ—कर = का। करना = रचना। पारइ-पाठान्तर-पावै = पार पाना। सरग = आकाश। कागर = कागज। मसि = स्याही। जावँत = जितना। ढाँखा = ढाक, पलाश वृक्ष। रोवँ = रोम। रेह = राख। खेह = मिट्टी। तांई = तक। तराई = तारागण। बाउर = पागल। बेगि = शीघ्र। अनेग = अनेक।

अर्थ—उस परमेश्वर की रचना अपार है; वर्णन करके कोई उसका पार नहीं पा सकता। यदि सातों आकाश का कागज बनायें और पृथ्वी तथा सातों समुद्रों की स्याही बनायें तथा संसार के वनों के पलाश आदि वृक्षों की डालियाँ, रोम और पक्षियों के पंख, केश, धूल, राख, बादलों की बूँद और आकाश के तारों आदि को लेखनी बनायें और संसार के लोग ईश्वर के गुण लिखने लगें तो भी उस अपार सागर सदृश भगवान् के गुण नहीं लिखे जा सकते।

संस्कृत में इसी अर्थ का एक श्लोक है—

असितगिरिसमं स्यात्कज्जलं सिन्धु-पात्रे, सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्रमुर्वी।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं, तदपि तव गुणानामीश पारं न याति॥

इतना उसने किया और सभी गुणों को प्रकट किया है फिर भी सागर का सागर है उसमें से एक बूँद भी कम नहीं हुआ है। ऐसा जान कर मन में घमण्ड न करना चाहिए। जो गर्व करता है वह पागल है। वह परमेश्वर बड़ा गुणी है जो कुछ चाहता है, शीघ्र ही हो जाता है। वह ऐसे गुणियों को सँवारता है जो अनेक प्रकार के गुण दिखाते हैं।

[ ११ ]

कीन्हेसि पुरुष एक निरमरा। नाउँ मुहम्मद पूनिउँ करा॥
प्रथम जोति बिधि तेहि कै साजी। औ तेहि प्रीति सिस्टि उपराजी॥
दीपक लेसि जगत कहँ दीन्हा। भा निरमल जग मारग चीन्हा॥
जौं न होत अस पुरुष उज्यारा। सूझि न परत पंथ अँधियारा॥

दोसरइँ ठाँव दई ओइँ लिखे। भए धरमी जो पाढ़ित सिखे ॥
जगत बसीठ दई ओइँ कीन्हे। दोउ जग तरा नाउँ ओहि लीन्हे ॥
जेइँ नहिं लीन्ह जरम सौ नाऊँ। त कहँ कीन्ह नरक महँ ठाऊँ ॥

गुन अवगुन बिधि पूँछत, होइहि लेख अउ जोख।
ओन्ह बिनउब आगे होइ, करब जगत कर मोख ॥ ११ ॥

शब्दार्थ—निरमरा = निर्मल । पूनिऊँ-करा = पूर्णिमा की कला । तेहिकै-पाठान्तर-ताकर = उसकी । तेहि प्रीति = उसकी प्रीति से ही । सिष्टि = सृष्टि । उपराजी = उत्पन्न की । लेसि = जला दिया । भा = हुआ । मारग = मार्ग । चीन्हा = पहिचाना । दई-पाठान्तर-दीन-दैव = दिया । पाढ़ित = पढ़ंत, मंत्र, आयत, कलमा । जगत बसीठ = संसार में ईश्वर का संदेशा लाने वाला, पैगम्बर । जरम सो नाऊँ-पाठान्तर-जनम भरि नाऊँ । विधि = रीति । होइहि = होगी । लेख अउ जोख = कर्मों का हिसाब । ओन्ह = वे । विनउब = विनय करेंगे । मोख (मोक्ष) = मुक्ति, छुटकारा ।

अर्थ—कर्ता का वर्णन करने के बाद सूफी मत के प्रकाशन में जायसी अपने पैगम्बर मुहम्मद का वर्णन कर रहे हैं:—

सृष्टि के पश्चात् उसने निर्मल ज्योतिधारी एक पुरुष पैगम्बर की रचना की जिसका नाम मुहम्मद था और जो पूर्णिमा की चन्द्र-कला के सदृश था। उसी के लिए उसने अपनी प्रथम ज्योति प्रकाशित की और उसी की प्रीति से सृष्टि की रचना की। परमेश्वर की ज्योति के प्रकाशित होने से संसार में प्रकाश हो उठा, सारा संसार निर्मल हो गया और संसार ने मार्ग देख लिया। यदि इस प्रकार से पुरुष का प्रकाश न होता तो संसार में अंधेरा रहता और मार्ग न दिखाई पड़ सकता। परमेश्वर ने दूसरे स्थान पर उसी पैगम्बर को लिख दिया अर्थात् अपने बाद दूसरा दर्जा पैगम्बर को ही दिया। जिन लोगों ने उसका कलमा पढ़ा वे धर्मात्मा कहलाये। ईश्वर ने उस पैगम्बर को संसार में अपना संदेशा देने वाला दूत बनाया है। उसका नाम लेने से मनुष्य के दोनों लोक बन जाते हैं। जिसने जीवन में उसका नाम नहीं लिया उसको नरक में स्थान मिलता है। कयामत में परमेश्वर जब मनुष्य के गुण-अवगुण पूछता

है और उसके जीवन भर के कर्मों का हिसाब होता है तब आगे होकर पैग़म्बर ही मनुष्यों के लिए विनती करता है और संसार को मुक्ति दिलाता है।

*टिप्पणी—पदमावत की रचना में जायसी का उद्देश्य केवल यही था कि उनके सूफी मत तथा इस्लाम के सिद्धान्त हिन्दुओं तक पहुँचें। जायसी ने बड़ी चतुराई से अपने मतों को हिन्दु-शब्दावली में रखा है। उन्होंने क़ुरान को पुरान, बिहिश्त को सरग और दोज़ख को नरक आदि कहा है पर पैग़म्बर का स्थान इस्लाम में सबसे महत्वपूर्ण है, इसे न तो छिपा सकते थे और न इसके स्थान में कोई और नाम दे सकते थे। चतुराई से वे "पैग़म्बर" शब्द का उल्लेख न करके "पुरुष एक" लिख गए और पैग़म्बर के सम्बन्ध में जो कुछ इस्लाम में है उसी को सात अर्धालियों और एक दोहे में कह दिया। इस्लाम के कलमे 'ला इला इलिल्लाह मुहम्मद रसूलल्लाह' अर्थात् संसार में परमेश्वर एक है और मुहम्मद उसका रसूल है—का अक्षरशः वर्णन कर दिया है। मुहम्मद के प्रति उनका धार्मिक श्रद्धाभाव उनके वर्णन में ध्वनित है। मुहम्मद का दूसरे दरजे पर उल्लेख कलमे के भाव को ध्वनित करने के लिए ही किया गया है। "प्रथम........उपराजी" मुहम्मद के लिए ही सृष्टि की—यह क़ुरान में लिखा है कि यदि मुहम्मद न होते तो दुनिया न होती।*

[ १२ ]

चारि मीत जो मुहमद ठाऊँ। चहुँक दुहूँ जग निरमर नाऊँ॥
अबाबकर सिद्दीक सयाने। पहिलइँ सिदिक दीन ओइँ आने॥
पुनि जो उमर खिताब सुहाए। भा जग अदल दीन जौं आए॥
पुनि उसमान पँडित बड़ गुनी। लिखा पुरान जो आयत सुनी॥
चौथइँ अली सिंघ बरियारू। सौंह न कोई रहा जुझारू॥
चारिउ एक मतइँ एक बाता। एक पंथ औ एक सँघाता॥
बचन जो एक सुनाएन्हि साँचा। भए परवान दुहूँ जग बाँचा॥

जो पुरान बिधि पठवा, सोई पढ़त गिरंथ।
अउर जो भूले आवत ते, सुनि लागत तेहि पंथ॥ १२॥

शब्दार्थ—ठाऊँ = ठिकाना। चहुँक = चारों का। निर्मर = निर्मल। नाऊँ = नाम। सिदिक = सच्चा। दीन = धर्म। ओइ = वे। आने = ले आये। अदल = न्याय-परायण। पुरान = कुरान (ऊपर स्पष्ट किया गया है कि जायसी ने इस्लाम सम्बन्धी नामों का हिन्दू-रूपान्तर किया है)। बरियारू = बली। सौंह = सामने। जुझारू = योद्धा। संघाता = साथ। परवान = प्रमाण। बाँचा = पढ़ा। गिरंथ = ग्रंथ।

अर्थ—मुहम्मद के वर्णन के बाद मुहम्मद के चार मित्रों का वर्णन करते हैं:—

मुहम्मद के जो चार मित्र थे वही उसके ठौर-ठिकाने थे। इन चारों का दोनों लोकों में अत्यन्त निर्मल नाम है। प्रथम व्यक्ति थे अबाबकर सिद्दीक जो बड़े चतुर थे। सर्व-प्रथम इन्होंने ही लाकर सच्चे धर्म का प्रचार किया। दूसरे व्यक्ति थे उमर खिताब। जिनके धर्म-प्रचार से संसार न्याय-परायण बना। फिर तीसरे व्यक्ति उसमान थे जो बड़े ही विद्वान् और गुणी थे। इन्होंने मुहम्मद साहब से कुरान की आयतें सुनकर कुरान को लिखा। चौथे व्यक्ति बलवान् अली थे जिनके सम्मुख लड़ने वाला कोई योद्धा नहीं था। ये चारों एक मत और एक विचार के थे। इनका एक ही रास्ता था और एक ही संमति थी। इन्होंने जो सच्चे वचन सुनाये वे प्रमाण हो गये और उन्हीं को दोनों लोकों ने पढ़ा। परमेश्वर ने जो कुरान भेजा है उसी ग्रंथ को ये लोग पढ़ते हैं और जो अन्य लोग भूले भटके आते हैं वे भी इस कुरान को सुनकर सच्चे रास्ते पर आ जाते हैं।

[ १३ ]

सेरसाहि ढिल्ली सुलतानू। चारिउ खंड तपइ जस भानू॥
ओही छाज छात औ पाटू। सब राजा भुइँ धरहिं लिलाटू॥
जाति सूर औ खाँडइ सूरा। औ बुधिवंत सबइ गुन पूरा॥
सूर नवाई नवउ खंड भई। सातउ दीप दुनी सब नई॥
तहँ लगि राज खरग बर लीन्हा। इसकंदर जुलकरों जो कीन्हा॥
हाथ सुलेमा केरि अंगूठी। जग कहँ जिअन दीन्ह तेहि मूठी॥
औ अति गरू पुहुमिपति भारी। टेक पुहुमि सब सिस्टि सँभारी॥

दीन्ह असीस मुहम्मद, करहु जुगहि जुग राज।
पातसाहि तुम्ह जग के, जग तुम्हार मुहताज ॥१३॥

शब्दार्थ—चारिउ = चारों दिशा। लपइ = प्रकाशित है। जस = समान। भानू = सूर्य। ओही = उसे। छाज = सुशोभित है। छात = छत्र। पाट्ट = सिंहासन। भुइँ = पृथ्वी पर। लिलाट्ट = मत्था। खाँड़ = खड्ग, तलवार। बुधिवन्त = बुद्धिमान्। सबइ = सभी। सूर = शूरवीर। नवाइ = झुका दिया। नवउं खंड = नव खंड, सारे संसार। दुनी = दुनिया। नई = झुकी। बर = बल से। इसकंदर = सिकन्दर। जुलकरँ = जुलकरनैन, सिकन्दर की अरबी उपाधि, इस शब्द के कई अर्थ बताये जाते हैं—१. दो सींग वाला क्योंकि सिकन्दर यूनानी प्रथा के अनुसार दो सींग वाली टोपी पहनता था। २. पूर्व और पश्चिम दोनों कोनों को जीतने वाला। ३. बीस वर्ष राज्य करने वाला। ४. दो उच्च ग्रहों से युक्त अर्थात् भाग्यशाली।

सुलेमां = सुलेमान नामी यहूदी राजा। केरि = की। जिअन = जीवन। मूठी = मुट्ठी, दान। गरू = भारी। पुहुमिपति = पृथ्वीपति, राजा। टेकि = सहारा देकर। सिष्टि = सृष्टि। जुगहिं-जुग = युग-युग। मुहताज = मुख देखने वाला, याचक।

अर्थ—मसनवी शैली के अनुसार कर्त्ता और पैग़म्बर के वर्णन के पश्चात् जायसी अपने समय के बादशाह शेरशाह सूर का वर्णन कर रहे हैं:—

शेरशाह सूर दिल्ली का सुलतान था, उसका प्रताप इस प्रकार प्रकाशित है जैसे सूर्य का। उसे ही राज-छत्र और सिंहासन शोभा देता है क्योंकि सभी राजाओं ने उसके सम्मुख अपना मत्था जमीन पर टेक दिया। वह सूर जाति का पठान था और तलवार चलाने में बड़ा वीर था। बड़ा बुद्धिमान् था तथा सभी गुणों में पूर्ण था। उसने अपनी तलवार के बल पर राज्य वहाँ तक फैला लिया जहाँ तक कि जुलकरनैन सिकन्दर महान् ने जीत रक्खा था। उसके हाथ में यहूदी सम्राट् सुलेमान की अंगूठी थी। उसने संसार को जीने देने के लिए दान दिये। वह बड़ा भारी राजा है। उसी ने पृथ्वी का सहारा देकर सारी सृष्टि को संभाल रखा है। उसे मुहम्मद ने आशीर्वाद

दिया कि तुम युग-युग राज्य करो, तुम संसार भर के बादशाह हो। सारा संसार तुम्हारा ही मुख देखने वाला है।

[ १४ ]

बरनौं सूर पुहुमिपति राजा। पुहुमि न भार सहइ जा साजा॥
हय गय सेन चलइ जग पूरी। परबत टूटि उड़हिं होइ धूरी॥
रेनु रइनि होइ रबिहि गरासा। मानुस पंखि लेहिं फिरि बासा॥
ऊपर होइ छावइ महि मंडा। षट खँड धरति अष्ट ब्रह्मंडा॥
डोलइ गगन इंद्र डरि काँपा। बासुकि जाइ पतारहिं चाँपा॥
मेरु धसमसइ समुँद सुखाई। बन खँड टूटि खेह मिलि जाई॥
अगिलहि काहिं पानि खर बाँटा। पछिलेहि काहिं न काँदहु आँटा॥
जो गढ़ नए न काऊ, चलत होहिं सत चूर।
जबहि चढ़इ पुहुमीपति, सेरसाहि जगसूर॥ १४॥

शब्दार्थ---हय = घोड़ा । गय-गयंद = हाथी । पूरी = पूर्ण, सारा (तुक के लिए जग पूरा के स्थान पर जग पूरी ( स्त्रीलिंग ) लिख गये हैं )। रइनि = रजनी, रात। गरासा = ग्रसित कर लिया। पंखि = पक्षी। लेहिं = लेते हैं। फिरि = लौट कर। बास = निवास, बसेरा। महि = पृथ्वी, धूल। धरति = पृथ्वी। वासुकि = शेषनाग। चाँपा = छिप गया। मेरु = सुमेरु। धसमसइ = धंस जाता है। वनखंड = जंगल। खेह = मिट्टी। अगिलहि = सेना का अगला हिस्सा। काहिं = को। पानि = पानी। काँदहु = कर्दम, कीचड़। आँटा = अँटता, पूरा पड़ता। नए = झुके। काऊ = किसी से भी। सत चूर = सौ टुकड़े।

अर्थ---जायसी जी शेरशाह के बल-विक्रम का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन कर रहे हैं:—

अब मैं पृथ्वीपति सूर राजा ( शेरशाह सूर) का वर्णन करता हूँ। जब वह अपनी सेना को सजाता है तो पृथ्वी उसका भार नहीं सह सकती। जब उसके हाथी, घोड़े और सेना चलते हैं तो समस्त संसार चलने लगता है। पर्वत टूट कर धूल होकर उड़ उठते हैं। सेना के चलने से धूल इतनी उड़ती है कि रात्रि हो जाती है और अंधेरा सूर्य को ढक लेता है। रात्रि के भ्रम में राही मनुष्य और पक्षी लौटकर अपने-अपने स्थान और घोंसले में निवास

लेते हैं। मिट्टी पृथ्वी के ऊपर छा जाती है। इतनी धसक होती है कि पृथ्वी और ब्रह्मांड के टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं। आकाश डोलने लगता है, इन्द्र डर से कांपने लगता है, शेषनाग डर कर पाताल में छिप जाते हैं। सुमेरु पर्वत पृथ्वी में धंस जाता है और समुद्र सूख जाते हैं। जंगल टूक-टूक होकर मिट्टी में मिल जाते हैं। सेना इतनी बड़ी है कि यदि किसी जलाशय (कूप, तालाब आदि) से सेना को पानी बाँटा जाता है तो केवल अगले हिस्से को पानी मिल पाता है। पिछले हिस्से को पानी की कौन कहे कीचड़ भी नहीं पूरा होता। शेरशाह की शक्ति ऐसी है कि जो गढ़ कभी नहीं झुके—अजेय हैं—वे भी जब संसारविजेता शेरशाह चढ़ता है तो चूर-चूर हो जाते हैं।

अलंकार--संबन्धातिशयोक्ति और भ्रान्तिमान् (मानुस पंखि तेहिं फिरि वासा)।

[ १५ ]

अदल कहौं जस प्रिथिमी होई। चाँटहिं चलत न दुखवइ कोई।।
नौसेरवाँ जो आदिल कहा। साहि अदल सरि सोउ न अहा।।
अदल कीन्ह उम्मर की नाईं। भइ अहान सिगरी दुनिआईं।।
परी नाथ कोइ छुअइ न पारा। मारग मानुस सोन उछारा।।
गउव सिंघ रेंगहिं एक बाटा। दूअउ पानि पिअहिं एक घाटा।।
नीर खीर छानइ दरबारा। दूध पानि सो करइ निरारा।।
धरम निआउ चलइ सत भाषा। दूबर बरिअ दुनहुं सम राखा।।
सब पिरथिमी असीसइ, जोरि जोरि कै हाथ।
गाँग जउँन जौ लहि जल, तौ लहि अम्मर माथ।। १५।।

शब्दार्थ—अदल = न्याय। जस = जैसा। प्रिथिमी = पृथ्वी। चाँटहि = चींटीं। दुखवइ = दुःख देना। सरि = बराबर। सोउ = वह। अहा = था। नाईं = समान। अहान-अहा हा = वाह वाह। सिगरी = सारी। नाथ = नाक की सोने की नथ। पारा = सकता। मारग = मार्ग। मानुस = मनुष्य। सोन = स्वर्ण। उछारा = उछालते हैं। गउव = गाय। सिंघ = सिंह। रेंगहिं = चलते हैं। बाटा = रास्ता। दूअउ = दोनों। पानि = पानी, जल। निरारा = अलग। निआउ = न्याय। सत = सत्य। भाषा = वचन। दूबर = दुर्बल।

बरिश्र = बली । गांग = गंगा । जउँन = यमुना । जौ लहि = जब तक । तौ लहि = तब तक । श्रम्मर = अमर । माथ = मस्तक ।

श्रर्थ—इस अंश में जायसी शेरशाह के न्याय की प्रशंसा करते हैं:— अब मैं शेरशाह के न्याय का वर्णन करते हुए कहता हूं कि पृथ्वी में उसका न्याय इस प्रकार है कि चलते हुए चींटी को भी कोई नहीं दुखाता। बादशाह नौशेरवां को लोग न्यायी कहते हैं पर वह भी शेरशाह के न्याय की बराबरी नहीं कर सकता। इसने उमर बादशाह के समान न्याय किया, इसलिए सारे संसार में वाह-वाह होने लगी। उसका ऐसा प्रताप था कि सोने की नथ भी यदि पड़ी हुई हो तो कोई उसे छू नहीं सकता था। ऐसी सुरक्षा थी कि लोग मार्ग में सोना उछालते चलते थे। गाय और सिंह एक ही रास्ते चलते थे और दोनों एक ही घाट पर पानी पीते थे। न्याय के लिए जब दरबार में बैठता था तब दूध का दूध और पानी का पानी कर देता था। उसके राज्य में धर्म का न्याय और सत्य वचन चलते थे। उसने कमजोर और बलवान् दोनों को समान कर रखा था। सारी पृथ्वी हाथ जोड़-जोड़ कर आशीर्वाद देती थी कि जब तक गंगा-यमुना में जल रहे तब तक तेरा मस्तक अमर रहे।

अलंकार—सम्बन्धातिशयोक्ति और उपमा।

[ १६ ]

पुनि रूपवंत बखानौं काहा। जावँत जगत सबइ मुख चाहा॥
ससि चौदसि जो दइअ सँवारा। तेहू चाहि रूप उँजियारा॥
पाप जाइ जौं दरसन दीसा। जग जोहारि कइ देइ असीसा॥
जइस भान जग ऊपर तपा। सबइ रूप ओहि आगें छपा॥
भा अस सूर पुरुष निरमरा। सूर चाहि दह आगरि करा॥
सौंह दिस्टि कइ हेरि न जाई। जेइँ देखा सो रहा सिर नाई॥
रूप सवाई दिन दिन चढ़ा। बिधि सुरूप जग ऊपर गढ़ा॥
रूपवंत मनि माथें, चन्द्र घाट वह बाढ़ि।
मेदिनि दरस लोभानी, अस्तुति बिनवइ ठाढ़ि॥ १६॥

शब्दार्थ—काहा = क्या। जावँत = जितना। मुख चाहा = मुख देखता है। ससि चौदसि = पूर्ण चन्द्र ( मुसलमान द्वितीया के चन्द्र से दिन गिनते हैं

इस प्रकार पूर्णिमा को उनकी तिथि चौदस ही पड़ती है) दइअ(दैव) = ईश्वर। जोहारि = वन्दना। चाहि = अपेक्षा। दह = दस। आगरि = अधिक। करा = कला। सौंह = सम्मुख। दिस्टि = दृष्टि। कइ = करके। हेरि = देखना। सवाई = सवा गुना। विधि = ब्रह्मा। मेदिनि = पृथ्वी।

अर्थ—शेरशाह के सौन्दर्य का वर्णन जायसी इस प्रकार करते हैं:—

सुलतान शेरशाह बड़ा रूपवान् है उसका मैं क्या वर्णन करूं। जितना संसार है सभी उसका मुख देखना चाहता है। परमेश्वर ने जो पूर्ण चन्द्र का रूप संवारा है उससे भी बढ़कर उसके रूप में सौन्दर्य है। उसके दर्शन से पाप भागता है। संसार उसकी वन्दना करके आशीर्वाद देता है। उसका तेज इस प्रकार है जैसे ऊपर सूर्य का प्रकाश है। सब के रूप उसके आगे छिप गये। वह शूर पुरुष ऐसा निर्मल है कि उसकी कलायें सूर्य से भी दस गुनी अधिक प्रकाशमान हैं। उसके सम्मुख दृष्टि करके देखा नहीं जाता। जो कोई उसे देखता है वही सिर नवा के रह जाता है। प्रतिदिन उसका रूप सवा गुना बढ़ता जाता है। ब्रह्मा ने उसका स्वरूप संसार से ऊपर बनाया है। वह बड़ा रूपवान् है, उसके मस्तक पर मणि है इससे चन्द्र उससे घटता है वह उससे बढ़कर है क्योंकि चन्द्रमा के मत्थे में तो कलंक होता है। सारी पृथ्वी उसके दर्शनों की लालायित हो गयी और एक स्थान पर खड़ी हुई उसकी वन्दना करती रहती है।

अलंकार—व्यतिरेक।

[ १७ ]

पुनि दातार दइअ बड़ कीन्हा। अस जग दान न काहूँ दीन्हा॥
बलि औ बिक्रम दानि बड़ अहे। हेतिम करन तिआगी कहे॥
सेरसाहि सरि पूज न कोऊ। समुँद सुमेर घटहिं नित दोऊ॥
दान डाँक बाजइ दरबारा। कीरति गई समुद्रहँ पारा॥
कंचन बरिस सोर जग भएऊ। दारिद भागि देसंतर गएऊ॥
जौं कोइ जाइ एक बेर माँगा। जरमहु होइ न भूखा नाँगा॥
दस असुमेध जग्गि जेइँ कीन्हा। दान पुन्नि सरि सेउ न दीन्हा॥

अइस दानि जग उपना, सेरसाहि सुलतान ।
ना अस भएउ न होइहि, ना कोइ देइ अस दान ॥ १७ ॥

शब्दार्थ—दातार = दानी । तियागी = त्यागी । अहे = थे । सरि = बराबर । पूज = पूरा होना । भंडारी = भंडारी, खजानची । डाँक = डंका । कंचन= सोना । बरिस = पाठान्तर परसि । सोर-पाठान्तर-सूर । देसंतर = देशान्तर । गएऊ = गया । बेर = बार । जरमहु = जीवन भर । नाँगा = नंगा । असुमेध = अश्वमेध यज्ञ । उपना = पाठान्तर-उपजा = उत्पन्न हुआ ।

अर्थ—शेरशाह के दान का वर्णन जायसी करते हैं:—

फिर ब्रह्मा ने उसे बड़ा दानी बनाया है । संसार में ऐसा दान किसी ने नहीं दिया । राजा बलि और विक्रमादित्य बड़े दानी थे, हातिम और कर्ण बड़े त्यागी कहे गये हैं । पर इन सब में कोई भी शेरशाह की बराबरी में पूरा नहीं पड़ सकता । रत्नाकर (समुद्र) और सुमेरु (सोने का पहाड़) भी नित्य उससे घट जाते हैं । उसके द्वार पर दान का डंका बजा करता है, उसके दान की कीर्ति समुद्र के पार पहुँच गई । उसके दान से सोने की वर्षा होती है इसका शोर सारे संसार में हो गया और दरिद्रता भाग कर दूसरे देश में चली गयी । जो कोई उसके पास एक बार भी माँगने जाता है उसे जीवन में फिर भूखा-नंगा नहीं होना पड़ता । जिस व्यक्ति ने दस अश्वमेध यज्ञ किये हैं वह भी दान-पुण्य में इसकी बराबरी नहीं कर सकता । सुलतान शेरशाह संसार में ऐसा दानी उत्पन्न हुआ है कि न तो कोई भूत में हुआ है और न ऐसा होगा जो ऐसा दान कर सके ।

अलंकार—अतिशयोक्ति ।

[ १८ ]

सैयद असरफ पीर पिआरा । तिन्ह मोहिं पंथ दीन्ह उजियारा ॥
लेसा हिएँ पेम कर दीया । उठी जोति भा निरमल हिया ॥
मारग हुत अँधियार असूझा । भा अँजोर सब जाना बूझा ॥
खार समुद्र पाप मोर मेला । बोहित धरम लीन्ह कइ चेला ॥
उन्ह मोर करिअ पोढ़ कर गहा । पाएउँ तीर घाट जो अहा ॥
जा कहँ अइस होहिं कँड़हारा । तुरित बेगि सो पावइ पारा ॥

दस्तगीर गाढ़े के साथी। जहँ अवगाह देहिं तहँ हाथी ॥
जहाँगीर ओइ चिस्ती, निहकलंक जस चाँद ।
ओइ मखदूम जगत के, हौं उन्ह के घर बाँद ॥ १८ ॥

शब्दार्थ—पीर = साधु । पिआरा = प्यारे । तिन्ह = उन्होंने । उजिआरा = प्रकाशित किया । लेसा = जलाया । हिएँ = हृदय में । पेम = प्रेम । कर = का । हुत = था । अँधियार = अँधेरा । असूझा = जहां कुछ न दिखाई पड़े । अँजोर = उजेला । खार = क्षार । मोर = मेरा । मेला = मिलाया । बोहित = नाव लीन्ह = लिया । कै = करके । करिअ = कर, हाथ । पोढ़ = मजबूती से । गहा = पकड़ा । अहा = था । कँड़हारा-पाठान्तर कंधारा = कर्णधार । तुरित = तुरन्त । दस्तगीर = हाथ पकड़ने वाला । गाढ़े = कठिनाई । अवगाह = अथाह । हाथी = हाथ । निहकलंक = निष्कलंक । मखदूम = मालिक । बाँद = सेवक ।

अर्थ—इस अंश में जायसी अपने गुरु का वर्णन करते हैं :—

सैयद अशरफ जी मेरे परम प्रिय हैं, उन्होंने ही मुझे उज्ज्वल पन्थ दिया । उन्होंने ही सूफीमत को देकर मेरे हृदय में ईश्वरीय प्रेम का दीपक जलाया । उससे ज्योति उठी और हृदय निर्मल हो गया । मेरे लिए संसार का पथ अँधेरा और असूझ था । गुरु की कृपा से उजेला हुआ और मुझे ज्ञान-विवेक मिला । उन्होंने मेरे पापों को खारी समुद्र में मिला दिया और मुझे धर्म की नाव पर अपना चेला बना कर चढ़ा लिया । उन्होंने मेरे हाथ मज-बूती से पकड़ लिए जिससे किनारे पर जो घाट था उसे मैं पा गया, अर्थात् मुझे सुगम प्रेम का पंथ मिल गया । जिसका कर्णधार इस प्रकार हो वह तो तुरन्त ही पार हो जाता है । मेरे गुरु जो हाथ पकड़ने वाले और कठि-नाई में साथ देने वाले थे । जहाँ अगाध पाते थे वहीं हाथ दे दिया करते थे । सैयद अशरफ जहाँगीर चिश्ती निष्कलंक चन्द्र सदृश थे । वे सारे संसार के मालिक थे और मैं उनके घर का सेवक हूँ ।

अलंकार—रूपक, उपमा ।

[ १९ ]

उन्ह घर रतन एक निरमरा । हाजी सेख सभागइँ भरा ॥

तिन्ह घर दुइ दीपक उजिआरे। पंथ देइ कहँ दइअ सँवारे ॥
सेख मुबारक पूनिउँ करा। सेख कमाल जगत निरमरा ॥
दुऔ अचल धुव डोलहिं नाहीं। मेरु खिखिंद तिनहुं उपराहीं ॥
दीन्ह जोति औ रूप गोसाईं। कीन्ह खाँभ दुहुँ जगत की ताईं ॥
दुहूं खंभ टेकी सब मही। दुहुँ के भार सिस्टि थिर रही ॥
जिन्ह दरसे औ परसे पाया। पाप हरा निरमल भौ काया ॥
महमद तहाँ निचिन्त पथ, जेहि संग मुरसिद पीर।
जेहि रे नाव करिया औ खेवक, बेग पाव सो तीर ॥ १६ ॥

शब्दार्थ—उन्ह = उसके। रतन = रत्न। निरमरा = निर्मल। सभागइँ-पाठान्तर-सभैगुन, समागुन, सोभागइ = सौभाग्य। देइ कहँ = देने के लिए। दइअ = ईश्वर। पूनिऊँ करा = पूर्णमासी की कला। दुऔ = दोनों। धुव = ध्रुव। खिखिंद = किष्किन्धा। उपराहीं = ऊपर। टेकी = सँभाली। मही = पृथ्वी। दुहुँके = दोनों के। परसे = छूना। पाया = पैर। मुरसिद = सीधा रास्ता बताने वाला। जेहि = जिसके पास। करिआ = पतवार पकड़ने वाला। खेवक = खेने वाला। महमद = मलिक मुहम्मद जायसी।

अथ सैयद अशरफ जहाँगीर के घर एक निर्मल रत्न सौभाग्य से भरे शेख हाजी पैदा हुए। उनके घर दो दीपक प्रकाशित हुए जिन्हें परमेश्वर ने रास्ता दिखाने के लिए सँवारा था। इन दो में से एक पूर्ण चन्द्र की कलाओं से युक्त शेख मुबारक थे। दूसरे संसार में अति निर्मल शेख कमाल थे। दोनों अटल ध्रुव के सदृश थे। सुमेरु और किष्किन्धा से भी वह ऊपर थे। परमात्मा ने उन्हें सुन्दर रूप और तेज दिया था। दोनों संसार के लिए खम्भे थे। इन दोनों खम्भों ने पृथ्वी को सहारा दिया और इन दोनों के भार लेने पर सृष्टि स्थिर रही। इनके दर्शन और चरण-स्पर्श करने पर पाप दूर होते हैं और शरीर निर्मल होता है। जायसी जी कहते हैं कि जिसके साथ सन्मार्ग प्रदर्शक गुरु है वही अपने मार्ग में निश्चिन्त होता है और जिसकी नाव पर डाँड (चप्पू) और पतवार पकड़ने वाला है उसकी नाव तेजी से किनारे पर पहुँच जाती है।

अलंकार—रूपक, रूपकातिशयोक्ति और उपमा।

दस्तगीर गाढ़े के साथी। जहँ अवगाह देहिं तहँ हाथी ॥
जहाँगीर ओइ चिस्ती, निहकलंक जस चाँद।
ओइ मखदूम जगत के, हौं उन्ह के घर बाँद ॥ १८ ॥

शब्दार्थ—पीर = साधु। पिआरा = प्यारे। तिन्ह = उन्होंने। उजिआरा = प्रकाशित किया। लेसा = जलाया। हिएँ = हृदय में। पेम = प्रेम। कर = का। हुत = था। अँधियार = अँधेरा। असूझा = जहां कुछ न दिखाई पड़े। अँजोर = उजेला। खार = क्षार। मोर = मेरा। मेला = मिलाया। बोहित = नाव लीन्ह = लिया। कै = करके। करिअ = कर, हाथ। पोढ़ = मजबूती से। गहा = पकड़ा। अहा = था। कँड़हारा-पाठान्तर कंधारा = कर्णधार। तुरित = तुरन्त। दस्तगीर = हाथ पकड़ने वाला। गाढ़े = कठिनाई। अवगाह = अथाह। हाथी = हाथ। निहकलंक = निष्कलंक। मखदूम = मालिक। बाँद = सेवक।

अर्थ—इस अंश में जायसी अपने गुरु का वर्णन करते हैं :—

सैयद अशरफ जी मेरे परम प्रिय हैं, उन्होंने ही मुझे उज्ज्वल पन्थ दिया। उन्होंने ही सूफीमत को देकर मेरे हृदय में ईश्वरीय प्रेम का दीपक जलाया। उससे ज्योति उठी और हृदय निर्मल हो गया। मेरे लिए संसार का पथ अँधेरा और असूझ था। गुरु की कृपा से उजेला हुआ और मुझे ज्ञान-विवेक मिला। उन्होंने मेरे पापों को खारी समुद्र में मिला दिया और मुझे धर्म की नाव पर अपना चेला बना कर चढ़ा लिया। उन्होंने मेरे हाथ मजबूती से पकड़ लिए जिससे किनारे पर जो घाट था उसे मैं पा गया, अर्थात् मुझे सुगम प्रेम का पंथ मिल गया। जिसका कर्णधार इस प्रकार हो वह तो तुरन्त ही पार हो जाता है। मेरे गुरु जो हाथ पकड़ने वाले और कठिनाई में साथ देने वाले थे। जहाँ अगाध पाते थे वहीं हाथ दे दिया करते थे। सैयद अशरफ जहाँगीर चिश्ती निष्कलंक चन्द्र सदृश थे। वे सारे संसार के मालिक थे और मैं उनके घर का सेवक हूँ।

अलंकार—रूपक, उपमा।

[ १९ ]

उन्ह घर रतन एक निरमरा। हाजी सेख सभागइँ भरा ॥

तिन्ह घर दुइ दीपक उजिश्रारे। पंथ देइ कहं दइश्र सँवारे ॥
सेख मुबारक पूनिउँ करा। सेख कमाल जगत निरमरा ॥
दुश्रौ अचल धुव डोलहिं नाहीं। मेरु खिखिंद तिनहुं उपराहीं ॥
दीन्ह जोति श्रौ रूप गोसाईं। कीन्ह खाँभ दुहुँ जगत की ताईं ॥
दुहूं खंभ टेकी सब मही। दुहुँ के भार सिस्टि थिर रही ॥
जिन्ह दरसे श्रौ परसे पाया। पाप हरा निरमल भौ काया ॥
महमद तहाँ निचिन्त पथ, जेहि संग मुरसिद पीर।
जेहि रे नाव करिया श्रौ खेवक. बेग पाव सो तीर ॥ १६ ॥

शब्दार्थ—उन्ह = उसके। रतन = रत्न। निरमरा = निर्मल। सभागइँ-पाठान्तर-सभैगुन, सभागुन, सोभागइ = सौभाग्य। देइ कहँ = देने के लिए। दइश्र = ईश्वर। पूनिऊँ करा = पूर्णमासी की कला। दुश्रौ = दोनों। धुव = ध्रुव। खिखिंद = किष्किन्धा। उपराहीं = ऊपर। टेकी = सँभाली। मही = पृथ्वी। दुहुँके = दोनों के। परसे = छूना। पाया = पैर। मुरसिद = सीधा रास्ता बताने वाला। जेहि = जिसके पास। करिश्रा = पतवार पकड़ने वाला। खेवक = खेने वाला। महमद = मलिक मुहम्मद जायसी।

श्रथ सैयद अशरफ जहाँगीर के घर एक निर्मल रत्न सौभाग्य से भरे शेख हाजी पैदा हुए। उनके घर दो दीपक प्रकाशित हुए जिन्हें परमेश्वर ने रास्ता दिखाने के लिए सँवारा था। इन दो में से एक पूर्ण चन्द्र की कलाश्रों से युक्त शेख मुबारक थे। दूसरे संसार में अति निर्मल शेख कमाल थे। दोनों अटल ध्रुव के सदृश थे। सुमेरु श्रौर किष्किन्धा से भी वह ऊपर थे। परमात्मा ने उन्हें सुन्दर रूप श्रौर तेज दिया था। दोनों संसार के लिए खम्भे थे। इन दोनों खम्भों ने पृथ्वी को सहारा दिया श्रौर इन दोनों के भार लेने पर सृष्टि स्थिर रही। इनके दर्शन श्रौर चरण-स्पर्श करने पर पाप दूर होते हैं श्रौर शरीर निर्मल होता है। जायसी जी कहते हैं कि जिसके साथ सन्मार्ग प्रदर्शक गुरु है वही अपने मार्ग में निश्चिन्त होता है श्रौर जिसकी नाव पर डांड (चप्पू) श्रौर पतवार पकड़ने वाला है उसकी नाव तेजी से किनारे पर पहुँच जाती है।

श्रलंकार—रूपक, रूपकातिशयोक्ति श्रौर उपमा।

दस्तगीर गाढ़े के साथी। जहँ अवगाह देहिं तहँ हाथी ॥
जहाँगीर ओइ चिस्ती, निहकलंक जस चाँद।
ओइ मखदूम जगत के, हौं उन्ह के घर बाँद ॥ १८ ॥

शब्दार्थ—पीर = साधु। पिआरा = प्यारे। तिन्ह = उन्होंने। उजिआरा = प्रकाशित किया। लेसा = जलाया। हिएँ = हृदय में। पेम = प्रेम। कर = का। हुत = था। अँधियार = अँधेरा। असूझा = जहां कुछ न दिखाई पड़े। अँजोर = उजेला। खार = क्षार। मोर = मेरा। मेला = मिलाया। बोहित = नाव लीन्ह = लिया। कै = करके। करिअ = कर, हाथ। पोढ़ = मजबूती से। गहा = पकड़ा। अहा = था। कँड़हारा-पाठान्तर कंधारा = कर्णधार। तुरित = तुरन्त। दस्तगीर = हाथ पकड़ने वाला। गाढ़े = कठिनाई। अवगाह = अथाह। हाथी = हाथ। निहकलंक = निष्कलंक। मखदूम = मालिक। बाँद = सेवक।

अर्थ—इस अंश में जायसी अपने गुरु का वर्णन करते हैं :—

सैयद अशरफ जी मेरे परम प्रिय हैं, उन्होंने ही मुझे उज्ज्वल पन्थ दिया। उन्होंने ही सूफीमत को देकर मेरे हृदय में ईश्वरीय प्रेम का दीपक जलाया। उससे ज्योति उठी और हृदय निर्मल हो गया। मेरे लिए संसार का पथ अँधेरा और असूझ था। गुरु की कृपा से उजेला हुआ और मुझे ज्ञान-विवेक मिला। उन्होंने मेरे पापों को खारी समुद्र में मिला दिया और मुझे धर्म की नाव पर अपना चेला बना कर चढ़ा लिया। उन्होंने मेरे हाथ मज-बूती से पकड़ लिए जिससे किनारे पर जो घाट था उसे मैं पा गया, अर्थात् मुझे सुगम प्रेम का पंथ मिल गया। जिसका कर्णधार इस प्रकार हो वह तो तुरन्त ही पार हो जाता है। मेरे गुरु जो हाथ पकड़ने वाले और कठि-नाई में साथ देने वाले थे। जहाँ अगाध पाते थे वहीं हाथ दे दिया करते थे। सैयद अशरफ जहाँगीर चिश्ती निष्कलंक चन्द्र सदृश थे। वे सारे संसार के मालिक थे और मैं उनके घर का सेवक हूँ।

अलंकार—रूपक, उपमा।

[ १९ ]

उन्ह घर रतन एक निरमरा। हाजी सेख सभागइँ भरा ॥

तिन्ह घर दुइ दीपक उजिआरे। पंथ देइ कहँ दइअ सँवारे॥
सेख मुबारक पूनिउँ करा। सेख कमाल जगत निरमरा॥
दुऔ अचल धुव डोलहिं नाहीं। मेरु खिखिंद तिनहुं उपराहीं॥
दीन्ह जोति औ रूप गोसाईं। कीन्ह खाँभ दुहुँ जगत की ताईं॥
दुहूं खंभ टेकी सब मही। दुहुँ के भार सिस्टि थिर रही॥
जिन्ह दरसे औ परसे पाया। पाप हरा निरमल भौ काया॥
महमद तहाँ निचिन्त पथ, जेहि संग मुरसिद पीर।
जेहि रे नाव करिया औ खेवक. बेग पाव सो तीर॥ १६॥

शब्दार्थ—उन्ह = उसके। रतन = रत्न। निरमरा = निर्मल। सभागइँ-पाठान्तर-सभैगुन, समागुन, सोभागइ = सौभाग्य। देइ कहँ = देने के लिए। दइअ = ईश्वर। पूनिऊँ करा = पूर्णमासी की कला। दुऔ = दोनों। धुव = ध्रुव। खिखिंद = किष्किन्धा। उपराहीं = ऊपर। टेकी = सँभाली। मही = पृथ्वी। दुहुँके = दोनों के। परसे = छूना। पाया = पैर। मुरसिद = सीधा रास्ता बताने वाला। जेहि = जिसके पास। करिआ = पतवार पकड़ने वाला। खेवक = खेने वाला। महमद = मलिक मुहम्मद जायसी।

अथ सैयद अशरफ जहाँगीर के घर एक निर्मल रत्न सौभाग्य से भरे शेख हाजी पैदा हुए। उनके घर दो दीपक प्रकाशित हुए जिन्हें परमेश्वर ने रास्ता दिखाने के लिए सँवारा था। इन दो में से एक पूर्ण चन्द्र की कलाओं से युक्त शेख मुबारक थे। दूसरे संसार में अति निर्मल शेख कमाल थे। दोनों अटल ध्रुव के सदृश थे। सुमेरु और किष्किन्धा से भी वह ऊपर थे। परमात्मा ने उन्हें सुन्दर रूप और तेज दिया था। दोनों संसार के लिए खम्भे थे। इन दोनों खम्भों ने पृथ्वी को सहारा दिया और इन दोनों के भार लेने पर सृष्टि स्थिर रही। इनके दर्शन और चरण-स्पर्श करने पर पाप दूर होते हैं और शरीर निर्मल होता है। जायसी जी कहते हैं कि जिसके साथ सन्मार्ग प्रदर्शक गुरु है वही अपने मार्ग में निश्चिन्त होता है और जिसकी नाव पर डाँड (चप्पू) और पतवार पकड़ने वाला है उसकी नाव तेजी से किनारे पर पहुँच जाती है।

अलंकार—रूपक, रूपकातिशयोक्ति और उपमा।

[ २० ]

गुरु मोहदी खेवक मैं सेवा। चलै उताइल जिन्हकर खेवा ॥
अगुआ भएउ सेख बुरहानू। पंथ लाइ जेहिं दीन्ह गिआनू ॥
अलहदाद भल तिन्ह कर गुरू। दीन दुनिअ रोसन सुरखुरू ॥
सैयद महमद के ओइ चेला। सिद्ध पुरुष संगम जेहिं खेला ॥
दानिआल गुरु पंथ लखाए। हजरति ख्वाज खिजिर तिन्ह पाए ॥
भए परसन ओहि हजरति ख्वाजे। लइ मेरए जहं सैयद राजे ॥
उन्ह सौं मैं पाई जब करनी। उघरी जीभ प्रेम कबि बरनी ॥
ओइ सो गुरु हौं चेला, निति बिनवौं भा चेर।
उन्ह हुति देखइ पावौं, दरस गोसाईं केर ॥ २० ॥

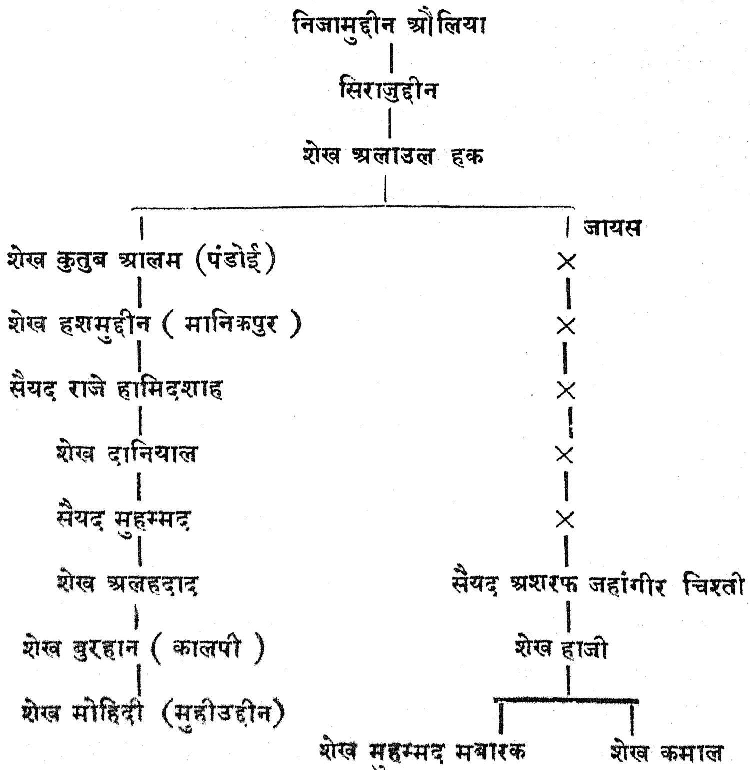
शब्दार्थ—मोहदी = सैयद मुहीउद्दीन, जायसी के दूसरे गुरु। उताइल = जल्दी। खेवा = नाव का बोझ। सुरखुरू = मुख पर तेज धारण करने वाला। ओइ = वे। संगम = मेल, साक्षात्कार। खेला = खेल। लइ मेरए = मिला लिया। सैयद राजे = सैयद राजे हामिदशाह। निति = नित्य। चेर = चेला। उन्ह हुति = उनके द्वारा।

अर्थ—जायसी के प्रथम गुरु तो सैयद अशरफ जहांगीर थे पर बाद में वे सैयद मुहीउद्दीन की सेवा में भी रहे और उनसे ज्ञान प्राप्त किया, उन्हीं के सम्बन्ध में कहते हैं—

गुरु मुहीउद्दीन मेरे मल्लाह हैं मैं उनका सेवक हूँ। उनकी नाव तेजी से चलती है। उनके अगुआ शेख बुरहान थे जिन्होंने उन्हें रास्ते पर लाकर ज्ञान दिया। उनके भी गुरु शेख अलहदाद थे। इन्होंने संसार को प्रकाश दिया। शेख अलहदाद सैयद मुहम्मद के चेले थे। वे सिद्धपुरुष थे और उनके लिए परमेश्वर का साक्षात्कार खेल था। शेख दानियाल ने सैयद मुहम्मद को रास्ता दिखाया था। उनको हजरत ख्वाजा खिजिर ने सैयद राजे से मिलाया। इस प्रकार की गुरु-परम्परा का उल्लेख करके जायसी जी कहते हैं कि गुरु से जब मैंने अपनी सेवा का फल पाया तब मेरी जिह्वा खुली और मैंने प्रेम-काव्य का वर्णन किया। वे ही मेरे गुरु हैं, मैं उनका चेला हूं। मैं नित्य उनका शिष्य होकर विनती करता हूं। उन्हीं के द्वारा मैं परमेश्वर का

दर्शन करना चाहता हूँ ।

*टिप्पणी—मलिक मुहम्मद जायसी निजामुद्दीन औलिया की परम्परा में से थे। यह परम्परा दो भागों में विभक्त हो गयी थी। एक मानिकपुर (कालपी) की और दूसरी जायस की। मलिक मुहम्मद ने दोनों परम्पराओं से दीक्षा ली। जायस वाली परम्परा में तो वे थे ही मानिकपुर वाली परम्परा से भी उन्होंने ज्ञान प्राप्त किया। छन्द संख्या अठारह और उन्नीस में उन्होंने जायस परम्परा का और छन्द बीस में मानिकपुर की परम्परा का उल्लेख किया है। इनकी गुरु-परम्परा का वंश-वृक्ष देना उपयुक्त होगा, इससे उक्त पद और स्पष्ट हो जायेंगे :—*



[ २१ ]

एक नैन कवि मुहमद गुनी। सोइ विमोहा जेइ कबि सुनी ॥
चाँद जइस जग बिधि औतारा। दीन्ह कलंक कीन्ह उजिआरा ॥
जग सूझा एकइ नैनाहाँ। उवा सूक अस नखतन्ह माहाँ ॥
जौ लहि अंबहिं डाभ न होई। तौ लहि सुगंध बसाइ न सोई ॥
कीन्ह समुद्र पानि जौं खारा। तौ अति भएउ असूझ अपारा ॥
जौं सुमेरु तिरसूल बिनासा। भा कंचनगिरि लाग अकासा ॥
जौं लहि घरी कलंक न परा। काँच होइ नहिं कंचन करा ॥
एक नैन जस दरपन, औ तेहि निरमल भाउ।
सब रूपवंत पाँव गहि, मुख जोवहिं कइ चाउ ॥ २१ ॥

शब्दार्थ– जइस = जैसा। उवा = उदय हुआ। सूक = शुक्र। नखतन्ह= नक्षत्रों। माहाँ = में। जौ लहिं = जब तक। अंबहि = आम। डाभ = चोपी (आम के मुख पर से निकलने वाला तीखा रस जिसको पहले लोग निकाल कर तब चूसते हैं।) बसाइ = सुगन्धित होना। सोई = वह। पानि = पानी। घरी = सोना गलाने की मिट्टी की घरिया (कटोरी)। कलंक = दूषित सोना। काँच = कच्चा। कंचन = सोना। करा = कला। भाउ = भाव। जोवहिं = देखते हैं। चाउ = प्रीति।

अर्थ–अब जायसी अपना परिचय दे रहे हैं। अपना परिचय देते हुए सर्वप्रथम वे अपने अंग-दोष अर्थात् कानेपन पर ही कह उठे। अपने दोषको वे दोष नहीं मानते। सम्भवतः जीवन में कई बार उन्हें इस अङ्ग-दोष पर असम्मान मिला था "मोहिं हँसे की कोहरें" उक्ति इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध है। उसी की प्रति-ध्वनि यहां भी दिखाई पड़ रही है। जायसी अपने अङ्ग-दोष के पक्ष में काव्य रीति से पुष्टि कर रहे हैं। उनके कथन में गर्वोक्ति की स्पष्ट झलक है।

मुहम्मद नाम का एक आँख वाला गुणी कवि है। उसकी कविता को जिसने ही सुना वही मोहित हो गया (प्रथम अर्धाली में गर्वोक्ति है) ब्रह्मा ने उसे संसार में चन्द्रमा जैसा अवतार दिया है। जैसे कि चन्द्रमा में कलंक होते हुए भी प्रकाश करने की शक्ति है इसी प्रकार एकाक्ष होते हुए भी जायसी काव्य-यश से प्रकाशित हैं। एक ही आँख से उन्हें संसार का वास्त-

विकरूप दिखाई पड़ा । व्यंजना इस पंक्ति में यह भी है कि एक आंख से देखने के कारण वे समदर्शी बने । (अवधी प्रयोग के अनुसार एक आँख से देखने का तात्पर्य समदर्शी होना होता है ।) संसार के मनुष्यों में जायसी इस प्रकार चमके जैसे नक्षत्रों में शुक्र तारा चमकता है । शुक्राचार्य भी काने थे इसीलिए जायसी ने शुक्र तारे से अपनी उपमा दी है । अपने एकाक्ष होने की और पुष्टियां कर रहे हैं—जब तक आम में चोप नहीं होती उसमें सुगन्धि नहीं आती (आम की तीखी चोपी ही उसे पकाती है और सुगन्धित करती है ।) इसी प्रकार परमेश्वर ने समुद्र के पानी को खारा किया है तभी तो वह इतना अपार और अथाह है । सुमेरु पर्वत सोने का है पर पहले वही शंकर के त्रिशूल से नष्ट किया गया था, शंकर के त्रिशूल के स्पर्श से ही तो वह सुवर्ण का हो गया और आकाश को छूने लगा । दोषयुक्त सोना जब तक मिट्टी की घरिया में नहीं पड़ता, कच्चा ही रहता है पर घरिया में तपाये जाने पर ही वह शुद्ध सोना होकर चमकने लगता है । एक आंख के होते हुए भी वे दर्पण के समान निर्मल हैं और उनके भाव भी निर्मल हैं । बड़े-बड़े रूपवान् लोग उनके पैर पड़ते हैं और प्रीति से उनका मुख देखते हैं ।

अलंकार—उपमा

*टिप्पणी—उक्त उपमाओं में चन्द्रमा और शुक्राचार्य की उपमायें सुन्दर हैं पर अन्य उपमायें पिष्टपेषणमात्र ही हैं । क्योंकि कानेपन से ही तो उनका महत्व नहीं बढ़ा जैसा कि आम की चोप, त्रिशूल या घरिया के कारण आम, सुमेरु या सोना महत्व को प्राप्त हुए हैं । सागर की उपमा भी ठीक नहीं बनी है ।*

[ २२ ]

चारि मीत कबि मुहमद पाए । जोरि मिताई सरि पहुँचाए ॥
यूसुफ मलिक पंडित औ ग्यानी । पहिलै भेद बात उन्ह जानी ॥
पुनि सलार काँदन मति माहाँ । खाँडे दान उभै निति बाहाँ ॥
मिआँ सलोने सिंघ अपारू । बीर खेत रन खरग जुझारू ॥
सेख बड़े बड़ सिद्ध बखाने । कइ अदेस सिद्धन बड़ माने ॥
चारिउ चतुरदसौ गुन पढ़े । औ सँग जोग गोसाईं गढ़े ॥

बिरिख जो आछहिं चंदन पासाँ। चदन होहिं बेधि तेहि बासाँ॥
मुहमद चारिउ मीत मिलि, भए जो एकइ चित्त।
एहि जग साथ जो निबहा, आहि जग बिछुरन कित्त ।२२॥

शब्दार्थ—सरि = बराबर । मतिमाहाँ = मतिमान् । खाँडै = तलवार । उभै = उठती है । अपारू—पाठान्तर बरियारू = बली । रन = रण । जुझारू = योद्धा । अदेस (आदेश = उपदेश । चतुरदसौगुन = चौदह विद्यायें । गोसाईं = ईश्वर । गढ़े = बनाया था । बिरिख = वृत्त । आछहिं=होते हैं । पाठान्तर—होइ जौ । बेधि = प्रवेश करके । बासाँ = सुगन्ध । निबहा = निर्वाह हो गया, निभ गया । कित्त = किस प्रकार, कहाँ ।

अर्थ—इस पद में जायसी अपने चार मित्रों का वर्णन करते हैं— मित्रों के द्वारा भी वे अपने महत्व की ओर संकेत कर रहे हैं:—

कवि मुहम्मद के चार मित्र थे । अपनी मित्रता जोड़कर उन्होंने उन्हें भी अपने समान ही बना लिया। पहिले मित्र युसुफ मलिक बड़े पण्डित और ज्ञानी थे । सबसे पहिले रहस्य को बातों को उन्होंने हो जायसी से समझा । फिर बुद्धिमान् सलार कादिम हुए जिनके हाथ तलवार उठाने तथा दान में सदा उठे रहते थे । तीसरे व्यक्ति सलोने मियाँ थे जो अपार वीर थे, वे तलवार चलाने में वीर योद्धा थे । चौथे मित्र बड़े शेख बड़े सिद्ध व्यक्ति थे । उपदेश करने से बड़े-बड़े सिद्ध भी उन्हें बड़ा मानते थे । चारों मित्र सभी विद्याओं को पढ़े हुए थे परमेश्वर की कृपा से इन्हें सुन्दर संग भी मिल गया था । जिस प्रकार चन्दन के पास वाले वृत्त भी उसकी सुगन्धि के प्रवेश पाने से चन्दन हो जाते हैं उसी प्रकार ये चारों भी जायसी के संसर्ग से श्रेष्ठ बन गये । जायसी जी कहते हैं कि चारों मित्र मिलकर एकचित्त हो गए । इस संसार में उनका साथ भली प्रकार निभ गया तो दूसरे संसार में उन्हें कौन अलग कर सकता है ?

अलंकार—रूपक, उपमा ।

[ २३ ]

जाएस नगर धरम अस्थानू। तहवाँ यह कवि कीन्ह बखानू॥
औ बिनती पंडितन्ह सों भजा। टूट सँवारेहु मेरएहु सजा॥

हौं सब कबिन्ह केर पछिलगा। किछु कहि चला तबल दइ डगा ॥
हिअ भंडार नग आहि जो पूंजी। खोली जीभ तारा कै कूंजी ॥
रतन पदारथ बोलइ बोला। सुरस पेम मधु भरी अमोला ॥
जेहि के बोल बिरह के घाया। कहु तेहि भूख कहाँ तेहि छाया।
फेरे भेस रहइ भा तपा। धूरि लपेटा मानिक छपा।
मुहमद कबि जो प्रेम का, ना तन रकत न माँसु।
जेइँ मुख देखा तेइ हँसा, सुना तो आए आँसु ॥ २३ ॥

शब्दार्थ—तहवाँ = वहाँ। बखान = वर्णन। भजा = किया। टूट = त्रुटि। सँवारेहु = सुधारिए। मेरएहु = देना। केर = का। पछिलगा = पीछे चलने वाला। तबल = तबला, डंका। डगा = नगाड़ा बजाने वाली लकड़ी। हिय = हृदय। पूँजी = सम्पत्ति। तारा = ताला। कूँजी = कुंजी-ताली। कै = लगा कर। छाया = घाव। फेरे = बदले हुए। भा = हुआ। तपा = तपस्वी। धूरि = धूलि। लपेटा = लगाये हुए। मानिक = माणिक्य-रत्न। छपा = छिपा हुआ। रकत = रक्त।

अर्थ—इस छन्द में जायसी अपने स्थान, काव्य तथा प्रेमतत्व का परिचय दे रहे हैं इसमें उनकी नम्रता द्रष्टव्य है। शारीरिक असौंदर्य पर तो उन्होंने गर्वोक्ति की है पर काव्य-परिचय में अति ही नम्र हैं। इस वैषम्य का कारण यह है कि जायसी अंग-विकार के कारण अपने को किसी से कम नहीं मानते थे पर कवि-हृदय होने के कारण काव्यसम्बन्धी गर्वोक्ति उन्हें अभिप्रेत न थी।

जायस नगर धार्मिक स्थान है, वहीं पर इस कवि मुहम्मद ने अपने प्रेम-काव्य का वर्णन किया। इन्होंने पंडितों से विनती की कि इस काव्य की त्रुटियों को आप लोग सुधार लें और उसका मुझे दण्ड दें। मैं सब कवियों का अनुचर हूँ, उन्हीं की कृपा से कुछ कह सका हूँ, इसे मैं डंका बजाकर कह रहा हूँ। मेरे हृदय के भण्डार में परमेश्वर की जो रत्न-रूप पूँजी है पंडितों ने मेरी जिह्वा को इस प्रकार खोल दिया है जैसे ताले में कुंजी लगाकर खजाना खोला जाता है। खुल जाने पर रत्न पदार्थ के रूप में शब्द निकले जिनमें सुन्दर प्रेम रस भरा है। व्यंजना से तात्पर्य यह है कि अब मैं प्रेमकाव्य का निरूपण

कर रहा हूं उसमें अमूल्य निधि ईश्वरीय प्रेम का व्यक्तीकरण है। प्रेम की पीर के सम्बन्ध में जायसी कहते हैं कि जिसको विरह की चोट लगती है उसे न तो भूख लगती है और न छाया प्रिय होती है। वह अपना भेष बदल कर तपस्वी होकर रहता है। धूलि से लिपटा हुआ छिपा हुआ माणिक्य सा रहता है। योगी का बाहरी स्वरूप आकर्षणहीन होता है पर अन्दर दैवी प्रेम का अनुपम रूप होता है। जायसी कहते हैं कि प्रेम की अवस्था में प्रेमी के शरीर में न खून रहता है न मांस, उसके मुख की ओर जो देखता है वही हँस पड़ता है क्योंकि प्रेमी का स्वरूप अत्यन्त उपहासास्पद बना होता है पर जब वह उसकी कथा सुनता है तो आँखों में आंसू भर आते हैं।

अलंकार—रूपक।

[ २४ ]

सन नौं सै सैंतालिस अहै। कथा अरंभ बैन कवि कहै॥
सिंहल दीप पदुमिनी रानी। रतनसेनि चितउर गढ़ आनी॥
अलाउदीं ढिल्ली सुलतानू। राघौ चेतन कीन्ह बखानू॥
सुना साहि गढ़ छेंका आई। हिन्दू तुरुकहिं भई लराई॥
आदि अन्त जसि कथ्था अहै। लिखि भाषा चौपाई कहै॥
कबि बिआस रस कौला पूरी। दूरिहि निअर निअर भा दूरी॥
निअरहि दूरि फूल संग काँटा। दूरि जो निअर जस गुर चाँटा॥
भँवर आइ बनखंड हुति, लेहि कंवल कै बास।
दादुर बास न पावहिं, भलेहिं जो आछहिं पास॥ २४॥

शब्दार्थ—अहै-पाठान्तर-अहा = था। अरम्भ-बैन = आरम्भ वचन। प्राक्कथन (Foreword)। आनी = लाया। छेंका = घेरा। अहै = है। भाषा= हिन्दी (उसकाल में हिन्दी नाम हो कर अवधी आदि बोलियों को भाखा कहते थे, गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी भाषा का प्रयोग इसी अर्थ में किया हैं—"भाखा भनित मोरि मति थोरी।") वियास = व्यास। कँवल = कमल। रसपूरी = रस से परिपूर्ण। नियर = निकट। वनखंड = जंगल। कँवल = कमल। कै = का। बास = महक, सुगन्ध। दादुर = मेंडक। पावई = पाता है। भलेहिं = चाहे। आछै = है।

## २- सिंहलद्वीप-वर्णन खण्ड

[ २५ ]

सिंघल दीप कथा अब गावौं। औ सो पदुमिनि बरनि सुनावौं ॥
बरनक दरपन भाँति बिसेखा। जेहिं जस रूप सो तैसेइ देखा ॥
धनि सो दीप जहँ दीपक नारी। औ सो पदुमिनि दइअ अवतारी ॥
सात दीप बरनहिं सब लोगू। एकौ दीप न ओहि सरि जोगू ॥
दिया दीप नहिं तस उजिआरा। सराँ दीप सरि होइ न पारा ॥
जंबू दीप कहौं तस नाहीं। पूज न लंक दीप परिछाहीं ॥
दीप कुसस्थल आरन परा। दीप महुस्थल मानुस हरा ॥

सब संसार परथमैं, आए सातौं दीप।
एकौ दीप न उत्तिम, सिंघल दीप समीप ॥ २५ ॥

शब्दार्थ—पदुमिनि = पद्मिनी स्त्री, पद्मावती। बरनि = वर्णन करके। बरनक = वर्ण, रंग-पाठान्तर निरमल। नारी-पाठान्तर बारी = बाला-स्त्री। दई = ईश्वर। अवतारी = अवतार-पाठान्तर सँवारी = सँवारी हुई। ओहि = उसके। सरि = समानता। जोगू = योग्य। दीया दीप और सराँ दीप = भिन्न-भिन्न द्वीपों के नाम हैं। अरब वाले लंका को ही सरनदीप (स्वर्णद्वीप) कहते हैं। जम्बूदीप = भारत। लंकदीप = लंका (भ्रमवश बहुत से लोग सिंहलद्वीप को भी सीलोन (लंका) समझते हैं पर ऐसा नहीं है क्योंकि लंका का नाम तो जायसी ने दे ही रक्खा है)। परछाँही = छाया-पाठान्तर "लंक दीप सरि पूज न छाँही।" कुसस्थल-पाठान्तर-गभस्थल = एक द्वीप। आरन = अरण्य, वन महुस्थल = एक द्वीप। मानुस-हरा = मनुष्य से शून्य। परथमै = प्रथम में। उत्तिम = उत्तम। सिंहल दीप = काल्पनिक द्वीप है, जायसी ने जिन सात द्वीपों के नाम दिये हैं, सुनी सुनाई बात के आधार पर लिख दिए हैं। प्रत्येक नाम में उनकी कल्पना और भावना का योग है। सिंहल (सीलोन) हठयोगी

सिद्धों का सिद्ध-पीठ माना जाता है। जोगी बन जाने वाले रत्नसेन के अभीष्ट स्थान को उन्होंने सिंहलदीप कह दिया। लंकदीप से उनका तात्पर्य राक्षसों के द्वीप से है (तूफान से भटके हुए जहाजों के लिए लिखते हैं कि "भए कुपंथ लंक दिसि हाँके) कुसस्थल और महुस्थल भी उन्होंने क्रमशः जंगली और वीरान द्वीपों को लिखा है।

अर्थ—अब मैं सिंहलद्वीप की कथा गा रहा हूँ और उस पद्मिनी नारी पद्मावती का वर्णन करके सुना रहा हूं। उसका रंग दर्पण की भाँति उज्ज्वल है उसमें जो जिस रूप का है वही देख लेता है। (जायसी पद्मावती में ब्रह्म का आरोप मानते हैं। वह इतना व्यापक है कि उसमें संसार के सभी रूप प्रतिबिम्बित हैं।) वह सिंहलद्वीप धन्य है जहाँ दीपक के सदृश पद्मिनी नारियों को परमेश्वर ने प्रकाशित किया है और उनमें वह पद्मावती तो ईश्वर की अवतार ही है। लोगों ने संसार में सात द्वीपों का वर्णन किया है पर एक द्वीप भी इस सिंहलद्वीप की समता के योग्य नहीं है। दियादीप उसके समान प्रकाशित नहीं है और सरनदीप उसकी बराबरी नहीं कर सकता। जम्बूद्वीप भी उसके समान नहीं है। लङ्काद्वीप तो उसकी परछाहीं को भी नहीं पहुँच सकता। कुसस्थल द्वीप में तो जङ्गल ही जङ्गल पड़ा है और महुस्थल द्वीप में मनुष्य ही नहीं हैं। इस संसार में सबसे पहले यही सातों द्वीप बनें, पर इनमें से उत्तमता में एक भी सिंहलद्वीप के समीप नहीं आ सकता।

अलंकार-असम

[ २६ ]

गंध्रपसेन सुगंध नरेसू। सो राजा यह ताकर देसू॥
लंका सुना जो रावन राजू। तेहु चाहि बड़ ताकर साजू॥
छप्पन कोटि कटक दर साजा। सबै छत्रपति औरँगन्ह राजा॥
सोरह सहस घोर घोरसारा। सावँकरन बालका तुखारा॥
सात सहस हस्ती सिंघली। जिमि कबिलास एरापति बली॥
असुपती क सिरमौर कहावा। गजपति क आँकुस गज नावा॥
नरपती क कहाव नरिंदु। भुअपती क जग दोसर इंदू॥

अइस चक्कवै राजा, चहूँ खंड भै होइ।
सबै आइ सिर नावहिं, सरवरि करै न कोइ ॥ २६ ॥

शब्दार्थ—सुगन्ध = यशस्वी। ताकर = उसीका। चाहि = बढ़ कर। दर = दल। छत्रपति = राजा। औरँगन्ह = (औरंग = तख्त) सिंहासनवाले-पाठान्तर औ गढ़ (किला)। घोर = घोड़े। तुखारा = तुखारी घोड़े। सांवकरन = श्याम कर्ण। बालका = बली-पाठान्तर अरु बांक = और बांके। कबिलास = स्वर्ग। एरापति = ऐरावत। असुपती क = अश्वपतियों का, घोड़े वाले राजाओं का। सिरमौर = शिरोमणि। आंकुस = अंकुश। नावा = झुका दिया। भुअपती क= भूपतियों का। दोसर = दूसरा। इंदू = इंद्र। चक्कवै = चक्रपति, चक्रवर्ती। चहूँ खंड = चारों खंड, समस्त संसार।

अर्थ—सिंहलद्वीप में गन्धर्बसेन नाम का यशस्वी राजा था। वह यहाँ का राजा था और यह उसका देश था। लंका का जो रावण राजा सुना गया है उससे भी बढ़कर इसका साज है। (रावण के प्रभुत्व के सम्बन्ध में रामायण में लिखा है– 'रावण नाम जगत जस जाना। लोकप जाके बन्दीखाना।") छप्पन करोड़ सेना का दल साजता था, सभी राजाओं में वह श्रेष्ठ राजा है। उसके पास १६ हजार घोड़े और घोड़सालें हैं, उसके श्याम कर्ण और तोखारी जैसे भिन्न-भिन्न प्रकार के बली घोड़े हैं। सिंहल में सात हजार हाथी हैं जो कि स्वर्ग के ऐरावत जैसे बलशाली हैं। वह अश्वपति राजाओं का शिर-मौर कहा जाता है और गजपतियों को अंकुश से अपने सामने झुका रखता है। नरपतियों का नरेन्द्र कहा जाता है और भूपतियों को लिए तो संसार में दूसरा इन्द्र ही है। चारों खण्डों में यह ऐसा चक्रवर्ती राजा हुआ है कि सभी राजा आकर इसके आगे सिर नवाते हैं, कोई इसकी समता नहीं करता।

अलङ्कार—तद्रूप रूपक और असम।

[ २७ ]

जबहि दीप निअरावा जाई। जनु कबिलास निअर भा आई॥
घन अँबराउँ लाग चहुँ पासा। उठै पुहुमि हुति लगा अकासा॥
तरिवर सबै मलैगिरि लाए। भै जग छाँह रैनि होइ छाए॥
मलै समीर सोहाई छाहाँ। जेठ जाड़ लागै तेहि माहाँ॥

ओही छाँह रैनि होइ आवै। हरिअर सबै अकास दिखावै ॥
पंथिक जौं पहुँचै सहि घामू। दुख बिसरै सुख होइ बिसरामू ॥
जिन्ह वह पाई छाँह अनूपा। बहुरि न आइ सही यह धूपा ॥
अस अँबराउँ सघन घन, बरनि न पारौं अंत।
फूलै फरै छहूँ रितु, जानहु सदा बसंत ॥ २७ ॥

शब्दार्थ—निअरावा = निकट पहुँचना। अँबराउँ = आम के बाग। पुहुमि पाठान्तर-भूमि = पृथ्वी। हुति = से। तरिवर = वृक्ष। मलैगिरि = मलयाचल। रैनि (रजनी) = रात। हरिअर = हरा। पन्थिक = पथिक। घामू = धूप। बहुरि = फिर। पारौं = सकूँ।

अर्थ—जब उस द्वीप के निकट पहुँचते हैं तो क्या देखते हैं मानो स्वर्ग निकट हो गया है। चारों ओर घने आम के बाग हैं। पेड़ जमीन से उठ कर आकाश को छुए हुए हैं। मलयाचल से सभी वृक्ष लाकर यहाँ लगाये गये हैं, उनकी छाया ऐसी हो गई है कि रात मालूम होती है। सुगन्धित हवा है और सुन्दर छाया है, इसमें जेठ की गर्मी में भी ठंडक लगती है। उस छाया में रात प्रतीत होती है और सारा आकाश वृक्ष की पत्तियों से हरा दिखाई पड़ता है। यदि धूप सह कर कोई पथिक वहां तक पहुँच जाय तो उसे सारा दुःख भूल जाय और पूर्ण शान्ति मिले। जिसे वह अनुपम छाया मिल जाती है उसे फिर लौट कर भर धूप नहीं सहनी पड़ती। इन पंक्तियों में जायसी अपनी पद्धति के अनुसार परमार्थ तत्व की ओर संकेत करते हैं—जिसे प्रेम के द्वारा स्वर्ग प्राप्त होता है उसे संसार के कष्ट भूल जाते हैं, परम शान्ति मिलती है और पुनः संसार के कष्ट भोगने के लिए नहीं आना पड़ता। ऐसा ही रहस्य-वादी संकेत सम्पूर्ण काव्य में यत्र-तत्र मिलता है।

ऐसा घना आम का बाग है कि मैं उसका वर्णन करके अन्त नहीं पा सकता, यह बाग छहों ऋतुओं में फूला फला रहता है और सदा ही वसन्त ऋतु यहाँ होती है।

अलंकार—उत्प्रेक्षा (वस्तूत्प्रेक्षा), समासोक्ति।

[ २८ ]

फरे आँब अति सघन सोहाए। औ जस फरे अधिक सिर नाए ॥

कटहर डार पींड सो पाके। बड़हर सोउ अनूप अति ताके ॥
खिरनी पाकि खाँड असि मीठी। जाँबु जो पाकि भँवर असि डीठी ॥
नरिअर फरे फरी खुरहुरी। फुरी जानु इंद्रासन पुरी ॥
पुनि महु चुवै सो अधिक मिठासू। मधु जस मीठ पुहुप जस बासू ॥
और खजहजा आव न नाऊँ। देखा सब रावन अँबराऊँ ॥
लाग सबै जस अंब्रित साखा। रहै लोभाइ सोइ जोइ चाखा ॥

गुआ सुपारी जायफर, सब फर फरे अपूरि।
आस पास घनि इँबिली, औ घन तार खजूरि ॥ २८ ॥

शब्दार्थ—आंब = आम। जस = जैसे। पींड = जड़। पाके = पके हुए। खांड = शक्कर। असि = ऐसी। जाँबु = जामुन। डीठी = दिखाई पड़ता है। नरिअर = नारियल। खुरहुरी-पाठान्तर-फरहरी = एक बेल। फुरी-पाठान्तर फुरै = सचमुच। जान = मानों। महु(मधूक)=महुआ। चुवै = टपकै। मधु = शहद। जस = जैसा। पुहुप = फूल। बास = सुगन्ध। (महुआ वृक्ष पश्चिमी भारत में नहीं होता, अवधी प्रान्त में बहुत होता है। जब फूलता है तो इसमें से मस्त सुगन्ध निकलती है। इसके सफेद फूल टपकते हैं और बड़े मीठे होते हैं।) खजहजा = खानेवाले फल और मेवे। नाऊँ = नाम। अंब्रित = अमृत। गुआ-पाठान्तर-लौंग। इँबिली = इमली।

अर्थ—बागों में सघन आम फले हुए अच्छे लग रहे हैं, जैसे फले हुए हैं वैसे ही अधिक सिर नवाये हुए झुके हैं। कटहल डाल और जड़ों में फले हुए पके हैं। बड़हल भी उस बाग में अत्यन्त अनुपम लग रहे हैं। खिरनी पक कर शक्कर के समान मीठी हो गई है। जामुन जो पकी हुई है वह भौंरे के समान काली-काली दिखाई पड़ रही है। नारियल फले हुए हैं और खुरहुरी फली हुई है। इसे देखकर सचमुच इन्द्रपुरी मालूम हो रही है। फिर महुआ टपकता है, वह अत्यन्त मीठा है। इसके फूल में शहद की सी मीठी मँहक आ रही है और भी फल और मेवे हैं जिनका नाम मुझे नहीं आता। वे सब रावण के बाग में ही देखे गये हैं। सभी डालियाँ अमृत सी लग रही हैं। जिसने इन फलों को चखा है वह लुभा रहा है। लौंग, सुपारी, जायफल आदि सभी

फल पूर्णरीति से फले हुए हैं। आस-पास घनी इमली और घने ताड़ और खजूर के वृक्ष हैं।

[ २६ ]

बसहिं पंखि बोलहिं बहु भाषा। करहिं हुलास देखि कै साखा॥
भोर होत बासहिं चुहचुही। बोलहिं पाँडुक एकै तुहीं॥
सारौ सुवा सो रहचह करहीं। गिरहिं परेवा औ करबरहीं॥
पिउ पिउ लागै करैं पपीहा। तुही तुही कह गुडुरू खीहा॥
कुहू कुहू कोइल करि राखा। औ भिंगराज बोल बहु भाषा॥
दही दही कै महरि पुकारा। हारिल बिनवै आपनि हारा॥
कुहकहिं मोर सोहावन लागा। होइ कोराहर बोलहिं कागा॥
जावँत पंखि कहे सब, बैठे भरि अँबराऊँ।
आपनि आपनि भाषा, लेहिं दइअ कर नाउँ॥ २६॥

शब्दार्थ—पंखि=पक्षी। हुलास=उल्लास, आनन्द। बासहिं-पाठान्तर-बोलहिं। चुहचुही=फूलसुंघनी चिड़िया। पाँडुक=एक पक्षी। एकै तुही='एक तू' की आवाज। सारौ=सारिका-मैना। रहचह=चहचहाना। गिरहि=गिरता है (कबूतर की प्रकृति है कि वह ऊपर जाकर एकदम गिरता है) पाठान्तर-कुरहिं=कुलेल करना। परेवा=कबूतर। करबरही=कबूतर की गुटरगू की आवाज। गुडुरू=एक पक्षी जो तुही-तुही बोलता है। भिंगराज=भृङ्गराज, भौंरा। महरि=एक छोटी चिड़िया जिसे ग्वालिनि या अहिरिन कहते हैं जो "दही-दही" बोलती है। हारिल=एक पक्षी जो पृथ्वी पर कभी नहीं बैठता, यदि बैठता है तो लकड़ी रख कर। हारा=हाल। बिनवै=निवेदन करता है। कुहकहिं=बोलते हैं। कोराहर=कोलाहल। जावँत=जितने। दइअ=ईश्वर। कर=का। नाउँ=नाम।

अर्थ—सिंहल के बागों में बहुत से पक्षी रहते हैं जो अनेक बोलियाँ बोलते हैं। सुन्दर डालियों को देख कर अत्यन्त आनन्द मनाते हैं। प्रातःकाल होते ही चुहचुही बोलने लगती है। पाँडुक पक्षी 'एक तू' बोलने लगता है। मैना और तोता बोलने लगते हैं, कबूतर ऊपर उड़ कर गिरने तथा गुटरगूं करने लगते हैं। पपीहा पी-पी करने लगता है, गुडुरू 'तुही-तुही' बोलती

है, कोयल 'कू-कू' करने लगती है और भौंरे अस्पष्ट बोलियों में गुंजार करने लगते हैं। ग्वालिन पक्षी 'दही दही' का शब्द करता है और हारिल अपना हाल निवेदन करता है। मोर कुहकते हैं जो अत्यन्त सुन्दर लगता है। कौए बोलते हैं और कोलाहल होता है। जितने भी पक्षी कहे जाते हैं सभी सिंघल की अमराइयों में बैठे हैं और अपनी-अपनी बोली में ईश्वर का नाम लेते हैं।

*टिप्पणी*—*इस पद में पक्षियों की बोली का सुन्दर निरूपण है, अवधी भाषा भाषी प्रान्त के ग्रामों में पक्षी अपनी बोली के अनुसार ही नाम पाते हैं। चुहचुही, पपीहा, महरि, पाँडुक आदि अपनी बोली के अनुकरण पर ही इन नामों से कहे गये हैं।*

अलंकार—अनुप्रास।

[ ३० ]

पैग पैग पर कुआँ बावरी। साजी बैठक औ पाँवरी॥
औरु कुंड बहु ठाँवहि ठाँऊ। सब तीरथ औ तिन्ह के नाऊँ॥
मढ़ मंडप चहुँ पास सँवारे। जपा तपा सब आसन मारे॥
कोइ रिखेस्वर कोइ सन्यासी। कोइ रामजन कोइ मसवासी॥
कोइ ब्रह्मचर्ज पंथ लागे। कोइ दिगंबर आछहिं नाँगे॥
कोइ सरसुती सिद्ध कोइ जोगी। कोइ निरास पँथ बैठ बियोगी॥
कोइ महेसुर जंगम जती। कोइ एक परखै देबी सती॥

सेवरा खेवरा बानपरस्ती, सिध साधक अवधूत।
आसन मारि बैठ सब, जारि आतमा भूत॥ ३०॥

शब्दार्थ—पैग पैग = कदम कदम। बैठक = बैठने की चौकियाँ। पाँवरी = सीढ़ियाँ। ठाँवहिं ठाऊँ = जगह-जगह। मढ़ = मढ़ी-पाठान्तर-मठ। जपा तपा = जप तप करने वाले। रिखेस्वर = ऋषीश्वर। रामजन-पाठान्तर रामयती = राम को जपने वाला। मसवासी (पाठान्तर बिसवासी)=श्मशान में रहने वाला योगी। आछहिं = हैं। नाँगे = नंगे। सरसुती = सरस्वती (दस-नामी साधुओं में)। महेसुर = महेश्वर (शंकर का पुजारी)। जंगम = एक

प्रकार का साधु । जती = यति, साधु । सेवरा-खेवरा = एक प्रकार के साधु । बानपरस्त = वानप्रस्थ । अवधूत = योगी । जारि = जलाना ।

अर्थ—सिंहल में पद-पद पर कुए और बावलियाँ बनी हैं जिनमें जगह-जगह बैठने की चौकियाँ हैं और सीढ़ियाँ बनी हैं । स्थान-स्थान पर कुंड हैं जिनके सभी तीर्थों के नाम हैं । चारों ओर मढ़ी और मंडप बने हैं जहाँ जप-तप करने वाले लोग आसन लगाये बैठे हैं । इनमें से कोई ऋषीश्वर है तो कोई संन्यासी है, कोई रामभक्त है तो कोई श्मशान में रहने वाला हठयोगी है । कोई ब्रह्मचारी है तो कोई दिगम्बर मतावलम्बी होने से नंगा ही है । कोई सरस्वती, कोई सिद्ध, कोई योगी है, तथा कोई वियोगी बन कर सभी इच्छाओं को त्यागे हुए उदासी बाबा हैं । कोई शंकर भक्त, जंगम, या यति है तो कोई देवीपूजक है । सेवरा, खेवरा, वानप्रस्थ, सिद्ध, साधक और अवधूत आदि भिन्न-भिन्न पंथ के साधु वहाँ पर आसन मारे बैठे हैं और मन और इन्द्रियों को दमन किए हुए हैं ।

[ ३१ ]

मानसरोदक देखिअ काहा । भरा समुंद अस अति अवगाहा ।।
पानि मोति अस निरमर तासू । अंब्रित बानि कपूर सुबासू ।।
लंक दीप कै सिला अनाई । बाँधा सरवर घाट बनाई ।।
खँडखँड सीढ़ी भईं गरेरी । उतरहिं चढ़हिं लोग चहुँ फेरी ।।
फूला कँवल रहा होइ राता । सहस सहस पंखुरिन्ह कर छाता ।।
उलथहिं सीप मोंति उतराहीं । चुगहिं हंस औ केलि कराहीं ।।
कनक पंखि पैरहिं अति लोने । जानहु चित्र सँवारे सोने ।।
ऊपर पाल चहूँ दिसि, अंब्रित फर सब रूख ।
देखि रूप सरवर कर, गइ पिआस औ भूख ।। ३१ ।।

शब्दार्थ—मानसरोदक = मानसरोवर तालाब । काहा = क्या । अवगाहा = अथाह । अनाई = मँगवा कर । गरेरी = चक्करदार । राता = लाल । उलथहिं = खुलती हैं । लोने = लावण्य, सुन्दर । पाल = ऊँचा बाँध ।

अर्थ—मानसरोवर को क्या देखें अर्थात् उसका क्या कहना ! समुद्र के समान अत्यन्त अथाह भरा हुआ है । उसका पानी मोती के समान निर्मल है,

अमृत के समान मीठा है और कपूर की सुगन्ध उसमें से निकलती है। लंका द्वीप से शिलायें मँगवा कर तालाब बँधवाया गया है और उसमें सुन्दर-सुन्दर घाट बनवाये गए हैं। खंड-खंड में चक्करदार सीढ़ियाँ गयी हैं, लोग इनमें चारों ओर उतरते और चढ़ते रहते हैं। इस तालाब में लाल कमल फूल रहा है उसके हजारों पंखुड़ियों का छाता है। तालाब में सीपें खुलती हैं जिनमें से मोती निकलकर उतरा उठते हैं। हंस इन मोतियों को चुगते और खेल करते हैं। वे सुनहले पंखों से तालाब में तैरते हुए अत्यन्त सुन्दर लगते हैं ऐसा लगता है मानो सोने के चित्र सँवारे हुए हैं। (कुछ प्रतियों में चौपाई इस प्रकार है— "खनि पतार पानी तहँ काढ़ा। छीर समुन्द निकला हुत बाढ़ा।" इसका अर्थ होगा—पाताल खोदकर पानी निकाला गया है जो ऐसा मालूम होता है मानो क्षीर सागर ही बढ़कर निकला है) तालाब के चारों ओर बाँध (भीटा) बनाया गया है जिस पर अमृत फल वाले सभी वृक्ष लगे हैं। उस तालाब के रूप को देखकर सारी भूख और प्यास चली जाती है।

अलङ्कार—उपमा।

[ ३२ ]

पानि भरइ आवहिं पनिहारी। रूप सुरूप पदुमिनी नारी॥
पदुम गंध तेन्ह अंग बसाहीं। भँवर लागि तेन्ह संग फिराहीं॥
लंक सिंघनी साँरग नैनी। हंसगामिनी कोकिल बैनी॥
आवहिं झुंड सो पाँतिहि पाँती। गवन सोहाइ सो भाँतिहि भाँती॥
केस मेघावरि सिर ता पाईं। चमकहिं दसन बीजु की नाईं॥
कनक कलस मुख चंद दिपाहीं। रहस कोड सों आवहिं जाहीं॥
जासौं वै हेरहिं चख नारी। बाँक नैन जनु हनहिं कटारी॥
मानहु मैन मुरति सब, अछरीं बरन अनूप।
जेन्हिकी ये पनिहारी, सो रानी केहि रूप॥ ३२॥

शब्दार्थ—पदुम (पद्म) = कमल। बसाहीं = महकती हैं। लागि = लगे हुए। तेन्ह = उनके। फिरहीं = फिरते हैं। लंक = कमर। सारंग=मृग। पाँती = पंक्ति। गवन = गमन। केस = केश, बाल। ता पाईं=पैर तक। मेघावरि = मेघ अवली, बादलों की घटा। दसन = दाँत। बीजु=बिजली। रहस = रास। कोड=

क्रीड़ा-खेल-पाठान्तर केलि। हेरहि = देखती हैं। चख = आँख। बाँक = टेढ़े। हनहि = मारती हैं। मैन (मदन) = कामदेव। मुरति = मूर्ति। अछरी = अप्सरा। बरन = रँग। जेन्हिकी = जिसकी।

अर्थ—मानसरोवर पर पानी भरने पनिहारिन आती हैं, वे सुन्दर रूपवाली पद्मिनी नारियाँ है। उनके अंग से कमल की सुगंध निकलती है। सुगन्ध के कारण भौंरे उनके साथ लगे हुए फिरा करते हैं। उनकी कमर सिंहिनी के समान पतली है और उनकी आँखें मृग की आँखों के समान बड़ी और सुन्दर हैं। वे हंस के समान मतवाली चाल से चलने वाली और कोकिल जैसी मीठी वाणी बोलने वाली हैं। वे पंक्ति-पंक्ति में झुंड की झुंड आती हैं। उनका भांति-भांति का चलना सुन्दर लगता है। उनके सिर के बाल बादलों की घटा के समान सिर से पैर तक लहराते रहते हैं। उनके दाँत ऐसे चमकते हैं जैसे बिजली। सिर पर सोने के कलसे (घड़े) रखे हुए चन्द्रमा के समान मुख से शोभित होती हैं और रास तथा खेल करती हुई आती-जाती हैं। जिस व्यक्ति की ओर वे नारियाँ टेढ़े नयनों से देखती हैं मानों उन्होंने कटार मार दिया। वे अप्सराओं के रंग वाली सुन्दरियाँ ऐसी हैं मानो कामदेव की मूर्तियाँ हों। जायसी कहते हैं कि जिनकी पनिहारी दासियाँ ऐसी हैं तो भला रानी किस रूप की होगी ?

अलङ्कार—उपमा, भ्रान्तिमान्, रूपक और उत्प्रेक्षा।

[ ३३ ]

ताल तलावरि बरनि न जाहीं। सूझइ वारपार तेन्ह नाहीं॥
फूले कुमुद केत उजिआरे। जानहुँ उए गगन महँ तारे॥
उतरहिं मेघ चढ़हिं लै पानी। चमकहिं मंछ बीजु की बानी॥
पैरहिं पंखि सो संगहि संगा। सेत पीत राते बहु रंगा॥
चकई चकवा केलि कराहीं। निसि बिछुरहिं औ दिनहिं मिलाहीं॥
कुरलहिं सारस भरे हुलासा। जिअन हमार मुअहिं एक पासा॥
केंवा सोन ढेक बग लेदी। रहे अपूरि मीन जल भेदी॥
नग अमोल तेन्ह तालन्ह, दिनहिं बरहिं जनु दीप।
जो मरजिआ होइ तहँ, सो पावइ वह सीप॥ ३३॥

शब्दार्थ—तलावरि = छोटा तालाब। केत--पाठान्तर-सेत और कँवल = श्वेत कमल। उए = उदय हुए। मंछ = मछली। बीजु = विद्युत, बिजली। बानी = वर्ण-रंग। कुरलहिं = बोलते हैं। कँव, सोन, ढेक, बक, लेदी = ताल की चिड़ियाँ। अपूरि = अपूर्ण, कम करना। जल-भेदी = जल में भेद करने वाली गिरने वाली। बरहि = जलते हैं। मरजिआ = जान को खतरे में डाल कर मोती निकालने वाला गोताखोर।

अर्थ सिंहल के ताल और छोटे तालाबों का वर्णन नहीं किया जा सकता। उनका वार-पार कुछ नहीं सूझता। इनमें कुमुद और सफेद कमल उज्ज्वल रंग के खिले हैं, ऐसा मालूम होता है मानों आकाश में तारे उदय हुए हैं (तालाब का पानी आकाश के रंग का है और सफेद फूल तारों जैसे हैं)। आकाश से बादल उतरते हैं और पानी लेकर ऊपर चढ़ जाते हैं। तालाब में मछलियाँ इस प्रकार चमकती हैं जैसे बिजली। तालाब में सफेद, पीले, लाल रंगों के बहुरंगी पक्षी साथ-साथ तैरते हैं। चकई और चकवा खेलते हैं, रात में अलग होते और दिन में मिलते हैं। सारस प्रसन्न हो-हो कर बोलते हैं मानो कहते हैं कि हमारा जीना और मरना एक साथ ही हो। तालाब के ऊपर कँवा, सोन, ढेक, बगले और लेदी चिड़ियाँ उड़ती रहती हैं। ये चिड़ियाँ जल में गिर-गिर कर मछलियों को कम करती रहती हैं। इन तालों में अनेक अमूल्य मोती चमकते हैं मानो दिन में ही दीपक जल रहे हैं। जो जान जोखिम में डाल कर घुसने वाले गोताखोर हों वही वे मोती वाले सीप पा सकते हैं।

व्यञ्जना से जायसी अलौकिक प्रणय की ओर संकेत कर रहे हैं कि जो प्रेम की पीर सहने वाला, प्रेम पर प्राणों की बाजी लगाने वाला हो वही उस परमेश्वर के अमूल्य प्रेम रूपी मोती पाने का अधिकारी हो सकता है।

अलंकार—उपमा, उत्प्रेक्षा और समासोक्ति।

[ ३४ ]

पुनि जो लाग बहु अंब्रित बारी। फरीं अनूप होइ रखवारी॥
नवरँग नीबू सुरँग जँभीरा। औ बादाम बेद अंजीरा॥
गलगल तुरँज सदाफर फरे। नारँग अति राते रस भरे॥
किसमिस सेब फरे नौ पाता। दारिवँ दाख देखि मन राता॥
लागि सोहाई हरपारेउरी। ओनइ रही केरन्ह की घउरी॥

फरे तूत कमरख औरु निउँजी। राय करौंदा बैरि चिरउँजी ॥
संखदराउ छोहारा डीठे। औरु खजहजा खाटे मीठे ॥
पानी देहिं खँडवानी, कुआँहि खाँड बहु मेलि।
लागी घरी रहट की, सींचहि अंब्रित बेलि ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ—पुनि = फिर। लाग = लगी है। अंब्रित = अमृत। बारी = वाटिका। फरीं = फली हुई। नवरंग = नारंगी। बेद = बेदाना (अनार)। गलगल-पाठान्तर-गागल = बड़ा नींबू। नौ पाता = नई पत्तियाँ। दारिंव (दाड़िम) = अनार। राता = अनुरक्त, प्रसन्न। हरपारेउरी = लवली। ओनइ = झुकी हुई। केरन्ह = केलों। घउरी = गुच्छा, गहल (जिसमें बहुत से केले लगे होते हैं)। तूत = शहतूत। निऊँजी = लीची। रायकरौंदा = रामकरौंद। बैरि = बेर। संखदराउ-पाठान्तर-संगतरा = संतरा। डीठे = दिखाई पड़े। औरु = और (अन्य)। खँडवानी = खाँड का रस।

अर्थ—फिर जो अमृतमय वाटिका लगी हुई है वह अत्यन्त सुन्दरता से फली हुई है, उसकी रखवाली होती है। नारँगी, नीबू, जँभीर, बादाम, बेदाना अँजीर, गलगल, तुरँज, सदाफर फले हुए हैं। लाल-लाल नारँगियाँ रस से भरी हैं। नयी पत्तियों के साथ किशमिश और सेव फले हैं। अनार और दाख देख कर मन प्रसन्न हो जाता है। लवली सुन्दर लग रही है, केलों के गुच्छे केलों से लद कर झुके हैं। शहतूत, कमरख, लीची, रामकरौंदा, बेर और चिरौंजी फले हैं। संतरे, छोहारे तथा अन्य खट्टे और मीठे फल दिखाई पड़ रहे हैं। कुओं में शक्कर मिला-मिला कर शक्कर के रस युक्त पानी इन बागों में दिया जाता है। रहट की घरियाँ लगी हैं जो कि इन अमृत बेलों को सींचती हैं।

*टिप्पणी—जायसी के सभी वर्णन अधिक से अधिक वस्तुओं की नामावली मात्र से युक्त रहते हैं। अधिक से अधिक फलों का नाम गिनाना ही कवि को अभिप्रेत था।*

[ ३५ ]

पुनि फुलवारी लागि चहुँ पासा। बिरिख बेधि चंदन भै बासा ॥
बहुत फूल फूली घन बेली। केवरा चंपा कुन्द चँबेली ॥
सुरँग गुलाल कदम औ कूजा। सुगँध बकौरी गंध्रप पूजा ॥

नागेसरि सद बरग नेवारी। औ सिंगारहार फुलवारी॥
सोन जरद फूली सेवती। रूप मंजरी औ मालती॥
जाही जूही बकचुन लावा। पुहुप सुदर्शन लाग सोहावा॥
बोलसिरी बेइलि औ करना। सबहि फूल फूले बहु बरना॥
तेन्ह सिर फूल चढ़हिं वै, जेन्ह माथें मनि भागु।
आछहिं सदा सुगंध भे, जनु बसंत औ फागु॥ ३५॥

शब्दार्थ—चहुं पासा = चारों ओर। बिरिख = वृक्ष। बेधि = वेध कर, प्रवेश कर। बासा = सुगन्ध। कूजा = कुब्जक, जंगली गुलाब। बकौरी = गुलबकावली। गंध्रप = गन्धर्व। सदबरग = गेंदा। बोलसिरी = मौलिश्री। बेइलि = बेल। आछहिं = हैं।

अर्थ—फिर वहाँ चारों ओर फुलवारी लगी है। वृक्षों को वेधकर चन्दन की सुगन्ध उनमें हो गयी है। घनवेली में बहुत फूल फूले हैं। केवड़ा, चंपा, कुन्द, चमेली, सुन्दर गुलाल, कदम्ब, कुब्जक, सुगन्धित गुलबकावली, जो गन्धर्वों की पूजा में प्रयुक्त होती है, नागकेसर, गेंदा, नेवारी, हारसिंगार, सोनजरद, सेवती, रूपमंजरी, मालती, जाही, जूही, बकचुन, पुष्प सुदर्शन आदि सुन्दर लग रहे हैं। मौलिश्री, बलि, करना आदि सभी फूल अनेक रंगों के फूले हुए हैं। ये फूल उनके सिर चढ़ते हैं जिनके मत्थे पर सौभाग्य की मणि है। ये सदा सुगन्धित रहते हैं मानो सदा वसन्त और फागन के दिन रहते हैं।

[ ३६ ]

सिंघल नगर देखु पुनि बसा। धनि राजा असि जाकरि दसा॥
ऊँची पँवरी ऊँच अवासा। जनु कबिलास इंद्र कर बासा॥
राउ राँक सब घर घर सुखी। जो देखिअ सो हँसता मुखी॥
रचि रचि राखे चंदन चौरा। पोते अगर मेद औ केवरा॥
सब चौपारिन्ह चंदन खँभा। ओठँघि सभापति बैठे सभा॥
जनहुँ सभा देवतन्ह क जुरी। परी द्रिस्टि इंद्रासन पुरी॥
सबै गुनी पंडित औ ग्याता। संसकिरत सब के मुख बाता॥

अैहिक पंथ सवाँरहिं, जस सिवलोक अनूप ॥
घर घर नारि पदुमिनी, मोहहिं दरसन रूप ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ—बसा = बसा हुआ । असि = ऐसी । दसा = देश । पंवरी = सीढ़ी । अवासा = घर । राँक = रङ्क, गरीब । रचि = बनाना । चौरा=चबूतरा । मेद = एक सुगन्धित जड़ । ओठँघि = टेक लगाये हुए । संसकिरत = संस्कृत । अैहिक पंथ = ऐहिक (सांसारिक) पथ-पाठान्तर-अस कै मन्दिर ।

अर्थ—फिर देखो सिंहल नगर बसा हुआ है, वह राजा धन्य है जिसका ऐसा देश है । ऊँचे-ऊँचे महल हैं जिनकी स्थिति ऊंची है, अतः उनमें ऊंची-ऊंची पौरियाँ हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि यह स्वर्ग है और यहाँ इन्द्र का निवास स्थान है । यहाँ पर अमीर-गरीब सभी घर-घर में सुखी हैं, जिसे देखो वही हंसता हुआ और सुखी है । सबने जगह-जगह चन्दन की चौकियाँ बना रखी हैं, जिनमें अगर, मेद और केवड़ा पोत रखे हैं । सभी चौपालों में चन्दन के खम्भे बने हैं जिनमें सभा के सभापति टेक लगाकर बैठते हैं । ऐसा मालूम होता है कि देवताओं की सभा लगी हुई है और इन्द्र की पुरी दिखाई पड़ रही है । सभी गुणी, पण्डित और ज्ञानी हैं और सब लोग संस्कृत ही बोलते हैं । सभी जीवन के मार्ग को बनाते हैं अर्थात् सभी पुण्यात्मा हैं । मानो सारी शिवपुरी ही हो । प्रत्येक घर में पद्मिनी नारियाँ हैं जो अपने रूप से सब को मोहती हैं ।

*टिप्पणी—जायसी पर सिद्धों का काफी प्रभाव था । कारण यह है कि सूफीमत की साधना योगमार्ग के सदृश ही उन्हें लगती है । ये सिद्ध औघड़पंथी शिव के पुजारी थे इसी लिए जायसी ने सुने-सुनाये ज्ञान के आधार पर सिंहल में शिवपुरी का आदर्श रखा है । जायसी का कैलाश (कविलास) हिन्दू-साहित्य का कैलाश नहीं है, काल्पनिक कैलाश है जो इन्द्रपुरी के सदृश सभी सुख-सौभाग्य से युक्त है ।*

[ ३७ ]

पुनि देखिअ सिंघल की हाटा । नवौ निद्धि लछिमी सब बाटा ॥
कनक हाट सब कुँहकुँह लीपी । बैठ महाजन सिंघल दीपी ॥
रचे हँथौड़ा रूपइँ ढारी । चित्र कटाउ अनेग सँवारी ॥

शब्दार्थ—तलावरि = छोटा तालाब । केत--पाठान्तर-सेत और कँवल = श्वेत कमल । उए = उदय हुए । मंछ = मछली । बीजु = विद्युत्, बिजली । बानी = वर्ण-रंग । कुरलहिं = बोलते हैं । कँव, सोन, ढेक, बक, लेदी = ताल की चिड़ियाँ । अपूरि = अपूर्ण, कम करना । जल-भेदी = जल में भेद करने वाली गिरने वाली । बरहि = जलते हैं । मरजिआ = जान को खतरे में डाल कर मोती निकालने वाला गोताखोर ।

अर्थ सिंहल के ताल और छोटे तालाबों का वर्णन नहीं किया जा सकता । उनका वार-पार कुछ नहीं सूझता । इनमें कुमुद और सफेद कमल उज्ज्वल रंग के खिले हैं, ऐसा मालूम होता है मानों आकाश में तारे उदय हुए हैं (तालाब का पानी आकाश के रंग का है और सफेद फूल तारों जैसे हैं) । आकाश से बादल उतरते हैं और पानी लेकर ऊपर चढ़ जाते हैं । तालाब में मछलियाँ इस प्रकार चमकती हैं जैसे बिजली । तालाब में सफेद, पीले, लाल रंगों के बहुरंगी पक्षी साथ-साथ तैरते हैं । चकई और चकवा खेलते हैं, रात में अलग होते और दिन में मिलते हैं । सारस प्रसन्न हो-हो कर बोलते हैं मानो कहते हैं कि हमारा जीना और मरना एक साथ ही हो । तालाब के ऊपर कँवा, सोन, ढेक, बगले और लेदी चिड़ियाँ उड़ती रहती हैं । ये चिड़ियाँ जल में गिर-गिर कर मछलियों को कम करती रहती हैं । इन तालों में अनेक अमूल्य मोती चमकते हैं मानो दिन में ही दीपक जल रहे हैं । जो जान जोखिम में डाल कर घुसने वाले गोताखोर हों वही वे मोती वाले सीप पा सकते हैं ।

व्यञ्जना से जायसी अलौकिक प्रणय की ओर संकेत कर रहे हैं कि जो प्रेम की पीर सहने वाला, प्रेम पर प्राणों की बाज़ी लगाने वाला हो वही उस परमेश्वर के अमूल्य प्रेम रूपी मोती पाने का अधिकारी हो सकता है ।

अलंकार—उपमा, उत्प्रेक्षा और समासोक्ति ।

[ ३४ ]

पुनि जो लाग बहु अंब्रित बारी । फरीं अनूप होइ रखवारी ॥
नवरँग नीबू सुरँग जँभीरा । औ बादाम बेद अंजीरा ॥
गलगल तुरँज सदाफर फरे । नारँग अति राते रस भरे ॥
किसमिस सेब फरे नौ पाता । दारिवँ दाख देखि मन राता ॥
लागि सोहाई हरफारेउरी । ओनइ रही केरन्ह की घउरी ॥

फरे तूत कमरख औरुनिउँजी। राय करौंदा बैरि चिरउँजी ॥
संखदराउ छोहारा डीठे। औरु खजहजा खाटे मीठे ॥
पानी देहिं खँडवानी, कुआँहि खाँड बहु मेलि।
लागीं घरी रहट की, सींचहि अंब्रित बेलि ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ—पुनि = फिर। लाग = लगी है। अंब्रित = अमृत। बारी = वाटिका। फरीं = फली हुई। नवरंग = नारंगी। बेद = बेदाना (अनार)। गलगल-पाठान्तर-गागल = बड़ा नींबू। नौ पाता = नई पत्तियाँ। दारिंव (दाड़िम) = अनार। राता = अनुरक्त, प्रसन्न। हरपारेउरी = लवली। ओनइ = झुकी हुई। केरन्ह = केलों। घउरी = गुच्छा, गहल (जिसमें बहुत से केले लगे होते हैं)। तूत = शहतूत। निऊँजी = लीची। रायकरौंदा = रामकरौंद। बैरि= बेर। संखदराउ-पाठान्तर-संगतरा = संतरा। डीठे = दिखाई पड़े। औरु = और (अन्य)। खँडवानी = खाँड का रस।

अर्थ फिर जो अमृतमय वाटिका लगी हुई है वह अत्यन्त सुन्दरता से फली हुई है, उसकी रखवाली होती है। नारँगी, नीबू, जँभीर, बादाम, बेदाना अँजीर, गलगल, तुरँज, सदाफर फले हुए हैं। लाल-लाल नारँगियाँ रस से भरी हैं। नयी पत्तियों के साथ किशमिश और सेव फले हैं। अनार और दाख देख कर मन प्रसन्न हो जाता है। लवली सुन्दर लग रही है, केलों के गुच्छे केलों से लद कर झुके हैं। शहतूत, कमरख, लीची, रामकरौंदा, बेर और चिरौंजी फले हैं। संतरे, छोहारे तथा अन्य खट्टे और मीठे फल दिखाई पड़ रहे हैं। कुओं में शक्कर मिला-मिला कर शक्कर के रस युक्त पानी इन बागों में दिया जाता है। रहट की घरियाँ लगी हैं जो कि इन अमृत बेलों को सींचती हैं।

*टिप्पणी—जायसी के सभी वर्णन अधिक से अधिक वस्तुओं की नामावली मात्र से युक्त रहते हैं। अधिक से अधिक फलों का नाम गिनाना ही कवि को अभिप्रेत था।*

[ ३५ ]

पुनि फुलवारी लागि चहुँ पासा। बिरिख बेधि चंदन भै बासा ॥
बहुत फूल फूली घन बेली। केवरा चंपा कुन्द चँबेली ॥
सुरँग गुलाल कदम औ कूजा। सुगँध बकौरी गंध्रप पूजा ॥

नागेसरि सद बरग नेवारी। औ सिंगारहार फुलवारी ॥
सोन जरद फूली सेवती। रूप मंजरी औ मालती ॥
जाही जूही बकचुन लावा। पुहुप सुदर्शन लाग सोहावा ॥
बोलसिरी बेइलि औ करना। सबहि फूल फूले बहु बरना ॥
तेन्ह सिर फूल चढ़हिं वै, जेन्ह माथें मनि भागु।
आछहिं सदा सुगंध भे, जनु बसंत औ फागु ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ--चहुं पासा = चारों ओर। बिरिख = वृक्ष। बेधि = वेध कर, प्रवेश कर। बासा = सुगन्ध। कूजा = कुब्जक, जंगली गुलाब। बकौरी = गुल-बकावली। गंध्रप = गन्धर्व। सदबरग = गेंदा। बोलसिरी = मौलिश्री। बेइलि = बेल। आछहिं = हैं।

अर्थ—फिर वहाँ चारों ओर फुलवारी लगी है। वृक्षों को वेधकर चन्दन की सुगन्ध उनमें हो गयी है। घनवेली में बहुत फूल फूले हैं। केवड़ा, चंपा, कुन्द, चमेली, सुन्दर गुलाल, कदम्ब, कुब्जक, सुगन्धित गुलबकावली, जो गन्धर्वों की पूजा में प्रयुक्त होती है, नागकेसर, गेंदा, नेवारी, हारसिंगार, सोनजरद, सेवती, रूपमंजरी, मालती, जाही, जूही, बकचुन, पुष्प सुदर्शन आदि सुन्दर लग रहे हैं। मौलिश्री, बलि, करना आदि सभी फूल अनेक रंगों के फूले हुए हैं। ये फूल उनके सिर चढ़ते हैं जिनके मत्थे पर सौभाग्य की मणि है। ये सदा सुगन्धित रहते हैं मानो सदा वसन्त और फागन के दिन रहते हैं।

[ ३६ ]

सिंघल नगर देखु पुनि बसा। धनि राजा असि जाकरि दसा ॥
ऊँची पँवरी ऊँच अवासा। जनु कबिलास इंद्र कर बासा ॥
राउ राँक सब घर घर सुखी। जो देखिअ सो हँसता मुखी ॥
रचि रचि राखे चंदन चौरा। पोते अगर मेद औ केवरा ॥
सब चौपारिन्ह चंदन खँभा। ओठँधि सभापति बैठे सभा ॥
जनहुँ सभा देवतन्ह क जुरी। परी द्रिस्टि इंद्रासन पुरी ॥
सबै गुनी पंडित औ ग्याता। संसकिरत सब के मुख बाता ॥

ऐहिक पंथ सवाँरहिं, जस सिवलोक अनूप ॥
घर घर नारि पदुमिनी, मोहहिं दरसन रूप ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ—बसा = बसा हुआ । असि = ऐसी । दसा = देश । पंवरी =
सीढ़ी । अवासा = घर । राँक = रङ्क, गरीब । रचि = बनाना । चौरा=चबूतरा ।
मेद = एक सुगन्धित जड़ । ओठँधि = टेक लगाये हुए । संसकिरत = संस्कृत ।
ऐहिक पंथ = ऐहिक (सांसारिक) पथ-पाठान्तर-अस कै मन्दिर ।

अर्थ—फिर देखो सिंहल नगर बसा हुआ है, वह राजा धन्य है जिसका
ऐसा देश है । ऊँचे-ऊँचे महल हैं जिनकी स्थिति ऊंची है, अतः उनमें ऊंची-
ऊंची पौरियाँ हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि यह स्वर्ग है और यहाँ इन्द्र का
निवास स्थान है । यहाँ पर अमीर-गरीब सभी घर-घर में सुखी हैं, जिसे
देखो वही हंसता हुआ और सुखी है । सबने जगह-जगह चन्दन की चौकियाँ
बना रखी हैं, जिनमें अगर, मेद और केवड़ा पोत रखे हैं । सभी चौपालों में
चन्दन के खम्भे बने हैं जिनमें सभा के सभापति टेक लगाकर बैठते हैं । ऐसा
मालूम होता है कि देवताओं की सभा लगी हुई है और इन्द्र की पुरी दिखाई
पड़ रही है । सभी गुणी, पण्डित और ज्ञानी हैं और सब लोग संस्कृत ही
बोलते हैं । सभी जीवन के मार्ग को बनाते हैं अर्थात् सभी पुण्यात्मा हैं । मानो
सारी शिवपुरी ही हो । प्रत्येक घर में पद्मिनी नारियाँ हैं जो अपने रूप से सब
को मोहती हैं ।

*टिप्पणी—जायसी पर सिद्धों का काफी प्रभाव था । कारण यह है कि
सूफीमत की साधना योगमार्ग के सदृश ही उन्हें लगती है । ये सिद्ध
औघड़पंथी शिव के पुजारी थे इसी लिए जायसी ने सुने-सुनाये ज्ञान के
आधार पर सिंहल में शिवपुरी का आदर्श रखा है । जायसी का कैलाश
(कविलास) हिन्दू-साहित्य का कैलाश नहीं है, काल्पनिक कैलाश है जो
इन्द्रपुरी के सदृश सभी सुख-सौभाग्य से युक्त है ।*

[ ३७ ]

पुनि देखिअ सिंघल की हाटा । नवौ निद्धि लछिमी सब बाटा ॥
कनक हाट सब कुँहकुँह लीपी । बैठ महाजन सिंघल दीपी ॥
रचे हँथौड़ा रूपइँ ढारी । चित्र कटाउ अनेग सँवारी ॥

रतन पदारथ मानिक मोती । हीर पँवार अनबन जोती ॥
सोन रूप सब भएउ पसारा । धवलसिरी पोतहिं घर बारा ॥
औ कपूर बेना कस्तूरी । चंदन अगर रहा भरिपूरी ॥
जेहँ न हाट एहि लीन्ह बेसाहा । ताकहँ आन हाट कित लाहा ॥
कोई करै बेसाहना, काहू केर बिकाई ।
कोई चला लाभ सौं, कोई मूर गवाँइ ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ—कुँहकुंह = कुंकुम, केसर । धवल = सफेद । सिरी = रोली । पँवार = पन्ना-पाठान्तर-लाल । बारा = द्वारा, दरवाजे । बेसाहा = खरीदा । मूर = मूलधन ।

अर्थ—फिर सिंहल के बाजार देखिए । सबने नवों निधियों और लक्ष्मी को बाँट रखा है अर्थात् सभी निधियाँ और लक्ष्मी यहाँ के बाजारों में हैं । सोने की हाट को कुँकुम से लीप-पोत कर सिंहलद्वीप के सभी महाजन (सौदागर) बैठे हैं । रूपे को ढार कर उन्होंने हथौड़े बना रखे हैं, अनेक प्रकार के चित्रों के कटाव बना करके सजाया हुआ है । रत्न, पदार्थ, माणिक्य, मोती हीरा, पन्ना आदि अद्भुत प्रकाश वाले जवाहर भरे हैं । चारों ओर सोने के रूप का ही फैलाव है । घर-द्वार सफेदी और रोली से लिपे पुते हैं । कपूर, खस, कस्तूरी, चन्दन और अगर की सुगन्ध उनमें आ रही है । जो व्यक्ति इस हाट में खरीद नहीं करता उसे दूसरी हाट में क्या लाभ है ? यहाँ पर कोई खरीद करता है और कोई बिक्री करता है, कोई यहाँ लाभ करके चलता है और कोई मूलधन भी खो जाता है ।

नाट—अन्तिम पंक्तियों में जायसी ने मनुष्य जीवन पर लक्ष्य किया है । यहाँ प्रत्येक वस्तु अपने कर्मों के द्वारा क्रय-विक्रय करता है । कुछ लोग सुकर्मों के द्वारा लाभ करते हैं और मनुष्य जीवन से ईश्वरत्व प्राप्त करते हैं और कुछ लोग अपने पापों के फलस्वरूप मूलधन के रूप में प्राप्त मनुष्य-जीवन को भी खो जाते हैं ।

अलंकार—समासोक्ति (जो इन हाट··· मूर गँवाइ) ।

[ ३८ ]

पुनि सिंगार हाट धनि देसा । कइ सिंगार तहँ बैठी बेसा ॥
मुख तँबोर तन चीर कुसुंभी । कानन्ह कनक जराऊ खुंभी ॥

हाथ बीन सुनि मिरिग भुलाहीं। नर मोहहिं सुनि पैगु न जाहीं ॥
भौंह धनुक तहँ नैन अहेरी। मारहिं बन सान सौं फेरी ॥
अलक कपोल डोल हँसि देहीं। लाइ कटाख मारि जिउ लेहीं ॥
कुच कंचुकि जानहुँ जुग सारी। अंचल देहि सुभावहिं ढारी ॥
केत खेलार हारि तेन्ह पासा। हाथ झारि होइ चलहिं निरासा ॥
चेटक लाइ हरहिं मन, जौ लहि गथ है फेंट।
साँठि नाठि उठि भए बटाऊ, ना पहिचान न भेंट ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ—सिंगारहाट = रूप बाज़ार (वेश्याओं का मुहल्ला)। बेसा = वेश्या। तँबोर = ताम्बूल, पान। तन = शरीर। चीर = साड़ी। कुसुम्भी = पीली (हरसिंगार के फूल के रस से रंगी हुई)। कानन्ह = कानों में। जराऊ = जड़ाऊ। खुम्भी = कान की लौंग, इयरिंग। मिरिग = मृग। सान = सैन, भौं का इशारा। अलक = बाल। कटाख = कटाक्ष। जुग=दो। सुभावहिं=स्वभावतया। ढारी = पांसों का फेंकना। केत = कितने ही। चेटक = जादू। गथ = पूंजी। फेंट = गांठ। साँठि = पूंजी। नाठि = नष्ट हुई। बटाऊ = राही।

अर्थ—फिर सिंहल का रूप बाज़ार बड़ा सुन्दर देश है। वहाँ पर वेश्यायें शृङ्गार करके बैठी होती हैं. उनके मुख में पान की लाली है और शरीर पर कुसुम्भ रंग की साड़ी है। कानों में जड़ाऊ सोने की इयरिंग पहनती हैं। हाथ से वीणा बजाती हैं जिसे सुनकर मृग सुधि-बुधि भूल जाते हैं, पुरुष भी मोहित हो जाते हैं चलते हुए रुक जाते हैं आगे पैर नहीं उठाते। उनकी भौंहें धनुष के सदृश हैं। उनके नेत्र शिकारी हैं जो भृकुटी के इशारे रूपी बाण घुमा-घुमा कर मार रहे हैं। उनके घुँघराले बाल कपोलों पर लहराते हैं, वे बीच-बीच में मुस्कराती हैं, कटाक्षों को चला-चला कर मार-मार कर लोगों की जान लेती हैं। उनकी कंचुकी में दो उरोज ऐसे लगते हैं मानों पाँसे की दो गोट हैं जिनको अंचल सहज ही फेंक देता है। इन पांसों पर कितने ही खेलाड़ी हार गये, वे सारा धन गँवा कर हाथ झाड़ कर निराश हो कर चले गये। जब तक गाँठ में पूंजी है ये आकर्षण के जादू से उनके मन को हरती हैं पर जब उनकी पूंजी नष्ट हो गई वे बटोही की भाँति चले जाते हैं जैसे कभी भेंट-पहचान ही नहीं हुई।

टिप्पणी—जायसी का यह वर्णन बड़ा ही यथातथ्य चित्रण है। साथ ही इसके द्वारा उन्होंने संसार की मोहक माया का भी निरूपण किया है। मनुष्य सांसारिक माया-मोह के आकर्षण में स्वयं फँसाता है अपना ज्ञान, विवेक और भक्ति आदि धन खो कर नष्ट हो जाता है और जब उसके पास कुछ नहीं रह जाता संसार के मित्र, पुत्र, कलत्र आदि उसे घृणा की दृष्टि से देखते हैं और वह हाथ मल कर पछताता चला जाता है।

अलङ्कार— भौंह धनुष... रूपक।

कुच कंचुकि... उत्प्रेक्षा।

केत खेलार... भेंट... समासोक्ति।

[ ३६ ]

लै लै बैठ फूल फुलहारी। पान अपूरब धरे सँवारी ॥
सोंधा सबै बैठु लै गाँधी। बहुल कपूर खिरौरी बाँधी ॥
कतहूँ पंडित पढ़हिं पुरानू। धरम पंथ कर करहिं बखानू ॥
कतहूँ कथा कहै कुछु कोई। कतहूँ नाच कोड भलि होइ ॥
कतहुँ छरहटा पेखन लावा। कतहूँ पाखँड काठ नचावा ॥
कतहूँ नाद सबद होइ भला। कतहूँ नाटक चेटक कला ॥
कतहुँ काहुँ ठग बिद्या लाई। कतहुँ लेहि मानुस बौराई ॥
चरपट चोर धूत गँठिछोरा, मिले रहहि तेहि नाँच।
जो तेहि नाँच सजग भा अगुमन, गथ ताकर पै बाँच ॥ ३६ ॥

आ० प०

शब्दार्थ—फुलहारी = फूल बेचने वाली, मालिनी। अपूरब = अपूर्व, सुन्दर। सोंधा = सुगंधित द्रव्य। गाँधी = गंधी। बहुल=बहुत-पाठान्तर-फूल। खिरौरी = केवड़ा देकर बाँधी हुई खैर (कत्था)। कोड = (क्रीड़ा) नाटक। छरहटा-पाठान्तर-चिरहँटा = बहेलिया। पाखंड = कठपुतली का नाटक दिखाने वाला। काठ = कठपुतली। चेटक = जादू। चरपट = चालाक। अगुमन = आगे का सोचने वाला। गथ = पूँजी। पै = पर। बाँच = बचा।

अर्थ—फूलवाली मालिनें फूल लेकर बैठी हैं। तंबोली सुन्दर पान संभाले बैठे हैं। गंधी सभी प्रकार के सुगन्धित इत्र आदि लिए बैठे हैं। अनेक प्रकार के कपूरी तथा केवड़ा देकर कत्थे की टिकिया लिये हैं। कहीं पर पंडित

लोग पुराण पढ़ रहे हैं और धर्म ग्रन्थों की कथा आदि सुना रहे हैं। कोई नाच तथा खेल दिखा रहे हैं। कहीं बहेलिया पक्षी दिखा रहा है तो कहीं कठपुतली वाला कठपुतली का नाच दिखा रहा है। कहीं पर सुन्दर गाने-बजाने हो रहे हैं तो कहीं नाटक और जादू के खेल हो रहे हैं। कहीं पर कोई ठगविद्या आदि के द्वारा मनुष्यों को पागल बना रहे हैं। उन नाचों में चालाक, चोर, धूर्त, गंठकटे आदि मिले होते हैं, पर जो लोग सजग होते हैं और आगे की सोचने वाले होते हैं उनकी पूंजी बच जाती है।

*टिप्पणी—इस छंद के भी अन्त में जायसी समासोक्ति के द्वारा संसार की ओर संकेत कर रहे हैं। संसार में मनुष्य को ठगने की सामग्री बहुत है। मनुष्य का विवेक सरलता से नष्ट हो सकता है पर जो लोग सजग होते हैं जिनकी दृष्टि परलोक की ओर भी होती है उनको संसार की माया ठग नहीं सकती।*

अलङ्कार—समासोक्ति।

[ ४० ]

पुनि आइअ सिंघल गढ़ पासा। का बरनौ जस लाग अकासा॥
तरहिं कुरुँम बासुकि कै पीठी। ऊपर इन्द्रलोक पर डीठी॥
परा खोह चहुं दिसि तस बाँका। काँपै जाँघि जाइ नहिं झाँका॥
अगम असूझ देखि डर खाई। परै सो सप्त पतारन्ह जाई॥
नव पँवरी बाँकी नव खंडा। नवहुँ जो चढ़ै जाइ ब्रह्मंडा॥
कंचन कोट जरे नग सीसा। नखतन्ह भरा बीजु अस दीसा॥
लंका चाहि ऊँच गढ़ ताका। निरखि न जाइ दिस्टि मन थाका॥
हिअ न समाइ दिस्टि नहिं पहुंचै, जानहुं ठाढ़ सुमेरु।
कहँ लगि कहौं उँचाई ताकरि, कहँ लगि बरनौं फेरु॥

शब्दार्थ—तरहिं = नीचे। कुरुम = कूर्म (कच्छप भगवान् जिनकी पीठ पर पृथ्वी है) पाठान्तर, करिन्ह = दिग्गज (दिशाओं में वे हाथी जो चार ओर से पृथ्वी को अपने दाँतों पर उठाये हैं)। डीठी = दृष्टि (दिखाई पड़ना)। खोह = खाई। चाहि = बढ़ कर। लगि = तक। ठाढ़ = खड़ा हुआ। फेरु = घेरा।

अर्थ—फिर सिंहलगढ़ (किला) के पास आइये। इसका क्या वर्णन

करूँ; ऐसा ऊँचा है मानो आकाश में लगा हुआ है। किले की नींव इतनी नीचे गयी है कि कच्छप भगवान् और शेषनाग की पीठ छुए है और ऊपर इतना ऊँचा है कि इन्द्रलोक दिखाई पड़ता है। किले के चारों ओर खाई इतनी गहरी है कि देखते समय जाँघें काँपने लगती हैं, झाँक कर देखा नहीं जाता। ऐसा असूझ लगता है और भय मालूम होता है कि यदि गिर पड़ें तो सातवें पाताल में जा पड़ेंगे। किले में सुन्दर नव ड्योढ़ियाँ और नव खण्ड हैं। यदि कोई इनके नवखण्डों पर चढ़ जाय तो ब्रह्माण्ड में पहुँच जाय। कोट ( गढ़ ) सोने का है और उसमें नग ( हीरे ) और शीशे जड़े हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि नक्षत्रों से भरी बिजली हो। (नग नक्षत्र हैं और शीशा बिजली)। लंका से भी ऊंचा किला है, उसको देखते नहीं बनता दृष्टि और मन थक जाते हैं। उसकी विशालता हृदय में समाती नहीं और दृष्टि वहाँ तक पहुंचती नहीं, सुमेरु पर्वत की भांति खड़ा है। उसकी ऊंचाई और घेरे का कहाँ तक वर्णन करूं।

*टिप्पणी—सिंहलद्वीप से जायसी का तात्पर्य हठयोगियों के सिद्धपीठ से है अतः गढ़ से उनका तात्पर्य मनुष्य के शरीर से है जिसको साध कर ही हठयोगी सिद्धि प्राप्त करता है। प्रत्येक पंक्ति में उनका रूपक नहीं है पर "नव पौरी बाँकी नवखंडा। नवहुं जो चढ़ै जाइ ब्रह्मण्डा।" निश्चय ही उनके रूपक से युक्त है। नव पौरी और नवखंड से जायसी का तात्पर्य मनुष्य की नव इन्द्रियों (२ आँख, २ कान, २ नाक के छिद्र, मुख, लिंग और गुदा) से है जिन्हें हठयोगी साधता है। इनके सध जाने के पश्चात् कुण्डलिनी सुषुम्ना नाड़ी के मार्ग से ब्रह्मरंध्र में पहुँचती है। 'ब्रह्मण्डा' से जायसी का मतलब ब्रह्मरंध्र से ही है। इसका विस्तृत वर्णन अगले पद में है।*

अलंकार—जस लाग अकासा—उत्प्रेक्षा तथा सम्बन्धातिशयोक्ति।
तरहिं कुरुम...डीठी—सम्बन्धातिशयोक्ति।
नव पौरी....ब्रह्मंडा...रूपकातिशयोक्ति और समासोक्ति;
सम्पूर्ण पद में अतिशयोक्ति।

[ ४१ ]

निति गढ़ बाँचि चलै ससि सूरू। नाहि त बाजि होइ रथ चूरू॥
पँवरी नवौ बज्र कइ साजी। सहस सहस तहँ बैठे पाजी॥
फिरहिं पाँच कोटवार सो भँवरी। काँपै पाँय चँपत वै पँवरी॥
पँवरिहि पँवरि सिंघ गढ़ि काढ़े। डरपहिं राय देखि तेन्ह ठाढ़े॥
बहु बनान वै नाहर गढ़े। जनु गाजहिं चाहहिं सिर चढ़े॥
टारहिं पूँछि पसारहिं जीहा। कुंजर डरहिं कि गुंजरि लीहा॥
कनक सिला गढ़ि सीढ़ी लाई। जगमगाहिं मढ़ ऊपर ताईं॥

नवौ खंड नव पँवरीं औ, तहँ बज्र केवार।
चारि बसेरें सों चढ़ै सत, सत सौं चढ़ै जो पार॥ ४१॥

शब्दार्थ—बाँचि = बचा कर। सूरू = सूर्य। बाजि = लड़कर। पाजी = पैदल सेना। कोटवार = कोटपाल-कोतवाल। भँवरी = चक्कर। चंपत = पड़ते ही। वै = उन। पँवरी = सीढ़ी। बनान = प्रकार। टारहिं=चलाते हैं। जीहा = जीभ। कुंजर = हाथी। गुंजरि = गरजकर। लीहा = लिया। ताईं = तक। बसेरे = पड़ाव।

अर्थ—गढ़ इतना अधिक ऊंचा है कि सूर्य और चन्द्र बचा कर चलते हैं नहीं तो गढ़ से लड़ कर उनके रथ चूर चूर हो जाँय। उसमें नव ड्योढ़ियां हैं जो वज्र की बनी हैं। प्रत्येक पर एक-एक हजार पैदल सेना बैठी है। उसमें पाँच कोतवाल चक्कर लगाते हैं। वे ड्योढ़ियाँ बहुत डरावनी हैं अतः उन पर पैर रखने से पाँव काँपने लगते हैं। प्रत्येक ड्योढ़ी पर सिंहों के चित्र कढ़े हुए हैं, उन्हें खड़े देख कर राजा लोग भी डर जाते हैं। वे ऐसे विचित्र बने हैं कि मालूम होता है कि गरज कर सिर चढ़ना चाहते हैं। वे पूंछ चलाते और जीभ फैलाये हुए हैं। हाथी भी डरते हैं कि गरज कर ले लेंगे, (मार डालेंगे)। सोने की शिला गढ़ कर सीढ़ी बनाई गयी है जो कि ऊपर तक चमकती रहती है। उसमें नव खंड, नव ड्योढियाँ हैं, उसका दरवाजा वज्र का बना है। जो उसके पार जाना चाहे उसे चारों पड़ावों पर से सत के द्वारा ही चढ़ना पड़ेगा।

*टिप्पणी*—इस पद में हठयोग के सिद्धान्तों का विशेष व्यक्तीकरण है। मनुष्य की नव इन्द्रियाँ ही नव पौरी हैं, हज़ार हज़ार पैदल सेना इन्द्रियों की सेना है जो मनुष्य के ज्ञान और विवेक के समक्ष खड़ी हैं। इस सेना को पराजित करने के बाद ही साधक इन्द्रियों को वश में करता है। पाँच कोतवाल-काम, क्रोध, मद, लोभ और मोह हैं जो इन्द्रियों के इर्द-गिर्द चक्कर लगाते रहते हैं। प्रत्येक पौरी पर चित्र-लिखित सिंह-मिथ्या अहंकार हैं। मिथ्या होते हुए भी जैसे सिंह भयावने हैं उसी प्रकार सांसारिक मिथ्या-भिमान साधक के मार्ग का बहुत भयंकर विघ्न है, बड़े-बड़े साधक भी इसके शिकार हो जाते हैं। सोने की सीढ़ी-सुषुम्ना नाड़ी है जिसके भीतर से कुण्ड-लिनी ब्रह्मरंध्र तक पहुँचती है। इस सीढ़ी के ऊपर ब्रह्मांड की दिव्य ज्योति है। नव इन्द्रियों के ऊपर अज्ञान ही वज्र केवार है जिसका तोड़ना दुस्साध्य है। 'चारि बसेरे' हैं सूफीमत की चार अवस्थायें-शरीअत, तरीकत, हकीकत और मारिफत।

अलंकार—समासोक्ति। इस प्रकार के वर्णनों में अन्योक्ति अलंकार भी माना जा सकता है क्योंकि जायसी का मुख्य लक्ष्य सिद्धान्त-प्रतिपादन था। पर सच तो यह है कि जायसी सिद्धान्त-प्रतिपादन को बहुत गौण रखते हैं, ग्रन्थ में कहानी का वर्णन प्रधान है। यही कारण है कि इनका रूपक प्रत्येक शब्द और पंक्ति में सटीक नहीं बैठता। इस प्रकार प्रस्तुत (गढ़-वर्णन) प्रधान और अप्रस्तुत (हठयोग-सिद्धान्त) अप्रधान होने के कारण अलंकार समासोक्ति ही मानना समीचीन है।

[ ४२ ]

नवौ पँवरि पर दसौं दुआरू। तेहि पर बाज राज घरिआरू॥
घरी सो बैठि गनै घरिआरी। पहर पहर सो आपनि बारी॥
जबहिं घरी पूजी वह मारा। घरी घरी घरिआर पुकारा॥
परा जो डाँड जगत सब डाँडा। का निचिंत माँटी कर भाँडा॥
तुम्ह तेहि चाक चढ़े होइ काँचे। आएहु फिरै न थिर होइ बाँचे॥
घरी जो भरै घटै तुम आऊ। का निचिंत सोवहि रे बटाऊ॥

पहरहि पहर गजर नित होई। हिआ निसोगा जाग न सोई॥
मुहमद जीवन जल भरन, रहँट घरी की रीति।
घरी सो आई ज्यों भरी, ढरी जनम गा बीति॥४१॥

शब्दार्थ—घरिआरू = घड़ियाल, घंटा। घरी = घड़ी। गनै = गिनै। डाँड = डंडा। डाँडा = दण्ड दिया। निचिन्त = निश्चिन्त। माँटी कर डाँडा = मिट्टी का बर्तन। आऊ = आयु। गजर = घंटे पीटने की आवाज। हिआ = हृदय। निसोगा = शोकरहित। जाग = जागो। न सोई = मत सो।

अर्थ— नव ड्योढ़ियों के ऊपर दसवां दरवाजा ब्रह्मरन्ध्र है, उस पर राजा (काल) का घंटा बजा करता है। वहाँ घंटा बजाने वाले लोग घड़ी गिनते हुए बैठे रहते हैं अपनी-अपनी बारी पर प्रत्येक पहर पर घंटा बजाते हैं। (प्राचीन काल में समय ज्ञात करने के लिए जल के एक बड़े बर्तन में एक छेददार वस्तु डाली जाती थी जिसे घड़ी कहते थे। एक घड़ी में उसके छेद से इतना पानी भर जाता था कि वह पानी में डूब जाती थी। एक आदमी उसे देखता बैठा रहता था और उसके डूबते ही उसे खाली करके फिर डालता और घंटा बजाता था। रात दिन इस क्रम को रखने के लिए आदमियों की ड्यूटी भी बदला करती थी।) जभी घड़ी पूरी होती थी वह पीटता था। घड़ियाल की आवाज पर जायसी कल्पना करते हैं कि घंटा घड़ी-घड़ी पर पुकार कर मानो कह रहा है कि सारे संसार पर डण्डा मार कर काल चक्र दण्डित कर रहा है तो ऐ मिट्टी के भाँडे मनुष्य तू क्यों निश्चिन्त बैठा है। तू जिस चाक पर कच्चे मिट्टी के बर्तन की भाँति चढ़ा है, उस पर आते ही चक्कर लगाना होगा। यहाँ कोई स्थिर नहीं बच सकता। (कुम्हार के चाक पर गीली मिट्टी आते ही घूमने लगती है, जब तक चाक चलता है, बर्तन बनता है और बर्तन बनना बन्द होते ही चाक भी बन्द हो जाता है।) तात्पर्य यह कि इस कालचक्र की गति में कोई स्थिर नहीं रह सकता। जैसे-जैसे घड़ी भर रही है तेरी आयु घटती जा रही है, अतएव ऐ पथिक (मनुष्य) तू निश्चिन्त क्यों सो रहा है? प्रत्येक पहर पर घंटा बज रहा है, तू हृदय से सोचरहित क्यों है? जाग, मत सो, भविष्य की चिन्ता कर। जायसी कहते हैं कि यह जीवन उसी प्रकार है जैसे रहट में लगी हुई छोटी घड़ी जल के भीतर रह कर

कर जल भरती थी, जल भरते ही वह डूब जाती थी। मनुष्य का जीवन भी प्रति-क्षण व्यतीत होता है और ज्यों ही काल पूरा हुआ जीवन समाप्त हो जाता है।

*टिप्पणी—दसवाँ द्वार ब्रह्मरन्ध्र है जिसकी व्यंजना पिछले पद में भी है। इस पद में जायसी जी ने अपने विचार को अधिक स्पष्ट किया है।*

अलंकार—"नवौं पँवरि...घरिआरू—समासोक्ति।

घरी घरी घरिआर पुकारा—हेतूत्प्रेक्षा।

मुहमद जीवन...जलभरन—रूपक।

[ ४३ ]

गढ़ पर नीर खीर दुइ नदी। पानी भरहिं जैसे दुरुपदी॥
औरु कुण्ड एक मोंतीचूरू। पानी अंब्रित, कीच कपूरू॥
ओहि क पानि राजा पै पिआ। बिरिध होइ नहि जौलहि जिआ॥
कंचन बिरिख एक तेहि पासा। जस कलपतरु इन्द्र कबिलासा॥
मूल पतार, सरग ओहिं साखा। अमर बेलि को पाव, को चाखा॥
चाँद पात औ फूल तराईं। होइ उजिआर नगर जहँ ताईं॥
वह फर पावै तपि कै कोई। बिरिध खाइ नव जोबन होई॥
राजा भए भिखारी, सुनि वह अंब्रित भोग।
जेइँ पावा सो अमर भा ना किछु ब्याधि न रोग॥ ४३॥

शब्दार्थ—नीर-खीर = जल और दूध—इड़ा और पिंगला की नाड़ियाँ, कबीर ने भी इड़ा और पिंगला को यमुना और गंगा कहा है क्योंकि हठयोग के अनुसार इड़ा विष की और पिंगला अमृत की नाड़ी है, दोनों के रंग क्रमशः श्याम और श्वेत हैं. इन्हीं रंगों को दृष्टि में रख कर जायसी ने नीर-खीर की नदी लिखा है। दुरपदी = द्रौपदी-पंच इन्द्रियां (द्रौपदी के पांच पति थे अतः पांच से सम्बन्धित होने से इन्होंने इन्द्रियों को द्रौपदी कहा)। कुंड = प्रेम का कुंड। पानी = प्रेम। कीच=कीचड़(विरह)। विरिध=वृद्ध। जौलहि = जब तक। बिरिख = वृक्ष (कंचन वृक्ष से इनका तात्पर्य सुषुम्ना नाड़ी से है जिसका ऊपरी सिरा ब्रह्मरंध्र है। पद ४० में भी सुषुम्ना को कंचन कहा है।)

अर्थ— सिंहल गढ़ पर जल और दूध की दो नदियाँ हैं। द्रौपदी जैसी नारियां उस पर पानी भरती हैं। वहाँ एक और मोती के समान स्वच्छ कुण्ड है उसका पानी अमृत और कीचड़ कपूर हैं। उसका पानी राजा पीता है और जब तक जीता है वृद्ध नहीं होता है। उसके पास एक सोने का वृक्ष है जो स्वर्ग के इन्द्र के कल्पवृक्ष के समान है। उसकी मूल पाताल में और शाखा स्वर्ग में है। उस अमर बेल के चखने को कौन पा सकता है? उसके पत्ते चांद और फूल तारागण हैं। जहां तक नगर है इनके प्रकाश से उजेला रहता है। तपस्या करके ही कोई उसके फल को पा सकता है। यदि वृद्ध उसे खा ले तो युवा हो जाय। उस अमृत-भोग को सुन कर राजा भिखारी होता है। जो उसे पा जाता है अमर हो जाता है, फिर उसे व्याधि और रोग नहीं होते।

*टिप्पणी—इस पद में जायसी ने हठयोग और सूफी सिद्धान्त का सुन्दर समन्वय किया है। हठयोग के अनुसार मानव शरीर में तीन नाड़ियां होती हैं—इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना। इड़ा विष की काली नाड़ी है और पिंगला अमृत की श्वेत नाड़ी है। सुषुम्ना बीच की नाड़ी है। जिसके मूल में कुण्डलिनी है, और उसके ऊपर ब्रह्मरंध्र है। ब्रह्मरंध्र के ऊपर सहस्रदल कमल है। साधक यम-नियमादि के द्वारा इन्द्रियों का जब दमन कर लेता है तो कुण्डलिनी सुषुम्ना के मार्ग से ऊपर चढ़ती है, कुण्डलिनी के चढ़ने से ज्ञान की ज्योति जग जाती है। ब्रह्मरंध्र में कुण्डलिनी के पहुँच जाने पर साधक को सभी सिद्धियां प्राप्त हो जाती हैं। वह अद्वैत में मिल एक एक हो जाता है। जायसी सूफी थे, सूफी मत में साधना की स्थिति है पर उसमें हठयोग जैसी नहीं है। इन्द्रियों का दमन वहां भी है, सूफी मत में प्रेम की महिमा अमित है। जायसी ने हठयोग की पद्धति को अपने मत में स्थान देकर प्रेम का महत्व प्रदर्शित किया है। उक्त पद का भावार्थ इस प्रकार होगा:—*

*शरीर में इड़ा और पिंगला की दो नाड़ियां हैं। पंच इन्द्रियां इनसे सत् और असत् भाव प्राप्त करती हैं। यहां पर एक प्रेम का कुंड हृदय भी है उसमें प्रेम अमृत है और विरह कीच है। मन प्रेम को प्राप्त करता है*

और प्रेम के कारण शाश्वत यौवन प्राप्त करता है। हृदय के पास ही सुषुम्ना नाडी है जिसका ऊपरी सिरा ब्रह्मरंध्र में पहुंचता है जहां सहस्रदल कमल पर प्रियतम विराजमान हैं। सुषुम्ना का मूल मूलाधार चक्र में और शाखा ब्रह्मांड में हैं। प्रणय के प्राप्त हो जाने पर नव यौवन का आनन्द सदा बना रहता है। इसी प्रेम को सुनकर मन योगी बन कर अपना सब कुछ छोड़ चला जाता है और फिर उसे संसार के माया-मोह नहीं व्यापते।

अलंकार—समासोक्ति और रूपकातिशयोक्ति।

[ ४४ ]

गढ़ पर बसहिं चारि गढ़पती। असुपति, गजपति, औ नरपती॥
सब क धौरहर सोनै साजा। औ अपने अपने घर राजा॥
रूपवंत धनवंत सभागे। परस पखान पँवरि तेन्ह लागे॥
भोग बेरास सदा सब माना। दुख चिंता कोइ जरम न जाना॥
मँदिर मँदिर सबकें चौपारी। बैठि कुँवर सब खेलहिं सारी॥
पाँसा ढरै खेल भलि होई। खरग दान सरि पूज न कोई॥
भाँट बरनि कहि कीरति भली। पावहिं हस्ति घोर सिंघली॥
मँदिर मँदिर फुलवारी, चोवा चंदन बास।
निसि दिन रहै बसंत भा, छहु रितु बारहु मास॥ ४४॥

शब्दार्थ—चारि=चार (अन्तःकरण के मन, चित्त, बुद्धि और अहंकार) पाठान्तर-झारि=बहुत से। असुपति=अश्वपति। परस पखान=पारस पत्थर। पँवरि=ड्योढ़ी। तेन्ह=उनके। बेरास=विलास-सुख। जरम=जन्म, जीवन भर। चौपारी=चौपाल-बैठक। सारी=पासा। ढरै=चलता है, गिरता है। खरग दान=तलवार चलाना।

अर्थ—उस गढ़ पर चार गढ़पति रहते हैं जो घोड़े, हाथी और मनुष्यों के स्वामी हैं अर्थात् जिनके घोड़े, हाथी और नर सेवक के रूप में हैं। सब के महल सोने से सजे हुए हैं और वे अपने-अपने घर राजा हैं। वे सभी रूपवान्, धनवान् और सौभाग्यवान् हैं, उनकी ड्योढ़ियों में पारस पत्थर लगे हैं। वे भोग-विलास में ही मग्न हैं। दुःख चिन्ता, आदि तो उन लोगों ने जीवन

भर जाने ही नहीं। सब के घर-घर में चौपालें हैं जहां बैठकर सभी राजकुमार पाँसा खेलते हैं। पाँसे खेले जाते हैं, सुन्दर खेल होते हैं, पर तलवार चलाने वाले खेल की कोई समता नहीं कर सकता। भाव यह कि ये लोग केवल पाँसा-खेल नहीं खेलते, ये तलवार चलाने वाले भी हैं। इसीलिए भाट लोग इनकी बड़ाई करते हैं और इनका यश वर्णन करके घोड़े और सिंहल द्वीप के हाथी इनाम में प्राप्त करते हैं। घर-घर में फुलवाड़ी लगी है, चोवा और चन्दन आदि की सुगन्धि निकलती रहती है। वहां पर छहों ऋतुओं और बारहों मास वसन्त ऋतु ही छाई रहती है।

नोट—यहां पर अन्तःकरण (मन, चित्त, बुद्धि और अहंकार) की ओर संकेत है। रहस्यवादी का अन्तःकरण सर्वथा सम्पन्न है। उसे दुःख नहीं व्यापता, सदा प्रसन्न रहता है। पाँसे से तात्पर्य ईश्वरीय प्रेम से है। रहस्य-वादी प्रेम का खेल खेलता रहता है जिसके कारण उसे सदा आनन्द रहता है।

अलंकार—समासोक्ति।

[ ४५ ]

पुनि चलि देखा राज दुआरू। महिँ घूंबिअ पाइअ नहिं बारू॥
हस्ति सिंघली बाँधे बारा। जनु सजीव सब ठाढ़ पहारा॥
कवनौ सेत, पीत रतनारे। कवनौ हरे, धूप औ कारे॥
बरनहि बरन गगन जस मेघा। औ तिन्ह गगन पीठ जनु ठेंघा॥
सिंघल के बरने सिंघली। एकेक चाहि सो एकेक बली॥
गिरि पहार पब्बै गहि पेलहिं। बिरिख उपारि झारि मुख मेलहिं॥
मात निमत सब गाजहिं बाँधे। निसि दिन रहहिं महाउत काँधे॥
धरती भार न अँगवै, पाँव धरत उठ हालि।
कुरुँम टूट फन फाटे, तिन्ह हस्तिन्ह की चालि॥४५॥

शब्दार्थ—घूंबिअ = घूमो। पाइअ = पाते हैं। बारू = द्वार। बारा = द्वार। रतनारे = लाल। कवनौ = कोई। ठेंघा = सहारा दिया। एकेक = एक से एक। चाहि = बढ़कर। पब्बै = पर्वत पाठान्तर-वै पैगहि=पैर से। पेलहिं = ढकेलते हैं। बिरिख = वृक्ष। उपारि = उखाड़ कर-पाठान्तर-उचारि = तोड़ कर। झारि = झाड़ कर-पाठान्तर—डारि = गिरा कर। मेलहिं =

और प्रेम के कारण शाश्वत यौवन प्राप्त करता है। हृदय के पास ही सुषुम्ना नाडी है जिसका ऊपरी सिरा ब्रह्मरंध्र में पहुंचता है जहां सहस्रदल कमल पर प्रियतम विराजमान हैं। सुषुम्ना का मूल मूलाधार चक्र में और शाखा ब्रह्मांड में हैं। प्रणय के प्राप्त हो जाने पर नव यौवन का आनन्द सदा बना रहता है। इसी प्रेम को सुनकर मन योगी बन कर अपना सब कुछ छोड़ चला जाता है और फिर उसे संसार के माया-मोह नहीं व्यापते।

अलंकार—समासोक्ति और रूपकातिशयोक्ति।

[ ४४ ]

गढ़ पर बसहिं चारि गढ़पती। असुपति, गजपति, औ नरपती ॥
सब क धौरहर सोनै साजा। औ अपने अपने घर राजा ॥
रूपवंत धनवंत सभागे। परस पखान पँवरि तेन्ह लागे ॥
भोग बेरास सदा सब माना। दुख चिंता कोइ जरम न जाना ॥
मँदिर मँदिर सबकें चौपारी। बैठि कुँवर सब खेलहिं सारी ॥
पाँसा ढरै खेल भलि होई। खरग दान सरि पूज न कोई ॥
भाँट बरनि कहि कीरति भली। पावहिं हस्ति घोर सिंघली ॥
मँदिर मँदिर फुलवारी, चोवा चंदन बास।
निसि दिन रहै बसंत भा, छहु रितु बारहु मास ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ—चारि=चार (अन्तःकरण के मन, चित्त, बुद्धि और अहंकार) पाठान्तर-झारि=बहुत से। असुपति=अश्वपति। परस पखान=पारस पत्थर। पँवरि=ड्योढ़ी। तेन्ह=उनके। बेरास=विलास-सुख। जरम= जन्म, जीवन भर। चौपारी=चौपाल-बैठक। सारी=पासा। ढरै=चलता है, गिरता है। खरग दान=तलवार चलाना।

अर्थ—उस गढ़ पर चार गढ़पति रहते हैं जो घोड़े, हाथी और मनुष्यों के स्वामी हैं अर्थात् जिनके घोड़े, हाथी और नर सेवक के रूप में हैं। सब के महल सोने से सजे हुए हैं और वे अपने-अपने घर राजा हैं। वे सभी रूपवान्, धनवान् और सौभाग्यवान् हैं, उनकी ड्योढ़ियों में पारस पत्थर लगे हैं। वे भोग-विलास में ही मग्न हैं। दुःख चिन्ता, आदि तो उन लोगों ने जीवन

भर जाने ही नहीं । सब के घर-घर में चौपालें हैं जहां बैठकर सभी राजकुमार पाँसा खेलते हैं । पाँसे खेले जाते हैं, सुन्दर खेल होते हैं, पर तलवार चलाने वाले खेल की कोई समता नहीं कर सकता । भाव यह कि ये लोग केवल पांसा-खेल नहीं खेलते, ये तलवार चलाने वाले भी हैं । इसीलिए भाट लोग इनकी बड़ाई करते हैं और इनका यश वर्णन करके घोड़े और सिंहल द्वीप के हाथी इनाम में प्राप्त करते हैं । घर-घर में फुलवाड़ी लगी है, चोवा और चन्दन आदि की सुगन्धि निकलती रहती है । वहां पर छहों ऋतुओं और बारहों मास वसन्त ऋतु ही छाई रहती है ।

नोट—यहां पर अन्तःकरण (मन, चित्त, बुद्धि और अहंकार) की ओर संकेत है । रहस्यवादी का अन्तःकरण सवथा सम्पन्न है । उसे दुःख नहीं व्यापता, सदा प्रसन्न रहता है । पाँसे से तात्पर्य ईश्वरीय प्रेम से है । रहस्यवादी प्रेम का खेल खेलता रहता है जिसके कारण उसे सदा आनन्द रहता है ।

अलंकार—समासोक्ति ।

[ ४५ ]

पुनि चलि देखा राज दुआरू । महिं घूंबिअ पाइअ नहिं बारू ॥
हस्ति सिंघली बाँधे बारा । जनु सजीव सब ठाढ़ पहारा ॥
कवनौ सेत, पीत रतनारे । कवनौ हरे, धूप औ कारे ॥
बरनहिं बरन गगन जस मेघा । औ तिन्ह गगन पीठ जनु ठेंघा ॥
सिंघल के बरने सिंघली । एकेक चाहि सो एकेक बली ॥
गिरि पहार पब्बै गहि पेलहिं । बिरिख उपारि झारि मुख मेलहिं ॥
मात निमत सब गाजहिं बाँधे । निसि दिन रहहिं महाउत काँधे ॥
धरती भार न अँगवै, पाँव धरत उठ हालि ।
कुरुँम टूट फन फाटे, तिन्ह हस्तिन्ह की चालि ॥४५॥

शब्दार्थ—घूंबिअ = घूमो । पाइअ = पाते हैं । बारू = द्वार । बारा = द्वार । रतनारे = लाल । कवनौ = कोई । ठेंघा = सहारा दिया । एकेक = एक से एक । चाहि = बढ़कर । पब्बै = पर्वत पाठान्तर-वै पैगहि=पैर से । पेलहिं = ढकेलते हैं । बिरिखि = वृक्ष । उपारि = उखाड़ कर-पाठान्तर-उचारि = तोड़ कर । झारि = झाड़ कर-पाठान्तर—डारि = गिरा कर । मेलहिं =

डालते हैं। मात = मस्त। निमत = जो मतवाला नहीं है—पाठान्तर तेइ = वे। अँगवै = सहें। हालि = हिल। कुरुम = कच्छप भगवान्। फन फाटै = शेषनाग का फण फटै-पाठान्तर-मुइं फाटै = भूमि फटै। तिन्ह = उन।

अर्थ—फिर उनके राजद्वार को देखा, सारी पृथ्वी घूम करके देखा कहीं ऐसा दरवाजा नहीं है। द्वार पर सिंहली हाथी बंधे हैं। ये ऐसे हैं मानों सजीव पहाड़ हों। इनमें से कोई सफेद है, कोई पीला, कोई लाल, कोई हरा, कोई काला। जैसे बादलों के अनेक रंग होते हैं वैसे ही ये बहुरंगी हैं। ऊंचे इतने कि मानों अपनी पीठ पर इन्होंने आकाश को सहारा दे रखा है। सिंहल के हाथी एक से एक बली हैं। ये पहाड़ों को पकड़ कर ढकेल देते हैं वृक्षों को उखाड़ कर झाड़-झाड़ कर उन्हें अपने मुख में डाल लेते हैं। मतवाले भी और वे भी जो मतवाले नहीं है बंधे हुए चिंघाड़ते रहते हैं। रात-दिन महावत उनके कन्धे पर बैठे रहते हैं। पृथ्वी उनके भार को सह नहीं सकती, पाँव रखते ही हिल उठती है। उनकी चाल से पृथ्वी के धारण करने वाले कच्छप भगवान् की पीठ टूटती है और शेषनाग के फण फूट पड़ते हैं।

अलंकार—जनु सजीव सब ठाढ़ पहार।
तिन्ह गगन पीठ जनु ठेंधा } वस्तूत्प्रेक्षा।

अन्तिम दोहे में—सम्बन्धातिशयोक्ति।

[ ४६ ]

पुनि बाँधे रजबार तुरंगा। का बरनौं जस उन्हके रंगा ॥
लील समुंद चाल जग जानै। हाँसुल भँवर किआह बखानै ॥
हरे कुरंग महुअ बहु भाँती। गुर्र कोकाह बलाह सो पाँती ॥
तीख तुखार चाँड़ औ बाँके। तरपहिं तबहि तायन बिनु हाँके ॥
मन तें अगुमन डोलहिं बागा। देत उसास गगन सिर लागा ॥
पावहिं साँस समुंद पर धावहिं। बूड़ न पावँ, पार होइ आवहिं ॥
थिर न रहहिं, रिस लोह चबाहीं। भाँजहि पूँछि सीस उपराहीं ॥
अस तुखार सब देखे, जनु मन के रथवाह।
नैन पलक पहुंचावहिं, जहँ पहुंचा कोउ चाह ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ--रजवार = राजबार। तुरंगा = घोड़े। समुंद = बादामी रंग का घोड़ा। हाँसुल = सारा शरीर मेंहदी के रंग का और पैर कुछ काले। भँवर = मुश्की। किश्राह = ताड़ के पके फल के रंग का। कुरंग = लाख के रंग का। महुश्र = महुए के रंग का। गुर्र = लाल और सफेद मिले रोएँ का। वलाह = गर्दन और पूँछ के बाल काले। तीख = तेज़। तुखार = तुखार देश के घोड़े। चाँड़ = चतुर। बाँके = फुर्तीले। तरपहिं तबहि तायन-पाठान्तर-सँवरहि पौरि ताज--तरपहि = भागते हैं। तायन = चाबुक। हाँके = मारे, चलाये। अगमनु = आगे।

अर्थ--फिर राजद्वार पर घोड़े बँधे हैं। उनके रंगों का क्या वर्णन करूं? नीले और बादामी रंग के घोड़ों की चाल संसार जानता है। कुछ घोड़े ऐसे हैं जिनके शरीर तो मेंहदी के रंग के और पैर काले रंग के हैं, कुछ मुश्की और कुछ ताड़ के पके फल के रँग के हैं। हरे रँग और महुए के रँग के भी घोड़े हैं। लाल और सफेद रोएं वाले, सफेद तथा चितकबरे घोड़े भी हैं। ये घोड़े बड़े ही तेज़, चतुर और फुर्तीले हैं। बिना चाबुक लगाये या हांके ही बहुत तेज़ी से चलते हैं। मन से भी आगे उनकी बाग रहती है, इशारा पाते ही आकाश से बातें करने लगते हैं। साँस पाते ही समुद्र पर दौड़ जाते हैं, उनके पैर डूबते नहीं पार पहुँच जाते हैं। रोकने पर स्थिर नहीं रहते, क्रोध से लगाम चबाते रहते हैं। भागते हैं तो पूंछ को ऊपर उठा कर भागते हैं। ये तुखारी घोड़े ऐसे तेज़ हैं मानों मन के घोड़े हों। आँख से पलक मारते ही जहाँ भी कोई पहुँचना चाहे पहुंचा देते हैं।

अलंकार— अतिशयोक्ति।

[ ४७ ]

राज सभा पुनि दीख बईठी। इंद्रसभा जनु परि गइ डीठी॥
धनि राजा असि सभा सँवारी। जानहु फूलि रही फुलवारी॥
मुकुट बंध सब बैठे राजा। दर निसान नित जेन्ह के बाजा॥
रूपवंत, मनि दिपै लिलाटा। माँथें छात, बैठ सब पाटा॥
मानहु कँवल सरोवर फूलै। सभा क रूप देखि मन भूलै॥

पान कपूर मेद कस्तूरी । सुगँध बास भरि रही अपूरी ॥
माँझ ऊँच इंद्रासन साजा । गंध्रपसेनि बैठ जहँ राजा ॥
छत्र गगन लहि ताकर, सूर तवै जसु आपु ।
सभा कँवल जिमि बिगसै, माँथे बड़ परतापु ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ—बईठी = बैठी । परिगई = पड़ गई । दीठी = दृष्टि । दर = दरवाजा । निसान = डंका । जेन्हके = जिनके । छात = छत्र । पाटा = सिंहासन । मेद = एक प्रकार की सुगन्धित जड़ । लहि = तक । ताकर = उसका । तवै = तपै ।

अर्थ—फिर राजसभा जो बैठी दिखाई पड़ती है ऐसी जान पड़ती है जैसे इन्द्र-सभा हो । वह राजा धन्य है जिसने ऐसी सभा सँवारी है मानो फुलवाड़ी फूल रही हो । सब राजा लोग मुकुट बांधे बैठे हैं, उनके दरवाजे पर नित्य डंके बजा करते हैं । बड़े रूपवान् हैं, उनके मस्तक चमकते रहते हैं । मस्तक पर छत्र हैं और सिंहासनों पर बैठते हैं । ऐसा प्रतीत होता है मानो सरोवर में कमल खिले हों । सभा का रूप देखकर मन भूल जाता है । पान, कपूर, मेद और कस्तूरी आदि की सुगन्धि मुख में भरी होती है । इन सब राजाओं के बीच इन्द्रासन पर राजा गंधर्वसेन बैठे हुए सुशोभित हैं । उनका छत्र आकाश तक छाया रहता है । इस प्रकार वे तेजमय हैं जैसे सूर्य । उनकी सभा कमल के सदृश विकसित है और उनके मस्तक पर प्रताप चमकता है ।

अलंकार—उत्प्रेक्षा और उपमा ।

[ ४८ ]

साजा राजमँदिर कबिलासू । सोने कर सब पुहुमि अकासू ॥
सात खंड धौराहर साजा । उहै सँवारि सकै अस राजा ॥
हीरा ईंट कपूर गिलावा । औ नग लाइ सरग लै लावा ॥
जाँवत सबै उरेह उरेहे । भाँति भाँति नग लाग उबेहे ॥
भा कटाव सब अनबन भाँती । चित्र होत गा पाँतिहि पाँती ॥
लागे खँभ मनि मानिक जरे । जनहु दिया दिन आछत बरे ॥
देखि धौरहर कर उँजियारा । छपि गे चाँद सूर औ तारा ॥

सुने सात बैकुंठ जस, तस साजे खँड सात।
बेहर बेहर भाउ तेन्ह खँड खँड ऊपर जात ॥ ४८ ।

शब्दार्थ—धौराहर = धरहरा (धुर + ऊपर + घर) मीनार (खम्भे की तरह की वह ऊंची इमारत जिस पर चढ़ने के लिए अन्दर से सीढ़ियाँ बनी होती हैं जैसे काशी का माधवराव का धरहरा)। गिलावा = गारा। नग = हीरे आदि नग जो गहनों में जड़े होते हैं। जाँवत = जितने। उरेहे = चित्र। उबेहे = चुने हुए। कटाव = काँट-छाँट की कारीगरी। अनबन=अनेक। गा = गया। जरे = जड़े। जनहु = मानो। दिया = दीपक। आछत = होते हुए। बरे = जले। बेहर-बेहर = अलग-अलग।

अर्थ—राजा ने राज-मन्दिर तो स्वर्ग के समान ही सजा रखा है, उसमें सारी जमीन और आकाश (नीचे-ऊंचे) सोने के ही बने हैं। महल के ऊंची मीनार के सात खंड हैं, वही ऐसा राजा है जो ऐसा ऊंचा धरहरा बना सकता है। महल में हीरे की ईंटें और कपूर का गारा लगा है, उसमें अनेक हीरे आदि के जो नग जड़े हैं उनसे प्रतीत होता है कि स्वर्ग (आकाश) ही पृथ्वी पर लाया गया है। जितने प्रकार के चित्र हो सकते हैं सभी दीवारों पर बनाये गये हैं, चुन-चुन कर भांति-भांति के नग उसमें लगे हैं। अनेक प्रकार के कटाव के कार्य बने हैं और पंक्ति-पंक्ति में चित्र बनते गये हैं। ऐसे खंभे हैं जिनमें मणि और माणिक्य जड़े हैं। उनकी चमक ऐसी है मानो दिन के होते हुए भी दीपक जल रहे हैं। धरहरे के ऊंचे उजाले को देखकर चाँद, सूरज और तारे छिप गये। धरहरे के सात खंडों को राजा ने इस प्रकार सजाया है जैसे सात वैकुण्ठ हों। जैसे-जैसे ऊपर के खंड होते जाते हैं भिन्न-भिन्न ढंग के उनके भाव सजावट में होते गये हैं।

अलंकार—उत्प्रेक्षा और उपमा।

[ ४९ ]

बरनौं राज मंदिर रनिवासू। अछरिन्ह भरा जानु कबिलासू ॥
सोरह सहस पदुमिनीं रानीं। एक एक तें रूप बखानीं ॥
अति सुरूप औ अति सुकुवारा। पान फूल के रहहिं अधारा ॥
तिन्ह ऊपर चंपावति रानी। महा सुरूप पाट परधानी ॥

पाट बैसि रह किए सिंगारू । सब रानी ओहि करहिं जोहारू ॥
निति नव रंग सुरंगम सोई। प्रथमै बैस न सरवरि कोई ॥
सकल दीप महँ चुनि चुनि आनी। तेन्ह महँ दीपक बारह बानी ॥
कुआँरि बतीसौं लक्खनी, अस सब माँह अनूप ।
जाँवत सिंघल दीपइ, सबै बखानइ रूप ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ – अछरिन्ह = अप्सराओं । पाट = सिंहासन । बैसि = बैठी रहती है । ओहि = उसकी । जोहारू = अभिवादन । प्रथमै = आरम्भिक (जवानी) । बैस = आयु । सरवरि = बराबरी । आनी = लाई हुई । बारह-बानी = द्वादश आदित्यों के वर्णवाली (चमक वाली) । लक्खनी = लक्षणों वाली ।

अर्थ—राजा के महल के रनिवास का वर्णन करता हूं । अप्सराओं से इस प्रकार भरा है मानों स्वर्ग हो । राजा की सोलह हजार पद्मिनी रानियाँ हैं । स्वरूप में वे एक से एक बढ़कर हैं । सभी अत्यन्त रूपवती और सुकुमारी हैं । फूल-पत्ती के आधार पर उनका जीवन है । तात्पर्य उनका भोजन अति सूक्ष्म है । इन रानियों में पटरानी चम्पावती रानी है । वह सबसे सुन्दरी और सब में प्रधान है । सिंहासन पर श्रृङ्गार किये बैठी रहती है; सभी रानियाँ उसका अभिवादन करती हैं । नित्य नये रंग के वस्त्रों को धारण करती है, नयी उम्र वाली है अन्य कोई उसकी समता नहीं कर सकती है । रानियाँ सभी द्वीपों से चुन-चुन का लाई गई हैं पर उन सबमें वह इस प्रकार चमकने वाली है जैसे दीपकों में द्वादश आदित्य । यह रानी बत्तीसों लक्षणों से युक्त है और सबमें अनुपम है, जितना सिंहलद्वीप है, सभी उसके रूप की प्रशंसा करते हैं ।

अलंकार—उत्प्रेक्षा और रूपक ।

———

# ३. जन्म-खण्ड

[ ५० ]

चंपावति जो रूप उतिमाहाँ। पदुमावति कि जोति मन छाहाँ॥
भै चाहै असि कथा सलोनी। मेटि न जाइ लिखी जसि होनी॥
सिंघल दीप भएउ तब नाऊँ। जौं अस दिया दीन्ह तेहि ठाऊँ॥
प्रथम सो जोति गगन निरमई। पुनि सो पिता माथें मनि भई॥
पुनि वह जोति मातु घट आई। तेहि ओदर आदर बहु पाई॥
जस औधान पूर होइ तासू। दिन दिन हिएँ होइ परगासू॥
जस अंचल झीने महँ दिया। तस उजियार देखावै हिया॥
सोनै मँदिर सँवारै, औ चंदन सब लीप।
दिया जो मनि सिब लोक महँ, उपना सिंघलदीप॥ ५०॥

शब्दार्थ—उतिमाहां = उत्तम। भै = होना। असि = ऐसी। दिया = दीपक। ठाऊँ = जगह। घट = हृदय। ओदर = गर्भ। औधान = अवधि, समय। तासू = उसका। उपना = उत्पन्न हुआ।

अर्थ—जायसी जी पद्मावती के जन्म का वर्णन करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार ईसा, बुद्ध और रामावतार में जन्म से पूर्व ही ब्रह्म की ज्योति माताओं में प्रकाशित हो उठी थी, उसी प्रकार पद्मावती के जन्म में भी उनकी माता में प्रकाश आया।

राजा गन्धर्वसेन की पत्नी चम्पावती का जो उत्तम स्वरूप था उस पर पद्मावती की ज्योति की छाया मन में पड़ी। जायसी कहते हैं कि पद्मावती के जन्म के द्वारा ऐसी सुन्दर कथा संसार में होने वाली है जो कभी मिट नहीं सकती। पद्मावती के गर्भ में आते ही सिंहलद्वीप का नाम हो गया, हो भी क्यों नहीं, जबकि पद्मावती ऐसा दीपक उस जगह पर विधाता ने दिया। वह ज्योति पहले आकाश में बनी, फिर वह राजा गंधर्वसेन के मस्तक में मणि रूप में हुई। फिर वह ज्योति माता चम्पावती के गर्भ में आई, गर्भ में आकर उसे

बड़ा सम्मान प्राप्त हुआ। जैसे-जैसे गर्भ की अवधि पूरी होने लगी चम्पावती के हृदय में प्रकाश बढ़ने लगा। उसका पवित्र हृदय इस प्रकार झलकने लगा जैसे पतले अंचल के नीचे दीपक झलके। सोने के महलों के संवारने का कार्य होने लगा, सारे घर चन्दन से लीपे जाने लगे। बात यह है कि जो शिवलोक का दीपक है वही सिंहलद्वीप में उत्पन्न होने जा रही है।

नोट—ईसामसीह और मुहम्मद साहब की उत्पत्ति के समय माताओं में जिस ज्योति का प्रकाश बताया गया है वही जायसी ने चम्पावती में दिखाने का प्रयत्न किया है।

अलंकार—उपमा–जस अंचल ...... हिया।

[ ५१ ]

भए दस मास पूरि भै घरी। पदुमावति कन्या औतरी ॥
जानहुँ सूरुज किरिन हुति काढ़ी। सूरुज करा घाटि वह बाढ़ी ॥
भा निसि माँह दिन क परगासू। सब उजिआर भएउ कबिलासू ॥
अतें रूप मूरति परगटी। पुनिउँ ससि सो खीन होइ घटी ॥
घटतहि घटत अमावस भई। दुइ दिन लाज गाड़ि भुइँ गई ॥
पुनि जौं उठी दुइजि होइ नई। निहकलंक ससि बिधि निरमई ॥
पदुम गंध बेधा जग बासा। भँवर पतंग भए चहुँ पासा ॥
अतें रूप भइ कन्या, जेहि सरि पूज न कोइ।
धनि सो देस रुपवंता, जहाँ जनम अस होइ ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ—हुति = थी। काढ़ी = निकाली। करा = किरणें। घाटि = घट कर। दिनक = दिन का। परगासू = प्रकाश। अतें = इतने। पुनिउँ = पूर्णिमा। खीन = क्षीण। पदुम = पद्म (कमल)। बेधा = वासित हो गया।

अर्थ—दस माह के बीतने पर घड़ी पूरी हुई और पद्मावती कन्या का अवतार हुआ। उसमें इतना तेज था मानों वह सूर्य की किरणों में से निकाली गयी थी। फिर भी सूर्य की किरणें उसकी अपेक्षा घटकर थीं और वह बढ़कर थी। रात्रि में ही दिन का प्रकाश हुआ, सारा स्वर्ग उससे प्रकाशित हो गया। इतने रूप वाली मूर्ति प्रकट हुई कि पूर्णिमा का चन्द्र भी क्षीण होकर घटने

लगा। क्रमशः घटते-घटते चन्द्रमा सर्वथा क्षीण हो गया और अमावस्या आ गयी। जबकि चन्द्र का लोप ही हो गया। मारे लज्जा के चन्द्रमा दो दिन (अमावस्या और प्रतिपदा) को पृथ्वी में गड़ गया, दिखाई न पड़ा। इस प्रायश्चित्त के बाद ब्रह्मा ने उसे दुबारा द्वितीया के चन्द्र के रूप में नया उत्पन्न किया। तब कहीं वह निष्कलंक होकर उत्पन्न हुआ।

पद्मावती के शरीर से कमल की सुगन्धि निकली जिससे सारा संसार सुवासित हो गया। उस सुगन्धि से चारों ओर भौंरे और पतंगे उड़ने लगे। वह कन्या इतने रूप वाली हुई कि उसकी बराबरी में कोई पूरा पड़ नहीं सकता। वह सुन्दर देश धन्य है जहाँ ऐसा जन्म हो।

अलङ्कार—हेतूत्प्रेक्षा।

[ ५२ ]

भइ छठि राति छठी सुख मानी। रहस कोड सों रैनि बिहानी॥
भा बिहान पंडित सब आए। काढ़ि पुरान जनम अरथाए॥
उत्तिम घरी जनम भा तासू। चाँद उवा भुइँ दिया अकासू॥
कन्या रासि उदौ जग किया। पदुमावती नाउँ जिसु दिया॥
सूर परस सों भएउ किरीरा। किरिन जामि उपना नग हीरा॥
तेहि तें अधिक पदारथ करा। रतन जोग उपना निरमरा॥
सिंघल दीप भएउ अवतारू। जंबू दीप जाइ जम बारू॥
रामा आइ अजोध्याँ उपने, लखन बतीसौ संग।
रावन राइ रूप सब भूलै, दीपक जैस पतंग॥ ५२॥

शब्दार्थ—रहस = रास। कोड = क्रीड़ा। बिहानी = सवेरा हुआ। अरथाये = व्याख्या की। उवा = उदय हुआ। उदौ = उदय। जिसु = जिसका। किरीरा = किरणें। जामि = जमकर, उगकर। उपना = उत्पन्न हुआ। करा = किया। निरमरा = निर्मल। जमबारू = यम द्वार। राइ = राजा। लखन = लक्षण।

अर्थ—छः रात्रियों के बीतने पर छठी का आनन्द मनाया गया, सखियों ने खुशी में रास और क्रीड़ायें कीं और इन्हीं आनन्दों में रात्रि व्यतीत हो गयी। प्रातः होने पर सभी पंडित लोग आये। पंचांगों से निकाल कर उन

लोगों ने जन्म के लग्न की व्याख्या की। उसका जन्म उत्तम घड़ी में हुआ था। पृथ्वी में चन्द्र उदय हुआ और आकाश में उसका प्रतिबिम्ब पड़ा। ज्योतिषियों ने जन्म में कन्या राशि को प्रकाशित किया। अर्थात् पद्मावती के जन्म में कन्या राशि पड़ी थी और उन लोगों ने उसका नाम पद्मावती दिया। सूर्य के स्पर्श से किरणें होती हैं, किरणों से नग और हीरे उत्पन्न होते हैं। इन सबसे अधिक प्रकाशित पदार्थ हुआ जो कि रत्न के योग्य (रत्नसेन के योग्य) निर्मल उत्पन्न हुआ। इसका अवतार तो सिहलद्वीप में हुआ पर इसकी मृत्यु जम्बूद्वीप में हुई। राम अयोध्या में बत्तीसौ लक्षणों के साथ उत्पन्न हुए थे। उसी प्रकार सभी लक्षणों से युक्त पद्मावती सिंहलद्वीप में उत्पन्न हुई। रावण आदि राजा उसके रूप पर इस प्रकार भूले जैसे दीपक पतंग पर भूल जाते हैं।

*टिप्पणी—अवधी-भाषाभाषी प्रान्त में पुत्रोत्पत्ति की छठीं की रात में स्त्रियाँ आनन्द मनाती हैं, उसमें रास और खेल करती हैं। अश्लीलतायुक्त खेलों को वहां कोड़ कहते हैं। राम और रावण का प्रयोग जायसी ने अपने ग्रन्थ में ऐसा किया है जिसे देखकर पता चलता है कि जायसी का ज्ञान रामायण के सम्बन्ध में केवल सुना-सुनाया था। उन पर शैवों का प्रभाव अधिक था, अतः शिव को तो उन्होंने श्रद्धा से लिया है। राम को केवल ईश्वर के रूप में उन्होंने यहां लिया है, क्योंकि पद्मावती में ईश्वरत्व की उद्भावना वे करते थे। रावण का बड़े राजा मात्र के अर्थ में उन्होंने प्रयोग किया हैं।*

अलङ्कार— रूपकातिशयोक्ति।

[ ५३ ]

अही जनम पत्री सो लिखी। दै असीस बहुरे जोतिषी॥
पाँच बरिस महँ भई सो बारी। दीन्ह पुरान पढ़ै बैसारी॥
भैं पदुमावति पंडित गुनी। चहुँ खंड के राजन्ह सुनी॥
सिंघल दीप राज घर बारी। महा सुरूप दैयँ औतारी॥
एक पदुमिनि औ पंडित पढ़ी। दहुँ केहि जोग दैयँ असि गढ़ी॥

जाकहँ लिखी लच्छि घर होनी। असि सो पाव पढ़ी औ लोनी ॥
सप्त दीप के बर जो ओनाहीं। उतर न पावहिं फिरि फिरि जाहीं ॥
राजा कहै गरब कै, हौं रे इंद्र सिवलोक।
को सरि मोसों पावै, कासों करौं बरोक ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ—अही = थी। बहुरे = लौटे, चले गये। महँ = में। बारी = बाला। बैसारी = बैठाया। दैअँ = देव। दहुं। (किधौं) = पता नहीं। गढ़ी = बनाया। लच्छि = लक्ष्मी। लोनी = लावण्यमयी, सुन्दरी। ओनाहीं = झुकते हैं, आते हैं। उतर = उत्तर। बरोक = (वर + रोक) वररक्षा, सगाई।

अर्थ—उसकी जो जन्मपत्री थी उसे बहुत से ज्योतिषियों ने लिख डाला—जन्मपत्री टेवे के आधार पर ज्योतिषियों ने उसके फल के साथ बड़ी कुंडली लिख दी—फिर वे लोग आशीर्वाद देकर अपने-अपने घर को चले गये। जब वह पाँच वर्ष की बाला हुई तो पुराण पढ़ने के लिये बिठादी गई। पढ़-लिखकर पद्मावती गुणी और पंडिता हो गयी। उसकी विद्वत्ता की खबर चारों खण्डों के राजाओं ने सुनी कि सिंहल द्वीप में राज घराने में एक बाला है जो बड़ी रूपवती है और दैव-अवतारी है। एक तो वह पद्मिनी नारी है और दूसरे वह पढ़ीलिखी पंडिता है। पता नहीं किसके योग्य ईश्वर ने उसको बनाया है। जिसके भाग्य में घर की लक्ष्मी लिखी होती है वही ऐसी पढ़ी-लिखी और सुन्दरी पाता है। सातों द्वीपों के वर उसे पाने के लिये झुकते हैं, पर वह ऐसे प्रश्न पूछती है कि वे उत्तर नहीं दे सकते और लौट जाते हैं।

राजा घमण्ड के साथ कहता है कि मैं शिवलोक का इन्द्र हूँ, मेरी समता को कौन पा सकता है, मैं किसके साथ इस लड़की की सगाई करूँ।

*टिप्पणी—पद्मिनी—स्त्रियां चार प्रकार की होती हैं—पद्मिनी, शंखिनी, चित्रिणी, हस्तिनी। पद्मिनी सर्वश्रेष्ठ नारी है उसके शरीर से स्वाभाविक रूप से कमल जैसी गंध निकलती है, रंग भी कमल जैसा होता है, स्वभाव में मृदु होती है।*

*जायसी के काल में स्त्री-शिक्षा का प्रचार न था, पर जायसी स्त्री-शिक्षा*

*में विश्वास करते थे, इसीलिए उन्होंने पढ़ी-लिखी नारी की महत्ता उक्त पद में बतायी है।*

*पद्मावती के प्रश्नोत्तर, राजकुमारों का निरुत्तर होना और राजा के गर्व तथा सगाई की चिंता में सीता-विवाह की व्यञ्जना छिपी है।*

अलंकार—रूपक और वितर्क।

[ ५४ ]

बारह बरिस माँह भइ रानी। राजैं सुना सँजोग सयानी ॥
सात खंड धौराहर तासू। पदुमिनि कहँ सो दीन्ह नेवासू ॥
औ दीन्हीं संग सखी सहेली। जा सँग करहिं रहस रस केली ॥
सबै नवल पिय संग न सोईं। कँवल पास जनु बिगसहिं कोईं ॥
सुआ एक पदुमावति ठाऊँ। महा पंडित हीरामनि नाऊँ ॥
दैयँ दीन्ह पंखिहि असि जोती। नैन रतन मुख मानिक मोती ॥
कंचन बरन सुआ अति लोना। मानहु मिला सोहागहि सोना ॥
रहहिं एक सँग दोऊ, पढ़हिं सास्तर बेद।
बरह्मा सीस डोलावहिं, सुनत लाग तस भेद ॥ ५४ ॥

**शब्दार्थ—संजोग (संयोग) = विवाह। धौराहर = धरहरा, ऊँचा महल जिसमें चक्करदार मीनारें बनी हों। नेवासू = निवास। रहस = रास। केली = केलि, खेल। कोईं = कुमुदिनी। दैयँ=ईश्वर। दीन्ह = दिया। जोती = ज्योति। सास्तर = शास्त्र। बरह्मा = ब्रह्मा। लाग = लगा। तस = उस प्रकार। भेद = व्याख्या।**

**अर्थ—पद्मावती बारह बर्ष में रानी (युवति) हो गई। राजा ने सुना कि वह विवाह के योग्य सयानी होगई तो उसने उसे सात खण्डों के ऊँचे धरहरे पर निवास दिया और यहाँ पर उसे रास और खेल आदि करने के लिए ऐसी सखियाँ और सहेलियाँ दीं जो विवाहिता न थीं (नयी थीं और पति के साथ कभी सोई न थीं), पद्मावती के साथ ये इस प्रकार लगती थीं जैसे कमल के पास कुमुदिनियाँ खिली हों। पद्मावती के पास एक तोता था जो महापंडित था और उसका नाम हीरामणि था। ईश्वर ने उस पक्षी को भी ऐसी ज्ञान की ज्योति दी थी। उसकी आँख में रत्न (ज्ञान दृष्टि) और मुख में माणिक्य और**

मोती (धर्मशास्त्र के तत्व) थे। तोता सोने के रंग का अत्यन्त ही सुन्दर था। उस तोते के ज्ञान और सुन्दर रूप का मेल इस प्रकार मिला था जैसे सोने और सोहागे का मिलता है।

पद्मावती और हीरामन दोनों साथ-साथ रहते और वेद शास्त्र पढ़ते थे। वे शास्त्र की इस प्रकार व्याख्या करते थे कि ब्रह्मा भी उसे सुनने लगता था और प्रशंसा के रूप में सिर हिलाता था।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

*टिप्पणी—विवाह योग्य लड़कियों को अवधी प्रान्त में लोगों से मिलने-जुलने नहीं देते, इसी की प्रतिच्छाया इस पद में जायसी प्रस्तुत करते हैं। सात दरजा ऊँचे धरहरे में पद्मावती के निवास देने में व्यंजना यही है कि वह किसी से न मिल सके, साथ में खेलने वाली भी ऐसी सखियाँ हैं जो विवाहिता नहीं हैं।*

*सोने में सोहागे का मिलना—अवधी मुहावरा है जिसका अर्थ है सोने में सुगन्धि। सोहागा वह वस्तु है जिसके द्वारा सुनार सोने को जोड़ता है। पर मुहावरे का तात्पर्य दो मूल्यवान् वस्तुओं का संयोग है।*

[ ५५ ]

भइ ओनंत पदुमावति बारी। धज धोरैं सब करी सँवारी॥
जग बेधा तेइ अंग सुबासा। भँवर आइ लुबुधे चहुँ पासा॥
बेनी नाग मलैगिरि पीठी। ससि माँथे होइ दुइजि बईठी॥
भौहैं धनुक साँधि सर फेरी। नैन कुरँगिनि भूलि जनु हेरी॥
नासिक कीर कँवल मुख सोहा। पदुमिनि रूप देखि जग मोहा॥
मानिक अधर दसन जनु हीरा। हिअ हुलसै कुच कनक जँभीरा॥
केहरि लंक गवन गज हरे। सुर नर देखि माथ भुइँ धरे॥
जग कोइ दिस्टि न आवै, आछहिं नैन अकास।
जोगी जती सन्यासी, तप साधहिं तेहि आस॥ ५५॥

शब्दार्थ—ओनंत = भार से झुकी हुई। बारी = बाला (कुमारी), बाग। धज = सजावट। धोरैं (धवल) = उज्ज्वलता। करी = बनाई हुई। बेधा = वासित हुआ। लुबुधे = मोहित हुए। बेनी = वेणी, चोटी। नाग = साँप।

पीठी = पीठ। धनुक = धनुष। साँधि = संधान करके। सर (शर) = बाण। हेरी = खोज रही हैं। कीर = तोता। दसन = दाँत। हिय = हृदय, छाती। हुलसै = उल्लसित हो। जंभीरा = नीबू। लंक = कमर। हरे = हर लिया। आछहिं = हैं।

अर्थ—बाला पद्मावती यौवन-भार से झुक गयी। वह चमक और सज-धज में सब प्रकार से बनाई और सँवारी हुई थी। सारे संसार में उसके अंग की सुवास भर गयी, सुगन्ध के कारण भौंरे (रूपी बाल) चारों ओर मोहित हो कर साथ लगे हैं। उसकी पीठ पर वेणी (चोटी) ऐसी लगती थी मानों मलयगिरि पर सर्प हो। चन्द्रमा मस्तक बन कर द्वितीया हो कर बैठा है। अर्थात् उसका मस्तक द्वितीया के चाँद के समान सुन्दर लग रहा है। भौंह रूपी धनुषों पर दृष्टि रूपी बाण संधान करके चला रही है। आँखें ऐसी हैं मानों भूली हुई हिरनी स्थान खोज रही हो (आँखों में चंचलता और भोला-पन है)। उसकी नासिका तोते के समान और मुख कमल के समान शोभित है। पद्मावती के रूप को देख कर सारा संसार मोहित है। उसके ओंठ माणिक्य के समान लाल और दाँत हीरे के समान श्वेत हैं, छाती पर सोने के नीबू के समान उरोज खिल रहे थे। उसकी कमर सिंह की कमर और उसकी चाल हाथी की चाल को हर लेती है। उसकी सुन्दरता को देख कर देवता और मनुष्य ज़मीन पर सिर रख देते हैं। संसार में कोई इसके समान दिखाई नहीं पड़ता, लोग आकाश की ओर आँख देकर रह जाते हैं। योगी, यति और संन्यासी उसके पाने की आशा से तप करते हैं।

*टिप्पणी—बारी शब्द श्लिष्ट है, इसमें वाटिका और कुमारी दोनों का अर्थ है। जायसी ने इस पद में पद्मावती का नख-शिख वर्णन किया है। साथ ही वाटिका के सुगन्ध, भौंरे, नाग, मलयगिरि, धनुष चलना, हिरण, तोता, कमल, माणिक्य, हीरा, नींबू, सिंह और हाथी आदि वस्तुओं का उल्लेख कर दिया है।*

*इस पद में जायसी ने पद्मावती का नख-शिख वर्णन किया है पर यह नखशिख वर्णन भारतीय पद्धति का न होकर फारसी पद्धति का है। भारतीय पद्धति में नीचे चरण से वर्णन आरम्भ होता है। जैसे—सूरदास का नख-शिख*

वर्णन—

अद्भुत एक अनुपम बाग।

युगल कमल पर गजवर क्रीड़त तापर सिंह करत अनुराग।
ता पर सरवर, वा पर गिरिवर, तेहि पर फूले कंज पराग।
रुचिर कपोत बैठे ता ऊपर, ता पर शुक पिक मृगमद काग॥

स्पष्ट है उक्त पद में पाँव (कमल), जंघाएं (गज), कमर (सिंह), त्रिबली (सर), छाती (गिरि), गला (कपोत), नासिका (शुक), बोली (पिक), कस्तूरी का टीका (मृगमद), बाल (काग) क्रमशः रखे हैं। पर जायसी जी क्रमशः सिर, मत्था, भौंरे, आँख, नाक, मुख, दाँत, कुच, कटि और चाल का कथन करते हैं।

अलंकार—श्लेष—(वारी), साङ्ग रूपक।

[ ५६ ]

राजै सुना दिस्टि भइ आना। बुधि जो देइ सँग सुआ सयाना॥
भएउ रजाएसु मारहु सुआ। सूर सुनाव चाँद जहँ उआ॥
सतुरु सुआ के नाऊ बारी। सुनि धाए जस धाव मँजारी॥
तब लगि रानी सुआ छपावा। जब लगि आइ मँजारिन्ह पावा॥
पिता क आएसु माँथे मोरे। कहहु जाइ बिनवै कर जोरे॥
पंखि न कोई होइ सुजानू। जानै भुगुति कि जान उड़ानू॥
सुआ जो पढ़ै पढ़ाए बैना। तेहि कत बुधि जेहि हिएँ न नैना॥
मानिक मोति देखावहु, हिएँ न ग्यान करेइ।
दारिवँ दाख जानि कै, अबहिं ठोर भरि लेइ॥ ५६॥

शब्दार्थ—आना = अन्य। रजाएसु = राजा की आज्ञा। सतुरु = शत्रु। बारी = पान का काम करने वाले नौकर। मंजारी = बिल्ली। भुगुति = भोजन। कि = या।

अर्थ-राजा ने सुना कि पद्मावती के साथ जो चतुर तोता रहता है वही उसे बुद्धि देता है। यह सुनकर उसकी दृष्टि और (विपरीत) हो गयी। राजा की आज्ञा हुई कि तोते को मार दो क्योंकि जहाँ चन्द्रमा का उदय है वहाँ यह सूर्य सुनाता है अर्थात् राजकुमारी को उलटी बात सुनाता है। तोते के शत्रु

नाई और बारी होते हैं, राजा की आज्ञा सुनकर इस प्रकार दौड़े जैसे बिल्ली दौड़ती है। ऐसा जानकर रानी पद्मावती ने इसके पहले कि ये बिल्ली रूपी नाई और बारी उस तोते को पावें, तोते को छिपा दिया और उन लोगों से कहा कि पिता जी की आज्ञा मेरे सिर माथे पर है, जाकर हाथ जोड़कर मेरी विनती कहो कि पत्नी कोई विद्वान् नहीं है, वह या तो अपना खाना जानता है या उड़ना। तोता तो पढ़ाने पर ही बात पढ़ता है, जिसको न हृदय है और न आँख, उसे बुद्धि कहाँ से मिल सकती है। उसे माणिक्य और मोती को यदि दिखाओ तो वह उसे जान नहीं सकता, दाख और अनार समझ कर तुरन्त ही मुँह में भर लेता है।

*टिप्पणी—इस पद से पूर्व पं० रामचन्द्र शुक्ल संपादित प्रति में एक और पद है। इसे डा० माताप्रसाद जी प्रक्षिप्त मानते हैं। कथा-शृङ्खला की दृष्टि से पद ठीक जँचता है, वह पद इस प्रकार है—*

*एक दिवस पद्मावति रानी। हीरामनि तइँ कहा सयानी॥*
*सुनु हीरामनि कहौं बुझाई। दिन दिन मदन सतावै आई॥*
*पिता हमार न चालै बाता। त्रासहि बोलि सकै नहिं माता॥*
*देस देस के बर मोहिं आवहिं। पिता हमार न आँख लगावहिं॥*
*जोबन मोर भयउ जस गंगा। देह देह हम्ह लाग अनंगा॥*
*हीरामन तब कहा बुझाई। विधि कर लिखा मेटि नहिं जाई॥*
*अज्ञा देउ देखौं फिरि देसा। तोहि जोग बर मिलै नरेसा॥*

*जौ लगि मैं फिरि आवौं, मन चित धरहु निवारि।*
*सुनत रहा कोइ दुरजन, राजहि कहा विचारि॥*

*डा० गुप्त का कथन है—"किसी भी प्राचीन प्रति—हस्त लिखित या मुद्रित में यह छंद नहीं मिला है। ग्रियर्सन की प्रतियों में भी यह केवल एक कैथी की प्रति में था, उसी के प्रमाण पर उन्होंने इसे मूल पाठ में ग्रहण किया है। शुक्ल जी ने केवल ग्रियर्सन के प्रमाण पर ही इसे स्वीकार किया, या कोई और प्रमाण उन्हें इसके पक्ष में प्राप्त हुए थे, यह अज्ञात है।"*

[ ५७ ]

वै तौ फिरे उतर अस पावा। बिनवा सुऐं हिएँ डरु खावा ॥
रानी तुम्ह जुग जुग सुख आऊ। हौं अब बनोवास कहँ जाऊँ ॥
मोंतिहि जौं मलीन होइ करा। पुनि सो पानि कहाँ निरमरा ॥
ठाकुर अंत चहै जौं मारा। तहँ सेवक कहँ कहाँ उबारा ॥
जेहि घर काल मँजारी नाचा। पंखी नाउँ जीउ नाहिं बाँचा ॥
मैं तुम्ह राज बहुत सुख देखा। जौं पूँछहु दै जाइ न लेखा ॥
जो इंछा मन कीन्ह सो जेंवा। भा पछिताउ चलेउँ बिनु सेवा ॥
मारै सोइ निसोगा, डरै न अपने दोस।
केला केलि करै का, जौं भा बैरि परोस ॥ ५७ ॥

शब्दार्थ—आऊ = आये। बनोवास = जंगल का वास। करा = चमक। पानि = आब। उबारा = रक्षा। तुम्ह राज = तुम्हारे आधिपत्य में। जेंवा = खाया। निसोगा = शोक रहित-पाठान्तर-न सुअटा। केलि = खेल। भा = हुआ। बैरि = बेर। परोस = पड़ौस।

अर्थ—पद्मावती के कथन पर नाई-बारी लौट गये। तब हृदय में डर कर सुआ बोला। हे रानी ! तुम्हें युग-युग सुख प्राप्त हो, मैं अब जंगल में रहने के लिए जाना चाहता हूँ क्योंकि यदि मोती की चमक मलिन हो जाय तो उसमें वह निर्मल आब कहाँ रह सकती है। यदि राजा अन्त में मुझे मारना ही चाहता है तो फिर सेवक की रक्षा कहाँ हो सकती है। जिस घर में काल रूपी बिल्ली नाच रही है वहाँ पक्षी का नाम और जीव कैसे बच सकता है। मैंने तुम्हारे आधिपत्य में बड़ा सुख प्राप्त किया। यदि पूछो तो मैं उसका हिसाब नहीं दे सकता। जो इच्छा हुई वही भोजन मैंने पाया, मुझे पछतावा यही है कि चलते हुए कुछ सेवा न कर सका। राजा मुझे मारेगा इसका मुझे शोक नहीं है, मैं अपनी बुराई के लिए नहीं डरता, पर प्रश्न यह है कि केला यदि बेर के पड़ौस में रहेगा तो क्या खेल कर सकता है। अर्थात् यदि राजा का भय बना रहेगा तो हम स्वतंत्र होकर आपके साथ पठन-पाठन का आनन्द नहीं प्राप्त कर सकते।

अलंकार—रूपक, उपमा।

[ ५८ ]

रानी उतर दीन्ह कै मया। जौं जिउ जाइ रहै किमि कया ॥
हीरामनि तूँ प्रान परेवा। धोख न लाग करत तोहिं सेवा ॥
तोहि सेवा बिछुरन नहि आखौं। पींजर हिए घालि तोहि राखौं ॥
हौं मानुस तूँ पंखि पिआरा। धरम पिरीति तहाँ को मारा ॥
का सो प्रीति तन माहँ बिदाई। सोइ प्रीति जिअ साथ जो जाई ॥
प्रीति भार लै हिएँ न सोचू। ओहिं पंथ भल होइ कि पोचू ॥
प्रीति पहार भार जौं काँधा। सो कस छूट लाइ जिअ बाँधा ॥
सुआ न रहै खुरुक जिअ, अबहिं काल सो आउ।
सतुरु अहै जो करिआ, कबहुं सो बोरै नाउ ॥ ५८ ॥

शब्दार्थ—मया = मोह, प्यार। कया = शरीर। परेवा = पक्षी। लाग= लगा। आखौं = कहूँ। घालि = डालकर। का = कैसी, क्या। पोचू = नीच। खुरुक = चिन्ता। करिआ = कर्णधार। बोरै = डुबो दे।

अर्थ—रानी ने बड़े मोह और प्यार से उत्तर दिया कि हे तोते, यदि जीव चला जायगा तो शरीर कैसे रहेगा। तू मेरा प्राण प्यारा पक्षी है, तुझ से मेरी सेवा करते हुए कोई गलती नहीं हुई। मैं तुझको सेवा से अलग होने को नहीं कह सकती। मैं तुझे अपने हृदय के पिंजरे में डाल कर रखूँगी। मैं मनुष्य हूँ और तू प्यारा पक्षी है। जहाँ धर्म की प्रीति है वहाँ कौन मार सकता है। वह प्रीति ही कैसी जो शरीर में ही बिदा हो जाय। ऐसी प्रीति तो जीव के साथ ही जायेगी। प्रेम के भार को लेकर फिर हृदय में नहीं सोचती कि वह रास्ता अच्छा है या बुरा। प्रीति के पहाड़सदृश भार को जो कंधा लगा देता है उसका बंधा हुआ दिल किस प्रकार छूट सकता है? फिर भी तोता रहना नहीं चाहता था क्योंकि उसके दिल में चिन्ता थी कि अभी वह काल आ सकता है, यदि कर्णधार ही शत्रु हो जाय तो कभी भी नाव को डुबो सकता है।

*टिप्पणी—इस पद में जायसी प्रेम पंथ की व्याख्या करने का अवसर पा गए हैं। जहां-जहां भी उन्हें इस प्रकार का अवसर मिलता है वे प्रेम-पंथ की प्रशंसा करते हैं। इस प्रसंग में सचमुच हृदयस्पर्शी भाव है।*

अलंकार—स्वभावोक्ति, रूपक और दृष्टान्त।

# ४. मानसरोदक-खंड

[ ५६ ]

एक देवस कौनिउँ तिथि आई। मानसरोदक चली अन्हाई॥
पदुमावति सब सखीं बोलाई। जनु फुलवारि सबै चली आई॥
कोइ चंपा कोइ कुंद सहेलीं। कोइ सुकेत करना रसबेलीं॥
कोइ सु गुलाल सुदरसन राती। कोइ बकौरि बकचुन बिहँसाती॥
कोई सु बोलसरि पुहुपावती। कोइ जाही जूही सेवती॥
कोइ सोनजरद जेउँ केसरि। कोइ सिंगारहार नागेसरि॥
कोइ कूजा सदबरग चँबेली। कोई कदम सुरस रस बेली॥
चलीं सबै मालति सँग, फूले कँवल कमोद।
बेधि रहे गन गंध्रप, बास परिमलामोद॥ ५६॥

शब्दार्थ— कौनिउँ = कोई-पाठान्तर-पून्यो = पूर्णमासी। मानसरोदक = ( मानसर + उदक ) मानसर के जल-पाठान्तर-मानसरोवर। अन्हाई = स्नान। सुकेत-पाठान्तर-केतकि = केतकी। करना, रसबेलि, सुदरसन, गुलाल आदि भिन्न-भिन्न फूल हैं। राती = लाल। बकौरि = गुलबकावली। बकचुन = एक फूल। बौलसिरी = मौलिश्री। कूजा = सफेद जंगली गुलाब। जेउं = जैसे। परिमलामोद = आनन्द देने वाली सुगन्ध।

अर्थ—एक दिन कोई शुभ दिवस आया। पद्मावती नहाने चली। उसने अपनी सभी सखियों को बुलाया। सखियाँ इस प्रकार लगती थीं मानों फुलवाड़ी हों। उसमें से कोई चम्पा, कोई कुन्द, कोई केतकी, कोई करना, कोई रसबेलि, कोई गुलाल, कोई लाल सुदर्शन, कोई बकावली, कोई बकचुन के समान प्रसन्न है। अन्य सखियों में से मौलिश्री, पुष्पावती, जाही, जूही, सेवती, सोनजरद, हरसिंगार, सफेद जंगली गुलाब, सदबरग, चमेली, कदम्ब और रसबेलि की भांति हैं। और भी मालती, कमल और कुमुदुनी के सदृश सभी सखियाँ साथ-साथ चलीं, उनकी आनन्ददायक सुगन्ध से गन्धर्व गण भी सुवासित हो गये।

अलंकार—उपमा।

[ ६० ]

खेलत मानसरोवर गईं। जाइ पालि पर ठाढ़ी भईं ॥
देखि सरोवर रहसहिं केली। पदुमावति सौं कहहिं सहेली ॥
ऐ रानी मन देखु बिचारी। एहि नैहर रहना दिन चारी ॥
जौ लहि अहै पिता कर राजू। खेलि लेहु जौं खेलहु आजू ॥
पुनि सासुर हम गौनब काली। कित हम कित एह सरवर पाली ॥
कित आवन पुनि अपने हाथाँ। कित मिलिकै खेलब एक साथाँ ॥
सासु नँनद बोलिन्ह जिउ लेहीं। दारुन ससुर न आवै देहीं ॥
पिउ पिआर सब ऊपर सो, पुनि करै दहुँ काह।
कहुँ सुख राखै की दुख दहुं, कस जरम निबाहु ॥ ६० ॥

शब्दार्थ—पालि = बाँध, भीटा। ठाढ़ी = खड़ी। रहसहि = रास करती हैं। केली = खेल। एहि = इस। नैहर = पीहर गौनब = जायेंगी। काली = कल। कित = कहाँ। दारुन = दारुण, कठोर। पिउ = पति। दहूँ = पता नहीं। काह = क्या। जरम = जीवन। निबाहु = निर्वाह हो।

अर्थ—खेलते-खेलते सभी मानसरोवर पहुँचीं और ताल के चारों ओर वाले भीटे (बाँध) पर खड़ी हुईं। तालाब को देख कर रास और खेल करने लगीं। उस समय सखियाँ पद्मावती से कहने लगीं कि हे रानी! इस बात को विचार करके देख लो कि इस पीहर में थोड़े दिन ही रहना है। जब तक पिता के आधिपत्य में हम हैं तब तक जो कुछ खेलना है खेल लो। फिर कल (शीघ्र) ही हम लोग पति घर चली जायेंगी। तब कहाँ हम रहेंगे और कहाँ यह तालाब और उसका बांध होगा। तब यहां आना हमारे वश में कहां हो सकता है, फिर हम मिल कर एक साथ कहां खेल सकती हैं। वहां सास और ननद कटु वचन बोल कर जान लेंगी और कठोर ससुर हमें अपने घर न लौटने देगा। फिर सबसे बढ़ कर तो प्यारे पति का भय है, पता नहीं वह क्या करेगा। सुख से रखेगा या दुःख से, कुछ पता नहीं कि जीवनभर निर्वाह कैसे हो।

*टिप्पणी—इस छन्द में जायसी आध्यात्मिक अर्थ की ओर संकेत करते हैं। नैहर से उनका तात्पर्य इस संसार से है। जीव को इस संसार में चार*

*दिन ही रहना फिर परलोक को गमन करना है। यहां संसार रूपी मानसरोवर के पास जीव को अनेक प्रकार के आमोद और प्रमोद के साधन हैं, पर अन्त में उस पार अवश्य जाना है जहां प्रियतम परमेश्वर है। उस लोक का पता नहीं कैसी बीतेगी। सास ननद के कटुवचन से तात्पर्य यह है कि वहां कर्मों की गणना होगी और जीवन के गुणों-अवगुणों की ही आलोचना होगी। मुसलमानों के मत से पुनर्जन्म नहीं होता। इसी से जायसी लिखते हैं कि "दारुण ससुर न आवै देही।" अन्तिम दोहे में अपने प्रेम पन्थ की झलक भी उन्होंने एक ही शब्द "पिउ पिआर" में दे दी हैं। सूफी-प्रेम में सुख और आनन्द की उतनी कल्पना नहीं है जितनी पीड़ा की, इसलिए वे कहते हैं कि सबसे अधिक तो प्रियतम का प्यार है जिसकी उलझनें और आशंकायें अनुमानित नहीं हो सकतीं। कबीर ने भी इस लोक को नैहर और परलोक को ससुराल कहा है।*

अलंकार—समासोक्ति।

१९५४ [ ६१ ]

सरवर तीर पदुमिनीं आई। खोंपा छोरि केस मोकराई॥
ससि मुख अंग मलैगिरि रानी। नागन्ह झाँपि लीन्ह अरधानी॥
ओनए मेघ परी जग छाहाँ। ससि की सरन लीन्ह जनु राहाँ॥
छपि गै दिनहि भानु कै दसा। लै निसि नखत चाँद परगसा॥
भूलि चकोर दिस्टि तहँ लावा। मेघ घटा महँ चाँद देखावा॥
दसन दामिनी कोकिल भाषीं। भौंहैं धनुक गगन लै राखीं॥
नैन खँजन दुइ केलि करेहीं। कुच नारँग मधुकर रस लेहीं॥

सरवर रूप बिमोहा, हिएँ हिलोर करेइ।
पाय छुअइ मकु पावौं, तेहि मिसु लहरैं देइ॥ ६१॥

शब्दार्थ—खोंपा = जूड़ा। छोरि = खोल कर। मोकराई = खोल दिया। मलयगिरि = मलयपर्वत। झांपि = छिपा लिया। ओनए = छा गये। दिनहिं-पाठान्तर-दीन = दुखी। दिस्टि = दृष्टि। दसन = दाँत। मकु = कदाचित्। मिसु = बहाने से।

अर्थ—तालाब के किनारे पद्मावती आयी और उसने अपने बालों के जूड़े को खोल कर बालों को खोल दिया। उसका मुख चन्द्रमा के सदृश है और अंग मलयगिरि के समान। कटि तक खुले हुए बाल इस प्रकार लग रहे हैं मानो सांपों ने आधे शरीर को ढक लिया है। अथवा ये बाल मुख पर ऐसे हैं मानो बादल घिर आये। सारे संसार में छाया हो गयी अथवा मुख में नीचे गर्दन आदि पर बाल ऐसे लग रहे हैं मानों राहु ने शशी की शरण ली है। पद्मावती के मुख की चमक देखकर दीन दशा को प्राप्त होकर सूर्य छिप गया और पद्मावती रूपी चन्द्र सखियों रूपी तारागणों को लेकर रात्रि में प्रकट हुआ है। चकोर पक्षी भूल कर पद्मावती के मुख को ही चन्द्रमा समझने लगा और उसने अपनी दृष्टि इसके मुख की ओर लगायी, क्योंकि काले बालों के भीतर उसका मुख ऐसा लगा जैसे बादलों की घटा के बीच चन्द्रमा हो। उसके दाँत बिजली और बोली कोकिल के समान थी। उसकी भौंहें ऐसी थीं मानो आकाश में इन्द्र धनुष हो। उसके चंचल नयन ऐसे हैं मानों दो खंजन पक्षी खेल कर रहे हैं। उसकी छाती पर उरोज नारंगी के समान हैं। जिन पर छहरे हुए बाल ऐसे लगते हैं मानो भंवरे इनका भी रस ले रहे हैं। पद्मावती रूपी चन्द्र पर मोहित हो कर तालाब अपने हृदय में हिलोरें लेने लगा कि कदाचित् उसके पैरों को छू पाऊं। वह लहरों के बहाने यही भाव प्रकट कर रहा है। यहां पर जायसी ने कृष्ण-कथा का आभास दिया है। जैसे जब वसुदेव जी कृष्ण को लेकर यमुना पार कर रहे थे तो यमुना की लहरें कृष्ण के चरण छूने को बढ़ीं। वैसे ही मानसरोवर की लहरें इस लिए उठ रही हैं कि वे पद्मावती के चरण-कमलों को छू पावें।

अलंकार—उपमा, रूपक, हेतूत्प्रेक्षा, सन्देह, भ्रम और कैतवापह्नुति।

*टिप्पणी—पं० रामचन्द्र शुक्ल जी की प्रति में इससे पहले एक पद और है। इस पद को भी डा० माताप्रसाद गुप्तजी प्रक्षिप्त मानते हैं क्योंकि प्रामाणिक हस्तलिखित प्रतियों में यह पद भी नहीं मिलता। अर्थ की दृष्टि से भी यह पद अनावश्यक है क्योंकि उसमें हिंडोले (झूले) का वर्णन है। स्नान के समय तालाब के बाँध पर हिंडोले झूलने की कल्पना ठीक नहीं प्रतीत*

*होती। फिर इनमें भी पीहर के सुखों को ही पुनरावृत्ति है। पद इस प्रकार है—*

*मिलहिं रहसि सब चढ़हिं हिंडोरी। झूलि लेहिं सुख बारी भोरी॥*
*झूलि लेहु नैहर जब ताईं। फिरि नहिं झूलनि देइहिं साईं॥*
*पुनि सासुर लेई राखिहि तहाँ। नैहर चाह न पाउब जहाँ॥*
*कित यह धूप, कहां यह छाहाँ। रहब सखी बिनु मन्दिर माहाँ॥*
*गुन पूछिहि और लाइहिं दोखू। कौन उतर पाउब तह मोखू॥*
*सासु ननद के भौंह सिकोरे। रहव सँकोचि दुवौ कर जोरे॥*
*कित यह रहसि जो आउन करना। ससुरेई अंत जनम दुख भरना॥*
*कित नैहर पूनि आउब, कितु ससुरे यह खेल॥*
*आपु आपु कहँ होइहि, परब पंखि जस डेल॥*

[ ६२ ]

धरीं तीर सब छीपक सारी। सरवर महँ पैठी सब बारी॥
पाएँ नीर जानु सब बेलीं। हुलसी करहिं काम कै केलीं॥
नवल बसंत सँवारहि करीं। होइ परगट चाहहिं रस भरीं॥
करिल केस बिसहर बिसभरे। लहरैं लेहि कँवल मुख धरे॥
उठे कोंप जनु दारिवँ दाखा। भई ओनंत प्रेम कै साखा॥
सरवर नहिं समाइ संसारा। चाँद नहाइ पैठ लिए तारा॥
धनि सो नीर ससि तरई उईं। अब कत दिस्टि कँवल औ कुईं॥
चकई बिछुरि पुकारै, कहाँ मिलहु हो नाँह।
एक चाँद निसि सरग पर, दिन दोसर जल माँह॥ ६२॥

शब्दार्थ—तीर = किनारे-पाठान्तर - उतारि। छीपक = छुपी हुई, पाठान्तर - कंचुकि = चोली। सारी = साड़ी। पैठी = प्रवेश किया। बारी = कुमारी। बेली = लतायें। हुलसी = उल्लसित हो कर। केली = केलि, क्रीड़ा। करीं = कलियाँ। करिल = काले। केस = केश। बिसहर = विषधर, सर्प। कोंप = कोंपल। दारिवँ = दाड़िम, अनार। ओनंत = झुकी हुई। नहाइ = स्नान करता है। धनि = धन्य है। उईं = उदय हुईं। कत = कहाँ। कुईं = कुमुदिनी। नाँह = नाथ (चकवा)। दोसर = दूसरा।

अर्थ—सभी सखियों ने तालाब के किनारे पर अपनी छुपी हुई साड़ियों को रख दिया और तालाब में घुस गयीं। तालाब के पानी में सब ऐसे प्रसन्न हुई जैसे लतायें पानी पाकर खिल उठें। सब काम की क्रीड़ायें जल में करने लगीं। युवतियाँ इस प्रकार शोभा पा रही हैं जैसे नया वसन्त कलियों को सँवार रहा है जो रस से भर कर प्रकट होना चाहती हैं। यहाँ पर जायसी नव-यौवना कुमारियों की काम-क्रीड़ा देख कर कल्पना करते हैं कि जवानी रूपी कली फूट पड़ने को आतुर है। उनके काले केश पानी पर लहरा रहे हैं मानो विष से भरे साँप पानी पर लहरा कर कमल रूपी मुखों पर झुके पड़ रहे हैं। युवतियों में प्रेम इस प्रकार फूटता दिखाई पड़ रहा है मानो दाड़िम और दाख में नयी कोंपलें निकल रही हैं और प्रेम की शाखा भार से झुक रही है। सारी सखियाँ तालाब में भर गयीं, ऐसा प्रतीत होने लगा कि तालाब संसार में नहीं समायेगा। उसमें चन्द्रमा तारागणों को लेकर स्नान कर रहा है। जायसी जी कहते हैं कि उस तालाब के जल को धन्य है जहाँ चन्द्रमा और तारागण उदय हुए हैं। अब यहाँ पर कमल और कुमुदिनी कहाँ दिखाई पड़ सकते हैं। तालाब में पद्मावती और सखियों को देखकर चकई को भ्रम हुआ कि ये चन्द्र और तारे हैं। वह अपने चकवा से बिछुड़ कर पुकारने लगी कि हे नाथ! तुम कहाँ हो? कैसी विपत्ति है? एक चन्द्रमा तो रात में आकाश पर निकलेगा और दूसरा चन्द्रमा दिन में ही तालाब के जल में दिखाई पड़ रहा है। तात्पर्य यह कि उसे अब दिन और रात दोनों में ही प्रिय-वियोग का दुःख उठाना पड़ेगा।

अलंकार—की दृष्टि से यह छन्द भी पूर्व छन्द की भांति ही मनोहर है। इसमें भी हैं—रूपक, उत्प्रेक्षा और भ्रान्तिमान् (भ्रम)।

[ ६३ ]

लागीं केलि करै मँझ नीरा। हंस लजाइ बैठ होइ तीरा॥
पदुमावति कौतुक करि राखी। तुम्ह ससि होहु तराइन साखी॥
बादि मेलि कै खेल पसारा। हारु देइ जौं खेलत हारा॥
सँवरिहि साँवरि, गोरिहि गोरी। आपनि आपनि लीन्हि सो जोरी॥
बूझि खेल खेलहु एक साथा। हारु न होइ पराए हाथा॥

आजुहि खेल, बहुरि कित होई। खेल गएँ कत खेलै कोई ॥
धनि सो खेल खेलहि रस पेमा। रौताई औ कूसल खेमा ॥
मुहमद बाजि परेम की, जेउँ भावै तेउँ खेलु।
तीलहि फूलहि संग जेउँ, होइ फुलाएल तेल ॥ ६४ ॥

शब्दार्थ—लागीं = लगीं। साखी = साक्षी, मध्यस्थ। बादि = बाज़ी। मेलि = लगा कर। हारु = हार। हारा = हार गया। रौताई = प्राप्ति। खेम = क्षेम, रक्षा। जेउँ = ज्यों। फुलाएल = इत्र से सुवासित, (गुलाब के फूल के साथ तिल रखा जाता है, इससे इसमें सुगन्धि आ जाती है और उससे तेल में गुलाब के इत्र की खुशबू आ जाती है)।

अर्थ—सखियाँ पानी में खेल करने लगीं। उनकी सुन्दरता देख कर हंस लजा कर पानी में से निकल कर किनारे पर जा बैठा। पद्मावती को खेल देखने का कुतूहल हुआ। सखियों ने कहा कि हे पद्मावती तुम हमारे खेल की निर्णायक बन जाओ। फिर उन्होंने बाजी लगा कर खेल आरम्भ किया। बाज़ी यह थी कि जो खेल में हार जाय वह अपने गले का हार दे। साँवली साँवली के साथ और गोरी सखी गोरी के साथ अपनी-अपनी जोड़ की सखी से खेलने लगी। जायसी जी यहाँ पर फिर समासोक्ति से अपनी बात कहने लगे कि समझ-बूझ कर एक साथ खेल खेलो, कहीं दूसरे के हाथ हार न हो जाय। आज का खेल फिर नहीं हो सकता। एक बार खेल खत्म हो जाने पर कोई कैसे खेलेगा। तात्पर्य यह कि इस मानव-जीवन का खेल बहुत सोच-समझ कर खेलना चाहिए। मनुष्य-जन्म दुबारा नहीं मिलता। वह खेल धन्य है जिसमें प्रेम-रस का प्रेम है, इसमें प्राप्ति का भी आनन्द है और क्षेम का भी। अवधी की कहावत है कि "रौताई और खेम" दोनों नहीं मिलते। अर्थात् एक तो अमूल्य वस्तु का पाना (रौताई) बड़ा कठिन है और यदि पा जाय तो कुशलता से उसकी रक्षा करना और भी कठिन है। दोनों एक ही व्यक्ति को नहीं मिलते। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी इस मुहावरे का प्रयोग इसी अर्थ में किया है।

तात्पर्य यह कि इस जीवन में यदि कोई ईश्वरीय प्रेम को प्राप्त कर जाता है तो उसे इस लोक और परलोक दोनों के आनन्द सुरक्षित हो जाते हैं।

मलिक मुहम्मद जायसी कहते हैं कि इस प्रेम के जल में जो चाहो सो खेल लो, इसमें तुम इस प्रकार बन जाओगे जैसे फूल के साथ तिल रखने से उसका तेल सुगन्धित हो जाता है। मनुष्य यदि जीवन में भगवत्-प्रेम का खेल खेले तो नीरस मानव-जीवन भी आनन्दयुक्त हो जाय।

अलंकार—समासोक्ति, रूपक।

[ ६४ ]

सखी एक तेइँ खेल न जाना। चित अचेत भइ हार गँवाना॥
कँवल डार गहि भै बेकरारा। कासों पुकारौं आपन हारा॥
कत खेलै आइउँ एहि साथाँ। हार गँवाइ चलिउँ सैं हाथाँ॥
घर पैठत पूँछब एहि हारू। कौनु उतर पाउबि पैसारू॥
नैन सीप आँसुन्ह तस भरे। जानहु मोति गिरहिं सब ढरे॥
सखिन्ह कहा भोरी कोकिला। कौनु पानि जेहि पौनु न मिला॥
हारु गँवाइ सो ऐसेहिं रोवा। हेरि हेराइ लेहु जौं खोवा॥
लागीं सब मिलि हेरैं, बूड़ि बूड़ि एक साथ।
कोई उठी मोंति लै, घोंघा काहू हाथ॥ ६४॥

शब्दार्थ—तेइँ = वह। गहि = पकड़कर। बेकरारा = घबराई हुई। पैसारू = रहने पाना। पैठत=घुसते ही। पूँछब = पूछेंगे। ढरे = ढलके। हेरि= खोजना। हेराई = खोजवाना। पानि = पानी, वर्षा। पौनु = पवन, आंधी।

अर्थ—उनमें से एक सखी खेल नहीं जानती थी। उसका हार खो गया। हार खोकर वह चित्त से अचेत हो गयी। कमल की नाल पकड़कर वह अधीर हो गई। और वह रोने लगी कि अब मैं किससे अपने हार को माँगूँ। मैं इन लोगों के साथ क्यों खेलने आयी। अपने हाथ का हार गँवा कर चली हूँ। ज्यों ही घर में घुसूंगी, घर वाले हार को पूछेंगे तो कौन-सा उत्तर देकर वहाँ रहने पाऊँगी। उसकी आँखों से आँसू गिरते हुए ऐसे लग रहे थे जैसे सीप में से मोती ढुलक रहे हों। सखियों ने उसे समझाते हुए कहा कि तू तो कोकिल के समान भोली है। (कोकिल वर्षा ऋतु की हरियाली देखकर पहले वसन्त समझकर बोलती है पर बाद में वर्षा की अधिकता देखकर चुप हो जाती है।) खेल में लगकर पहले तो प्रसन्न हो गई, पर सोचो तो कौन-सा पानी (वर्षा)

ऐसा है जिसके पीछे आँधी नहीं आती। पहले तो खेलने में भूल गयी, पर खेल का परिणाम कुछ दुःख तो होगा ही। तेरा हार खो गया, पर धीरज धरो, हार को खोकर कहीं इस प्रकार रोया जाता है? यदि तुमने खो दिया है तो चलो खोजो और खोजवाओ। ऐसा कहकर सखियां एक साथ डूब-डूबकर खोजने लगीं। कोई सागर के तल से मोती लेकर निकलती है और कोई घोंघा।

*टिप्पणी—मानसर से जायसी मानस (हृदय) की ओर संकेत करते हैं। मानस की यौगिक साधना कठिन है। जो साधना की रीति नहीं जानता, बीच में पछताता है पर साधना मार्ग में असफल होकर बैठ रहने से कार्य नहीं चलता, फिर-फिर प्रयत्न करना होता है। ईश्वरीय प्रेम की साधना का खेल साधारण खेल नहीं है, उसमें कठिनाइयां अवश्य होती हैं, पर फिर भी जो उसमें निरत रहते हैं उन्हें अपने-अपने कर्मों के अनुसार कुछ-न-कुछ अवश्य मिलता है, कोई मोती अर्थात् ज्ञान प्राप्त करता है और कोई घोंघा अर्थात् ज्ञान का विकृत रूप-हठयोगी बाह्य साधना मात्र ही लेकर रह जाता है।*

अलङ्कार—उपमा—नैनसीप आँसुन तस भरे। जानहु मोति गिरहिं सब ढरे। समासोक्ति।

1952

[ ६५ ]

कहा मानसर चहा सो पाई। पारस रूप इहाँ लगि आई॥
भा निरमर तेन्ह पायन्ह परसें। पावा रूप रूप कें दरसें॥
मलै समीर बास तन आई। भा सीतल गै तपनि बुझाई॥
न जनौं कौनु पौन लै आवा। पुन्नि दसा भै पाप गँवावा॥
ततखन हार बेगि उतिराना। पावा सखिन्ह चंद बिहँसाना॥
बिगसे कुमुद देखि ससि रेखा। भै तेहिं रूप जहाँ जो देखा॥
पाए रूप रूप जस चहे। ससि मुख सब दरपन होइ रहे॥
नैन जो देखे कँवल भए, निरमर नीर सरीर।
हँसत जो देखे हंस भए, दसन जोति नग हीर॥ ६५॥

शब्दार्थ—तेन्ह = उनके। गै = गई। तपनी = गर्मी। न जनौं = नहीं जानता। पौन = हवा। पुन्नि = पुण्य। भै = हुई। गँवावा = नष्ट किया।

ततखन = तत्क्षण, फौरन। वेगि = शीघ्र। उतिराना = ऊपर आया। दसन = दांत। जोति = ज्योति।

अर्थ—अन्त में पद्मावती ने भी हार खोजवाने के निमित्त सरोवर में प्रवेश किया, पद्मावती के चरण स्पर्श के लिए ही मानसरोवर ने हार चुरा लिया था। अतः मानसरोवर ने अपने आप कहा जो मैं चाहता था उसे अब पा गया। पारस रूप में पद्मावती यहाँ तक आ गयी। उसके चरणों के स्पर्श को पाकर मैं निर्मल हो गया। इसके रूप के दर्शन से मुझे सुन्दर रूप प्राप्त हो गया। इसके शरीर की सुगन्धि से हमारे में सुगन्धि आ गयी। अब मैं शीतल हो गया, हृदय की सारी तपन बुझ गयी। नहीं जानता कि कौन सी हवा इसे आज यहाँ ले आई। मेरी पुण्य की दशा आज उदय हुई है, मेरे सारे पाप नष्ट हो गये। तुरन्त ही हार ऊपर आ गया, सखियों ने हार को प्राप्त किया और पद्मावती (चंद) मुस्करा उठी। उसकी मुस्कान रूपी चन्द्रकिरण को पाकर तालाब के कुमुद खिल उठे। जहाँ भी उसने देखा वहीं उसी के सदृश सुन्दर रूप बन गया। जिसने जो रूप चाहा, प्राप्त किया। पद्मावती के चन्द्र-मुख का सारा तालाब दर्पण हो गया। तालाब के दर्पण में जहाँ-जहाँ उसके विभिन्न अंगों की झलक पड़ी, सुन्दर और चमकीली वस्तुओं का निर्माण हो गया—जहाँ उसके नेत्र पड़े वहाँ कमल खिल उठे। उसके शरीर की कान्ति की आभा से तालाब का पानी निर्मल झलकने लगा। हँस कर जहाँ उसने देखा वहाँ श्वेत हंसों की सृष्टि हो गयी और दाँतों की उज्ज्वल ज्योति जहाँ पड़ी वहाँ मोती और हीरे उत्पन्न हो गये।

*टिप्पणी—मानस (हृदय) में जब परमेश्वर की प्रेम ज्योति आ जाती है तो उसमें आमूल परिवर्तन हो जाता है, अंग-अंग में शीतलता, शान्ति और आनन्द छा जाता है। ज्ञान स्वतः प्रकाशित हो उठता है। तन, मन, आत्मा (हंस) सभी में उसी अखंड ज्योति की आभा झलकने लगती है। सारा मानस दर्पण की भान्ति उसी के रूप से प्रतिबिम्बित हो उठता है।*

*दोहे का तात्पर्य यह भी हो सकता है कि संसार में जो भी उज्ज्वल, कान्तिमय है सब में उसी परोक्ष ज्योति की झलक है। कमल, निर्मल नीर, हंस, मोती और हीरे आदि की समुज्ज्वलता में उसी की ज्योति का प्रतिबिम्ब है।*

अलंकार—समासोक्ति।

# ५. सुआ-खंड

[ ६६ ]

पदुमावति तहँ खेल धमारी। सुआ मँदिर महँ देखि मँजारी॥
कहेसि चलौं जौं लहि तन पाँखा। जिउ लै उड़ा ताकि बन ढाँखा॥
जाइ परा बनखँड जिउ लीन्हे। मिले पंखि, बहु आदर कीन्हे॥
आनि धरीं आगें बहु साखा। भुगुति न मिटै जौं लहिं बिधि राखा॥
पाई भुगुति सुक्ख मन भएऊ। अहा जो दुक्ख बिसरि सब गएऊ॥
ऐ गोसाइँ तू अैस बिधाता। जाँवत जीउ सब क भख दाता॥
पाहन महँ न पतंग बिसारा। जहँ तोहिं सँवर, दीन्ह तुइँ चारा॥
तब लगि सोग बिछोह कर, भोजन परा न पेट।
पुनि बिसरा भा सँवरना, जनु सपने भइ भेंट॥ ६६॥

शब्दार्थ—धमारी = उछलकूद, खेल-पाठान्तर दुलारी। मँजारी = बिल्ली। जौं लहि = जब तक। पाँखा = पंख। जिउ = जीव। ताकि = देखकर। ढाँखा = वृक्ष। भुगुति = भोजन। अहा = था। अैस = ऐसा। जाँवत = जितने। क = का। भख = भक्ष्य, भोजन। सँवर = स्मरण करना। तुइँ = तुमने। चारा = भोजन। सोका = शोक। पारा = पड़ा। बिसरा = भूल गया। सँवरना = स्मरण।

अर्थ—पद्मावती वहाँ (मानसरोवर पर) खेल और उछलकूद में व्यस्त थी। इधर महल में तोते ने बिल्ली को देखा। तोते ने अपने मन में कहा कि जब तक शरीर में पंख हैं चलूँ। वन के वृक्षों को देखता हुआ जान लेकर उड़ चला। अपनी जान लिये हुए वन में जा पहुँचा। बहुत से पक्षी मिले जिन्होंने उसका बड़ा आदर किया और उसके सामने बहुत सी फलों की डालियाँ ला के रख दीं। जायसी कहते हैं कि जब तक ईश्वर जीवित रखता है भोजन नहीं हट सकता। पर मनुष्य की ऐसी प्रकृति है कि ज्यों ही भोजन मिला मन को सुख होता है, जो कुछ दुःख था, उसे भूल जाता है। हे ईश्वर तू

ऐसा करने वाला है कि जितने जीव हैं सब को भोजन देता है। पत्थर के भीतर रहने वाले एक पतंगे को भी नहीं भूलता, जहाँ किसी ने तुझे स्मरण किया, तूने उसे वहीं भोजन दिया। पर दुःख तो यह है कि जब तक पेट में भोजन नहीं पड़ता तभी तक मनुष्य को तेरे विरह का दुःख रहता है अर्थात् दुःख में लोग तेरा स्मरण करते हैं, पर ज्यों ही भोजन प्राप्त हुआ फिर तो तुझे भुलाना ही उनका स्मरण होता है, ऐसे भूलते हैं मानो तुझ से स्वप्न मात्र ही में मिले थे।

*टिप्पणी—जायसी का मुख्य उद्देश्य कहानी के पीछे सूफी प्रेम तत्व का निरूपण करना था। उन्होंने सतर्कता रखी है कि आध्यात्मिक निरूपण से कहानी बोझिल न हो। प्रधानता उन्होंने कहानी की कथा को दी है फिर भी वे ऐसे स्थल निकाल लेते हैं जहां वे अपना संकेत प्रस्तुत कर दें। यह छन्द इसी प्रकार का है, इसमें उन्होंने ईश्वर का पोषक रूप बता दिया और मनुष्य के ईश्वर सम्बन्धी प्रेम की ओर संकेत करके सच्चे प्रेम की प्रेरणा की।*

अलंकार—विरोधाभास—पुनि बिसरा भा सुमिरना।

[ ६७ ]

पदुमावति पहँ आइ भँडारी। कहेसि मँदिर महँ परी मँजारी ।।
सुआ जो उतर देत हा पूँछा। उड़िगा, पिंजर न बोलै छूँछा ।।
रानी सुना सुक्ख सब गएऊ। जनु निसि परी, अस्त दिन भएऊ ।।
गहनै गही चाँद कै करा। आँसु गगन जनु नखतन्ह भरा ।।
टूटि पालि सरवर बहि लागे। कँवल बूड़, मधुकर उड़ि भागे ।।
एहिं विधि आँसु नखत होइ चुए। गगन छाँड़ि सरवर भरि उए ।।
चिहुर चुवहिं मोतिन्ह कै माला। अब हम फिरि बाँधा चह बाला ।।
उड़ि वह सुअटा कहँ बसा, खोजहु सखी सो बासु।
दहुँ है धरति कि सरग गा, पवन न पावै तासु ।। ६७ ।।

शब्दार्थ—भँडारी = भंडारी। कहेसि = कहा। पूँछा = प्रश्न करने पर। हा-पाठान्तर-हुत = था। गहनै = ग्रहण। गही = पकड़ लिया। कै = की। करा = कला। उए = उदय हुए। चिहुर = बाल। दहुँ = पता नहीं। गा = गया।

अर्थ—पद्मावती के पास उसका भंडारी आया और कहा महल में बिल्ली पड़ गई। जो तोता प्रश्न करने पर उत्तर देता था वह उड़ गया, पिंजड़ा बोलता नहीं क्योंकि तोते से छूछा (रहित) है। जब रानी ने सुना कि उसका तोता भाग गया उसका सारा सुख चला गया। वह इस प्रकार मलिन हो गई जैसे दिन डूब गया और रात हो गई हो। चन्द्र की कला पर ग्रहण लग गया, उसकी आंखों से इतने आंसू गिरे मानो आकाश के तारे हों। इतना आंसू बहा कि तालाब में बाढ़ आ गई, उसका भीटा (बाँध) टूट गया, पानी बह निकला, कँवल सब डूब गये और भौंरे भाग गये। उसकी आँखों से आँसू नक्षत्रों के रूप इस प्रकार गिरे मानो आकाश के तारे आकाश छोड़कर तालाब में उदय हो कर भर गये हैं। उसके बाल जो खेल के कारण खुल कर उसकी गर्दन और वक्षस्थल आदि पर बिखर रहे थे उसमें से उसके आंसू चूने लगे, मानो मोती की माला के मनके एक-एक करके गिर रहे हैं और कह रहे हैं कि अब हम फिर बाल में बंधना चाहते हैं। पद्मावती ने अपनी सखी से कहा कि वह तोता उड़ करके कहां बसा है, उस जगह को खोजो, वह पृथ्वी पर ही है या स्वर्ग चला गया, हवा भी तो उसे पा नहीं सकती।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

[ ६८ ]

चहूँ पास समुझावहिं सखी। कहाँ सो अब पाइअ, गा पँखी ॥
जौं लहि पिंजर अहा परेवा। अहा बाँदि, कीन्हेसि निति सेवा ॥
तेहिं बँदि हुतें जौं छूटै पावा। पुनि फिरि बाँदि होइ कित आवा ॥
ओइँ उड़ान फर तहिंअै खाए। जब भा पंखि पाँख तन पाए ॥
पिंजर जेहि क सौंपि तेहि गएऊ। जो जाकर सो ताकर भएऊ ॥
दस बाटैं जेहि पिंजर माहाँ। कैसें बाँच मँजारी पाहाँ ॥
एइँ धरति अस केतन लीले। तस पेट गाढ़ बहुरि नहिं ढीले ॥
जहाँ न राति न देवस है, जहाँ न पौन न पानि।
तेहि बन होइ सुअटा बसा, को रे मिलावै आनि ॥ ६८ ॥

शब्दार्थ—पाइअ = पावें। गा = गया। पंखी = पक्षी। जौं लहि = जब तक। अहा = रहा। बाँदि = बन्दी। कीन्हेसि = किया। निति = नित्य। कित=

क्यों । आवा = आयेगा । हुतें = से । तहिश्रौ = उसी दिन । नेहिक=जिसका । वाटैं = वाट-का बहुवचन = रास्ते । मौहा = में । वाँच = बचे । अस=ऐसे । केतन = कितने । लीले = निगल लिए । तस = ऐसा । गाढ़ = गहरा । बहुरि = फिर । ढीले = ढीला किया, छोड़ा । देवस = दिन । घानि = कोल्हू में तिल का पेलना, कालचक्र-पाठान्तर-पानि = पानी । आनि = लाकर ।

अर्थ—चारों ओर सखियाँ पद्मावती को समझाती हैं कि अब उसे कहाँ पा सकते जबकि पक्षी उड़ गया । जब तक यह पक्षी पिंजरे में था यह बन्दी था और उसने आपकी मित्य सेवा की । जब उस बन्धन से वह छूट गया तो वह क्यों फिर बन्दी होने आयेगा । उसने तो उड़ने के फल उसी दिन खा लिए जिस दिन उसने पक्षी का जन्म लिया और शरीर में पंख आये थे । जिसका पिंजरा था उसे सौंप करके चला गया, जो पिंजरा जिसका था उसी का हो गया । जिस पिंजरे में दस रास्ते हों भला उसमें वह बिल्ली से कैसे बच सकता है । बिल्ली ने इस पृथ्वी पर ऐसे कितनों को निगल लिया है, उसका पेट ऐसा गहरा है कि जो उसमें गया फिर निकल नहीं सकता । अब तो वह पक्षी ऐसी जगह चला गया जहाँ न रात्रि है और न दिन, न हवा है और न काल का चक्कर है । ऐसे वन में वह तोता बसा है, कौन उसे लाकर मिला सकता है ?

*टिप्पणी*—*आत्मा को दस द्वार के पिंजरे (शरीर) का तोता भारतीय साहित्य तथा लोक गीतों में प्रायः कहा गया है । जायसी ने भी यहाँ पर तोते के द्वारा जीव का ही निरूपण किया है । पिंजर मानव शरीर है उसके दस द्वार हैं—२ कान, २ आंख, २ नाक, मुंह, लिंग, गुदा और ब्रह्मरन्ध्र (शिर का ब्रह्माण्ड, कभी-कभी मृत्यु के समय मनुष्य का ब्रह्माण्ड टूट जाता है और प्राणवायु निकल जाती है) । मंजारी-काल (मृत्यु) है जिससे इस धरती पर कोई नहीं बचता । जीव के निकल जाने पर शरीर के पंच तत्व क्षिति, जल, अग्नि, आकाश, हवा जहाँ के तहां हो जाते हैं । जीव शरीर से निकल कर परलोक में चला जाता है जहां रात-दिन, पवन आदि नहीं हैं । जायसी की प्रवृत्ति है कि लौकिक कहानी में जहां कहीं भी उन्हें अवसर मिल जाय वे दार्शनिक और आध्यात्मिक तथ्य का आभास दे दें ।*

*नहीं तो तोता तो उनकी आध्यात्मिक कथा में गुरु का प्रतीक है, जीव के अर्थ में उसका प्रयोग केवल प्राप्त है अवसर का सदुपयोग मात्र है। सूफी मत में विरह की महत्ता अधिक है, जब कहीं भी इन्हें किसी प्रकार के विरह का अवसर मिला उनका भावुक हृदय प्रकट हो जाता है। 'को रे मिलावे आनि' में विरह की मर्मस्पर्शिता स्पष्ट है।*

अलंकार—समासोक्ति

[ ६६ ]

सुऐं तहाँ दिन दस कलि काटी। आइ बिआध ढुका लै टाटी॥
पैग पैग भुइँ चाँपत आवा। पंखिन्ह देखि सबन्हि डर खावा॥
देखहु कछु अचरिजु अनभला। तरिवर एक आवत है चला॥
एहि बन रहत गई हम आऊ। तरिवर चलत न देखा काऊ॥
आजु जो तरिवर चल भल नाहीं। आवहु एहि बन छांड़ि पराहीं॥
व तौ उड़े औरु बन ताका। पंडित सुआ भूलि मन थाका॥
साखा देखि राज जनु पावा। बैठ निचिंत चला वह आवा॥
पाँच बान कर खोंचा, लासा भरे सो पाँच।
पाँख भरे तनु अरुझा, कत मारे बिनु बाँच॥ ६६॥

शब्दार्थ—आइ = आकर। कलि = आराम से। बिआध = व्याध, बहेलिया। ढुका = छिपकर बैठा। टाटी = जाल। पैग = पग, पद। भुइँ = भूमि। चाँपत = दबाता। अनभल = अकल्याणकर। आऊ = आयु। काऊ = किसी। पराहीं = भागें। औरु = और, दूसरा। ताका = देखा। खोंचा = चिड़िया फंसाने का बाँस। बान = बाण, शाखायें। लासा = एक लसदार वस्तु जिसका प्रयोग बहेलिया करता है, लासा पक्षियों के पंखों में चिपट जाता है और वह जीता ही पकड़ा जाता है। तनु = शरीर। अरुझा = उलझा। कत = कैसे। बाँच = बचा।

अर्थ—तोते ने वहाँ दस दिन तक आराम से बिताया। तब एक बहेलिया जाल लेकर छिप कर आ बैठा। तब भूमि पर चुपके-चुपके पैर दबाये आया, पक्षियों ने उसे देखकर बड़ा भय अनुभव किया। प्रतीत होता है आते हुए बहेलिया अपने को छिपाने और पक्षियों को फँसाने के लिये पेड़

की डालियों और लताओं को अपने ऊपर रख कर चलता था, उसे देखकर पक्षियों ने आपस में कहा कि एक अकल्याणकर आश्चर्य की बात दिखाई पड़ती है, क्योंकि एक वृक्ष चलता हुआ दिखाई पड़ रहा है। हमें इस वन में रहते आयु बीत गयी पर हमने कभी वृक्ष को चलते हुए नहीं देखा था। अतः आज जो पेड़ चल रहा है तो वह कुछ भला नहीं हो सकता, चलो इस वन को छोड़ कर भाग चलें। इस पर वे सब पक्षी तो उड़ चले, उन्होंने दूसरे वन की राह ली, पर पंडित सुआ भूल करके हतबुद्धि हो गया। उसने शाखाओं को देखकर ऐसा समझा मानो उसे राज्य मिल गया हो, निश्चिन्त होकर आकर उन शाखाओं पर बैठ गया। इन शाखाओं में बहेलिया ने पाँच शाखाओं का बाँस रखा हुआ था। जिसमें पाँच लासे लगे थे। इस में पड़ते ही तोते के पंख फंस गये और शरीर उलझ गया। फिर भला यह मारे जाए बिना कैसे बच सकता है ?

*टिप्पणी—अन्तिम दोहे में आक० जायसी पुनः संसार की ओर संकेत कर ही देते हैं। "पांच बान कर खोंचा, लासा भरे सो पांच" निश्चय है पंचेन्द्रिय और उनके आकर्षक गुणशब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श की ओर संकेत करते हैं। उक्त छन्द में माया का रूप है, मिथ्या माया ज्ञानी मन को भी भ्रम में डाल देती है और जो उसमें फंसा वह बच नहीं सकता।*

[ ७० ]

बंदि भा सुआ करत सुख केली। चूरि पाँख धरि मेलेसि डेली ॥
तहवाँ बहुल पंखि खरभरहीं। आपु आपु कहँ रोदन करहीं ॥
बिख दाना कत दैय अँकूरा। जेहि भा मरन डहन धरि चूरा ॥
जौं न होति चारा कै आसा। कत चिरिहार ढुकत लै लासा ॥
एइँ बिख चारै सब बुधि ठगी। औ भा काल हाथ लै लगी ॥
एहि झूठी माया मन भूला। चूरे पाँख जस तन फूला ॥
यहु मन कठिन मरै नहिं मारा। जार न देखु, देखु पै चारा ॥

हम तौ बुद्धि गँवाई, बिख चारा अस खाइ।
तूँ सुअटा पंडित हता, तूँ कत फाँदा आइ ॥ ७० ॥

शब्दार्थ—करत = करते हुए। केली = खेल , चूरि = चूरकर। मेलेसि = डाल दिया। खरभरहीं = खलबलाते थे,फड़फड़ाते थे। रोदन = रोना। बिख = विष। दैय = दैव, ईश्वर। अंकूरा = अंकुरित किया,उगाया। डहन = डैना = पर। कै = का। आसा = आशा। चिरिहार = चिड़ीमार। ढुकना=छिपना। एइं = इसी। चारैं = चारा से। भा = हुआ। लगी = लग्गी, लम्बा बाँस। जार = जाल।

अर्थ—सुख और आनन्द से रहने वाला सुआ बन्धन में पड़ गया। व्याध ने उसके पंख चूर कर उसे अपने झाबे में डाल दिया। वहाँ बहुत से पक्षी फड़फड़ा रहे थे और अपने-अपने को रो रहे थे। वे कहते थे कि विषैले दाने को ईश्वर ने क्यों उगाया जिससे पक्षी मारे गए और उनके डैने चूर्ण हुए। यदि चारे (भोजन) की आशा न होती तो बहेलिया क्यों लासा लेकर छिपता ? इसी विषैले चारे (दाने) ने ही सबकी बुद्धि ठग ली और बहेलिया हाथ में बाँस लेकर काल बन गया। मन इस झूठी माया में भूल गया उनके पंख ऐसे ही चूर्ण हुए जैसे कि मन दाने (चारे) को देखकर प्रसन्न हुआ था। यह लोभी मन बड़ा कठिन है, मारने से मारा नहीं जा सकता, यह जाल नही देख पाता केवल दाने को देखता है। उन पक्षियों ने पंडित तोते से कहा कि हम लोगों ने विष रूपी दाने को खाकर अपनी-अपनी बुद्धि गँवा दी, पर तू तो पंडित तोता था। तू किस प्रकार इस जाल में फँस गया।

नोट—इस छन्द में भी पूर्व छन्द की ही विचारधारा चल रही है।

अलङ्कार—रूपक ( बिख-दाना ) तथा समासोक्ति।

[ ७१ ]

सुऐं कहा हमहूँ अस भूले। टूट हिंडोर गरब जेहिं भूले॥
केरा के बन लीन्ह बसेरा। परा साथ तहँ बैरी केरा॥
सुख कुरिआर फरहरी खाना। बिख भा जबहि बिआध तुलाना॥
काहेक भोग बिरिख अस फरा। अड़ा लाइ पंखिन्ह कहँ धरा॥
होइ निचिंत बैठे तेहि अड़ा। तब जाना खोंचा हिय गड़ा॥
सुखी चिंत जोरब धन करना। यह न चिंत आगे है मरना॥
भूले हमहु गरब तेहि माहाँ। सो बिसरा पावा जेहि पाहाँ॥

चरत न खुरुक कीन्ह तब, जब सो चरा सुख सोइ ।
अब जो फाँद परा गियँ, तब राएँ का होइ ॥७१॥

शब्दार्थ—हिंडोर = हिंडोला, झूला । केरा = केला । बैरी = बेर । कुरिश्रार = खोद-खोदकर, चोंच मार-मार कर । फरहरी = फलाहार । बिआध = बहेलिया । तुलाना = आ पहुँचा । काहेक = क्यों । बिरिख = वृक्ष । फरा = फला । अड़ा-पाठान्तर-आड़ = जाल । खोंचा = बाँस । गड़ा = गड़ गया । चिंत = चिन्ता । चरत = खाते हुए । खुरुक = चिन्ता । गियँ = ग्रीवा, गर्दन ।

अर्थ—तोते ने कहा हम इसी प्रकार भूल गये जैसे आप लोग भूले थे । पर वह गर्व का हिंडोला टूट गया जिसके गर्व में हम भूले हुए थे । हमने केले के वन में बसेरा किया पर वहाँ पर केले के साथ बेरी भी थी । केले और बेरी का साथ ठीक नहीं होता, बेरी के कांटे केले के मुलायम पत्तों को छेदते रहते हैं । तात्पर्य यह कि जहाँ हम अच्छा समझ कर गये, वहीं दुःख भी छिपा बैठा था । हमें फलों को कुतर-कुतर कर खाने में बड़ा सुख था, पर वह सब खाना विष हो गया जबकि बहेलिया वहाँ आ पहुँचा । वह सुख का वृक्ष इस प्रकार क्यों फला, वहाँ चिड़ीमार ने जाल लगा कर पक्षियों को पकड़ लिया । हम तो उस जाल पर भी निश्चिन्त ही बैठे थे पर उसे हम तभी समझ सके जब व्याध का बाँस आकर हमारी छाती में गड़ गया । जीव की प्रकृति यह है कि वह सुख की अवस्था में धन के जोड़ने में ही चिन्तित रहता है, वह यह चिन्ता नहीं करता कि उसे आगे मरना भी है । हम भी इसी गर्व में भूले हुए थे और जिससे हमने सब कुछ प्राप्त किया वह भूल गया । जब मैं खाने लगा और उसका सुख पाने लगा तब हमने आगे की चिन्ता नहीं की, तो अब जब गले में फंदा पड़ गया तो रोने से क्या हो सकता है ।

अलङ्कार—रूपक ।

[ ७२ ]

सुनि कै उतर आँसु सब पोंछे । कौनु पख बाँधा बुधि ओछे ॥
पंखिन्ह बुधि जौं होति उज्यारी । पढ़ा सुआ कत धरति मँजारी ॥

कत तीतर बन जीभ उघेला। सकति हँकारि फाँदि गियँ मेला॥
ता दिन ब्याध भएउ जिउ लेवा। उठे पाँख भा नाउँ परेवा॥
भै बिआधि तिस्ना सँग खाधू। सूझै भुगुति, न सूझ बिआधू॥
हमहिं लोभ ओइँ मेला चारा। हमहिं गरब वह चाहै मारा॥
हम निचिंत वह आउ छपाना। कौनु बिआधहि दोख अपाना॥
सौ औगुन कत कीजै, जिउ दीजै जेहि काज।
अब कहना कछु नाहीं, मस्ट भली पँखिराज॥ ७२॥

शब्दार्थ – उघेला = खोली। सकति = शक्ति। हँकारि = बुलाकर। फाँदि = फंदा। गियँ = ग्रीवा, गला। तिस्ना = तृष्णा। खाधू = खाद्य, भोजन। ओइ = उसी। मस्ट = मौन।

अर्थ—तोते के उत्तर को सुन कर सब आँसू पोंछने लगे और बोले कि वह कुबुद्धि है जिसने पंछियों को पकड़ा। यदि पक्षियों को उज्ज्वल बुद्धि होती तो क्या पढ़े-लिखे तोते को बिल्ली पकड़ सकती—अर्थात् इतना चतुर तोता भी बिल्ली के पकड़े जाने के डर से साधारण पक्षी की तरह डर कर क्यों भागता। तीतर पक्षी में भी बुद्धि नहीं होती, नहीं तो भला वह क्यों अपनी जीभ खोल कर शक्ति को बुलाता और अपनी गर्दन फंदे में डालता (तीतर यदि बोले नहीं तो चिड़ीमार उसका कैसे पता पावे और फँसावे)। इसलिए हम पक्षियों का तो चिड़ीमार उसी दिन जान लेने वाला हो गया जिस दिन हमें पंख मिले और हम पक्षी कहलाये। तात्पर्य यह कि पक्षी तो चिड़ीमार के लिए ही पैदा किये गये हैं। तृष्णा के साथ खाना ही हमारे लिये व्याधि है क्योंकि हमें चारा ही दिखाई पड़ता है। पास ही बैठा हुआ व्याध नहीं दिखाई पड़ता। हमें तो यह समझना चाहिए कि वह हमारा लोभ ही चारे में मिल गया और हमारे गर्व ने ही हमें मार दिया। जब तक लोभ और गर्व के कारण निश्चिन्त हो गये तभी तो व्याध आकर छिप गया, व्याध का उसमें क्या दोष है—सारा दोष तो अपना ही है। जिस काम के लिए हम जान देते हैं उसे बुरा क्यों कहें, इसलिए हे पक्षिराज! अब कुछ कहना नहीं है, मौन साधना ही अच्छा है।

———

# ६. रत्नसेन-जन्म-खण्ड

[ ७३ ]

चित्रसेन चितउर गढ़ राजा। कै गढ़ कोटि चित्र जेइ साजा ॥
तेहि कुल रतनसेनि उजिआरा। धनि जननी जनमा अस बारा ॥
पंडित गुनि सामुद्रिक देखहिं। देखि रूप औ लगन बिसेखहिं ॥
रतनसेनि एहि कुल औतरा। रतन जोति मनि माथें बरा ॥
पदिक पदारथ लिखी सो जोरी। चाँद सुरुज जसि होइ अँजोरी ॥
जस मालति कहँ भँवर बियोगी। तस ओहि लागि होइ यह जोगी ॥
सिंघल दीप जाइ ओहि पावा। सिद्ध होइ चितउर लै आवा ॥
भोग भोज जस मानै, बिक्रम साका कीन्ह।
परखि सो रतन पारखी, सबै लखन लिखि दीन्ह ॥७३॥

शब्दार्थ—अस = ऐसा। बारा = बालक। सामुद्रिक = लक्षण। बिसेखहिं = विचार करते हैं। पदिक = रत्न, पाठान्तर-पदुम = पदमावती। अँजोरी = उजेला। बिक्रम = विक्रमादित्य। साका = यश। लखन = लक्षण।

अर्थ—चित्रसेन चित्तौड़गढ़ के राजा थे। उन्होंने किला बनाकर उसमें अनेक प्रकार के चित्रों को बनवाया। उसके वंश में रत्नसेन का पुत्र रूप में उजेला हुआ। वह माँ धन्य है जिसका ऐसा पुत्र उत्पन्न हुआ। पंडित लोग सोच-विचार कर उसके लक्षण देखने लगे, रूप और लगन देख करके विचार करने लगे। उन लोगों ने कहा कि इस कुल में रत्नसेन ने अवतार लिया, उसके मस्तक में रत्न ज्योति और मणि चमकती है। इसको जोड़ी इसी के सदृश रत्न और पदार्थ लिखी हुई है। इन दोनों का संयोग ऐसा होगा जैसे चाँद और सूर्य का। जिस प्रकार मालती के लिए भौंरा वियोगी होकर उड़ता है, उसी प्रकार उसके लिए यह जोगी होगा। सिंहलद्वीप जाकर उसको यह प्राप्त करेगा, फिर वहाँ से सिद्ध होकर उसे चित्तौड़ ले आयेगा। राजा भोज की भांति भोग करेगा और राजा विक्रमादित्य की भांति इसका यश फैलेगा। पारखी पंडितों ने इस रत्न को परख कर सभी लक्षणों को लिख दिया।

# ७. बनिजारा-खण्ड

[ ७४ ]

चितउर गढ़ क एक बनिजारा। सिंघल दीप चला बैपारा॥
बाँभन एक हुत नष्ट भिखारी। सो पुनि चला चलत बैपारी॥
रिनि काहू कर लीन्हेसि काढ़ी। मकु तहँ गएँ होइ किछु बाढ़ी॥
मारग कठिन बहुत दुख भए। नाँघि समुद्र दीप ओहि गए॥
देखि हाट किछु सूझ न ओरा। सबै बहुत, किछु दीख न थोरा॥
पै सुठि ऊँच बनिज तहँ केरा। धनी पाउ, निधनी मुख हेरा॥
लाख करोरन्हि बस्तु बिकाई। सहसन्हि केर न कोई ओनाई॥
सबहीं लीन्ह बेसाहना, औ घर कीन्ह बहोर।
बाँभन तहाँ लेइ का, गाँठि साँठि सुठि थोर॥ ७४॥

शब्दार्थ—क = का। बनिजारा = वणिक्। बैपारा = व्यापार। बाँभन = ब्राह्मण। हुत = था। पुनि = पुनः, फिर। रिनि = ऋण। काहू = किसी। कर = हाथ। लीन्हेसि = लिया। काढ़ी = उधार। मकु = शायद, चाहे। किछु = कुछ। बाढ़ी = बढ़ती, वृद्धि। भए = हुए। नांघि = लाँघ कर। ओहि = उस। ओरा = ओर, छोर। सुठि = सुन्दर। बनिज = वाणिज्य। तहँ केरा = वहाँ का। पाउ = पाता है। निधनी = निर्धन। हेरा = देखता है। केर = की। ओनाई = झुकना, कम होना। बेसाहना = खरीदना। बहोर = लौटना। लेइ का = क्या ले। गांठि = गाँठ में, हाथ में। सांठि = पूँजी। थोर = थोड़ी।

अर्थ—चित्तौड़ गढ़ का एक वणिकों का काफिला सिंहलद्वीप में व्यापार के लिए चला। उसमें एक निर्धन भिखारी ब्राह्मण भी था, अन्य व्यापारियों को चलते हुए देखकर वह भी चल पड़ा। किसी से उसने ऋण काढ़ लिया, उसे आशा थी कि शायद उसे वहाँ जाने से कुछ लाभ हो जायगा। रास्ते में उसे बहुत से कठिन दुःखों का सामना करना पड़ा। सभी व्यापारी समुद्र को

लाँघ कर उस द्वीप में गये। बाजार को देखने पर उसका ओर-छोर ही नहीं सूझ पड़ता। वहां सभी वस्तुयें अधिक ही थीं, थोड़ी वस्तु कोई न थी–अधिक मूल्यवान् वस्तुयें ही थीं, कम कीमती कोई वस्तु न थी। वहाँ पर ऊँचा व्यापारथा अतः धनी तो उसमें अपनी वस्तुयें पा जाता था और निर्धन व्यक्ति मुँह देखता रह जाता था। वहाँ पर लाखों और करोड़ों की वस्तुयें बिकती थीं—कोई हजार के लिए नहीं झुकता, अर्थात् हजार में कोई वस्तु नहीं मिलती। सब लोगों ने अपनी अपनी खरीद की और घर के लिए लौट पड़े। पर वह ब्राह्मण क्या खरीदे क्योंकि उसके पास तो पूँजी बहुत थोड़ी थी।

[ ७५ ]

झुरवै ठाढ़, कहाँ हौं आवा। बनिज न मिला, रहा पछितावा ॥
लाभ जानि आएउँ एहि हाटाँ। मूर गँवाइ चलेउँ तेहि बाटाँ ॥
का मैं मरन सिखावन सिखी। आएउँ मरै, मीचु हुति लिखी ॥
अपने चलत न कीन्हि कुबानी। लाभ न दीख, मूर भौ हानी ॥
का मैं बोवा जरम ओहि भूँजी। खाइ चलेउँ घरहूँ कै पूँजी ॥
जेहि बेवहरिआ केर बेवहारू। का लै देब जौं छेंकिहि बारू ॥
घर कैसें पैठब मैं छूँछें। कौन उतर देबेउँ तिन्ह पूँछें ॥
साथ चला सत बिचला, भए बिच समुँद पहार।
आस निरासा हौं फिरौं, तूँ बिधि देहि अधार ॥ ७५ ॥

शब्दार्थ—झुरवै = पछताता। ठाढ़ = खड़ा होकर। बनिज = वाणिज्य। मूर = मूलधन। मीचु = मृत्यु। हुति = थी। बोवा = बोया। भूँजी = भोगता हूँ। बेवहरिआ = उधार देने वाला, महाजन। बेवहारू = कर्ज। छेकिहिं = घेरेगा। बारू = द्वार। पैठव = घुसूँगा। उतर = उत्तर। देबेउँ = दूँगा। सत = सत्य, धर्म। बिचला = छोड़ा।

अर्थ—एक जगह पर खड़ा होकर ब्राह्मण पछताने लगा कि यहाँ आकर मुझे रोजगार की वस्तु नहीं मिली, केवल पश्चात्ताप ही हाथ रहा। लाभ सोच कर इस बाजार में आया था पर मूलधन भी खोकर उसी रास्ते लौटा। क्या मैंने मृत्यु की शिक्षा सीखी थी और यहाँ मरने आया था, क्या मेरे भाग्य

में मृत्यु ही लिखी हुई थी ? जीवन में जहाँ तक मुझ से हुआ मैंने बुरा नहीं किया, फिर भी मुझे लाभ नहीं दिखलाई पड़ा। मूल की भी हानि ही मुझे हुई। मैंने क्या बोया था ? उसी का परिणाम भोग रहा हूँ, मैं तो घर की भी पूँजी खा कर चला हूँ। मैंने जिस महाजन से आते समय उधार लिया था उसको मैं क्या दूँगा जब वह हमारे द्वार को घेर लेगा ? लौट कर खाली हाथ घर में कैसे घुसूँगा, और जब वे लोग पूछेंगे तो क्या उत्तर दूँगा। लोगों के साथ मैं भी चल पड़ा था, अपने सत् (धर्म) को छोड़ दिया, (ब्राह्मण होकर बनिये का काम करने चला)। समुद्र और पहाड़ों के बीच हुआ और रास्ते के कष्टों को सहा, पर अब मेरी आशा निराशा हो गयी। लौटने जा रहा हूँ. हे ईश्वर ! मुझे सहारा दे।

*टिप्पणी—इस पद में भी जायसी मनुष्य जीवन की ओर संकेत कर रहे हैं। यह संसार एक हाट है। यहां पर सुकर्मों का ही वाणिज्य होता है। जो लोग सुकर्म करते हैं वे तो वाणिज्य में लाभ उठाते हैं, उन्हें इस जीवन के पश्चात् स्वर्ग प्राप्त होता है, पर जो सुकर्म नहीं कर पाते वे अपने मूल-धन-प्राप्त मनुष्य-जीवन को भी खो बैठते हैं। उन्हें मरते समय चिन्ता होती है कि मैंने सुकर्म नहीं किये, ईश्वर के घर पहुंचने पर मैं अपने कर्मों का क्या हिसाब दूँगा। यही सोच कर वह अत्यधिक पछताता है। जायसी का संकेत है कि मनुष्य को सत्कर्म करने चाहिएं ताकि अन्त में पछताना न हो।*

[ ७६ ]

तबहि बिआध सुआ लै आवा। कंचन बरन अनूप सोहावा॥
बेंचै लाग हाट लै ओहीं। मोल रतन मानिक जहँ होहीं॥
सुआ को पूँछ पतिंग मँदारे। चल न देखि आछै मन मारे॥
बाँभन आइ सुआ सौं पूँछा। दहुँ गुनवंत, कि निरगुन छूंछा॥
कहु परबते जो गुन तोहिं पाहाँ। गुन न छपाइअ हिरदै माहाँ॥
हम तुम्ह जाति बराभँन दोऊ। जातिहि जाति पूँछ सब कोऊ॥
पंडित हहु तो सुनावहु बेदू। बिन पूँछे पाइअ नहिं भेदू॥
हौं बाँभन औ पंडित, कहु आपन गुन सोइ।
पढ़े के आगे जो पढ़ै, दून लाभ तेहि होइ॥ ७६॥

शब्दार्थ—बिआध=बहेलिया। लाग=लगा। पूँछ=पूँछता है पतिंग=पक्षी। मंदारे=मंद-तुच्छ-पाठान्तर भंडारे=ढेर, झाबा। दहुँ=था। परबते=तोते। पाहाँ=पास। हहु=हो।

अर्थ—इसी समय बहेलिया तोता लेकर बाजार में आ गया। तोते का सुनहला रंग था और अत्यन्त सुन्दर लग रहा था। वह उस बाजार में लाकर उसे बेचने लगा जहां माणिक्य, रत्नों और हीरों के मोल हो रहे थे। ऐसी जगह तुच्छ पक्षी को कौन पूछता। अच्छे-अच्छे लोग केवल देखकर मन मार कर चल देते थे। ब्राह्मण ने आकर तोते से पूछा कि तुम्हारे पास कोई गुण भी है या बिना गुण के ही खाली पक्षी हो। ऐ तोते, जो गुण तेरे पास हों उन्हें कहो, गुण को हृदय में छिपाना नहीं चाहिए। मैं और तुम दोनों ही ब्राह्मण हैं, एक जाति के हैं। सब लोग अपनी ही जाति वाले को पूछते हैं। यदि तुम पंडित हो तो वेद सुनाओ, बिना पूछे भेद नहीं मिलता। मैं एक तो ब्राह्मण हूँ, फिर पंडित हूं, इसलिए जो गुण तुझ में हों, कह सुनाओ क्योंकि यदि विद्वान् के सामने कोई पढ़ाई-लिखाई (विद्वत्ता) की बात कही जाय तो उससे दूना लाभ होता है।

[ ७७ ]

तब गुन मोहि अहा, हो देवा। जब पिंजर हुँत छूट परेवा॥
अब गुन कवन जो बँदि जजमाना। घालि मँजूसा बेंचै आना॥
पंडित होइ सो हाट न चढ़ा। चहौं बिकाइ भूलि गा पढ़ा॥
दुइ मारग देखौं एहि हाटाँ। दैय चलावै दहुँ केहि बाटाँ॥
रोवत रकत भएउ मुख राता। तन भा पिअर कहौं का बाता॥
राते स्याम कंठ दुइ गीवाँ। तिन्ह दुइ फाँद डरौं सुठि जीवा॥
अब हौं कंठ फाँद गिवँ चीन्हा। दहुँ कै फाँद चाह का कीन्हा॥
पढ़ि गुनि देखा बहुत मैं, है आगें डरु सोइ।
धुंध जगत सब जानि कै, भूलि रहा बुधि खोइ॥ ७७॥

शब्दार्थ—अहा=था। हुँत=से। परेवा=पक्षी। बँदि=बंदी। जजमाना=यजमान। घालि=डाल कर। मँजूसा=मंजूषा (पोटली), झाबा। आना=लाकर। दैय=ईश्वर। दहुँ=पता नहीं। रकत=रक्त, लाल।

राता = लाल। पिअर = पीला। कंठ = कंठी-काली और लाल लकीरें जो तोते के गले पर होती हैं। गीवाँ = ग्रीवा, गला। गिवँ = ग्रीवा, गला। चीन्हा = पहिचाना। धुंध = अन्धकार।

अर्थ—तोते ने उत्तर दिया—हे देव! मेरे पास गुण तो तब था जब मैं पिंजरे से मुक्त स्वतंत्र पक्षी था। हे यजमान! अब मुझमें कौन सा गुण है, जब कि मैं बंदी हूँ। बहेलिया मुझे झाबे में डालकर बेचने को ले आया है। जो पंडित होता है वह बाजार में बिकने को नहीं आता, अब तो मैं केवल बिकना चाहता हूँ, सारा पढ़ा-लिखा भूल गया है। अब तो मुझे सामने दो मार्ग दिखाई पड़ते हैं। पता नहीं ईश्वर किस पर चलायेगा। दो मार्ग से तात्पर्य यह कि अच्छा या बुरा—उसका मतलब यह कि या तो किसी भले के हाथ पड़कर बन जायेंगे या किसी बुरे हाथ पड़ कर मारे जायेंगे। मेरे गले में लाल और काली दो कंठियां, लकीरें हैं; उन्हीं फंदों से अपने जीवन के लिए डरता हूं। अब मैंने अपने गले के इन कंठों को पहचाना है, पता नहीं ये फंदे क्या करना चाहते हैं? मैंने पढ़कर और मनन करके देख लिया कि आगे मेरे लिए भय है, अब के मुझे संसार में अंधेरा ही है, ऐसा जानकर मैंने अपनी बुद्धि ही खोदी है।

[ ७८ ]

सुनि बाँभन बिनवा चिरिहारू। करु पंखिन्ह कहँ मया न मारू॥
कत रे निठुर जिउ बधसि परावा। हत्या केर न तोहि डरु आवा॥
कहेसि पंखि खाधुक मानवा। निठुर ते कहिअ जे पर मँसु खवा॥
आवहिं रोइ, जाहिं कै रोवना। तबहुँ न तजहिं भोग सुख सोवना॥
औ जानहिं तन होइहि नासू। पोखहिं माँसु पराएँ माँसू॥
जौं न होत अस पर मँस खाधू। कत पंखिन्ह कहँ धरत बिआधू॥
जौं रे ब्याध पंखी निति धरई। सो बेंचत मन लोभ न करई॥
बाँभन सुआ बेसाहा, सुनि मति बेद ग्रन्थ।
मिला आइ कै साथिन्ह, भा चितउर के पंथ॥७८॥

शब्दार्थ—चिरिहारू = चिड़ीमार। मया = दया। परावा = दूसरे का। खाधुक = खाने वाले-पाठान्तर-का दोस जनावा। पर मँसु = दूसरे का मांस।

खवा = खाने वाले। जाहि = जाता है। कत = क्यों। बेसाहा = खरीदा। गरंथ = ग्रन्थ।

अर्थ—तोते के ऐसे वचन सुनकर ब्राह्मण चिड़ीमार से विनय करने लगा कि तुम इन पक्षियों पर दया करो, इन्हें मारो मत। हे निष्ठुर तू! दूसरे की जान क्यों मारता है, तुझे हत्या का कोई डर नहीं लगता? इस पर बहेलिये ने कहा—पक्षी को खाने वाले तो मनुष्य हैं, अतः निष्ठुर उनको कहना चाहिए जो दूसरे के मांस खाने वाले हैं। मनुष्य रोकर ही इस संसार में आता (जन्म लेता) है और रोकर ही इस संसार से जाता है। फिर भी वह संसार के भोग, सुख और सोने को नहीं छोड़ता। साथ ही वह यह भी जानता है कि उसका शरीर एक दिन नाश को अवश्य प्राप्त होगा, फिर भी दूसरे के मांस से अपने मांस का पोषण करता है। यदि इस प्रकार के दूसरे के मांस खाने वाले न होते तो बहेलिया पक्षियों को क्यों पकड़ता? व्याध जितने पक्षियों को रोज पकड़ता है उन्हें बेच देता है, मन में किसी प्रकार का लोभ नहीं करता। तात्पर्य यह है कि व्याध तो अपनी आजीविका के लिए पक्षी पकड़ता और बेचता है, उसे पक्षियों के प्रति कोई लोभ या मोह नहीं है, उनके मारने का वह दोषी नहीं है।

तब ब्राह्मण ने तोते की मति, उसके वेद आदि ग्रन्थों के ज्ञान आदि देख सुनकर तोते को खरीद लिया और अपने मित्रों से आ मिला और वापसी के लिए चित्तौड़ के रास्ते पर आ गया।

[ ७६ ]

तब लगि चित्रसेनि सिव साजा। रतनसेनि चितउर भा राजा॥
आइ बात तेहिं आगें चली। रजा बनिज आव सिंघली॥
हहिं गजमोंति भरीं सब सीपी। औरु वस्तु बहु सिंघल दीपी॥
बाँभन एक सुआ लै आवा। कंचन बरन अनूप सोहावा॥
राते स्याम कंठ दुइ काँठा। राते डहन लिखे सब पाठा॥
औ दुइ नैन सोहावन राता। राता ठोर अमिय रस बाता॥
मस्तक टीका, काँध जनेऊ। कबि बिआस, पंडित सहदेऊ॥

बोल अरथ सों बोले, सुनत सीस पै डोल।
राजमँदिर महँ चाहिअ, अस वह सुआ अमोल ॥ ७९ ॥

शब्दार्थ—तब लगि = तब तक। सिव साजा = शिवपुरी (स्वर्ग) की तैयारी की, मर गया। भा = हुआ। बनिज = व्यापारी। हहिं = हैं। राते = लाल। डहन = डैने। ठोर = चोंच (बात की ठौर)।

अर्थ—तब तक (जितने दिनों में चित्तौड़ के व्यापारी सिंहलद्वीप गये और लौटे) राजा चित्रसेन स्वर्गवासी हो गया और चित्तौड़ में रत्नसेन राजा बना। राजा के सामने इस प्रकार की बात चली कि हे राजा सिंहल द्वीप से व्यापारी आ गये हैं। उनके पास गजमुक्ताओं से भरी सीपियां हैं तथा और सिंहलद्वीपी वस्तुयें हैं। एक ब्राह्मण एक तोता ले आया है जो सुनहले रंग का अत्यन्त ही सुन्दर है। उसके लाल और काली दो कँठियां कंठ में हैं। उसके डैने भी लाल-लाल हैं, मानो सभी ग्रन्थों के पाठ उन पर लिखे हैं। उसके दो सुन्दर-सुन्दर लाल-लाल आंखें हैं, उसकी चोंच भी लाल है जिसमें से अमृत रस की बातें निकलती हैं। उसके मस्तक पर एक टीका और कंधे पर जनेऊ की लकीरें बनी हैं, ज्ञान में कवि व्यास और सहदेव जी के सदृश पंडित है। बोलने पर वह अर्थ बोलता है कि जिसे सुनकर प्रत्येक व्यक्ति प्रसन्नता से शीश डुलाने लगता है। वह तोता ऐसा मूल्यवान् है कि उसे तो राजमहल में ही होना चाहिए।

[ ८० ]

भई रजाएसु जन दौराए। बाँभन सुआ बेगि लै आए॥
बिप्र असीसि बिनती औधारा। सुआ जीउ नहिं करौं निनारा॥
पै यह पेट भएउ बिसवासी। जेहिं नाए सब तपा सँन्यासी॥
दारा सेज जहाँ जेहि नाहीं। भुइँ परि रहै लाइ गिव बाहीं॥
अंध रहै जो देख न नैना। गूँग रहै, मुख आव न बैना॥
बहिर रहै, सरवन नहिं सुना। पै एक पेट न रह निरगुना॥
कै कै फेर अंत बहु दोषी। बारहिं बार फिरै, न सँतोषी॥
सो मोहिं लिहें मँगावै, लावै भूख पिआस।
जौं न होत अस बैरी तौ, केहि काहू कै आस॥ ८०॥

शब्दार्थ—औधारा = किया। निरारा = न्यारा, अलग। बिसवासी = विश्वासघाती। नाए = नवाये, झुकाया। तपा = तपस्वी। दारा-पाठान्तर-डासन = बिस्तर। लाइ = लगाकर। गिव = ग्रीवा, गर्दन। बाहीं=बाँह। निरगुन=स्वाभाविक गुण से रहित। कै कै = कर कर के। फेर = चक्कर। लिहें=लिये हुए।

अर्थ—राजा की आज्ञा हुई, मनुष्य दौड़ाये गये। वे लोग ब्राह्मण और तोते को शीघ्र ही ले आये। ब्राह्मण ने राजा को आशीर्वाद दिया और विनती आरम्भ की कि तोता तो मेरी जान है इसे अलग नहीं करना चाहता, पर यह पेट बड़ा विश्वासघाती है, इसी पेट ने सब तपस्वियों और संन्यासियों को भी झुकाया है। मनुष्य को बिस्तर आदि जहां नहीं मिलते वहां वह गले के नीचे अपनी बांह रखकर जमीन में ही सो जाता है, जिसके आंख नहीं होती वह अंधा ही जीवन बिता लेता है, जो गूँगा होता है वह बिना वाणी के ही रह जाता है, बहरा सुनता ही नहीं। ये सब चल जाते हैं पर पेट अपने स्वाभाविक गुण (भूख) को कभी नहीं छोड़ता, पेट की क्रिया सब को चलानी ही पड़ती है। अनेक चक्कर करके मनुष्य अन्त में दोषी बनता है, बार-बार दुनिया में चक्कर लगाता है, उसे कहीं भी संतोष नहीं होता। यह पेट ही मुझे लेकर सब जगह जाता है और सब के सामने रुँगवाता है, भूख और प्यास को लाता है, यदि यही वैरी पेट न होता तो क्यों कोई किसी की आशा रखता?

[ ८१ ]

सुऐं असीस दीन्ह बड़ साजू। बड़ परताप अखंडित राजू॥
भागवंत बड़ बिधि औतारा। जहाँ भाग तहँ रूप जोहारा॥
कोउ केहु पास आस कै गौना। जो निरास दिढ़ आसन मौना॥
कोउ बिनु पूँछे बोल जो बोला। होइ बोल माँटी के मोला॥
पढ़ि गुनि जानि बेद मत भेऊ। पूँछी बात कही सहदेऊ॥
गुनी न कोई आपु सराहा। जौ सो बिकाइ कहा पै चाहा॥
जौं लहि गुन परगट नहिं होइ। तौ लहि मरम न जानै कोई॥

चतुर बेद हौं पंडित, हीराममनि मोहि नाउँ।
पदुमावति सो मेरवौं, सेव करौं तेहि ठाऊँ॥ ८१॥

शब्दार्थ—गौना=गमन किया। दिढ़=दृढ़। भेऊ=भेद। सहदेऊ= सहदेव-सहदेव जी की यह आदत थी कि जानते हुए भी बिना पूछे नहीं बताते थे। मेरवौं=मिलाऊँ।

अर्थ—तोते ने राजा को आशीर्वाद दिया कि तेरा बड़ा साज हो, बड़ा प्रताप हो और राज्य अखंडित हो। तू बड़ा ही भाग्यवान् है और ईश्वर का औतार है, तुझ में जहाँ भाग्य है वहीं अपूर्व रूप भी है। जब कोई किसी के पास जाता है तो कोई आशा लेकर ही जाता है, जिसे किसी प्रकार की आशा किसी से नहीं है वह अपने आसन पर दृढ़ है और शान्त है। यदि कोई बिना पूछे ही कुछ बोल उठे तो उसके बोलने का मूल्य मिट्टी के बराबर होता है। इसीलिए सहदेव जी वेद के मत और भेद आदि को पढ़ और सुन कर के भी पूछने पर ही कहते थे, बिना पूछे कभी न कहते थे। गुणी स्वयं अपनी प्रशंसा नहीं करता; पर जो बिकता है, वह तो कहना ही चाहता है क्योंकि जब तक उसका गुण प्रकट न होगा तब तक उसके मर्म को कोई नहीं जान सकता। तोते का तात्पर्य यह है कि यद्यपि मैं गुणी हूं, अनेक ज्ञान को जानने वाला हूं और गुणी के स्वभाव के अनुसार कहना नहीं चाहता पर आपके हाथ बिकना चाहता हूं अतः कुछ निवेदन अवश्य करूँगा। वह कहता है कि—मैं चतुर हूं, वेद का पंडित हूं, मेरा नाम हीरामनि है। मैं आपसे पद्मावती को मिला दूँगा और उसी के पास रह कर सेवा करूँगा।

[ ८२ ]

रतनसेनि हीरामनि चीन्हा। एक लाख बाँभन कहँ दीन्हा॥
बिप्र असीसा, कीन्ह पयाना। सुआ सो राजमँदिर महँ आना॥
बरनौं काह सुआ क भाखा। धनि सो नाउँ हीरामनि राखा।
जौं बोलै तौ मानिक मूँगा। नाहिं तौ मौन बाँध होइ गूँगा॥
जौं बोलै राजा मुख जावा। जनहुँ मोति हिअ हार पिरोवा॥
जनहुँ मारि मुख अंम्रित मेला। गुर होइ आपु, कीन्ह चह चेला॥
सुरुज चाँद कै कथ्या कहा। पेम क गहन लाइ चित रहा॥
जो जो सुनै धुनै सिर राजा. प्रीति क होइ अगाहु।
अस गुनवंत नाहिं भल सुअटा, बाउर करिहै काहु॥ ८२॥

शब्दार्थ—चीह्ना = पहचाना । आना = ले आया । जोवा = देखता था । पिरोवा = गुँथा हुआ । मारि = बहुत । अंब्रित = अमृत । चह = चाहना-पाठान्तर-जग । कथ्या = कथा । सुरुज-चाँद = सूर्य-चन्द्र, प्रेमी-प्रेमिका । गहन = ग्रहण करना । अगाहु = अथाह ।

अर्थ—राजा रत्नसेन ने हीरामन को पहचान लिया कि सचमुच वह गुणी है । उसने ब्राह्मण को एक लाख मुद्रायें दीं । ब्राह्मण ने राजा को आशीर्वाद दे कर प्रस्थान किया । वह तोता राजमहल में लाया गया । जायसी कहते हैं कि मैं उस तोते की वाणी का क्या वर्णन करूँ, उसका हीरामनि नाम जिसने रखा वह धन्य है । यदि कुछ वह बोलता है तो माणिक्य और मूँगे जैसे अनमोल वचन ही कहता है, नहीं तो मौन साध कर मूक ही रहता है । जब वह बोलने लगता है तो राजा उसका मुख देखता था मानो उसके हृदय में मोती का हार गूँथा गया हो । इतनी मिठास थी उसकी वाणी में मानो उसके मुख में बहुत सा अमृत डाला गया हो । वह गुरु सदृश हो कर राजा को शिष्य बनाना चाहता है । उसने सूर्य-चाँद जैसे प्रेमी और प्रेमिकाओं की कथा कही, उसे सुन कर राजा प्रेम को ग्रहण करके चित्त लगाये सुनता रहा । उसे जो-जो सुनता है सिर धुनने लगता है । और राजा तो प्रेम का अथाह सागर ही होता जाता था । कवि कहता है कि ऐसा गुणी तोता अच्छा नहीं, क्योंकि यह तो किसी को बावला कर देगा ।

*टिप्पणी—जायसी ने तोते को साधना मार्ग का गुरु बनाया है । ८१ वें पद में भी तोते के मुख से गुरु के ज्ञान की व्यंजना करवाई थी, गुरु संकेत से ही अपना ज्ञान प्रकाशित करता है, गुण के प्रकाश हो जाने परस ाधक उसे पहचानता है और बड़ी श्रद्धा से उसकी ओर बढ़ता है तथा उसके उपदेशों में मन लगाता है । इस पद की प्रथम पंक्ति में रत्नसेन ( साधक ) गुरु को पहचान लेता है, गुरु के महत्व को दिखाने के लिए राजा उसे एक लाख मुद्रा में खरीदता है। गुरु के ज्ञान का संकेत माणिक्य-मूंगा और अमृत के द्वारा कवि ने किया है, उसके गुरुत्व को भी स्पष्ट कर दिया है । यह साधना प्रेममार्गी है अतः उसने प्रेम की कथा कह कर राजा में अथाह प्रीति उत्पन्न कर दी । मतवालापन सूफी प्रेम की विशेषता है, उसका संकेत दोहे के अन्तिम चरण में जायसी ने कर दिया हैं ।*

# ८. नागमती-सुआ-संवाद-खंड

[ ८३ ]

दिन दस पाँच तहाँ जो भए। राजा कतहुँ अहेरें गए॥
नागमती रुपवंती रानी। सब रनिवास पाट पर आनी॥
कै सिंगार दरपन कर लीन्हा। दरसन देखि गरब जियँ कीन्हा॥
भलेहि सो और पिआरी नाहाँ। मोरे रूप कि काइ जग माहाँ॥
हँसत सुआ पहँ आइ सो नारी। दीन्हि कसौटी औ बनवारी॥
सुआ बान दहुँ कहु कसि सोना। सिंघलदीप तोर कस लोना॥
कौन दिस्टि तोरी रुपमनी। दहुँ हौं लोनि, कि वै पदुमिनी॥
जौं न कहसि सत सुअटा, तोहि राजा कै आन।
है कोई एहि जगत महँ, मोरें रूप समान॥ ८३॥

शब्दार्थ—कतहुँ = कहीं। अहेरें = शिकार। कै = करके। भलेहि सो और पिआरी नाहाँ-पाठान्तर—बोलहु सुआ पियारे-नाहाँ। बनवारी-पाठान्तर पनवारी = चमकवाली। बान (वर्ण) = रंग ('कनकहिं बान चढ़े जिमि दाहे'—तुलसी)। दहुँ-किधौं = कैसा है। लोना = सुन्दर। दिस्टि = भाँति। रुपमनी = सुन्दरी। आन = सौगन्ध।

अर्थ—जब वहाँ पर दस-पाँच दिन हो गये तो राजा कहीं पर शिकार को गया। राजा रत्नसेन की रूपवती रानी नागमती रनिवास में पटरानी थी। उसने शृंगार कर के हाथ में दर्पण लिया, अपना रूप देखकर उसने अपने मन में बड़ा घमण्ड किया। एक तो वह सुन्दरी थी, फिर अपने पति की प्यारी थी, सोचने लगी कि मेरे रूप का क्या कोई संसार में हो सकता है? हँसती हुई वह स्त्री तोते के पास पहुँची। उसने चमकवाली कसौटी देकर पूछा कि हे सुआ! तू कसौटी पर कस कर के बता कि इस सोने का रंग कैसा है, तुम्हारा सिंहलदीप कैसा सुन्दर है। तुम्हारी सुन्दरी किस भाँति की है, मैं अधिक सुन्दरी हूँ या तुम्हारी पद्मिनी। यदि तू सच न कहे तो तुझे राजा

की सौगन्ध है। तू बतला कि क्या संसार में कोई मेरे रूप के समान है या नहीं।

[ ८४ ]

सँवरि रूप पदुमावति केरा। हँसा सुआ रानी मुख हेरा॥
जेहि सरवर महँ हंस न आवा। बकुली तेहि जल हंस कहावा॥
दैयँ कीन्ह अस जगत अनूपा। एक एक तें आगरि रूपा॥
कै मन गरब न छाजा काहू। चाँद घटा औ लागा राहू॥
लोनि बिलोनि तहाँ को कहा। लोनी सोइ कंत जेहि चहा॥
का पूँछहु सिंघल की नारी। दिनहिं न पूजै निसि अँधिआरी॥
पुहुप सुगंध सो तिन्ह कै काया। जहाँ माँथ का बरनौं पाया॥
गढ़ी सो सोने सोंधै, भरी सो रूपै भाग।
सुनत रूखि भै रानी, हिएँ लोन अस लाग॥ ८४॥

शब्दार्थ--हेरा = देखा। बकुली = बगली ( मादा बगला )। आगरि = बढ़ कर। छाजा = शोभित होता। काहू = किसी को भी। बिलोनी = असुन्दरी। रूखी = सूख गई। हिएँ = हृदय में। लोन = नमक।

अर्थ--पद्मावती के रूप का स्मरण कर के और नागमती के रूप को देख कर तोता हँस पड़ा। उसने कहा कि जिस तालाब में हंस नहीं आता वहाँ पर बगली ही हंस कही जाती है। परमेश्वर ने ऐसा अनुपम जगत् बनाया है कि यहां पर एक से एक बढ़कर रूप हैं। घमण्ड किसी को भी शोभा नहीं देता। चन्द्रमा अति सुन्दर है पर वह भी घट जाता है और उसे राहु ग्रसता है। इस संसार में सुन्दरी और असुन्दरी कौन है, सुन्दरी तो वही है जिसे पति चाहे। सिंहल की स्त्री के विषय में क्या पूछती हो, दिन की समता अन्धेरी रात नहीं कर सकती। उनके शरीर से फूल की बास आती है, भला माथे के समान पैर कैसे कहा जा सकता है ? सिंहलद्वीप की नारी तो सुगन्धित सोने से जड़ी गयी है। और उसमें सौंदर्य और सौभाग्य भरे गये हैं। तोते के ऐसे वचन सुन कर रानी सूख गई, उसके हृदय पर जैसे नमक लग गया हो।

*टिप्पणी*—इस पंक्ति में मनोवैज्ञानिक सत्य द्रष्टव्य है। रानी नागमती का गर्व करना और तोते से पूछना स्वाभाविक है। सौंदर्य की व्याख्या भी

*अनूठी है—"लोनी सोइ कंत जेहि चहा।"; "एक एक ते आगरि रूपा" भी उसी प्रकार सुन्दर उक्ति हैं।*

[ ८५ ]

जौं यह सुआ मँदिर महँ रहई। कबहुँ कि होइ राजा सौं कहई ॥
सुनि राजा पुनि होइ वियोगी। छाड़ै राज चलै होइ जोगी ॥
बिख राखै नहिं, होइ अँगूरू। सबद न देइ बिरह तवँचूरू ॥
धाइ धामिनी बेगि हँकारी। ओहि सौंपा, जिअ रिसि न सँभारी ॥
देखु यह सुअटा है मँदचाला। भएउ न ताकर जाकर पाला ॥
मुख कह आन, पेट बस आना। तेहि औगुन दस हाट बिकाना ॥
पंखि न राखिअ होइ कुभाखी। तहँ लै मारु, जहाँ नहिं साखी ॥
जेहि दिन कहँ हौं निति डरौं, रैनि छपावौं सूर।
लै चह दीन्ह कँवल कहँ, मोकहँ होइ मँजूर ॥ ८५ ॥

शब्दार्थ—अंगूरू-पाठान्तर-अंकूरू = अंकुर। तवँचूरू-तमचुर = मुर्गा। धाइ = दौड़ कर। धामिनी = दासी का नाम। हँकारी = बुलाया। आन = दूसरा। मारु = मारो। साखी = साक्षी, गवाह। कमल = पद्म (पद्मावती)। मंजूर-मयूर=मोर (मोर पक्षी नाग का शत्रु है, यहां नाग से भाव नागमती है)।

अर्थ—नागमती सोचने लगी कि यदि यह तोता राजमहल में रहेगा तो कभी तो यह बात राजा से कह देगा। इस बात को सुनकर राजा वियोगी हो जायेगा, राज्य छोड़कर जोगी बनकर चला जायगा। विष को न रखना चाहिए; उसमें अंकुर पैदा न होने देना चाहिये। ऐसा न हो कि यह मुर्गे की भांति बोलकर राजा में विरह जगा दे। दौड़कर उसने शीघ्र ही अपनी दासी धामिनी को बुलाया और उसे तोते को सौंप दिया क्योंकि वह अपने में क्रोध को संभाल न सकती थी। उसने कहा—देखो यह तोता बड़ी बुरी चाल वाला है, जिसने इसको पाला उसी का भला करने वाला यह न हुआ। यह मुख से कुछ और कहता है, इसके पेट में कुछ और बसता है, इसी दुर्गुण के कारण तो यह दस बाजारों में बिका है। इस कुभाषी पक्षी को न रखना चाहिए, इसे ले जाकर ऐसी जगह पर मार डालो जहां कोई देखने वाला न हो। मैं जिस दिन के लिए रोज डरती हूँ, रात्रि में सूर्य को

की सौगन्ध है। तू बतला कि क्या संसार में कोई मेरे रूप के समान है या नहीं।

[ ८४ ]

सँवरि रूप पदुमावति केरा। हँसा सुआ रानी मुख हेरा॥
जेहि सरवर महँ हंस न आवा। बकुली तेहि जल हंस कहावा॥
दैयँ कीन्ह अस जगत अनूपा। एक एक तें आगरि रूपा॥
कै मन गरब न छाजा काहू। चाँद घटा औ लागा राहू॥
लोनि बिलोनि तहाँ को कहा। लोनी सोइ कंत जेहि चहा॥
का पूँछहु सिंघल की नारी। दिनहिं न पूजै निसि अँधिआरी॥
पुहुप सुगंध सो तिन्ह कै काया। जहाँ माँथ का बरनौं पाया॥
गढ़ी सो सोने सोंधै, भरी सो रूपै भाग।
सुनत रूखि भै रानी, हिएँ लोन अस लाग॥ ८४॥

शब्दार्थ--हेरा = देखा। बकुली = बगली (मादा बगला)। आगरि = बढ़ कर। छाजा = शोभित होता। काहू = किसी को भी। बिलोनी = असुन्दरी। रूखी = सूख गई। हिएँ = हृदय में। लोन = नमक।

अर्थ---पदुमावती के रूप का स्मरण कर के और नागमती के रूप को देख कर तोता हँस पड़ा। उसने कहा कि जिस तालाब में हंस नहीं आता वहाँ पर बगली ही हंस कही जाती है। परमेश्वर ने ऐसा अनुपम जगत् बनाया है कि यहां पर एक से एक बढ़कर रूप हैं। घमण्ड किसी को भी शोभा नहीं देता। चन्द्रमा अति सुन्दर है पर वह भी घट जाता है और उसे राहु ग्रसता है। इस संसार में सुन्दरी और असुन्दरी कौन है, सुन्दरी तो वही है जिसे पति चाहे। सिंहल की स्त्री के विषय में क्या पूछती हो, दिन की समता अन्धेरी रात नहीं कर सकती। उनके शरीर से फूल की बास आती है, भला माथे के समान पैर कैसे कहा जा सकता है? सिंहलद्वीप की नारी तो सुगन्धित सोने से जड़ी गयी है। और उसमें सौंदर्य और सौभाग्य भरे गये हैं। तोते के ऐसे वचन सुन कर रानी सूख गई, उसके हृदय पर जैसे नमक लग गया हो।

*टिप्पणी*—*इस पंक्ति में मनोवैज्ञानिक सत्य द्रष्टव्य है। रानी नागमती का गर्व करना और तोते से पूछना स्वाभाविक है। सौंदर्य की व्याख्या भी*

*अनूठी है—"लोनी सोइ कंत जेहि चहा।"; "एक एक ते आगरि रूपा" भी उसी प्रकार सुन्दर उक्ति हैं।*

[ ८५ ]

जौं यह सुआ मँदिर महँ रहई। कबहुँ कि होइ राजा सौं कहई ॥
सुनि राजा पुनि होइ बियोगी। छाड़ै राज चलै होइ जोगी ॥
बिख राखै नहिं, होइ अँगूरू। सबद न देइ बिरह तवँचूरू ॥
धाइ धामिनी बेगि हँकारी। ओहि सौंपा, जिअ रिसि न सँभारी ॥
देखु यह सुअटा है मँदचाला। भएउ न ताकर जाकर पाला ॥
मुख कह आन, पेट बस आना। तेहि औगुन दस हाट बिकाना ॥
पंखि न राखिअ होइ कुभाखी। तहँ लै मारु, जहाँ नहिं साखी ॥
जेहि दिन कहँ हौं निति डरौं, रैनि छपावौं सूर।
लै चह दीन्ह कँवल कहँ, मोकहँ होइ मँजूर ॥ ८५ ॥

शब्दार्थ—अंगूरू-पाठान्तर-अंकूरू = अंकुर। तवँचूरू-तमचुर = मुर्गा। धाइ = दौड़ कर। धामिनी = दासी का नाम। हँकारी = बुलाया। आन = दूसरा। मारु = मारो। साखी = साक्षी, गवाह। कमल = पद्म (पद्मावती)। मंजूर-मयूर=मोर (मोर पक्षी नाग का शत्रु है, यहां नाग से भाव नागमती है)।

अर्थ—नागमती सोचने लगी कि यदि यह तोता राजमहल में रहेगा तो कभी तो यह बात राजा से कह देगा। इस बात को सुनकर राजा वियोगी हो जायेगा, राज्य छोड़कर जोगी बनकर चला जायगा। विष को न रखना चाहिए; उसमें अंकुर पैदा न होने देना चाहिये। ऐसा न हो कि यह मुर्गे की भांति बोलकर राजा में विरह जगा दे। दौड़कर उसने शीघ्र ही अपनी दासी धामिनी को बुलाया और उसे तोते को सौंप दिया क्योंकि वह अपने में क्रोध को संभाल न सकती थी। उसने कहा—देखो यह तोता बड़ी बुरी चाल वाला है, जिसने इसको पाला उसी का भला करने वाला यह न हुआ। यह मुख से कुछ और कहता है, इसके पेट में कुछ और बसता है, इसी दुर्गुण के कारण तो यह दस बाजारों में बिका है। इस कुभाषी पक्षी को न रखना चाहिए, इसे ले जाकर ऐसी जगह पर मार डालो जहां कोई देखने वाला न हो। मैं जिस दिन के लिए रोज डरती हूँ, रात्रि में सूर्य को

छिपा रखती हूं, उसी को यह कमल-से मिलाना चाहता है। अर्थात् सूर्य रूप जो रत्नसेन है उसे मैं अपने प्रेम से छिपाये हूँ, अपने सौन्दर्य की माया में उसे सुला रक्खा है, यह उसे कमल ( पद्म ) रूपी पद्मावती से मिलाना चाहता है। [ऊपर भी जायसी ने राजा को रात्रि ( नागमती के सौन्दर्य के मोह) में सोया हुआ कहा है, मुर्गा बनकर तोता उसे जगा न दे। कमल में पद्मावती की व्यंजना है—कमल और सूर्य का प्रेम कवि-प्रसिद्धि में है। ] यह मेरे लिए मोर बनना चाहता है। जायसी ने नागमती में नाग (सर्प) की व्यंजना रक्खी है, सर्प का मोर शत्रु है, इसीलिए नागमती कहती है कि यह तो मेरा शत्रु हो रहा है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति, श्लेष।

[ ८६ ]

धाइ सुआ लै मारैं गई। समुझि गिआन हिएँ मति भई॥
सुआ सो राजा कर बिसरामी। मारि न जाइ चहै जेहि सामी॥
यह पंडित खंडित बैरागू। दोस ताहि, जेहि सूझ न आगू॥
जौं तिवाईं कै काज न जाना। परै धोख, पाछें पछिताना॥
नागमती नागिनि बुधि ताऊ। सुआ मँजूर होइ नहिं काऊ॥
जो न कंत के आएसु माहाँ। कौनु भरोस नारि कै नाहाँ॥
मकु एहि खोज होइ निसि आई। तुरै रोग हरि माथें जाई॥

दुइ सो छपाए ना छपैं, एक हत्या औ पापु।
अंतहु करहिं बिनास ये, सै साखी दै आपु॥ ८६॥

शब्दार्थ—धाइ=धाय, दासी। मारै=मारने। बिसरामी=विश्राम देने वाला। आगू=आगे, भविष्य। तिवाईं=पाठान्तर-तिरिया=स्त्री। मकु=सम्भव है। ('गगन मगन मकु मेघहि मिलई'—तुलसी) तुरै=घोड़ा। हरि=बन्दर। तुरै······जाई-लोगों का विश्वास है कि घोड़ों का रोग बन्दर पर चला जाता है। इसलिए जब घोड़े बीमार होते थे तो घुड़साल में बन्दर रख दिये जाते थे, जिससे रोग बन्दर पर चला जाय और घोड़ा बच जाय। सै=वे ही। साखी=गवाह।

अर्थ—धाय तोते को मारने तो गयी पर समझकर उसके हृदय में यह बुद्धि पैदा हुई कि तोता तो राजा को आराम देने वाला है, जो स्वामी का प्रिय है उसे मारा नहीं जा सकता। यह तोता तो पंडित है, मालूम होता है इसके वैराग्य के खंडित हो जाने के कारण ही इस जन्म में इसे तोता होना पड़ा है। दोष तो उसका है जिसे भविष्य नहीं सूझता। जो व्यक्ति स्त्री-जाति का कार्य नहीं जानता वही धोखे में पड़ता है और पीछे पछताता है। नागमती तो अवश्य ही नागिनी बुद्धि की है—दूसरे को मारना चाहती है। तोता भला मयूर (शत्रु) किसी का नहीं बन सकता। जो स्त्री अपने पति की आज्ञा में नहीं है भला उसका क्या विश्वास किया जाय? सम्भव है रात आते ही उसकी खोज की जाय और तब घोड़े का रोग बन्दर पर जाय। अर्थात् रानी का दोष मेरे ऊपर पड़े और मैं ही मारी जाऊं। दो वस्तुयें एक हत्या, और दूसरे पाप, छिपाये नहीं छिपते। अन्त में वे ही विनाश करते हैं और स्वयं उसके साक्षी बन जाते हैं।

[ ८७ ]

राखा सुआ, धाइ मति साजा। भएउ खोज निसि आएँ राजा॥
रानी उतर मान सौं दीन्हा। पंडित सुआ मँजारी लीन्हा॥
मैं पूँछा 'सिंघल पदुमिनी। उतरु दीन्ह तूँ, को नागिनी॥
व जस दिन, तूँ निसि अँधिआरी। जहाँ बसंत, करील को बारी॥
का तोर पुरुष रैनि को राऊ। उलू न जान देवस कर भाऊ॥
का वह पंखि कोटि महँ कोटी। अस बड़ बोल जीभ कह छोटी॥
रुहिर चुऐ जब जब कह बाता। भोजन बिनु भोजन मुख राता॥
माथें नहिं बैसारिअ, सठहि सुआ जौं लोन।
कान टूट जेहि अभरन, का ले करब सो सोन॥ ८७॥

शब्दार्थ—मान सौं = घमण्ड से। कोटि = करोड़ों, पाठान्तर-कूट = कालकूट (विष)। रुहिर (रुधिर) = खून-पाठान्तर-जहर। अभरन = आभरण, गहना। बैसारिअ = बिठाते।

अर्थ—धाय ने अपनी मति को निश्चय करके तोते को छिपा रक्खा। रात को जब राजा आया तो तोते की खोज हुई। रानी ने बड़े तपाक से उत्तर दिया

छिपा रखती हूं, उसी को यह कमल-से मिलाना चाहता है। अर्थात् सूर्य रूप जो रत्नसेन है उसे मैं अपने प्रेम से छिपाये हूँ, अपने सौन्दर्य की माया में उसे सुला रक्खा है, यह उसे कमल ( पद्म ) रूपी पद्मावती से मिलाना चाहता है। [ऊपर भी जायसी ने राजा को रात्रि ( नागमती के सौन्दर्य के मोह) में सोया हुआ कहा है, मुर्गा बनकर तोता उसे जगा न दे। कमल में पद्मावती की व्यंजना है—कमल और सूर्य का प्रेम कवि-प्रसिद्धि में है। ] यह मेरे लिए मोर बनना चाहता है। जायसी ने नागमती में नाग (सर्प) की व्यंजना रक्खी है, सर्प का मोर शत्रु है, इसीलिए नागमती कहती है कि यह तो मेरा शत्रु हो रहा है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति, श्लेष।

[ ८६ ]

धाइ सुआ लै मारैं गई। समुझि गिआन हिएँ मति भई ॥
सुआ सो राजा कर बिसरामी। मारि न जाइ चहै जेहि सामी ॥
यह पंडित खंडित बैरागू। दोस ताहि, जेहि सूझ न आगू ॥
जौं तिवाईं कै काज न जाना। परै धोख, पाछें पछिताना ॥
नागमती नागिनि बुधि ताऊ। सुआ मँजूर होइ नहिं काऊ ॥
जो न कंत के आएसु माहाँ। कौनु भरोस नारि कै नाहाँ ॥
मकु एहि खोज होइ निसि आई। तुरै रोग हरि माथें जाई ॥

दुइ सो छपाए ना छपैं, एक हत्या औ पापु।
अंतहु करहिं बिनास ये, सै साखी दै आपु ॥ ८६ ॥

शब्दार्थ—धाइ = धाय, दासी। मारैं = मारने। बिसरामी = विश्राम देने वाला। आगू = आगे, भविष्य। तिवाईं = पाठान्तर-तिरिया = स्त्री। मकु = सम्भव है। ('गगन मगन मकु मेघहि मिलई'—तुलसी) तुरै = घोड़ा। हरि = बन्दर। तुरै……जाई-लोगों का विश्वास है कि घोड़ों का रोग बन्दर पर चला जाता है। इसलिए जब घोड़े बीमार होते थे तो घुड़साल में बन्दर रख दिये जाते थे, जिससे रोग बन्दर पर चला जाय और घोड़ा बच जाय। सै = वे ही। साखी = गवाह।

अर्थ—धाय तोते को मारने तो गयी पर समझकर उसके हृदय में यह बुद्धि पैदा हुई कि तोता तो राजा को आराम देने वाला है, जो स्वामी का प्रिय है उसे मारा नहीं जा सकता। यह तोता तो पंडित है, मालूम होता है इसके वैराग्य के खंडित हो जाने के कारण ही इस जन्म में इसे तोता होना पड़ा है। दोष तो उसका है जिसे भविष्य नहीं सूझता। जो व्यक्ति स्त्री-जाति का कार्य नहीं जानता वही धोखे में पड़ता है और पीछे पछताता है। नागमती तो अवश्य ही नागिनी बुद्धि की है—दूसरे को मारना चाहती है। तोता भला मयूर (शत्रु) किसी का नहीं बन सकता। जो स्त्री अपने पति की आज्ञा में नहीं है भला उसका क्या विश्वास किया जाय? सम्भव है रात आते ही उसकी खोज की जाय और तब घोड़े का रोग बन्दर पर जाय। अर्थात् रानी का दोष मेरे ऊपर पड़े और मैं ही मारी जाऊं। दो वस्तुयें एक हत्या, और दूसरे पाप, छिपाये नहीं छिपते। अन्त में वे ही विनाश करते हैं और स्वयं उसके साक्षी बन जाते हैं।

[ ८७ ]

राखा सुआ, धाइ मति साजा। भएउ खोज निसि आएँ राजा ॥
रानी उतर मान सौं दीन्हा। पंडित सुआ मँजारी लीन्हा ॥
मैं पूँछा 'सिंघल पदुमिनी। उतरु दीन्ह तूँ, का नागिनी ॥
व जस दिन, तूँ निसि अँधिआरी। जहाँ बसंत, करील को बारी ॥
का तोर पुरुप रैनि को राऊ। उलू न जान देवस कर भाऊ ॥
का वह पंखि कोटि महं कोटी। अस बड़ बोल जीभ कह छोटी ॥
रुहिर चुऐ जब जब कह बाता। भोजन बिनु भोजन मुख राता ॥
माथें नहिं बैसारिअ, सठहि सुआ जौं लोन।
कान टूट जेहि अभरन, का ले करब सो सोन ॥ ८७ ॥

शब्दार्थ—मान सौं = घमण्ड से। कोटि = करोड़ों, पाठान्तर-कूट = कालकूट (विष)। रुहिर (रुधिर) = खून-पाठान्तर-जहर। अभरन = आभरण, गहना। बैसारिअ = बिठाते।

अर्थ—धाय ने अपनी मति को निश्चय करके तोते को छिपा रक्खा। रात को जब राजा आया तो तोते की खोज हुई। रानी ने बड़े तपाक से उत्तर दिया

कि पंडित तोते को बिल्ली ने पकड़ लिया। मैंने उससे सिंहल की पद्मिनी के विषय में पूछा था। उस पर उसने उत्तर दिया था कि तुम नागिनी के समान कौन हो ? सिंहल की पद्मिनी दिन के सदृश तो तू रात की अन्धेरी के समान है, कहाँ वसन्त और कहाँ करील की कटीली झाड़ी ? और तेरा पति ही क्या है—वह तो रात का स्वामी है, उल्लू दिन का भाव नहीं जान सकता। इसलिए वह पक्षी क्या था, करोड़ों पक्षी हैं। उस छोटी जिह्वा से बहुत बड़ी-बड़ी बातें करता था। उसकी लाल चोंच पर संकेत करके कहती है कि जब-जब वह बात करता था उसके मुख में से खून टपकता मालूम पड़ता था। बिना किसी भोजन के भी उसका मुख लाल था। दुष्ट तोता यदि सुन्दर हो जाय तो उसे मत्थे पर नहीं बिठाना चाहिए, जिस आभूषण से कान ही टूट जाय उस सोने को लेकर क्या करेंगे ?

अलंकार—उत्प्रेक्षा—रुहिर चुअै ········रात।

दृष्टान्त—कान टूट ·········सोन।

[ ८८ ]

राजै सुनि बियोग तस माना। जैसे हिएँ बिक्रम पछिताना ॥
वह हीरामनि पंडित सुआ। जौं बोलै तौ अंम्रित चुआ ॥
पंडित दुख खंडित निरदोखा। पंडित हुतें परै नहि धोखा ॥
पंडित केरि जीभि मुख सूधी। पंडित बात न कहै निबूधी ॥
पंडित सुमति देइ पंथ लावा। जो कुपथ तेहि पँडित न भावा ॥
पंडित राते बदन सरेषा। जो हत्यार रुहिर पै देखा ॥
कै परान घट आनहु मती। कै चलि होहु सुआ सँग सती ॥
जनि जानहु कै औगुन, मँदिर होइ सुख साज ॥
आएसु मेटि कंत कर, काकर भा न अकाज ॥ ८८ ॥

शब्दार्थ—विक्रम = विक्रमादित्य—राजा विक्रमादित्य के सम्बन्ध में एक कहानी है कि उसके पास भी एक हीरामन तोता था। उसने राजा को एक-दिन एक फल दिया और कहा कि जो इसे खायेगा वह कभी बूढ़ा न होगा। राजा ने वह फल बगीचे में बोने को दिया। उससे पेड़ हुआ और उसमें जो पहला फल लगा उसे माली राजा की सेवा में लाया। राजा ने वह फल रानी को

दिया। रानी ने परीक्षा के लिए फल का थोड़ा-सा भाग एक कुत्ते को दिया। कुत्ता मर गया। बात यह थी कि फल जब गिरा था तो उसमें एक सांप ने अपना विष डाल दिया था। राजा ने तोते को मरवा डाला। कुछ दिन पीछे उस वृक्ष में एक और फल लगा। मालिन रूठी हुई थी। उसने उस फल को मरने के लिए खाया, वह बूढ़ी से जवान हो गई। राजा को यह सुनकर बड़ा पश्चात्ताप हुआ।

हुतें = से। निबूधी = बुद्धि से रहित, विचारशून्य। सरेषा = चतुर। मती = नागमती।

अर्थ—राजा यह सुनकर हृदय में इस प्रकार दुःखी हुआ—जैसे राजा विक्रमादित्य तोते को मरवा कर पछताया था। वह हीरामनि पंडित सुआ जब बोलता था तो अमृत टपकता था। वह पंडित था, दुःख को नष्ट करने वाला और निर्दोष था, पंडित से कोई धोखा नहीं हो सकता। पंडित के मुख में जीभ सीधी होती है, वह कभी विचारशून्य बात नहीं कहता। पंडित सुमति देकर सत्पथ पर लाता है पर जो कुपंथ पर है उसे पंडित अच्छा नहीं लगता। पंडित चतुर व्यक्ति होता है, उसका मुख लाल होता है पर जो हत्यारा होता है उसे उसमें खून दिखाई पड़ता है। हे नागमती! या तो मेरे प्राणस्वरूप तोते को लाओ, नहीं तो चलकर तोते के साथ तुम भी सती हो। यह मत समझो कि बुरा करके राजमहल में सुख से रहोगी, पति की आज्ञा को मिटाकर भला किसकी हानि नहीं होती?

[ ८६ ]

चाँद जैस धनि उजिआरि अही। भा पिउ रोस, गहन अस गही॥
परम सोहाग निबाहि न पारी। भा दोहाग सेवाँ जब हारी॥
एतनिक दोस बिरचि पिउ रूठा। जो पिउ आपन कहै सो झूठा॥
ऐसें गरब न भूलै कोई। जेहि डर बहुत पिआरी सोई॥
रानी आइ धाइ के पासाँ। सुआ मुआ सेंवर कै आसाँ॥
परा प्रीति कंचन महँ सीसा। बिथरि न मिलै, स्याम पै दीसा॥
कहाँ सोनार पास जेहि जाऊँ। देइ सोहाग करै एक ठाऊँ॥

मैं पिय प्रीति भरोसे, गरब कीन्ह जिअ माहँ ।
तेहि रिसि हौं परहेलिउँ, निगड़ रोस किअ नाहँ ॥ ८६ ॥

शब्दार्थ—धनि = स्त्री । उजिअरि = उज्ज्वल । अही = थी । गहन = ग्रहण । पारी = सकी । दोहाग = दुर्भाग्य (सोहाग का विलोम) । विरचि = करके—पाठान्तर-लागि = लिए । भुआ = सेमर का फल जिसमें रुई होती है । परा = पड़ा । कंचन-सोना । सीसा-एक काले रंग की धातु । बिथरि—पाठान्तर बिछुरि, विहरि = अलग । स्याम = काला । दीसा-दिखाई पड़ता है । सोनार = स्वर्णकार-पाठान्तर-सोनारि = वह औरत । देई = दे कर । सोहाग = सोहागा, सौभाग्य । परहेलिउं = अवहेलना की । निगड़ = बेड़ी-पाठान्तर-रूसेउ नागर नाँह = पति असन्तुष्ट हो गया ।

अर्थ—रानी नागमती चन्द्रमा के समान उज्ज्वल और प्रसन्न थी, राजा के क्रोध करने पर मानो उस पर ग्रहण लग गया । वह अपने बड़े सोहाग का निर्वाह न कर सकी, जब सेवा से विचलित हुई तो उसका दुर्भाग्य आ गया । वह सोचने लगी कि इतने ही दोष के करने पर पति रूठ गया जो पति को अपना कहे वह झूठा (व्यर्थ) है । ऐसे गर्व पर किसी को भूल न जाना चाहिए, पति की तो वास्तव में प्यारी वही है जो पति से बहुत डरती रहती है । रानी धाय के पास इस प्रकार आई जैसे तोता आशा लगा कर सेमर के फल पर आता है । कवि कहता है कि प्रीति रूपी सोने में सीसा पड़ गया, जिससे सोने का रंग स्पष्ट नहीं होता, वह काला दिखाई पड़ता है । सोनार रूपी वह स्त्री कहां मिलेगी जिसके पास मैं जाऊँ और जो सोहागा रूपी मेरा सोहाग दे कर हमें मिला दे । जिस प्रकार सीसे के पड़ जाने से सोना दो टुकड़े हो जाता है, उसमें कालिमा दिखाई पड़ती है, उसी प्रकार इस समय मैं अपने पति से अलग हो गयी हूं, मेरा प्रेम दूषित हो गया है, सोनार जैसे सोहागा डाल कर सोने को जोड़ देता है उसी प्रकार वह कौन सी नारी है जो मेरे सुहाग को देकर मुझे अपने प्रियतम से मिला दे । मैंने अपने पति के प्रेम के भरोसे पर बड़ा गर्व किया था । उसी के कारण क्रोध से मैंने तोते की अवहेलना की । अब मेरे पति ने क्रोध की बेड़ी मुझे पहना दी—मैं बन्दिनी हूं ।

*टिप्पणी*—*यहां पर जायसी ने प्रेम के स्वरूप की अच्छी व्याख्या की है, प्रेम का असली स्वरूप आध्यात्मिक है। मनुष्य भगवान् से प्रेम तो कर सकता है, पर अभिमान का उस प्रेम में स्थान नहीं है। प्रेमी प्रतिक्षण परमेश्वर से डरता रहे तभी तक कुशल है। लौकिक पक्ष में यह ठीक घटित है। भारतीय पत्नीत्व का स्वरूप जायसी ने यहां खींचना चाहा है।*

अलंकार—उपमा— { चाँद जैस धनि......गही।
सूआ......सेंवर कै आस ।

श्लेष—सोनार, सोहाग।
रूपक—परा प्रीति......एक ठाऊँ ।

[ ६० ]

उतर धाइ तब दीन्ह रिसाई। रिसि आपुहि, बुधि औरहि खाई॥
मैं जो कहा रिसि करहु न बाला। को न गएउ एहि रिसि कर घाला॥
तूँ रिसि भरी न देखसि आगू। रिसि महँ काकर भएउ सोहागू॥
बिरस बिरोध रिसिहि पै होई। रिसि मारै, तेहि मार न कोई॥
जेहि की रिसि मरिए, रस जीजै। सो रस तजि रिसि कबहुँ न कीजै॥
जेहि रिसि तेहि रस जोगै न जाई। बिनु रस हरदि होइ पिअराई॥
कंत सोहाग कि पाइअ साँधा। पावै सोइ जो ओहिं चित बाँधा॥
रहै जो पिय के आएसु, औ बरतै होइ खीन।
सोइ चाँद अस निरमरि, जरम न होइ मलीन॥ ६०॥

शब्दार्थ—उतर = उत्तर। रिसि = क्रोध। घाला = मारा। आगू = भविष्य, परिणाम। काकर = किस का। बिरस = अनबन। रस = प्रेम, (यहाँ पर रिस के विलोम रूप में प्रयुक्त है। 'देव' ने भी इसी अर्थ में एक जगह प्रयोग किया है—रस रिस रास रोस आसरी सरन विसे बीसो विसवास रोकि राख्यो निसिवासरो)। जीजै = जीते हैं। जोगै = बचाना (अमिय मूरि जिमि जोगवत रहऊँ—तुलसी)। हरदि = हल्दी। पियराई = पीला होना, निष्प्रभ होना। साँधा = साध, चाह, इच्छामात्र। आएसु = आज्ञा। बरतै = व्यवहार करे। खीन-पाठान्तर-हीन = नम्र। निरमरि = निर्मल। जरम-पाठान्तर-जनम = जीवन।

अर्थ—तब धाय ने क्रुद्ध होकर कहा कि क्रोध अपने को और बुद्धि दूसर को मारती है (अवधी का मुहावरा है—रिसि खाइ अपुनै, बुद्धि खाइ आनै) मैंने तो पहले ही कहा था कि हे रानी क्रोध न करो, भला कौन इस क्रोध से मारा नहीं जाता। तू क्रोध में भरी थी, परिणाम तुम्हें नहीं दिखाई पड़ता था, सोचना चाहिए कि भला क्रोध में किस का सौभाग्य बन सकता है। क्रोध में तो अनबन और विरोध ही पैदा होता है, यदि कोई क्रोध को मार ले तो उसे कोई नहीं मार सकता। भला जिसके क्रोध से मरते हैं और प्रेम से जीते हैं, उस प्रेमी के प्रेम को छोड़कर क्रोध कभी न करना चाहिए। उस क्रोध में प्रेम की रक्षा नहीं की जा सकती, प्रेम के अभाव में चेहरे पर पीलापन आ जाता है, तेज जाता रहता है। पति का सोहाग क्या केवल इच्छा से प्राप्त हो सकता है? उसको तो वही पा सकती है जिस का चित्त उसी पति में बँधा है। जो पति की आज्ञा में रहती है और नम्र बनकर उसके प्रति व्यवहार रखती है, वही चन्द्रमा के समान निर्मल रहती है और जीवन में कभी मलिन नहीं होती।

अलङ्कार—उपमा—सोइ चाँद अस निरमर।

1955

[ ६१ ]

सुआ हारि समुझी मन रानी। सुआ दीन्ह राजा कहँ आनी॥
मान मते हौं गरब जो कीन्हा। कंत तुम्हारा मरम मैं लीन्हा॥
सेवा करै जो बरहौ मासा। एतनिक औगुन करहु बिनासा॥
जौं तुम्ह देइ नाइ कै गीवाँ। छाँड़हु नहिं बिनु मारें जीवाँ॥
मिलतहि महँ जनु अहहु निनारे। तुम्ह सौं अहै अदेस, पिआरे॥
मैं जाना तुम्ह मोही माहाँ। देखौं ताकि तौ हहु सब पाहाँ॥
का रानी, का चेरी कोई। जा कहँ मया करहु भलि सोई॥
तुम्ह सौं कोइ न जीता, हारे बररुचि भोज।
अ. ५ पहिलें आपु जो खोवै, करै तुम्हारा खोज॥ ६१॥

शब्दार्थ—मानमते = अभिमान के मत में-पाठान्तर-मानु पीय = हे पति मानो। मरम = भेद। बरहौ = बारह। एतनिक = थोड़े से। नाइकै = डाल कर। गीवाँ = ग्रीवा, गर्दन। अहहु = हो। निनारे = अलग। अहै = है।

अदेस = अंदेशा, शंका । ताकि = ध्यान से देखकर । हहु = हो । पाहाँ = पास । मया = कृपा । वररुचि-भोज = राजा भोज की सभा में वररुचि नाम का विद्वान् था । सभा में सभी प्रकार के विद्वत्तापूर्ण शास्त्रार्थ होते थे और निर्णय किये जाते थे ।

अर्थ—रानी ने मन में समझ लिया कि वह प्रेम की बाजी हार गयी । उसने तोते को लाकर राजा को दे दिया और कहा कि प्रेमाभिमान के कारण मैंने गर्व कर लिया था, हे पति मैंने तो तुम्हारा भेद लिया था कि तुम मुझे कितना चाहते हो । जो व्यक्ति बारहों मास आपकी सेवा करता है उसे बहुत थोड़े दोष पर ही आप मार सकते हो । जो अपनी गर्दन तुम्हारे सामने डाल देता है उसे भी तुम बिना मारे नहीं छोड़ते । मिलते हुए भी मानो तुम अलग ही हो । हे प्यारे तुमसे तो बहुत बड़ी शंका है । मैं समझती थी कि तुम मुझी में हो, पर जब ध्यान से देखा तो देखती हूं कि तुम तो सब में समाये हो । यहाँ पर जायसी आध्यात्मिक और अलौकिक प्रणय को ओर संकेत करते हैं । नागमती कहती है कि क्या रानी और क्या दासी, जिस पर आप कृपा करें वही अच्छी है । तुमसे कोई नहीं जीता, वररुचि और भोज की सभा भी तुम्हारा रहस्य नहीं जान सकती, जो व्यक्ति पहले अपने को खो दे वही तुम्हारी खोज कर सकता है ।

*टिप्पणी*—*इस पद में जायसी ने आध्यात्मिक रहस्य का अच्छा संकेत किया है । ईश्वर निर्लिप्त है, वह तो सब में समाया है और सब के साथ समान व्यवहार कर सकता है, उसका आध्यात्मिक प्रणय-प्रकाश सब में इस प्रकार समान रूप से पड़ सकता है जैसे एक ही सूर्य का प्रकाश घट-घट में समान रूप से पड़े । साधक परमेश्वर के प्रेम का एकाधिकारी नहीं, वह तो केवल उसकी कृपा मात्र का अधिकारी है । उसके रहस्य को कोई नहीं जान सकता । परमेश्वर का प्रेम त्याग और उत्कर्ष द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है । जैसा कि कबीर ने कहा है कि—*

*''यह तो है घर प्रेम का, खाला का घर नाहिं ।*
*सीस उतारै भुइं धरै, तब आवै घर माहिं ॥''*

इसी प्रकार जायसी भी कहते हैं कि तुम्हारी खोज वही कर सकता है जो पहले अपने को खो दे।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी यह पद महत्वपूर्ण है। नागमती ने सचमुच तोते को मरवाना चाहा था, पर जब उसे धाय से तोता जीवित मिल गया तो उसने कैसा पैंतरा बदल कर कहा कि वह तो परीक्षा लेना चाहती थी। जायसी जी मनोविज्ञान के पंडित थे, त्रिया-चरित्र का उन्होंने सुन्दर उदाहरण यहाँ पर प्रस्तुत किया है।

**अलंकार—समासोक्ति।**

---

# ६. राजा-सुआ-संवाद-खण्ड

[ ६२ ]

राजैं कहा सत्त कहु सुआ। बिनु सत कस जस सेंवर भुआ ॥
होइ मुख रात सत्त की बाता। जहाँ सत्त तहँ धरम सँघाता ॥
बाधी स्रिस्टि अहै सत केरी। लखिमी आहि सत्त की चेरी ॥
सत्त जहाँ साहस सिधि पावा। जौं सतबादी पुरुष कहावा ॥
सत कहँ सती सँवारै सरा। आगि लाइ चहुँ दिसि सत जरा ॥
दुइ जग तरा सत्त जेइँ राखा। औ पिआर दैअहि सत भाखा ॥
सो सत छाँड़ि जो धरम बिनासा। का मति हिएँ कीन्ह सत नासा ॥

तुम्ह सयान औ पंडित, असत न भाखहु काउ।
सत्त कहहु सो मोसों, दहुँ काकर अनियाउ ॥ ६२ ॥

शब्दार्थ—भुआ = सेमल का फल। रात = लाल, तेजयुक्त (सुर्खरू)। संघाता = साथ। सरा = चिता। दहुँ-(किधौं) = आखिर। काकर = किसका। अनियाउ = अन्याय, अपराध।

अर्थ—राजा ने कहा कि हे तोते तू सच कह, सत्य के बिना मनुष्य ऐसा है जैसे सेमर का फल जो देखने में सुन्दर और आकर्षक लगता है पर उसमें रूई मात्र होती है। सत्य की बात पर मुख पर चमक आती है, जहाँ सत्य है वहीं धर्म का साथ है। सारी सृष्टि ही सत्य की बाँधी है, लक्ष्मी भी सत्य की ही दासी है। जहाँ सत्य है वहीं साहस और वहीं सिद्धियाँ हैं, जो सत्यवादी है वही वास्तव में पुरुष कहा जाता है। सत्य के लिये ही सती चिता जलाती है और सत्य की रक्षा के लिए ही चारों ओर से आग लगा कर जल जाती है। जिसने सत्य की रक्षा की उसके दोनों लोक बन जाते हैं। सत्यवादी देव (परमेश्वर) भी उसी को प्यार देता है। इस प्रकार के सत्य को छोड़ कर जो धर्म को नष्ट करता है उसके हृदय में क्या बुद्धि है जिससे उसने सत्य का नाश

किया। तुम तो चतुर और पंडित हो। किसी से असत्य नहीं कह सकते, मुझसे सत्य-सत्य कहो कि इसमें किसका अन्याय था।

[ ६३ ]

सत्त कहत राजा जिउ जाऊ। पै मुख असत न भाखौं काऊ॥
हौं सत लै निसरा एहि पतें। सिंघल दीप राज घर हतें॥
पदुमावति राजा कै बारी। पदुम गंध ससि बिधि ओतारी॥
ससि मुख, अंग मलैगिरि रानी। कनक सुगंध दुआदस बानी॥
हँहिं जो पदुमिनि सिंघल माहाँ। सुगँध सुरूप सो ओहि की छाहाँ॥
हीरामनि हौं तेहि क परेवा। कंठा फूट करत तेहि सेवा॥
औ पाएउँ मानुस कै भाखा। नाहिं त कहाँ मूँठि भरि पाँखा॥
जौ लहि जिऔं रात दिन सुमिरौं, मरौं तो ओहि लै नाउँ।
मुख राता तन हरिअर कीन्हे, ओहूँ जगत लै जाउँ॥ ६३॥

शब्दार्थ—निसरा = निकला। पतें-पाठान्तर-पथे, सते, बूते (बल)। हतें = से। बारी = बाला, लड़की। दुआदस बानी = बारह बानी (द्वादश वर्ण = द्वादश आदित्य के समान)। हौं = मैं। तेहि क = उसी का। कंठा फूट = गले में लकीरें बनीं, वाणी का चतुर बना। मूंठि = मुट्ठी, किसी शायर ने इसी से मिलता-जुलता शेर कहा है :—

"मालूम है मुझे सब बुलबुल तेरी हकीकत,
एक मुश्त उस्तवाँ हैं, दो पर लगे हुए हैं।

ओ बुलबुल! तुझे मैं जानता हूं कि तेरी असलियत क्या है। एक मुट्ठी पंख हैं और दो पर लगे हुए हैं।

अर्थ—तोते ने उत्तर दिया कि हे राजा सत्य कहने से तो जान मारी जाती है, फिर भी मुख से असत्य कभी नहीं कह सकता। मैं सत्य ही लेकर इसी के आधार पर सिंहल द्वीप के राजघराने से निकल पड़ा हूँ। सिंहलद्वीप के राजा की लड़की पद्मावती है उसके शरीर से कमल की सुगन्ध निकलती है। मानो ब्रह्मा ने चन्द्रमा का अवतार पृथ्वी पर उत्पन्न किया है। उसका मुख चन्द्रमा के सदृश और अंग की खुशबू चन्दन के सदृश है, उसमें सोने में सुगन्ध है। उसके शरीर की कान्ति द्वादश आदित्य की भांति है। सिंहल-

द्वीप में और भी जो पद्मिनी नारियाँ हैं वे सब सुगन्ध और स्वरूप में उसकी छाया सदृश हैं। मैं उसी का हीरामनि नाम का पक्षी हूँ, उसी की सेवा करते हुए मेरे गले में कंठी फूटी है और मुझे मनुष्य की बोली प्राप्त हुई है। नहीं तो मैं भी तो मुट्ठी भर पंखों वाला पक्षी ही हूँ। जब तक जिऊँगा रात-दिन उसी को स्मरण करता रहूँगा और जब मरूँगा तब भी उसी का नाम लेकर मरूँगा। दूसरे लोक को भी लाल मुख और हरे तन को लेकर जाऊँगा।

अलंकार—उपमा, रूपक

[ ६४ ]

हीरामनि जौं कँवल बखाना। सुनि राजा होइ भुलाना॥
आगें आउ, पंखि उजिआरे। कहहि सो दीप पतंग कै मारे॥
रहा जो कनक सुबासित ठाऊँ। कस न होइ हीरामनि नाऊँ॥
को राजा, कस दीप उतंगू। जेहि रे सुनत मन भएउ पतंगू॥
सुनि सो समुँद चखु भे किलकिला। कँवलहि चहौं भँवर होइ मिला॥
कहु सुगंध धनि कसि निरमरी। भा अलि संग, कि अबहीं करी॥
औ कहु तहाँ जो पदुमिनि लोनी। घर घर सब के होइ जसि होनी॥
सबैं बखान तहाँ कर, कहत सो मोसों आउ।
चहौं दीप वह देखा, सुनत उठा तस चाउ॥ ६४॥

शब्दार्थ—दीप = द्वीप, दीपक। पतंग = पतिंगा, शलभ। उतंगू = उत्तुङ्ग, उच्च। किलकिला = समुद्र के ऊपर मछली के लिए मंडराने वाला पक्षी। चख = चक्षु, नेत्र। धनि = स्त्री। निरमरी = निर्मल। अलि = भौंरा। करी = कली (अविकसित, अविवाहिता)। लोनी = सुन्दरी। होनी = होने वाले व्यवहार। चाव = उमङ्ग।

अर्थ—हीरामनि ने ज्योंही उस कमल (पद्मावती) का वर्णन किया कि उसे सुन कर राजा भौंरे के समान मतवाला हो कर सब कुछ भूल गया। उसने कहा कि ऐ उज्ज्वल श्रेष्ठ पक्षी आगे आओ, उस द्वीप रूपी दीपक का वर्णन करो जिसके लिए मेरा मन रूपी पतंग मर रहा है। तू तो उस सुगन्धित स्वर्ण भूमि में रहा है, तेरा नाम हीरामनि क्यों न हो। बताओ कौन

किया। तुम तो चतुर और पंडित हो। किसी से असत्य नहीं कह सकते, मुझसे सत्य-सत्य कहो कि इसमें किसका अन्याय था।

[ ६३ ]

सत्त कहत राजा जिउ जाऊ। पै मुख असत न भाखौं काऊ ॥
हौं सत लै निसरा एहि पतें। सिंघल दीप राज घर हतें ॥
पदुमावति राजा कै बारी। पदुम गंध ससि बिधि औतारी ॥
ससि मुख, अंग मलैगिरि रानी। कनक सुगंध दुआदस बानी ॥
हहिं जो पदुमिनि सिंघल माहाँ। सुगँध सुरूप सो ओहि की छाहाँ ॥
हीरामनि हौं तेहि क परेवा। कंठा फूट करत तेहि सेवा ॥
औ पाएउँ मानुस कै भाखा। नाहिं त कहाँ मूँठि भरि पाँखा ॥
जौं लहि जिऔं रात दिन सुमिरौं, मरौं तो ओहि लै नाउँ।
मुख राता तन हरिअर कीन्हे, ओहूँ जगत लै जाउँ ॥ ६३ ॥

शब्दार्थ—निसरा = निकला। पतें-पाठान्तर-पथे, सते, बूते (बल)। हतें = से। बारी = बाला, लड़की। दुआदस बानी = बारह बानी (द्वादश वर्ण = द्वादश आदित्य के समान)। हौं = मैं। तेहि क = उसी का। कंठा फूट = गले में लकीरें बनीं, वाणी का चतुर बना। मूंठि = मुट्ठी, किसी शायर ने इसी से मिलता-जुलता शेर कहा है :—

"मालूम है मुझे सब बुलबुल तेरी हकीकत,
एक मुश्त उस्तवाँ हैं, दो पर लगे हुए हैं।

ओ बुलबुल ! तुझे मैं जानता हूं कि तेरी असलियत क्या है। एक मुट्ठी पंख हैं और दो पर लगे हुए हैं।

अर्थ—तोते ने उत्तर दिया कि हे राजा सत्य कहने से तो जान मारी जाती है, फिर भी मुख से असत्य कभी नहीं कह सकता। मैं सत्य ही लेकर इसी के आधार पर सिंहल द्वीप के राजघराने से निकल पड़ा हूँ। सिंहलद्वीप के राजा की लड़की पद्मावती है उसके शरीर से कमल की सुगन्ध निकलती है। मानो ब्रह्मा ने चन्द्रमा का अवतार पृथ्वी पर उत्पन्न किया है। उसका मुख चन्द्रमा के सदृश और अंग की खुशबू चन्दन के सदृश है, उसमें सोने में सुगन्ध है। उसके शरीर की कान्ति द्वादश आदित्य की भांति है। सिंहल-

वहाँ का राजा है, कैसा श्रेष्ठ वह द्वीप है जिसको सुनते ही मेरा मन पतंगा हो गया है। उस समुद्र को सुन कर मेरी आँखें किलकिली पक्षी बन गयी हैं, वहीं मंडराना चाहती हैं। मैं भौंरा बन कर उस कमल रूपी पद्मावती से मिलना चाहता हूं। बताओ कि वह सुगन्धित अंगों वाली स्त्री कैसी निर्मल है, उसका भौंरे का साथ हुआ है या कि अभी बिलकुल अविकसित कली ही है। फिर उस द्वीप की सुन्दरी पद्मिनियों का वर्णन कर और उनके घर-घर में जो व्यवहार-बात हों उनको भी कह। मुझसे वहाँ की सभी वस्तुओं का वर्णन करता चल। मेरे हृदय में ऐसी उमङ्ग उठ रही है कि मैं उस द्वीप को देखना चाहता हूँ।

अलंकार—रूपक।

[ ६५ ]

का राजा हौं बरनौं तासू। सिंघल दीप आहि कबिलासू॥
जो गा तहाँ भुलानेउ सोई। गे जुग बीत न बहुरा कोई॥
घर घर पदुमिनी छतिसौ जाती। सदा बसंत देवस और राती॥
जेहि जेहि बरन फूल फुलवारी। तेहि तेहि बरन सुगंध सो नारी॥
गन्ध्रपसेनि तहाँ बड़ राजा। अछरिन्ह माहँ इंद्र बिधि साजा॥
सो पदुमावति ताकरि बारी। औ सब दीप माहिं उजिआरी॥
चहुँ खण्ड के बर जो ओनाहीं। गरबन्ह राजा बोलै नाहीं॥
उअत सूर जस देखिअ, चाँद छपै तेहि धूप।
औसै सबै जाहिं छपि, पदुमावति के रूप॥ ६५॥

शब्दार्थ—कबिलासू = कैलाश, स्वर्ग। गा = गया। गे = गये। बहुरा = लौटा। छतिसौ = छत्तीसौं, सभी। देवस = दिवस। अछरिन्ह = अप्सराओं। ओनाहीं = झुकते हैं। उअत = उगता हुआ। सूर = सूर्य।

अर्थ—तोता बोला कि हे राजा मैं उस द्वीप का क्या वर्णन करूँ, वह सिंहलद्वीप तो स्वर्ग है। वहाँ जो ही जाता है वही भुला जाता है. अनेक युगों के बीत जाने पर भी कोई आज तक वहाँ से नहीं लौटा (मुसलमान धर्म के अनुसार पुनर्जन्म नहीं होता)। वहाँ की सभी जातियों की स्त्रियाँ पद्मिनी जाति की नारियाँ हैं, वहाँ सदैव ही रात-दिन वसन्त की ही बहार

रहती है। जितने रङ्गों के फूल फुलवाड़ी में होते हैं उतने रङ्गों की सुगन्ध-युक्त नारियाँ वहाँ हैं। वहाँ पर गन्धर्वसेन नाम का महाराजा है, उसका साज सौंदर्य ऐसा है मानो ब्रह्मा ने अप्सराओं के बीच इन्द्र बना रखा है। वह पद्मावती इसी राजा की बेटी है, वह सारे द्वीप का प्रकाश है। चारों खंडों के वर उसको पाने के लिए झुकते हैं पर वह गर्वीला राजा किसी से बोलता तक नहीं। सब देशों के राजकुमार पद्मावती के रूप के सामने इस प्रकार छिप जाते हैं, उनकी द्युति ऐसी फीकी पड़ जाती है जैसे जब सूर्योदय होता है तो उसकी धूप से चन्द्रमा की द्युति फीकी पड़ जाती है और छिप जाता है। पद्मावती का बाल सौंदर्य उगते हुए सूर्य के समान है।

अलङ्कार—उपमा।

[ ९६ ]

सुनि रबि नाउँ रतन भा राता। पंडित फेरि इहै कहु बाता॥
तुइँ सुरंग मूरति वह कही। चित महँ लागि चित्र होइ रही॥
जनु होइ सुरुज आइ मन बसी। सब घट पूरि हिएँ परगसी॥
अब हौं सुरुज, चाँद वह छाया। जल बिनु मीन, रकत बिनु काया॥
किरिनि करा भा पेम अँकूरू। जौं ससि सरग, मिलौं होइ सूरू॥
सहसहुँ कराँ रूप मन भूला। जहँ जहँ दिस्टि कँवल जनु फूला॥
तहाँ भँवर जेउँ कँवला गंधी। भै ससि राहु केरि रिनि बंधी॥
तीनि लोक चौदह खंड, सबै परै मोहि सूझि।
पेम छाँड़ि किछु औरु न लोना, जौं देखौं मन बूझि॥ ९६॥

शब्दार्थ—रतन = रत्नसेन। राता = लाल, प्रसन्न। सुरंग = सुन्दर रङ्ग वाली। परगसी = प्रकाशित हुई। किरिन = किरण। करा = कला। लोना = सुन्दर।

अर्थ—उस सूर्य सदृश पद्मावती का नाम सुनकर रत्नसेन अत्यन्त पुलकित हो उठा। उसने कहा कि हे पंडित सुए फिर से यही बात कहो। तुमने उस सुन्दर मूर्ति का वर्णन किया है कि चित्र बनकर वह मेरे चित्त में चढ़ गई है। मानो सूर्य होकर वह मन में आकर बस गयी है। सारे हृदय में उसी का प्रकाश प्रकट हुआ है। अब तो मेरा और उसका अभिन्न सम्बन्ध

वहाँ का राजा है, कैसा श्रेष्ठ वह द्वीप है जिसको सुनते ही मेरा मन पतंगा हो गया है। उस समुद्र को सुन कर मेरी आँखें किलकिली पक्षी बन गयी हैं, वहीं मंडराना चाहती हैं। मैं भौंरा बन कर उस कमल रूपी पद्मावती से मिलना चाहता हूं। बताओ कि वह सुगन्धित अंगों वाली स्त्री कैसी निर्मल है, उसका भौंरे का साथ हुआ है या कि अभी बिलकुल अविकसित कली ही है। फिर उस द्वीप की सुन्दरी पद्मिनियों का वर्णन कर और उनके घर-घर में जो व्यवहार-बात हों उनको भी कह। मुझसे वहाँ की सभी वस्तुओं का वर्णन करता चल। मेरे हृदय में ऐसी उमङ्ग उठ रही है कि मैं उस द्वीप को देखना चाहता हूँ।

अलंकार—रूपक।

[ ६५ ]

का राजा हौं बरनौं तासू। सिंघल दीप आहि कबिलासू॥
जो गा तहाँ भुलानेउ सोई। गे जुग बीत न बहुरा कोई॥
घर घर पदुमिनी छतिसौ जाती। सदा बसंत देवस और राती॥
जेहि जेहि बरन फूल फुलवारी। तेहि तेहि बरन सुगंध सो नारी॥
गन्धपसेनि तहाँ बड़ राजा। अछरिन्ह माहँ इंद्र विधि साजा॥
सो पदुमावति ताकरि बारी। औ सब दीप माहिं उजिआरी॥
चहुँ खण्ड के बर जो ओनाहीं। गरबन्ह राजा बोलै नाहीं॥
उअत सूर जस देखिअ, चाँद छपै तेहि धूप।
औसै सबै जाहिं छपि, पदुमावति के रूप॥ ६५॥

शब्दार्थ—कबिलासू = कैलाश, स्वर्ग। गा = गया। गे = गये। बहुरा = लौटा। छतिसौ = छत्तीसों, सभी। देवस = दिवस। अछरिन्ह = अप्सराओं। ओनाहीं = झुकते हैं। उअत = उगता हुआ। सूर = सूर्य।

अर्थ—तोता बोला कि हे राजा मैं उस द्वीप का क्या वर्णन करूँ, वह सिंहलद्वीप तो स्वर्ग है। वहाँ जो ही जाता है वही भुला जाता है. अनेक युगों के बीत जाने पर भी कोई आज तक वहाँ से नहीं लौटा (मुसलमान धर्म के अनुसार पुनर्जन्म नहीं होता)। वहाँ की सभी जातियों की स्त्रियाँ पद्मिनी जाति की नारियाँ हैं, वहाँ सदैव ही रात-दिन वसन्त की ही बहार

रहती है। जितने रङ्गों के फूल फुलवाड़ी में होते हैं उतने रङ्गों की सुगन्ध-युक्त नारियाँ वहाँ हैं। वहाँ पर गन्धर्वसेन नाम का महाराजा है, उसका साज सौंदर्य ऐसा है मानो ब्रह्मा ने अप्सराओं के बीच इन्द्र बना रखा है। वह पद्मावती इसी राजा की बेटी है, वह सारे द्वीप का प्रकाश है। चारों खंडों के वर उसको पाने के लिए झुकते हैं पर वह गर्वीला राजा किसी से बोलता तक नहीं। सब देशों के राजकुमार पद्मावती के रूप के सामने इस प्रकार छिप जाते हैं, उनकी द्युति ऐसी फीकी पड़ जाती है जैसे जब सूर्योदय होता है तो उसकी धूप से चन्द्रमा की द्युति फीकी पड़ जाती है और छिप जाता है। पद्मावती का बाल सौंदर्य उगते हुए सूर्य के समान है।

अलङ्कार—उपमा।

[ ९६ ]

सुनि रबि नाउँ रतन भा राता। पंडित फेरि इहै कहु बाता॥
तुइँ सुरंग मूरति वह कही। चित महँ लागि चित्र होइ रही॥
जनु होइ सुरुज आइ मन बसी। सब घट पूरि हिएँ परगसी॥
अब हौं सुरुज, चाँद वह छाया। जल बिनु मीन, रकत बिनु काया॥
किरिनि करा भा पेम अँकूरू। जौं ससि सरग, मिलौं होइ सूरू॥
सहसहुँ कराँ रूप मन भूला। जहँ जहँ दिस्टि कँवल जनु फूला॥
तहाँ भँवर जेउँ कँवला गंधी। भै ससि राहु केरि रिनि बंधी॥
तीनि लोक चौदह खंड, सबै परै मोहि सूझि।
पेम छाँड़ि किछु और न लोना, जौं देखौं मन बूझि॥ ९६॥

शब्दार्थ—रतन = रत्नसेन। राता = लाल, प्रसन्न। सुरंग = सुन्दर रङ्ग वाली। परगसी = प्रकाशित हुई। किरिन = किरण। करा = कला। लोना = सुन्दर।

अर्थ—उस सूर्य सदृश पद्मावती का नाम सुनकर रत्नसेन अत्यन्त पुलकित हो उठा। उसने कहा कि हे पंडित सुए फिर से यही बात कहो। तुमने उस सुन्दर मूर्ति का वर्णन किया है कि चित्र बनकर वह मेरे चित्त में चढ़ गई है। मानो सूर्य होकर वह मन में आकर बस गयी है। सारे हृदय में उसी का प्रकाश प्रकट हुआ है। अब तो मेरा और उसका अभिन्न सम्बन्ध

इस प्रकार हो गया है जैसे सूर्य और उसकी छाया चाँद का। जैसे जल के बिना मछली और रक्त के बिना शरीर नहीं रह सकता इसी प्रकार अब मैं उसके बिना नहीं रह सकता। अब मेरे हृदय में प्रेम का अंकुर किरणों की कला के समान फूट निकला है। यदि पद्मावती स्वर्ग में रहने वाला शशि है तो मैं सूर्य बनकर उससे मिलूँगा। उसकी हजारों कलाओं वाले रूप पर मेरा मन भूल गया है। जहाँ-जहाँ मेरी दृष्टि पड़ रही है वहीं फूला हुआ कमल (पद्मावती) दिखाई पड़ता है। भौंरा तो वहीं रहता है जहाँ कमल की सुगन्ध है, अब तो चन्द्रमा राहु के ऋण में बँध गया अर्थात् अब चाहे जो कुछ हो मैं तो उससे बँध गया। अब तो मुझे तीनों लोक और चौदहों भुवनों में यही दिखाई पड़ रहा है कि प्रेम को छोड़ कर और कुछ भी सुन्दर नहीं है, यह मैंने अपने मन में अच्छी प्रकार समझ लिया है।

अलंकार—उपमा और रूपक। इस पद में जायसी ने सूर्य, चन्द्र और राहु के बड़े अव्यवस्थित सम्बन्ध जोड़े हैं।

[ ६७ ]

पेम सुनत मन भूलु न राजा। कठिन पेम सिर देइ तौ छाजा ॥
पेम फाँद जो परा न छूटा। जीउ दीन्ह बहु फाँद न टूटा ॥
गिरगिट छंद धरै दुख तेता। खिन खिन रात, पीत, खिन सेता ॥
जानि पुछारि जो भै बनबासी। रोवँ रोवँ परे फाँद नगवासी ॥
पाँखन्ह फिरि फिरि परा सो फाँदू। उड़ि न सकै, अरुझी भा बाँदू ॥
मुयों मुयों अहनिसि चिल्लाई। ओहि रोस नागन्ह धरि खाई ॥
पँडुक, सुआ, कंठ ओहि चीन्हा। जेहि गियँ परा चाह जिउ दीन्हा ॥
तीतिर गियँ जो फाँद है, नितहि पुकारै दोख।
सकति हँकारि फाँद गियँ मेलै, कब मारै होइ मोख ॥ ६७ ॥

शब्दार्थ—पेम = प्रेम। छाजा = शोभित होना। फाँद = फंदा। जीउ = जीव। छंद = रूप। रात = लाल। सेता = सफेद। पुछारि = पूंछ वाला, मोर। नगवासी = नाग के फंदे। पाँखन्ह = पंखों से। मुयों-मुयों = मरा-मरा, मोर की बोली में 'मुयों' की ध्वनि निकलती है। अहनिसि = दिन-रात। ओहि = उसी। रोस = क्रोध। पँडुक=पण्डक पक्षी। चीन्हा=चिन्ह, निशान।

गियँ = ग्रीवा, गला । सकति = शक्ति । हुँकारि = ललकार करके । कब-पाठान्तर-कत = क्यों । मारैं = मारने पर । मोख = मुक्ति ।

अर्थ—तोते ने कहा कि हे राजा प्रेम का नाम सुनते ही भूल न जाओ । प्रेम बड़ा कठिन है. जो सिर देता है उसी को यह शोभा देता है । जो व्यक्ति प्रेम के फन्दे में एक बार पड़ जाता है वह कभी नहीं छूटता, चाहे वह जान दे दे पर उसका प्रेम का फंदा नहीं टूटता । जायसी जी प्रेम के उदाहरण में भिन्न-भिन्न पक्षियों और जीवों के दुःखों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि गिरगिट भी प्रेम में पड़ा होगा तभी तो वह अनेक प्रकार के रूप बदलता है । क्षण-क्षण पर लाल, पीला और सफेद होता है ( गिरगिट का रंग बदलना प्रसिद्ध है) । मोर जंगल में रहता है इस पर जायसी कल्पना करते हैं कि प्रेम के कारण मोर वनवासी हो गया है, उसके अंग पर टेढ़ी-टेढ़ी लकीरें होती हैं, इनके लिए वे कल्पना करते हैं प्रेम के दर्द ही उसके रोम-रोम में नागपाश पड़ी हुई है । मोर अधिक उड़ नहीं सकता है, इसके लिए कहते हैं कि पंखों से लौट-लौट कर वह फंदे में ही रह जाता है, उड़ नहीं सकता, उलझ करके बन्दी बनकर रह जाता है । वह 'मुयों-मुयों' की बोली बोलता है मानों दर्द से रात-दिन चिल्लाता है कि 'मरा-मरा' ! उसके दर्द में ऐसा पागल हो जाता है कि वह साँप को पकड़ कर खाने लगता है । पंडक पक्षी के गले में उसी प्रेम के फन्दे का ही निशान (लकीरें) है । जिस के गले में वह प्रेम का फंदा पड़ा वही जान देना चाहता है । तीतर के गले में भी वही फंदा पड़ा है इसी लिए वह उचक-उचक करके नित्य पुकारता रहता है ( तीतर की बोली में हिचकी सी आती है, मानो उसी दर्द से वह ऐसा बोलता है) । इतने उदाहरण देकर हीरामनि राजा से कहता है कि क्या तेरे में शक्ति है कि तू आवाहन करके उस प्रेम के फंदे को गले में डाल रहा है, पता नहीं कब मार कर यह मुक्ति देगा, अर्थात् इससे तो छुटकारा तभी मिलेगा जब मृत्यु होगी ।

अलंकार—हेतूत्प्रेक्षा, गिरगिट से लेकर अन्त तक सुन्दर उत्प्रेक्षायें जायसी ने इस पद में रक्खी हैं ।

[ ६८ ]

राजैं लीन्ह ऊभ भरि साँसा। ऐस बोल जनि बोलु निरासा॥
भलेहिं पेम है कठिन दुहेला। दुइ जग तरा पेम जेइँ खेला॥
दुख भीतर जो पेम मधु राखा। गंजन मरन सहै सो चाखा॥
जेइँ नहिं सीस पेम पँथ लावा। सो प्रिथिमी महँ काहे कों आवा॥
अब मैं पेम पंथ सिर मेला। पाँव न ठेलु, राखु कै चेला॥
पेम बार सो कहै जो देखा। जेइँ न देख, का जान बिसेखा॥
तब लगि दुख, प्रीतम नहिं भेंटा। जब भेंटा, जरमन्ह दुख मेटा॥
जसि अनूप तुइँ देखी, नख सिख बरनि सिंगार।
है मोहि आस मिलन कै, जौं मेरवै करतार॥ ६८॥

शब्दार्थ दुहेला = कठिन खेल। गंजन मरन-पाठान्तर-जग नहिं मरन-गंजन = पीड़ा। जरमन्ह = जीवन भर का।

अर्थ—राजा ने लम्बी साँस लेकर कहा, इस प्रकार के निराशा के वचन न बोलो। भले ही प्रेम एक कठिन खेल हो, पर जो प्रेम का खेल खेल लेता है, वह दोनों संसारों में तर जाता है। प्रेम मार्ग में दुःख के भीतर जो मधु भरा है उसे जो चख लेता है उसे मृत्यु की पीड़ा सहने की शक्ति हो जाती है, अर्थात् उसे मृत्यु की पीड़ा भी नहीं मालूम होती। जिस आदमी ने प्रेम-पन्थ में अपना सिर नहीं लगाया वह पृथ्वी पर आया ही क्यों? अब मैंने प्रेम-मार्ग में अपना सिर लगा दिया है तो तुम पैर से धक्का मत दो, मुझे अपना शिष्य बना कर रक्खो। प्रेम के द्वार को जो देखता है वही कह सकता है, जो देख ही नहीं सकता वह उसकी विशेषता क्या जानेगा? दुःख तो तभी तक है जब तक प्रियतम का मिलन नहीं होता। जब उससे मिलन हो जाता है तब तो जन्म-जन्म के दुःख दूर हो जाते हैं। इसलिए वह पद्मावती जैसी अनुपम तुमने देखी है, उसका तू नख-शिख-शृंगार वर्णन कर, मुझे उससे मिलने की आशा है यदि परमेश्वर ने चाहा।

———

# १०. नख-शिख-खण्ड

[ ६६ ]

का सिंगार ओहि बरनौं, राजा । ओहि क सिंगार ओहि पै छाजा ॥
प्रथम हि सीस कस्तुरी केसा । बलि बासुकि, को औरु नरेसा ॥
भँवर केस, वह मालति रानी । बिसहर लुरहिं लेहिं अरघानी ॥
बेनी छोरि झारु जौं बारा । सरग पतार होइ अँधियारा ॥
कोंवल कुटिल केस नग कारे । लहरन्हि भरे भुअंग बिसारे ॥
बेधे जानु मलैगिरि बासा । सीस चढ़े लोटहिं चहुँ पासा ॥
घुँघुरवारि अलकैं बिख भरीं । सिंकरीं पेम चहहिं गियँ परीं ॥
अस फँदवारे केस वै राजा, परा सीस गियँ फाँद ।
अस्टौ कुरी नाग ओरगाने, भै केसन्हि के बाँद ॥ ६६ ॥

शब्दार्थ—बलि = निछावर होना । वासुकि = शेषनाग । लुरहि = लहर रहे हैं । लेहिं = लेते हैं । अरघानी = आघ्राण, सुगंध । बेनी = वेणी, जूड़ा । कोंवल = कोमल । कुटिल = टेढ़े । बिसारे = विषैले । बेधे = लिपटे हैं ! घुँघुरवारि = घुँघराली । अलकैं = लटें । बिख = विष । सिंकरी = जंजीरें । गिय = गले । फंदवार = फंदे में फंसाने वाले । अष्टौ = अष्ट, आठ । कुरी=कुल वाले (नागों के आठ कुल हैं—वासुकि, तक्षक, कुलक, कर्कोटक, पद्म, शंखचूड़, महापद्म और धनंजय) । ओरगाने = झुके । बाँद = बन्दी ।

अर्थ—तोता बोला—हे राजा ! मैं उसके श्रृङ्गार का क्या वर्णन करूँ, उसका श्रृङ्गार तो उसी पर शोभा पाता है । सबसे पहले उसके शीश पर बाल कस्तूरी के समान काले और सुगन्धित हैं, उस पर तो शेषनाग ही निछावर है । हे राजा ! और कौन उसके सदृश होगा ? रानी मानो मालती कुसुम है और उसके केश भौंरे हैं जो विषधर साँपों की भान्ति लहर रहे हैं और उसकी सुगन्धि ले रहे हैं । जब वह अपने जूड़े को छोड़ कर अपने बाल झारने लगती है तो बालों के कालेपन से स्वर्ग और पाताल सर्वत्र अँधेरा हो

जाता है। उसके कोमल टेढ़े काले साँपों जैसे बाल ऐसे लहराते हैं जैसे विषैले सर्प। उसके शीश पर चढ़े हुए और चारों ओर से ऐसे लोट रहे हैं मानो साँप मलयगिरि पर वास के लिए लिपटे हैं। विष से भरी हुई काली-काली अलकें मानो प्रेम की जंजीरें हैं जो कि किसी के गले में पड़ना चाहती हैं। हे राजा! वे केश ऐसे फंदा डालने वाले हैं कि सिर पर पड़ते ही गले को फांस लेते हैं। इन केशों के बन्धन में तो आठों कुलों के नाग आकर बँध गये हैं।

*टिप्पणी—जैसा पहले लिखा जा चुका है इसका नखशिख भारतीय कवियों की भान्ति पैरों से न आरम्भ होकर फारसी कवियों की भान्ति शीश से ही आरम्भ होता है।*

अलंकार—अन्वय ओहिक सिंगार ... छाजा।

असम—को औरु नरेसा।

रूपक—भँवर ... रानी, कोंवल ...... बिसारे।

हेतूत्प्रेक्षा—बिसहर ... अरघानी, बेधे जानु ... पासा।

अतिशयोक्ति—बेनी ... अँधियारा। अस्टौ कुरी ... बाँद।

उत्प्रेक्षा—सिकरी-प्रेम ... परीं।

1557

[ १०० ]

बरनौं माँग सीस उपराहीं। सेंदुर अबहिं चढ़ा तेहि नाहीं॥
बिनु सेंदुर अस जानहुं दिया। उजिआर पंथ रैनि महँ किया॥
कंचन रेख कसौटी कसी। जनु घन महँ दामिनि परगासी॥
सुरुज किरिनि जस गगन बिसेखी। जमुना माँझ सरसुती देखी॥
खाँडै धार रुहिर जनु भरा। करवत लै बेनी पर धरा॥
तेहि पर पूरि धरे जौं मोंती। जमुना माँझ गाँग कै सोती॥
करवत तपा लेहिं होइ चूरू। मकु सो रुहिर लै देइ सेंदूरू॥
कनक दुआदस बानि होइ, चह सोहाग वह माँग।
सेवा करहिं नखत औ तरई, उऐ गगन निसि गाँग॥१००॥

शब्दार्थ—उपराहीं = ऊपर। सेंदुर = सिन्दूर। दिया = दीपक। करवत = त्रिवेणी संगम (प्रयाग) और काशी में लोग अपने को आरे से कटवाते थे, इसी को करवट कहते थे। बेनी = त्रिवेणी। गाँग = गंगा।

सोती = स्रोत, धारा । तपा = तपस्वी । चूरू = चीरा जाना । मकु = सम्भव है । दुआदस बानि = द्वादशादित्य के समान चमकीली ।

अर्थ – अब मैं उसके सिर के ऊपर की माँग का वर्णन कर रहा हूँ, जिस पर अभी सिन्दूर नहीं चढ़ा है क्योंकि अभी पद्मावती कुमारी है। बिना सिन्दूर के सफेद रंगकी उसकी माँग ऐसी लगती है जैसे रात में सफेद रंग की पगडन्डी लगती है। (उसके काले बाल रात्रि का अंधकार और माँग पगडंडी है) अथवा काली कसौटी के बीच सोने की रेखा के समान है। या बादलों के बीच जैसे बिजली की रेखा प्रकाशित हो। या नीले आकाश में सूर्य की कोई विशेष किरण है। यमुना की धारा के बीच में सरस्वती की पतली धारा है अथवा काली तलवार की धार पर खून की धारा है। या त्रिवेणी संगम पर जैसे आरा रक्खा गया हो। उस माँग के ऊपर उसने जो मोतियों की लड़ी पूर रक्खी है ऐसी लगती है मानो यमुना में गंगा का सोता निकला है। तपस्वी इसलिए आरे से अपने को चिरवाते हैं कि सम्भव है उनके खून को लेकर वह सिंदूर लगा ले। उसकी सुनहली और चमकीली माँग सोहाग (सिंदूर) की अपेक्षा कर रही है, इस समय उसके ऊपर मोतियों की लड़ी ऐसी लगती है मानो आकाश की रात में आकाश गंगा के नक्षत्र और तारागण सेवा कर रहे हैं।

अलंकार—समस्त पद आलंकारिक है, कवि ने माँग की एक-एक सुन्दर उपमायें एकत्र की हैं और सिंदूर के न होने की व्यंजना के द्वारा राजा के हृदय में उससे विवाह करने की तीव्र गुदगुदी भी उत्पन्न कर दी है।

प्रत्येक पंक्ति में उपमा और उत्प्रेक्षा का कमनीय समन्वय है।

सोहाग शब्द में श्लेष अलङ्कार है, इसमें सोहागा और सिंदूर दोनों अर्थ हैं। बारहबानी (चमकीला) सोना सोहागा चाहता है और माँग सिंदूर चाहती है।

[ १०१ ]

कहौं लिलाट दुइजि कै जोती। दुइजिहि जोति कहाँ जग ओती॥
सहस करा जो सुरुज दिपाई। देखि लिलाट सोउ छपि जाई॥
का सरवरि तेहि देउ मयंकू। चाँद कलंकी, वह निकलंकू॥
औ चाँदहि पुनि राहु गरासा। वह बिनु राहु सदा परगासा॥

तेहि लिलाट पर तिलक बइठा। दुइजि पाट जानहु ध्रुव डीठा॥
कनक पाट जनु बैठेउ राजा। सबै सिंगार अत्र लै साजा॥
ओहि आगें थिर रहै न कोऊ। दहुँ काकह अस जुरा संजोऊ॥
खरग, धनुक, औ चक्र बान दुइ, जग मारन तिन्ह नाउँ।
सुनि कै परा मुरुछि कै राजा, मो कहँ भए एक ठाउँ॥१०१॥

शब्दार्थ—ओती = उतनी। सरवरि = बराबरी। मयंक = चन्द्रमा। दुइज = द्वितीया। पाट = आसन। धुव = ध्रुवतारा। डीठा = देखा। अत्र = अस्त्र, आभूषण। संजोऊ = संयोग। दहुँ = पता नहीं। मो कहँ भए एक ठाऊं-पाठान्तर-मोकहँ हए कुठाँव-मुझे बुरी जगह (मर्मस्थल) पर मारा।

अर्थ—तोता कहता है कि अब मैं उसके मत्थे का वर्णन करता हूँ, उसका ललाट द्वितीया में चन्द्रमा के समान है, पर दूज के चाँद में उतनी चमक कहाँ है। सहस्र किरणों से युक्त सूर्य भी यदि उदय हो तो उसके ललाट को देख कर छिप जाय तो फिर चन्द्रमा उसकी बराबरी कैसे कर सकता है। चाँद तो कलंक युक्त है और ललाट निष्कलङ्क है। और फिर चन्द्रमा को तो राहु ग्रसता है और ललाट तो बिना राहु के सदा प्रकाशित है। अपने ललाट पर उसने बिन्दी लगा रखी है, मानो दूज के चाँद रूपी आसन पर ध्रुवतारा दिखाई पड़ रहा है या जैसे सोने के पटले पर सभी श्रृङ्गारों और आभूषण आदि से सज कर राजा बैठा है। पद्मावती के ललाट के सौंदर्य के आगे कोई स्थिर नहीं रह सकता, पता नहीं किसका संयोग उसके साथ जुड़ेगा।

तोते ने कहा कि—खड्ग, धनुष, चक्र, बाण आदि देकर उसका नाम संसार को मारने वाला कर दिया है। यह सुनकर राजा मूर्छित होकर बोला कि मुझे तो ये सब एक जगह ही लग रहे हैं।

अलङ्कार—व्यतिरेक······का सरवरि······परगासा।
उत्प्रेक्षा—तेहि ललाट······राजा।

[ १०२ ]

भौहैं स्याम धनुकु जनु ताना। जासौं हेर मार विख बाना॥
उहै धनुक उन्ह भौहन्ह चढ़ा। केइ हतियार काल अस गढ़ा॥

उहै धनुक किरसुन पहँ अहा। उहै धनुक राघौ कर गहा॥
उहै धनुक रावन संघारा। उहै धनुक कंसासुर मारा॥
उहै धनुक बेधा हुत राहू। मारा ओहीं सहस्सरबाहू॥
उहै धनुक मैं ओपहँ चीन्हा। धानुक आपु बेझ जग कीन्हा॥
उन्ह भौंहन्हि सरि केउ न जीता। आछरिं छपीं, छपीं गोपीता॥
भौंह धनुक, धनि धानुक, दोसर सरि न कराइ।
गगन धनुक जो ऊगवै, लाजन्ह सो छपि जाइ॥ १०२॥

शब्दार्थ—हेर = देखना। हतियार = हत्यारा। किरसुन = कृष्ण। राघौ = राम। हुत = था। सहस्सरबाहू = सहस्रबाहु। ओपहँ = उस पर। चीन्हा = पहिचाना। धानुक = धनुर्धर। सरि = बराबरी। आछरिं = अप्सरायें। गोपीता = गोपियाँ।

अर्थ—इस पद में तोता पद्मावती की भौंहों का वर्णन करता है:—

उसकी काली भौंहें मानो धनुष चढ़ा हुआ है। जिसकी ओर देखती है उसे विष का बाण मार देती है। उन भौंहों पर मारने वाला धनुष चढ़ा है, किस हत्यारे ने काल के समान इन भौंहों को बनाया है। यही धनुष कृष्ण और राम के पास था और इसी से रावण और कंसासुर मारे गये थे। इसी से राहु और सहस्रबाहु मारे गए थे। इसी धनुष को मैंने उस पर देखा और पहिचाना वह स्वयं धनुषधारी बनी हुई है और सारे संसार को बाणों से बेध रही है। इन भौंहों की बराबरी में कोई जीत नहीं सकता। अप्सरायें और गोपियाँ इसके आगे छिप गयीं। धनुष के समान भौंहें, और उसको धारण करने वाली—दोनों धन्य हैं, दूसरा कोई उसकी समानता के योग्य नहीं है। आकाश का जो इन्द्रधनुष है वह लज्जा से छिप जाता है।

*टिप्पणी—इस पद में जायसी जी ने पद्मावती की भौंहों की शोभा को बढ़ाने के सिलसिले में ही कृष्ण, राम, रावण, राहु और सहस्रबाहु का उल्लेख कर दिया है, इसका और कोई अर्थ नहीं है।*

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

[ १०३ ]

नैन बाँक, सरि पूज न कोऊ। मान समुंद अस उलथहिं दोऊ॥
राते कँवल करहिं अलि भवाँ। घूमहिं माँति चहहिं उपसवाँ॥

उठहिं तुरंग लेहिं नहिं बागा। चाहहिं उलथि गगन कहँ लागा ॥
पवन झकोरहिं देहिं हलोरा। सरग लाइ भुइँ लाइ बहोरा ॥
जग डोलै डोलत नैनाहाँ। उलटि अड़ार चाह पल माहाँ ॥
जबहिं फिराव गँगन गहि बोरा। अस वै भवर चक्र के जोरा ॥
समुद हिंडोर करहिं जनु झूले। खंजन लुरहिं मिरिग जनु भूले ॥
सुभर समुँद अस नैन दुइ, मानिक भरे तरंग।
आवत तीर जाहिं फिरि, काल भवर तेन्ह संग ॥ १०३ ॥

शब्दार्थ—उलथहिं = उछलते हैं। भवाँ = चक्कर। उपसवाँ (अपस्रवण) = उड़ कर भागना चाहते हैं। अड़ार = अड़ने वाले। जोरा = जोड़ा, दो।

अर्थ—उसके नैनों के बाँकपन की समता कोई नहीं कर सकता, मानो समुद्र उछल रहा है, आँखों के लाल डोरे मानो लाल कमल हैं और उसमें काली पुतली रूपी भौंरा चक्कर लगा रहा है। वे अनेक भाँति घूमते हैं मानो उड़कर चले जाना चाहते हैं। वे ऐसे घोड़ों के समान हैं जो बागडोर नहीं लेना चाहते, उछलकर आकाश को लग जाना चाहते हैं, पवन को झकझोर देते हैं और हिलोर पैदा कर देते हैं, आकाश को पृथ्वी पर लाते और फिर से लौटाते हैं। इन नेत्रों के डोलते ही संसार डोल उठता है, बड़े-बड़े अड़ने वाले पल भर में उलट जाते हैं। ये समुद्र की भँवर चक्र के समान दोनों आँखें ऐसी होती हैं कि जब घूमती हैं तो आकाश को भी पकड़ कर डुबो देती हैं। ये आँखें ऐसी हैं मानो समुद्र की हिलोरें हैं या झुकते हुए खंजन या भूले हुए मृग हैं। सुन्दर भरे हुए समुद्र के समान वे दोनों नेत्र हैं और माणिक्य के समान लाल डोरे उसकी चपल तरंगें हैं, किनारे आकर फिर लौट जाती हैं अर्थात् देख-देख कर लजा-लजा कर लौट जाती हैं, उनके साथ काला भौंरा रूपी पुतलियाँ हैं।

अलंकार—इस में भी कमनीय कल्पना के रूप में उत्प्रेक्षाओं और उपमाओं की बहार है। रूप-वर्णन में कवि की कविता-शक्ति तीव्र हो उठती है।

[ १०४ ]

बरुनी का बरनौं इमि बनी। साँधे बान जानू दुइ अनी ॥
जुरी राम रावन कै सैना। बीच समुँद भए दुइ नैना ॥
वारहिं पार बनावरि साँधी। जासौं हेर लाग बिख बाँधी ॥
उन्ह बानन्ह अस को को न मारा। बेधि रहा सगरौं संसारा ॥
गँगन नखत जस जाहिं न गने। हैं सब बान ओहि के हने।
धरती बान बेधि सब राखी। साखा ठाढ़ि देहिं सब साखी ॥
रोवँ रोवँ मानुस तन ठाढ़े। सोतहि सोत बेधि तन काढ़े ॥
बरुनि बान सब ओपहँ, बेधे रन बन ढंख।
सउजन्ह तन सब रोवाँ, पंखिन्ह तन सब पंख ॥ १०४ ॥

शब्दार्थ—बरुनी = बरौनी। जानु = मानो। अनी = सेना। बनावरि = बाणावली,-तीरों की कतार। रन = अरण्य,वन। ढंख-पाठान्तर-ढाँख = वृक्ष। सउजन्ह = जानवरों के।

अर्थ—उसकी आँखों की बरौनियाँ ऐसी सुन्दर हैं कि उनका क्या वर्णन करूँ मानो बाण ताने दो सेनायें खड़ी हैं। आखों की दोनों ओर बरौनियाँ ऐसी हैं जैसे समुद्र के वार-पार राम और रावण की सेनायें हैं। वार-पार ये अपने बाणों के समूह चला रही हैं और जिसकी ओर देख देती हैं उसे ही विषैले तीर लग जाते हैं। ऐसा कौन है जो इन बाणों से नहीं मारा गया, सारा संसार उनही का शिकार बन गया है। उदाहरण में जायसी कहते हैं कि आकाश में असंख्य तारे हैं ये सब उसी के बाण से मारे गये हैं, पृथ्वी सारी की सारी उन्हीं बाणों से बिंधी है जिसकी साक्षी खड़े हुए सारे वृक्ष दे रहे हैं। मनुष्य के शरीर के असंख्य रोम खड़े हैं इनकी जड़ों में उसी के बाण लगे हुए हैं। उसके पास बरौनियों के बाण हैं जिनसे उसने बन में सभी खंडों को वेध डाला है, जानवरों के शरीर में जितने रोम और पक्षियों के शरीर में जितने पंख हैं ये सब उसी के कारण ही हैं।

*टिप्पणी*—जायसी ने इस पद में आध्यात्मिक रहस्यवाद का उद्घाटन किया है। पद्मावती ईश्वर का प्रतीक है, उसी के बाणों से सारा संसार बिंधा है। वह सर्वव्यापक है और सूर्य, चन्द्र, तारे, पशु, पक्षी-वृक्ष सभी

उस के इशारे पर चलते हैं, सारे नियंत्रण के पीछे केवल वही एक है।

अलंकार—अन्योक्ति।

[ १०५ ]

नासिक खरग देऊँ केहि जोगू। खरग खीन, ओहि बदन सँजोगू।
नासिक देखि लजानेउ सुआ। सूक आइ बेसरि होइ उआ।
सूआ सो पिअर हिरामनि लाजा। औरु भाउ का बरनौं राजा।
सूआ सो नांक कठोर पँवारी। वह कोंवलि तिल पुहुप सँवारी।
पुहुप सुगंध करहिं सब आसा। मकु हिरगाइ लेइ हम बासा।
अधर दसन पर नासिक सोभा। दारिवँ देखि सूआ मन लोभा।
खंजन दुहुँ दिसि केलि कराहीं। दहुँ वह रस को पाव, को नाहीं।
देखि अमिअ रस अधरन्हि भएउ नासिका कीर।
पवन बास पहुंचावै, अस रम छाँड़ न तीर॥ १०५॥

शब्दार्थ—खरग = खड्ग, तलवार। जोगू = जोड़, समता। खीन = क्षीण। वदन = मुख। सूक = शुक्र तारा। बेसरि = नाक का गहना जिसमें मोती लगता है। पिअर = पीला। पँवारी = लोहारों का एक औजार जिससे लोहे में छेद करते हैं। कोंवलि = कोमल। मकु = कदाचित्। हिरगाइ = पास, लेना। बासा = सुगन्धि। दारिवँ = दाड़िम, अनार। दहुँ = पता नहीं। को = कोई। तीर = पास।

अर्थ—पद्मावती की नासिका की समता खड्ग से मैं कैसे करूँ, खड्ग तो क्षीण पतली है और नाक का तो मुख से मेल है। उसकी नासिका को देखकर तोता लज्जित हो जाता है, शुक्र तारा भी बेसरि बनकर नाक में आ लगा। मैं हीरामनि भी लज्जा से ही पीला होगया हूं और क्या कहूं। तोते और नाक की कोई समता नहीं क्योंकि तोते की चोंच तो ऐसी कठोर होती है जैसे लोहार की पँवारी नामक औजार, पर नाक तो तिल के फूल के समान कोमल और सुन्दर संवारी हुई है। सारे फूल केवल इसी आशा से सुगन्ध करते हैं कि कदाचित् हमारी बास के कारण वह हमें लेकर नाक से मिला ले। उसके होठों और दांतों पर नासिका इस प्रकार शोभायमान है, मानो अनार देखकर तोता का

मन लुभा गया है। खंजन पक्षी रूपी दो आँखें दोनों ओर खेल कर रही हैं। तोता कहता है कि पता नहीं पद्मावती के रूप रस का कोई आस्वादन कर पाता है कि नहीं।

उसके होठों के अमृत रस को देखकर ही तोता नासिका बन गया है। साँस के द्वारा बास उस तक पहुँच रही है और वह उस पर ऐसा रम गया है कि उसका पास नहीं छोड़ता है।

अलंकार—व्यतिरेक नासिक खरग ......संजोगू।

हेतूत्प्रेक्षा—नासिक देख ......उआ, सुआ ......लाजा।

पुहुप सुगंध ......हम बासा, अधर दसन ......लोभा।

देखि अमिय ......छौड़ न तीर।

रूपक—तिल पुहुप, खंजन दुहुँ दिसि केलि कराहीं।

[ १०६ ]

अधर सुरंग अमिअ रस भरे। बिंब सुरंग लाजि बन फरे।
फूल दुपहरी मानिहुं राता। फूल झरहिं जब जब कह बाता।
हीरा गहै सो बिद्रुम धारा। बिहँसत जगत होइ उजिआरा।
भए मँजीठ पानन्ह रंग लागें। कुसुम रंग थिर रहा न आगें।
अस कै अधर अमिअ भरि राखे। अबहिं अछूत न काहूँ चाखे।
मुख तँबोल रँग धारहिं रसा। केहि मुख जोग सो अंब्रित बसा।
राता जगत देखि रँग राते। रुहिर भरे आछहिं बिहँसाते।
अमिअ अधर अस राजा, सब जग आस करेइ।
केहि कहँ कंवल बिगासा, को मधुकर रस लेइ॥ १०६॥

शब्दार्थ—बिंब = बिम्बाफल। विद्रुम = मूँगा। मँजीठ = मजीठ के समान लाल। अछूत = अछूते, जिसको किसी ने नहीं छुआ है। तंबोल = ताम्बूल, पान। धारहि = धारण करती है। रसा = जिह्वा। केहि कहँ = किसके लिए। बिगासा = विकसित हुआ। को = कौन। मधुकर = भौंरा।

अर्थ—उसके रंगीन लाल होठ अमृत रस से भरे हैं, बिम्बाफल उसके होठों से लजा कर ही वन में जाकर फले हैं। होठ दुपहरिया के फूल के समान लाल-लाल हैं। जब-जब वह बात करती है मानो फूल झड़ते हैं।

लाल मसूड़ों के बीच दांतों की पंक्ति हँसने पर ऐसी लगती है जैसे मूँगों में हीरे जड़े गये हैं, उसकी मुस्कान में संसार प्रकाशित होता है। (लाल-लाल ओठों के बीच में मुस्कान ललायी में उजेली उषा की भी व्यंजना कर रही है) ओठ पान के रंग को पाकर ऐसे लाल हो गये हैं जैसे मजीठ लाल होता है, इस रंग के आगे कुसुम की लालिमा स्थिर नहीं हो सकती। इस प्रकार उसने अपने अधरों में अमृत भर रक्खे हैं, अभी तक वे अधर अछूते हैं, किसी को उनके रस चखने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ। पान के रंग को उसकी जिह्वा धारण करती है, देखना है कि वह अमृत किसके मुख के योग्य है ? सारा संसार उसके लाल रंग को देखकर लाल हो गया, वे लाल लाल हँसते हुए अच्छे लगते हैं। हे राजा, उसके अधरामृत की सारा जगत् आशा किये हुए है पर पता नहीं किसके लिए वह कमल खिला हुआ है और कौन भौंरा उसका रस लेगा।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

[ १०७ ]

दसन चौक बैठे जनु हीरा। औ बिच बिच रंग स्याम गंभीरा ॥
जनु भादौं निसि दामिनि दीसी। चमकि उठी तसि भीनि बतीसी ॥
वह जो जोति हीरा उपराहीं। हीरा दीपहिं सो तेहि परिछाहीं ॥
जेहि दिन दसन जोति निरमई। बहुतन्ह जोति जोति ओहि भई ॥
रबि ससि नखत दीन्हि ओहि जोती। रतन पदारथ मानिक मोंती ॥
जहँ जहँ बिहँसि सुभावहिं हँसी। तहँ तहँ छिटकि जोति परगसि ॥
दामिनि दमकि न सरबरि पूजा। पुनि वह जोति औरु को दूजा ॥
बिहँसत हँसत दसन तस चमके, पाहन उठे झरक्कि।
दारिवँ सरि जो न कै सका, फाटेउ हिया दरक्कि ॥

शब्दार्थ—दसन = दाँत। चौक = चार। दीसी = दिखाई पड़ी। भीनि = छिदरी। बतीसी = दन्त समूह, बत्तीस दाँत। उपराहीं = ऊपर। निरमई = बनी। पाहन = पत्थर, हीरा। झरक्कि = झलक। दारिवँ = दाड़िम, अनार। सरि = बराबर। दरक्क = फट जाना।

अर्थ—आगे के चार दाँत इस प्रकार चमकीले है जैसे हीरे जड़ाये गये

हों। दाँतों के बीच-बीच में गहरा काला रंग दिखाई पड़ता है: कालिमा के बीच सफेद दाँत ऐसे लगते हैं जैसे भादों की रात में बिजली दिखाई पड़े। उसके दाँतों की जो ज्योति है वह हीरे की ज्योति से भी ऊपर है, हीरा जो चमकता है वास्तव में वह उसी की छाया है। जिस दिन उसके दाँतों की ज्योति बनी अनेक प्रकार की ज्योतियाँ उसी से बनीं। सूर्य, चन्द्र और तारा-गणों को उसी ने चमक दी है और भी जितने माणिक्य और मोती आदि रत्न पदार्थ हैं उसी की ज्योति से ज्योतित हैं। जहाँ-जहाँ उसने स्वभावतया मुस्कराया है वहीं-वहीं उसकी ज्योति प्रकाशित हुई है। बिजली भी चमक कर उसकी बराबरी नहीं कर सकी, फिर और कोई ज्योति उसकी बराबरी कैसे कर सकती है। उसके मुसकाने और विहँसने पर उसके दांत चमके जिससे उसकी चमक के पड़ने से पत्थर भी झलकने लगा और हीरा बन गया और दाड़िम उसके दांत की बराबरी न कर सका, इसलिए उसकी छाती फट गई।

*टिप्पणी—इस पद में आध्यात्मिक संकेत है—संसार की सभी वस्तुयें ईश्वर के ही प्रतिबिम्ब से चमक रही है सूर्य-चन्द्र हीरा आदि पर ईश्वर की ही झलक है।*

अलंकार—वस्तूत्प्रेक्षा—दसन······ हीरा, जनु भादों······बतीसी।
हेतूत्प्रेक्षा विहँसत·········दरक्कि।

[ १०८ ]

रसना कहौं जो कह रस बाता। अंम्रित बचन सुन मन राता॥
हरै सो सुर चात्रिक कोकिला। बीन बंसि वह बैनु न मिला॥
चात्रिक कोकिल रहहिं जो नाहिं। सुनि वह बैन लाजि छपि जाहीं॥
भरे पेम मधु बोलै बोला। सुनै सो माति घुर्मि कै डोला॥
चतुर बेद मति सब ओहि पाहाँ। रिग जजु साम अथर्बन माहाँ॥
एक एक बोल अरथ चौगुना। इंद्र मोह, बरम्हा सिर धुना॥
अमर, भारथ पिंगल औ गीता। अरथ जूझ पंडित नहिं जीता॥
भावसती ब्याकरन सरसुती, पिंगल पाठ पुरान।
बेद भेद सैं बात कह, तस जनु लागहिं बान॥ १०८॥

शब्दार्थ— रसना = जिह्वा। अंम्रित = अमृत। राता = अनुरक्त हो जाता

लाल मसूढ़ों के बीच दांतों की पंक्ति हँसने पर ऐसी लगती है जैसे मूँगों में हीरे जड़े गये हैं, उसकी मुस्कान में संसार प्रकाशित होता है। (लाल-लाल ओठों के बीच में मुस्कान ललायी में उजेली उषा की भी व्यंजना कर रही है) ओठ पान के रंग को पाकर ऐसे लाल हो गये हैं जैसे मजीठ लाल होता है, इस रंग के आगे कुसुम की लालिमा स्थिर नहीं हो सकती। इस प्रकार उसने अपने अधरों में अमृत भर रक्खे हैं, अभी तक वे अधर अछूते हैं, किसी को उनके रस चखने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ। पान के रंग को उसकी जिह्वा धारण करती है, देखना है कि वह अमृत किसके मुख के योग्य है ? सारा संसार उसके लाल रंग को देखकर लाल हो गया, वे लाल लाल हँसते हुए अच्छे लगते हैं। हे राजा, उसके अधरामृत की सारा जगत् आशा किये हुए है पर पता नहीं किसके लिए वह कमल खिला हुआ है और कौन भौंरा उसका रस लेगा।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

[ १०७ ]

दसन चौक बैठे जनु हीरा। औ बिच बिच रंग स्याम गंभीरा ॥
जनु भादौं निसि दामिनि दीसी। चमकि उठी तसि भीनि बतीसी ॥
वह जो जोति हीरा उपराहीं। हीरा दीपहिं सो तेहि परिछाहीं ॥
जेहि दिन दसन जोति निरमई। बहुतन्ह जोति जोति ओहि भई ॥
रवि ससि नखत दीन्हि ओहि जोती। रतन पदारथ मानिक मोंती ॥
जहँ जहँ बिहँसि सुभावहिं हँसी। तहँ तहँ छिटकि जोति परगसी ॥
दामिनि दमकि न सरवरि पूजा। पुनि वह जोति औरु को दूजा ॥
बिहँसत हँसत दसन तस चमके, पाहन उठे झरक्कि।
दारिवँ सरि जो न कै सका, फाटेउ हिया दरक्कि ॥

शब्दार्थ—दसन = दाँत। चौक = चार। दीसी = दिखाई पड़ी। भीनि = छिदरी। बतीसी = दन्त समूह, बत्तीस दाँत। उपराहीं = ऊपर। निरमई = बनी। पाहन = पत्थर, हीरा। झरक्कि = झलक। दारिवँ = दाड़िम, अनार। सरि = बराबर। दरक्कि = फट जाना।

अर्थ—आगे के चार दाँत इस प्रकार चमकीले है जैसे हीरे जड़ाये गये

हों। दाँतों के बीच-बीच में गहरा काला रंग दिखाई पड़ता है : कालिमा के बीच सफेद दाँत ऐसे लगते हैं जैसे भादों की रात में बिजली दिखाई पड़े। उसके दाँतों की जो ज्योति है वह हीरे की ज्योति से भी ऊपर है, हीरा जो चमकता है वास्तव में वह उसी की छाया है। जिस दिन उसके दाँतों की ज्योति बनी अनेक प्रकार की ज्योतियाँ उसी से बनीं। सूर्य, चन्द्र और तारा-गणों को उसी ने चमक दी है और भी जितने माणिक्य और मोती आदि रत्न पदार्थ हैं उसी की ज्योति से ज्योतित हैं। जहाँ-जहाँ उसने स्वभावतया मुस्कराया है वहीं-वहीं उसकी ज्योति प्रकाशित हुई है। बिजली भी चमक कर उसकी बराबरी नहीं कर सकी, फिर और कोई ज्योति उसकी बराबरी कैसे कर सकती है। उसके मुसकाने और विहँसने पर उसके दाँत चमके जिससे उसकी चमक के पड़ने से पत्थर भी झलकने लगा और हीरा बन गया और दाड़िम उसके दाँत की बराबरी न कर सका, इसलिए उसकी छाती फट गई।

*टिप्पणी—इस पद में आध्यात्मिक संकेत है—संसार की सभी वस्तुयें ईश्वर के ही प्रतिबिम्ब से चमक रही हैं सूर्य-चन्द्र हीरा आदि पर ईश्वर की ही झलक है।*

**अलंकार—वस्तूत्प्रेक्षा—दसन ...... हीरा, जनु भादों ...... बतीसी।**
हेतूत्प्रेक्षा विहँसत ........ दरक्कि।

[ १०८ ]

रसना कहौं जो कह रस बाता। अंब्रित बचन सुन मन राता॥
हरै सो सुर चात्रिक कोकिला। बीन बंसि वह बैनु न मिला॥
चात्रिक कोकिल रहहिं जो नाहिं। सुनि वह बैन लाजि छपि जाहीं॥
भरे पेम मधु बोलै बोला। सुनै सो माति घुर्मि कै डोला॥
चतुर बेद मति सब ओहि पाहाँ। रिग जजु साम अथर्बन माहाँ॥
एक एक बोल अरथ चौगुना। इंद्र मोह, बरम्हा सिर धुना॥
अमर, भारथ पिंगल औ गीता। अरथ जूझ पंडित नहिं जीता॥
भावसती ब्याकरन सरसुती, पिंगल पाठ पुरान।
बेद भेद सैं बात कह, तस जनु लागहिं बान॥ १०८॥

**शब्दार्थ—** रसना = जिह्वा। अंब्रित = अमृत। राता = अनुरक्त हो जाता

है। हरै = चुराते हैं। सुर = स्वर। चात्रिक = चातक। बीन बंसि=वीणा और बांसुरी को-पाठान्तर विनु-बसंत। माति = मतवाला होकर। घुमि = घूमकर। भारथ = महाभारत। जूझ = युद्ध-विवाद। भावसती = भास्वती नामक ज्योतिष का ग्रंथ।

अर्थ—उसकी जीभ का वर्णन करता हूं जिससे वह रसीली बातें करती है। उसके अमृतमय वचनों को सुनकर मन अनुरक्त हो जाता है। उसके स्वरों को चातक और कोयल चुराते हैं, पर बसन्त के बिना उन्हें भी वह वाणी नहीं मिलती। चातक और कोयल सभी ऋतुओं में नहीं रहते, क्योंकि वे उसके वचनों को सुनकर शरमाते हैं और मुँह छिपा लेते हैं। प्रेम से भरे हुए अत्यन्त मीठे वचन वह बोलती है, जो उसे सुनता है वही मतवाला हो कर घूमने लगता है। चारों वेदों—ऋग्, यजुर्वेद सामवेद और अथर्ववेद सब का ज्ञान उसके पास है। उसके एक-एक शब्द में चार चार अर्थ होते हैं। उसे सुनकर इन्द्र मोहित होता है और ब्रह्मा सिर धुनने लगता है। अमरकोष महाभारत, छंद शास्त्र, गीता आदि के अर्थों की व्याख्या में पंडित उससे हार जाते हैं। भास्वती नामक ज्योतिष ग्रंथ, संस्कृत व्याकरण, छंदशास्त्र, पुराण और वेद पढ़ती है और उनके रहस्यों को इस प्रकार बताती है कि उसे सुनकर लोग दंग हो जाते हैं, विद्वानों को जैसे बाण लग जायें।

अलंकार—हेतूत्प्रेक्षा-चात्रिक कोकिल ···· छपि जाहीं

[ १०६ ]

पुनि बरनौं का सुरँग कपोला। एक नारँग के दुओौ अमोला॥
पुहुप पंक रस अंब्रित साँधे। केइँ ये सुरँग खिरौरा बाँधे॥
तेहि कपोल बाएँ तिल परा। जेइँ तिल देख सो तिल तिल जरा॥
जनु घुँघुची वह तिल कर मुहाँ। बिरह बान बाँधा सामुहाँ॥
अगिनि बान तिल जानहुँ सूझा। एक कटाख लाख दुइ जूझा॥
सो तिल काल मेंटि नहिं गएउ। अब वह गाल काल जग भएऊ॥
देखत नैन परी परिछाहीं। तेहतें रात स्याम उपराहीं॥

सो तिल देखि कपोल पर, गँगन रहा धुव गाड़ि।
खिनहि उठै खिन बूड़ै, डोलै नहिं तिल छाँड़ि॥ १०६॥

शब्दार्थ—दुओ = दोनों । पंकरस = पराग । साँधे = साने, गूँधे । केइँ = अथवा । खिरौरा = खड़ौरा = खाँड का लड्डू । घुँघची = गुँजा, रत्ती । करमुँहा = काले मुँह वाली । साँधा = चलाया । सामुँहा = सामने । रात = लाल । स्याम = काला । उपराहीं = ऊपर । धुव = ध्रुवतारा । गाड़ि = गड़ा हुआ । खिन = क्षण । बूड़ै = डूबै ।

अर्थ—इस पद में तोता पद्मावती के कपोलों का वर्णन करते हुए कहता है कि उसके सुन्दर कपोलों का क्या वर्णन करूँ। मानो एक नारंगी के दो अमूल्य टुकड़े हैं अथवा फूल के पुष्परस (पराग) में अमृत गूँध कर खाँड़ के सुन्दर लड्डू बनाये गए हैं । उसके बायें कपोल पर एक तिल का निशान है । उस तिल को जो ही देखता है वही तिल-तिल जलता है । घुँघची भी काले मुँह वाली हो गयी है मानो वह भी इस तिल को देख कर ही जल गयी है । वह काला तिल ऐसा है मानो सामने विरह बाण सधा हुआ है, या यह तिल मानो अग्नि बाण है, उसके एक कटाक्ष पर दो लाख लोग मर जाते हैं । उस तिल को काल भी न मेट, सका इसी लिए वह तिल युक्त कपोल संसार का काल बना हुआ है । नेत्रों के तिल की जो परछाहीं कपोल पर पड़ी है उसी से कपोल की लालिमा के ऊपर काला हो गया है । कपोल पर के तिल को देख कर ध्रुवतारा एक ही जगह पर गड़ गया, कभी उदय होता है और कभी डूबता है पर स्थान को तिल भर भी छोड़ नहीं सकता ।

अलंकार—उपमा—पुनिव रनौं······अमोला ।

उत्प्रेक्षा—पुहुप······बाँधे, अनु घुँघची···करमुहाँ ।

सो तिल छाँड़ि ।

[ ११० ]

सबन सीप दुइ दीप सँवारे । कुंडल कनक रचे उँजिआरे ।
मनि कुंडल चमकहिं अति लोने । जनु कौंधा लौकहिं दुहुँ कोने ॥
दुहुँ दिसि चाँद सुरुज चमकाहीं । नखतन्ह भरे निरखि नहिं जाहीं ॥
तेहि पर खूँट दीप दुइ बारे । दुइ धुव दुओ खूँट बैसारे ॥
पहिरे खुंभी सिंघल दीपी । जानहुँ भरी कचपची सीपी ॥
खिन खिन जबहिं चीर सिर गहा । काँपत बीज दुहूँ दिसि रहा ॥
डरपहिं देव लोक सिंघला । परै न बीज टूटि एहि कला ॥

करहिं नखत सब सेवा, स्रवन दिपहिं अस दोउ ।
चाँद सुरुज अस गहने, औरु जगत का कोउ ॥ ११० ॥

शब्दार्थ—कौंधा = बिजली । लौकहिं = चमकती है । निरखि = देखना । खूँट = कान का एक गहना । बारे = जलाये । धुव = ध्रुव । खूँट = किनारे । बैसारे = बैठाये । खुंभी = कान का एक गहना । कचपची = अनेक छोटे-छोटे तारों का एक गुच्छा ।

अर्थ—कान रूपी सीपों में दो दीपक शोभायमान हैं, ये दो सोने के चमकीले कुंडल हैं । ये मणिजटित कुंडल अत्यन्त सुन्दर चमकते हैं ऐसा जान पड़ता है मानो दोनों कोनों में बिजली चमक रही है । दोनों दिशाओं में नक्षत्रों से भरे हुए चन्द्र और सूर्य हैं और देखे नहीं जाते । उसी पर खूँट रूपी दो दीपक और जल रहे हैं मानो दोनों किनारों पर दो ध्रुवतारे बिठाये हों । उसने सिंहल द्वीप की बनी हुई खुम्भी पहिन रक्खी है, वह ऐसे लगती है मानो सीपी में कचपचिया भरी हों । क्षण-क्षण पर जब वह सिर पर के चीर को पकड़ती है तो दोनों दिशाओं में बिजली काँपने लगती है । देव-लोक भी सिंहल से डरते हैं कि कहीं इसकी कला से बिजली न टूट पड़े । उसके दो कान इस प्रकार प्रकाशमान हैं कि सारे नक्षत्र उसकी सेवा करते हैं, सूर्य और चांद जैसे जब उसके गहने हैं तो और कौन उसके सदृश होगा ।

अलंकार—उपमा और उत्प्रेक्षा

[ १११ ]

बरनौं गीवँ कूँज कै रीसी । कंज नार जनु लागेउ सीसी ।
कुंदै फेरि जानु गिउ काढ़ी । हरी पुछारि ठगी जनु ठाढ़ी ॥
जनु हिय काढ़ि परेवा ठाढ़ा । तेहि तें अधिक भाउ गिउ बाढ़ा ॥
चाक चढ़ाइ साँच जनु कीन्हा । बाग तुरंग जानु गहि लीन्हा ॥
गिउ मँजूर तँवचुर जो हारा । वहै पुकारहिं साँझ सँकारा ॥
पुनि तिहि ठाउँ परी तिरि रेखा । घूँटत पीक लीक सब देखा ॥
धनि सो गीव दीन्हेउ बिधि भाऊ । दहुं कासौं लै करै मेराऊ ॥
कंठ सिरी मुकुताहल माला, सोहै अभरन गीवँ ।
को होइ हार कंठ ओहि लागै, केइँ तपु साधा जीवँ ॥१११॥

शब्दार्थ—गीवँ = ग्रीवा । कूँज = क्रौंच पक्षी । रीसी = ईर्ष्या । कंजनार = कंजनाल-पाठान्तर = कंचनतार = सोने के तार । कुंदै = खराद । गिउ = गर्दन । पुछारि = मोर । साँच = साँचा । बाग = घोड़े की बागडोर । मंजूर = मयूर, मोर । तवँचुर = मुर्गा । संकारा = प्रातःकाल । तिरि = (त्रि) तीन मेराऊ = मेल । मुकुताहल = मुक्ताफल, मोती । अभरन = आभरण, गहना ।

अर्थ—तोता कहता है कि अब मैं पद्मावती की गर्दन का वर्णन करता हूँ जो कौंच पक्षी को भी ईर्ष्या देने वाली है । ऐसा मालूम होता है मानो शीशी में कमल नाल लगी हो । या जैसे खराद पर चढ़ा कर गर्दन निकाली गई हो । उसे देखकर हरी-हरी मोरों की पंक्ति ठगी-सी खड़ी रह जाती है । कबूतर उसके सौंदर्य को देखकर अपना हृदय निकाल कर खड़ा हो जाता है क्योंकि उससे अधिक सौंदर्य उसमें मिलता है । जैसे चाक पर चढ़ाकर सुन्दर साँचा बनाया गया है अथवा जैसे घोड़े ने बागडोर लेली हो । गर्दन की शोभा से मोर और मुर्गे हार गए इस लिए रोज सुबह और शाम चिल्लाया करते हैं । फिर उसकी गर्दन में तीन रेखायें पड़ी हैं मानः जब वह पान के पीक घूँटती है तो उसके निशान उसमें दिखाई पड़ते हैं । वह गर्दन धन्य है जिसे ब्रह्मा ने इतना सौंदर्य दिया । देखते हैं किसके साथ ऐसी ग्रीवा वाली का मेल होता है । उसकी गर्दन में कंठश्री मोतियों की माला तथा अन्य आभूषण शोभित होते हैं । पता नहीं वह कौन है जो हार बनकर उस कंठ में लगेगा, वह तो कोई तपस्वी ही होगा जिसने अनेक साधना की होगी ।

अलंकार—उपमा और उत्प्रेक्षा ।

[ ११२ ]

कनक दंड दुइ भुजा कलाई । जानहुँ फेरि कुँदेरें भाई ॥
कदलि खाँभ की जानहुँ जोरी । औ राती ओहि कँवल हथोरी ॥
जानहुं रकत हथोरीं बूड़ी । रवि परभात तात, वह जूड़ी ॥
हिया काढ़ि जनु लीन्हेसि हाथाँ । रकत भरी अँगुरी तेहिं साथाँ ॥
औ पहिरें नग जरी अँगठी । जग बिनु जीव, जीव ओहि मूठी ॥
बाँहू कंगन, टाड़ सलोनी । डोलति बाँह भाउ गति लोनी ॥
जानहुं गति बेड़िनि देखराई । बाँह डोलाइ जीउ लै जाई ॥

करहिं नखत सब सेवा, स्रवन दिपहिं अस दोउ ।
चाँद सुरुज अस गहने, औरु जगत का कोउ ॥ ११० ॥

शब्दार्थ—कौंधा = बिजली । लौकहिं = चमकती है । निरखि = देखना । खूँट = कान का एक गहना । बारे = जलाये । धुव = ध्रुव । खूँट = किनारे । बैसारे = बैठाये । खुंभी = कान का एक गहना । कचपची = अनेक छोटे-छोटे तारों का एक गुच्छा ।

अर्थ—कान रूपी सीपों में दो दीपक शोभायमान हैं, ये दो सोने के चमकीले कुंडल हैं । ये मणिजटित कुंडल अत्यन्त सुन्दर चमकते हैं ऐसा जान पड़ता है मानो दोनों कोनों में बिजली चमक रही है । दोनों दिशाओं में नक्षत्रों से भरे हुए चन्द्र और सूर्य हैं और देखे नहीं जाते । उसी पर खूँट रूपी दो दीपक और जल रहे हैं मानो दोनों किनारों पर दो ध्रुवतारे बिठाये हों । उसने सिंहल द्वीप की बनी हुई खुम्भी पहिन रक्खी है, वह ऐसे लगती है मानो सीपों में कचपचिया भरी हों । क्षण-क्षण पर जब वह सिर पर के चीर को पकड़ती है तो दोनों दिशाओं में बिजली काँपने लगती है । देव-लोक भी सिंहल से डरते हैं कि कहीं इसकी कला से बिजली न टूट पड़े । उसके दो कान इस प्रकार प्रकाशमान हैं कि सारे नक्षत्र उसकी सेवा करते हैं, सूर्य और चांद जैसे जब उसके गहने हैं तो और कौन उसके सदृश होगा ।

अलंकार—उपमा और उत्प्रेक्षा

[ १११ ]

बरनौं गीवँ कूँज कै रीसी । कंज नार जनु लागेउ सीसी ।
कुंदै फेरि जानु गिउ काढ़ी । हरी पुछारि ठगी जनु ठाढ़ी ॥
जनु हिय काढ़ि परेवा ठाढ़ा । तेहि तें अधिक भाउ गिउ बाढ़ा ॥
चाक चढ़ाइ साँच जनु कीन्हा । बाग तुरंग जानु गहि लीन्हा ॥
गिउ मँजूर तँवचुर जो हारा । वहै पुकारहिं साँझ सँकारा ॥
पुनि तिहि ठाउँ परी तिरि रेखा । घूँटत पीक लीक सब देखा ॥
धनि सो गीव दीन्हेउ बिधि भाऊ । दहुं कासौं लै करै मेराऊ ॥
कंठ सिरी मुकुताहल माला, सोहै अभरन गीवँ ।
को होइ हार कंठ ओहि लागै, केइँ तपु साधा जीवँ ॥१११॥

शब्दार्थ—गीवँ = ग्रीवा । कूँज = क्रौंच पत्ती । रीसी = ईर्ष्या । कंजनार = कंजनाल-पाठान्तर = कंचनतार = सोने के तार । कुंदै = खराद । गिउ = गर्दन । पुछारि = मोर । साँच = साँचा । बाग = घोड़े की बागडोर । मंजूर = मयूर, मोर । तवँचुर = मुर्गा । संकारा = प्रातःकाल । तिरि = (त्रि) तीन मेराऊ = मेल । मुकुताहल = मुक्ताफल, मोती । अभरन = आभरण, गहना ।

अर्थ—तोता कहता है कि अब मैं पद्मावती की गर्दन का वर्णन करता हूँ जो कौंच पत्ती को भी ईर्ष्या देने वाली है । ऐसा मालूम होता है मानो शीशी में कमल नाल लगी हो । या जैसे खराद पर चढ़ा कर गर्दन निकाली गई हो । उसे देखकर हरी-हरी मोरों की पंक्ति ठगी-सी खड़ी रह जाती है । कबूतर उसके सौंदर्य को देखकर अपना हृदय निकाल कर खड़ा हो जाता है क्योंकि उससे अधिक सौंदर्य उसमें मिलता है । जैसे चाक पर चढ़ाकर सुन्दर साँचा बनाया गया है अथवा जैसे घोड़े ने बागडोर लेली हो । गर्दन की शोभा से मोर और मुर्गे हार गए इस लिए रोज सुबह और शाम चिल्लाया करते हैं । फिर उसकी गर्दन में तीन रेखायें पड़ी हैं मान, जब वह पान के पीक घूँटती है तो उसके निशान उसमें दिखाई पड़ते हैं । वह गर्दन धन्य है जिसे ब्रह्मा ने इतना सौंदर्य दिया । देखते हैं किसके साथ ऐसी ग्रीवा वाली का मेल होता है । उसकी गर्दन में कंठश्री मोतियों की माला तथा अन्य आभूषण शोभित होते हैं । पता नहीं वह कौन है जो हार बनकर उस कंठ में लगेगा, वह तो कोई तपस्वी ही होगा जिसने अनेक साधना की होगी ।

अलंकार—उपमा और उत्प्रेक्षा ।

[ ११२ ]

कनक दंड दुइ भुजा कलाई । जानहुँ फेरि कुँदेरें भाई ॥
कदलि खाँभ की जानहुँ जोरी । औ राती ओहि कँवल हथोरी ॥
जानहुं रकत हथोरीं बूड़ी । रवि परभात तात, वह जूड़ी ॥
हिया काढ़ि जनु लीन्हेसि हाथाँ । रकत भरी अँगुरी तेहिं साथाँ ॥
औ पहिरें नग जरी अँगूठी । जग बिनु जीव, जीव ओहि मूठी ॥
बाँहू कंगन, टाड़ सलोनी । डोलति बाँह भाउ गति लोनी ॥
जानहुं गति बेड़िनि देखराई । बाँह डोलाइ जीउ लै जाई ॥

भुज उपमा पँवनारि न पूजी, खीन भई तेहि चिंत ।
ठाँवहिं ठाँव बेह भे हिरदैं, ऊभि सांस लेई नित ॥ ११२ ॥

शब्दार्थ—कुंदेरे= खराद पर । भाई = घुमाई हुई । कदलि = केला । खांभ-पाठान्तर-गाभ = नरम कल्ला । राती = लाल । हथोरी = हथेली । रकत = खून । बूड़ी = डूबी । परभात = प्रभात, लाली । तात = गरम । जूड़ी = ठंडी । अंगुरी = उंगली । जरी = जड़ी हुई । नग = हीरा । कंगन-टाड़ = गहने-कंगन कलाई में पहिना जाता है और टाड़ बाँह में । सलोनी = सुन्दर । बेड़िनि = नाचने गाने वाली एक जाति की स्त्री । पंवनारि पद्मनाल)=कमल डंडी । खीन= क्षीण । चिंत = चिन्ता । बेह-पाठान्तर-बेध=छेद । ऊभि = उठ कर (कमल की नाल पानी के ऊपर उठी रहती है ) निंत = नित्य ।

अर्थ—सोने के डंडों के समान उसकी भुजायें और कलाइयां हैं मानो खराद पर घुमा दी गयी हों । वे केले के नवीन कल्लों की दो जोड़ियों के समान हैं उनमें लाल-लाल कमलवत् हथेलियां हैं । हथेलियां इतनी लाल हैं मानो रक्त में डूबी हुई हों । प्रातः कालीन सूर्य की लाली भी उसके समान नहीं क्योंकि वह तो गर्म होती है पर ये ठंडी हैं । जैसे हृदय निकाल कर हथेलियों में रख लिया गया हो । उस हथेली के साथ ही वैसी ही रक्त से भरी हुई उंगलियां हैं जिनमें हीरे से जड़ी हुई अंगूठियां वह पहिने हुए है । बांह और कलाइयों में सुन्दर-सुन्दर कंगन और टाड़ पहने हुए है, उसकी भुजायें जब डोलती हैं तो ऐसी सुन्दर लगती हैं मानो नाचने वाली बेड़िन हाथों की चाल दिखा रही है और इसके द्वारा लोगों का जी लेती है । उसकी भुजा की उपमा में कमल डंडी पूरी न उतर सकी इसी चिन्ता से वह अत्यन्त क्षीण हो गयी, उसके हृदय में जगह-जगह छेद हो गये (कमल नाल तोड़ने पर उसके भीतर कई छेद होते हैं) और वह ऊपर उठ-उठ कर के लम्बी सांस लेती है ।

अलंकार—उपमा, व्यतिरेक, उत्प्रेक्षा ।

[ ११३ ]

हिया थार, कुच कंचन लाडू । कनक कचोर उठे करि चाडू ॥
कुन्दन बेल साजि जनु कूँदे । अंम्रित भरे रतन दुइ मूँदे ॥

बेधे भँवर कंट केतुकी। चाहहिं बेध कीन्ह केंचुकी ॥
जोबन बान लेहिं नहीं बागा। चाहहिं हुलसि हिएँ हठ लागा ॥
अगिनि बान दुइ जानहु साँधे। जग बेधहिं जौं होहिं न बाँधे ॥
उतंग जँभीर होइ रखवारी। छुइ को सक राजा कै बारी ॥
दारिवँ दाख भरे अनचाखे। अस नारंग दहुँ का कहँ राखे ॥
राजा बहुत मुए तपि, लाइ लाइ भुइँ माथ।
काहूँ छुऔ न पारे, गए मरोरत हाथ ॥११३॥

शब्दार्थ—थार = थाल। लाडू = लड्डू। कचोर-पाठान्तर-कटोर = कटोरे। चाडू पाठान्तर-चारू = सुन्दर। कुँदन = सोना। कूंदे = खरादे हुए। अंब्रित = अमृत। मूंदे = ढके हुए। केतुकी = केतकी फूल। बंधे = बिंधे हुए। केंचुका = चोली। बान = रंग-पाठान्तर-वास-महक। हुलसि = उल्लसित हो कर। उतंग उठे हुए। जंभीर = बड़े नीबू। बारी = लड़की, वाटिका। दारिवँ = अनार। दाख = अखरोट। फरे = फले। अनचाखे = बिना चखे हुए। नारंग = नारंगी, दहुं = पता नहीं। का कहे = किसके लिए। मुए = मरे। पारे = सके।

अर्थ—इस पद में तोता पद्मावती के स्तनों का वर्णन करता है—

हृदय रूपी थाल में उसके दो कुच ऐसे हैं जैसे सोने के लड्डू हों, अथवा सुन्दर सोने के दो कटोरे उलटे लगकर उठे हैं। सुन्दर सोने के बेल खराद कर सजाए हुए हैं, या अमृत से भरे हुए द छिपा कर रखे हुए हैं। कुचों के ऊपर जो काली ठेंच होती है उसे दृष्टि में रखकर ज्ञात होता है मानो केतकी फूल के क में काला भौंरा बिंध गया है और अब चोली को बेधना चाहता है। जवानी का रंग उस पर चढ़ा है, वे बाग नहीं लेते अर्थात् रोके नहीं रुकते। अब वे हुलस कर हृदय में लग जाना चाहते हैं मानो दो अग्नि-बाण सधे हुए हैं, यदि बंधे न होते तो सारे संसार को बेध डालते। ये उठे हुए नीबू के समान हैं जिनकी रखवाली होती है। यह तो राजा की लड़की या बाटिका है, इसको कौन छू सकता है। इसमें दाड़िम दाँत) और दाख (अधर) अनचाखे पड़े हुए हैं, तोता कहता है कि पता नहीं ये नारंगियां (कुच) भी किसके लिये रखी हुई हैं। अनेक राजा लोग तपस्या कर कर और पृथ्वी पर माथा रगड़-रगड़ कर मर गये, कोई इसे छू न सका। सभी हाथ

मलते चले गये। इन अन्तिम पंक्तियों में जायसी ने अध्यात्म पक्ष की ओर भी संकेत किया है। अर्थात् बड़े-बड़े ऋषि मुनि परमेश्वर को पाने को अनेक तप करते हैं पर पा नहीं सकते।

अलंकार...रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा।

[ ११४ ]

पेट पत्र चंदन जनु लावा। कुंकुह केसरि बरन सोहावा॥
खीर अहार न कर सुकुवाँरा। पान फुल के रहै अधारा॥
स्याम भुअंगिनी रोमावली। नाभी निकसि कँवल कहँ चली॥
आइ दुहूं नारंग विच भई। देखि मँजूर ठमकि रहि गई॥
जनहु चढ़ी भँवरन्हि कै पाँती। चंदन खाँभ बास कै माँती॥
कै कालिंद्री बिरह सताई। चलि पयाग अरइल बिच आई॥
नाभी कुण्डर बानारसी। सौह को होइ, मीचु तहँ बसी॥
सिर करवत, तन करसी लै लै, बहुत सीझे तेहि आस।
बहुत धूम घूँटत मैं देखे, उतरु न देइ निरास॥११४॥

शब्दार्थ- पत्र = परत, मरोड़े, त्रिवली। लावा = लगाया गया। कुंकुह = कुंकुम। खीर = क्षीर, दूध। सुकुवाँरा = सुकुमार, कोमल। मँजूर = मोर। ठमकि = रुक कर। कालिंद्री=यमुना। पयाग-अरइल=प्रयाग और अरैल (यमुना के एक किनारे पर प्रयाग (इलाहाबाद) और दूसरे किनारे पर अरैल एक गांव है।) कुंडरे = कुंड। करवत = आरा। करसी = उपले की आग में शरीर तपाना। सीझे = तपे। घूँटत = घुट-घुट कर मरना। निरास = कामनाविहीन।

अर्थ—इस पद में पद्मावती के पेट का वर्णन है—पेट में त्रिवलियाँ हैं, ऐसा, प्रतीत होता है जैसे चन्दन लगाया गया है, ये त्रिवलियाँ कुंकुम और केसर के रंग की शोभित हैं। पद्मावनी ऐसी सुकुमारी है कि दूध का भी भोजन नहीं करती, केवल पान-फूल के आधार पर रहती है। उसकी नाभि से रोमावली की पंक्ति ऊपर को जाती है जैसे काली नागिनी निकल कर कमल मुख की ओर जा रही है। वह ऊपर आकर दोनों नारंगियों (कुचों) के बीच खड़ी हुई, पर मोर (गर्दन) को देख कर रुक गयी। या भौंरों की पंक्ति चढ़ी

जा रही है और चन्दन के खम्भे की महक पर मतवाली हो गयी है। अथवा विरह की सतायी हुई यमुना चल कर प्रयाग और अरैल के बीच में वह रही है, इसकी नाभि जैसे काशी-करवट का कुण्ड है, कौन उसका सामना कर सकता है क्योंकि वहां तो मृत्यु ही वसती है। अनेक राजकुमारों ने उसकी आशा से काशी-करवट किया, सिर पर आरा रखवाया तथा शरीर को आग में तपाया, अनेक लोग धुंये में घुट-घुट कर मर गये, पर पद्मावती ने किसी के पक्ष में उत्तर न दिया क्योंकि वह तो सर्वथा कामनाविहीन है।

*टिप्पणी—पेट की रोमावली स्त्रियों के पेट में नहीं होती, फिर भी जायसी ने कवि प्रसिद्धि के कारण प्रयोग किया है। विद्यापति और सूरदास ने भी हृदय की रोमावली की ठीक ऐसी ही उपमा दी है, जायसी ने भी उसे ज्यों का त्यों ले लिया है—*

*विद्यापति—नाभि विवर सयँ लोम लतावलि,*
*भुजगि निसास पयासा।*
*नासा खगपति चंचु भरम-भय,*
*कुच गिरि संति निवासा॥*

[ ११५ ]

बैरिनि पीठि लीन्ह ओइँ पाछें। जनु फिरि चली अपछरा काछें॥
मलयागिरि कै पीठि सँवारी। बेनी नाग चढ़ा जनु कारी॥
लहरें देत पीठि जनु चढ़ा। चीर ओढ़ावा कंचुकि मढ़ा॥
दहुँ का कहँ असि बेनी कीन्ही। चंदन बास भुअंगन्ह दीन्ही॥
किस्न कै करा चढ़ा ओहि माथे। तब सो छूट, अब छूट न नाथें॥
कारी कँवल गहे मुख देखा। ससि पाछें जस राहु बिसेखा॥
को देखै पावै वह नागू। सो देखै माथें मनि भागू॥
पन्नग पङ्कज मुख गहे, खंजन तहाँ बईठ॥
छात, सिंघासन, राज, धन, ता कहँ होइ जो डीठ॥११५॥

शब्दार्थ—बैरिनि = शत्रु, क्योंकि वेणी के बाण से घायल करती है। ओइँ = उस। पाछें = पीछे। अपछरा = अप्सरा। कंचुकि = केंचुली। कै करा=

मलते चले गये। इन अन्तिम पंक्तियों में जायसी ने अध्यात्म पक्ष की ओर भी संकेत किया है। अर्थात् बड़े-बड़े ऋषि मुनि परमेश्वर को पाने को अनेक तप करते हैं पर पा नहीं सकते।

अलंकार...रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा।

[ ११४ ]

पेट पत्र चंदन जनु लावा। कुंकुह केसरि बरन सोहावा ॥
खीर अहार न कर सुकुवाँरा। पान फुल के रहै अधारा ॥
स्याम भुअंगिनी रोमावली। नाभी निकसि कँवल कहँ चली ॥
आइ दुहूं नारंग विच भई। देखि मँजूर ठमकि रहि गई ॥
जनहु चढ़ी भँवरन्हि कै पाँती। चंदन खाँभ बास कै माँती ॥
कै कालिंद्री बिरह सताई। चलि पयाग अरइल बिच आई ॥
नाभी कुण्डर बानारसी। सौह को होइ, मीचु तहँ बसी ॥
सिर करवत, तन करसी लै लै, बहुत सीझे तेहि आस।
बहुत धूम घूँटत मैं देखे, उतरु न देइ निरास ॥११४॥

शब्दार्थ- पत्र = परत, मरोड़े, त्रिवली। लावा = लगाया गया। कुंकुह = कुंकुम। खीर = क्षीर, दूध। सुकुवाँरा = सुकुमार, कोमल। मँजूर = मोर। ठमकि = रुक कर। कालिंद्री = यमुना। पयाग-अरइल = प्रयाग और अरैल (यमुना के एक किनारे पर प्रयाग (इलाहाबाद) और दूसरे किनारे पर अरैल एक गांव है।) कुंडरे = कुंड। करवत = आरा। करसी = उपले की आग में शरीर तपाना। सीझे = तपे। घूँटत = घुट-घुट कर मरना। निरास = कामनाविहीन।

अर्थ—इस पद में पद्मावती के पेट का वर्णन है—पेट में त्रिवलियाँ हैं, ऐसा, प्रतीत होता है जैसे चन्दन लगाया गया है, ये त्रिवलियाँ कुंकुम और केसर के रंग की शोभित हैं। पद्मावती ऐसी सुकुमारी है कि दूध का भी भोजन नहीं करती, केवल पान-फूल के आधार पर रहती है। उसकी नाभि से रोमावली की पंक्ति ऊपर को जाती है जैसे काली नागिनी निकल कर कमल मुख की ओर जा रही है। वह ऊपर आकर दोनों नारंगियों ( कुचों ) के बीच खड़ी हुई, पर मोर (गर्दन) को देख कर रुक गयी। या भौंरों की पंक्ति चढ़ी

जा रही है और चन्दन के खम्भे की महक पर मतवाली हो गयी है। अथवा विरह की सतायी हुई यमुना चल कर प्रयाग और अरैल के बीच में बह रही है, इसकी नाभि जैसे काशी-करवट का कुण्ड है, कौन उसका सामना कर सकता है क्योंकि वहां तो मृत्यु ही बसती है। अनेक राजकुमारों ने उसकी आशा से काशी-करवट किया, सिर पर आरा रखवाया तथा शरीर को आग में तपाया, अनेक लोग धुंये में घुट-घुट कर मर गये, पर पद्मावती ने किसी के पक्ष में उत्तर न दिया क्योंकि वह तो सर्वथा कामनाविहीन है।

*टिप्पणी—पेट की रोमावली स्त्रियों के पेट में नहीं होती, फिर भी जायसी ने कवि प्रसिद्धि के कारण प्रयोग किया है। विद्यापति और सूरदास ने भी हृदय की रोमावली की ठीक ऐसी ही उपमा दी है, जायसी ने भी उसे ज्यों का त्यों ले लिया है—*

*विद्यापति—नाभि विवर सयँ लोम लतावलि,*
*भुजगि निसास पयासा।*
*नासा खगपति चंचु भरम-भय,*
*कुच गिरि संति निवासा॥*

[ ११५ ]

बैरिनि पीठि लीन्ह ओइँ पाछें। जनु फिरि चली अपछरा काछें॥
मलयागिरि कै पीठि सँवारी। बेनी नाग चढ़ा जनु कारी॥
लहरें देत पीठि जनु चढ़ा। चीर ओढ़ावा कंचुकि मढ़ा॥
दहुँ का कहँ असि बेनी कीन्ही। चंदन बास भुअंगन्ह दीन्ही॥
किस्न कै करा चढ़ा ओहि माथे। तब सो छूट, अब छूट न नाथें॥
कारी कँवल गहे मुख देखा। ससि पाछें जस राहु बिसेखा॥
को देखै पावै वह नागू। सो देखै माथें मनि भागू॥
पन्नग पङ्कज मुख गहे, खंजन तहाँ बईठ॥
छात, सिंघासन, राज, धन, ता कहँ होइ जो डीठ॥११५॥

शब्दार्थ—बैरिनि = शत्रु, क्योंकि वेणी के बाण से घायल करती है। ओइँ = उस। पाछें = पीछे। अपछरा = अप्सरा। कंचुकि = केंचुली। कै करा=

कला करके, चतुराई से । ओहि = उसके । कारी = कालिय नाग । विसेखा = विशेष । पन्नग = सर्प । छात = छत्र । दीठ = देखता है ।

अर्थ—इस पद में तोता पद्मावती की पीठ पर की वेणी का वर्णन करता है—शत्रु पीठ ने उस वेणी को पीछे लटका रखा है । पीछे से देखने पर मालूम होता है कि कोई अप्सरा सजी हुई जा रही है । पीठ पर वेणी ऐसी लगती है जैसी पीठ तो मलयगिरि हो और उस पर काला नाग चढ़ा हो । लहरें देते हुए साँप पीठ पर चढ़ रहा है और पद्मावती की सफेद ओढ़नी ऐसी प्रतीत होती है जैसे नाग के ऊपर की सफेद केंचुली हो । पता नहीं किसके लिये ऐसी वेणी बनाई गई है ? उसके शरीर की बास रूपी चन्दन की गन्ध को वेणी रूपी सर्पिणी ने प्राप्त किया है । श्री कृष्ण जी अपनी कला के बल पर उसके मत्थे पर चढ़ गये थे पर तब तो वह छुट गया था, अब तो वह नाथा भी गया है (वेणी चोटीले से बाँधी गयी है इसलिए छुट नहीं सकता) । मुख के पीछे बाल और वेणी है ऐसा दिखाई पड़ता है मानो कालिय नाग ने कमल को मुख में पकड़ लिया हो, या शशी के पीछे राहु विशेष रूप से घेरे है । उस नाग को कौन देख पा सकता है ? वही देखेगा जिसके मस्तक पर सौभाग्य-मणि है । साँप रूपी वेणी कमल रूपी मुख को पकड़े है, और उसके ऊपर खंजन रूपी नेत्र बैठे हैं । इस प्रकार के विचित्र दृश्य को जो देखेगा उसे छत्र, सिंहासन, राज्य, धन सभी प्राप्त होंगे ।

अलंकार—उत्प्रेक्षा, संदेह, रूपक ।

[ ११६ ]

लंक पुहुमि अस आहि न काहूँ । केहरि कहौं न ओहि सरि ताहूँ ।।
बसा लंक बरनै जग झीनी । तेहि तें अधिक लंक वह खीनी ।।
परिहँस पिअर भए तेहिं बसा । लीन्हे लंक लोगन्ह कहँ डँसा ।।
जानहुँ नलिनि खंड दुइ भई । दुहुँ बिच लंक तार रहि गई ।।
हिय सों मोरि चलै वह तागा । पैग देत कत सहि सक लागा ।।
छुद्र घंटि मोहहिं नर राजा । इंद्र अखार आइ जनु साजा ।।
मानु बीन गहे कामिनी । रागहिं सबै राग रागिनी ।।

सिंघ न जीता लंक सरि, हारि लीन्ह बन बासु।
तेहिं रिसि रकत पिश्रै मनई कर, खाइ मारि कै मांसु ॥ ११६ ॥

शब्दार्थ— लंक, कमर । पुहुमि = पृथ्वी । सरि = बराबर । बसा = बर्र, भिड़ । झीनी = पतली परिहँस = ईर्ष्या । पिअर = पीला । लंक-पाठान्तर डंक । नलिन = कमल नाल । अखार = अखाड़ा । छुद्रघंटि = करधनी, घुंघुरूदार पेटी । मनई = मनुष्य ।

अर्थ - इस पद में पद्मावती की कमर का वर्णन है—

उसकी जैसी कमर पृथ्वी में किसी की नहीं है, सिंह की कमर भी उसके समान नहीं है । भिड़ की कमर संसार में लोग पतली कहते हैं पर उसकी कमर तो भिड़ से भी पतली है । भिड़ उसी की ईर्ष्या से ही पीली हो गई है और इसी से डंक लेकर लोगों को मारती फिरती है । जिस प्रकार कमल नाल के तोड़ देने पर उसका महीन रेशा दोनों खंडों के बीच रह जाता है इसी प्रकार इसकी कमर नीचे और ऊपर के खंडों को जोड़े हुए है । उसकी कमर इतनी कोमल है कि सूत के धागे की भाँति हृदय के भाव-परिवर्तन के साथ मुड़ती जाती है, पैंग देने अर्थात् झकझोरने को वह नहीं बर्दाश्त कर सकती । कमर में जो घुँघुरूदार करधनी पहनती है उसे देखकर राजा लोग मोहित होते हैं और इस प्रकार इकट्ठे होते हैं मानो इन्द्र का अखाड़ा सजा हुआ है । घुँघुरुओं की ध्वनि ऐसी लगती है मानो उसने वीणा ले रक्खी है और उस पर सभी राग-रागिनी बजा रही है । सिंह उसकी कमर की समता में न जीत सका, इसी लिये उसने हारकर वन में वास किया और उसी क्रोध के मारे मनुष्य को मारकर उसका रक्त पीता है और मांस खाता है ।

अलंकार—उत्प्रेक्षा ।

[ ११७ ]

नाभी कुंडर मलै समीरू । समुँद भँवर जस भँवै गभीरू ॥
बहुतै भँवर बौंडरा भए । पहुँचि न सके सरग कहँ गए ॥
चंदन माँझ कुरंगिनि खोजू । दहुँ को पाव, का राजा भोजू ॥
को ओहि लागि हिवंचल सीझा । का कहँ लिखी, ऐस को रीझा ॥

कला करके, चतुराई से । ओहि = उसके । कारी = कालिय नाग । विसेखा = विशेष । पन्नग = सर्प । छात = छत्र । दीठ = देखता है ।

अर्थ—इस पद में तोता पद्मावती की पीठ पर की वेणी का वर्णन करता है—शत्रु पीठ ने उस वेणी को पीछे लटका रखा है । पीछे से देखने पर मालूम होता है कि कोई अप्सरा सजी हुई जा रही है । पीठ पर वेणी ऐसी लगती है जैसी पीठ तो मलयगिरि हो और उस पर काला नाग चढ़ा हो ; लहरें देते हुए साँप पीठ पर चढ़ रहा है और पद्मावती की सफेद ओढ़नी ऐसी प्रतीत होती है जैसे नाग के ऊपर की सफेद केंचुली हो । पता नहीं किसके लिये ऐसी वेणी बनाई गई है ? उसके शरीर की बास रूपी चन्दन की गन्ध को वेणी रूपी सर्पिणी ने प्राप्त किया है । श्री कृष्ण जी अपनी कला के बल पर उसके मत्थे पर चढ़ गये थे पर तब तो वह छुट गया था, अब तो वह नाथा भी गया है (वेणी चोटीले से बाँधी गयी है इसलिए छुट नहीं सकता) । मुख के पीछे बाल और वेणी है ऐसा दिखाई पड़ता है मानो कालिय नाग ने कमल को मुख में पकड़ लिया हो, या शशी के पीछे राहु विशेष रूप से घेरे है । उस नाग को कौन देख पा सकता है ? वही देखेगा जिसके मस्तक पर सौभाग्य-मणि है । साँप रूपी वेणी कमल रूपी मुख को पकड़े है, और उसके ऊपर खंजन रूपी नेत्र बैठे हैं । इस प्रकार के विचित्र दृश्य को जो देखेगा उसे छत्र, सिंहासन, राज्य, धन सभी प्राप्त होंगे ।

अलंकार—उत्प्रेक्षा, संदेह, रूपक ।

[ ११६ ]

लंक पुहुमि अस आहि न काहूँ । केहरि कहौं न ओहि सरि ताहूँ ।।
बसा लंक बरनै जग झीनी । तेहि तें अधिक लंक वह खीनी ।।
परिहँस पिअर भए तेहिं बसा । लीन्हे लंक लोगन्ह कहँ डँसा ।।
जानहुँ नलिनि खंड दुइ भई । दुहुँ बिच लंक तार रहि गई ।।
हिय सों मोरि चलै वह तागा । पैग देत कत सहि सक लागा ।।
छुद्र घंटि मोहहिं नर राजा । इंद्र अखार आइ जनु साजा ।।
मानु बीन गहे कामिनी । रागहिं सबै राग रागिनी ।।

सिंघ न जीता लंक सरि, हारि लीन्ह बन बासु।
तेहिं रिसि रकत पिअै मनई कर, खाइ मारि कै मांसु ॥ ११६ ॥

शब्दार्थ— लंक, कमर । पुहुमि = पृथ्वी । सरि = बराबर । बसा = बर्र, भिड़ । झीनी = पतली परिहँस = ईर्ष्या । पिअर = पीला । लंक-पाठान्तर डंक । नलिन = कमल नाल । अखार = अखाड़ा । छुद्रघंटि = करधनी, घुंघुरूदार पेटी । मनई = मनुष्य ।

अर्थ - इस पद में पद्मावती की कमर का वर्णन है—

उसकी जैसी कमर पृथ्वी में किसी की नहीं है, सिंह की कमर भी उसके समान नहीं है। भिड़ की कमर संसार में लोग पतली कहते हैं पर उसकी कमर तो भिड़ से भी पतली है। भिड़ उसी की ईर्ष्या से ही पीली हो गई है और इसी से डंक लेकर लोगों को मारती फिरती है। जिस प्रकार कमल नाल के तोड़ देने पर उसका महीन रेशा दोनों खंडों के बीच रह जाता है इसी प्रकार इसकी कमर नीचे और ऊपर के खंडों को जोड़े हुए है। उसकी कमर इतनी कोमल है कि सूत के धागे की भाँति हृदय के भाव-परिवर्तन के साथ मुड़ती जाती है, पैंग देने अर्थात् झकझोरने को वह नहीं बर्दाश्त कर सकती। कमर में जो घुँघुरूदार करधनी पहनती है उसे देखकर राजा लोग मोहित होते हैं और इस प्रकार इकट्ठे होते हैं मानो इन्द्र का अखाड़ा सजा हुआ है। घुँघुरुओं की ध्वनि ऐसी लगती है मानो उसने वीणा ले रक्खी है और उस पर सभी राग-रागिनी बजा रही है। सिंह उसकी कमर की समता में न जीत सका, इसी लिये उसने हारकर वन में वास किया और उसी क्रोध के मारे मनुष्य को मारकर उसका रक्त पीता है और मांस खाता है।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

[ ११७ ]

नाभी कुंडर मलै समीरू। समुँद भँवर जस भँवै गभीरू ॥
बहुतै भँवर बौंडरा भए। पहुँचि न सके सरग कहँ गए ॥
चंदन माँझ कुरंगिनि खोजू। दहुँ को पाव, का राजा भोजू ॥
को ओहि लागि हिवंचल सीझा। का कहँ लिखी, अैस को रीझा ॥

तीवइ कँवल सुगंध सरीरू। समुँद लहरि सोहै तन चीरू॥
झूलहिं रतन पाट के झोंपा। साजि मदन दहुँ का पहँ कोपा॥
अबहिं सो आहि कँवल कै करी। न जनौं कवन भँवर कहँ धरी॥
बेधि रहा जग बासना, परिमल मेद सुगंध।
तेहि अरघानि भँवर सब लुबुधे, तजहिं न नीवी बँध॥ ११७॥

शब्दार्थ—भँवै = घूमता है। बौंडरा = बवंडर। कुरंगिनि = हिरणी। खोजू = खोज का चिन्ह, खुर का पड़ा हुआ निशान। हिवंचल = हिमाचल। सीझा = तपा। तीवइ = स्त्री। पाट = रेशम। झोंपा = गुच्छे। करी = कली (अविवाहिता)। जनौं = जानौं, जानता। कहँ = के लिए। धरी = रखी हुई है। बासना = सुगन्धि। अरघानि = आघ्राण, महक। नीवी = फुफँदी या फुल्ली, वह डोरी जिससे स्त्रियाँ लहँगे की गांठ बांधती हैं।

अर्थ—नाभि कुण्ड से मलयानिल जैसी सुगंधि आती है। समुद्र की भँवर के समान घूमी हुई ही गम्भीर है। बहुत से भँवर और बवंडरों ने उस नाभि की समता करनी चाही पर वे उसकी समता न कर सके और नष्ट हो गये। जैसे चन्दन के वन में हिरणी के खुर का निशान हो। तोता कहता है कि पता नहीं कौन राजा भोज उसे पावेगा। कौन ऐसा योगी है जिसने उसके लिए हिमालय पर तपस्या की है। वह किस के भाग्य में लिखी है, ऐसा राजा कौन है जो इस पर रीझेगा? उस स्त्री के शरीर से कमल की सुगंध निकलती है, उसके शरीर पर के वस्त्र ऐसे शोभायमान होते हैं जैसे समुद्र की लहरें। रत्नों और रेशम के गुच्छे झूलते हैं। मालूम नहीं ऐसा साज सजा कर कामदेव ने किसके ऊपर कोप किया हैं। अभी तक वह कमल-कली है अर्थात् कुमारी है, मालूम नहीं किस भ्रमर के लिये रखी हुई है, अर्थात् पता नहीं किस राजा के साथ उसका ब्याह होगा? सारा संसार उसकी सुगंधि से सुवासित है। उसकी महक से सभी भौंरे लोभ बस उसकी फुफंदी के बन्धन को नहीं छोड़ते—अर्थात् सभी उसके निकट पड़े हैं।

[ ११८ ]

बरनौं नितँब लंक कै सोभा। औ गज गवन देखि सब लोभा॥
जुरे जंघ सोभा अति पाए। केरा खाँभ फेरि जनु लाए॥

कँवल चरन अति रात बिसेखे। रहहिं पाट पर, पुहुमि न देखे॥
देवता हाथ हाथ पगु लेहीं। पगु पर जहाँ सीस तहँ देहीं॥
माँथे भाग को दहुं अस पावा। कँवल चरन लै सीस चढ़ावा॥
चूरा चाँद सुरुज उजिआरा। पायल बीच करहिं झनकारा॥
अनवट बिछिआ नखत तराईं। पहुँचि सकै को पावन्हि ताईं॥
बरनि सिंगार न जानेउ, नखसिख जैस अभोग।
तस जग किछौ न पावौं, उपमा देउँ ओहि जोग॥ ११८॥

शब्दार्थ—केरा = केला। फेरि = उलट कर। लाए = लगाए। रात = लाल। पाट = रेशमी आसन। पुहुमि = पृथ्वी। चूरा = चमक चूड़ा। अनवट बिछिया = पांवों की उँगलियों में पहने जाने वाले गहने। किछौ = कुछ भी। जोग = योग्य।

अर्थ—उसकी कमर की शोभा के रूप नितम्बों का वर्णन करता हूँ। उसकी हाथी के समान चाल को देखकर सभी लुभा जाते हैं। उसकी दोनों जुड़ी हुई जंघायें अत्यन्त सुन्दर लगती हैं मानो केला के खम्भे उलट कर लगाये गये हैं। उसके कमलवत् चरण लाल रंग के हैं। वे चरण सदा आसमान पर ही रहते हैं कभी ज़मीन पर नहीं पड़े। देवता लोग उसके पांवों को हाथों पर लेते हैं, जहां-जहां उसके पैर पड़ते हैं वहां-वहां वे सिर रख देते हैं। पता नहीं कौन ऐसा भाग्यशाली है जो उसे पायेगा और उसके कमल-चरणों को लेकर शीश चढ़ायेगा। उसका पैरों का चमकचूड़ा चन्द्र और सूर्य की भाँति उज्ज्वल है, पायल बीच में झनकार करती है। अनवट और बिछिया नक्षत्र और तारागणों की भाँति चमकते हैं। ऐसा कौन है जो उन पैरों तक पहुँच सके?

जायसी कहते हैं कि पद्मावती नख से शिख तक जैसी अनुपम सुन्दर है वैसा वर्णन करना मैं नहीं जानता, वैसा संसार में मैं कुछ भी तो नहीं पाता जिसके समान उसकी उपमा दूँ।

*टिप्पणी—चोटी से लेकर पांव तक प्रत्येक अंग का साहित्यिक वर्णन जायसी ने किया है। प्रत्यङ्ग की उपमा उन्होंने कवि परम्परा के अनुरूप की है, कई उपमायें, जैसे 'कमर की भिड़ से', उनकी अपनी हैं। प्रत्येक अंग की शोभा के वर्णन के साथ तोता राजा में उसके पाने की चाह को भी तीव्र करता गया है। मनोविज्ञान की दृष्टि से वे पंक्तियां बड़ी महत्वपूर्ण हैं।*

# ११. प्रेम-खण्ड

[ ११६ ]

सुनतहि राजा गा मुरुछाई। जानहुँ लहरि सुरुज कै आई॥
पेम घाव दुख जान न कोई। जेहि लागै जानै पै सोई॥
परा सो पेम समुंद अपारा। लहरहि लहर होइ बिसँभारा॥
बिरह भँवर होइ भाँवरि देई। खिन खिन जीव हिलोरहि लेई॥
खिनहि निसास बूड़ि जिउ जाई। खिनहि उठै निसँसै बौराई।
खिनहि पीत, खिन होइ मुख सेता। खिनहि चेत, खिन होइ अचेता॥
कठिन मरन तें पेम बेवस्था। ना जिअँ जिवन, न दसइँ अवस्था॥
जनु लेनिहारन्ह लीन्ह जिउ, हरहिं तरासहिं ताहि।
एतना बोल न आव मुख, करहिं तराहि तराहि॥ ११६॥

शब्दार्थ—बिसँभारा = बेसँभाल। बेवस्था = व्यवस्था, दशा। दसइँ अवस्था = मरण। लेनिहारन्ह = लेने वाले। हरहि = धीरे-धीरे। तरासहिं = त्रास दिखाते हैं। एतना = इतना। तराहि तराहि = त्राहि-त्राहि।

अर्थ – जब राजा रत्नसिंह ने पद्मावती के नखशिख-वर्णन को सुना तो वह मूर्छित हो गया। ऐसा मालूम होता है मानो सूर्य की कोई लहर आ लगी हो। प्रेम के घाव के दुख को कोई नहीं जानता, उसको तो वही जानता है जिसे उसकी चोट लगती है। वह प्रेम के अपार समुद्र में पड़ गया, उसमें लहरें लहर रही हैं और वह बेसुध हो गया है। विरह भँवर बनकर चक्कर दे रहा है और और क्षण-क्षण जीव को हिलोरा दे रहा है। क्षण भर के उसाँसों में जीव डूब जाता है और क्षण भर बाद पागल की भाँति सांस छोड़ता उठता है। कभी उसका मुख पीला और कभी सफेद होता है, कभी उसे चेत रहती है और कभी बेहोश रहता है। प्रेम की दशा मृत्यु से भी कठिन है, न जीव को जीवन मिलता है और न मरण। मानो जान लेने वाला जान ले रहा है और धीरे-धीरे उसे डरा रहा है और वह बेचारा तनिक भी बोल नहीं सकता, त्राहि-त्राहि करता है।

*टिप्पणी—सूफी-प्रेम की विशेषता वेदना और कसक है, हर्ष और उल्लास नहीं।*

[ १२० ]

जहँ लगि कुटुँब लोग औ नेगी। राजा राय आए सब बेगी॥
जाँवत गुनी गारुरी आए। ओझा, बैद, सयान बोलाए॥
चरचहिं चेष्टा परिखहिं नारी। निअर नाहिं ओषद तेहि बारी॥
है राजहिं लष्षन कै करा। सकति बान मोहा है परा॥
नहिं सो राम, हनिवँत बड़ि दूरी। को लै आव सजीवनि मूरी॥
बिनौ करहिं जेते गढ़पती। का जिउ कीन्ह, कवनि मति मती॥
कहहु सो पीर, काह बिनु खाँगा। समुँद सुमेरु आव तुम्ह माँगा॥
धावन तहाँ पठावहु, देहिं लाख दस रोक।
है सो बेलि जेहि बारी, आनहिं सबै बरोक॥ १२०॥

शब्दार्थ—नेगी = सम्बन्धी। जाँवत = जितने। गारुरी = गारुड़ी, साँप का विष उतारने वाले। ओझा = भूत-प्रेत पूजने तथा भूत-प्रेत को उतारने वाले। चरचहिं = अनुमान लगाते हैं। चेष्टा = हरकत। परिखहिं = परीक्षा करते हैं। नारी = नाड़ी। निअर = निकट। बारी=बाला (पद्मावती)। लष्षन = लक्ष्मण। हनिवँत = हनूमान्। बिनौ = विनय। पीर = पीड़ा। खाँगा = घटा। धावन = दूत। रोक-रोकड़ = नकद रुपया। बरोक = वररक्षा-फलदान।

अर्थ—जितने कुटुम्बी और सम्बन्धी आदि थे सभी राजा-राय तुरन्त ही आये। जितने भी गुणी, गारुड़ी, ओझा, वैद्य और चतुर लोग थे सभी बुलाये गये। सब लोग राजा की हरकतों को देख कर अनुमान लगाने लगे क्या-क्या रोग उसे हैं, उसकी नाड़ी की भी परीक्षा होने लगी, पर उसकी औषधि पद्मावती तो निकट है ही नहीं। राजा की तो लक्ष्मण की दशा हुई है, उसे शक्ति बाण ने मूर्छित कर दिया है। न तो वे राम हैं और न हनूमान्, कौन संजीवनी बूटी को ला सकता है? सभी गढ़पति लोग विनती करते हैं कि हे मतिवान् राजा! तुमने अपने जी में क्या कर लिया। उस पीड़ा को कहो, क्या नहीं है? कौन सी वस्तु घटी है, तुम्हारे माँगने पर तो रत्नाकर और सुमेरु पर्वत भी आ सकते हैं। वहाँ पर इनको भेजो और

जिसके पास वह लता [ बेल ] स्वरूपा बाला है वह दस लाख रुपये वररचा में दे और दूत उस सारे फलदान को लाये ।

[ १२१ ]

जौं भा चेत उठा बैरागा । बाउर जनहुँ सोइ अस जागा ॥
आवन जगत बालक जस रोवा । उठा रोइ, हा ग्यान सो खोवा ॥
हौं तो अहा अमरपुर जहाँ । इहाँ मरनपुर आएउँ कहाँ ॥
केइँ उपकार मरन कर कीन्हा । सकति जगाइ जीउ हरि लीन्हा ॥
सोवत अहा जहाँ सुख साखा । कस न तहाँ सोवत बिधि राखा ॥
अब जिउ तहाँ, इहाँ तन सूना । कब लगि रहै परान बिहूना ॥
जौ जिउ घटिहि काल के हाथाँ । घटन नीक पै जीउ निसाथाँ ॥

अहुठ हाथ तन सरवर, हिया कँवल तेहि माँह ।
नैनन्हि जानहु निअरें, कर पहुँचत अवगाह ॥ १२१ ।

शब्दार्थ—भा = हुआ । बैरागा = वैराग्य । हौं = मैं । अहा = था । सकति = शक्ति । बिहूना = विहीन, रहित । अहुठ = साढ़े तीन । अवगाह = थाह लेना ।

अर्थ – जब राजा को होश हुआ, तो उसमें वैराग्य जाग उठा, उसकी दशा ऐसी थी जैसे बावला सोकर जग गया हो । वह इस प्रकार रोने लगा जैसे संसार में जन्म लेते ही बालक रोता है । वह रोने लगा कि 'हाय मेरे पास जो ज्ञान था उसे मैंने खो दिया ।' मैं तो अमरपुर में था, इस मृत्यु लोक में क्योंकर आ गया । किसने मुझ पर मरने का उपकार किया है, मनुष्य की शक्ति को जगा कर मेरी जान ले ली । मैं सो रहा था वहाँ पर सभी प्रकार के सुख थे । ब्रह्मा ने मुझे वहीं पर सोते हुए क्यों नहीं रहने दिया ? अब तो मेरा जीव वहीं है, यहाँ पर तो केवल यह सूना शरीर है । यह भला कब तक प्राण से रहित होकर जीवित रह सकता है ? यदि यह जीव काल के हाथ खत्म हो जाय तो बड़ा अच्छा होगा, क्योंकि इसका निस्संग (पद्मावती के बिना) रहना ठीक नहीं । यह साढ़े तीन हाथ का शरीर रूपी तालाब है जिसमें हृदय रूपी कमल है, आँखों के लिए उसे निकट ही समझो, हाथ पहुँचते ही थाह मिल जायगी । अर्थात् अब तो मेरा मन उसी पद्मावती पर लगा है, अब मेरे लिए वह असाध्य नहीं है ।

[ १२२ ]

सबन्हि कहा मन समझहु राजा । काल सतें कै जूझि न छाजा ॥
तासौं जूझि जात जौं जीता । जात न किरसुन तजि गोपीता ॥
औ नहिं नेहु काहु सौं कीजै । नाउँ मीठ, खाएँ जिउ दीजै ॥
पहिलेहि सुक्ख नेहु जब जोरा । पुनि होइ कठिन निबाहत ओरा ॥
अहुठ हाथ तन जैस सुमेरू । पहुँचि न जाइ परा तस फेरू ॥
गँगन दिस्टि सौं जाइ पहूँचा । पेम अदिस्ट गँगन सौं ऊँचा ॥
धुव तें ऊँच पेम धुव उवा । सिर दै पाउ देइ सो छुवा ॥
तुम्ह राजा औ सुखिआ, करहु राज सुख भोग ।
एहि रे पंथ सो पहुँचै, सहै जो दुक्ख बियोग ॥ १२२ ॥

शब्दार्थ—जूझि = युद्ध । छाजा = शोभा पाना । किरसुन = कृष्ण । नाउँ = नाम । गँगन-दिस्टि = शून्य-दृष्टि, ज्ञान-योग । अदिस्ट = अदृष्ट । धुव = ध्रुव । उवा = उदय हुआ । दै = देकर । पाउ देइ = पैर रख कर ।

अर्थ—सब ने कहा कि हे राजा ! मन में विचार करके देखो । सत् रूपी काल से युद्ध करना शोभा नहीं देता । यदि उससे लड़ करके जीता जा सकता तो क्या कृष्ण गोपियों को छोड़ कर चले जाते । किसी से प्रेम नहीं करो, प्रेम का नाम ही मीठा है, खाने पर जान देनी पड़ती है । पहले तो सुख के साथ प्रेम जोड़ा जाता है पर बाद में उसका निर्वाह करना अत्यन्त कठिन है । यह साढ़े तीन हाथ का शरीर सुमेरु पर्वत जैसा ऊँचा हो जाता है, उसमें इतने चक्कर पड़ जाते हैं कि ऊपर पहुँचा नहीं जाता । ज्ञान योग से ही उस शून्य तक पहुँचा जा सकता है, प्रेम तो अदृष्ट है और आकाश से भी ऊँचा है । प्रेम तो ध्रुव तारे से भी ऊँचा है । जो सिर काट कर उस पर पाँव देता है, वही उसे छू सकता है । तुम तो राजा और सब प्रकार से सुखी हो, आराम से राज और सुख भोग करो, इस रास्ते पर तो वही पहुँचता है जो विरह का दुःख सहता है ।

*टिप्पणी—इस पद में जायसी ने सूफी प्रेम के सिद्धान्तों का आभास किया है—इसमें विरह वेदना और दुःख की प्रधानता है । इसमें अपने को मार कर ही अग्रसर हुआ जाता है । इसमें हठयोग का भी आभास उन्होंने*

*दिया है। साढ़े तीन हाथ के शरीर में सुमेरु पर्वत की ऊंचाई और 'गगन-दिस्टि' हठयोग के प्रेम की ओर संकेत करते हैं।*

[ १२३ ]

सुअैं कहा मन समुझहु राजा। करत पिरीत कठिन है काजा॥
तुम्ह अबहीं जेईं घर पोईं। कँवल न बैठि बैठ हहु कोईं॥
जानहि भँवर जो तेहि पँथ लूटे। जीउ दीन्ह औ दिए न छूटे॥
कठिन आहि सिंघल कर राजू। पाइअ नाहिं राज के साजू॥
ओहिं पँथ जाइ जो होइ उदासी। जोगी, जती, तपा, संन्यासी॥
भोग जोरि पाइत वह भोगू। तजि सो भोग कोइ करत न जोगू॥
तुम्ह राजा चाहहु सुख पावा। जोगहि भोगहि कत बनि आवा॥
साधन्ह सिद्धि न पाइअ, जौ लहि साध न तप्प।
सोई जानहिं बापुरे, जो सिर करहिं कलप्प॥ १२३॥

शब्दार्थ — जेईं = खाया। पोईं = पकी-पकाई। बैठ हहु = बैठे हो। कोईं = कुमुदिनी। उदासी = वैरागी। साधन्ह = इच्छाओं से। साध = साधना। तप्प = तपस्या। कलप्प = काट डाले।

अर्थ — तोते ने कहा कि हे राजा! मन में विचार कर लो। प्रीति का करना कठिन कार्य है। तुमने तो अभी तक घर की पकी-पकाई आराम से खाई है। कमल पर नहीं बैठे हो, कुमुदिनियों पर ही बैठते रहे हो। कमल पर बैठने के उन कष्टों को तो भौंरा ही जानता है, जो उस पथ पर उसे मिले हैं। उसने जान दे दी, फिर भी मुक्त न हो सका है। सिंहल का राज पाना बड़ा कठिन है, राज्य के साजों के बल पर तुम उसे कभी नहीं पा सकते। उस रास्ते पर तो वही जा सकता है जो वैरागी, जोगी, यति, तपस्वी और संन्यासी होता है। यदि भोगों को जोड़ कर कोई उस ऐश्वर्य को प्राप्त कर सकता तो सुखों को छोड़ कर कोई भी योगाभ्यास न करता। तुम राजा हो और सुख प्राप्त करना चाहते हो, पर निश्चय जानिए योग और भोग की कभी नहीं बनती। इच्छाओं मात्र से सिद्धि नहीं प्राप्त होती जब तक कि साधना और तप न हों, उसको तो वे ही बेचारे जानते हैं जो अपने सिर को काट डालते हैं।

1951

[ १२४ ]

का भा जोग कहानी कथें। निकसै न घिउ बाजु दधि मथें ॥
जौं लहि आपु हेराइ न कोइ। तौं लहि हेरत पाव न सोई ॥
पेम पहार कठिन बिधि गढ़ा। सो पै चढ़ै सीस सों चढ़ा ॥
पंथ सूरिन्ह कर उठा अंकूरू। चोर चढ़ै, कि चढ़ै मंसूरू ॥
तू राजा का पहिरसि कंथा। तोरें घटहि माँह दस पंथा ॥
काम, क्रोध, तिस्ना, मद, माया। पाँचौ चोर न छाड़हिं काया ॥
नव सेंधै ओहि घर मझिआरा। घर मूसहिं निसि, कै उजिआरा ॥

अबहूं जागु अयाने, होत आव निसु भोर
पुनि किछु हाथ न लागिहि, मूसि जाहिं जब चार ॥ १२४ ॥

शब्दार्थ—बाजु-पाठान्तर-बिनु = बिना। हेराइ = खोये। हेरत = खोजते। सूरिन्ह = शूलियों। अँकूरू = अंकुर, फल, धार। मंसूरू = मंसूर एक सूफी था जो ईश्वरीय प्रेम में दीवाना होकर शूली पर चढ़ गया था। पहिरसि= पहिनोगे। कंथा = कथरी, गूदड़ी। तोरें = तुम्हारे। घटहिं माँहिं = हृदय में ही। दस पंथा = दस मार्ग-(२ आँख, २ कान, २ नाक, मुख, लिंग, गुदा, और ब्रह्मरंध्र)। मूसहिं = लूट रहे हैं।

अर्थ—तोता राजा से कहता है कि—योग की कहानी कहने से कुछ नहीं होता, बिना दही के मथे कभी घी नहीं निकल सकता। जब तक कोई व्यक्ति स्वयं नहीं खो जाता, तब तक कोई उसे खोज नहीं सकता। ब्रह्मा ने प्रेम के पहाड़ को बड़ा कठिन घड़ा है। उस पर तो वही चढ़ सकता है जो अपने शीश को चढ़ा सकता है। उसमें तो शूलियों के पंथ है जिन पर धारें उठी हैं, उस शूली पर या तो चोर ही दण्ड के रूप में चढ़ सकता है या मंसूर जैसा सूफी ही। तुम राजा हो, गुदड़ी क्या पहिनोगे ? अर्थात् जब तक तुम्हारे हृदय में राजसी वृत्तियां हैं, जोगी का वेष धारण करने से कोई लाभ नहीं। तुम्हारे हृदय में ही दस दरवाजे आँख-कान-नाक आदि हैं। काम, क्रोध, तृष्णा, मद, माया, ये पाँचों चोर शरीर को नहीं छोड़ रहे हैं। इस शरीर रूपी घर में नव सेंधें (नकब) बनी हैं। चोर लोग रात-दिन लूट रहे हैं।

इसलिए हे अनजान ! अब भी तो जागो, रात्रि का सवेरा होने वाला है, जब चोर लोग सब लूट ले जायेंगे तब हाथ कुछ न लगेगा।

*टिप्पणी—इस पद में हीरामनि का गुरुपना स्पष्ट है। नख-शिख में यह व्यंजना से संकेत रहा था और पद्मावतीरूपी अध्यात्म ज्ञान की ओर इच्छा उकसा रहा था, अब जब प्रेम जाग्रत हो गया तो वह स्पष्ट शब्दों में जगा रहा है।*

[ १२५ ]

सुनि सो बात राजा मन जागा। पलक न मार, पेम चित लागा॥
नैनन्ह ढरहिं मोति औ मूँगा। जस गुर खाइ रहा होइ गूँगा॥
हिएँ की जोति दीप वह सूझा। यह जो दीप अँधिअर भा बूझा॥
उलटि दिस्टि माया सौं रूठी। पलटि न फिरी जानि कै झूठी॥
जौ पै नाहीं अस्थिर दसा। जग उजार का कीजै बसा॥
गुरू बिरह चिनगी पै मेला। जो सुलगाइ लेइ सो चेला॥
अब कै फनिग भृंगि कै करा। भँवर होउँ जेहि कारन जरा॥
फूल फूल फिरि पूछौं, जौं पहुंचौ ओहि केत।
तन नेवछावर कै मिलौं, ज्यौं मधुकर जिउ देत॥ १२५॥

शब्दार्थ—पलक न मार = पलक नहीं गिराता। अस्थिर = स्थिर। फनिग = पतिंगा। भृंगि = एक कीड़ा जो पतिंगे के चारों ओर गा-गा कर इतना मुग्ध कर देता है कि पतिंगा भी भृंगी हो जाता है। करा = कला, व्यापार। केत = केतकी।

अर्थ—उसकी बात सुनकर राजा का मन जाग उठा। उसका मन प्रेम में इतना लगा कि उसने पलक मारना भी बन्द कर दिया। उसकी आँखों से मोती और मूँगे की भांति आँसू गिरने लगे। वह इस प्रकार मग्न हो गया जैसे गूँगा गुड़ खा कर मस्त हो जाता है। अध्यात्म प्रेम रहस्यमय है, उसका स्पष्टीकरण नहीं हो सकता। हृदय की ज्योति प्रकाशित हुई, उस प्रकाश के कारण अज्ञानान्धकार दूर हुआ और सत्य दिखाई पड़ने लगा। ज्ञान-दृष्टि उलट गई, माया से चित्तवृत्ति विमुख हो गई और संसार को झूठा समझ कर फिर न पलटी। जबकि संसार की दशा स्थिर नहीं है तब तो संसार

उजाड़ खंड ही है उसमें बस कर क्या करना। गुरु तो शिष्य के हृदय में विरह रूपी चिनगारी ही डाल सकता है पर चेला तो वह है जो उस चिनगारी को प्रदीप्त कर ले। अब मैं भृंगी और पतिंगे की कला करूँगा, अर्थात् जिस प्रकार पतिंगा भृंगी के मंत्र पर भृंगी ही बन जाता है, इसी प्रकार मैं भी तुम्हारे कहे हुए वचनों के अनुसार बदल कर अपने पूर्व रूप को बिलकुल भुला दूँगा। अब मैं उस पद्मावती (पद्म) के लिए भौंरा बनूंगा जिसकी विरहाग्नि में जल रहा हूँ। प्रत्येक फूल-फूल से उसको पूछता हुआ फिरूँगा जिससे उस केतकी रूपी पद्मावती के पास पहुँच जाऊँ, उससे अपने शरीर का उत्सर्ग कर के इस प्रकार मिलूँगा जैसे भौंरा केतकी के काँटों में बिंध कर जान दे देता है।

अलंकार—रूपक।

इस पद के पश्चात् कुछ प्रतियों में एक पद और मिलता है। डा० माताप्रसाद गुप्त ने इस पद को प्रक्षिप्त सिद्ध किया है। अर्थ की दृष्टिसे भी यह पद अप्रासंगिक है। इस पद में राजा के भाई, बन्धु और मित्र राजा को समझाते हैं और राजा अपने निश्चय को बताता है। १२० से १२२ पदों में भी राजा के सम्बन्धी और सगे उसे समझा चुके थे, अतः अब उनका फिर समझाना एक प्रकार से अनावश्यक है। पद इस प्रकार है—

बंधु मीत बहुतै समुझावा। मान न राजा कोउ भुझावा॥
उपजी पेम पीर जेहि आई। परबोधित होइ अधिक सो आई॥
अमृतबात कहत बिष जाना। पेम क बचन माठ कै माना॥
जो ओहि बिषै मारि कै खाई। पूछहुँ तेहिसन पेम मिठाई॥
पूँछहु बात भरथरिहिं जाई। अमृत राज तजा बिष खाई॥
औ महेस बड़ सिद्ध कहावा। उनहूँ बिषै कंठ पै लावा॥
होत आव रवि किरन बिकासा। हनुवंत होइ को देइ सुआसा॥
तुम सब सिद्धि मनावहु, होइ गनेस सिधि लेव॥
चेला को न चलावै, तुलै गुरु जेहि भेव॥

———

# १२. जोगी-खण्ड

[ १२६ ]

तजा राज, राजा भा जोगी। औ किंगरी कर गहें बियोगी ॥
तन बिसँभर मन बाउर रटा। अरुझा पेम, परी सिर जटा ॥
चंद बदन औ चंदन देहा। भसम चढ़ाइ कीन्ह तन खेहा ॥
मेखल, सिंगी, चक्र धँधारी। जोगौटा, रुद्राख, अधारी ॥
कंथा पहिरि डंड कर गहा। सिद्ध होइ कहँ गोरख कहा ॥
मुन्द्रा स्रवन, कंठ जपमाला। कर उदपान, काँध बघछाला ॥
पाँवरि पाँव, लीन्ह सिर छाता। खप्पर लीन्ह, भेस कै राता ॥
चला भुगुति माँगै कहँ, साजि कया तप जोग।
सिद्ध होउँ पदुमावति पाएँ, हिरदे जेहि क बियोग ॥१२६॥

शब्दार्थ—किंगरी = छोटी सारंगी या चिकारा। बिसँभर = बेसँभाल, बेसुध। धँधारी = गोरख धंधा, एक में गुछी हुई लोहे की पतली कड़ियाँ जिनमें उलझे हुए डोरे या कौड़ी को गोरख पंथी साधु अद्भुत रीति से निकालते हैं। अधारी = एक प्रकार का लम्बा झोला जिसका आधा भाग कन्धे के एक ओर और आधा दूसरी ओर लटकता रहता है। उदपान = कमंडल। पाँवरि = खड़ाऊँ। राता = गेरुआ।

अर्थ—इस पद में राजा के जोगी हो जाने पर उसके वेश का वर्णन है—

राजा ने राज्य छोड़ दिया और योगी हो गया। उसने हाथ में छोटी सारंगी ले ली, वह शरीर की सुध-बुध भूल गया और पागल की भांति पद्मावती का नाम रटने लगा। वह प्रेम में उलझ गया, उसके शिर पर जटा हो गयी। उसने अपने चन्द्रमुख और चन्दन के सदृश शरीर में भस्म लगा ली और शरीर को मिट्टी ही बना दिया। उसने जोगियों की भांति मेखला, सींग का बाजा, चक्र, धंधारी, जोगवाट, रुद्राक्ष की माला और अधारी ले ली। गुदड़ी पहन कर हाथ में डंडा ले लिया और सिद्ध बनने के लिए

गोरख पंथी साधु हो गया। कान को छेद कर स्फटिक की मुद्रा कान में डाल ली, कंठ में जपने वाली माला पहिन ली, हाथ में कमण्डल और कन्धे पर बाघम्बर धारण कर लिया। पैर में खड़ाऊँ और सिर पर छाता, हाथ में खप्पर और गेरुआ वेश धारण कर लिया। इस प्रकार शरीर को जोगी और तपस्वी के अनुरूप साज कर राजा भुक्ति (भिक्षा) माँगने के लिए चल पड़ा और सोचने लगा कि पद्मावती के पाने पर ही सिद्धि पाऊँ जिसके लिए हृदय में इतना वियोग है।

[ १२७ ]

गनक कहहिं करु गवन आजू। दिन लै चलहि, फरै सिधि काजू॥
पेम पंथ दिन घरी न देखा। तब देखै जब होइ सरेखा॥
जेहि तन पेम कहाँ तेहि माँसू। कया न रकत, न नयनन्हि आँसू॥
पँडित भुलान, न जानै चालू। जीउ लेत दिन पूँछ न कालु॥
सती कि बौरी पूँछै पाँडे। औ घर पैठि समेटै भाँडे॥
मरि जो चलै गाँग गति लेई। तेहि दिन घरी कहाँ को देई॥
मैं घर बार कहाँ कर पावा। घर काया पुनि अन्त परावा॥
हौं रे पँखेरू पखी, जेहि बन मोर निबाहु।
खेलि चला तेहि बन कहँ, तुम्ह आपन घर जाहु॥ १२७॥

शब्दार्थ—गनक = ज्योतिषी। सरेखा = होश में। कया = काया, शरीर। बौरी-पाठान्तर-बेरा = समय।

अर्थ—जब राजा चलने को तैयार हुआ तो ज्योतिषियों ने कहा कि हे राजा आज! प्रस्थान न करो। जो शुभ दिन को विचार कर अच्छे मुहूर्त में चलता है उसे अपने कार्य में सिद्धि होती है। इस पर राजा ने उत्तर दिया कि—प्रेम का पंथ दिन और घड़ी को नहीं देखता, देखता तो आदमी तब है जब उसे होश रहती है। प्रेमी की दशा तो विचित्र है—जिसके शरीर में प्रेम होता है उसके शरीर में न माँस होता है, न रक्त और न उसकी आँखों में आँसू होता है। पंडित लोग तो भ्रम में होते हैं, वे चाल को नहीं जानते—भला जब काल मनुष्य का जीव लेता है तब भी वह दिन और घड़ी पूछता है। सती जब पति के साथ जलने जाती है तो क्या पंडित से मुहूर्त पूछती

है और घर में बैठकर बर्तनों को समेटती है ? जो गंगा की गति प्राप्त करने के लिए उसमें डूब कर मरता है वह दिन और घड़ी कहाँ विचारता है ? अपने सम्बन्ध में राजा कहता है कि यह जो मुझे घर-द्वार मिला था यह मेरा कहाँ है ? घर और शरीर अन्त में दूसरे के ही तो होंगे। अब तो मैं उसी वन का पक्षी हूँ जहाँ पर मेरा निर्वाह होगा, मैं प्रसन्नतापूर्वक उसी वन को जा रहा हूँ, तुम सब अपने-अपने घर जाओ।

[ १२८ ]

चहु दिसि आन सोंटिअन्ह फेरी। भै कटकाई राजा केरी ॥
जाँवत अहै सकल ओरगाना। साँबर लेहु, दूरि है जाना ॥
सिंघल दीप जाइ सब चाहा। मोल न पाउब जहाँ बेसाहा ॥
सब निर्बाहहि तहँ आपनि साँठी। साँठी बिना रहब मुख माँटी ॥
राजा चला साजि कै जोगू। साजहु बेगि चलै सब लोगू ॥
गरब जो चढ़े तुरै की पीठी। अब सो तजहु सरग सौं डीठी ॥
मन्त्रा लेहु होहु सँग लागू। गुदरि जाइ सब होइहि आगू ॥
का निचिंत रे मनुसे, आपनि चिंता आछु।
लेहि सजग होइ अगुमन, फिरि पछिताहि न पाछु ॥१२८॥

शब्दार्थ—आन = घोषणा। सोंटिअन्ह = डौंडी वाले। फेरी = फिरा दी। कटकाई = दलबल के साथ चलने की तैयारी। केरी = की। जाँवत = जितना। ओरगाना = अराकाना, सर्दार। साँबर = संवल, रास्ते की खाद्य सामग्री। बेसाहा = खरीदना। साँठी = पूँजी। तुरै = घोड़ा। गुदरि जाइ = हाजिर हो कर।

अर्थ—चारों ओर डौंडी वालों ने घोषणा कर दी और राजा के चलने की पूरी तैयारी हो गयी। जितने भी सर्दार हैं सभी लोग अपने-अपने साथ खाद्य-सामग्री ले लें क्योंकि बहुत दूर जाना है। सभी लोग सिंहलद्वीप जाना चाहते हैं, वहाँ पर खरीदने पर कोई वस्तु नहीं मिल सकती। सभी लोग अपनी-अपनी पूँजी से ही निर्वाह कर सकते हैं यदि साथ में पूँजी नहीं है तो मुख में धूल ही पड़ेगी। राजा तो अपनी तैयारी से चल पड़ा है और सब लोग भी तैयारी करके जल्दी चल पड़ें। जो घमण्ड के साथ घोड़े की

पीठ पर चढ़ता है उसे अब छोड़ दो और आकाश पर दृष्टि एक कर चल पड़ो। मन्त्र लो और साथ हो जाओ, आगे होकर सभी लोग उपस्थित हो जायँ। हे मनुष्य ! निश्चिन्त क्यों हो, अपनी चिन्ता करो, सजग होकर अगवानी करो जिससे फिर पीछे न पछताना पड़े।

[ १२६ ]

बिनवै रतनसेनि कै माया। माँथे छत्र, पात निति पाया।
बेरसहु नव लख लच्छि पिआरी। राज छाँड़ि जनि होहु भिखारी॥
निति चंदन लागै जेहि देहा। सो तन देखु भरब अब खेहा॥
सब दिन रहेउ करत तुम्ह भोगू। सो कैसे साधब तप जोगू॥
कैसें धूप सहब बिनु छाहाँ। कैसें नींद परिहि भुइँ माहाँ॥
कैसें ओढ़ब काँवरी कंथा। कैसें पाउँ चलब तुम्ह पंथा॥
कैसं सहब खिनहि खिन भूखा। कैसें खाएब कुरकुटा रूखा॥
राज-पाट, दर, परिगद, सब तुम्ह सों उजिआर।
बैठि भोग रस मानहु, कै न चलहु अँधिआर॥१२६॥

शब्दार्थ—माया = माता। बेरसहु = विलास करो। साधब = साधोगे। कथा = गुदड़ी। कुरकुटा = मोटा कुटा हुआ अन्न। दर = दल। परिगह = परिवार।

अर्थ—राजा रत्नसेन की माँ उसके सामने विनय करने लगी कि तुमने सदा मस्तक पर छत्र धारण किया है और सिंहासन पर बैठे हो। तुम यहाँ पर नव लाख लक्ष्मी सदृश प्यारी पत्नियों के साथ सुख भोगो। राज्य छोड़ कर भिखारी मत बनो। जिस शरीर में नित्य चन्दन लगता रहा है, उसमें मिट्टी लगाओगे। सदा तुमने सुख भोगे हैं, अब तप और योग को कैसे साधोगे ? किस प्रकार बिना छाया के घूम सकोगे और तुम्हें किस प्रकार जमीन पर नींद लगेगी ? किस प्रकार तुम गूदड़ी ओढ़ोगे और कैसे पैदल रास्ता चलोगे ? क्षण-क्षण कैसे तुम भूख सहोगे और किस प्रकार मोटा-झोटा रूखा-सूखा खाओगे ? यहाँ का सारा राजपाट, सेना, परिवार आदि तुम्हीं से सुशोभित है, यहीं पर रह कर सुख करो। यहाँ पर अन्धेरा करके न जाओ।

[ १३० ]

मोहिं यह लोभ सुनाउ न माया। काकर सुख, काकर यह काया॥
जौं निश्रान तन होइहि छारा। माँटी पोखि मरै को मारा॥
का भूलहु एहि चंदन चोवाँ। बैरी जहाँ श्राँग के रोवाँ॥
हाथ, पाउ, सरवन श्रौ आँखी। ये सब ही भरिहैं पुनि साखी॥
सोत सोत बोलिहिं तन दोखू। कहु कैसें होइह गति मोखू॥
जौं भल होत राज श्रौ भोगू। गोपिचंद कस साधत जोगू॥
श्रोनहूं सिस्टि जौं देख परवा। तजा राज कजरी बन सेवा॥
देखु अन्त अस होइहि, गुरू दीन्ह उपदेस।
सिंघल दीप जाब मैं, माता मोर अदेश॥१३०॥

शब्दार्थ—निश्रान = निदान, अन्त में। छारा = क्षार, मिट्टी। माँटी = मिट्टी, शरीर। पोखि = पोषण करके। श्राँग = अंग। रोवाँ = रोम। सरवन = श्रवण = कान। सोत-सोत, स्रोत-स्रोत = रग-रग। कजरीवन = कदलीवन। अदेस = आदेश, आज्ञा।

अर्थ—राजा ने कहा कि हे माँ! तुम मुझे यह लोभ न सुनाओ। भला किसका सुख और किसका यह शरीर है। जब अन्त में शरीर नष्ट ही हो हो जायगा तो इस मिट्टी रूपी शरीर को पोषण करके उसके भार से कौन मरे? इस चन्दनादि के लेप आदि में क्या भूलूँ जब कि अंग का रोम-रोम दुश्मन है। हाथ, पाँव, कान, आँख आदि शरीर के अंग ही ईश्वर के यहाँ मेरे विरुद्ध गवाही देंगे, रग-रग शरीर के दोषों को कह देगी तो बताओ किस प्रकार हमें मुक्ति मिल सकती है। यदि राज्य और सुख अच्छे होते तो भला राजा गोपीचन्द क्यों जोग साधता। उन्होंने भी सृष्टि को विहङ्गम दृष्टि से देखा और राज्य को छोड़ कर कदलीवन की राह ली। देखिए, अन्त में ऐसा ही होगा, ऐसा मेरे गुरु ने उपदेश किया है। हे माता! मैं सिंहलद्वीप जाऊँगा, आप मुझे आज्ञा दें।

[ १३१ ]

रोवै नागमति रनिवासू। केइँ तुम्ह कंत दीन्ह बन बासू॥
अब को हमहिं करिहि भोगिनी। हमहूँ साथ होइब जोगिनी॥

कै हम लावहु अपने साथाँ । कै अब मारि चलहु सैं हाथाँ ॥
तुम्ह अस बिछुरे पीउ पिरीता । जहवाँ राम तहाँ सँग सीता ॥
जौ लहि जिउ सँग छाड़ न काया । करिहौं सेव, पखरिहौं पाया ॥
भलेहिं पदुमिनी रूप अनूपा । हमतें कोइ न आगरि रूपा ॥
भवै भलेहिं पुरुषन्ह कै डीठी । जिन्ह जाना तिन्ह दीन्हि न पीठी ॥
देहिं असीस सबै मिलि, तुम्ह माथें निति छात ।
राज करहु गढ़ चितउर, राखहु पिय अहिवात ॥१५८॥

शब्दार्थ—होइव = हूंगी । कै = या । पखरिहौं = धोऊँगी । भवैं = भ्रमै, भ्रमती, घूमती हैं । डीठी = दृष्टि । अहिवात = सोहाग ।

अर्थ—रनिवास में नागमती रोने लगी और कहने लगी कि हे प्रियतम ! तुम्हें वनवास किसने दे दिया । अब हमें कौन सुखी बनायेगा, अतएव अब हम भी आपके साथ जोगिनी बनेंगी । या तो आप हमें अपने साथ लें या अपने हाथ से ही मार जाइए । तुम्हारे जैसे प्रियतम से बिछुड़ कर हम नहीं रह सकती, जहां राम थे वहीं सीता भी थीं । जब तक शरीर में जीव रहेगा आपकी सेवा करूँगी और पैर धोऊँगी । भले ही, सिंहल की पद्मिनी बड़ी सुन्दरी हो, पर कोई भी स्त्री हम से अधिक सुन्दर नहीं हो सकती । भले ही पुरुषों की दृष्टि अन्य स्त्रियों को देख कर उनकी ओर घूम जाये पर जिन्हें वे जानती हैं उन्हें कभी पीठ नहीं देतीं, अर्थात् पुरुष दूसरी स्त्री की ओर देख भले ही ले, पर जिससे उसका पूर्व प्रेम है उसे छोड़ नहीं देता । हम सब रानियाँ आप को आशीष देती हैं, तुम्हारे मस्तक पर राजछत्र सजा रहे, तुम चित्तौड़गढ़ में रह कर राज्य करो और हमारे सोहाग को अचल रखो ।

[ १३२ ]

तुम्ह तिरिआ मति हीन तुम्हारी । मूरुख सो जो मतै घर नारी ॥
राघौ जौं सीता सँग लाई । रावन हरी, कवन सिधि पाई ॥
यहु संसार सपन कर लेखा । बिछुरि गए जानहु नहिं देखा ॥
राजा भरथरि सुनि रे अयानी । जेहि के घर सोरह सै रानी ॥
कुचन्ह लिहें तरवा सहराईं । भा जोगी, कोइ साथ न लाईं ॥

जोगिन्ह काह भोग सों काजू । चहै न मेहरी, चहै न राजू ॥
जूड़ कुरकुटा पै भखु चाहा । जोगिहि तात भात दहुँ काहा ॥
कहा न मानै राजा, तजी सबाईं भीर ।
चला छाड़ि सब रोवत, फिरि कै देइ न धीर ॥१३२॥

शब्दार्थ—तिरिश्रा = स्त्री । मते = मत ले, सलाह ले । लेखा = हिसाब । बिछुरि गये = अलग होने पर । तरवा = पैर का तलवा । मेहरी = पत्नी । कुरकुटा = रूखा सूखा अन्न । तात भात = गर्म पका हुआ चावल । सबाईं = सभी । धीर = सान्त्वना

अर्थ—राजा ने कहा कि तुम लोग स्त्री हो, तुम्हारी मति नष्ट है, वह पुरुष मूर्ख है जो स्त्री की सलाह ले । रामचन्द्र जी ने वन जाते साथ सीता को साथ लिया था । पर इससे लाभ क्या हुआ, रावण सीता को हर ले गया, राम को भला कौनसी सिद्धि मिली । यह संसार तो स्वप्न का हिसाब है, इससे अलग हो जाने पर मानो इसे देखा ही न था । हे मूर्ख ! सुना है राजा भरथरी के घर सोलह सौ रानियां थीं और वे सब अपने कुचों से उसके पैर के तलवे सहलाया करती थीं, फिर भी वह जोगी हो गया और किसी को उसने साथ न लिया । जोगी को भोग से क्या काम, वह न तो पत्नी चाहता है और न राज्य । वह तो रूखा-सूखा और ठंडा अन्न भी खाने को ले लेगा । उसे भला गर्म भात जैसे स्वादिष्ट भोजन से क्या ? राजा ने किसी का भी कहना न माना और सभी भीड़ को छोड़ दिया । सबको रोता हुआ ही छोड़कर चल पड़ा और लौट कर किसी को धीरज भी न बँधाया ।

[ १३३ ]

रोवै मता, न बहुरै बारा । रतन चला, जग भा अँधिआरा ॥
बार मोर रजियाउर रता । सो लै चला, सुवा परबता ॥
रोवहिं रानी, तजहिं पराना । फोरहिं बलय, करहिं खरिहाना ॥
चुरहिं गिव अभरन, औ हारू । अब काकहँ हम करब सिंगारू ॥
जाकहँ कहहिं रहसि कै पीऊ । सोइ चला, काकर यहु जीऊ ।
मरै चहहिं, पै मरै न हावहिं । उठै आग, तब लोग बुझावहिं ॥
घरी एक सुठि भएउ अँदोरा । पुनि पीछें बीता होइ रोरा ॥

टूट भमै नव मोती फूट मनै दस काँच।
लीन्ह समेटि ओबरिन, होइगा दुख कर नाँच ॥१३३॥

शब्दार्थ—मता = माता। बहुरै = लौटता। बारा = बालक। रता = लीन। परान = प्राण। बलय = चूड़ी। गिव = ग्रीवा गला। अंदोरा = (आन्दोलन) शोर। ओबरिन = कमरा पाठान्तर-बोहेरन = बटोरन। अभरन = आभूषण। नाँच = खेल। होइगा = समाप्त हुआ।

अर्थ—माता रोती है पर उसका बालक रत्नसेन नहीं लौटता। जब रत्नसेन चला गया तो सर्वत्र अँधेरा हो गया। माँ रोने लगी कि मेरा बालक राजपाट में लीन था, उसे जंगली तोता लेकर जा रहा है। सारी रानियां रो-रो कर प्राण दे रही हैं, अपनी चूड़ियां तोड़-तोड़ कर ढेर कर रही हैं। गले के मोती के गहने और हारों को चूर-चूर कर रही हैं कि हम किसके लिए शृंगार करेंगी? जिसे हम प्रसन्नता पूर्वक प्रियतम कहती थीं वही अब चला है तो यह अब किसका है। वे मरना चाहती हैं तो लोग उन्हें मरने नहीं देते, उनकी आग जब उठती है तो लोग उसे बुझा देते हैं। एक घड़ी तक बड़ा शोर हुआ फिर पीछे सब शान्त हो गया। नव मन मोती और दस मन काँच की चूड़ियां टूट गईं। अन्त में कमरे की सभी वस्तुयें समेट ली गयीं और दुःख का खेल समाप्त हो गई।

*टिप्पणी— इस पद में जायसी ने सहानुभूति पूर्ण वर्णन न करके वैराग्य पूर्ण वर्णन किया है। रानियों के रोने को उन्होंने करुणाजनक न वर्णन किया। वरन् अन्त में उसे एक नाच (देखना) मात्र ही कह कर समाप्त कर दिया।*

[ १३४ ]

निकसा राजा सिंगी पूरी। छाड़ि नगर मेला होइ दूरी॥
राय राने सब भए बियोगी। सोरह सहस कुँवर भए जोगी॥
माया मोह हरी सैं हाथाँ। देखेन्हि बूझि निआन न साथाँ॥
छाड़ेन्हि लोग कुटुम्ब घर सोऊ। भे निनार दुःख सुख तजि दोऊ॥
सँवरै राजा सोइ अकेला। जेहि रे पंथ खेलै होइ चेला॥

नगर नगर और गावँहि गाऊँ। चला छाड़ि सब ठावँहि ठाऊँ॥
काकर घर, काकर मढ़ माया। ताकर सब जाकर जिउ काया॥
चला कटक जोगिन्ह कर, कै गेरुआ सब भेषु।
कोस बीस चारिहुं दिसि, जानहुं फूला टेसु॥१३४॥

शब्दार्थ—सिंगी = सींग का बाजा। पूरी = बजाकर। निश्रान = निदान, अन्त। निनार = न्यारे-अलग। मढ़ = मठ।

अर्थ—राजा रत्नसेन सींग का बाजा बजा कर चल निकला। नगर के मेला को छोड़ कर दूर हो गया। इसके पीछे और सब छोटे राजा और सरदार भी वियोगी हुए और सोलह हज़ार राजकुमार भी योगी हो गये। माया मोह हाथ से हर गया क्योंकि उन्होंने विचारा कि अन्त में कोई साथ न जायेगा। लोगों ने कुटुम्ब घर आदि सब छोड़ दिया। दुःख-सुख आदि को छोड़ कर वे सबसे न्यारे हो गये। उन्होंने सोचा कि अब अकेले राजा का स्मरण करना चाहिए, जिसके रास्ते पर चेला होकर वे सब चल रहे हैं। नगर-नगर, गांव-गांव सभी जगहों को छोड़कर प्रत्येक व्यक्ति चल पड़ा और सोचने लगा कि किस का घर मठ, और धन आदि है यह सब तो उसी ईश्वर के हैं, जिसका दिया हुआ यह शरीर और जीव है।

जोगियों का काफिला गेरुआ वेश करके चल पड़ा, ऐसा प्रतीत होने लगा मानो बीस कोस तक चारों ओर टेसू फूले हुए हों।

[ १३५ ]

आगें सगुन सगुनिआँ ताका। दहिउ मच्छ रूपे कर टाका॥
भरें कलस तरुनि चलि आई। दहिउ लेहु ग्वालिनी गोहराई।
मालिनि आउ मौर लै गाँथे। खंजन बैठ नाग के माँथें॥
दहिनें मिरिग आइ गौ धाई। प्रतीहार बोला खर बाई॥
विर्ख सँवरिआ दाहिन बोला। बाएँ दिसि गादुर नहिं डोला॥
बाएँ अकासी धोबिनी आई। लोवा दरसन आइ देखाई॥
बाएँ कुरारी, दाहिन कूचा। पहुँचै भुगुति जैस मन रूचा॥
जाकहँ होहिं सगुन अस, औ गवनै जेहि आस।
अस्टौ महासिद्धि तेहि, जस कवि कहा बिस्रास॥१३५॥

शब्दार्थ—सगुनिआँ = शकुन बताने वाला। ताका = देखा। दहिउ = दही। मच्छ = मछली। रूपे = चाँदी। टाका = बर्तन। गोहराई = पुकारा। मौर = विवाह का फूलों वाला मुकुट। गाँथे = गुथे हुए। मिरिग = हिरन। खर = गधा। बाईं = बायें। बिखं = वृष-बैल। सँवरिया = काला। गादर = चमगादड़-पाठान्तर-चाषु = नीलकंठ। अकासी धोबिनि = एक प्रकार का चील जिसका सिर सफेद और सारा अंग लाल या कत्थई होता है। लोक = लोमड़ी। कुरारी = टिटिहिरी। कूचा = क्रौंच पक्षी। भुगुति = भोजन।

अर्थ—जब राजा चला तो शकुन जानने वाले लोगों ने इस प्रकार देखा—दही, मछली और चाँदी के बर्तन मिले। घड़ा भरे हुए स्त्री आगे मिली। ग्वालिनि 'दही लो' ऐसा पुकारती हुई मिली। मालिनी मौर गुथा हुआ लेकर आगे आई। खंजन पक्षी नाग के सिर पर बैठा हुआ दिखाई पड़ा। दाहिनी ओर हिरन दौड़ कर आ गया। बाईं ओर प्रतिहारी की भांति गधा बोला। दाहिनी ओर काला बैल बोल उठा और बाईं ओर नीलकंठ बैठा रहा, उड़ा नहीं। बाईं ओर आकाशी धोबिन आ गई और लोमड़ी ने आकर दर्शन दिया। बायें ओर कुररी और दाहिनी ओर क्रौंच पक्षी अपनी-अपनी रुचि के अनुसार खा रहे थे।

जायसी कहते हैं कि जिसे इस प्रकार का शकुन हो तो वह जिस आशा से प्रस्थान कर रहा है, उसे आठों महासिद्धियाँ मिलेंगी, ऐसा व्यास कवि ने कहा है।

[ १३६ ]

भएउ पयान चला पुनि राजा। सिंघनाद जोगिन्ह कर बाजा॥
कहेन्हि आजु कछु थोर पयाना। कालिह पयान दूरि है जाना॥
ओहिं मेलान जब पहुँचिहि कोई। तब हम कहब पुरुष भल सोई॥
एहि आगे परबत की पाटी। विषम पहार अगम सुठि घाटी॥
बिच बिच खोह नदी औ नारा। ठाँवहिं ठाँव उठहिं बटपारा॥
हनिवँत केर सुनव पुनि हाँका। दहुँ को पार होइ को थाका॥
अस मन जानि सँभारहु आगू। अगुआ केर होहु पछलागू॥

करहिं पयान भोर उठि, नितहिं कोस दस जाहिं।
पंथी पंथाँ जे चलहिं, ते का रहन ओनाहिं ॥१३६॥

शब्दार्थ—पयान = प्रस्थान। मेलान = पड़ाव। बटपारा = लुटेरे। हनिवँत = हनुमान। हाँका = गर्ज। ते = वे। का = क्या। ओनाहिं = झुके हुए-पाठान्तर ओठाहिं = उसी जगह।

अर्थ—प्रस्थान हुआ। राजा फिर चला, जोगियों का बाजा बज उठा। उन लोगों ने कहा कि आज तो थोड़ा ही चलना है पर कल का सफर लम्बा है। जब कोई उस निश्चित पड़ाव पर पहुंच जायेगा, तभी हम कहेंगे कि वह एक पुरुष है। इसके आगे पहाड़ी भूमि है, उसमें कठिन पहाड़ और अगम घाटियाँ हैं। बीच-बीच में खोह, नदी और नाले हैं, जगह-जगह पर लुटेरे उठते हैं। वहाँ पर हनुमान की सी गर्ज सुनाई पड़ती है। पता नहीं कौन उस विषम रास्ते को पार कर सकेगा और कौन थक जायगा। ऐसा मन में जान कर आगे को सँभालो, और अगुआ के पीछे-पीछे चलो। प्रातःकाल उठ कर लोग प्रस्थान करते और दस कोस जाते हैं जो राही रास्ते में जाते हैं वे कहाँ वहीं झुक कर पड़े रह जाते हैं?

[ १३७ ]

करहु दिस्टि थिर होहु बटाऊ। आगू देखि धरहु भुइँ पाऊ॥
जौं रे उबट होइ परे भुलाने। गए मारे, पँथ चलै न जाने॥
पावन्ह पहिरि लेहु सब पंवरी। काँट न चुभै, न गड़ै अँकरवरी॥
परे आइ अब बनखँड माहाँ। डंडक आरन बींझ बनाहाँ॥
सघन ढाँख बन चहुँ दिसि फूला। बहु दुख मिलिहि इहाँ कर भूला॥
झाँखर जहाँ सो छाड़हु पंथा। हिलगि मकोइ न फारहु कंथा॥
दहिने बिदर, चँदेरी बाएँ। दहुँ कहँ होव बाट दुहुँ ठाएँ॥
एक बाट गौ सिंघल, दोसर लंक समीप।
हहिं आगे पंथ दोऊ, दहुँ गवनब केहि दीप॥ १३७॥

शब्दार्थ—उबट = ऊबड़-खाबड़। पँवरी = खड़ाऊँ। अँकरवरी = कंकड़। डंडक आरन = दण्डकारण्य। बींझ = चना। बनाहाँ = बन में। ढाँख = वृक्ष। झाँखड़ = झाड़ियाँ। हिलगि = निकट जा कर। बिदर = बीदर।

अर्थ—जोगियों ने आप से यह विचार किया कि—अपनी दृष्टि को स्थिर करके पथिक बनो। आगे देखकर जमीन में पैर रक्खो। यदि ऊबड़-खाबड़ स्थान में हम भूल गये तो रास्ते में मारे गये, आगे चलना नहीं जान सकते। पाँवों में खड़ाऊँ पहन लो जिससे पैरों में न तो कांटा चुभे और न कंकड़ी गड़े। अब हम दण्डकारण्य वन के नीचे आ पड़े हैं, जहाँ जंगल ही जंगल हैं, चारों ओर घने वृक्ष फूले हुए हैं, यहाँ यदि भूल गए तो बड़ा दुःख मिलेगा। जिस रास्ते में झाड़-झंखाड़ हैं उसे छोड़ दो, मकोइ के पास सन्ट कर अपनी गूदड़ी न फाड़ो। दाहिनी ओर बीदर और बाईं ओर चंदेरी पता नहीं दोनों के बीच में हमें रास्ता कहाँ मिलेगा। एक रास्ता तो सिंहल को जाता है और दूसरा लंका के पास जाता है। रास्ते तो आगे दोनों हैं, पता नहीं हम इस रास्ते से किस द्वीप में पहुंचेंगे।

[ १३८ ]

ततखन बोला सुआ सरेखा। अगुआ सोइ पंथ जेइँ देखा॥
सो का उड़ै न जेहि तन पाँखू। लै सो परासहिं बूड़ै साखू॥
जस अंधा अंधे कर संगी। पंथ न पाव होइ सहलंगी॥
सुनु मति, काज चहसि जौं साजा। बीजानगर बिजैगिरि राजा॥
पूंछु न जहाँ कुंड और गोला। तजु बाएं अंधियार, खटोला॥
दक्खिन दहिने रहै तिलंगा। उत्तर मांझे गढ़ा खटंगा॥
माँझ रतनपुर सौंह दुआरा। झारखंड दै बाउं पहारा॥
आगें पाउं आड़ैसा, बाएं देहु सो बाट।
दहिनावर्त लाइकै. उतरु समुन्द्र के घाट॥ १३८॥

शब्दार्थ—ततखन = तत्क्षण-तुरन्त। परासहिं = पत्ते को। साखू = शाखा। सहलंगी = संग लगा-साथी। कुंड = गोड़। गोला = गोल। अंधियार = अंजारी-बीजापुर का एक भाग। खटोल = गढ़ मंडल का पश्चिमी भाग। खटंगा = कटंग जबलपुर के आस पास का प्रदेश। झारखंड = छत्तीस गढ़ और गोंडवाने का उत्तर भाग। सौंह दुआरा = सिंह द्वारा-छिंदवाड़ा। दहिनावर्त = दक्षिणावर्त। ओड़ैसा = उड़ीसा।

अर्थ—तुरन्त ही चतुर तोता बोल उठा कि अगुवा वही हो सकता है जो रास्ते को पहले से देखे हुए है। जिसके शरीर में पंख ही नहीं वह

क्या उड़ेगा। जो अगुवा अयोग्य है वह अपने अनुगामियों के साथ इस प्रकार डूब जाता है जैसे शाखा पत्तों के साथ पानी में डूब जाती है। यदि अंधा अंधे का साथी होगा तो उसे रास्ता कभी नहीं मिल सकता। यदि अपना काम पूरा करना चाहते हो तो मेरी राय सुनो। विजय नगर में विजय-गिर राजा राज्य करता है, पूछने की आवश्यकता नहीं है। वहाँ गौड और कोल जातियाँ रहती हैं, वहाँ से बायें तरफ अंजारी और गढ़ मंडल को छोड़ दो। दक्षिण में दाहिनी ओर तैलंगाना रह जायगा, उत्तर की ओर गढ़कटंग मिलेगा। रास्ते में रतनपुर और छिंदवाड़ा पड़ेंगे, बायें ओर झारखंड का पहाड़ी प्रदेश मिलेगा। आगे पैर रखते ही बाँयें ओर उड़ीसा मिलेगा, उसमें दखिनी ओर घूमकर समुद्र के घाट पर उतर जाओ।

[ १३६ ]

होत पयान जाइ दिन केरा। मिरगारन महँ भएउ बसेरा ॥
कुस साँथरि भै सौर सुपेती। करवट आइ बनी भुइँ सेती ॥
कया मलै तेहि भसम मलीजा। चलि दस कोस ओस निति भीजा ॥
ठाँवहिं ठाँव सोवहिं सब चेला। राजा जागै आपु अकेला ॥
जेहि कें हिएँ पेम रँग जामा। का तेहि भूख नींद बिसरामा ॥
बन अँधिआर, रैन अँधियारी। भादौं बिरह भएउ अति भारी ॥
किंगरी हाथ गहें बैरागी। पाँच तंतु धुनि उठै लागी ॥
नैन लागु तेहि मारग, पदुमावति जेहि दीप।
जैस सेवाती सेवहिं, बन चातक जल सीप ॥ १३६ ॥

शब्दार्थ—मिरगारन = मृगारण्य। सौर = चादर। सुपेती = सफेद। सेती = से। मलीजा = मलना। ठाँवहिं ठाँव = जगह जगह। सेवाती = स्वाति।

अर्थ प्रस्थान होने पर दिन का बसेरा मृगारण्य में हुआ। राजा कुश की साथरी पर लेटा, वह उसे इस प्रकार लगी मानो सफेद चद्दर बिछी हुई हो। जमीन से ही लगकर उसने करवट ली। उसके शरीर में भस्म मली हुई है।

दस-दस कोस चलने के बाद वह पड़ाव डालता है और खुले आसमान के नीचे जमीन पर लेटता है। ओस के पड़ने से प्रतिदिन उसका शरीर भीग जाता है। पड़ाव पड़ने पर सभी चेले जगह-जगह सो जाते हैं पर राजा अकेला जागता रहता है। (या निशा सर्व भूतेषु तस्यां जागर्ति संयमी—गीता) जायसी कहते हैं कि जिसके हृदय में प्रेम का रंग समाया हुआ है उसे भूख नींद और विश्राम कैसे प्रिय लगेंगे। बन में अंधेरी भादों की रात्रि विरह के कारण राजा को बहुत दुःखदायी सिद्ध हुई। वह हाथ में सारंगी लिये हुए पंच तत्वों की ध्वनि में मग्न हो गया। राजा के नेत्र अब उसी द्वीप के मार्ग पर लगे थे, जिसमें पद्मावती रहती थी। उसकी साधना इसी प्रकार थी जैसे वन में पपीहा और जल में सीप स्वाति नक्षत्र की ओर ध्यान लगाये रहते हैं।

———

## १३. राजा गजपति-संवाद-खण्ड

[ १४० ]

मासेक लाग चलत तेहि बाटाँ। उतरे जाइ समुँद के घाटाँ ॥
रतनसेनि भा जोगी जती। सुनि भेंटै आएउ गजपती ॥
जोगी आपु, कटक सब चेला। कौन दीप कहँ चाहिअ खेला ॥
पहिलेहि आए, माया कीजै। हम पहुनई कहँ आएसु दीजै ॥
सुनहु गजपती उतरु हमारा। हम तुम्ह एकै, भाव निरारा ॥
सो तिन्ह कहँ जिन्ह महँ बहु भाऊ। जो निरभाव न लाव नसाऊ ॥
यहै बहुत जो बोहित पावौं। तुम्हतें सिंघल दीप सिधावौं ॥
जहाँ मोहि निजु जाना, हाहुँ कटक लै पार।
जौं रे जिऔं लै बहुरौं, मरौं तौ ओहि के बार ॥ १४० ॥

शब्दार्थ—गजपती = उड़ीसा का राजा, यह उपाधि अब तक कलिंग में चली आ रही है। चाहहिं खेला = मन को मौज में जाना चाहते हो। माया = कृपा। पहुनाई = आतिथ्य। उतर = उत्तर। निरारा = बिलकुल। लाव = लगाव। नसाऊ = विगाड़। वोहित = नाव। बहुरौं = लौटूंगा। बार = द्वार।

अर्थ—राजा रत्नसेन को उस मार्ग पर चलते हुए एक मास के लगभग लगे, तब वे समुद्र के किनारे पर पहुँचे। कलिंग का राजा यह सुनकर कि राजा रत्नसेन योगी हो गया है, उससे मिलने आया। उसने कहा कि आप योगी हैं और सारी सेना आपका शिष्यत्व ग्रहण कर के आ रही है, आप लोग किस द्वीप की ओर मौज मारने जा रहे हैं। आप हमारे देश में पहली बार ही आये हैं अतः कृपा कीजिए और मुझे आप सबका अतिथ्य करने की आज्ञा दीजिए। राजा ने कहा कि हे गजपति ! तुम मेरा उत्तर सुनो। हम और तुम बिलकुल एक ही भाव के हैं। आतिथ्य आदि तो उनके लिए हैं, जिनमें अनक भिन्न-भिन्न भाव हों। जो लोग विना भाव के हैं, निर्लिप्त हैं, उनके लिये न

कोई लगाव है और न कोई विगाड़ । मेरे लिए तो यही बहुत होगा कि मुझे आपकी ओर से नावें मिल जायं, जिससे यहां से मैं सिंहल द्वीप चला जाऊं, जहां मुझे निश्चत रूप से जाना है । वहां मैं अपने दल-बल के साथ पहुँच जाऊं, यदि जीवित रहा तो पद्मावती को साथ लेकर लौटूंगा, नहीं तो उसी के दरवाजे पर मर जाऊंगा ।

[ १४१ ]

गजपति कहा सीस बरु माँगा । एतने बोल न होइहि खाँगा ॥
ये सब देहु आनि नै गढ़े । फूल सोइ जो महेसहि चढ़ै ॥
पै गोसाइँ सों एक बिनाती । मारग कठिन, जाब केहि भाँती ॥
सात समुंद असूझ अपारा । मारहिं मगर मच्छ घरियारा ॥
उठे लहरि नहिं जाइ सँभारी । भागहिं कोइ निबहै बैपारी ॥
तुम्ह सुखिया अपने घर राजा । एत जो दुक्ख सहहु केहि काजा ॥
सिंघल दीप जाइ सो कोई । हाथ लिहँ जिउ आपन होई ॥

खार खीर दधि उदधि सुरा जल, पुनि किलकिला अकूत ।
को चढ़ि बाँधहि समुँद ये सातौं, है काकर अस बूत ॥ १४१ ॥

शब्दार्थ=बरु बल्कि । खाँगा = कमी । आनि = लाकर । नै = नवीन । जाब=जायेंगे । भागहिं = भाग्य से । निबहैं = निर्वाह करना=बचना । बैपारी = व्यापारी । किलकिला = एक समुद्र । अकूत=अपार । बूत = शक्ति ।

अर्थ—गजपति ने कहा कि हे राजा आप तो शीश मांगे तो भी हाजिर हैं । इतने माँगने में तो कोई कमी नहीं हो सकती, ये सब नौकायें मैं बिलकुल नयी बनायी हुई लाकर देता हूँ । फूल तो वही है जो शंकर को चढ़े अर्थात् यह तो हमारा सौभाग्य है कि हम अपनी कुछ वस्तुओं से आपकी सेवा करते हैं । पर स्वामी से हम एक विनती करते हैं कि मार्ग अत्यन्त कठिन है, आप किस प्रकार जा पायेंगे । अत्यन्त अपार और असूझ सात समुद्र बीच में पड़ते हैं । मगर, मछलियाँ और घड़ियाल जैसे भयंकर जल-जन्तु मारने वाले हैं । समुद्र की लहरें ऐसी उठती हैं कि उन्हें सँभाला नहीं जा सकता । विरला ही कोई व्यापारी इन समुद्रों से बच पाता है, तुम तो अपने घर में सुखी थे, भला इतना दुख किस लिए सह रहे हो । सिंहल द्वीप तो वही

व्यक्ति जा सकता है जो अपनी जान हथेली पर रक्खे रहता है। मार्ग में सात समुद्र है—क्षार, क्षीर, दधि, उदधि, सुरा, जल और किलकिला। ये सभी अपार हैं, कौन चढ़ कर इन सातों समुद्रों को काबू में कर सकता है ? किसमें भला इतनी शक्ति है ?

*टिप्पणी—यहाँ जायसी ने जिन सात समुद्रों का नाम लिया है, वे पुराणानुकूल हैं, केवल किलकिला ही नवीन है। पुराणों के अनुसार सागर हैं—क्षार (खारा पानी), क्षीर (दूध), दधि, घृत, सुरा और मधु। घृत और मधु के स्थान पर जायसी ने उदधि और किलकिला लिखा है।*

[१४२ ]

गजपति यह मन सकती सीऊ। पै जेहि पेम कहाँ तेहि जीऊ ॥
जौं पहिलें सिर दै पगु धरई। मुए केर मीचुहि का करई ॥
सुख सँकलपि, दुख साँबर लीन्हेऊँ। तौ पयान सिंघल कहँ कीन्हेउँ ॥
भँवर जान पै कँवल पिरीती। जेहि महँ बिथा पेम कै बीती ॥
औ जेइँ समुँद पेम कर देखा। तेइँ यह समुँद बुंद बरु लेखा ॥
सात समुँद सत कीन्ह सँभारू। जौं धरती, का गरुव पहारू ॥
जेइँ पै जिय बाँधा सतु बेरा। बरु जिय जाइ फिरै नहिं फेरा ॥
रंगनाथ हौं जाकर, हाथ ओही के नाँथ।
गहें नाँथ सो खाँचै, फेरे फिरै न माँथ ॥ १४३ ॥

शब्दार्थ—सकती = शक्ति। सीऊ = सीमा। सँकलपि = दान करके ( दान करते समय मंत्र द्वारा ) संकल्प कराया जाता है, अवधी भाषा भाषी प्रान्त में दान कर देने के अर्थ में संकल्प का का प्रयोग होता है। पाठान्तर = त्यागा। साँबर=सम्बल, रास्ते का भोजन, पाथेय। वरु = वल्कि-पाठान्तर-करि। गरुव=भारी। नाँथ = नकेल। रंगनाथ = प्रेम में जोगी = नाथ—संप्रदाय वाले जोगी प्रसिद्ध हैं।

अर्थ—राजा रत्नसेन ने कहा कि हे गजपति यह मन तो शक्ति की सीमा है पर बात यह है कि जिसके हृदय में प्रेम है, उसके पास जीव ही कहाँ है, ( जीव से तात्पर्य सुखार्थी जीव ) जो प्रेम मार्ग में सिर को देकर ही आगे बढ़ता है, उस मरे हुए आदमी का मृत्यु भला क्या कर सकती है। मेरे सम्बन्ध

में यदि पूछो तो मैंने तो सुखों को सर्वथा त्याग कर ही सिंहल द्वीप का प्रस्थान किया है। राजा दूसरा उदाहरण देता है कि भौंरा ही कमल के प्रति वास्तविक प्रेम को जानता है, इसीलिए उसके भीतर प्रेम की व्यथा भरी है। जिसने उस प्रेम के समुद्र का दर्शन कर लिया है, उसके लिये तो ये सारे भयावह सात समुद्र बूँद मात्र के सदृश हैं। ये सात समुद्र भी सत्य के द्वारा ही सँभाले हुए हैं, धरती भी सत से युक्त है इसीलिए भारी पहाड़ उसका क्या कर सकते हैं। जिसके हृदय में सत का बेड़ा बंधा है उसका चाहे प्राण भले ही चला जाय वह लौट नहीं सकता। इसलिए मेरा संकल्प दृढ़ है—मैं जिसके प्रेम में अब योगी हुआ हूँ, उसी के हाथ में मेरी नकेल है—वही प्रेम की नकेल पकड़े मुझे खींच रहा है। अब मत्था फेरे से नहीं फिर सकता। भाव यह कि मुझ में पद्मावती के पाने का दृढ़ संकल्प है, त्याग की पूर्ण मात्रा है, सत का बल है, अब मैं समुद्र आदि के भय से डर नहीं सकता।

अलङ्कार—यमक—नाथ के दो अर्थ - योगी, नकेल।
उपमा—भँवर·····पहारू।

[ १४३ ]

पेम समुंद अैस अवगाहा। जहाँ न वार पार नहिं थाहा॥
जौं वह समुँद काह एहि परे। जौं अवगाह हंस होइ तिरे॥
हौं पदुमावति कर भिखमँगा। दिस्टि न आव समुँद औ गँगा॥
जेहि कारन गियँ गाँथरि कंथा। जहाँ सो मिलै जाउँ तेहि पंथा॥
अब एहि समुंद परौं होइ मरा। पेम मोर पानी कै करा॥
मर होइ बहा कतहुँ लै जाऊ। ओहि के पंथ कोइ लै खाऊ॥
अस मन जानि समुँद महँ परऊँ। जौ कोइ खाइ बेगि निस्तरऊँ॥
सरग सीस, धर धरती, हिया सो पेम समुंद।
नैन कौड़िया होइ रहे, लैं लैं उठहिं सो बुंद॥ १४३॥

शब्दार्थ—अैस = ऐसा। अवगाहा = अथाह। हंस = उज्ज्वल हंस पक्षी, शुद्ध आत्मस्वरूप। तिरे = पार हुए। काँथरि कंथा = फटा पुराना, बिस्तर जिसे जोगी लेते हैं। गियँ = ग्रीवा, गर्दन। निस्तरऊँ = उद्धार होना।

व्यक्ति जा सकता है जो अपनी जान हथेली पर रक्खे रहता है। मार्ग में सात समुद्र है—क्षार, क्षीर, दधि, उदधि, सुरा, जल और किलकिला। ये सभी अपार हैं, कौन चढ़ कर इन सातों समुद्रों को काबू में कर सकता है? किसमें भला इतनी शक्ति है?

*टिप्पणी—यहाँ जायसी ने जिन सात समुद्रों का नाम लिया है, वे पुराणानुकूल हैं, केवल किलकिला ही नवीन है। पुराणों के अनुसार सागर है—क्षार (खारा पानी), क्षीर (दूध), दधि, घृत, सुरा और मधु। घृत और मधु के स्थान पर जायसी ने उदधि और किलकिला लिखा है।*

[१४२]

गजपति यह मन सकती सीऊ। पै जेहि पेम कहाँ तेहि जीऊ॥
जौं पहिलें सिर दै पगु धरई। मुए केर मीचुहि का करई॥
सुख सँकलपि, दुख साँबर लीन्हेऊँ। तौ पयान सिंघल कहँ कीन्हेउँ॥
भँवर जान पै कँवल पिरीती। जेहि महँ बिथा पेम कै बीती॥
औ जेइँ समुँद पेम कर देखा। तेइँ यह समुँद बुंद बरु लेखा॥
सात समुँद सत कीन्ह सँभारू। जौं धरती, का गरुव पहारू॥
जेइँ पै जिय बाँधा सतु बेरा। बरु जिय जाइ फिरै नहिं फेरा॥
रंगनाथ हौं जाकर, हाथ ओही के नाँथ।
गहें नाँथ सो खाँचै, फेरे फिरै न माँथ॥ १४३॥

शब्दार्थ—सकती = शक्ति। सीऊ = सीमा। सँकलपि = दान करके (दान करते समय मंत्र द्वारा) संकल्प कराया जाता है, अवधी भाषा भाषी प्रान्त में दान कर देने के अर्थ में संकल्प का का प्रयोग होता है। पाठान्तर = त्यागा। साँबर=सम्बल, रास्ते का भोजन, पाथेय। वरु = बल्कि-पाठान्तर-करि। गरुव=भारी। नाँथ = नकेल। रंगनाथ = प्रेम में जोगी = नाथ—संप्रदाय वाले जोगी प्रसिद्ध हैं।

अर्थ—राजा रत्नसेन ने कहा कि हे गजपति यह मन तो शक्ति की सीमा है पर बात यह है कि जिसके हृदय में प्रेम है, उसके पास जीव ही कहाँ है, (जीव से तात्पर्य सुखार्थी जीव) जो प्रेम मार्ग में सिर को देकर ही आगे बढ़ता है, उस मरे हुए आदमी का मृत्यु भला क्या कर सकती है। मेरे सम्बन्ध

में यदि पूछो तो मैंने तो सुखों को सर्वथा त्याग कर ही सिंहल द्वीप का प्रस्थान किया है। राजा दूसरा उदाहरण देता है कि भौंरा ही कमल के प्रति वास्तविक प्रेम को जानता है, इसीलिए उसके भीतर प्रेम की व्यथा भरी है। जिसने उस प्रेम के समुद्र का दर्शन कर लिया है, उसके लिये तो ये सारे भयावह सात समुद्र बूँद मात्र के सदृश हैं। ये सात समुद्र भी सत्य के द्वारा ही सँभाले हुए हैं, धरती भी सत से युक्त है इसीलिए भारी पहाड़ उसका क्या कर सकते हैं। जिसके हृदय में सत का बेड़ा बंधा है उसका चाहे प्राण भले ही चला जाय वह लौट नहीं सकता। इसलिए मेरा संकल्प दृढ़ है—मैं जिसके प्रेम में अब योगी हुआ हूँ, उसी के हाथ में मेरी नकेल है—वही प्रेम की नकेल पकड़े मुझे खींच रहा है। अब मत्था फेरे से नहीं फिर सकता। भाव यह कि मुझ में पद्मावती के पाने का दृढ़ संकल्प है, त्याग की पूर्ण मात्रा है, सत का बल है, अब मैं समुद्र आदि के भय से डर नहीं सकता।

अलङ्कार—यमक—नाथ के दो अर्थ - योगी, नकेल।
उपमा—भँवर.....पहारू।

[ १४२ ]

पेम समुंद अैस अवगाहा। जहाँ न वार पार नहिं थाहा॥
जौं वह समुँद काह एहि परे। जौं अवगाह हंस होइ तिरे॥
हौं पदुमावति कर भिखमँगा। दिस्टि न आव समुँद औ गँगा॥
जेहि कारन गियँ गाँथरि कंथा। जहाँ सो मिलै जाउँ तेहि पंथा॥
अब एहि समुंद परौं होइ मरा। पेम मोर पानी कै करा॥
मर होइ बहा कतहुँ लै जाऊ। ओहि के पंथ कोइ लै खाऊ॥
अस मन जानि समुँद महँ परऊँ। जौ कोइ खाइ बेगि निस्तरऊँ॥
सरग सीस, धर धरती, हिया सो पेम समुंद।
नैन कौड़िया होइ रहे, लैं लैं उठहिं सो बुंद॥ १४२॥

शब्दार्थ—अैस = ऐसा। अवगाहा = अथाह। हंस = उज्ज्वल हंस पक्षी, शुद्ध आत्मस्वरूप। तिरे = पार हुए। काँथरि कंथा = फटा पुराना, बिस्तर जिसे जोगी लेते हैं। गियँ = ग्रीवा, गर्दन। निस्तरऊँ = उद्धार होना।

कौड़िया = कौड़िल्ला नामक एक पक्षी जो पानी में से मछली पकड़ कर फिर ऊपर उड़ने लगता है।

अर्थ—राजा रत्नसेन कहता जा रहा है—प्रेम का समुद्र इतना अथाह है कि उसका कोई वार-पार नहीं है और कोई उसका थाह नहीं लगा सकता। जो कोई इस प्रेम के समुद्र में पड़ता है, वह श्रेष्ठ हंस सरीखा शुद्धात्मा ही होगा और वही उसे पार कर सकता है। मैं तो पद्मावती का भिखारी हूँ, मुझे तो न समुद्र दिखाई पड़ रहा है न गंगा अर्थात् न तो मार्ग कठिन होता है और न आसान। अब जिसके लिए गर्दन में कंथा धारण कर रक्खी है और जोगी बने हैं वह जहाँ भी मिलेगी वहीं और उसी रास्ते जाऊँगा अब तो मैं इस समुद्र में मृतक समान होकर ही पड़ रहा हूँ, मेरे प्रेम का यह समुद्र का भयानक पानी क्या कर सकता है। मर करके बह जाऊँगा, फिर पानी चाहे जहाँ बहा ले जाय, उस पद्मावती के पाने के लिए रास्ते में पड़ूंगा चाहे कोई हमें खा ले। ऐसा हृदय में विचार कर समुद्र में प्रस्थान करूंगा। यदि कोई रास्ते में ही हमें खा डालेगा तब तो शीघ्र ही हमारा उद्धार हो जायेगा। मेरा सिर आकाश, धड़ पृथ्वी और हृदय समुद्र बना हुआ है; आँखें रूपी कौड़िल्ला पक्षी आँसू रूपी मछली ले लेकर उड़ता रहता है। इस दोहे में रूपक स्पष्ट नहीं हुआ है पर भाव यह है कि पृथ्वी, आकाश और समुद्र में मेरे हृदय का तादात्म्य है, पद्मावती के प्रेम से हृदय आपूरित है और जैसें कौड़िया पक्षी बार-बार उड़ता है और मछली ले आता है, उसी प्रकार विरह के कारण आँसू आँख में बार-बार भर आते हैं।

*टिप्पणी—सूफी प्रेम में त्याग की मात्रा अधिक होती है, अपने को जलाना और मरना दिखाना सूफी प्रेम की विशेषता है, यही प्रेम का स्वरूप इस पद में चित्रित है।*

अलङ्कार—रूपक।

[ १४४ ]

कठिन बियोग जोग दुख डाहू। जरम जरत होइ और निबाहू ॥
डर लज्या तहँ दुवौ गँवानी। देखै कछु न आगि औ पानी ॥

आगि देखि ओहि आगिअ भावा। पानी देखि कै सौंहैं धावा॥
जस बाउर न बुझाए बूझा। जौनिहिं भाँति जाइ का सूझा॥
मगर मच्छ डर हिएँ न लेखा। आपुहिं जान पार भा देखा॥
औ न खाहिं ओहि सिंघ सदूरा। काठहु चाहि अधिक सो झूरा॥
काया माया संग न आथी। जेहि जिय सौंपा सोई साथी॥
जो कछु दरब अहा सँग, दान दीन्ह संसार।
का जानी केहि के सत, दैय उतारै पार॥ १४४॥

शब्दार्थ—डाहू = दाह, जलन। जरम = जीवन भर। लज्या = लज्जा। दुवौ = दोनों। गँवानी = खोई। भावा = अच्छा लगा-पाठान्तर-धावा = दौड़ा। बुझाए = समझाए। सदूरा = शार्दूल, शेर। चाहि = अपेक्षा। झूरा = सूखा, खूनरहित। आथी = है। माया = धन। दरब = धन।

अर्थ—राजा कहता जा रहा है—जिसके हृदय में कठिन विरह की जलन है, उसका सारा जीवन जलते-जलते ही बीतता है और इसी प्रकार उसका उद्धार होता है। उसके लिए डर और लज्जा दोनों ही जाते रहते हैं। वह आग और पानी अर्थात् दुःख और सुख को नहीं देखता। आगे का मार्ग देखकर उसे और आगे जाना ही अच्छा लगता है, भयङ्कर पानी देखकर तो वह सामने ही दौड़ पड़ता है। जिस प्रकार पागल मनुष्य समझाने से नहीं समझता, उसे जैसा ही समझ पड़ता है अपनी ही इच्छानुसार चलता है। मगरमच्छ आदि का डर हृदय में नहीं समझ पड़ता, केवल उसे अपना मार्ग ही दिखाई पड़ता है, वह केवल पार जाना चाहता है। उसको शेर, बाघ आदि खा नहीं सकते क्योंकि वह तो काठ से भी अधिक शुष्क और खूनरहित होता है। उसके साथी शरीर, धन आदि कुछ नहीं होते, उसने तो जिसको अपना जीव सौंप दिया वही उसका साथी है। जो कुछ द्रव्य आदि उसके पास थे, उन्हें उसने संसार को दान कर दिया, अब पता नहीं किस सत् के सहारे भगवान् पार करेगा।

[ १४५ ]

धनि जीवन औ ताकर जिया। ऊँच जगत महँ जाकर दिया॥
दिया सो सब जप तप उपराहीं। दिया बराबर जग किछु नाहीं॥

कौड़िया = कौड़िल्ला नामक एक पक्षी जो पानी में से मछली पकड़ कर फिर ऊपर उड़ने लगता है।

अर्थ—राजा रत्नसेन कहता जा रहा है—प्रेम का समुद्र इतना अथाह है कि उसका कोई वार-पार नहीं है और कोई उसका थाह नहीं लगा सकता। जो कोई इस प्रेम के समुद्र में पड़ता है, वह श्रेष्ठ हंस सरीखा शुद्धात्मा ही होगा और वही उसे पार कर सकता है। मैं तो पद्मावती का भिखारी हूँ, मुझे तो न समुद्र दिखाई पड़ रहा है न गंगा अर्थात् न तो मार्ग कठिन होता है और न आसान। अब जिसके लिए गर्दन में कंथा धारण कर रक्खी है और जोगी बने हैं वह जहाँ भी मिलेगी वहीं और उसी रास्ते जाऊँगा अब तो मैं इस समुद्र में मृतक समान होकर ही पड़ रहा हूँ, मेरे प्रेम का यह समुद्र का भयानक पानी क्या कर सकता है। मर करके बह जाऊँगा, फिर पानी चाहे जहाँ बहा ले जाय, उस पद्मावती के पाने के लिए रास्ते में पड़ूँगा चाहे कोई हमें खा ले। ऐसा हृदय में विचार कर समुद्र में प्रस्थान करूँगा। यदि कोई रास्ते में ही हमें खा डालेगा तब तो शीघ्र ही हमारा उद्धार हो जायेगा। मेरा सिर आकाश, धड़ पृथ्वी और हृदय समुद्र बना हुआ है; आँखें रूपी कौड़िल्ला पक्षी आँसू रूपी मछली ले लेकर उड़ता रहता है। इस दोहे में रूपक स्पष्ट नहीं हुआ है पर भाव यह है कि पृथ्वी, आकाश और समुद्र में मेरे हृदय का तादात्म्य है, पद्मावती के प्रेम से हृदय आपूरित है और जैसे कौड़िया पक्षी बार-बार उड़ता है और मछली ले आता है, उसी प्रकार विरह के कारण आँसू आँख में बार-बार भर आते हैं।

*टिप्पणी—सूफी प्रेम में त्याग की मात्रा अधिक होती है, अपने को जलाना और मरना दिखाना सूफी प्रेम की विशेषता है, यही प्रेम का स्वरूप इस पद में चित्रित है।*

अलङ्कार—रूपक।

[ १४४ ]

कठिन बियोग जोग दुख डाहू। जरम जरत होइ ओर निवाहू॥
डर लज्या तहँ दुवौ गँवानी। देखै कछु न आगि औ पानी॥

आगि देखि ओहि आगिअ भावा। पानी देखि कै सौंहैं धावा॥
जस बाउर न बुझाए बूझा। जौनिहिं भाँति जाइ का सूझा॥
मगर मच्छ डर हिएँ न लेखा। आपुहिं जान पार भा देखा॥
औ न खाहिं ओहि सिंघ सदूरा। काठहु चाहि अधिक सो झूरा॥
काया माया संग न आथी। जेहि जिय सौंपा सोई साथी॥
जो कछु दरब अहा सँग, दान दीन्ह संसार।
का जानी केहि के सत, दैय उतारै पार॥ १४४॥

शब्दार्थ—डाहू = दाह, जलन। जरम = जीवन भर। लज्या = लज्जा। दुवौ = दोनों। गँवानी = खोई। भावा = अच्छा लगा-पाठान्तर-धावा = दौड़ा। बुझाए = समझाए। सदूरा = शार्दूल, शेर। चाहि = अपेक्षा। झूरा= सूखा, खूनरहित। आथी= है। माया = धन। दरब = धन।

अर्थ—राजा कहता जा रहा है—जिसके हृदय में कठिन विरह की जलन है, उसका सारा जीवन जलते-जलते ही बीतता है और इसी प्रकार उसका उद्धार होता है। उसके लिए डर और लज्जा दोनों ही जाते रहते हैं। वह आग और पानी अर्थात् दुःख और सुख को नहीं देखता। आगे का मार्ग देखकर उसे और आगे जाना ही अच्छा लगता है, भयङ्कर पानी देखकर तो वह सामने ही दौड़ पड़ता है। जिस प्रकार पागल मनुष्य समझाने से नहीं समझता, उसे जैसा ही समझ पड़ता है अपनी ही इच्छानुसार चलता है। मगरमच्छ आदि का डर हृदय में नहीं समझ पड़ता, केवल उसे अपना मार्ग ही दिखाई पड़ता है, वह केवल पार जाना चाहता है। उसको शेर, बाघ आदि खा नहीं सकते क्योंकि वह तो काठ से भी अधिक शुष्क और खूनरहित होता है। उसके साथी शरीर, धन आदि कुछ नहीं होते, उसने तो जिसको अपना जीव सौंप दिया वही उसका साथी है। जो कुछ द्रव्य आदि उसके पास थे, उन्हें उसने संसार को दान कर दिया, अब पता नहीं किस सत् के सहारे भगवान् पार करेगा।

[ १४५ ]

धनि जीवन औ ताकर जिया। ऊँच जगत महँ जाकर दिया॥
दिया सो सब जप तप उपराहीं। दिया बराबर जग किछु नाहीं॥

एक दिया तेइँ दस गुन लाहा। दिया देखि धरमी सुख चाहा ॥
दिया सो काज दुहूँ जग आवा। इहाँ जो दिया, वहाँ सा पावा ॥
दिया करै आगें उजिआरा। जहाँ न दिया तहाँ अँधियारा ॥
दिया मँदिल निसि करै अँजोरा। दिया नाहिं घर मूसहिं चोरा ॥
हातिम करन दिया जौं सिखा। दिया अहा धरमन्हि महँ लिखा ॥

निरमल पंथ कीन्ह तिन्ह, जिन्ह रे दिया कछु हाथ।
किछु न कोइ लै जाइहि, दिया जाइ पै साथ ॥ १४५ ॥

शब्दार्थ—धनि = धन्य। जिया = जीव। दिया = दिया हुआ-दान। उपराहीं = ऊपर-श्रेष्ठ। लाहा = लाभ, प्राप्त किया। धरमी = धर्मात्मा-पाठान्तर-सब जग। दिया = दीपक। मँदिल = मंदिर, घर। मूसहिं = चुराले जाते हैं। हातिम = हातिमताई जो फारस का एक बड़ा दानी था। करन = दानी कर्ण।

अर्थ—राजा रत्नसेन कहता जाता है—

उसका जीवन और जीव धन्य है जिसका दान संसार में श्रेष्ठ है। दान जप, तप आदि से बढ़कर है, संसार में दान के बराबर और कुछ नहीं है। जो एक देता है उसे दस गुना मिलता है। दानी को देखकर सभी धर्मात्मा लोग उसका मुख देखना चाहते हैं। जो कुछ आदमी दान करता है वह दोनों लोकों में काम आता है, इस लोक में जो देता है वही दूसरे लोक में पाता है। दीपक के आगे ही उजेला होता है, जहाँ दीपक नहीं, वहांअँधेरा ही होता है घर में रात्रि के समय उजेला करता है, जिस घर में दीपक नहीं होता वहाँ चोर घुस कर लूट लेते हैं। हातिमताई और दानी कर्ण आदि ने दान करना ही सीखा था। दान का माहात्म्य धर्म ग्रन्थों में लिखा है। जिन लोगों ने संसार में कुछ दान किया, उन्हीं ने अपना जीवन-पथ निर्मल किया है। इस संसार में और कुछ भी साथ नहीं जायेगा, जायेगा तो केवल वही जो हमने इस लोक में दान कर दिया।

अलङ्कार— यमक—दिया = दीपक, दान।

———

# १४. बोहित खण्ड

[ १४६ ]

सत न डोल देखा गजपती। राजा दत्त सत्त दुहुँ सती ॥
आपन नाहिं कया पै कंथा। जीउ दीन्ह अगुमन तेहि पंथा ॥
निस्चै चला भरम डर खोई। साहस जहाँ सिद्धि तहँ होई ॥
निस्चै चला छाड़ि कै राजू। बोहित दीन्ह, दीन्ह नै साजू ॥
चढ़े बेगि, औ बोहित पेले। धनि ओइ पुरुष पेम पँथ खेले ॥
तिन्ह पावा उत्तिम कबिलासू। जहाँ न मीचु, सदा सुख बासू ॥
पेम पंथ जौं पहुँचै पाराँ। बहुरि न आइ मिलै एहि छाराँ ॥

एहि जीवन कै आस का, जस सपना तिल आधु।
मुहमद जिअतहि जे मरहिं, तेइ पुरुष कहु साधु ॥ १४६ ॥

शब्दार्थ—डोल = चलता। दत्त = दान। सत्त = सत्य। सती = सच्चा, कष्ट सहने वाला। अगुमन = अग्रसर। नै = नये। तिल = क्षण।

अर्थ—राजा गजपति ने देखा कि राजा अपने सत् से नहीं हट सकता संकल्प में पूर्णतया दृढ़ है। यह दान और सत दोनों में सच्चा और दृढ़ है। यह समझता है कि शरीर अपना नहीं है यह तो पुरानी गुदड़ी के सदृश है। ऐसा जान कर वह उसी योग के मार्ग पर अग्रसर हुआ है। निश्चय ही वह सभी प्रकार के भ्रम और डर को खोकर जा रहा है इसे सफलता मिलेगी क्योंकि सिद्धि वहीं मिलती है जहाँ साहस होता है। यह दृढ़ संकल्प के साथ अपने राज्य को छोड़ कर जा रहा है। राजा गजपति ने उसे नौकायें तथा और भी अनेक नये साज सामान दिये। सभी लोग तुरन्त उस पर चढ़े और उन्होंने नाव को ढकेलना शुरू किया। कवि कहता है कि वे पुरुष धन्य हैं जो प्रेम-पन्थ पर खेलते हैं। ऐसे लोग स्वर्ग पाते हैं जहाँ मृत्यु कभी नहीं होती और सदा सुख का वास मिलता है। जो प्रेम-पन्थ के पार पहुँच जाता है उसे फिर इस संसार में नहीं आना पड़ता। इस जीवन की भला क्या आशा? यह तो ऐसा है जैसे आधे क्षण का स्वप्न। मलिक मुहम्मद जायसी कहते हैं कि

साधु पुरुष तो वे हैं जो जीते हुए मरे हुए हैं अर्थात् ज्ञान में जागरूक होते हुए भी जो संसार के लिए मृत सदृश हैं।

"यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः"—गीता।

अलंकार—उपमा।

[ १४७ ]

जस रथ रेंगि चलै गज ठाटी। बोहित चले, समुँद गा पाटी॥
धावहिं बोहित मन उपराहीं। सहस कोस एक पल महँ जाहीं॥
समुँद अपार सरग जनु लागा। सरग न घालि गनै बैरागा॥
ततखन चाल्हा एक देखावा। जनु धौलागिरि परबत आवा॥
उठी हिलोर जो चाल्ह नराजी। लहरि अकास लागि भुइँ बाजी॥
राजा सेंति कुँवर सब कहहीं। अस अस मच्छ समुँद महँ रहहीं॥
तेहि रे पंथ हम चाहहिं गवना। होहु सँजूत बहुरि नहिं अवना॥
गुरु हमार तुम्ह राजा, हम चेला औ नाथ।
जहाँ पाँव गुरु राखै, चेला राखै माँथ॥ १४७॥

शब्दार्थ—रथ=पाठान्तर-ब । रेंगि=चलता है। ठाटी=ठट्ठ, झुण्ड। गा पाटी=पट गया। उपराही=अधिक। घालि=घलुआ, थोड़ी सी और वस्तु जो बेचने वाला किसी को और देता है—थोड़ा। चाल्हा=एक मछली। नराजी=नाराज हुई। बाजी=पड़ी। सँजूत=सावधान।

शब्दार्थ—राजा रत्नसेन के बेड़े का वर्णन कवि इस पद में कर रहा है—

जिस प्रकार सेना के साथ रथ चलते हैं और हाथियों का झुण्ड चलता है उसी प्रकार समुद्र में जोगियों की नावों से समुद्र पट गया। नाव मन से भी अधिक तेज चलती हैं, एक क्षणमें ही वे हजार कोस चली जाती हैं। समुद्र अपार है और स्वर्ग मालूम होता है, पर वैरागी लोग इस स्वर्ग सदृश सागर को घलुए के समान अत्यन्त स्वल्प भी नहीं समझते। उसी समय ही एक चाल्हा नाम की मछली दिखाई पड़ी जो कि ऐसी प्रतीत हुई मानो धौलागिरि पर्वत ही आ रहा है। चाल्हा के क्रुद्ध होकर चलने पर समुद्र की लहरें उठने लगीं और आकाश को छूने तथा भूमि पर थपेड़े मारने लगीं। राजा से सारे राजकुमार कहने लगे कि क्या ऐसे-ऐसे भयानक मच्छ समुद्र में रहते हैं। हम

इस रास्ते से जाना चाहते हैं अतः हमें सावधान हो जाना चाहिए। हम अब इस रास्ते पर लौट नहीं सकते। हे राजा! तुम हमारे गुरु हो, हम सब साधु तुम्हारे चेला हैं, जहाँ गुरु का पैर पड़ेगा वहाँ चेलों का तो सिर पड़ेगा।

[ १४८ ]

केवट हँसे सो सुनत गवेंजा। समुँद न जान कुँआ कर मेंजा॥
यह तौ चाल्ह न लागै कोहू। काह कहौ जौ देखहु रोहू॥
अबहीं तौ तुम्ह देखे नाहीं। जेहि मुख ऐसे सहस समाहीं॥
राज पंखि तिन्ह पर मँडराहीं। सहस कोस जिन्ह की परिछाहीं॥
ते ओइ मच्छ ठोर गहि लेहीं। सावक मुख चारा लै देहीं॥
गरजै गगन पंखि जौं बोलहिं। डोलै समुँद डहन जौ खोलहिं॥
तहाँ न चाँद न सुरुज असूझा। चढ़ै सो जो अस अगुमनबूझा॥
दस महँ एक जाइ कोइ, करम धरम सत नेम।
बोहित पार होइ जौं, तौ कूसल और खेम॥ १४८॥

शब्दार्थ—गवेंजा = बातचीत। मेंजा = मेंढक। कोहू = किसी को।

अर्थ—वैरागियों की बातचीत सुनकर केवट लोग हँस पड़े और कहने लगे कि कुएँ का मेंढक समुद्र को नहीं जान सकता। यह तो चाल्ह है, यह किसी को भी भयानक नहीं लगती—भला जब तुम लोग रोहू मछली को देखोगे तो क्या कहोगे, अभी तक तो तुमने उसे देखा ही नहीं, ऐसी-ऐसी मछलियाँ तो दस उसके मुख में समा जायेंगी। उनके ऊपर तो राज पक्षी मँडराते रहते हैं और हजारों कोस तक उनकी परछाहीं पड़ती रहती है। वे मछलियाँ उन पक्षियों को पकड़ लेती हैं और अपने बच्चों के मुख में उन्हें चारे के रूप से डाल देती हैं। जब आकाश में पक्षी लोग बोलते हैं तो आकाश गरजने लगता है। और जब वे अपने डैने खोलते हैं तो समुद्र डोलने लगता है। न तो वहाँ पर चांद है और न सूर्य, बिल्कुल ही असूझ है। इस पर वही चढ़ सकता है जो इसे पहले ही से जानता है। उस पर दस में कोई एक ही अपने कर्म, धर्म, सत्य और नियम के बल पर जा सकता है अतः जब हम इस बोहित को पार कर लें तभी क्षेम-कुशल है।

[ १४६ ]

राजैं कहा कीन्ह सो पेमा। जेहिं रे कहाँ कर कूसल खेमा॥
तुम्ह खेवहु खेवै जौं पारहु। जैसें आपु तरहु मोहिं तारहु॥
मोहिं कूसल कर सोच न ओता। कूसल होत जौं जनम न होता॥
धरती सरग जाँत पर दोऊ। जो तेहि बिच जिय राख न कोऊ॥
हाँ अब कुसल एक पै माँगौं। पेम पंथ सत बाँधि न खाँगौं॥
जौं सत हिएँ ता नैनन्ह दिया। समुँद न डरै पैठि मरजिया॥
तहँ लगि हेरौं समुँद ढँढोरी। जहँ लगि रतन पदारथ जोरी॥
सप्त पतार खोजि अस, काढ़े बेद गरंथ॥
सात सरग चढ़ि धावौं. पदुमावति जेहि पंथ॥ १४६॥

शब्दार्थ—पारहु = सको। ओता = उतना। जाँत (यन्त्र) = चक्की। खाँगौं = कमी रक्खूँ। मरजिया = जीवन पर खेल कर समुद्र से मोती निकालने वाला। हेरौं = खोजूँ। ढँडोरी = छान कर, खोज कर।

अर्थ—राजा रत्नसेन ने कहा कि मैंने प्रेम मार्ग का अवलम्बन किया है, इस मार्ग पर कुशल और क्षेम कहाँ मिल सकता है? यदि तुम खे सको तो नावों को खेवो, और जैसे आप पार हो उसी प्रकार मुझे भी पार ले चलो। मुझे कुशल की उतनी चिन्ता नहीं है, कुशल तो तभी होता जब कि मनुष्य जन्म न मिलता। यह पृथ्वी और आकाश चक्की के दो पाट हैं, इन दो पाटों के बीच में जो पड़ेगा वह बच नहीं सकता। पर मैं केवल एक कुशल ही माँगता हूँ कि प्रेम पन्थ में सत् की कोई कमी न हो। यदि हृदय में सत है तो आँखों में ज्ञान का दीपक है। फिर हम कठिनाइयों से इस प्रकार नहीं डरते जैसे गोताखोर समुद्र से नहीं डरता और उसके तल में प्रवेश कर जाता है। मैं भी उसी भी भान्ति वहाँ तक खोजूँगा जहाँ तक रत्न पदार्थ की जोड़ी नहीं मिलती, अर्थात् जब तक मेरा पद्मावती का मिलन नहीं हो जाता। जिस प्रकार सात पातालों को खोज कर वेद ग्रन्थ को निकाल लिया था उसी प्रकार जिस मार्ग पर पद्मावती है उस पर सात स्वर्गों पर दौड़ सकता हूँ।

अलङ्कार—उपमा।

————

# १५. सात-समुद्र-खराड

[ १५० ]

सायर तिरै हिएँ सत पूरा। जौं जियँ सत, कायर पुनि सूरा॥
तेहिं सत बोहित पूरि चलाए। जेहिं सत पवन पंख जनु लाए॥
सत साथी, सत कर सहिवाँरू। सत्त खेइ लै लावै पारू॥
सतै ताक सब आगू पाछू। जहँ जहँ मगर मच्छ औ काछू॥
उठै लहरि नहिं जाइ सँभारा। चढ़ै सरग औ परै पतारा॥
डोलहिं बोहित लहरैं खाहीं। खिन तर, खिनहिं होहिं उपराहीं॥
राजैं सो सतु हिरदैं बाँधा। जेहि सत टेकि करे गिरि काँधा॥

खार समुँद सो नाँघा, आए समुँद जहँ खीर।
मिले समुँद वै सातौं, बेहर बेहर नीर॥ १५०॥

शब्दार्थ—सायर = सागर। तिरै = पार करता है। पूरी = भर कर-पाठान्तर-कुरी = समूह। सहिवाँरू = संभार, साज-सामान, धन। काछू = कछूए। बेहर बेहर = अलग अलग।

अर्थ—कवि कहता है कि सागर को वही पार कर सकता है जिसका हृदय सत से भरपूर है। यदि हृदय में सत है तो वह कायर भी हो तो शूर हो जायगा। उसी सत को भर कर जोगियों ने नावों को चलाया और उसी सत के बल से मानो हवा के पंख लग गए अर्थात् बड़ी तीव्र गति से नावें चलीं। सत्य ही साथी है और सत्य का ही साज, सामान और धन है। सत्य ही खेकर पार ले जा सकता है, सत्य ही आगे-पीछे, जहाँ-जहाँ मगर, मच्छ, कछुए आदि हैं, देख सकता है। लहरें इतनी ऊंची उठती हैं कि संभाला नहीं जा सकता, वे तो आकाश में चढ़ती हैं और पाताल में गिरती हैं। लहरों के थपेड़े खा-खाकर नाव डाँवाडोल होती है, कभी नीचे होती है और कभी ऊपर। राजा ने सत को हृदय में बाँध रखा था उसी के बल पर वह पहाड़ को भी

कंधे पर टेक सकता है। खारे समुद्र को पार कर दूध के समुद्र में पहुँचे। क्रमशः सातों समुद्र मिले जिनके जल अलग-अलग रूप के थे।

[ १५१ ]

खीर समुँद का बरनौं नीरू। सेत सरूप पियत जस खीरू॥
उथलहिं मोंती, मानिक, हीरा। दरब देखि मन धरै न धीरा॥
मनुवाँ चहै दरब औ भोगू। पंथ भुलाइ बिनासै जोगू॥
जोगी मनहिं ओहिं रिस मारहिं। दरब हाथ कै समुँद पबारहिं॥
दरब लेइ सो अस्थिर राजा। जो जोगी तेहि के केहि काजा॥
पंथहि पंथ दरब रिपु होई। ठग, बटवार, चोर सँग सोई॥
पंथिक सो जो दरब सों रूसै। दरब समेंटि बहुत अस मूसै॥
खीर समुँद सो नाँघा, आए समुँद दधि माँह।
जो हहिं नेह के बाउर, ना तिन्ह धूप न छाँह॥ १५१॥

शब्दार्थ—उलथहिं = उतराते हैं। मनुवाँ—मन-पाठान्तर-मानुष = मनुष्य। पबारहिं = फेकते हैं। अस्थिर = स्थिर! रूसै = विरक्त हो। मूसै = लूटे गए। पंथिक = पंथवाले, साधु।

अर्थ—क्षीर सागर के जल का क्या वर्णन करूँ उसका रंग सफेद और पीने में दूध के समान था। उसमें मोती, माणिक्य और हीरा उतराते थे, धन को देख कर मन को धीरज नहीं होता, लेने की लालसा उत्पन्न होती है। मन तो धन और सुख चाहता है और इन्हीं के पीछे रास्ते को भूल जाता है और योग नष्ट हो जाता है। जोगी तो वह है जो अपने जोग के जोर से मन को मार दे और हाथ में आये हुए धन को समुद्र में फेंक दे। द्रव्य तो वह लेगा जो स्थिर रूप से सदा का राजा है, पर जो जोगी है उसके लिए धन किस काम का? रास्ते में धन तो उसका शत्रु हो जायेगा। ठग, लुटेरे, चोर धन के लिए साथ हो जायेंगे। साधु तो वह है जो द्रव्य से विरक्त हो जाय, द्रव्य को इकट्ठा करने से तो ऐसे बहुत से योगी लूट लिए गये अर्थात् अपने मार्ग में असफल हुए।

क्षीर सागर को पार कर दधि सागर में पहुँचे। जो लोग प्रेम के

पीछे पागल हैं, उन्हें न धूप लगती है और न छाया, वे सुख-दुःख की परवाह नहीं करते—

"मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दुःखं न च सुखम् ।"

—भर्तृहरिशतक

[ १५२ ]

दधि समुँद्र देखत मन डहा । पेम क लुबुध दगध पै सहा ॥
पेम सों दाधा धनि वह जीऊ । दही माहिं मथि काढ़ै घीऊ ॥
दधि एक बूँद जाम सब खीरू । काँजी बूँद बिनसि होइ नीरू ॥
स्वाँस दहेंड़ि मन मँथनी गाढ़ी । हिएँ चोट बिनु फूट न साढ़ी ॥
जेहि जियँ पेम चँदन तेहि आगी । पेम बिहून फिरहिं डरि भागी ॥
पेम कि आगि जरै जौं कोई । ताकर दुख न अँबिरथा होई ॥
जो जानैं सत आपुहि जारै । निसत हिएँ सत करै न पारै ॥
दधि समुँद्र पुनि पार भे, पेमहिं कहाँ सँभार ।
भावै पानी सिर परौ, भावै परौ अँगार ॥ १५२ ॥

शब्दार्थ—डहा = जला । दगध = जलन । जाम = जम जाता है । खीरू = क्षीर । काँजी = खटाई ("कबहुँ कि काँजी सीकरनि छीर सिंधु बिनसाइ"—तुलसी) दहेंड़ि = दही जमाने वाली मटकी । मँथनी = मथानी । बिहून = रहित । साढ़ी = मलाई । अँबिरथा = व्यर्थ, निष्फल । निसत = सत्य विहीन । भावै = चाहे ।

अर्थ—दधि सागर को देख कर मन जलने लगा पर प्रेम का लोभी तो जलन को सहता है । वह जीव धन्य है जो प्रेम से जलाया गया है, और दही को मथ कर घी को निकालता है । दही की एक बूँद ही सारे दूध को जमा देती है, पर खटाई की एक बूँद से दूध फट कर पानी छोड़ देता है । स्वाँस रूपी दहेंडी में मन रूपी कठोर मथानी चलती है, पर जैसे जब तक मथानी की गाढ़ी चोट नहीं लगती, मलाई नहीं फटती । इसी प्रकार जब तक हृदय पर चोट नहीं पड़ती, प्रेम का विकास नहीं होता । जिसके हृदय में प्रेम है उसे चन्दन भी अग्नि हो जाता है, प्रेम से विहीन व्यक्ति डर कर भागा-भागा फिरता है । जो कोई प्रेम की आग से जलता है उसका जलना

भी निष्फल नहीं होता। जो सत को जानता है वह तो प्रेम की आग में स्वयं अपने को जलाता है, पर जो सत्य से रहित है वह इस सत (तपस्या) को कर नहीं सकता है। वे दधि सागर को पार कर गये, पर प्रेम सँभाला कैसे जा सकता है। चाहे सिर पर पानी बरसे और चाहे अंगारा बरसे, प्रेमी तो अपने मार्ग पर चला ही जायेगा।

[ १५३ ]

आए उदधि समुँद अपारा। धरती सरग जरै तेहि झाराँ॥
आगि जा उपनि ओहि समुँदा। लंका जरी ओहि एक बुंदा॥
बिरह जो उपना वह हुत गाढ़ा। खिन न बुझाइ जगत तस बाढ़ा॥
जेहिं सो बिरह तेहिं आगि न डीठी। सौंह जरै, फिरि देइ न पीठी॥
जग महँ कठिन खरग कै धारा। तेहिं तें अधिक बिरह कै झारा॥
अगम पंथ जौं अैस न होई। साध किएँ पावत सब कोई॥
तेहि समुँद महँ राजा परा। चहै जरै पै रोवँ न जरा॥
तलफै तेल कराह जिमि, इमि तलफै तेहि नीर।
वह जो मलैगिरि पेम का, बुंद समुंद समीर॥१५३॥

शब्दार्थ झाराँ = लपट। उपनी = उत्पन्न हुई। हुत = था। गाढ़ा = गम्भीर, भयानक। खरग = खड्ग, तलवार। रोवँ = रोम, बाल। तलफै = उबलै।

अर्थ—अब ये लोग अपार उदधि समुद्र में आये। उसकी लपटों से पृथ्वी और आकाश सभी जलते हैं। उस समुद्र से जो आग उत्पन्न हुई उसी की एक बूँद मात्र से लंका जल गई थी। उसमें से जो विरह उत्पन्न हुआ था वह बड़ा गंभीर था। वह इ .ना बढ़ा कि संसार में थोड़ा भी न बुझ सका। जिसको वह विरह हो जाता है वह आग की परवाह नहीं करता, सामने जलता है, पर पीठ नहीं देता। संसार में तलवार की धार बड़ी कठिन होती है, पर विरह की ज्वाला उससे भी अधिक है। यदि प्रेम का रास्ता ऐसा अगम न होता तो सभी उसकी इच्छा रखते। ऐसे समुद्र में अब राजा रत्नसेन पड़ा है वह उसमें जलना चाहता है पर उसका रोम भी नहीं जलता। उस समुद्र का पानी इस प्रकार उबलता है जैसे आग पर रखे हुए

कड़ाह में तेल उबलता है, पर वह जो प्रेम का मलयगिरि राजा रत्नसेन है उसकी रस बूँद से समुद्र की हवा सुवासित हो गई।

[ १५४ ]

सुरा समुँद पुनि राजा आवा। महुआ मद छाता देखरावा॥
जो तेहि पिऔ सो भाँवरि लेई। सीस फिरै पँथ पैगु न देई॥
पेम सुरा जेहि के जिउ माहाँ। कत बैठे महुआ की छाहाँ॥
गुरु के पास दाख रस रसा। बैरि बबूर मारि मन कसा॥
बिरहैं दगध कीन्ह तन भाठी। हाड़ जराइ दीन्ह जस काठी॥
नैन नीर सो पोती किया। तस मद चुआ बरै जनु दिया॥
बिरह सरागन्हि भूँजै माँसू। गिर गिरि परहिं रकत के आँसू॥

मुहमद मद जो परेम का, किएँ दीप तेहि राख।
सीस न देइ पतंग होइ, तब लगि जाइ न चाखि॥ १५४॥

शब्दार्थ—छाता = महुए के फूल का गुच्छा। भाँवरि = चक्कर। सीस फिरै = सिर घूमता है। मन कसा = मन वश में किया। भाठी = भट्टी। काठी = लकड़ी, ईंधन। पोती = अर्क उतारने में मिट्टी का लेप करके गीले कपड़े की लपेटन। सरागन्हि = शराग्नि-सरकंडे में लगाई हुई आग जिसमें गोद कर माँस भूनते हैं। चाखि = खाना-पाठान्तर-खाध = खाद्य, भोजन।

अर्थ—फिर राजा सुरा-सागर में आया। यहाँ पर जगह-जगह महुए के फूल के छत्ते दिखाई पड़ते थे। जो उस सागर के जल को पीता है उसे चक्कर आने लगते हैं, सिर घूमने लगता है और रास्ते पर पैर नहीं पड़ता। प्रेम की शराब जिसके हृदय में है वह भला महुआ की छाया में क्योंकर बैठेगा? गुरु के पास रह कर जिसने दाख के रस का आस्वादन किया है और बेर और बबूर रूपी माया-मोह आदि को मार कर अपने मन को वश में कर लिया है तथा जिसने विरह में जलाकर अपने शरीर को भट्टी बना रखा है और अपनी हड्डियों को इस प्रकार जलाया है जैसे भट्टी में लकड़ी जलती है, उसकी आँखों से निकलने वाला आँसू मानो गीले कपड़े यानी लेप है जिसके कारण शराब बूँद-बूँद टपकती है। यहाँ पर अर्क बनाने की क्रिया

का पूरा रूपक है—भट्टी जलाई जाती है और उसके ऊपर मिट्टी के बर्तन पर लेप लगा कर गीला कपड़ा लपेटा जाता है जिससे भाप के द्वारा टोंटी से रस बूँद-बूँद टपकता है। भाव यह है कि विरहाग्नि में जलकर प्रेम की सुरा तैयार होती है। विरह रूपी शलाकाओं से विरही अपने माँस को जलाता है और खून के आँसू टपकते हैं। जायसी कहते हैं कि उस प्रेम का मद तब तक चाखा नहीं जाता जब तक उस दीप का पतंगा होकर शीश देकर राख न हो जाय।

अलंकार—रूपक।

[ १५५ ]

पुनि किलकिला समुँद महँ आए। किलकिल उठा, देखि डरु खाए॥
गा धीरज वह देखि हिलोरा। जनु अकास टूटै चहुँ ओरा॥
उठै लहरि परबत की नाईं। होइ फिरै जोजन लख ताईं॥
धरती लेत सरग लहि बाढ़ा। सकल समुँद जानहुँ भा ठाढ़ा॥
नीर होइ तर ऊपर सोई। महनारभ समुँद जस होई॥
फिरत समुँद जोजन लख ता'का। जैसें फिरै कुम्हार क चाका॥
भा परलौ निअराएन्हि जबहीं। मरै सो ताकर परलौ तबहीं॥
गै अवसान सबहिं कै, देखि समुँद कै बाढ़ि।
निअर होत जनु लीलै, रहा नैन अस काढ़ि॥ १५५॥

शब्दार्थ—हिलोरा = लहरें। महनारंभ = मथनारंभ, समुद्र मंथन। परलौ = प्रलय। निअराएन्हि = निकट। अवसान = होश हवास। लीलै = निगल जाय।

अर्थ—फिर सब लोग किलकला समुद्र में आये। किलकला समुद्र की उठी लहरों को देखकर सभी लोग डर गये। उन लहरों को देखकर सब का धीरज टूट गया, मानो चारों ओर से आकाश टूट रहा है। लहरें पर्वत की शकल में ऊपर उठतीं और लाख योजन तक फैलकर तभी लौटतीं। पृथ्वी से आकाश तक वह समुद्र बढ़ा दिखाई पड़ता था मानो सारा समुद्र ही खड़ा हो गया है। नीचे का पानी ऊपर हो जाता है मानो समुद्र मंथन हो रहा है। लाख योजन समुद्र ऐसा चक्कर काटता दिखाई पड़ता जैसे कुम्हार की चाक घूम रही

हो। ऐसा मालूम होने लगा कि प्रलय निकट है। इस पर कवि कहता है जो मनुष्य जभी मरे उसके लिए तभी प्रलय है।

समुद्र की बाढ़ देखकर सबके होश-हवास गायब हो गये। ऐसा प्रतीत होने लगा मानो वह आँखें निकाले हुए है कि निकट आते ही सबको निगल जायगा।

[ १५६ ]

हीरामनि राजा सौं बोला। एही समुँद आइ सत डोला॥
एहि ठाउँ कहँ गुरु सँग कीजै। गुरु सँग होइ पार तौ लीजै॥
सिंघल दीप जो नाहिं निबाहू। एही ठावँ साँकर सब काहू॥
यह किलकिला समुंद गँभीरू। जेहि गुन होइ सो पावै तीरू॥
एही समुँद पंथ मंझधारा। खाँडै कै असि धार निनारा॥
तीस सहस्र कोस कै पाटा। अस साँकर चलि सकै न चाँटा॥
खाँडै चाहि पैनि पैनाई। बार चाहि पातिर पतराई॥
मरन जिअन एही पँथ, एही आस निरास।
परा सो गया पतारहि, तिरा सो गा कबिलास॥ १५६॥

शब्दार्थ—साँकर = सँकरा, कठिन। निनारा = बिलकुल। पाटा = चौड़ाई। चाँटा = चींटी। चाहि = अपेक्षा। खाँडै = तलवार। पैनि = तेज। पैनाई = धार। बार = बाल। गा = गया। कबिलास = स्वर्ग।

अर्थ—हीरामनि तोता राजा रत्नसेन से कहने लगा कि इसी समुद्र में आकर बड़े-बड़े तपस्वियों का सत डोल जाता है। इसी जगह के लिए गुरु को साथ लेना चाहिए, यदि ऐसी जगह गुरु साथ में हो तो पार हो जाता है। सिंहल द्वीप में जो निर्वाह नहीं होता उसका कारण यह है कि यही जगह सबको कठिन हो जाती है। यह किलकिला गंभीर सागर है, इसे तो वही पार कर सकता है जिसमें गुण हों। इस समुद्र के बीच में धारा ऐसी तेज है जैसे तलवार की धार। तीस हजार कोस का इसका पाट है, पर इतना संकीर्ण है कि चींटी भी नहीं चल सकती। इसके पानी की धारा की तेजी तलवार की अपेक्षा अधिक तेज है और पतलेपन में बाल से भी अधिक पतली है। इसी रास्ते में मरना और जीना है, इसी में आशा और निराशा

है। जो इसमें पड़ा वह तो पाताल गया और जो इसे पार कर गया वह तो स्वर्ग पहुँच गया।

इस पद के बाद अनेक ग्रन्थों में एक पद और है जिसे डा० माताप्रसाद जी ने अप्रामाणिक सिद्ध किया है। भावधारा की दृष्टि से भी पद अनावश्यक है। पद इस प्रकार है—

राजै दीन्ह कटक कहँ बीरा। पुरुष होहु करहु मन धीरा॥
ठाकुर जेहिक सूर भा कोई। कटक सूर पुनि आपुहि होई॥
जौं लग सत न जिउ सत बाँधा। तौ लहि देइ कहार न काँधा॥
पेम समुद्र महँ बाँधा बेरा। यह सब समुद बूँद जेहि केरा॥
ना हौं सरग क चाहौं राजू। ना मोंहि नरक सेंति किछु काजू॥
चाहौं ओहिकर दरसन पावा। जेइ मोहिं आनि पेम पथ लावा॥
काठहिं काह गाढ़ का ढीला! बूड़ न समुंद गमर नहिं लीला॥
कान समुद धँसि लीन्हेंसि, भा पाछे सब कोइ।
कोइ काहू न सँभारै, आपनि आपनि होइ॥

[ १५७ ]

कोइ बोहित जस पवन उड़ाहीं। कोई चमकि बीजु बर जाहीं॥
कोई भल जस धाव तुखारा। कोई जैस बैल गरिआरा॥
कोई हरुव जनहुँ रथ हाँका। कोई गरुव भार तें थाका॥
कोई रेंगहि जानहुँ चाँटी। कोई टूटि हाहिं सिर माँटी॥
कोई खाहिं पवन कर झोला। कोई करहिं पात जेउँ दोला॥
कोई परहिं भँवर जल माहाँ। फिरत रहहिं कोइ देहिं न बाहाँ॥
राजा कर अगुमन भा खेवा। खेवक आगें सुवा परेवा॥
कोइ दिन मिला सबेरे, कोइ आवा पछिराति।
जाकर साज जैस हुत, सो उतरा तेहि भाँति॥ १५७॥

शब्दार्थ—बीजु = बिजली। बर = जलना। तुखारा = घोड़ा। गरिआरा = सुस्त। हरुअ = हलका। गरुव = भारी। थाका = थक गया। रेंगहि = धीरे-धीरे चलता है। झोला = झकोरा। अगुमन = आगे। खेवा = नाव। पछिराति = पिछली रात। हुत = था।

अर्थ—कवि नावों का वर्णन करता है—कोई नाव ऐसी तेज़ चलती है जैसे हवा उड़ रही हो, कोई बिजली के समान चमक रही है, कोई ऐसे तेज़ चलती है जैसे तुखारी घोड़ा और कोई इतने धीरे चलती है जैसे सुस्त बैल। कोई ऐसी हल्की चलती है जैसे रथ चलाया जा रहा है पर कुछ अधिक भार से थकी सी चलती हैं। कोई नाव चींटी की भांति धीरे-धीरे चलती है, कोई टूट कर नष्ट हो जाती है। कोई नाव हवा का झकोरा खाती है और कोई पत्ते के समान डोलती रहती है। कोई पानी की भँवर में पड़ जाती है और उसी में चक्कर लगाती रहती है और कोई उसकी सहायता नहीं करता। राजा की नाव सबसे आगे हो गई, नाव के अग्र भाग पर हीरामनि तोता है। कोई तो प्रातः पहुंचा और कोई पिछली रात, जिसकी जैसी तैयारी थी वह उसी प्रकार पार उतरा। भाव यह है कि मनुष्य अपने-अपने ही कर्मों के अनुसार संसार समर को पार करता है, दूसरा कोई सहायक नहीं होता। जो जैसा कर्म करता है, उसी के फलस्वरूप वह संसार से तरता है।

अलंकार—समासोक्ति।

[ १५८ ]

सतएँ समुँद मानसर आए। सत जो कीन्ह साहस सिधि पाए॥
देखि मानसर रूप सोहावा। हियँ हुलास पुरइनि होइ छावा॥
गा अँधियार, रैनि मसि छूटी। भा भिनुसार, किरिन रबि फूटी॥
'अस्तु अस्तु' साथी सब बोले। अंध जो अहे नैन बिधि खोले॥
कँवल बिगस तहँ बिहँसी देही। भंवर दसन होइ होइ रस लेहीं॥
हँसहिं हंस औ करहिं किरीरा। चुनहिं रतन न मुकताहल हीरा॥
जौं अस साधि आव तप जोगू। पूजै आस, मान रस भोगू॥
भँवर जो मनसा मानसर, लीन्ह कँवल रस आइ।
घुन जो हियाव न कै सका, झूर काठ तस खाइ॥ १५८॥

शब्दार्थ—पुरइनि = कमल का पत्ता। मसि = स्याही, अंधेरा। भिनुसार = प्रातःकाल। अस्तु अस्तु = है है। किरीरा = क्रीड़ा, खेल। मुकताहल = मुक्ताफल, मोती। मनसा = मन में संकल्प किया। हियाव = साहस। झूर = सूखा।

अर्थ—अन्त में वे सातवें समुद्र मानसर पर आ गये। जो तपस्या उन्होंने की उसके फलस्वरूप उन्होंने सिद्धि प्राप्त की। मानसर के सुन्दर रूप को देख कर उनका हृदय प्रफुल्लित हो कर कमल पत्र के समान खिल गया। अँधेरी दूर हुई, रात बीती, प्रातः हुआ और सूर्य की किरणें फूट पड़ीं—अर्थात् निराशा और दुःख का काल बीता, सुख और आशा का दिन आया। सब साथी लोग बोले, प्रसन्नता से बोले कि 'वह है', 'वह है' जो अभी तक अंधे थे उनकी आँखें ब्रह्मा ने खोल दीं। भाव यह कि योगी लोग अज्ञानान्धकार को पार कर गये—उनकी ज्ञान-दृष्टि हो गयी, उन्हें ईश्वर का प्रकाश दिखाई पड़ने लगा। उनके मुखरूपी कमल विकसित हो गये और मिस्सी लगे हुए दाँत भौंरे के समान मानो उसमें बैठे हुए कमल का रस ले रहे हैं। मानसर में हंस लोग हँसते हैं और क्रीड़ायें करते हैं और रत्न, मोती और हीरा चुनते हैं। कवि कहता है कि जो इस प्रकार का तप और जोग साध कर आता है उसकी आशायें पूरी होती हैं और वह इसका भोग करता है। जिस भौंरे ने कमल से मिलने का दृढ़ संकल्प किया वही आकर कमल का रस प्राप्त करता है, पर घुन जिसमें कोई साहस नहीं होता वह सूखे काठ को ही खाता रहता है।

*टिप्पणी—जायसी ने मानसर समुद्र की कल्पना स्वयं की है। मानसरोवर कैलाश के पास है। कैलाश पर शंकर जी का निवास है। जायसी ने सिंहल को कैलाश (कबिलास) कहा है। इसलिए उन्होंने उसके समीप मानसर समुद्र की कल्पना कर डाली। आध्यात्मिक पक्ष में भी मानसर, योगाभ्यास (मन की साधना) का अन्तिम स्थल है। मानसर से ही योगी परमेश्वर का साक्षात्कार करने लगता है। तभी तो जोगी बोल उठे—"अस्तु, अस्तु"। हंस का तात्पर्य जीवात्मा से लगाया जाता है। परमेश्वर के साक्षात्कार में उसका परमानन्द का प्राप्त करना ही मोती और हीरा चुगना और क्रीड़ा करना है।*

अलंकार—रूपक और समासोक्ति।

———

## १६. सिंहलद्वीप-खण्ड

[ १५६ ]

पूँछा राजैं कहु गुरु सुवा। न जनौं आजु कहाँ दिन उवा॥
पवन बास सीतल लै आवा। कया डहत जनु चंदन लावा॥
कबहुं न ऐस जुड़ान सरीरू। परा अगिनि महँ मलै समीरू॥
निकसत आव किरिन रवि रेखा। तिमिर गए जग निरमर देखा॥
उठे मेघ अस जानहुं आगें। चमकै बीजु गँगन पर लागें॥
तेहि ऊपर जस ससि परगासू। औ सो कचपचिन्ह भएउ गरासू॥
और नखत चहुँ दिसि उजिआरे। ठाँवहिं ठाँव दीप अस बारे॥
औरु दखिन दिसि निअरें, कंचन मेरु देखाव।
जस बसंत रितु आवै, तस बास जग पाव॥ १५६॥

शब्दार्थ—कया = काया, शरीर। डहत = दहत, जलते हुए। लावा = लगाया। निरमर = निर्मल। कचपचिन्ह = कृत्तिका नक्षत्र–एक कई तारों का समूह। गरासू = घेर लिया है। बारे = जलाये। निअरे = निकट। बास = सुगंधि।

अर्थ—राजा रत्नसेन ने तोते से कहा कि हे गुरु सुआर बताओ—न जाने कहाँ आज सूर्य उदय हुआ है अर्थात् पता नहीं कहाँ हम आज सौभाग्य से पहुँचे हैं। पवन शीतल सुगंध ला रहा है, ऐसा जान पड़ता है मानो जलती हुई देह पर चन्दन लगाया गया है। कभी भी शरीर को ऐसी ठंडक नहीं मिली। मानो अग्नि में मलयगिरि की हवा लग रही है। सूर्य की किरणों की रेखा निकल रही है। अंधेरा दूर हो गया है और सारा संसार निर्मल दिखाई पड़ रहा है। सामने उठते हुए बादल से दिखाई पड़ रहे हैं और आकाश पर बिजली चमकती प्रतीत होती है। उसके ऊपर चन्द्रमा का प्रकाश प्रकाशित है और उसके चारों ओर कृत्तिका नक्षत्र ने घेर रक्खा है। और भी बहुत से प्रकाशित नक्षत्र हैं जैसे जगह-जगह पर दीपक जल रहे हों। दक्षिण

दिशा के पास सोने का सुमेरु पर्वत दिखाई पड़ रहा है, संसार को ऐसी सुगंध मिल रही है जैसे वसन्त ऋतु आ रहा हो।

*टिप्पणी—योग मार्ग में सिद्धि प्राप्ति के पूर्व आनन्द का आविर्भाव होता है, अनहद नाद सुनाई पड़ता है, ज्ञान का प्रकाश सर्वत्र दिखाई पड़ता है, सारे वातावरण में उल्लास और दैवी सुगन्ध आती है। कबीर ने इसी स्थिति का निरूपण इस प्रकार किया है—*

*"गगन गरजि बरसै अमी, बादल गहर गम्भीर।*
*चहुं दिसि दमकै दामिनी, भीजै दास कबीर॥"*

*उसी उल्लासमय स्थिति का निरूपण जायसी ने उक्त पद में किया है।*

**अलंकार—समासोक्ति।**

[ १६० ]

तूँ राजा जस बिक्रम आदी। तूँ हरिचन्द बैन सत बादी॥
गोपिचन्द तूँ जीता जोगाँ। औ भरथरी न पूज बियोगाँ॥
गोरख सिद्धि दीन्हि तोहि हाथू। तारे गुरु मछिंदर नाथू॥
जीता प्रेम तूँ पुहुमि अकासू। दिस्टि परा सिंघल कबिलासू॥
वै जो मेघ गढ़ लाग अकासा। बिजरी कनै कोट चहुँ पासा॥
तेहि पर ससि जो कचपचिन्ह भरा। राजमँदिर सोनै नग जरा॥
और जो नखत कहसि चहुँ पासा। सब रानिन्ह के आहिं अवासा॥
गँगन सरोवर, ससि कँवल, कुमुद तराईं पास।
तूँ रबि उवा जो भँवर होइ, पवन मिला लै बास॥ १६०॥

**शब्दार्थ—आदी = बिलकुल। बैन = वचन। गोपिचन्द = राजा गोपीचन्द जो राज छोड़ कर जोगी हो गये थे। भरथरी = राजा भर्तृहरि जो योगी हो गये थे। गोरख = गुरु गोरखनाथ। मछिन्दर = मत्स्येन्द्रनाथ, गुरु गोरखनाथ के गुरु। कनै = कनक, सोना। जरा = जड़ा हुआ। अवासा = आवास, महल।**

**अर्थ—हीरामनि तोते ने कहा कि हे राजा! तुम बिलकुल राजा विक्रमादित्य के समान हो और वचनों में सत्यवादी हरिश्चन्द्र ही हो। तूने जोग में राजा गोपीचन्द को भी जीत लिया और तुम्हारे वियोग के सामने राजा**

भर्तृहरि भी नहीं पूरा हो सकता। गुरु गोरखनाथ ने तेरे हाथ सिद्धि दी है और गुरु मत्स्येन्द्रनाथ ने तुझे तार दिया। तू ने प्रेम के बल पर सारी पृथ्वी और आकाश को जीत लिया और कैलाश रूपी सिंहल दिखाई पड़ रहा है। वे जो आकाश में बादल दिखाई पड़ रहे हैं वह राजा का गढ़ है और जो बिजली मालूम हो रही है वह सोने का कोट चारों ओर दिखाई पड़ता है। उसके ऊपर जो चन्द्रमा और कृत्तिका नक्षत्र मालूम पड़ते हैं, वे राज महल हैं जिनमें सोने और हीरे जड़े हैं, और जो तुम चारों ओर नक्षत्र कह रहे हो, वे सब रानियों के महल हैं। सुगंध के सम्बन्ध में तोता कहता है कि—आकाश रूपी सरोवर में शशि रूपी कमल और तारागण रूपी कुमुदिनियों के पास तू भौंरा होकर निकला है इसलिए पवन सुगन्ध लेकर तुझसे मिल रहा है।" भाव यह है कि सिंहल सरोवर है जिसमें पद्मावती कमल सी कुमुदिनी सखियों के साथ खिली है और रत्नसेन रूपी भौंरा उससे मिलने जा रहा है।

अलंकार—साङ्ग रूपक।

[ १६१ ]

सो गढ़ देखु गँगनु तें ऊँचा। नैन देख, कर नाहिं पहूँचा॥
बिजुरी चक्र फिरै चहुँ फेरी। औ जमकात फिरै जम केरी॥
धाइ जो बाजा कै मन साधा। मारा चक्र भएउ दुइ आधा॥
चंद सुरुज औ नखत तराईं। तेहि डर अँतरिख फिरैं सबाईं॥
पवन जाइ तहँ पहुँचै चहा। मारा तैस टूटि भुइँ बहा॥
अगिनि उठी, जरि बुझी निआना। धुआँ उठा, उठि बीच बिलाना॥
पानि उठा उठि जाइ न छुवा। बहुरा रोइ, आइ भुइँ चुवा॥
रावन चहा सौंहँ होइ हेरा, उतरि गए दस माँथ।
संकर धरा लिलाट भुइँ, औरु को जोगी नाथ॥ १६१॥

शब्दार्थ—जमकात (यमकर्त्तरी) = यम की कटार। अँतरिख = अँतरिक्ष। बाजा = लड़ गया। सबाईं = सभी। तैस = ऐसा। जरि = जल कर। निआना = निदान, अंत। बिलाना = नष्ट हो गया। बहुरा = लौटा। सौंह = सामने। नाथ = नाथ सम्प्रदाय का योगी।

अर्थ—तोता कहता जाता है कि—उस सिंहलगढ़ को देखो जो कि आकाश से भी ऊँचा है। आँख तो देख सकती है पर हाथ वहाँ तक नहीं पहुँच सकता। बिजली के समान चक्र चारों ओर फिरता है, यमराज का खाँडा फिरा करता है, पर ज्योंही वह चक्र से लड़ गया कि चक्र के मारने से यम का खाँडा दो टुकड़े हो गया। उस चक्र के डर से चन्द्रमा, सूर्य, नक्षत्र और तारे सभी आकाश में फिरते रहते हैं। हवा ने जाकर उसके समीप पहुंचना चाहा पर उसने भी ऐसी मार मारी कि वह टूट कर भूमि पर बहने लगी। अग्नि भी उसके समक्ष जल उठी, पर अन्त में बुझ गई, उसका धुआँ उठा पर वहाँ तक न पहुँच सका, बीच में ही नष्ट हो गया। पानी उठा पर वह उसको छू न सका. लौटा और रोने लगा, इसीलिए आँसू के रूप में ज़मीन पर टपकने लगा। रावण ने सामने होकर उसे देखना चाहा तो उसके दशों सिर कट गये। शंकर जी ने भी उसके सामने अपने मत्थे को ज़मीन पर टेक दिया तो और कोई जोगी-संन्यासी की क्या बात है।

[ १६२ ]

तहाँ देखु पदुमावति रामा। भँवर न जाइ, न पंखी नामा॥
अब सिधि एक देउँ तोहि जोगू। पहिलें दरस होइ, तब भोगू॥
कंचन मेरु देखावासि जहाँ। महादेव कर मंडप तहाँ॥
ओहिक खंड जस परवत मेरू। मेरुहि लागि होइ अति फेरू॥
माघ मास, पाछिल पख लागें। सिरी पंचिमी होइहि आगें॥
उघरिहि महादेव कर बारू। पूजिहि जाइ सकल संसारू॥
पदुमावति पुनि पूजै आवा। होइहि एहि मिसु दिस्टि मेरावा॥
तुम्ह गवनहु मंडप ओहि, हौं पदुमावति पास।
पूजै आइ बसंत जौं, पूजै मन कै आस॥ १६२॥

शब्दार्थ—रामा = सुन्दरी। पख = पक्ष। सिरी = वसन्त। उघरहि = खुलेगा। बारू = द्वार। मिसि-मिसु = बहाने। मेरावा = मिलाप।

अर्थ—तोता कहता है कि देखो वहाँ सुन्दरी पद्मावती है, उसके पास भौंरा या पक्षी का नाम भी नहीं जा सकता। अब मैं तुझे जोग की एक सिद्धि दे रहा हूं। पहले दर्शन होगा फिर आनन्द प्राप्त होगा। जहाँ तुम सोने

का सुमेरु पर्वत दिखा रहे हो वहीं पर शंकर जी का मन्दिर है। उसी के खंड मेरु पर्वत के समान हैं। उस सुमेरु पर चढ़ने में अनेक चक्कर करने पड़ते हैं। माघ मास के पिछले पक्ष अर्थात् शुक्ल पक्ष में वसन्त पंचमी होगी। उस दिन शंकर जी के मन्दिर का दरवाज़ा खुलेगा और सारा संसार शंकर-पूजन के लिए जायेगा। पद्मावती भी पूजन के लिए आयेगी, उसी के बहाने तुम्हें दृष्टि-मिलाप मिलेगा, अर्थात् तुम दोनों परस्पर देखोगे। तुम उसी मन्दिर के लिए प्रस्थान करो और मैं पद्मावती के पास जाता हूं। जब वह वसन्त पूजने आयेगी तभी तेरे मन की आशा पूरी होगी।

[ १६३ ]

राजैं कहा दरस जौं पावौं। परबत काह, गँगन कहँ धावौं॥
जेहि परबत पर दरसन लहना। सिर सौं चढ़ौं, पाय का कहना॥
मोहि भाव ऊँचै सो ठाऊँ। ऊँचे लेउँ प्रीतम के नाऊँ॥
पुरुषहि चाहिअ ऊँच हिआऊ। दिन दिन ऊँचे राख पाऊ॥
सदा ऊँच सेइअ पै बारू। ऊँचे सौं कीजै बेवहारू॥
ऊँचे चढ़े ऊँच खँड सूझा। ऊँचे पास ऊँचि बुधि बूझा॥
ऊँचे संग संग निति कीजै। ऊँचे काज जीव बलि दीजै॥
दिन दिन ऊँच होइ सो, जेहि ऊँचे पर चाउ।
ऊँचे चढ़त परिअ जौं, ऊँच न छाड़िअ काउ॥ १६३॥

शब्दार्थ—काह = क्या। लहना = पाना। पाय = पैर। हिआऊ = साहस। बारू = द्वार। बूझा = समझता है। परिअ-पाठान्तर-खसि परै = गिर पड़े।

अर्थ—राजा ने कहा यदि मैं पद्मावती का दर्शन पाऊँ तो पर्वत क्या आकाश पर भी दौड़ सकता हूं। जिस पहाड़ पर उसका दर्शन मिलेगा उस पर पैर की कौन कहे सिर के बल चढ़ सकता हूँ। मुझे भी वह ऊँचा स्थान अच्छा लगता है और उच्चस्वर से ही प्रिय का नाम लेता हूँ। पुरुष का साहस बड़ा होना चाहिए, उसे दिन प्रति दिन ऊँचे पैर रखते जाना चाहिए। सदा उच्च व्यक्ति के द्वार की ही सेवा करनी चाहिए और ऊँचे व्यक्ति से ही

व्यवहार रखना चाहिए। ऊँचा चढ़ने से उच्च स्थान ही दिखाई पड़ता है और उच्च व्यक्ति के साथ श्रेष्ठ बुद्धि समझ में आती है। बड़े व्यक्ति के साथ ही संग करना चाहिए और श्रेष्ठ कार्य के लिए अपने जीवन की बलि तक दे देनी चाहिए। जिसकी ऊँचे स्थान पर रुचि होती है वही दिन प्रति दिन ऊँचा चढ़ता जाता है। यदि उच्च स्थान पर चढ़ते समय गिर भी पड़े तो भी उच्च भावना को न छोड़ना चाहिए।

*टिप्पणी—जायसी प्रियतम और प्रियतमा में कोई अन्तर नहीं मानते थे। प्रायः रत्नसेन के द्वारा उन्होंने पद्मावती के लिए प्रीतम शब्द का प्रयोग किया है—आध्यात्मिक अर्थ में प्रभु या ईश्वर के अर्थ में तो इसकी संगति ठीक बैठ जाती है।*

[ १६४ ]

हीरामनि दै बचा कहानी। चला जहाँ पदुमावति रानी॥
राजा चला सँवरि सो लता। परबत कहँ जो चला परबता॥
का परबत चढ़ि देखै राजा। ऊँच मँडप सोनै सब साजा॥
अंब्रित फर सब लाग अपूरी। औ तहँ लागि सजीवनी मूरी॥
चौमुख मंडप चहूँ केवारा। बैठें देवता चहूँ दुआरा॥
भीतर मँडप चारि खम्भ लागे। जिन्ह वै छुए पाप तिन्ह भागे॥
सङ्ख घंट घन बाजहिं सोई। औ बहु होम जाप तहँ होई॥

महादेव कर मंडप, जगत जातरा आउ।
जो हिंछा मन जेहिं कें, सो तैसैं फल पाउ॥ १६४॥

शब्दार्थ—बचा = वचन। कहानी = आदेश, व्यवस्था। लता = पद्म-लता-पद्मावती। परबत = गढ़। परबत = तोता। अंब्रित = अमृत। फर = फल। अपूरी = परिपूर्ण। जातरा = यात्रा, तीर्थ यात्रा। हिंछा = इच्छा।

अर्थ—हीरामनि तोता वचन देकर तथा सभी व्यवस्था बना कर जहाँ रानी पद्मावती थी वहां के लिए चल पड़ा। राजा भी उस पद्मावती को स्मरण करता हुआ चला। तोते ने सिंहल गढ़ को प्रस्थान किया। पर्वत पर चढ़कर क्या देखता है कि राजा का ऊँचा महल है जिसमें सभी साज सोने

के हैं। सभी अमृत फल वहाँ परिपूर्ण रूप से लगे हैं, साथ ही वहां संजीवन मूल भी लगी है। महल के चार दरवाजे हैं जिनमें किवाड़ें लगी हैं और दरवाजों पर देवता लोग बैठे हैं। महल के भीतर चार खम्भे लगे हैं, जो उन खम्भों को छूता है उसके पाप नष्ट हो जाते हैं। शंख और घंटे बादल की गरज के समान बजते रहते हैं और बहुत हवन, जप, यज्ञ आदि होते रहते हैं। यहीं पर महादेव जी का मन्दिर है जहाँ सारा संसार तीर्थयात्रा के लिये आता है, जो जिसकी इच्छा होती है वह वैसा फल पाता है।

*टिप्पणी—जायसी प्रत्येक स्थल पर आध्यात्मिक संकेत करते जाते हैं। स्पष्ट है उक्त वर्णन ईश्वर के ही स्थान का द्योतन करता है। अमृत फल, संजीवन मूरि, चार द्वार (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) प्रत्येक पर देवताओं का निवास, संसार का सर्वश्रेष्ठ तीर्थ—आदि इसी लिए प्रयुक्त हुए हैं।*

---

# १७. मण्डप-गमन-खण्ड

[ १६५ ]

राजा बाउर बिरह वियोगी। चेला सहस बीस सँग जोगी॥
पदुमावति के दरसन आसा। दँडवत कीन्ह मँडप चहुँ पासा॥
पुरुब बार होइ कै सिर नावा। नावत सीस देव पहँ आवा॥
नमो नमो नारायन देवा। का मोहिं जोग, सकौं कर सेवा॥
तूँ दयाल सब के उपराहीं। सेवा केरि आस तोहि नाहीं॥
ना मोहि गुन, न जीभ रस बाता। तू दयाल, गुन निरगुन दाता॥
पुरवौ मोरि दास कै आसा। हौं मारग जोवौं हर स्वाँसा॥

तेहि विधि बिनै न जानौं, जेहि बिधि अस्तुति तोरि।
करु सुदिस्टि औ किरिपा, हिंछा पूजै मोरि॥ १६५॥

शब्दार्थ—बाउर = बावला, पागल। पुरुब = पूर्व। बार = द्वार। उपराहीं = ऊपर, श्रेष्ठ। निरगुन = बिना गुण वाला। पुरवौ = पूरा करो। हौं = मैं। जोवौं = देखता हूँ।

अर्थ—राजा रत्नसेन विरह से बावला हो रहा था। उसके साथ बीस हजार चेला जोगी थे। पद्मावती के दर्शन की आशा से मन्दिर के चारों ओर दण्डवत् किया। पूर्व दिशा वाले दरवाजे पर सिर नवाता हुआ देवता के पास आया और कहने लगा कि "हे नारायण देव! आपको बारम्बार नमस्कार है, मैं किस योग्य हूँ, जो सेवा कर सकूँ। तू दयालु है और सबसे श्रेष्ठ है, तुझको तो किसी की सेवा की कोई आशा नहीं है। न मुझ में कोई गुण है और न जिह्वा में रस युक्त बात है, तुम दयालु हो, गुणी और निर्गुणी दोनों को देने वाले हो। मुझ दास की इच्छा पूरी करो, मैं हर श्वास में (प्रति क्षण) उसका मार्ग देख रहा हूं, जिस प्रकार आपकी स्तुति करनी चाहिए वह विधि मैं नहीं जानता। मुझ पर सुदृष्टि और कृपा कीजिए जिससे मेरी अभिलाषा पूरी हो।

[ १६६ ]

कै अस्तुति जौं बहुत मनावा। सबद अकूट मँडप महँ आवा॥
मानुस पेम भएउ बैकुंठी। नाहिं त काह, छार एक मूँठी॥
पेमहि माहँ बिरह औ रसा। मैन के घर मधुर अम्रित बसा॥
निसत धाइ जौं मरै तो काहा। सत जौं करै बैसेइ होइ लाहा॥
एक बार जौं मनु कै सेवा। सेवहि फल परसन होइ देवा॥
सुनि कै सबद मँडप झनकारा। बैठा आइ पुरुब के बारा॥
पिंड चढ़ाइ छार जेति आँटी। माँटी होउ अन्त जौं माँटी॥

माँटी मोल न किछु लहै, औ माँटो सब मोल।
दिस्टि जो माँटी सों करै, माँटी होइ अमोल॥ १६६॥

शब्दार्थ—अकूट-पाठान्तर-अकूत = आप से आप। छार = मिट्टी। मैन (मदन) = कामदेव, प्रेम। निसत = बिना सत के। धाइ = दौड़ कर। बैसेइ = बैठे-बैठे ही। लाहा = लाभ। पिंड = शरीर। जेति = जितनी। आँटी = समाई।

अर्थ—जब राजा ने स्तुति करके बहुत मनाया तब मंडप में से अपने आप शब्द आया कि "मनुष्य प्रेम से वैकुण्ठ-वासी हो जाता है, नहीं तो वह क्या है एक मुट्ठी मिट्टी मात्र है। प्रेम में ही विरह और रस है; प्रेम में ही मधु और अमृत है। बिना सत के दौड़ कर मर गया तो क्या और यदि सत से कार्य करे तो बैठे-बैठे ही लाभ हो जाता है। एक बार यदि मन लगा कर सेवा की जाय तो उस सेवा से देवता प्रसन्न हो जाता है।" इस शब्द को सुन कर मन्दिर झंकार से भर गया और राजा पूर्व के दरवाजे पर आकर बैठ गया। जितनी मिट्टी हाथ में समाई उसे लेकर उसने अपने शरीर पर लगा लिया क्योंकि आखिर शरीर मिट्टी ही तो है और अन्त में भी मिट्टी हो जायगा। मिट्टी का मूल्य तो कुछ नहीं होता पर मिट्टी ही से सब वस्तुओं का मूल्य होता है। जो व्यक्ति मिट्टी की ओर दृष्टि करता है अर्थात् संसार के सारे माया मोह को मिट्टी समझता है और अपने को भी मिट्टी में ही मिलाने का उद्देश्य रखता है तो यह मिट्टी (नर देह) अमूल्य बन जाती है।

*टिप्पणी—जायसी जी मिट्टी का प्रसंग आते ही शरीर और मानव-जीवन की अनित्यता और निर्मूल्यता पर व्यंग करते हैं। 'माटी' शब्द में यमक अलंकार भी होगा।*

[ १६७ ]

बैठ सिंघ छाला होइ तपा। पदुमावति पदुमावति जपा।
दिस्टि समाधि ओहि सौं लागी। जेहि दरसन कारन बैरागी॥
किंगरी गहे बजावै झूरै। भोर साँझ सिंगी निति पूरै॥
कंथा जरै, आगि जनु लाई। बिरह धँधार जरत न बुझाई॥
नैंन रात निसि मारग जागें। चकित चकोर जानु ससि लागें॥
कुंडल गहें सीस भुइँ लावा। पाँवरि होउँ जहाँ ओहि पावा॥
जटा छोरि के बार बोहारौं। जेहि पँथ होइ सीस तहँ वारौं॥
चारिहुँ चक्र फिरै मन खोजत, डँड न रहै थिर मार।
होइ के भसम पवन सँग धावौं, जहाँ सो प्रान अधार॥ १६७॥

शब्दार्थ—छाला = चर्म। किंगरी = सारंगी, चिकारा। झूरै = व्यर्थ। धँधार = ज्वाला। रात = लाल। पाँवरी = जूती। पावा = पैर। बार = द्वार। बोहारौं = झाड़ू दूँ। डँड = पल। थिर मार = स्थिर होकर।

अर्थ—राजा शेर के चमड़े पर बैठकर तपस्या करने लगा और पद्मावती-पद्मावती जपने लगा। ध्यान की अवस्था में उसने अपनी दृष्टि उसी पर लगाई जिस के दर्शन के कारण वह वैरागी बना है। चिकारा लिए हुए वह व्यर्थ ही बजाया करता तथा प्रातः सायं सदा सिंगी पर स्वर किया करता। हृदयस्थित विरह की ज्वाला से उसकी गूदड़ी ऐसी जलती है जैसे आग लग गयी हो, विरह की ज्वाला बुझाये नहीं बुझती। रास्ते में रात में भी जगने के कारण उसके नेत्र लाल थे मानो चकोर पक्षी चन्द्रमा की ओर एकटक से देख रहा हो। अपने कुण्डलों पर हाथ रखे हुए राजा भूमि पर सिर लगाये हुए रहता है कि जहाँ उसके पैर हैं वहाँ मैं उसकी जूती बन जाऊँगा। अपने सिर की जटा खोल कर उससे उसके दरवाजे पर झाड़ू दूँगा और जिस राह पर वह चलेगी उस पर अपने सिर को निछावर कर दूँगा। चारों दिशाओं में मेरा मन उसे खोजता फिरता है। एक पल भी स्थिर हो कर नहीं ठहरता। मैं तो भस्म बन कर पवन के साथ वहाँ उड़ कर जा सकता हूँ, जहाँ मेरे प्राणों का आधार पद्मावती है।

# १८. पदमावती-वियोग-खण्ड

[ १६८ ]

पदुमावति तेहि जोग सँजोगाँ। परी पेम बस गहें बियोगाँ॥
नींद न परै रैनि जौं आवा। सेज केवाँछ जानु कोइ लावा॥
दहै चाँद औ चंदन चीरू। दगध करै तन बिरह गँभीरू॥
कलप समान रैनि हठि बाढ़ी। तिल तिल मरि जुग जुग बर गाढ़ी॥
गहै बीन मकु रैनि बिहाई। ससि बाहन तब रहै ओनाई॥
पुनि धनि सिंघ उरेहै लागै। ऐसी बिथा रैनि सब जागै॥
कहाँ सो भँवर कँवल रस लेवा। आइ परहु होइ घिरिनि परेवा॥

सो धनि बिरह पतंग होइ, जरा चाह तेहि दीप।
कंत न आवहु भृङ्गि होइ, को चन्दन तन लीप॥ १६८॥

शब्दार्थ—संजोगाँ = प्रभाव से। केंवाछ = कपिकच्छ, एक बेल की फली जिसके शरीर में स्पर्श होने से बड़ी खुजली होती है। चीरू = साड़ी। कलप = चारों युगों का एक कल्प होता है। मकु = शायद। बिहाई = बीते। बाहन = सवारी। ओनाई = झुके, ठहरे हुए। उरेहै = दीवार पर चित्र बनाना। घिरिनि परेवा = गिरहबाज कबूतर। धनि = स्त्री। भृङ्गि = वह कीड़ा जो पतंगे को अपने रङ्ग का बना लेता है।

अर्थ—कवि कहता है कि—पद्मावती राजा रत्नसेन के योग के प्रभाव से उसके प्रेमवश हो गयी, उसे वियोग सताने लगा। रात्रि में उसे नींद नहीं लगती, शय्या ऐसी मालूम होती है जैसे उसमें किसी ने केंवाछ लगा दिया है। उसको चन्द्रमा, चन्दन और साड़ी, जो शीतल और सुखदायी होते हैं, जलाते हैं और गंभीर विरह सारे शरीर को जलाता है। रात कल्प के समान बड़ी मालूम होती है। क्षण-क्षण का समय युग-युग के समान बड़ी कठिनाई से कटता है। जब रात नहीं कटती तो वीणा(१) ले लेती है कि शायद सङ्गीत

में रात कट जाय, पर वीणा का स्वर सुनकर चन्द्रमा का वाहन मृग स्वर पर मुग्ध होकर ठहर गया। इस प्रकार रात का बीतना और कठिन हो गया क्योंकि चन्द्रमा का रथ ही रुक गया। ऐसा देख कर पद्मावती दीवार पर सिंह का चित्र बनाने लगी जिससे सिंह से डर कर चन्द्रमा का वाहन मृग चल पड़े। इस प्रकार विरह की व्यथा में वह सारी रात जागा करती है। वह कहती है कि कमल के रस को लेने वाले भौंरे तुम कहाँ हो, तुम इस प्रकार शीघ्र ही आओ जैसे गिरहबाज कबूतर (२) अपनी कबूतरी पर ऊपर से टूट पड़ता है।

जायसी कहते हैं कि वह स्त्री पद्मावती विरह से पतङ्ग बन कर रत्नसेन रूपी दीपक पर जलना चाहती है और कहती है कि हे प्रियतम! तुम उस भृङ्गी कीड़े के समान क्यों नहीं आते जो पतंगे को अपने रङ्ग में बदल देता है। मैं विरह से जल रही हूँ, कौन आकर चन्दन के लेप द्वारा मुझे शान्ति दे।

*टिप्पणी—महाकवि सूरदास जी ने भी इन उत्प्रेक्षाओं का प्रयोग किया है—*

*१—दूर करहु बीना कर धरिबो,*
*मोहे मृग नाहीं रथ हाँक्यो, नाहिन होत चन्द को टरिबो।*
*२—प्रीति परेवा की गनो, चाहत चढ़न आकाश।*
*झुकत छाँड़ि निज साँस॥*

अलंकार—हेतूत्प्रेक्षा, उपमा, रूपक।

[ १६६ ]

परी बिरह बन जानहुँ घेरी। अगम असूझ जहाँ लगि हेरी॥
चतुर दिसा चितवै जनु भूली। सो बन कहँ जो मालती फूली॥
कँवल भंवर ओही बन पावै। को मिलाइ तन तपनि बुझावै॥
अंग अनल अस कँवल सरीरा। हिय भा पियर पेम की पीरा॥
चहै दरस, रवि कीन्ह बिगासू। भँवर दिस्टि महँ कै सो अकासू॥
पूँछै धाइ, बारि कहु बाता। तूँ जस कँवल करा रँग राता॥
केसरि बरन हिया भा तोरा। मानहुँ मनहिं भएउ कछु फोरा॥
पवनु न पावै संचरै, भँवर न तहाँ बईठ।
भूलि कुरंगिनी कसि भइ, मनहुँ सिंघ तुइ डीठ॥ १६६॥

शब्दार्थ— हेरी = देखते हैं। चतुर = चारों। चितवै = देखें। पियर = पीला। धाइ = धाय। बारि = बाला। फोरा = फोड़ना, विभ्रम। संचरै = संचरण करना। बईठ = बैठा। कुरंगिनी = हिरनी। डीठ = देखा। तुइ = तुझे।

अर्थ—पद्मावती विरह से इस अवस्था में है जैसे चारों ओर वन में घिरी है और जहाँ तक देखती एक दम अगम और असूझ ही दिखाई पड़ता है। चारों दिशाओं में देख रही है जैसे भ्रम में पड़ी है। वह वन कहाँ है जहाँ मालती फूली है। अर्थात् जहाँ उसका प्रेमी मिला है और वह अपने प्रियतम के मिलन से प्रसन्न है और कमल ( पद्मावती ) अर्थात् मुझे भी उसी वन में भौंरा ( रत्नसेन ) पायेगा। कौन मुझे उससे मिला कर मेरे शरीर की जलन को बुझायेगा ? कमल के समान उसका शरीर आग हो गया है और उसका हृदय प्रेम की पीड़ा से पीला हो गया है। कमल के अन्दर भी पीले रंग का छाता होता है। वह रवि रूपी रत्नसेन का दर्शन करना चाहती है जिससे उसमें विकास हो इसलिए अपनी पुतलियों रूपी भौंरे को वह आकाश पर लगाये हुए है। उसकी यह दशा देख कर उसकी धाय ने उससे कहा कि हे लड़की ! तू बता कि तू तो कमल की कली के समान लाल थी। अब तेरा हृदय केसर के समान पीला हो गया है ऐसा प्रतीत होता है कि तेरे मन में कुछ फोड़-फाड़ है। यहाँ पर हवा का भी संचार नहीं है। भौंरा बैठा नहीं, तो तू भूली हुई सी उस हिरनी के समान क्यों हो गयी है जिसने सिंह को देख लिया है।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

[ १७० ]

धाई सिंघ बरु खातेउ मारी। कै तसि रहति अही जसि बारी॥
जोवन सुनेउँ कि नवल बसन्तू। तेहि वन परेउ हस्ति मैमन्तू॥
अब जोवन बारी को राखा। कुंजर बिरह बिधाँसै साखा॥
मैं जाना जोवन रस भोगू। जोवन कठिन सँताप वियोगू॥
जोवन गरुअ अपेल पहारू। सहि न जाइ जोवन कर भारू॥
जोवन अस मैमंत न कोई। नवै हस्ति जौं आँकुस होई॥

जोवन भर भादौं जस गंगा। लहरैं देइ, समाइ न अंगा॥
परी अथाह, धाइ हौं, जोवन उदधि गम्भीर।
तेहिं चितवौं चारिउं दिसि, को गहि लावै तीर॥ १७० ॥

शब्दार्थ—बरु = चाहे। मैमन्तू = मदमत्त, मतवाला। बारी = बच्ची। बारी = वाटिका। बिधाँसै = विध्वंस करता है। अपेल = न ठेलने योग्य। चितवौं = देख रही हूं।

अर्थ—पद्मावती ने उत्तर दिया कि हे धाय! चाहे सिंह मुझे मार कर खा डालता, मैं तो वैसी ही रहती जैसी बचपन में थी। मैंने सुना था कि जवानी नव-वसन्त के समान मनुष्य के जीवन में आती है, पर अब तो उस वन में मतवाला हाथी घुस गया है। अब उस यौवन रूपी वाटिका की रक्षा कौन करे, क्योंकि विरह रूपी हाथी उसकी शाखाओं को नष्ट कर रहा है। मैंने तो समझा था कि जवानी रस और भोग आदि के लिये है पर अब अनुभव कर रही हूँ कि जवानी तो वियोग का कठिन संताप सहने के लिए है। जवानी एक बड़ा भारी न ठेलने योग्य पहाड़ है और इसका भार सहा नहीं जा सकता। जवानी के समान मदमत्त कोई नहीं होता। यह यौवनरूपी हाथी तभी झुक सकता है जब इसके रोकने वाला अंकुश हो। भादों को भरी हुई गंगा के समान जवानी लहरें देती रहती है और अंगों में नहीं समाती। हे धाय! मैं तो इस अथाह और गंभीर यौवन-सागर के बीच पड़ गयी हूं इसलिए अब चारों दिशाओं में उसे देख रही हूँ जो मेरी बाँह पकड़ कर किनारे निकाल ले।

अलंकार—साङ्ग रूपक और यमक ( बारी = वाटिका, बाला )

[ १७१ ]

पदुमावति तूँ सुबुधि सयानी। तोहिं सरि समुँद न पूजै रानी॥
नदी समाहिं समुँद महँ आई। समुँद डोलि कहु कहाँ समाई॥
अबहीं कँवल करी हिय तोरा। आइहि भँवर जो तो कहँ जोरा॥
जोवन तुरैं हाथ गहि लीजै। जहाँ जाइ तहँ जाइ न दीजै॥
जोवन जो रे मतँग गज अहै। गहु गिआन जिमि आँकुस गहै॥

अबहिं बारि तूँ पेम न खेला। का जानसि कस होइ दुहेला॥
गँगन दिस्टि करु जाइ तराहीं। सुरुज देखि कर आवै नाहीं॥

जब लगि पीउ मिलै तोहिं, साधु पेम कै पीर॥
जैसें सीप सेवाति कहँ, तपै समुँद मँझ नीर॥ १७१॥

शब्दार्थ—सरि = बराबर। जोरा = मिलेगा। तुरै = घोड़ा। मतँग = मातंग, मतवाला। अहै = है। बारि = लड़की। दुहेला = कठिन खेल। तराही = तारागण। साधु = साधना करो।

अर्थ—धाय ने कहा कि हे पद्मावती तू सुबुद्धि और चतुर है, तेरे समान हे रानी, समुद्र भी नहीं हो सकता। नदियाँ आकर समुद्र में समा जाती हैं, भला बताओ कि समुद्र यदि चले तो वह कहाँ समायेगा। अभी तेरा हृदय कमल की कली के समान है, भौंरा आकर तुमसे अवश्य मिलेगा। यौवन रूपी घोड़े को अपने हाथ में करके रखो जहाँ यह जाना चाहे वहाँ इसे मत जाने दो। यदि जवानी मतवाले हाथी के समान है तो ज्ञान रूपी अंकुश को पकड़ो। अभी तू लड़की है, तूने प्रेम का खेल नहीं खेला है, तू क्या जाने कि प्रेम का खेल कितना कठिन होता है। आकाश की ओर दृष्टि डालो। सारे तारागण सूर्य को देख कर नष्ट हो जाते हैं फिर उसके सामने नहीं प्रगट होते। तात्पर्य यह कि यदि तू ज्ञान का सहारा लेगी तो प्रेम मार्ग के अन्य रोड़े साफ हो जायेंगे।

जब तक तुझे प्रियतम न मिल जाय तू प्रेम की पीर की साधना इस प्रकार कर जैसे सीप समुद्र के बीच में रह कर स्वाति के लिये तपस्या करती है।

*टिप्पणी—सूफी मत के अनुसार प्रिय-मिलन से पूर्व प्रेम की पीर की अवस्था अनिवार्य है, उसी का संकेत जायसी ने यहाँ किया है। सूफी-प्रेम-मार्ग ज्ञान-मार्ग का समकक्ष है इसी लिए इस पद में ज्ञान की भी अन्तर्ध्वनि विद्यमान है।*

अलंकार—रूपक, उपमा।

[ १७२ ]

दहै धाइ जोवन औ जीऊँ। होइ न बिरह अगिनी महँ घोऊ॥
करवत सहौं होत दुइ आधा। सही न जाइ बिरह कै दाधा॥
बिरहा सुभर समुँद असँभारा। भँवर मेलि जिउ लहरन्हि मारा॥
बिरह नाग होइ सिर चढ़ि डसा। औ होइ अगिनी चँदन महँ बसा॥
जोबन पंखी, बिरह बिआधू। केहरि भयो कुरंगिनि खाधू॥
कनक बान जोबन कत कीन्हा। औ तन कठिन बिरह दुख दीन्हा॥
जोवन जलहिं बिरह मसि छुवा। फूलहिं भँवर, फहिं भा सुवा॥

जोबन चाँद उवा जस, बिरह भएउ सँग राहु।
घटतहि घटत खीन भा, कहै न पारौं काहु॥ १७२॥

शब्दार्थ—दाधा=जलन। असँभारा = न सँभालने योग्य। भौंर=समुद्र की चक्करदार भँवर। मेलि = डाल कर। केहरि=सिंह। कुरंगिनि = हिरनी। खाधू = भोजन। बान=रंग। मसि = कालिमा। उवा = उदय हुआ। कहै न पारौं = कह नहीं सकती। काहु = किसी से।

अर्थ—पद्मावती कहती है कि हे धाय! यौवन और जी जल रहे हैं, यह विरह नहीं है यह तो अग्नि में पड़ने वाला घी है। मैं काशी करवट भी सह सकती हूँ जिसमें पड़ कर मनुष्य के एक बारगी दो टुकड़े हो जाते हैं, पर मुझसे इस विरह की जलन नहीं सही जाती। विरह का समुद्र भरा हुआ है, सँभाला नहीं जाता, भँवरें डाल-डाल कर जीव को लहरों में मार रहा है। विरह साँप बन कर सिर पर चढ़ कर डस रहा है और चन्दन में अग्नि बन कर बसा है क्योंकि चन्दन और भी जलन उत्पन्न करता है। यौवन पक्षी है और विरह व्याध है। यह विरह जवानी रूपी हिरनी का खाने वाला सिंह बना हुआ है। ईश्वर ने क्यों जवानी को सुनहला रंग दिया और उसमें विरह का कठिन दुःख भर दिया। यौवन रूपी जल में विरह रूपी कालिमा लगी हुई है और यह विरह जवानी का निपात इसी प्रकार कर रही है जैसे भौंरा फूल को और तोता फल को काट डालता है। जिस प्रकार यौवन रूपी चन्द्रमा का उदय हुआ उसी प्रकार विरह रूपी राहु भी उसी के

संग लग गया और घटते-घटते वह इतना क्षीण हो गया कि कहा नहीं जा सकता।

अलंकार—रूपक, अपह्नुति ( होइ न बिरह अगिनि महँ घीऊ )।

[ १७३ ]

नैन जो चक्र फिरै चहुं ओराँ। चरचै धाइ, समाइ न कोराँ॥
कहेसि पेम जौं उपना बारी। बाँधु सत्त, मन डोल न भारी॥
जेहि जिय महँ सत होइ पहारू। परै पहार न बाँकै बारू॥
सती जो जरे पेम पिय लागी। जौं सत हिएँ तौ सीतल आगी॥
जोवन चाँद जो चौदसि करा। विरह कि चिनगि चाँद पुनि जरा॥
पवन बन्ध होइ जोगी जती। काम बन्ध होइ कामिनो सती॥
आउ बसन्त फूल फुलवारी। देवबार सब जैहहिं बारी॥
पुनि तुम्ह जाहु बसन्त लै, पूजि मनावहु देव।
जिउ पाइअ जग जनमे, पिउ पाइअ कै सेव॥ १७३॥

शब्दार्थ—चरचै = चर्चा करे-पाठान्तर-वरजै = रोके। कोराँ = गोद, हृदय। उपना = उत्पन्न हुआ। पहारू = पहरेदार। बारू = बाल। चिनगी=चिनगारी। बंध = बाँधता है। देवबार = देवद्वार।

अर्थ—कवि कहता है कि पद्मावती की आँखें चक्र की भाँति चारों ओर फिर रही थीं। धाय बातें करती थी पर वे सब बातें उसके हृदय में नहीं समाती थीं। तब धाय ने कहा कि हे बाला! यदि तुझमें प्रेम उत्पन्न हुआ है तो सत को बाँधो, मन को मत डोलाओ। जिस जी का सत पहरेदार होता है उसके लिये यदि पहाड़ भी पड़ जाय तो बाल बाँका नहीं हो सकता। सती प्रिय के प्रेम के लिए जलती है। जब हृदय में सत है तो आग भी शीतल हो जाती है। जवानी तो चौदहों कला वाला चाँद है जो कि विरह की चिनगारी से जल रहा है। जोगी और यति साँस बाँध कर ही सफल होता है और सती स्त्री वही है जो कामदेव को बाँध रखे। वसन्त का त्यौहार आ रहा है। फुलवाड़ियों में फूल फूलेंगे और सभी लड़कियाँ देव-द्वार पर पूजन के लिये जायेंगी। तुम भी वसन्त के दिन जाओ और देवता

का पूजन करके मनावो। संसार में जन्म के द्वारा तो जीवन मिलता है पर प्रियतम तो सेवा से ही प्राप्त होता है।

[ १७४ ]

जब लगि अवधि चाह सो आई। दिन जुग बर बिरहिनि कहँ जाई ॥
नींद भूख अह निसि गै दोऊ। हिएँ माँझ जस कलपै कोऊ ॥
रोवँहिं रोवँ लागे जनु चाँटे। सोतहि सोत बेधे बिख काँटे ॥
दगध कराह जरै सब जीऊ। बेगि न आउ मलैगिरि पीऊ ॥
कवन देव कहँ जाइ परासौं। जेहि सुमेरु हिय लाइ गरासौं ॥
गुपुत जो फल साँसहि परगटे। अब होइ सुभर चहहिं पुनि घटे ॥
भए सँजोग जौं रे अस मरना। भोगी भएँ भोग का करना ॥

जोबन चंचल ढीठ है, करै निकाजहिं काज।
धनि कुलवंति जो कुल धरै, करि जोबन महँ लाज ॥ १७४ ॥

शब्दार्थ—अह = दिन। कलपै = दुःख पावै। रोवँहिरोवँ = रोम-रोम। चाँटे = चींटे। परासौं = स्पर्श करूँ। गरासौं = ग्रसूँ, पकड़ूँ। सुभर = उमड़ कर। निकाजहिं = निकम्मा हो।

अर्थ—जब तक कि उस वसन्त पंचमी की अवधि पूरी हुई, विरहिणी को एक दिन एक युग के समान बीतता था। न दिन में भूख लगती थी और न रात में नींद, दोनों ही चले गये थे। अन्दर ही अन्दर जैसे कोई कलप रहा हो ऐसी उसकी अवस्था थी। मानो रोम-रोम में चींटे लग गये हों और प्रत्येक रोम के सोते-सोते ( जड़ ) में विष के कांटे चुभ गये हों। जल कर सारा जीव कराहता था कि हे मलयगिरि के समान प्रियतम! जल्दी क्यों नहीं आते। किस देव को जाकर स्पर्श करूँ जिससे उस सुमेरु के समान प्रिय को हृदय से लगा सकूँ। जो फल गुप्त था वह अब साँसों में प्रकट हो गया है और उमड़ कर फिर घटना चाहता है। यदि मिलन में इस प्रकार मृत्यु हो गयी तो भोगी होकर क्या होगा, तब क्या सुख मिलेगा? जवानी बड़ी चंचल और धृष्ट है और निकम्मे कार्य करती है। वह कुलवन्ती नारी धन्य है जो जवानी में लाज रख कर कुल की मर्यादा को बचा सकती है।

———

# १६. पदमावती-सुआ-भेंट-खंड

[ १७५ ]

तेहि बियोग हीरामनि आवा। पदुमावति जानहुँ जिउ पावा॥
कंठ लागि सो हौसुर रोई। अधिक मोह जो मिल बिछोई॥
आगि बुझी दुख हियँ जो गँभीरू। नैनन्ह आइ चुवा होइ नीरू॥
रही रोइ जब पदुमिनि रानी। हँसि पूँछहि सब सखी सयानी॥
मिले रहस चाहिअ भा दूना। कत रोइअ जौं मिलै बिछूना॥
तेहि क उतर पदुमावति कहा। बिछुरन दुक्ख हिएँ भरि रहा॥
मिला जो आइ हिएँ सुख भरा। वह दुख नैन नीर होइ ढरा॥
बिछुरंता जब भेंटिऐ, सो जानै जेहि नेहु॥
सुक्ख सुहेला उग्गवइ, दुक्ख झरै जेउँ मेहु॥ १७५॥

शब्दार्थ—हौसुर-होइसुर = स्वर के साथ, जोर से। मोह = करुणा। बिछोई = बिछुड़ा हुआ। रहस = आनन्द। बिछूना = बिछुड़ा हुआ। सुहैला = सुहेल तारा, अगस्त तारा। उग्गवइ = उदय होता है।

अर्थ—उसी विरह की अवस्था में हीरामनि तोता आया, पद्मावती ने ऐसा समझा मानो उसे फिर जान मिल गई। उसके कंठ लगकर वह पूरे स्वर से रोने लगी। कवि कहता है कि जब बिछुड़ा हुआ व्यक्ति मिलता है तो अधिक करुणा उत्पन्न होती है। हृदय में जो गंभीर दुःख था उसकी आग बुझ गई और आँखों से आँसू टपकने लगा। जब पद्मिनी रानी रो रही थी तो सब चतुर सखियाँ कहने लगीं कि मिलने पर तो दूना आनन्द होना चाहिए, जब कोई बिछुड़ा हुआ मिले तो क्या रोना चाहिए? उसका उत्तर पद्मावती ने दिया कि वियोग की अवस्था में हृदय में दुःख भरा रहता है। जब सुख से भरे हुए हृदय से मिलते हैं तो विरहावस्था का रुका हुआ दुःख आँखों से आँसू होकर टपकने लगता है। बिछुड़ा हुआ जब कोई मिलता है तो उसके आनन्द को वही जानता है जिसके अन्दर प्रेम है। सुख रूपी सुहेल

का पूजन करके मनावो। संसार में जन्म के द्वारा तो जीवन मिलता है पर प्रियतम तो सेवा से ही प्राप्त होता है।

[ १७४ ]

जब लगि अवधि चाह सो आई। दिन जुग बर बिरहिनि कहँ जाई॥
नींद भूख अह निसि गै दोऊ। हिएँ माँझ जस कलपै कोऊ॥
रोवँहिं रोवँ लागे जनु चाँटे। सोतहि सोत बेधे बिख काँटे॥
दगध कराह जरै सब जीऊ। बेगि न आउ मलैगिरि पीऊ॥
कवन देव कहँ जाइ परासौं। जेहि सुमेरु हिय लाइ गरासौं॥
गुपुत जो फल साँसहि परगटे। अब होइ सुभर चहहिं पुनि घटे॥
भए सँजोग जौं रे अस मरना। भोगी भएँ भोग का करना॥
जोबन चंचल ढीठ है, करै निकाजहिं काज।
धनि कुलवंति जो कुल धरै, करि जोबन महँ लाज॥ १७४॥

शब्दार्थ—अह = दिन। कलपै = दुःख पावै। रोवँहिरोवँ = रोम-रोम। चाँटे = चींटे। परासौं = स्पर्श करूँ। गरासौं = ग्रसूँ, पकड़ूँ। सुभर = उमड़ कर। निकाजहिं = निकम्मा हो।

अर्थ—जब तक कि उस वसन्त पंचमी की अवधि पूरी हुई, विरहिणी को एक दिन एक युग के समान बीतता था। न दिन में भूख लगती थी और न रात में नींद, दोनों ही चले गये थे। अन्दर ही अन्दर जैसे कोई कलप रहा हो ऐसी उसकी अवस्था थी। मानो रोम-रोम में चींटे लग गये हों और प्रत्येक रोम के सोते-सोते ( जड़ ) में विष के कांटे चुभ गये हों। जल कर सारा जीव कराहता था कि हे मलयगिरि के समान प्रियतम! जल्दी क्यों नहीं आते। किस देव को जाकर स्पर्श करूँ जिससे उस सुमेरु के समान प्रिय को हृदय से लगा सकूँ। जो फल गुप्त था वह अब साँसों में प्रकट हो गया है और उमड़ कर फिर घटना चाहता है। यदि मिलन में इस प्रकार मृत्यु हो गयी तो भोगी होकर क्या होगा, तब क्या सुख मिलेगा? जवानी बड़ी चंचल और धृष्ट है और निकम्मे कार्य करती है। वह कुलवन्ती नारी धन्य है जो जवानी में लाज रख कर कुल की मर्यादा को बचा सकती है।

———

# १६. पदमावती-सुआ-भेंट-खंड

[ १७५ ]

तेहि बियोग हीरामनि आवा। पदुमावति जानहुँ जिउ पावा ॥
कंठ लागि सो हौसुर रोई। अधिक मोह जो मिल बिछोई ॥
आगि बुझी दुख हियँ जो गँभीरू। नैनन्ह आइ चुवा होइ नीरू ॥
रही रोइ जब पदुमिनि रानी। हँसि पूँछहि सब सखी सयानी ॥
मिले रहस चाहिअ भा दूना। कत रोइअ जौं मिलै बिछूना ॥
तेहि क उतर पदुमावति कहा। बिछुरन दुक्ख हिएँ भरि रहा ॥
मिला जो आइ हिएँ सुख भरा। वह दुख नैन नीर होइ ढरा ॥
बिछुरंता जब भेंटिऔ, सो जानै जेहि नेहु ॥
सुक्ख सुहेला उग्गवइ, दुक्ख झरै जेउँ मेहु ॥ १७५ ॥

शब्दार्थ—हौसुर-होइसुर = स्वर के साथ, जोर से। मोह = करुणा। बिछोई = बिछुड़ा हुआ। रहस = आनन्द। बिछूना = बिछुड़ा हुआ। सुहैला = सुहेल तारा, अगस्त तारा। उग्गवइ = उदय होता है।

अर्थ—उसी विरह की अवस्था में हीरामनि तोता आया, पद्मावती ने ऐसा समझा मानो उसे फिर जान मिल गई। उसके कंठ लगकर वह पूरे स्वर से रोने लगी। कवि कहता है कि जब बिछुड़ा हुआ व्यक्ति मिलता है तो अधिक करुणा उत्पन्न होती है। हृदय में जो गंभीर दुःख था उसकी आग बुझ गई और आँखों से आँसू टपकने लगा। जब पद्मिनी रानी रो रही थी तो सब चतुर सखियाँ कहने लगीं कि मिलने पर तो दूना आनन्द होना चाहिए, जब कोई बिछुड़ा हुआ मिले तो क्या रोना चाहिए? उसका उत्तर पद्मावती ने दिया कि वियोग की अवस्था में हृदय में दुःख भरा रहता है। जब सुख से भरे हुए हृदय से मिलते हैं तो विरहावस्था का रुका हुआ दुःख आँखों से आँसू होकर टपकने लगता है। बिछुड़ा हुआ जब कोई मिलता है तो उसके आनन्द को वही जानता है जिसके अन्दर प्रेम है। सुख रूपी सुहेल

नक्षत्र के उदय होने पर बादल के जल के समान दुःख झरने लगता है।

[ १७६ ]

पुनि रानी हँसि कूसल पूँछा। कत गवनेहु पिंजर कै छूँछा ॥
रानी तुम्ह जुग जुग सुख पाटू। छाज न पंखिहि पिंजर ठाटू ॥
जौं भा पंख कहाँ थिर रहना। चाहै उड़ा पंखि जौं डहना ॥
पिंजर महँ जो परेवा घेरा। आइ मँजारि कीन्ह तहं फेरा ॥
देवसेक आइ हाथ पैं मेला। तेहि डर बनोबास कहं खेला ॥
तहाँ बिआध जाइ नर साँधा। छूट न पाव मीचु कर बाँधा ॥
ओइँ धरि बेचा बाँभन हाथाँ। जंबूदीप गएउं तेहि साथाँ ॥

तहाँ चित्र गढ़ चितउर. चित्रसेनि कर राज।
टीका दीन्ह पुत्र कहँ, आपु लीन्ह सिव साज ॥ १७६ ॥

शब्दार्थ—छाज = शोभा पाना। पिंजर ठाटू = पिंजड़े का ढाँचा। देवसेक = एक दिवस। नर = नरसल। चित्र = विचित्र। सिव साज = शिव लोक (स्वर्ग) की तैयारी।

अर्थ—तब रानी पद्मावती ने तोते से उसका कुशल पूछा कि तू क्यों हमारे पिंजरे को छूछा कर के चला गया था। तोते ने कहा कि हे रानी ! तुम युग-युग सुख और राजपाट करो। पक्षी को पिंजरे का ढाँचा नहीं सोहता। जिसके पंख हैं वह स्थिर कहाँ रह सकता है, जिस पक्षी के डैने हैं वह तो उड़ना ही चाहता है। पिंजरे में मुझ जैसे पक्षी को घेर कर रखा गया था, तब बिल्ली आकर घेरा डालने लगी थी। मैंने सोचा कि किसी दिन यह अवश्य हाथ में डाल लेगी, इसी डर से मैं वनवास को चला गया। वहाँ एक व्याध ने नरसल लगाकर मुझे लासे में फँसा लिया, मृत्यु का बाँधा हुआ व्यक्ति छुट नहीं सकता। उसने मुझे एक ब्राह्मण के हाथ बेच दिया। उस ब्राह्मण के साथ मैं जम्बू द्वीप गया। वह एक विचित्र गढ़ चित्तौड़ है जहाँ राजा चित्रसेन का राज्य है। उस राजा ने अपने पुत्र को राजतिलक दिया और आप शिवलोक को गया।

[ १७७ ]

बैठ जो राज पिता के ठाऊँ। राजा रतनसेनि ओहि नाऊँ॥
का बरनौं धनि देस दियारा। जहँ अस नग उपना उजियारा॥
धनि माता धनि पिता बखाना। जेहि कें बंस अंस अस आना॥
लखन बतीसौ कुल निरमरा। बरनि न जाइ रूप औ करा॥
ओइँ हौं लीन्ह अहा अस भागू। चाहै सोनहिं मिला सोहागू॥
सो नग देखि इंछ भै मोरी। है यह रतन पदारथ जोरी॥
है ससि जोग इहै पै भानू। तहाँ तुम्हार मैं कीन्ह बखानू॥
कहाँ रतन रतनाकर, कंचन कहाँ सुमेरु।
दैय जौं जोरी दुहुँ लिखी, मिलै सो कवनेहु फेर॥ १७७॥

शब्दार्थ—ठाऊँ = जगह। दियारा = दीप्ति, चमक-पाठान्तर-मनियारा= रौनक। अंस = अवतार। इंछ = इच्छा, अभिलाषा। दैय = ईश्वर। फेर = चक्कर, प्रकार।

अर्थ—तोता कहता गया कि जो राजा पिता के स्थान पर बैठा उसका नाम राजा रत्नसेन है। उस देश की शोभा का क्या वर्णन करूँ, जहाँ ऐसा उज्ज्वल हीरा उत्पन्न हुआ है। वह माता और पिता धन्य हैं जिनके वंश में ऐसा अवतार हुआ है। उसमें बत्तीसों शुभ और निर्मल लक्षण विद्यमान हैं, उसका सौंदर्य वर्णन नहीं किया जा सकता। उसी ने सौभाग्य वश मुझे खरीद लिया। कदाचित् सोना और सोहागा मिलना चाहता है। उस हीरे को देख कर मेरे हृदय में यह इच्छा पैदा हुई कि यह तो रत्न-पदार्थ की जोड़ी होगी अर्थात् यह तो पद्मावती के योग्य वर है। उस चन्द्रमा (पद्मावती) के योग्य यह सूर्य (रत्नसेन) है। वहाँ मैंने तुम्हारे रूप का वर्णन किया। तोता कहता है कि कहाँ समुद्र में उत्पन्न होने वाला मोती और कहाँ सुमेरु पर्वत पर मिलने वाला सोना, पर यदि ईश्वर ने दोनों को जोड़ी लिखी है तो किसी न किसी प्रकार दोनों मिल ही जाते हैं। भाव यह कि यदि विधाता ने चाहा तो तेरा मिलन रत्नसेन से असाध्य नहीं है।

अलंकार—दृष्टान्त।

नक्षत्र के उदय होने पर बादल के जल के समान दुःख झरने लगता है।

[ १७६ ]

पुनि रानी हँसि कूसल पूँछा। कत गवनेहु पिंजर कै छूँछा ॥
रानी तुम्ह जुग जुग सुख पाटू। छाज न पंखिहि पिंजर ठाटू ॥
जौं भा पंख कहाँ थिर रहना। चाहै उड़ा पंखि जौं डहना ॥
पिंजर महँ जो परेवा घेरा। आइ मँजारि कीन्ह तहं फेरा ॥
देवसेक आइ हाथ पैं मेला। तेहि डर बनोबास कहं खेला ॥
तहाँ बिआध जाइ नर साँधा। छूट न पाव मीचु कर बाँधा ॥
ओइँ धरि बेचा बाँभन हाथाँ। जंबूदीप गएउं तेहि साथाँ ॥

तहाँ चित्र गढ़ चितउर, चित्रसेनि कर राज।
टीका दीन्ह पुत्र कहँ, आपु लीन्ह सिव साज ॥ १७६ ॥

शब्दार्थ— छाज = शोभा पाना। पिंजर ठाटू = पिजड़े का ढाँचा। देवसेक = एक दिवस। नर = नरसल। चित्र = विचित्र। सिव साज = शिव लोक (स्वर्ग) की तैयारी।

अर्थ—तब रानी पद्मावती ने तोते से उसका कुशल पूछा कि तू क्यों हमारे पिंजरे को छूछा कर के चला गया था। तोते ने कहा कि हे रानी! तुम युग-युग सुख और राजपाट करो। पक्षी को पिंजरे का ढाँचा नहीं सोहता। जिसके पंख हैं वह स्थिर कहाँ रह सकता है, जिस पक्षी के डैने हैं वह तो उड़ना ही चाहता है। पिंजरे में मुझ जैसे पक्षी को घेर कर रखा गया था, तब बिल्ली आकर घेरा डालने लगी थी। मैंने सोचा कि किसी दिन यह अवश्य हाथ में डाल लेगी, इसी डर से मैं वनवास को चला गया। वहाँ एक व्याध ने नरसल लगाकर मुझे लासे में फँसा लिया, मृत्यु का बाँधा हुआ व्यक्ति छुट नहीं सकता। उसने मुझे एक ब्राह्मण के हाथ बेच दिया। उस ब्राह्मण के साथ मैं जम्बू द्वीप गया। वह एक विचित्र गढ़ चित्तौड़ है जहाँ राजा चित्रसेन का राज्य है। उस राजा ने अपने पुत्र को राजतिलक दिया और आप शिवलोक को गया।

[ १७७ ]

बैठ जो राज पिता के ठाऊँ। राजा रतनसेनि ओहि नाऊँ॥
का बरनौं धनि देस दियारा। जहँ अस नग उपना उजियारा॥
धनि माता धनि पिता बखाना। जेहि कें बंस अंस अस आना॥
लखन बतीसौ कुल निरमरा। बरनि न जाइ रूप औ करा॥
ओइँ हौं लीन्ह अहा अस भागू। चाहै सोनहिं मिला सोहागू॥
सो नग देखि इंछ भै मोरी। है यह रतन पदारथ जोरी॥
है ससि जोग इहै पै भानू। तहाँ तुम्हार मैं कीन्ह बखानू॥
कहाँ रतन रतनाकर, कंचन कहाँ सुमेरु।
दैय जौं जोरी दुहुँ लिखी, मिलै सो कवनेहु फेर॥ १७७॥

शब्दार्थ—ठाऊँ = जगह। दियारा = दीप्ति, चमक-पाठान्तर-मनियारा= रौनक। अंस = अवतार। इंछ = इच्छा, अभिलाषा। दैय = ईश्वर। फेर = चक्कर, प्रकार।

अर्थ—तोता कहता गया कि जो राजा पिता के स्थान पर बैठा उसका नाम राजा रत्नसेन है। उस देश की शोभा का क्या वर्णन करूँ, जहाँ ऐसा उज्ज्वल हीरा उत्पन्न हुआ है। वह माता और पिता धन्य हैं जिनके वंश में ऐसा अवतार हुआ है। उसमें बत्तीसों शुभ और निर्मल लक्षण विद्यमान हैं, उसका सौंदर्य वर्णन नहीं किया जा सकता। उसी ने सौभाग्य वश मुझे खरीद लिया। कदाचित् सोना और सोहागा मिलना चाहता है। उस हीरे को देख कर मेरे हृदय में यह इच्छा पैदा हुई कि यह तो रत्न-पदार्थ की जोड़ी होगी अर्थात् यह तो पद्मावती के योग्य वर है। उस चन्द्रमा (पद्मावती) के योग्य यह सूर्य (रत्नसेन) है। वहाँ मैंने तुम्हारे रूप का वर्णन किया। तोता कहता है कि कहाँ समुद्र में उत्पन्न होने वाला मोती और कहाँ सुमेरु पर्वत पर मिलने वाला सोना, पर यदि ईश्वर ने दोनों को जोड़ी लिखी है तो किसी न किसी प्रकार दोनों मिल ही जाते हैं। भाव यह कि यदि विधाता ने चाहा तो तेरा मिलन रत्नसेन से असाध्य नहीं है।

अलंकार—दृष्टान्त।

[ १७८ ]

सुनि कै बिरह चिनगि ओहि परी। रतन पाव जौं कंचन करी॥
कठिन पेम बिरहा दुःख भारी। राज छाँड़ि भा जोगि भिखारी॥
मालति लागि भँवर जस होई। हाइ बाउर निसरा बुधि खोई॥
कहेसि पतंग होइ धँसि लेऊँ। सिंघल दीप जाइ जिउ देऊँ॥
पुनि ओहि कोउ न छाड़ अकेला। सोरह सहस कुँवर भए चेला॥
औरु गनै को संग सहाई। महादेव मढ़ मेला जाई॥
सूरुज परस दरस की ताईं। चितवै चाँद चकोर कि नाईं॥

तुम्ह बारीं रस जोग जेहि, कँवलहि जस अरघानि।
तस सूरुज परगासि कै, भँवर मिलाएउँ आनि॥ १७८॥

शब्दार्थ—=चिनगि = चिनगारी। लागि = लिए। निसरा = निकला। धँसि = घुस कर। मेला = पहुँचा। अरघानि = महक।

अर्थ तोते की बात सुनकर पद्मावती में विरह की चिनगारी पड़ गई, कि जिससे कंचन की कली रत्न को प्राप्त करे अर्थात् पद्मावती रत्नसेन को प्राप्त करे। प्रेम के विरह का दुःख बड़ा कठिन है इसी लिए राज्य को छोड़-कर वह राजा भिखारी हो गया। जैसे मालती के लिए भौंरा मतवाला होकर चलता है इसी प्रकार वह भी अपनी सुधि-बुधि खो कर घर से निकल पड़ा। उसने कहा कि पतंगा होकर घुसूँगा और सिंहल द्वीप जाकर जान दूँगा। फिर उसे कोई अकेला नहीं छोड़ता था इसलिए उसके साथ सोलह हजार राजकुमार चेला बन कर चले। और भी जो उसके साथ हैं उनकी गिनती कौन कर सकता है। सब महादेव के मंदिर पर आकर पहुँच गये हैं। सूर्य के दर्शन और स्पर्श के लिए वह इस प्रकार देख रहा है जैसे चकोर चन्द्रमा को देखता है अर्थात् बड़ी अधीरता के साथ वह महादेव के गढ़ पर तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है।

तुम जिस रस योग्य कुमारी हो और जैसी तुममें कमल की सी सुगन्धि है उसी के अनुरूप भौंरे को सूर्य का प्रकाश करके मैंने लाकर मिला दिया है।

[ १७६ ]

हीरामनि जौं कही रस बाता। सुनि कै रतन पदारथ राता॥
जस सूरुज देखत होइ ओपा। तस भा बिरह काम दल कोपा॥
पै सुनि जोगी केर बखानू। पदुमावति मन भा अभिमानू॥
कंचन जौ कसिऔ कै ताता। तब जानिअ दहुँ पीत कि राता॥
कंचन करी न काँचहि लोभा। जौं नग होइ पाव तब सोभा॥
नग कर मरम सो जरिया जाना। जरै जो अस नग हीर पखाना॥
को अस हाथ सिंघ मुख घाला। को यह बात पिता सौं चाला॥
सरग इन्द्र डरि काँपै, बासुकि डरै पतार।
कहाँ अैस बर प्रिथिमी, मोहि जोग संसार॥ १७६॥

शब्दार्थ—ओपा = चमक। ताता = गर्म। जरिया = जड़िया। पखाना = पत्थर। घाला = डाला।

अर्थ—हीरामनि ने जब ऐसी प्रेम की बात की तो यह सुन कर रत्न रूपी पद्मावती पदार्थ रूपी रत्नसेन में अनुरक्त हो गयी। जैसे सूर्य के दिखाई पड़ते ही प्रकाश होता है उसी प्रकार उसमें विरह जगा और काम का दल कुपित हो गया। पर जोगी की प्रशंसा सुन कर पद्मावती को भी अभिमान हो गया। सोचने लगी कि सोना जब गर्म करके कसौटी पर कसा जाता है तभी पता चलता है कि वह पीला है या लाल। कंचन की कली को काँच का कोई लोभ नहीं है, जब वह हीरा होगा तभी शोभा होगी। भाव यह कि रत्नसेन की परीक्षा के बाद ही निर्णय किया जा सकता है। यदि प्रेम की परीक्षा से वह पास होता है तभी मेरे ग्रहण करने योग्य है। हीरे का रहस्य तो जड़िया ही जानता है तभी तो उस पत्थर रूप हीरे को नग के रूप में जड़ देता है। कौन सिंह के मुख में हाथ डाले कौन यह बात मेरे पिता से चलावे। मेरे पिता से तो स्वर्ग में इन्द्र भी डरता है और पाताल में वासुकि भी, भला पृथ्वी में ऐसा कौन सा वर है जिसको मेरे योग्य मेरा पिता समझता है।

[ १८० ]

तूँ रानी ससि कंचन करा। वह नग रतन सूर निरमरा॥
बिरह बजागि बीच का कोई। आगि जो छुवै जाइ जरि सोई॥

आगि बुझाइ ढोइ जल काढ़ै। यह न बुझाइ आगि असि बाढ़ै ॥
बिरह कि आगि सूर नहिं टिका। राति हुँ दिवस जरा औ धिका ॥
खिनहिं सरग, खिन जाइ पतारा। थिर न रहै तेहि आगि अपारा ॥
धनि सो जीव दगध इमि सहा। तैस जरै, नहिं दोसर कहा ॥
सुलुगि सुलुगि भीतर होइ स्यामा। परगट होइ न कहा दुख नामा ॥
काह कहौं मैं ओहि कहँ, जेइ दुख कीन्ह अमेंट।
तेहि दिन आगि करौं यह बाहर, होइ जेही दिन भेंट ॥ १८० ॥

शब्दार्थ—करा = कला, किरन। निरमरा = निर्मल। बजागि = वज्राग्नि। ढोइ = ले जाना। काढ़े = निकालै। टिका = सामने रुका। धिका = गर्म हुआ। दगध = जलन। अमेंट = अमिट। कीन्ह = सहा है।

अर्थ—तोते ने कहा कि हे रानी! तू चन्द्रमा और सोने की कला के समान है और वह रत्नसेन सूर्य और हीरे के सदृश निर्मल है। विरह रूपी वज्राग्नि से क्या कोई बच सका है, जो ही अग्नि को छुएगा वही जल जायेगा। पानी निकाल कर और ढो कर जब बुझाते हैं तो अग्नि बुझ जाती है, पर यह विरह की अग्नि इस प्रकार बढ़ती है कि बुझाये नहीं बुझती। विरह की अग्नि के सम्मुख सूर्य भी नहीं टिक सका है और इसी लिए वह रात-दिन जलता रहता है और गर्म रहता है। कभी तो आकाश जाता है और कभी पाताल जाता है। वह स्थिर नहीं रह सकता क्योंकि उसमें अपार अग्नि है। वह जीव धन्य है जो इसकी जलन को सहता है, वह इस प्रकार जलता है कि दूसरा कोई उसका वर्णन नहीं कर सकता। उस विरहाग्नि से सुलग-सुलग कर अन्दर-अन्दर काला हो जाता है पर प्रकट रूप से तो वह दुःख का नाम तक नहीं लेता।

मैं उस राजा रत्नसेन के दुःख के सम्बन्ध में क्या कहूँ जिसने न मिटने वाले दुःखों को उठाया है। उसकी अग्नि को तो उसी दिन प्रकट दिखा दूंगा जिस दिन तेरी उससे मुलाकात होगी—भाव यह कि तू स्वयं उसे देखते ही उसके दुःख को समझ जायगी।

अलंकार—हेतूत्प्रेक्षा—विरह कि आगि सूर......अपारा।

नोट—इस पद के बाद भी एक पद पं० शुक्ल सम्पादित ग्रन्थावली में है जिसे

डा० माताप्रसाद गुप्त प्रामाणिक नहीं बताते। पद इस प्रकार है —

सुनि कै धनि, 'जारी अस कया'। मन भा मयन, हिये भै मया ॥
देखौं जाइ जरै कस भानू। कंचन जरे अधिक होइ बानू ॥
अब को मरै वह प्रेम वियोगी। हत्या मोंहि, जेहि कारन जोगी ॥
सुनि कै रतन पदारथ राता। हीरामन सों कह यह बाता ॥
जौं वह जोग सँभारै छाला। पाइहि भुगुति, देहुँ जयमाला ॥
आव बसन्त कुसल जौं पावों। पूजा मिस मंडप कहँ जावौं ॥
गुरु के बैन फूल हौं गाँथे। देखौं नैन, चढ़ावौं माथे ॥
कँवल भँवर तुम्ह बरना, मैं माना पुनि सोइ।
चाँद सूर कहँ चाहिए, जौं रे सूर वह होइ ॥

[ १८१ ]

हीरामनि जों कहीं रस बाता। पाएउ पान भएउ मुख राता ॥
चला सुआ, रानी तब कहा। भा जो परावा सो कैसें रहा ॥
जो निति चलै सँवारै पाँखा। आजु जो रहा, काल्हि को राखा ॥
न जनौं आजु कहाँ दिन उवा। आएहु मिलै, चलेहु मिलि, सुवा ॥
मिलि कै बिछुरन मरन की आना। कत आएहु जौं चलेहु निदाना ॥
अनु रानी हौं रहतेउ राँधा। कैसें रहौं बचा कर बाँधा ॥
ताकरि दिस्टि अैस तुम्ह सेवा। जैस कूँज मन सहज परेवा ॥
बसै मीन जल धरती, अम्बा बिरिख अकास।
जौं रे पिरीति दुहुन महँ, अन्त होहिं एक पास ॥ १८१ ॥

शब्दार्थ—पावा पान = विदा होने के पान का बीड़ा पाया। चलै = चलने के लिए। काल्हि = कल। आना = आगमन। अनु = पीछे। राँधा = पास। बचा = वचन। कूँज = क्रौंच पक्षी (एक तरह का कबूतर)। अंबा = आम।

अर्थ—जब हीरामनि ने इस प्रकार की रसयुक्त बातें कहीं, इसके बाद उसने विदाई का पान खाया और उसका मुख लाल हो गया। जब सुआ चला तो रानी ने कहा कि जो पराया हो गया है वह भक्त कैसे रह सकता है। जो नित्य ही चलने के लिए अपने पंखों को संभालता है वह अधिक

से अधिक आज रह जायगा उसे कल कौन रख सकता है। न जाने कहाँ से आज कैसे सूर्योदय हुआ कि मिलने चले आये और मिल कर चल पड़े। मिल के बिछुड़ना तो मृत्यु का आना है, जब अन्त में तुम्हें जाना ही था तो क्यों आये थे। तोते ने उत्तर दिया कि हे रानी मैं तो तेरे पास ही सदा रहता पर वचनबद्ध हूं इसलिए कैसे रह सकता हूँ। उस रत्नसेन की तुम्हारी सेवा में इस प्रकार दृष्टि है जैसे कबूतर का सहज प्रेम अपनी कबूतरी में लगा रहता है। मछली धरती के जल में रहती है और आम वृक्ष की डाली पर आकाश में रहता है, पर जब दोनों की प्रीति एक दूसरे पर होती है तो किसी न किसी दिन दोनों एक दूसरे के पास मिल ही जाते हैं।

*टिप्पणी—काव्य परम्परा में मीन और आम की प्रीति का उल्लेख नहीं मिलता पर अवधी भाषा-भाषी लोक-गाथाओं तथा लोक-गीतों में आम और मछली के संयोग का कथन बहुत मिलता है।*

[ १८२ ]

आवा सुवा बैठ जहँ जोगी। मारग नैन, बियोग बियोगी॥
आइ पेम रस कहा सँदेसू। गोरख मिला, मिला उपदेसू॥
तुम्ह कहँ गुरू मया बहु कीन्हा। कीन्ह अदेस, आदि कहँ दीन्हा॥
सबद, एक होइ कहा अकेला। गुरु जस भृंग, फनिग जस चेला॥
भृङ्गि ओहि पंखिहि पै लेई। एकहिं बार छुएँ जिउ देई॥
ताकहँ गुरू करै असि माया। नव अवतार देइ, नै काया॥
होइ अमर अस मरि कै जिया। भँवर कँवल मिलि कै मधु पिया॥
आवै रितू बसंत जब, तब मधुकर तब बासु।
जोगी जोग जो इमि करहिं, सिद्धि समापति तासु॥ १८२॥

शब्दार्थ मया = कृपा। अदेश = आदेश। आदि = प्रेम का मूल मंत्र। भृंगि = वह कीड़ा जो पतिंगों को अपने रंग में बदल देता है। फनिग = पतिंगा। इमि = इस प्रकार। समापति = पूर्ण।

अर्थ—सुआ वहाँ आया जहाँ जोगी रत्नसेन बैठा था। वह पद्मावती के वियोग से दुःखी उसके मार्ग पर आँखें लगाये हुए था। तोते ने आकर प्रेम रस युक्त संदेश कहा। राजा को ऐसा सुख हुआ जैसे गुरु गोरखनाथ ही

मिले हों और उन्होंने उपदेश किया हो। तोते ने कहा कि तुम पर गुरु की बड़ी कृपा है क्योंकि उस पद्मावती ने मेरा आदेश लिया और प्रेम के मूल-मन्त्र को दिया है। उसने एक ही शब्द कहा है कि गुरु तो भृङ्गी कीट के समान और शिष्य पतिंगे के समान है। भृङ्गी उस पतिंगे को लेता है और एक बार के छूने में ही उसका प्राचीनपन चला जाता है और गुरु की कृपा से उस का नया अवतार और नया रूप हो जाता है। मर करके वह ऐसा जीता है कि अमर ही हो जाता है और फिर भौंरा कमल से मिलकर उसका मधुपान करता है। जब वसन्त ऋतु आता है तभी भौंरा गूँजता है और तभी सुगन्ध उड़ती है। इस प्रकार जो जोगी जोग करता है उसी को सिद्धि पूरी होती है।

नोट—इस पद का सारा सन्देश ही संकेतात्मक है। तोते ने कहा कि पद्मावती ने मेरा आदेश स्वीकार कर लिया है और उसे प्रेम तो हो गया है पर वह अभी परीक्षा लेगी। अतः तुम्हें गुरु के आदेश पर अक्षरशः चलना है। तुम्हारी तपस्या तब होगी जब तुम गुरु के आदेश पर भृङ्ग-कीटवत् एक भाव हो जाओगे। उसने संकेत से यह भी बता दिया कि वसन्त पंचमी अवधि है और तभी वह आयेगी और देखेगी, यदि तुम्हारा जोग पूरा हुआ तो उसी दिन तुम्हारे जोग की सिद्धि होगी।

---

## २०. बसन्त-खण्ड

[ १८३ ]

दैय दैय कै सिसिर गँवाई। सिरि पंचिमी पूजी आई॥
भएउ हुलास नवल रितु माँहाँ। खिनु न सोहाइ धूप औ छाहाँ॥
पदुमावति सब सखीं हँकारी। जावँत सिंघल दीप की बारी॥
आजु बसन्त नवल रितुराजा। पंचिमि होइ, जगत सब साजा॥
नवल सिंगार बनाफति कीन्हा। सीस परासन्ह सेंदुर दीन्हा॥
बिगसि फूल फूले बहु बासाँ। भँवर आइ लुबुधे चहुँ पासाँ॥
पियर पात दुख झरे निपाते। सुख पालौ उपने होइ राते॥
अवधि आइ सो पूजी, जो इंछा मन कीन्ह।
चलहु देव मढ़ गोहने, चहौं सो पूजा दीन्ह॥ १८३॥

शब्दार्थ—दैय = ईश्वर। सिसिर = शिशिर ऋतु। हँकारी = बुलाया। जावँत = जितनी। बारी = कुमारियाँ। बनाफति = वनस्पति। परासन्ह = पलाश। सेंदुर = सिंदूर। निपाते = टूट गये। पालौ = पल्लव, नवीन पत्ते। उपने = उत्पन्न हुए। राते = लाल। गोहने = साथ में।

अर्थ—ईश्वर का नाम ले-लेकर शिशिर को व्यतीत किया। तब वसन्त-पंचमी की तिथि आई। नयी ऋतु में बड़ा उल्लास हुआ, प्रसन्नता की ऐसी बेकली हो गयी कि धूप या छाँह एक क्षण भी नहीं अच्छी लगती। पद्मावती ने अपनी सभी सखियों को जो सिंहलद्वीप की कुमारियाँ थीं, बुलाया और कहा कि आज नवीन ऋतुराज वसन्त सुशोभित है, पंचमी तिथि है। सारा संसार तैयारी कर रहा है। वनस्पतियों ने भी नया शृङ्गार किया है। देखो कि पलाश ने अपने लाल फूलों के द्वारा अपने सिर में लाल सिंदूर लगाया हुआ है। अनेक प्रकार के फूल फूले हुए हैं, उनकी सुगन्ध फैल रही है और चारों ओर से भौंरे उसमें लोभ वश आकर लगे हुए हैं। दुःख रूपी पीले पत्ते झड़ कर नष्ट हो रहे हैं और सुख रूपी नवीन लाल-लाल पल्लव उत्पन्न हुए हैं।

जिस अवधि की मुझे प्रतीक्षा थी वह पूरी हुई। मन में अभिलाषा मैंने कर रखी है, तुम सब मेरे साथ देव मन्दिर पर चलो। मैं देवता का पूजन करना चाहती हूं।

[ १८४ ]

फिरी आन रितु बाजन बाजे। औ सिंगार सब बारिन्ह माजे॥
कँवल करी पदुमावति रानी। होइ मालति जानहुँ बिगसानी॥
तारा मँडर पहिर भल चोला। पहिरें ससि जस नखत अमोला॥
सखी कमोद सहस दस संगा। सबै सुगन्ध चढ़ाए अंगा॥
सब राजा रायन्ह कै बारीं। बरन बरन पहिरें सब सारीं॥
सबै सुरूप, पदुमिनी जाती। पान, फूल, सेंदुर सब राती॥
करहिं कुरेरैं सुरंग रँगीलीं। औ चोवा चंदन सब गीलीं॥

चहुं दिसि रही बासना, फुलबारी असि फूलि।
वह बसन्त सौं भूली, गा बसन्त ओहिं भूलि॥ १८४॥

शब्दार्थ—आन = आज्ञा। तारामँडर = चाँदतारा नामक वस्त्र। कुरेरैं = कुलेलें। वासना = सुगन्धि।

अर्थ—राजा की आज्ञा की डौंडी चारों ओर फिर गई, ऋतु के बाजे बजने लगे। सभी कुमारियों ने अपने शृङ्गार किये। कमल कली के समान रानी पद्मावती प्रसन्नता से ऐसी हँसी कि मालती के समान दिखाई पड़ने लगी। सुन्दर चाँद-तारे की सुन्दर चोली पहनी मानो चन्द्रमा अमूल्य नक्षत्रों को पहन रहा हो। उसके साथ दस हज़ार कुमुदिनी सदृश सखियाँ थीं जो सभी अपने अंगों में सुगन्धित द्रव्य लगाये हुए थीं। सभी राजाओं की लड़कियाँ थीं, रंग-रंग की साड़ियाँ पहने थीं। सभी सुन्दरियाँ थीं और पद्मिनी जाति की थीं, पूजन के लिए पान, फूल और सिन्दूर लिए हुए लाल दिखाई पड़ती थीं। वे अच्छे रंग वाली रंगीली लड़कियाँ कुलेलें करती थीं और चन्दन और अङ्गराग आदि के लेप से वे गीली थीं। चारों ओर उनकी सुगंध फैली थी जैसे फुलवाड़ी फूल रही हो। वे वसन्त देख कर भूल गयीं और वसन्त उन्हें देख कर भूल गया।

[ १८५ ]

भै अहान पदुमावति चली। छतीस कुरी भै गोहने भली॥
भै कोरी सँग पहिरि पटोरा। बाँभनि ठाउँ सहस अँग मोरा॥
अगरवारिनि गज गवन करेई। बैसिनि पाव हंस गति देई॥
चंदेलिनि ठवँकन्ह पगु ढारा। चली चौहानी, हाइ झनकारा॥
चली सोनारि सोहाग सोहाती। औ कलवारि पेम मधु माँती॥
बानिनि भल सेंदुर दै माँगा। कैथिनि चली समाइ न आँगा॥
पटुइनि पहिरि सुरंग तन चोला। औ बरइनि मुख सुरस तँबोला॥
चलीं पवनि सब गोहने, फूल डालि लै हाथ॥
बिस्वनाथ की पूजा, पदुमावति के साथ॥ १८५॥

शब्दार्थ—अहान = आह्वान, शब्द, शोर। कुरी = कुल की। गोहने = साथ। कोरी = कुँवरी, राजकुमारी। पटोरा = रेशमी वस्त्र। मोरा = मोड़ा। अगवारिनि = अग्रवालिनें। बैसिनि = वैश्य क्षत्रियों की स्त्रियाँ। ठवँकन्ह = ठमक कर। सोहाग = सौभाग्य। पटुइनि = पटहारों के घर की स्त्रियाँ। बरइनि = तंबोलिनें। तंबोला = पान। पवनि = पाने वाली प्रजा।

अर्थ—पद्मावती जब चली तो एक प्रकार का शोर सा हो गया क्योंकि छत्तीसों कुलों की कुमारियाँ उसके साथ हो लीं। कुँवरानियाँ रेशमी वस्त्र पहन कर उसके साथ चलीं तथा ब्राह्मणियाँ अनेक जगहों पर अङ्ग मोड़ती चलीं। अग्रवालिनें हाथी की चाल से चल रही थीं और वैश्यों की कुमारियाँ हंस गति से मन्द-मन्द चलती थीं। चंदेल कुमारियाँ ठमक-ठमक कर पैर रखती थीं और चौहान कुमारियाँ पैरों में झंकार करती चलती थीं। सोनारों की स्त्रियाँ अपने सोहाग में शोभा पाती थीं तथा कलवारों की लड़कियाँ प्रेम की शराब में मस्त चल रही थीं। बनियों की स्त्रियाँ माँग में सिंदूर दिये थीं, और कायस्थों की स्त्रियाँ अपने गर्व में नहीं समाती थीं। पटहारिनें रङ्गीन कपड़े अपने शरीर पर पहिने थीं और तम्बोलिनें मुख में पान खाये हुए थीं। इस प्रकार सभी प्रकार प्रजा की स्त्रियाँ फूल और डाली लिये हुए शंकर की पूजा के लिए पद्मावती के साथ चलीं।

[ १८६ ]

कँवल सहाय चलीं फुलवारी। फर फूलन्ह कै इछा बारीं ॥
आपु आपु महँ करहिं जोहारू। यह बसन्त सब कर तेवहारू ॥
चही मनोरा झूमक होई। फर औ फूल लेइ सब कोई ॥
फागु खेलि पुनि दाहब होली। सैंतब खेह, उड़ाउब झोली ॥
आजु म्याज पुनि देवस न दूजा। खेलि बसन्त लेहु दै पूजा ॥
भा आएसु पदुमावति केरा। बहुरि न आइ करब हम फेरा ॥
तस हम कहँ होइहि रखवारी। पुनि हम कहाँ, कहाँ यह बारी ॥
पुनि रे चलब घर आपुन, पूजि देउ।
जेहिका होइ हो खेलना, आजु खेलि हँसि लेउ ॥ १८७ ॥

शब्दार्थ—जोहारू = प्रणाम करना। मनोरा झूमक = ग्राम गीतों की एक किस्म। दाहब = जलायेंगे। सैंतब = समेटेंगे। खेह = मिट्टी। केरा = का। बहुरि = फिर। बारी = वाटिका। विसेसर = विश्वेश्वर।

अर्थ—कमल रूपी पद्मावती की सहायता करती हुई फुलवाड़ी रूपी सभी स्त्रियाँ चलीं। सभी कुमारियाँ फल-फूल और अभिलाषायें किये थीं। वे आपस में एक दूसरे से नमस्कार करती हैं और कहती हैं यह तो सबका त्योहार वसन्त है। आज तो मनोरा झूमक गीत होने चाहिएं। सभी लोग फल-फूल लेकर चलें। हम सब पहले फाग खेलेंगे फिर होली जलायेंगे और मिट्टी समेट कर उसकी होली उड़ायेंगे। आज का जैसा सुन्दर दिन दूसरा न आयेगा, वसन्त खेल कर देवता का पूजन करो। पद्मावती की आज्ञा हुई कि हम फिर यहाँ नहीं लौटेंगे, क्योंकि यहाँ से जाने पर तो हमारी रखवाली होने लगेगी, फिर हम कहाँ रहेंगे और कहाँ यह वाटिका होगी। यहाँ से विश्वेश्वर शंकर जी की पूजा करके हम लोग घर चल देंगे, अतः जो खेलना चाहे आज हँस खेल ले।

[ १८७ ]

काहूँ गही आँब कै डारा। काहूँ विरह जाँबु अति झारा ॥
कोइ नारँग कोइ झार चिरौंजी। कोइ कटहर, बड़हर, कोइ न्यौंजी ॥
कोइ दारिउँ कोइ दाख सो खीरी। कोइ सदाफर, तुरँज जँभीरी ॥

कोइ जैफर औ लौंग, सुपारी। कोइ कमरख, कोइ गुवा छुहारी।
कोइ बिजौर, कोइ नरियर जोरी। कोइ अँबिलि, कोइ महुव खजूरी।
कोइ हरपा रेउरी कसौंदा। कोइ अँवरा, कोइ बेर करौंदा॥
काहुँ गही केरा की घोरी। काहुं हाथ परी निबकोरी॥
काहूँ पाई निअरैं, काहूँ कहँ गए दूरि।
काहूँ खेल भएउ बिख, काहूँ अम्रित मूरि ॥ १८७ ॥

शब्दार्थ—आँब = आम। डारा = डाली। जाँबु = जामुन। झारा = जलाई हुई। न्यौंजी = चिलगोजा। दारिउँ = दाड़िम, अनार। खोरी = खिरनी। तुरँज = नींबू।

अर्थ— भिन्न-भिन्न लड़कियाँ भिन्न-भिन्न पेड़ की डाली पकड़ कर फल तोड़ने लगीं—किसी ने आम की डाल पकड़ी और किसी ने विरह की जलाई काली जामुन की डाल। किसी ने नारङ्गी, किसी ने चिरौंजी, किसी ने कटहल, किसी ने बड़हल, किसी ने चिलगोजा, किसी ने अनार पकड़े। इसी प्रकार दाख, खिरनी, सदाफर, जंभीरी, नीबू, जायफर, लौंग, सुपारी, कमरख, गुवा, छुहारा, बिजौर, नारियल, इमली, महुआ, खजूर, हर्रा, रेउरी, कसौंदा, आँवला, बेर, करौंदा, केला की घौर और नीम की फली आदि फल सब ने ले लिए। किसी को तो निकट ही पेड़ मिल गये किसी को दूर मिले। किसी को तो खेल अमृत हुआ और किसी को विष हुआ।

*टिप्पणी—जायसी की पद्धति नाम गिनाने की बहुत है। पेड़ों का नाम गिनाने लगे तो जितना आया कह गया। ऐसी नीरस पदावली ग्रन्थावली में भरी पड़ी है।*

[ १८८ ]

पुनि बीनहि सब फूल सहेली। जो चेहि आस पास रह बेली॥
कोइ केवरा, कोइ चंप नेवारी। कोइ केतुकि मालति फुलवारी॥
कोइ सदवरग, कुंद, औ करनाँ। काइ चँबेलि, नागेसरि बरनाँ॥
कोइ सो गुलाल, सुदरसन कूजा। कोइ सोनजरद पाव भलि पूजा॥
कोइ बोलसिरि पुहुप बकौरी। कोइ रुपमाँजरि, कोइ गुनगौरी॥
कोइ सिंगारहार तिन्ह पाहाँ। कोइ सेवती, कदम की छाहाँ॥

कोइ चंदन फूलन्ह जनु फूली। कोइ अजान बीरो तर भूली॥
कोई फूल पाव, कोइ पाती, हाथ जेहि क जहं आँट।
कोइ सिउं हार चीर अरुझानी, जहाँ छुवै तहँ काँट॥ १८८॥

शब्दार्थ—बीनहिं = चुनना। केवरा = केवड़ा। कूजा = कुब्जक-सफेद जङ्गली गुलाब। बोलसिरि = मौलिश्री। बकौरी = बकावली।

अर्थ—फिर सब सहेलियां फूल चुनने लगीं, जो फूल जिसके समीप था उसी को वह तोड़ने लगी। केवड़ा, चंपा, नेवारी, केतकी, मालती, सदबरग, कुन्द, करना, चमेली, नाग केसर, गुलाब, सुदर्शन, सफेद जंगली गुलाब, सोनजरद, मौलिश्री, गुलबकावली, रूप मंजरी, गुनगौरी, हरसिंगार, सेवती, कदम्ब, चन्दन और अजानवीर के नीचे सभी भूल गईं। किसी को फूल मिला और किसी को पत्ती, जिसको जो प्राप्त हो सका वही ले लिया। किसी की चीर और हार उलझ गया क्योंकि जहीं छूते थे वहीं तो कांटा था।

[ १८९ ]

फर फूलन्ह सब डारि ओनाईं। झुण्ड बाँधि कै पंचमि गाईं॥
बाजे ढोल दुंद औ भेरी। मन्दिर, तूर, झाँझ, चहुँ फेरी॥
सङ्ख, सींग, डफ संगम बाजे। बंसकारि, महुवर सुर साजे॥
औरु कहा जेत बाजन भले। भाँति भाँति सब बाजत चले॥
रथन्ह चढ़ीं सब रूप सोहाईं। लै बसन्त मढ़ मँडप सिधाईं॥
नवल बसंत, नवल वै बारीं। सेंदुर बुक्का होइ धमारी॥
खिनहिं चलहिं, खिन चाँचरि होई। नाँच कोड भूला सब कोई॥
सेंदुर खेह उठा तस, गगन भएउ सब रात।
राति सकल महि धरती, रात बिरिख बन पात॥ १८९॥

शब्दार्थ—ओनाईं = झुकाया। बंसकारि = वंशी। जेत = जितने। धमारी = होली का खेल। चाँचरि = चंचल। कोड़ = खेल। रात = लाल।

अर्थ—फल फूलों की सब डालियों को झुका लिया और पंचम स्वर से गाने लगीं। ढोल, दुंदुभि, भेरी, मृदंग, झाँझ, शंख, सींग, डफ, संगम, वंशी, महुवर आदि जितने बाजे थे सब बजने लगे। रथों पर चढ़ कर सुशोभित होती हुई सब वसंत के मंडप पर चलीं। वसन्त भी नया है और

कुमारियाँ भी नयी हैं, सिंदूर, अबीर और गुलाल से होली का खेल होने लगा। कभी वे धीरे-धीरे चलती हैं और कभी तेज़ी से। नाच, और खेलों में सभी भूल गयीं। गुलाल और सिंदूर इतने उड़े कि सारा आकाश लाल हो गया, सारी भूमि लाल हो गयी और वृक्ष के सब पत्ते लाल हो गये।

[ १६० ]

एहि विधि खेलत सिंघल रानी। महादेव मढ़ जाइ तुलानी ॥
सकल देवता देखैं लागे। दिस्टि पाप सब तिन्हके भागे ॥
ये कबिलास सुनीं आछरीं। कहँ हुत आईं परमेसरीं ॥
कोई कहै पदुमिनीं आई। कोई कहै ससि नखत तराईं ॥
कोई कहै फूल फुलवारी। भूलै सबै देखि सब बारीं ॥
एक सुरूप औ सेंदुर सारे। जानहुं दिया सकल महि बारे ॥
मुर्छि परे जाँवत जे जोहे। जानहुं मिरिग देवारी मोहे ॥

कोई परा भँवर होइ, बास लीन्ह जनु चाँप।
कोई पतंग भा दीपक, होइ अधजर तन काँप ॥ १६० ॥

शब्दार्थ—तुलानी = पहुँची। जोहे = देखा। मिरिग = हिरण। देवारी = गीले कछारों में रहने वाला लुक।

अर्थ—इस प्रकार सिंहल की रानी खेलती हुई महादेव जी के गढ़ पर जा पहुँची। सभी देवता उसे देखने लगे और देखने से उनकी दृष्टियों के सारे पाप भाग गये। कहने लगे ये स्वर्ग की अप्सरायें हैं या परमेश्वरियाँ हैं। कोई कहता है कि पद्मिनी आई है और कोई कहता है कि चन्द्रमा तारागणों के साथ आया है। कोई कहता है कि फुलवाड़ी फूली है और सभी कुमारियों को देख कर भूल गये। एक तो उनका स्वरूप बड़ा सुन्दर था फिर होली खेलने से उन पर गुलाल पड़े थे मानो सारी पृथ्वी में दीपक प्रकाशित हो रहे हैं। जितने लोगों ने इन्हें देखा वे मूर्छित हो गये मानो मृग कछारों के लुकों को देख कर उन पर मोहित हो गये हों। कोई भौंरा हो गया मानो वह चंपे की सुगंध ले रहा हो और कोई पतिंगा होकर दीपक पर पड़ा और अधजला होकर काँपने लगा।

[ १६१ ]

पदुमावति गै देव दुआरु। भीतर मँडप कीन्ह पैसारू॥
देवहिं संसौ भा जिय केरा। भागौं केहि दिसि मँडप घेरा॥
एक जोहार कीन्ह औ दूजा। तिसरैं आइ चढ़ाएन्हि पूजा॥
फर फूलन्ह सब मँडप भरावा। चंदन अगर देव नहवावा॥
भरि सेंदुर आगें होइ खरी। परसि देव औ पाएन्ह परी॥
औरु सहेलीं सबै बियाहीं। मो कहँ देव कतहुं बर नाहीं॥
हौं निरगुनि जेइँ कीन्ह न सेवा। गुनि निरगुनि दाता, तुम्ह देवा॥
वर सजोग मोहि मेरवहु, कलस जाति हौं मानि।
जेहि दिन इंछा पूजै, बेगि चढ़ावौं आनि॥ १६१॥

शब्दार्थ—पैसारू = प्रवेश। मेरवो = मिलाओ। मानि = मनौती करना। इंछा = इच्छा।

अर्थ—पद्मावती देवद्वार पर गयी और मंडप के भीतर प्रवेश किया। देवता को अपने जान का संदेह हुआ, सोचने लगा किस दिशा से भागूँ क्योंकि चारों ओर से मंडप घिरा हुआ है। पद्मावती ने दो बार प्रणाम किया और तीसरे बार वह पूजा चढ़ाने लगी। फल फूलों से उसने मंडप भरवा दिया, चंदन और अगर से उसने देवता का स्नान करवाया। सिंदूर चढ़ा कर आगे खड़ी हुई और देवता को स्पर्श करके उसके पाँवों में पड़ गयी। उसने कहा कि और सब सहेलियाँ विवाहिता हो गयीं पर मुझे कोई वर ही नहीं मिलता। मैं गुणहीन हूँ, मैंने आपकी कोई सेवा न की, पर तुम तो दाता हो, गुणी और गुणहीन सबको देने वाले हो। आप मुझे योग्य वर से मिला दें। मैं आपको कलश मान जाती हूं, जिस दिन मेरी इच्छा पूरी होगी उसी दिन आकर चढ़ा जाऊँगी।

[ १६२ ]

इंछि इंछि बिनई जसि जानी। पुनि कर जोरि ठाढ़ि भै रानी॥
उतर को देइ, देव मरि गएऊ। सबद अकूट मँडप महँ भएऊ॥
काटि पवारा जैस परेवा। मर भा ईस, औरु को देवा॥
भए बिनु जिउ नावत औ ओझा। बिख भइ पूरि, काल भा गोझा॥

जो देखैं जनु बिसहर डँसा। देखि चरित पदुमावति हँसा॥
भल हम आइ मनावा देवा। गा जनु सोइ, को मानै सेवा॥
को इंछा पुरवै, दुख धोवा। जेहि मनि आए सो तनि तनि सोवा॥
जेहि धरि सखी उठावहिं, सीस बिकल तेहि डोल।
धर कोइ जीव न जानै, मुख रे बकत कुबोल॥ १९२॥

शब्दार्थ—अकूट = आकाशवाणी। पवारा = फेंक दिया। नावत = पुजारी पूरि = पूड़ी। गोझा = गुँझिया। बिसहर = विषधर साँप।

अर्थ—अभिलाषा करके रानी ने जैसा कि वह जान सकती थी विनय की। फिर हाथ जोड़ कर खड़ी हो गयी। पर उत्तर कौन दे ? देवता ही मूर्छित हो गया। तब मंडप में आकाशवाणी हुई कि जैसे पक्षी को कोई काट कर फेंक देता है उसी प्रकार शंकर ही मूर्छित हो गया है और देवताओं की कौन कहै ? सभी पुजारी और ओझा लोग भी जीव विहीन हो गये, पूड़ियाँ विष हो गईं और गुंझियायें काल हो गईं। जिसे देखो वही मानों साँप से डसा गया है। यह देख कर पद्मावती हँस पड़ी। उसने कहा कि हमने देवता को अच्छा मनाया कि वह सो गया, कौन हमारी सेवा स्वीकार करे। कौन हमारी अभिलाषायें पूरी करे और हमारे दुखों को धोये, जिस-जिसको मान कर हम आये थे वे सब तन-तन कर सो रहे हैं। सखियाँ जिसे ही पकड़-पकड़ कर उठाती हैं उसी का शीस व्याकुलता से डोलता है। किसी के धड़ में जीव नहीं मालूम होता मुख से अनाप-शनाप बकते हैं।

[ १९३ ]

ततखन आइ सखी बिहँसानी। कौतुक एक न देखहु रानी।
पुरुब बार कोइ जोगी छाए। न जनौं कौन देस सौं आए॥
जनु उन्ह जोग तंत अब खेला। सिद्ध होइ निसरे सब चेला॥
उन्ह महँ एक जो गुरू कहावा। जनु गुर दै काहू बौरावा॥
कुँवर बतीसौ लक्खन राता। दसएँ लखन कहै एक बाता॥
जानहुँ आहि गोपिचंद जोगी। कै सो भरथरि आहि बियोगी॥
वै पिंगला गए कजरी आरन। यह सिंघल दहुँ सो केहि कारन॥

यह मूरति, यह मुंद्रा, हम न देखा औधूत।
जानहुँ होहिं न जोगी, केहु राजा के पूत ॥ १६३ ॥

शब्दार्थ—तंत = तत्व । निसरे = निकले । दसएँ लखन = योगियों के बत्तीस लक्षणों में से दसवाँ लक्षण 'सत्य' है। पिंगला = राजा भर्तृहरि की रानी। कजरी आरन = कदली वन। औधूत = अवधूत-संन्यासी।

अर्थ—उसी समय एक विहँसती हुई सखी आई और कहा कि हे रानी विचित्र बात तुम नहीं देख रही हो। गढ़ के पूर्व द्वार पर कुछ जोगी: छाए हुए हैं न जाने किस देश से आये हैं। ऐसा मालूम होता है कि उन्होंने योग के तत्वों को अच्छी प्रकार खेल रखा है और सिद्ध होकर सभी चेले निकले हैं। उनमें से जो गुरु कहा जाता है उसकी तो यह दशा है मानो किसी ने गुड़ देकर उसे पागल कर दिया है। उस कुंवर में योगियों के बत्तीसों लक्षण प्रकाशित हैं और सत्य से ही एक एक बात करता है। मानो वह जोगी गोपीचन्द है या वह वियोगी भर्तृहरि है। भर्तृहरि जी तो पिंगला के कारण कदली वन गये थे पता नहीं यह किस कारण से सिंहल आया है। हमने इस मूर्ति और इस मुद्रा का कोई साधु नहीं देखा था, ऐसा प्रतीत होता है कि यह जोगी नहीं कोई राजकुमार है।

[ १६४ ]

सुनि सो बात रानी सिउँ चढ़ी। कहाँ सो जोगी देखौं मढ़ी ॥
लै संग सखी कीन्ह तहँ फेरा। जोगिहि आइ जनु अछरिन्ह घेरा ॥
नैन कचोर पेम मद भरे। भइ सुदिस्टि जोगी सौं ढरे ॥
जोगीं दिस्टि दिस्टि सो लीन्हा। नैन रूप नैनन्ह जिउ दीन्हा ॥
जो मधु चहत परा तेहि पालें। सुधि न रही ओहि एक पियालें ॥
परा माँति गोरख का चेला। जिउ तन छाँड़ि सरग कहँ खेला ॥
किंगरी गहे जु हुत बैरागी। मरतिहुँ बार उहै धुनि लागी ॥
जेहि धंधा जाकर मन लागै, सपनेहु सूझु सो धंध।
तेहि कारन तपसी तप साधहिं, करहिं पेम मन बंध ॥ १६४ ॥

शब्दार्थ—सिउँ-पाठान्तर-रथ। कचोर = कटोरा। माँति = बेसुध। हुत = थे। धंधा = कार्य।

अर्थ—यह बात सुन कर रानी रथ पर चढ़ी और कहा कि वह मढ़ी कहाँ है जहाँ जोगी हैं मैं देखूंगी। सखियों को साथ लेकर उसने मन्दिर का चक्कर लगाया और जोगियों को चारों ओर इस प्रकार घेर लिया मानो जोगियों को अप्सराओं ने घेर लिया हो। नैन रूपी कटोरे प्रेम के मद से भरे थे। जोगियों की दृष्टि से दृष्टि मिली। जोगी रत्नसेन ने दृष्टि में दृष्टि मिलाई और आँखों से ही पद्मावती के रूप को लेकर बेसुध हो गया। जिस शराब को वह चाहता था उसी के पाले आ पड़ा और एक ही प्याले के पान से वह बेसुध हो गया। गोरखपंथी साधु संज्ञाहीन हो गया और उसके प्राण शरीर को छोड़ कर स्वर्ग को चले। चिकारा लिये हुए जो वैरागी बना था उसको मरते समय भी 'पद्मावती, पद्मावती' की वही धुन लगी हुई थी। जिसका मन जिस कार्य में लगा होता है वह स्वप्न में भी वही देखता है, इसी कारण तो तपस्वी लोग तप साधते हैं और प्रेम में अपने मन बाँधते हैं।

[ १६५ ]

पदुमावति जस सुना बखानू। सहसहुँ कराँ देखा तस भानू॥
मेलेसि चंदन मकु खिनु जागा। अधिकौ सूत, सिअर तन लागा।
तब चंदन आखर हियँ लिखे। भीख लेइ तुइँ जोगि न सिखे॥
बार आइ तब गा तैं सोई। कैसें भुगुति परापति होई॥
अब जौं सूर अहै ससि राता। आइहि चढ़ि सो गँगन पुनि साता॥
लिखि कै बात सखी सौं कही। इहै ठाउँ हौं बारति अही॥
परगट होइ तौ होइ अस भंगू। जगत दिया कर होइ पतंगू॥
जासौं हौं चख हेरौं, सोइ ठाउँ जिउ देइ।
एहि दुख कबहुँ न निसरौं, को हत्या असि लेइ॥ १६५॥

शब्दार्थ— मेलेसि=लगाया। मकु=शायद। खिनु=क्षण भर के लिए। सूत=सो गया। सिअर=ठंडा। बार=द्वार। परापति=प्राप्ति। बारति=रोकती। अही=थी।

अर्थ—पद्मावती ने तोते से जैसी प्रशंसा रानी की सुनी थी उसी प्रकार सहस्र किरणों वाला सूर्य देखा। उसने उसके चन्दन लगा दिया कि शायद एक क्षण के लिए वह जग जाय, पर वह तो ठंडक पाकर और स

गया। तब उसने चन्दन के अक्षर उसके हृदय पर लिख दिये कि तुमने भिक्षा लेने योग्य जोग नहीं सीखा है। द्वार पर आकर तू सो गया तब तुझे भिक्षा कैसे प्राप्त हो सकती है। अब यदि तू सूर्य है और चन्द्रमा में अनुरक्त है तो सात आसमान पर चढ़ कर आना। यह बात लिख कर उसने सखी से कहा कि इसी बात को मैं पहले रोक रही थी। यदि मैं बाहर प्रकट हो जाऊँगी तो इसी प्रकार का रंग में भंग होगा, सारा संसार दीपक का पतंगा होकर जल जायगा। जिससे में दृष्टि मिलाऊँ वही उसी जगह जान देता है, इसी दुख से मैं कभी नहीं निकलती कौन ऐसी हत्या ले।

[ १९६ ]

कीन्ह पयान सभन्ह रथ हाँका। परबत छाड़ि सिंघल गढ़ ताका॥
भए बलि सबै देवता बली। हत्यारिनि हत्या लै चली॥
को अस हितू मुए गह बाहीं। जौं पै जिउ अपने तन नाहीं॥
जौं लगि जिउ आपन सब कोई। बिनु जिउ सबै निरापन होई॥
भाइ बन्धु औ लोग पियारा। बिनु जिय घरी न राखै पारा॥
बिनु जिय पिंड छार कर कूरा। छार मिलाव सोइ हितु पूरा॥
तेहि जिय बिनु अब मर भा राजा। को उठि बैठि गरब सौं गाजा॥
परी कया भुइँ रोवै, कहाँ रे जिय बलि भीवँ।
को उठाइ बैसारै, बाजु पियारे जीवँ॥ १९६॥

शब्दार्थ—पयान = प्रस्थान। सभन्ह = सबने। ताका = देखा, उस ओर बढ़ा। निरापन = अपना नहीं, व्यर्थ। पारा = सकता। छार कर कूरा = मिट्टी का कूड़ा। भीवँ = भीम। बैसारै = बैठावै। बाजु = बिना।

अर्थ—सब ने प्रस्थान किया और अपने-अपने रथ चलाये। पर्वत को छोड़ कर सबने सिंहलगढ़ की राह ली। सभी बली देवता बलि हो गये और हत्यारिन सब की हत्या लेकर चली। ऐसा कौन हितैषी है, जो अपने शरीर से जीव के निकल जाने पर बाँह पकड़ सकता है। जब तक जीव है, तभी तक अपना सब है, जीव के बिना अपना कोई नहीं है। भाई, बन्धु और प्यारे लोग कोई भी जीव के बिना एक घड़ी भी नहीं रख सकते। बिना जीव के शरीर मिट्टी का कूड़ा मात्र है। जो इस शरीर को मिट्टी में मिला

अर्थ—यह बात सुन कर रानी रथ पर चढ़ी और कहा कि वह मढ़ी कहाँ है जहाँ जोगी हैं मैं देखूंगी। सखियों को साथ लेकर उसने मन्दिर का चक्कर लगाया और जोगियों को चारों ओर इस प्रकार घेर लिया मानो जोगियों को अप्सराओं ने घेर लिया हो। नैन रूपी कटोरे प्रेम के मद से भरे थे। जोगियों की दृष्टि से दृष्टि मिली। जोगी रत्नसेन ने दृष्टि में दृष्टि मिलाई और आँखों से ही पद्मावती के रूप को लेकर बेसुध हो गया। जिस शराब को वह चाहता था उसी के पाले आ पड़ा और एक ही प्याले के पान से वह बेसुध हो गया। गोरखपंथी साधु संज्ञाहीन हो गया और उसके प्राण शरीर को छोड़ कर स्वर्ग को चले। चिकारा लिये हुए जो वैरागी बना था उसको मरते समय भी 'पद्मावती, पद्मावती' की वही धुन लगी हुई थी। जिसका मन जिस कार्य में लगा होता है वह स्वप्न में भी वही देखता है, इसी कारण तो तपस्वी लोग तप साधते हैं और प्रेम में अपने मन बाँधते हैं।

[ १९५ ]

पदुमावति जस सुना बखानू। सहसहुँ कराँ देखा तस भानू॥
मेलेसि चंदन मकु खिनु जागा। अधिकौ सूत, सिअर तन लागा।
तब चंदन आखर हियँ लिखे। भीख लेइ तुइँ जोगि न सिखे॥
बार आइ तब गा तैं सोई। कैसें भुगुति परापति होई॥
अब जौं सूर अहै ससि राता। आइहि चढ़ि सो गँगन पुनि साता॥
लिखि कै बात सखी सौं कही। इहै ठाउँ हौं बारति अही॥
परगट होइ तौ होइ अस भंगू। जगत दिया कर होइ पतंगू॥
जासौं हौं चख हेरौं, सोइ ठाउँ जिउ देइ।
एहि दुख कबहुँ न निसरौं, को हत्या असि लेइ॥ १९५॥

शब्दार्थ—मेलेसि=लगाया। मकु=शायद। खिनु=क्षण भर के लिए। सूत=सो गया। सिअर=ठंडा। बार=द्वार। परापति=प्राप्ति। बारति=रोकती। अही=थी।

अर्थ—पद्मावती ने तोते से जैसी प्रशंसा रानी की सुनी थी उसी प्रकार सहस्र किरणों वाला सूर्य देखा। उसने उसके चन्दन लगा दिया कि शायद एक क्षण के लिए वह जग जाय, पर वह तो ठंडक पाकर और स

गया। तब उसने चन्दन के अक्षर उसके हृदय पर लिख दिये कि तुमने भिक्षा लेने योग्य जोग नहीं सीखा है। द्वार पर आकर तू सो गया तब तुझे भिक्षा कैसे प्राप्त हो सकती है। अब यदि तू सूर्य है और चन्द्रमा में अनुरक्त है तो सात आसमान पर चढ़ कर आना। यह बात लिख कर उसने सखी से कहा कि इसी बात को मैं पहले रोक रही थी। यदि मैं बाहर प्रकट हो जाऊँगी तो इसी प्रकार का रंग में भंग होगा, सारा संसार दीपक का पतंगा होकर जल जायगा। जिससे में दृष्टि मिलाऊँ वही उसी जगह जान देता है, इसी दुख से मैं कभी नहीं निकलती कौन ऐसी हत्या ले।

[ १९६ ]

कीन्ह पयान सभन्ह रथ हाँका। परबत छाड़ि सिंघल गढ़ ताका॥
भए बलि सबै देवता बली। हत्यारिनि हत्या लै चली॥
को अस हितू मुए गह बाहीं। जौं पै जिउ अपने तन नाहीं॥
जौं लगि जिउ आपन सब कोई। बिनु जिउ सबै निरापन होई॥
भाइ बन्धु औ लोग पियारा। बिनु जिय घरी न राखै पारा॥
बिनु जिय पिंड छार कर कूरा। छार मिलाव सोइ हितु पूरा॥
तेहि जिय बिनु अब मर भा राजा। को उठि बैठि गरब सौं गाजा॥
परी कया भुइँ रोवै, कहाँ रे जिय बलि भीवँ।
को उठाइ बैसारै, बाजु पियारे जीवँ॥ १९६॥

शब्दार्थ—पयान = प्रस्थान। सभन्ह = सबने। ताका = देखा, उस ओर बढ़ा। निरापन = अपना नहीं, व्यर्थ। पारा = सकता। छार कर कूरा = मिट्टी का कूड़ा। भीवँ = भीम। बैसारै = बैठावै। बाजु = बिना।

अर्थ—सब ने प्रस्थान किया और अपने-अपने रथ चलाये। पर्वत को छोड़ कर सबने सिंहलगढ़ की राह ली। सभी बली देवता बलि हो गये और हत्यारिन सब की हत्या लेकर चली। ऐसा कौन हितैषी है, जो अपने शरीर से जीव के निकल जाने पर बाँह पकड़ सकता है। जब तक जीव है, तभी तक अपना सब है, जीव के बिना अपना कोई नहीं है। भाई, बन्धु और प्यारे लोग कोई भी जीव के बिना एक घड़ी भी नहीं रख सकते। बिना जीव के शरीर मिट्टी का कूड़ा मात्र है। जो इस शरीर को मिट्टी में मिला

दें। अर्थात् जो इसे मिट्टी समझ कर उसके प्रति आसक्ति हीन हो जाय वही पूरा हितकारी है। उस जीव के बिना अब राजा मर गया है, अब कौन उठ कर गर्व से गरजेगा। उसका शरीर भूमि पर पड़ा रो रहा है, बलि और भीम के समान वह जीव कहाँ है। बिना प्यारे जीव के कौन उसे उठा कर बैठा सकता है?

[ १६७ ]

पदुमावति सो मँदिर पईठी। हँसत सिंघासन जाइ बईठी॥
निसि सूती सुनि कथा बिहारी। भा बिहान औ सखी हँकारी॥
देव पूजि जब आइउँ काली। सपन एक निसि देखिउँ आली॥
जनु ससि उदौ पुरुब दिसि कीन्हा। औ रबि उदौ पछिवँ दिसि लीन्हा॥
पुनि चलि सुरुज चाँद पहँ आवा। चाँद सुरुज दुहुँ भएउ मेरावा॥
दिन औ राति जानु भए एका। राम आइ रावन गढ़ छेंका॥
तस किछु कहा न जाइ निखेधा। अरजुन बान राहु गा बेधा॥
जनहुँ लंक सब लूसी, हनूँ बिधाँसी बारि।
जागि उठिउँ अस देखत, सखि सो कहहु बिचारि॥ १६७॥

शब्दार्थ—बिहारी = विहार-सैर की। बिहान = प्रातः। आली = सखी। निखेधा = निषिद्ध, बुरी बात। लूसी = लूटी। बिधाँसी = विध्वंस कर दिया। हनूँ = हनूमान्। बारि = वाटिका। राहु = रोहू मछली।

अर्थ—पद्मावती ने अपने महल में प्रवेश किया, और सिंहासन पर जा बैठी। सैर की कहानी सुन कर रात में सो गयी, सुबह हुई तो उसने अपनी सखी को बुलाया। उसने कहा कि जब मैं कल देवता की पूजा कर लौटी तो मैंने एक स्वप्न देखा। मानो पूर्व दिशा में चन्द्रमा उदय हुआ और पश्चिम में सूर्य। फिर सूर्य चल कर चन्द्रमा के पास आया और चन्द्र और सूर्य का मेल हुआ। ऐसा मालूम हुआ कि दिन और रात एक हो गये। राम ने आकर रावण का गढ़ घेर लिया। ऐसी बुरी बात हुई कि कही नहीं जाती। अर्जुन के बाण से रोहू मछली बेधी गयी। मानो सारी लंका लुट गई और हनूमान् ने वाटिका का विध्वंस कर डाला, ऐसा देखते ही मैं जाग उठी। अब तू विचार कर इसका रहस्य बता।

[ १६८ ]

सखी सो बोली सपन बिचारू। कालिह जो गइहु देव के बारू॥
पूजि मनाइहु बहुत बिनाती। परसन आइ भएउ तुम्ह राती॥
सुरुज पुरुख चाँद तुम्ह रानी। अस बर देव मिलावा आनी॥
पछिवँ खंड कर राजा कोई। सो आवै वर तुम्ह कहँ होई॥
पुनि कछु जूझि लागि तुम्ह रामा। रावन सौं होइहि संग्रामा॥
चाँद सुरुज सिउँ होई बिआहू। बारि बिधाँसब बेधब राहू॥
जस ऊखा कहँ अनिरुध मिला। मेंटि न जाइ लिखा पुरुबिला॥
आज सोहाग है तुम्ह कहँ, पान फूल रस भोग।
आजु कालिह भा चाहिअ, अस सपने क सँजोग॥ १६८॥

शब्दार्थ—परसन=प्रसन्न। बारि बिधाँसब = संभोग के समय कुमारी-पन का विध्वंस होना। पुरुबिला = पूर्व जन्म का। संजोग = फल।

अर्थ—सखी ने स्वप्न-विचार कहना आरम्भ किया कि कल जो तुम देवद्वार पर गयी थीं और बहुत विनती करके तुमने देवता को मनाया था। वही देवता रात में तुमसे प्रसन्न हुआ है। सूर्य तो पुरुष (रत्नसेन) है और चन्द्रमा तुम हो। देवता ने ऐसा वर आकर मिलाया है। यह पश्चिम देश का कोई राजा है वही तुम्हारा वर होकर आ रहा है। फिर कुछ तुम्हारे लिए उस राजा तथा तुम्हारे पिता के बीच राम-रावण का संग्राम होगा। फिर चाँद और सूर्य का विवाह होगा। फिर संभोग के रूप में तुम्हारे कुमारी-पन का जो विध्वंस होगा वही अर्जुन का मछली भेदना और हनूमान् का वाटिका विध्वंस करना है। जिस प्रकार उषा को अनिरुद्ध मिले थे, उसी प्रकार तू रत्नसेन को मिलेगी। पूर्व जन्म का लिखा हुआ मिट नहीं सकता। जो तुझको सुख, सौभाग्य, पान, फूल, रस आदि का भोग लिखा है वह आजकल में होना चाहता है, यही इस स्वप्न का फल है।

---

# २१. राजा-रत्नसेन-सती-खण्ड

[ १६६ ]

कै बसन्त पदुमावति गई। राजहिं तब बसंत सुधि भई ॥
जौं जागा न बसन्त न बारी। ना सो खेल, न खेलनिहारी ॥
ना ओहि की वै रूप सहाईं। गैं हेराइ, पुनि दिस्टि न आईं ॥
फूल झरैं, सूखीं फुलवारी। दिस्टि परीं उकठीं सब झारीं ॥
केइँ यह बसत बसंत उजारा। गा सो चाँद, अँथवा लै तारा ॥
अब तेहि बिन जग भा अँधकूपा। वह सुख छाँह, जरौं हौं धूपा ॥
बिरह दवा अस को रे बुझावा। को प्रीतम सें करै मेरावा ॥

हिआ देखि सो चंदन घेवरा, मिलि कै लिखा बिछोव।
हाथ मींजि सिर धुनै सो रोवै, जो निचिंत अस सोव ॥ १६६ ॥

शब्दार्थ—हेराइ = खो जाना। उकठीं = सूख कर ऐंठ गईं। झारीं = झाड़ियाँ। अँथवा = अस्त हुआ। दवा = दावाग्नि। घेवरा = चन्दन लगाना।

अर्थ—वसन्त पूजन करके जब पद्मावती चली गई तब राजा को वसन्त की याद आई। जब वह जगा तब न वसन्त का उत्सव था और न कुमारियां थीं, न वह खेल था और न खेलने वाली लड़कियां थीं। न उसका वह रूप है और न उसकी सहेलियां हैं सब खो गये, कुछ भी दृष्टि नहीं आता। फूल झड़ गये, फुलवाड़ी सूख गई, केवल सूखी हुई झाड़ियां दिखाई पड़ीं। किसने इस बने हुए वसन्त को उजाड़ दिया है। वह चन्द्रमा सब तारागणों को लेकर अस्त हो गया। अब तो उसके बिना सारा संसार अंधकूप है, वह तो सुख की छाया में है और मैं धूप में जल रहा हूं। विरह की दावाग्नि को ऐसा कौन है जो बुझा सके। कौन उस प्रीतम से मिलाप करा सकता है। जब उसने अपने वक्षस्थल पर चन्दन का लेप देखा कि उसमें मिल कर वियोग लिखा हुआ है तब तो वह राजा रत्नसेन जो निश्चिन्त होकर सो रहा था, सिर धुन कर और हाथ मल कर रोने लगा।

अलंकार—रूपक और रूपकातिशयोक्ति।

[ २०० ]

जस बिछोव जल मीन दुहेला । जल हुति काढ़ि अगिनि महँ मेला ॥
चंदन आँक दाग होइ परे । बुझहिं न ते आखर परजरे ॥
जनहुँ सरागिनि होइ होइ लागे । सब बन दागि सिंघ बन दागे ॥
जरे मिरिग बनखँड तेहि ज्वाला । औ ते जरे बैठ तहँ छाला ।
कत ते अंक लिखा जेहिं सोवा । मकु आँकत नहिं करत बिछोवा ॥
जस दुखंत कहँ साकुन्तला । माधौनलहि काम कंदला ॥
भए अंक नल जैस दमावति । नैना मूँदि छपी पदुमावति ॥
आइ बसंता छपि रहा, होइ फूलन्ह के भेस ।
केहि बिधि पावौं भँवर होइ, कौनु सो गुरु उपदेस ॥ २०० ॥

शब्दार्थ--हुति = से । परजरे = जलते रहे । सरागिनि = शरागिन = सरकण्डों की आग । दमावति = दमयन्ती ।

अर्थ—जैसे जल का वियोग मछली को दुखदायी होता है इसी प्रकार राजा को ऐसा प्रतीत हुआ मानों उसे जल से निकाल कर अग्नि में डाल दिया हो । चन्दन के निशान दाग होकर रह गये । वे अक्षर बुझे नहीं वरन् जलते ही रहे मानों सरकंडे की आग बन कर लगे और सारे वन को जला कर फिर सिंह को भी दाग दिया । उस ज्वाला से वन और उसके सभी मृग जल गये और वे लोग भी जल गये जो वहाँ पर मृगछालाओं पर बैठ कर तपस्या कर रहे थे । जो सो गया था उसके हृदय पर अंक और लिखे, शायद यदि न लिखती तो बिछोह न होता । जैसे दुष्यन्त को शकुन्तला, माधवानल को कामकन्दला और नल को दमयन्ती का बिछोह हुआ था, उसी प्रकार आँखें मूंद कर पद्मावती छिप गयी है । वसन्त आकर फूलों के वेश में छिप गया है, मैं किस गुरु के उपदेश से भ्रमर हो कर उसे किस प्रकार पाऊँ ?

[ २०१ ]

रोवै रतन माल जनु चूरा । जहँ होइ ठाढ़, होइ तहाँ कूरा ॥
कहाँ बसंत सो कोकिल बैना । कहाँ कुसुम अलि बेधै नैना ॥
कहाँ सो मूरति परी जो डीठी । काढ़ि लीन्ह जिउ हिएँ पईठी ॥
कहाँ सो दरस परस जेहि लाहा । जौं सो बसंत करीलहि काहा ॥

पात बिछोव रूख जौं फूला। सो महुवा रोवै अस भूला॥
टपकै महुव आँसु तस परई। होइ महुवा बसंत जेउँ झरई॥
मोर बसंत सो पदुमिनि बारी। जेहि बिनु भएउ बसंत उजारी॥
पावा नवल बसंत बन, बहु आरति बहु चोप।
अैस न जाना अंत होइ, पात झरहिं होइ कोप॥ २०१॥

शब्दार्थ—चूरा=चूर्ण हो गया, नष्ट हो गया। कूरा=ढेर। काढ़ि-लीन्ह=निकाल लिया। पईठो=प्रवेश कर। लाहा=लाभ। आरति=दुःख। चोप=चाह। कोप=क्रोध, दुर्गति।

अर्थ—रत्नसिंह इस प्रकार रोने लगा मानो उसका सामान नष्ट हो गया। जहां ही वह खड़ा होता था वहीं आंसुओं का ढेर लग जाता था। वह रोने में कहता कि वह वसन्त तथा कोयल के शब्द अब कहां हैं? वे फूल, वे भौंरे जो नेत्रों को बेधने वाले (मुग्ध करने वाले) थे अब कहां चले गये? वह मूर्ति जो दिखाई पड़ी थी अब कहां चली गई, उसने हृदय में प्रवेश करके आशा को ही निकाल लिया। वह कहां है जिसके दर्शन और स्पर्श का हम लाभ प्राप्त कर सकें। यदि वसन्त भी हो तो करील को क्या, अर्थात् जैसे वसन्त में भी करील के कांटेदार वृक्ष में कोई अन्तर नहीं होता उसी प्रकार अब वसन्त ऋतु में पद्मावती के वियोग के कारण मुझमें क्या परिवर्तन होगा। इसी प्रकार महुवा वृक्ष जैसे वसन्त के महीने में पत्तों से विहीन हो कर फूलता है और पत्तों के वियोग में रोता है, ऊपर से महुवा के फूल के रूप में वह सफेद-सफेद टप टप आंसू गिराता रहता है उसी प्रकार मैं भी इस वसन्त के महीने में झर रहा हूं। मेरा वसन्त तो वह पद्मिनी ही थी उसके बिना तो मेरे जीवन का वसन्त ही उजड़ गया। नये वसन्त के आगमन में वन में बड़ी तैयारी हुई थी, मैंने उसके आगमन की प्रतीक्षा में बड़ी उत्कंठा और बड़ी अभिलाषायें कर रक्खी थीं, पर ऐसा नहीं जानता था कि अन्त में सारे पत्ते गिर जायेंगे और ईश्वर कोप होकर ऐसी दुर्गति हो जायेगी।

अलङ्कार—रूपक

नाट—अन्तिम दोहे के स्थान में किसी प्रति में निम्नलिखित दोहा है—

मिलि जो प्रीतम बिछुरही, सो जानहिं एह भेव।
प्रान रहै घट भीतर, कोइ अन्त न पावैं भेव॥

[ २०२ ]

अरे मलिछ बिसवासी देवा। कत मैं आइ कीन्हि तोरि सेवा॥
आपनि नाउ चढ़ै जो देई। सो तौ पार उतारै खेई॥
सुफल लागि पग टेकेउँ तोरा। सुआ क सेंवर तूँ भा मोरा॥
पाहन चढ़ि जो चहै भा पारा। सो ऐसैं बूड़ै मँझधारा॥
पाहन सेवाँ काह पसीजा। जरम न पलुहै जौं निति भीजा॥
बाउर सोइ जो पाहन पूजा। सकति को भार लेइ सिर दूजा॥
काहे न पूजिअ साइ निरासा। मुएँ जिअत मन जाकरि आसा॥
सिंघ तरेंडा जिन्ह गहा, पार भए तेहि साथ।
ते परि बूढ़े वार ही, भेंड़ पोंछि जिन्ह हाथ॥ २०२॥

शब्दार्थ—मलिछ = म्लेच्छ। बिसवासी = विश्वासघाती। लागि = लिए। टेकेउँ = सहारा लिया था। जरम = जन्म, जीवन भर। पलुहै = पिघले। तरेंडा = तैरने वाला। पोंछि = दुम।

अर्थ—तब रत्नसेन मंडप के देव शंकर से कहने लगा कि ऐ म्लेच्छ, विश्वासघाती देव, मैंने आकर तुम्हारी सेवा क्यों की? जो स्वयं अपनी नाव चढ़ने को देता है, वह तो खेकर अवश्य ही पार उतारता है। अच्छे फल के लिए ही मैंने तेरे चरणों का सहारा लिया था। पर तू तो तोते का सेमर हो गया। अर्थात् जैसे तोता सेमल के फल को देख कर बड़ी आशा लगाये रहता है पर जब पक जाने पर उसमें चोंच मारता है तो उसमें रुई मात्र निकलती है, वह निराश हो जाता है। उसी प्रकार आज मैं भी निराश हुआ। जो कोई पत्थर पर चढ़कर पार जाना चाहेगा वह इसी प्रकार मझधार में डूबेगा, जैसे आज मैं पत्थर के देव की पूजा करके डूब रहा हूं। पत्थर की सेवा करने से भला वह क्या पसीजेगा, चाहे जीवन भर नित्य वह भीगे पर वह कभी भी पिघल नहीं सकता। वह तो बावला है जो पत्थर की पूजा करता है, शक्ति के भार को क्या कोई दूसरा ले सकता है? अर्थात् ईश्वर की शक्ति पत्थर के

देवता में नहीं आ सकती। इसलिए उसी ईश्वर की ही पूजा क्यों न करें, जिसकी आशा मनुष्य मरते हुए भी और जीते हुए भी करता है। जो लोग तैरने वाले शक्तिशाली सिंह की पूँछ को पकड़ते हैं वे तो उसके साथ पार हो जाते हैं, पर जो भेड़ की दुम हाथ में लेते हैं वे किनारे पर ही डूब जाते हैं।

अलंकार—दृष्टान्त।

*टिप्पणी—इस पद में जायसी ने भी मूर्ति-पूजा विरोधी भाव को व्यक्त कर दिया है। यद्यपि जायसी समन्वयवादी थे फिर भी मुसलमान होने के नाते मूर्ति-पूजा के प्रति विरोध की भावना तो थी ही, वही अवसर पाकर यहाँ जाने-अनजाने व्यंजित हो गयी है।*

[ २०३ ]

देव कहा सुनु बौरे राजा। देवहिं अगुमन मारा गाजा॥
जौं पहिलें अपुने सिर परई। सो का काहु कै धरहरि करई॥
पदुमावति राजा कै बारी। आइ सखिन्ह सौं मँडप उत्रारी॥
जैसें चाद गाहने सब तारा। परेउँ भुलाइ देखि ऊँजियारा॥
चमकै दसन बीज की नाईं। नैन चक्र जमकात भँवाईं॥
हौं तेहि दीप पतँग होइ परा। जिउ जम गहा सरग लै धरा॥
बहुरि न जानौं दहुँ का भई। दहुँ कबिलास कि कहँ उपसई॥
अब हौं मरौं निसाँसी, हिएँ न आवै साँस।
रोगिआ की को चालै, वैदहिं जहाँ उपास॥ २०३॥

शब्दार्थ—अगुमन = आगे ही। गाजा = वज्र। धरहरि = बीच-बिचाव, रक्षा। गोहने = साथ। जमकात = यम का खाँडा। बहुरि = फिर। दहुँ = पता नहीं। उपसई = गायब हो गयी। चालै = चलावै। उपास = उपवास, व्रत।

अर्थ—देवता ने राजा की बात सुन कर कहा कि ऐ बावले राजा सुनो, मुझ पर तो पहले ही वज्र पड़ गया था। जिसके सिर पर पहले ही पड़ जाय वह भला दूसरे की रक्षा कैसे कर सकता है। राजा की लड़की पद्‌मावती सब सखियों के साथ मुँह खोले हुए आई। ऐसा प्रतीत हुआ जैसे तारों के

साथ चन्द्रमा ही आ गया हो। उसके मुख के प्रकाश को देख कर मैं तो भूल गया। उसके दाँत बिजली की भांति चमक रहे थे और आँखों के चक्र यम-राज के खाँडे की भाँति घूम रहे थे। मैं उस दीपक पर पतंग होकर पड़ गया। यमराज ने जीव को लेकर स्वर्ग में रख दिया। फिर नहीं जानता कि क्या हुआ। वह स्वर्ग गया या कहाँ गायब हो गया। अब मैं श्वासविहीन होकर मर रहा हूँ। दिल में साँस भी नहीं निकलती। ऐसी अवस्था में रोगी की कौन चलावे जब वैद्य ही उपवास कर रहा है अर्थात् जब मेरी ही ऐसी दुर्दशा थी तो तुम्हारी क्या करूँ।

अलंकार—दृष्टान्त।

[ २०४ ]

अनु हौं दोख देहुँ का काहू। संगी कया, मया नहिं ताहू॥
हतेउ पियारा मींत बिछोई। साथ न लागि आपु गै सोई॥
का मैं कीन्ह जो काया पोखी। दूखन मोहिं, आपु निरदोखी॥
फागु वसंत खेलि गै गोरी। मोहि तन लाइ आग दै होरी॥
अब अस काह छार सिर मेलौं। छारै होउँ फागु तस खेलौं॥
कत तप कीन्ह छाड़ि कै राजू। आहर गएउ न भा सिध काजू॥
पाएउँ नहिं होइ जोगी जती। अब सर चढ़ौं जरौं जसि सती॥
आइ जो प्रीतम फिर गएउ, मिला न आइ बसंत।
अब तन होरी घालि कै, जारि करौं भसमंत॥ २०४॥

शब्दार्थ—अनु = पीछे-फिर। कया = शरीर। मया = दया। ताहू = उसे भी। हतेउ = मारा। पोखी = पाला। दूखन = दोष। छार = मिट्टी। आहर = आहार-भोजन। सर = चिता।

अर्थ—राजा ने उत्तर दिया कि मैं फिर दूसरे को दोष क्यों दूँ। मेरे साथ के शरीर को ही मुझ पर कोई दया नहीं आई। इसने मुझे मार दिया। मेरा बिछुड़ा हुआ मित्र (प्रिय) आया था। उसके साथ यह शरीर न गया बल्कि उलटे सो गया। मैंने इस शरीर को पाल कर क्या किया, इसने मुझे दोषी बना दिया और स्वयं निर्दोष बन गया। वह सुन्दरी वसन्त का फाग

खेल कर चली गयी। मेरे शरीर में उसने होली की अग्नि लगा दी। अब ऐसी कौन सी मिट्टी सिर पर डालूँ कि मिट्टी हो जाऊँ। और मिट्टी बन कर उड़ूँ और इस प्रकार फाग खेलूँ। मैंने राज्य छोड़ कर तब व्यर्थ ही किया। मेरा भोजन भी छुटा और मैं अपने कार्य में सिद्धि भी न प्राप्त कर सका। मैं जोगी-जती होकर भी पद्मावती को न प्राप्त कर सका, इसलिए अब मैं चिता पर चढ़कर सती की भाँति जलूँगा। मेरा प्रिय ( पद्मावती ) आकर लौट गया, वसन्त को मैं प्राप्त न कर सका, इसलिए अब मैं होली इस शरीर में लगा कर इसे भस्म कर डालूँगा।

[ २०५ ]

ककनूँ पंखि जैस सर साजा। सर चढ़ि तबहिं जरा चह राजा॥
सकल देवता आइ तुलाने। दहुँ कस होइ देव अस्थाने॥
बिरह आगि बज्राागि असूझा। जरै सूर न बुझाएँ बूझा॥
तेहि के जरत जो उठै बजागी। तीनौ लोक जरहिं तेहि आगी॥
अबहुँ की घरी चिनगि तेहिं छूटहिं। जरि पहार पाहन सब फूटहिं॥
देवता सबै भसम भए जाहीं। छार समेटे पाउब नाहीं॥
धरती सरग होह सब ताता। है कोई एहिं राख बिधाता॥
मुहमद चिनगी अनँग की, सुनि महि गँगन डेराइ।
धनि बिरही औ धनि हिया, जेहि सब आगि समाइ॥ २०५।

शब्दार्थ—ककनूँ = एक पक्षी जिसके सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि आयु पूरी होने पर घोंसले में बैठ कर गाने लगता है जिससे आग लग जाती है और वह जल जाता है। अनँग = कामदेव, प्रेम।

अर्थ—जिस प्रकार ककनूँ पक्षी मरने से पूर्व स्वयं अपनी चिता सजाता है उसी प्रकार राजा ने भी चिता सजा कर, उस पर चढ़ना चाहा। सभी देवता लोग आकर इकट्ठे हो गये, वे सोचने लगे कि देव-स्थान पर यह क्या होने जा रहा है। विरह की अग्नि तो असूझ वज्राग्नि ही है। वीर इसमें जलता है और यह आग बुझाये नहीं बुझती। उसके जलने पर वज्राग्नि उठती है और उस अग्नि में तीनों लोक जल जाते हैं। अब की घड़ी भी यदि इसमें चिनगारी फूट जायगी तो सभी पहाड़ और पत्थर जल कर फूट

जायेंगे। सभी देवता भस्म हो जायेंगे और तब मिट्टी भी समेटी न मिलेगी। पृथ्वी और स्वर्ग सभी जल उठेंगे। हे विधाता! ऐसा कोई है जो इस समय इसकी रक्षा कर सके। जायसी कहते हैं कि प्रेम की चिनगारी को सुनकर सारी पृथ्वी और आकाश डरता है, तो वह विरही और उसका हृदय धन्य है जिसमें सारी अग्नि समा जाती है।

[ २०६ ]

हनिवँत वीर लंक जेइँ जारी। परबत ओहि रहा रखवारी॥
बैठ तहाँ भा लंका ताका। छठएँ मास देइ उठि हाँका॥
तेहि की आगि उहौ पुनि जरा। लंका छाड़ि पलंका परा॥
जाइ तहाँ यह कहा संदेसू। पारबती औ जहाँ महेसू॥
जोगी आहि वियोगी कोई। तुम्हरे मँडप आगि तेहिं बोई॥
जरे लँगूर सो राते उहाँ। निकसि जो भागे भए करमुँहाँ।
तेहि बज्रागि जरै हौं लागा। बज्जर अंग जरत उठि भागा॥

रावन लंका मैं डही, ओइँ हम डाहन आइ।
कनै पहार होत है रावट, को राखै गहि पाइ॥ २०६॥

शब्दार्थ—पलंका = लंका से मिलता-जुलता एक कल्पित द्वीप। डही = जलाई। कनै = कनक, सोना। रावट = (जरावट) जल जाना।

अर्थ—वीर हनूमान् जिसने लंका जलाई थी वहीं उस पर्वत की रखवाली करता था। वहाँ बैठ कर वह लंका को देखा करता था और प्रति छठवें मास एक बार गर्जा करता था। भाव यह कि जिस प्रकार पहरेदार प्रति क्षण आवाजें करते हैं उसी प्रकार वह छः-छः महीने पर गर्जा करता था। रत्नसेन की आग से वह हनूमान् भी जलने लगा। वह लंका छोड़ कर पलंका द्वीप में भाग गया। वहाँ जाकर उसने शंकर और पार्वती से यह संदेश कहा कि कोई वियोगी जोगी आया है, उसने आकर तुम्हारे मंडप पर आग बो दी है। वहाँ जो लाल रंग के लंगूर थे वे जल गये और जब निकल कर भागे तो उनके मुँह काले हो गये। उसी वज्राग्नि से मैं भी जलने लगा। मेरा वज्र अंग

**जलने लगा तब मैं उठ कर भागा। रावण की लंका मैंने जलायी थी, पर वह हमें जलाने लगा। सोने का पहाड़ जल रहा है। कौन उसको राख सकता है।**

*टिप्पणी*—जायसी ने हिन्दू कथाओं का यत्र-तत्र मनमाना प्रयोग किया है। हनूमान्, राम, रावण, शंकर, पार्वती आदि का जैसा चाहा है उपयोग कर दिया है। इनमें कोई वास्तविक तथ्य नहीं है, केवल कथा में चमत्कार का सृजन करने के लिए एक इन्द्रजाल सा ला खड़ा किया है। एक स्थान पर पहले उन्होंने लंका को सिंहल से भिन्न बताया था, पर इस पद में यही लंका हो गया, साथ में पलंका द्वीप की भी कल्पना कर डाली। हनूमान् ने इस लंका को जलाया भी था और उसी के पहरेदार भी बने हैं।

———

# २२. पार्वती-महेश-खण्ड

[ २०७ ]

ततखन पहुँचा आइ महसू। बाहन बैल कुस्टि कर भेसू ॥
काँथरि कया हड़ावरि बाँधे। रुंडमाल औ हत्या काँधे ॥
सेस नाग औ कंठै माला। तन विभूति, हस्ती कर छाला ॥
पहुँची रुद्र कँवल के गटा। ससि माथें औ सुरसरि जटा ॥
चँवर घंट और डँवरू हाथा। गौरा पारबती धनि साथा ॥
औ हनिवंत बीर संग आवा। धरे बेष जनु बंदर छावा ॥
औतहिं कहेन्हि न लावहु आगी। ताकरि सपथ जरेहु जेहि आगी ॥

कै तप करै न पारेहु, कै रे नसाएहु जोग।
जियन जोय कस काढ़हु, कहहु सो मोहिं बियोग ॥ २०७ ॥

शब्दार्थ—ततखन = तत्क्षण-तुरंत । कुस्टि = कोढ़ी । हड़ावरि = हड्डियों की माला । हत्या = मृत्यु, काल । विभूति = राख । गटा = गोल दाना । पहुँची = कलाई में पहनने की माला । औतहिं = आते ही । लावहु = लगाओ । पारेहु = सके ।

अर्थ—तुरन्त ही शंकर जी आ गये । वे बैल की सवारी पर थे और कोढ़ी का रूप धारण किये थे । उनके शरीर पर गूदड़ी थी और हड्डियों को शरीर पर बाँधे थे । शिरों की माला पहिने थे और काल को कंधे पर रक्खे थे । कंठ में शेशनाग की माला थी, शरीर में राख लिपटी थी और हाथी का चर्म लिपटा था । रुद्राक्ष की माला और पहुंची पहने थे । उनके मस्थे पर चन्द्रमा और जटा में गंगा थीं । चंवर, घंटा और डमरू हाथ में थे और उनके साथ उनकी स्त्री गौरा पार्वती थीं । वीर हनूमान् भी साथ में आ रहे थे । वे वानर के वेश में सुशोभित थे । आते ही शंकर ने कहा कि अग्नि न जलाओ, जिसकी विरहाग्नि में जल रहे हो उसी की सौगंध तुम्हें है ; या तो

तुम तपस्या कर नहीं सकते या तुम्हारा जोग नष्ट हो गया है। जीते जी तुम अपने जीव को क्यों निकाल रहे हो, मुझसे अपने वियोग को कहो।

[ २०८ ]

कहेसि को मोहि बातन्ह बेलवाँवा। हत्या केर न तोहिं डर आवा॥
जरै देहु, दुख जरौं अपारा। निस्तरि परौं जरौं एक बारा॥
जस भर्तहरि लागि पिंगला। मो कहँ पदुमावति सिंघला॥
मैं पुनि तजा राज औ भोगू। सुनि सो नाउँ लीन्हा तप जोगू॥
यह मढ़ सेएउँ आइ निरासा। गै सो पूजि, मन पूजि न आसा॥
तेइँ यह जिउ दाधे पर दाधा। आधा निकसि रहा, घट आधा॥
जो अधजरत सो बेलँब न लावा। करत बेलंब बहुत दुख पावा॥
एतना बोल कहत मुख, उठी बिरह की आगि।
जौं महेस नहिं आइ बुझावत, सकल जगत हुति लागि॥२०८॥

शब्दार्थ—बातन्ह = बातों में। बेलवाँवा = बहला रहे हो। निस्तरि = छुटकारा पाकर। बेलँब = विलम्ब-देर। हुति = थी।

अर्थ रत्नसेन ने कहा कि तुम मुझे बातों में बहला रहे हो, क्या तुझे हत्या का डर नहीं है। मेरा शरीर तो अपने आप जल रहा है और मैं अपार दुःख सह रहा हूँ, इसलिए यदि एक बार भी जल जाऊँ तो मुझे इस दुःख से छुटकारा मिल जायगा। जिस प्रकार पिंगला के कारण भर्तृहरि अपना परि-वार छोड़ गये उसी प्रकार मैं भी पद्मावती के लिए सिंहल आया हूँ। मैंने राज और भोग सारा छोड़ दिया है। उस पद्मावती का नाम सुनकर मैंने तप और जोग लिया है। मैंने इस मंडप की सेवा की, पर अन्त में निराश हुआ। वह तो इस मन्दिर में पूजा कर गई पर मेरी आशा पूरी न हुई। उसने इस जले हुए दिल को और जला दिया। अब मेरा प्राण आधा तो निकल गया है आधा ही शरीर में पड़ा है। मैं आधा जला हुआ हूं, इस लिए देर नहीं करना चाहता, देर होने से मुझे बड़ा दुःख हो रहा है। इतनी बात कहते ही उसके मुख से विरह की आग उठी, यदि शंकर जी उसे बुझा न देते तो सारे संसार में वह आग लग जाती।

[ २०९ ]

पारबती मन उपना चाऊ। देखौं कुँवर केर सत भाऊ ॥
दहुँ यह बीच, कि पेमहि पूजा। तन मन एक, कि मारग दूजा ॥
भै सुरूप जानहुँ अपछरा। बिहँसि कुँवर कर आँचर धरा ॥
सुनहु कुँवर मोसों एक बाता। जस रंग मोर न औरहि राता ॥
औ बिधि रूप दीन्ह है तोकाँ। उठा सो सबद जाइ सिव लोकाँ ॥
तब हौं तो कहँ इंद्र पठाई। गै पदुमिनि तैं आछरि पाई ॥
अब तजु जरन, मरन, तप जोगू। मो सौं मानु जनम भरि भोगू ॥
हौं आछरि कबिलास की, जेहि सरि पूजि न कोइ।
मोहि तजि सँवरि जो ओहि सरसि, कौन लासु तोहि होइ ॥ २०९ ॥

शब्दार्थ—उपना = उत्पन्न हुआ। चाऊ = चाव, कौतूहल। आँचर = पल्ला। आछरि = अप्सरा।

अर्थ—पार्वती के मन में एक जिज्ञासा हुई कि देखूँ इस राजकुमार में कितना सत्य भाव है। पता नहीं यह प्रेम में पूर्ण है या बीच में ही है। इसके तन और मन में एक ही है या मार्ग में दूसरा हो सकता है। उसने अपना स्वरूप ऐसा बनाया जैसे अप्सरा हो और मुस्कराकर उसने रत्नसेन का पल्ला पकड़ लिया। उसने कहा कि हे कुँवर,! मेरी एक बात सुनो। जैसा सुन्दर रंग मेरा है वैसा और किसी का नहीं है। ब्रह्मा ने तुम्हें भी सुन्दर रूप दिया है। जब तेरा शब्द उठा तो वह शिवलोक में पहुँचा, तब इन्द्र ने मुझे तेरे लिए भेजा है। पद्मावती तो गई पर तुमने तो उसकी जगह अप्सरा प्राप्त की है। अतः तुम अपना जलना, मरना, तप और जोग को छोड़ो और मेरे साथ जन्म भर भोग करो। मैं स्वर्ग की अप्सरा हूँ जिसके समान कोई नहीं है, मुझे छोड़कर यदि तुम उसके समान स्त्री को याद करते हो तो तुम्हें इसमें क्या लाभ है ?

[ २१० ]

भलेहिं रंग तोहि आछरि राता। मोहि दोसरें सौं भाव न बाता ॥
मोहि ओहि सँवरि मुएँ अस लाहा। नैन सो देखसि पूँछसि काहा ॥
अबहीं तेहि जिउ देइ न पावा। तोहि असि आछरि ठाढ़ मनावा ॥

जौं जिउ देहुँ ओोहि कि आसाँ। न जनौं काह होइ कबिलासाँ ॥
हौं कबिलास काह लै करऊँ। सोइ कबिलास लागि ओोहि मरऊँ ॥
ओोहि के बार जीवनहिं वारौं। सिर उतारि नेवछावरि डारौं ॥
ताकरि चाह कहै जो आई। दुऔ जगत तेहि देउँ बड़ाई ॥

ओोहि न मोरि कछु आसा, हौं ओोहि आस करेउँ।
तेहि निरास प्रीतम कहँ, जिउ न देउ का देउँ ॥ २१० ॥

शब्दार्थ - राता = लाल, सुन्दर। दोसरैं = दूसरे। सँवरि = स्मरण करके। लाहा = लाभ। ठाढ़ = खड़ी। बार = द्वार। चाह = खबर।

अर्थ—रत्नसेन ने उत्तर दिया कि भले ही तेरा अप्सरा जैसा सुन्दर रंग हो, पर मुझे तो दूसरी औरत से बात करना भी नहीं रुचता। मुझे तो उसका स्मरण करके मरने से इतना लाभ है कि तुम आँखों से ही देख रही हो, पूछने की बात क्या है। अभी मैं उसके लिए जान दे भी न पाया हूँ तो तुम्हारी जैसी अप्सरा खड़ी होकर मुझे मनाने लगी है। जब उसके लिए जान दूँगा, तब पता नहीं स्वर्ग में क्या हो जायगा। मैं स्वर्ग लेकर क्या करूँगा, मेरे लिए तो वही स्वर्ग है, जिसके लिए मैं मर रहा हूँ। उसके द्वार पर मैं अपने जीवन को वार दूँगा, सिर को उतार कर न्योछावर कर दूँगा। उसकी खबर जो आकर कहता है उसे मैं दोनों लोकों में बड़ाई दूँगा। उसे मेरी कोई आशा नहीं है, मैं उसी की आशा करता हूँ। उस आशारहित प्रियतमा के लिए यदि मैं जान न दूँ तो क्या दूँ।

नोट—जायसी ने सर्वत्र ही प्रियतमा को प्रीतम ही कहा है।

[ २११ ]

गौरैं हँसि महेस सों कहा। निस्चैं यहु बिरहानल दहा ॥
निस्चैं यह ओोहि कारन तपा। परिमल पेम न आछै छपा ॥
निस्चैं पेम पीर यह जागा। कसत कसौटी कंचन लागा ॥
बदन पियर जल डभकहिं नैनाँ। परगट दुऔ पेम के बैनाँ ॥
यह ओोहि लागि जरम एहि सीझा। चहै न औरहि ओोहीं रीझा ॥
महादेव देवन्ह के पिता। तुम्हरी सरन राम रन जिता ॥

एहू कहँ तसि मया करेहू। पुरवहु आस, कि हत्या लेहू॥
हत्या दुइ जो चढ़ाएहु काँधे, अबहुँ न गे अपराधाँ।
तीसरि लेहु एहु कै माँथे, जौं रे लेइ कै साधाँ॥ २११॥

शब्दार्थ—परिमल = सुगंध। आछै = रहता है। डभकहिं = डबडबाते हैं। पुरवहु = पूरा करो। हत्या दुई = दो हत्यायें — १. गणेश को मारना, २. गणेश को बचाने के लिए हाथी को मारना।

अर्थ—पार्वती ने हंस कर शङ्कर जी से कहा कि निश्चय ही यह विरहाग्नि में जल रहा है। यह निश्चय ही पद्मावतीके कारण तप रहा है, प्रेम की सुगन्ध छिपी नहीं रहती। निश्चय ही प्रेम की पीड़ा में यह जल रहा है क्योंकि सोना कसौटी पर कसने पर ही प्रतीत होता है। उसका मुख पीला हो गया है और आँखों में आँसू डबडबाये हैं। दोनों में प्रेम के वचन प्रकट हैं। यह उस (पद्मावती) के लिए जन्म भर जल रहा है यह और को नहीं चाहता, उसी पर अनुरक्त है। हे शङ्कर जी! तुम देवताओं के पिता हो, तुम्हारी शरण में आकर राम ने रावण को जीत लिया। उसी प्रकार इस पर भी कृपा कीजिए। इसकी आशा पूरी कीजिए, नहीं तो तुम्हें ही हत्या लगेगी। दो हत्यायें तो तुमने अपने कंधे ले रक्खी हैं, अब तक तुम्हारे वे पाप दूर नहीं हुए हैं, अब यदि तुम्हारी इच्छा है तो इसकी भी तीसरी हत्या अपने सिर पर ले लो।

[ २१२ ]

सुनि कै महादेव कै भाखा। सिद्ध पुरुष राजैं मन लखा॥
सिद्ध अंग नहिं बैठे माखी। सिद्ध पलक नहिं लागै आँखी॥
सिद्धहि संग होइ नहिं छाया। सिद्धहि होइ न भूख औ माया॥
जौं जग सिद्धि गोसाईं कीन्हा। परगट गुपुत रहै को चीन्हा॥
बैल चढ़ा कुस्टी कै भेसू। गिरजापति सत आहि महेसू॥
चीन्है सोइ रहै तेहि खोजा। जस बिक्रम औ राजा भोजा॥
कै जियँ तन्त मन्त सो हेरा। गएउ हेराइ जबहि भा मेरा॥
बिनु गुरु पंथ न पाइअ, भूलै सोइ जो मेंट।
जोगी सिद्ध होइ तब, जब गोरख सो भेंट॥ २१२॥

शब्दार्थ—भाखा = भाषा, वचन। राजैं = राजा ने। लखा = देखा। माखी = मक्खी। चीन्हा = पहिचाना। तंत-मंत = तन्त्र-मन्त्र। हेरा = खोजा। हेराइ = खो गया। मेरा = मेल।

अर्थ—महादेव की वाणी सुन कर राजा ने मन में विचार किया कि यह कोई सिद्ध पुरुष है। सिद्ध के अंग पर मक्खी नहीं बैठती, सिद्ध की पलकें नहीं गिरतीं, उसके साथ उसके शरीर की छाया नहीं होती, उसे न भूख लगती है और न उसे किसी प्रकार का माया-मोह होता है। जिसको परमेश्वर ने जगत् में सिद्ध किया है वह प्रकट भी रहता है और गुप्त भी। उसे कौन पहचान सकता है? यह बैल पर चढ़ने वाला और कोढ़ी वेष वाला गिरिजापति शंकर है। राजा विक्रमादित्य और भोज की भान्ति जो उसकी खोज करता है वही उसे पहचान सकता है। वह तंत्र-मंत्र सेजी लगा कर उसकी खोज करता है और जब उसका मेल हो जाता है तो स्वयं खो जाता है। बिना गुरु के मार्ग नहीं मिलता, जो इस बात को मिटाता है, वह भूलता है। जोगी तो तभी सिद्ध हो सकता है जब उसका गोरखनाथ (गुरु) से मिलाप होता है।

[ २१३ ]

ततखन रतनसेनि गहबरा। छाड़ि डफार पाउ लै परा॥
माता पितैं जनमि कत पाला। जौं पै फाँद पेम गियँ घाला॥
धरती सरग मिले हुत दोऊ। कत निरार कै दीन्ह बिछोऊ॥
पदिक पदारथ कर हुँति खोवा। टूटहिं रतन, रतन तस रोवा॥
गँगन मेघ जस बरिसहिं भले। पुहुमि अपूरि सलिल होइ चले॥
साएर उपटि, सिखर गा पाटी। जरै पानि पाहन हिय फाटी॥
पवन पानि होइ होइ सब गिरई। पेम के फाँद कोउ जनि परई॥
तस रोवै जस जरै जिउ, जरै रकत औ माँसु।
रोवँ रोवँ सब रोवहिं, सोत सोत भरि आँसु॥ २१३॥

शब्दार्थ—गहबरा = घबराया, विह्वल हुआ। डफार = रोना। पाउ = पाँव। गियँ = ग्रीवा, गर्दन। घाला = डाला। निरार = न्यारा, अलग। पदिक = तावीज। पुहुमि = पृथ्वी। उपटि = उमड़ गया।

अर्थ— तुरंत ही रत्नसेन विह्वल हो गया, उसने रोना छोड़ कर शंकर जी के पैर पकड़ लिए और कहा कि माता-पिता ने जन्म देकर क्यों मुझे पाला था जो प्रेम का फंदा ही गले में डालना था। पृथ्वी और आकाश दोनों मिले हुए हैं तो फिर क्यों इन्हें अलग-अलग करके इनका वियोग कर दिया। जैसे किसी के हाथ से तावीज युक्त पदार्थ खो जाय और रत्न टूट जाय, उसी प्रकार पद्मावती को खोकर रत्नसेन रोने लगा। उसकी आँखों से आँसू इतने अधिक निकल रहे थे जैसे आकाश के बादलों से जल वर्षा हो और सारी पृथ्वी जल से भर जाय। सागर में इतना जल हो गया कि वह उमड़ उठा और पहाड़ की चोटी पानी में डूब गई। विरह से पानी जल रहा था और पत्थर का दिल फट रहा था। हवा भी पानी होकर गिरने लगी। कवि कहता है कि प्रेम के फंदे में कोई पड़े। जैसे-जैसे उसका दिल जलता, वह रोता जाता था। उसका रक्त और मांस जला जाता है, उसके रोम-रोम रो रहे थे और रोमों के सोते-सोते में आँसू भरे थे।

[ २१४ ]

रोवत बूड़ि उठा संसारू। महादेव तब भएउ मयारू॥
कहेसि न रोव, बहुत तैं रोवा। अब ईसर भा, दारिद खोवा॥
जो दुख सहै होइ सुख ओकाँ। दुख बिनु सुख न जाइ सिवलोकाँ॥
अब तूँ सिद्ध भया सिधि पाई। दरपन कया छूटि गै काई॥
कहौं बात अब होइ उपदेसी। लागु पंथ, भूले परदेसी॥
जौं लहिं चोर सेंध नहिं देइ। राजा केर न मूँसै पेई॥
चढ़ै तौ जाइ बार वह खूँदी। परै तौ सेंधि सीस सौं मूँदी॥
कहौं तोहि सिंघल गढ़, है खँड सात चढ़ाउ।
फिरा न कोई जिअत जिउ, सरग पँथ दै पाउ॥ २१४॥

शब्दार्थ—मयारू = दयार्द्र। ईसर = ऐश्वर्य। भा = उदय हुआ। ओकाँ = उसको। काई = मलिनता। मूँसै पेई = चुराने पाता है। बार = द्वार। खूँदी = कुचलना, टूटना।

अर्थ—रत्नसेन के रोने से उसके आँसुओं के जल में सारा संसार डूब गया। तब शंकर जी दयार्द्र हो गये। शंकर ने कहा कि मत रो, तू बहुत रो

चुका, अब तेरा ऐश्वर्य उदय हुआ है, दारिद्र्य नष्ट हो गया। जो दुःख सहता है उसे सुख होता है, बिना दुःख के कोई सुख के स्थान शिवलोक को नहीं जाता। अब तू सिद्धि को पाकर सिद्ध हो गया। तेरे शरीर की मलिनता छूट गई और शीशे की भांति निर्मल हो गया। अब मैं उपदेश देने वाला होकर तुमसे एक बात कहता हूं, ऐ भूले हुए परदेशी ! तू ठीक रास्ते पर लग। जब तक चोर सेंध नहीं देता, वह राजा के धन को चुरा नहीं पाता। सेंध लगाना कठिन है क्योंकि यदि उस सेंध पर चोर चढ़ जाय तो वह सेंध का द्वार टूट जाता है और यदि उसमें लेट जाय तो वह सिर से ढक जाती है—भाव यह कि पद्मावती के लिए राजा के घर में तुझे सेंध लगानी है पर है यह बड़ा कठिन काम—पर तू उस ओर प्रवृत्त होना—मैं तुझसे बता रहा हूँ कि सिंहलगढ़ में सात खंडों की चढ़ाई है, उस स्वर्ग के मार्ग पर पैर रखने के बाद कोई जीते जी नहीं लौटता है।

[ २१५ ]

गढ़ तस बाँक जैसि तोरि काया। परखि देखु तैं ओहि की छाया।।
पाइअ नाहिं जूझि हठि कीन्हे। जेइँ पावा तेइँ आपुहि चीन्हे।।
नौ पौरी तेहि गढ़ मँझिआरा। औ तहँ फिरहिं पाँच कोटवारा।।
दसवँ दुआर गुपुत एक नाँकी। अगम चढ़ाव, बाट सुठि बाँकी।।
भेदी कोइ जाइ ओहि घाटी। जौं लै भेद, चढ़ै होइ चाँटी।।
गढ़ तर सुरँग कुंड अवगाहा। तेहि महँ पंथ कहौं तोहिं पाहाँ।।
चोर पैठि जस सेंधि सँवारी। जुआ पैंत जेउँ लाव जुआरी।।
जस मरजिया समुँद धँसि मारै, हाथ आव तब सीप।
ढूँढि लेहि ओहि सरग दुवारी, औ चढु सिंघल दीप।। २१५।।

शब्दार्थ—नौ पौरी = नव पौड़ियाँ, दरवाजे, शरीर के नव द्वार ( २ आँख, २ कान, २ नाक, १ मुख और २ मल-मूत्र मार्ग )। कोटवारा = कोतवाल, पाँच कर्मेन्द्रियाँ। दसवँ दुवार = ब्रह्मरन्ध्र। चाँटी = चींटी, जोगी लोगों का पिपीलिका मार्ग। सुरँग = सुरंग, सुषुम्ना मार्ग। कुंड = मूलाधार चक्र का कुंड। पैंत = दावँ।

अर्थ— वह सिंहलगढ़ उसी प्रकार टेढ़ा है जैसी तुम्हारी काया। तू उसकी

छाया देख कर उसको परख ले। हठ करके मरने से वह प्राप्त नहीं होता, जिसने उसको प्राप्त किया है उसको पहले आत्मस्वरूप ने पहिचाना है। उस गढ़ में नव पौड़ियाँ हैं जहाँ पाँच कोतवाल सदा टहलते हैं। उसका एक गुप्त दसवाँ द्वार नाक की सीध में है, उसकी चढ़ाई बड़ी कठिन है, रास्ता अत्यन्त टेढ़ा है। विरला ही भेद जानने वाला उस घाट पर जाता है और भेद को पाकर उसे चींटी की भाँति बड़ी चेष्टा से चढ़ना पड़ता है। उस गढ़ के नीचे एक सुरंग और एक अथाह कुण्ड है, उसी में रास्ता है, मैं तुम्हें बता देता हूं। जैसे चोर संभल कर सेंध में प्रवेश करता है और जैसे जुवारी बड़ी सतर्कता से जुए का दाँवव फेंकता है, तथा जैसे गोताखोर बड़ी सावधानी से गोता लगाता है तब उसके हाथ सीप आती है, उसी प्रकार तू भी बड़ी सतर्कता से चलेगा तो उस स्वर्ग-द्वार को खोज लेगा और सिंहलगढ़ पर चढ़ जायेगा।

*टिप्पणी—इस पद में जायसी ने स्पष्ट रीति से हठयौगिक क्रियाओं का वर्णन किया है। प्रथम पंक्ति में ही उन्होंने स्पष्ट कहा है कि सिंहलगढ़ तेरे शरीर के सदृश है। हठयोग का सम्बन्ध मनुष्य के शरीर से ही है। शरीर में नवद्वार हैं, ब्रह्मरन्ध्र दशवाँ द्वार है। हठयोग के अनुसार यह गुप्त द्वार तब खुलता है जब योगी की साधना पूरी होती है। रीढ़ की हड्डी के मूल में मूलाधार चक्र है। यहाँ कुण्ड में कुण्डलिनी भी निवास करती है। मूलाधार से लेकर ब्रह्मरन्ध्र तक सुषुम्ना का मार्ग है जिसमें से होकर कुण्डलिनी ब्रह्मांड तक पहुंचती है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, ध्यान, धारणा और समाधि के द्वारा कुण्डलिनी जगायी जाती है और सुषुम्ना मार्ग (पिपीलिका मार्ग) द्वारा ऊपर चढ़ती है। इसी सुषुम्ना से ही सुरंग और मूलाधार को कुण्ड कहा गया है। इस प्रकार रत्नसेन को हठयोग का मार्ग बताया गया है।*

[ २१६ ]

दसवँ दुवार तारु का लेखा। उलटि दिस्टि जो लाव सो देखा ॥
जाइ सो जाइ साँस मन बंदी। जस धँसि लीन्ह कान्ह कालिंदी ॥
तूँ मन नाँथु मारि कै स्वाँसा। जौं पै मरहि आपुहि करु नाँसा ॥

परगट लोकचार कहु बाता। गुपुत लाउ जासौं मन राता॥
हौं हौं कहत मन्त सब कोई। जौं तूँ नाहिं आहि सब सोई॥
जियतहिं जौ रे मरै एक बारा। पुनि कत मीचु, को मारै पारा॥
आपुहि गुरु सो आपुहि चेला। आपुहि सब सो आपु अकेला॥

आपुहि मीचु जियन पुनि, आपुहि तन मन सोइ।
आपुहि आपु करै जो चाहै, कहाँ क दोसर कोइ॥ २१६॥

शब्दार्थ— तारू=ताड़। लेखा = हिसाब, समान। लोकचार = लोकाचार।

अर्थ—दसवाँ द्वार ताड़ के वृक्ष के समान बहुत ऊंचा है। जो उसमें उलटी दृष्टि लगायेगा वही देख सकला है। वहाँ वही जा सकता है जो स्वाँस और मन को दमन कर ले जैसे कि कृष्ण ने यमुना में प्रवेश कर कालिय नाग का दमन कर लिया था। तू प्राणायाम के द्वारा अपने मन को वश में कर ले और आपे (अहंकार) को मार डाल। प्रकट रूप में तो तू लोकाचार की बातें करता रह, पर गुप्त रीति से उसी में लीन हो जा जिसमें तेरा मन अनुरक्त है। सभी लोग 'मैं' 'मैं' का मन्त्र कहते रहते हैं अर्थात् लोग अपने पन को नहीं खोते। जब तू अपने अहमत्व को खो देगा तभी सब कुछ होगा। जो जीते जी एक बार मर जाय फिर उसे मृत्यु मार नहीं सकती। तब वह आपही गुरु और आप ही चेला हो जाता है और इस प्रकार वही अकेला (सोऽहम्) रह जाता है। वह स्वयं ही मृत्यु और स्वयं ही जीवन हो जाता है। तब वह जो चाहता है कर लेता है। फिर उसके लिए दूसरा कोई है ही कौन ?

———

# २३. राजा-गढ़-छेका-खण्ड

[ २१७ ]

सिद्धि गोटिका राजैं पावा। औ भै सिद्धि गनेस मनावा॥
जब संकर सिधि दीन्ह गोटेका। परी हूल, जोगिन्ह गढ़ छेंका॥
सबै पदुमिनीं देखहिं चढ़ीं। सिंघल घेरि गईं उठि मढ़ीं॥
जस खरभरा चोर मति कीन्ही। तेहि विधि सेंधि चाह गढ़ दीन्ही॥
गुपुत जो रहै चोर सो साँचा। परगट होइ जीव नहिं बाँचा।
पँवरि पँवरि गढ़ लाग केवारा। औ राजा सौं भई पुकारा॥
जोगी आइ छेंकि गढ़ मेले। न जनैं कौन देस सौं खेले॥

भई रजाएसु देखहु, को भिखारि अस ढीठ।
जाइ बरजि तिन्ह आवहु, जन दुइ जाइ बसीठ॥ २१७॥

शब्दार्थ – हूल = कोलाहल। खरभरा = खलबली। रजाएसु = राजाज्ञा। बसीठ = दूत।

अर्थ—राजा ने सिद्धि गुटिका प्राप्त की। सिद्ध होकर उसने गणेश की स्तुति की। जब शंकर ने रत्नसेन को सिद्धि गुटिका दी, तो जोगियों ने गढ़ को घेर लिया और बड़ा कोलाहल हुआ। सभी पद्मिनी स्त्रियाँ अपने-अपने घरों के ऊपर चढ़कर देखने लगीं कि सिंहल घिर गया और उसके बाहर जोगियों की मढ़ियाँ (कुटियाँ) उठ गयी हैं। जैसे चोरी का विचार खलबली मचा देता है उसी प्रकार जोगी गढ़ में सेंध लगाना चाहता है। सच्चा चोर तो वह है जो चुपके-चुपके काम कर ले, प्रकट होजाने पर तो उसकी जान नहीं बच सकती। गढ़ की ड्योढ़ी ड्योढ़ी पर किवाड़ लगे हैं, फिर राजा के यहाँ पुकार हो गई कि जोगियों ने आकर किले को घेर लिया है, न जाने किस देश से खेलते हुए ये जोगी आये हैं। राजाज्ञा हुई कि देखो ऐसा कौन सा धृष्ठ भिखारी है। दो दूत जाकर उन्हें रोक आवें।

[ २१८ ]

उतरि बसिठ दुइ आइ जोहारे। कै तुम्ह जोगी, कै बनिजारे॥
भई रजाएसु आगें खेलहु। यह गढ़ छाड़ि अनत होइ मेलहु॥
अस लागेहु केहि के सिख दीन्हे। आएहु मरै हथि जिउ लीन्हे॥
इहाँ इन्द्र अस राजा तपा। जबहिं रिसाइ सूर डरि छपा॥
हहु बनिजार तौ बनिज बेसाहहु। भंरि बैपार लेहु जो चाहहु॥
जोगी हहु तौ जुगुति सौं माँगहु। भुगुति लेहु, लै मारग लागहु॥
इहाँ देवता अस गए हारी। तुम्ह पतिंग को आहि भिखारी॥
तुम्ह जोगी वैरागी, कहत न मानहु कोहु॥
माँगि लेहु कछु भिख्या, खेलि अनत कहुँ होहु॥ २१८॥

शब्दार्थ—जोहारे = नमस्कार किया। बनिजारे = व्यापारी। खेलहु = विचरण करो। अनत = अन्यत्र, और कहीं। बेसाहहु = खरीदो। भुगुति = भिक्षा। कोहु = क्रोध।

अर्थ—दो दूतों ने ऊपर से नीचे उतर कर जोगियों को नमस्कार करके कहा कि तुम जोगी हो या व्यापारी। राजा की आज्ञा हुई है कि तुम लोग आगे विचरण करो, इस गढ़ को छोड़कर अन्यत्र चले जाओ। किसकी सीख पर यहाँ घेरा डाले हो, क्या हाथ में जान लेकर जान देना चाहते हो? यहाँ इन्द्र के समान राजा प्रकाशमान है, जब वह क्रुद्ध हो जाता है तो सूर्य भी डर कर छिप जाता है। यदि तुम व्यापारी हो तो व्यापार का माल खरीद लो, जो कुछ चाहो वह व्यापार की वस्तु ले लो। यदि जोगी हो तो युक्ति से माँगो और भिक्षा लेकर अपने रास्ते पर लग जाओ। यहाँ पर तो देवता जैसे भी हार गये हैं, तुम पतिंगे सरीखे भिखारी भला किस गणना में हो? तुम जोगी वैरागी हो, कहने में बुरा न मानो कुछ भिक्षा माँग लो और अन्यत्र विचरण करो।

[ २१९ ]

अनु हौं भीख जो आएउँ लेई। कस न लेउँ जौं राजा देई॥
पदुमावति राजा कै बारी। हौं जोगी तेहि लागि भिखारी॥
खप्पर लिए बार भा माँगौं। भुगुति देइ लै मारग लागौं॥

सोई भुगुति परापति पूजा। कहाँ जाउँ अस बार न दूजा॥
अब धर इहाँ जीउ आहि ठाऊँ। भसम होउँ पैं तजौं न नाऊँ॥
जस बिनु प्रान पिंड है छूँछा। धरम लागि कहिअहु जौं पूँछा॥
तुम्ह बसीठ राजा की ओरा। साखि होहु एहि भीखि निहोरा॥
जोगी वार आव सो, जेहि भिख्या कै आस।
जौं निरास दिढ़ आसन, कत गवनैं केहु पास॥ २१९॥

शब्दार्थ—आएउँ लेई=लेने आया हूँ। बार भा=द्वार पर होकर। साखि=साक्षी। निहोरा=कृतज्ञता पूर्वक माँगता हूं। निरास=आशा से रहित।

अर्थ—रत्नसेन ने कहा कि निश्चय ही मैं भीख लेने आया हूं, यदि राजा देगा तो क्यों नहीं लूँगा। पद्मावती राजा की सुपुत्री है उसी के लिये मैं भिखारी बना हूं। आपके दरवाजे पर खड़ा होकर खप्पर हाथ में लिये हुए माँग रहा हूं, यह भिक्षा दिलवा दो, हम अपना रास्ता ले लेंगे। यही भिक्षा हमारे पूजन की प्राप्ति है। कहाँ जाऊँ ऐसी भिक्षा प्राप्त करने के लिए दूसरा और कोई द्वार नहीं है। हमारे शरीर का धड़ तो यहाँ है पर जीव उस जगह है। चाहे मैं भस्म हो जाऊं पर उस पद्मावती का नाम नहीं छोड़ सकता। जैसे बिना प्राण के शरीर बिलकुल छूछा और व्यर्थ है उसी प्रकार उसके बिना हम हैं। धर्म के नाम पर जो कुछ पूछो मैं सच-सच ही उत्तर दूंगा। तुम राजा की ओर के दूत हो, मेरी इस कृतज्ञता पूर्वक भिक्षा के साक्षी बनो।

आपके द्वार पर वही जोगी आया है जिसे भिक्षा की आशा है। पर जिसे किसी की आशा नहीं है, वह अपने आसन पर दृढ़ है वह क्यों किसी के पास जाय ?

[ २२० ]

सुनि बसिठन्ह मन उपनी रीसा। जौ पीसत घुन जाइहि पीसा॥
जोगी अैस कहै नहिं कोई। सो कहु बात जोग तोहि होई॥
वह बड़ राज इंद्र कर पाटा। धरती परें सरग को चांटा॥
जौ यह बात होइ तहँ चली। छूटहिं हस्ति अबहिं सिंघली॥

औ छूटहिं तहँ बज्र के गोटा। बिसरै भुगुति, होहु तुम्ह रोटा॥
जहँ लगि दिस्टि न जाइ पसारी। तहाँ पसारसि हाथ भिखारी॥
आगू देखि पाव धरु नाथा। तहाँ न हेरु टूट जहँ माँथा॥
वह रानी जेहि जोग है, तेहि क राज औ पाट।
सुंदरि जाइ राज घर, जोगिहि बंदर काट॥ २२०॥

शब्दार्थ—बसिठन्ह = दूतों के। रीसा = क्रोध। जौ = जब। गोटा = गोला। रोटा = रावट = जल जाना। हेरा = देखना चाहिए। बंदर काट = बंदर काटे चूल्हे में जाय, बुरा हो।

अर्थ—यह बात सुनकर दूतों के मन में क्रोध उत्पन्न हुआ। उन्होंने कहा कि जौ के साथ घुन भी पीसा जावेगा। अर्थात् मालूम होता है जोगी रत्नसेन के साथ सारे जोगी मारे जायेंगे। जोगी को ऐसी बात नहीं कहनी चाहिए, वही बात कहनी चाहिए जो योग्य हो। उसका तो इन्द्र का जैसा बड़ा राजपाट है, भला क्या धरती में पड़ी हुई चींटी कभी स्वर्ग पहुँच सकती है। अगर तुम्हारी यह बात वहाँ तक पहुँच गयी तो सिंहल के मतवाले हाथी छूट पड़ेंगे। वज्र के गोले छूटेंगे, तुम्हारी भिक्षा भूल जायगी और तुम सब जल मरोगे। भला तुम भिखारी इतना हाथ फैला रहे हो जहाँ तक किसी की दृष्टि भी नहीं पहुँच सकती। हे नाथ साधुओ, आगे देख कर पैर रक्खो, अर्थात् आगे का सोच-विचार कर काम करो, वहाँ की न सोचो जहां मस्तक टूट जाय। वह रानी पद्मावती जिसके योग्य है उसी को यह सब राजपाट मिलेगा, ऐसी रानी तो किसी राजा के घर जायेगी, जोगी तो चूल्हे में पड़े।

[ २२१ ]

जौं जोगिहि सुठि बंदर काटा। एकै जोग, न दोसरि बाटा॥
और साधना आवै साधें। जोग साधना आपुहिं दाधें॥
सरि पहुँचाइ जोग करु साथा। दिस्टि चाहि होइ अगुमन हाथा॥
तुम्हरे जौ हैं सिंघली हाथी। मोरें हस्ति गुरू बड़ साथी॥
हस्ति नास्ति जेहि करत न बारा। परबत करै पाव कै छारा॥
गढ़ कै गरब खेह मिलि गए। मंदिर उठहिं ढहहिं भै नए॥

अंत जो चलना कोऊ न चीन्हा। जो आवै सो आपुन कीन्हा ॥
जोगिहि कोह न चाहिअ, तब न मोहिं रिसि लागि ॥
जोग तंत जेउ पानी, काह करै तेहि आगि ॥ २२१ ॥

शब्दार्थ—दाधे = जलाये हुए। अगुमन = आगे। बारा = देर। जेउ = जैसे।

अर्थ—जोगियों ने उत्तर दिया कि यदि जोगी चूल्हे में भी पड़ जाय तो भी जोगी के पास जोग के अतिरिक्त और कोई रास्ता नहीं है। और काम तो साधने से पूरे होते हैं, पर जोग की साधना तो अपने को जलाना मात्र है। जोग का साथ करने से बराबर पहुंच जाता है। दृष्टि पहुँचने से पहले ही जोगी का हाथ पहुंच जाता है। तुम्हारे पास यदि सिंहल के मस्त हाथी हैं, तो हमारे हाथी हमारे बड़े साथी हमारे गुरु हैं। हाथियों को नष्ट करते उन्हें देर नहीं लगती, पर्वत को वे पाँव की धूल कर सकते हैं। गढ़ का घमंड मिट्टी में मिल जाता है। बड़े-बड़े मंदिर और नये महल जो उठे हैं, सब गिर पड़ेंगे। अन्त में चला जाना कोई नहीं पहचानता। अर्थात् यह कोई नहीं समझता कि अन्त में चला जाना है, व्यर्थ में गर्व करता है—जो ही इस संसार में आता है गर्व से प्रत्येक वस्तु को अपनी ही समझ करके करता जाता है। जोगी को क्रोध न चाहिए. इसीलिए हमें आपके वचन पर क्रोध नहीं लगा। जोग तत्त्व तो पानी के समान है, उसका अग्नि क्या कर सकती है।

[ २२२ ]

बसिठन्ह जाइ कही असि बाता। राजा सुनत कोह भा राता ॥
ठाँवहि ठाँव कुँवर सब माँखे। केइ अब लहि जोगी जिउ राखे ॥
अबहुं बेगि कै करहु सँजोऊ। तस मारहु हत्या किन होऊ ॥
मंत्रिन्ह कहा रहहु मन बूझे। पति न होइ जोगी सों जूझे ॥
ओइँ मारै तौ काह भिखारी। लाज होइ जौ मानिअ हारी ॥
ना भल मुएँ, न मारे मोखू। दुहूँ बात लागै तुम्ह दोखू ॥
रहै देहु जौं गढ़ तर मेले। जोगी कत आछहिं बिन खेले ॥
रहै देहु जौं गढ़ तर, जनि चालहु यह बात।
नितिहिं जो पाहन भख करहिं, अस केहिके मुख दाँत ॥ २२२ ॥

शब्दार्थ—राता = लाल। माँखें = क्रुद्ध हुए। सँजोऊ = सामान, तैयारी। पति = प्रतिष्ठा। मानिअ = मानते हैं। मेले = पड़े। खेले = विचरण करे। भख करहि = खायेंगे।

अर्थ—दूतों ने जाकर ऐसी ही बात राजा से कह दी। बात सुनकर राजा को बड़ा क्रोध लगा। जगह-जगह पर राजकुमार लोग क्रुद्ध होने लगे। अब इन जोगियों के प्राण कौन बचा सकता है। अभी तुरन्त तैयारियाँ करो और इन सब को मारो, चाहे भले ही हत्या हो। मन्त्रियों ने कहा कि मन में समझ कर काम करो, जोगी से लड़ाई करना कोई प्रतिष्ठा की बात नहीं है। उनको अगर तुमने मार दिया तो कोई बात नहीं, क्योंकि आखिर वे तो भिखारी ही हैं, पर यदि तुमने हार मान ली तो बड़े शर्म की बात हुई। न तो मरने में अच्छा है, और न मारने में ही कोई मोक्ष है। दोनों में तुम्हें ही दोष लगेगा। इसलिए इन्हें तो किले के नीचे ही पड़े रहने दो—जोगी हैं, बिना विचार किये कैसे रह सकते हैं—अर्थात् कुछ दिन बाद अपने स्वभाव के अनुसार ही ये यहाँ से कहीं विचरण कर जायेंगे। इनसे कोई बात न चलाओ, गढ़ के नीचे पड़े रहने दो। किसके मुँह में दाँत हैं जो नित्य ही पत्थर को खाये—अर्थात् बिना कुछ खाये-पिये ये कितने दिन जीवित रहेंगे?

[ २२३ ]

गए बसीठ पुनि बहुरि न आए। राजैं कहा बहुत दिन लाए॥
न जानौं सरग बात दहुँ काहा। काहु न आइ कही फिरि चाहा॥
पाँख न कया, पवन नहिं पाया। केहि बिधि मिलौं होउ केहिं छाया॥
सँवरि रकत नैनन्ह भरि चुवा। रोइ हँकारा माँझी सुवा॥
परे सो आँसु रकत के टूटी। अबहुँ सो राती बीर बहूटी॥
ओहि रकत लिखि दीन्ही पाती। सुवा जो लीन्ह चोंच भै राती॥
बाँधा कंठ परा जरि काँठा। बिरह क जरा जाइ कहँ नाँठा॥
मसि नैना, लिखनी बरुनि, रोइ रोइ लिखा अकथ्थ।
आखर दहै, न केहुँ गहै सो, दीन्ह सुवा के हथ्थ॥ २२४॥

शब्दार्थ—चाहा = खबर। हँकारा = बुला। माझी = खेने वाले, पथ-दर्शक।

अर्थ—राजा रत्नसेन ने कहा कि वे दूत चले गये फिर न लौटे, बहुत दिन बीत गये। पता नहीं स्वर्ग रूपी सिंहलगढ़ में क्या मामला हो रहा है, किसी ने आकर वहाँ का कोई समाचार नहीं सुनाया। न तो मेरे शरीर में पंख हैं और न पैरों में हवा है, किस प्रकार छाया की भाँति पद्मावती से मिलूँ। उसे स्मरण कर उसके आँखों से रक्त की बूँदें चूने लगीं, तब उसने रोकर अपने पथ-दर्शक तोते को बुलाया। उसकी आँखों से जो रक्त की बूँदें गिरी थीं उसी से आज तक बीर बहूटियाँ लाल दिखाई पड़ रही हैं। उसी रक्त से उसने चिट्ठी लिख दी। उस चिट्ठी को जो तोते ने लिया तो लाल अक्षरों के प्रभाव से तोते की चोंच भी लाल हो गयी। उसने जो उस चिट्ठी को तोते के कंठ में बाँध दिया तो कंठ जल गया और उसमें कंठी पड़ गयी। विरह का जला हुआ कभी नहीं नष्ट हो सकता। नेत्र के आँसू उसके स्याही बने और बरौनी लेखनी बने और रो-रोकर उसने अकथनीय बातें लिखीं। अक्षर उसके जल रहे थे, उसे कोई पकड़ नहीं सकता, ऐसी पत्री उसने तोते के हाथ दी।

[ २२४ ]

औ मुख बचन सो कहेसु परेवा। पहिले मोरि बहुत कै सेवा॥
पुनि सँवराइ कहेसु अस दूजी। जौं बलि दीन्ह देवतन्ह पूजी॥
सो अबहीं तपसी बलि लागा। कब लगि कया सून मढ़ जागा॥
भलेहिं ऐस हौं तुम्ह बलि दीन्हा। जहँ तुहुँ तहँ भावै बलि कीन्हा॥
जौं तुम्ह मया कीन्ह पगु धारा। दिस्टि देखाइ बान बिख मारा॥
जो अस जाकर आसामुखी। दुख महँ ऐस न मारै दुखी॥
नैन भिखारि न माँगै सीखा। अगुमन दौरि लेहिं पै भीखा॥
नैनहिं नैन जो बेधिगै, नहिं निकसहिं वै बान।
हिएँ जो आखर तुम्ह लिखे, ते सुठि घटहिं परान॥ २२४॥

शब्दार्थ—मुखवचन = ज़बानी। सँवराइ = स्मरण दिलाकर। आसा-मुखी = मुख का आसरा देखने वाला। सुठि = अच्छी तरह।

अर्थ—और फिर उस राजा (रत्नसेन) ने कहा कि हे तोते तू उससे ज़बानी भी कहना। पहिले मेरी ओर से उसके प्रति बहुत निवेदन करना, फिर स्मरण दिला कर उससे दूसरी बात कहना कि उसने तुम्हारे लिए देवताओं

को पूज कर अनेक बलि दी है। पर अब तो वह तपस्वी अपनी ही बलि दे देगा क्योंकि कब तक सूने मढ़ में उसकी काया जाग सकती है। उससे यह भी कहना कि अच्छा होगा कि मैं इस प्रकार तुम्हारे लिए बलि दे दूँ। बात यह है कि जहाँ तुम हो नहीं मुझे बलिदान देना अच्छा लगता है। तुमने कृपा करके जो मन्दिर में पदार्पण किया, दर्शन देकर विष का बाण मार दिया है। जो आपके मुख की आसरा रखता है, उस दुःखी को उसके दुःख में और नहीं मारना चाहिए। तुम्हारे नैनों का भिखारी हूँ, कोई शिक्षा नहीं मांगता, आगे दौड़ कर भिक्षा लेना चाहता हूँ। आँखों में आँख बिंध जाने से जो बाण लगे हैं वे किसी प्रकार नहीं निकलते। हृदय पर जो अक्षर तुमने लिखे थे वे प्राणों पर अच्छी तरह जम गये हैं।

[ २२५ ]

ते बिष बान लिखौं कहँ ताईं। रकत जो चुवा भीजि दुनियाईं ॥
जानु सो गारै रकत पसेऊ। सुखी न जान दुखी कर भेऊ ॥
जेहि न पीर तेहि काकरि चिंता। प्रीतम निठुर होइ अस निंता ॥
कासौं कहौं बिरह कै भाखा। जासौं कहौं होइ जरि राखा ॥
बिरह अगिनि तन जरि बन जरे। नैन नीर साएर सब भरे ॥
पाती लिखी सँवरि तुम्ह नामाँ। रकत लिखे आखर भे स्यामाँ ॥
अच्छर जरे न कहूँ छुवा। तब दुख देखि चला लै सुवा ॥
अब सुठि मरौं छूँछि गै पाती, पेम पियारे हाथ।
भेंट होत दुख रोइ सुनावत, जीउ जात जौ साथ ॥ २२५ ॥

शब्दार्थ—ताईं = तक। जानु = जानता है। गारै = निचोड़े। भेऊ = भेद। काकरि = किसकी। निंता = नित्य। साएर = सागर।

अर्थ—उन विष के बाणों के विषय में कहाँ तक लिखूँ। उससे इतना रक्त निकला कि सारी दुनिया उससे भीग गयी। इस दुःख को वही जान सकता है जो अपने रक्त को पसीने के रूप में निकालता है, सुखी व्यक्ति दुःखी व्यक्ति का भेद नहीं जान सकता। जिसको पीड़ा नहीं, उसे किसकी चिन्ता हो सकती है। प्रियतमा तो सदा ही निष्ठुर होती है। मैं किससे विरह की भाषा कहूँ, जिससे कहता हूँ वही जल कर राख हो जाता है। मेरे शरीर

की विरहाग्नि से सारा वन जल उठता है और आँखों के आँसुओं से सारे सागर भर गये। तुम्हें स्मरण करके मैंने पत्री लिखी है, रक्त से हमने लिखा है, पर अक्षर काले हो गये हैं, अक्षर जल रहे हैं इसलिए कोई उसे छू नहीं सकता। तब उसके इस दुःख को देख कर तोता पत्री लेकर चला। अब मैं अच्छी तरह मरूँगा, क्योंकि प्रियतमा के हाथ में मेरी चिट्ठी गयी है। यदि मिलाप हो सकता और प्राण भी साथ जाते तो मैं स्वयं रो-रो कर अपना दुःख सुनाता।

[ २२६ ]

कंचन तार बाँधि गियँ पाती। लै गा सुवा जहाँ धनि राती॥
जैसे कँवल सुरुज कै आसा। नीर कंठ लहि मरै पियासा॥
बिसरा भोग सेज सुख बासू। जहाँ भँवर सब तहाँ हुलासू॥
तब लगि धीर सुना नहिं पीऊ। सुनतहिं घरी रहे नहिं जीऊ॥
तब लगि सुख हियँ पेम न जामा। जहाँ पेम का सुख बिसरामा॥
अगर चंदन सुठि दहै सरीरू। औ भा अगिनि कया कर चीरू॥
कथा कहानी सुनि सुठि जरा। जानहुँ घीउ बैसंदर परा॥
बिरह न आपु सँभारै, मैल चीर, सिर रूख।
पिउ पिउ करत रात दिन, पपिहा भइ मुख सूख॥ २२६॥

शब्दार्थ—गियँ = गर्दन। धनि = स्त्री (पद्मावती)। राती = अनुरक्त। लहि = पा कर भी। बिसरा = भूल गया। हुलासू = प्रसन्नता। धीर = धीरज। जामा = उत्पन्न हुआ। बिसरामा = विश्राम। घीउ = घी। बैसंदर= वैश्वानर-अग्नि।

अर्थ—गले में सोने के तारों से पत्री को बाँध कर तोता उसे वहाँ ले गया जहाँ रत्नसिंह में अनुरक्त पद्मावती थी। जिस प्रकार कमल सूर्य की आशा में कंठ तक जल पाकर भी प्यासा ही मरता है, उसी प्रकार वह भी रत्नसेन की आशा में अतृप्त थी। उसे भोग और शय्या आदि का सुख भूल गया क्योंकि उसका तो सारा उल्लास वहीं है जहाँ उसका भ्रमर (रत्नसेन) है। धैर्य तो तभी तक होता है जब तक प्रिय का नाम नहीं सुना, सुनते ही जीव घड़ी भर भी नहीं रह सकता। सुख तभी तक है जब तक हृदय में प्रेम का

अंकुर नहीं उत्पन्न हुआ। जहाँ प्रेम उत्पन्न हो गया ..हाँ सुख और विश्राम क्या है। अगर और चंदन से तो शरीर अधिक जल उठता है और शरीर की चीर तो अग्नि ही हो जाती है। किस्से-कहानी आदि मनोरंजक बातें सुनकर तो और अधिक जलन होती है। मानो अग्नि में घी डाल दिया गया हो। इस प्रकार पद्मावती विरह से अपने को सँभाल नहीं सकती। उसके वस्त्र मैले थे और सिर के बाल तेल न डालने से सूखे पड़े थे, रात-दिन पी-पी पुकारती हुई पपीहा बनी हुई थी और उसका मुख सूखा था।

अलंकार—उत्प्रेचा, रूपक, उपमा।

[ २२७ ]

ततखन गा हीरामनि आई। मरत पियास छाँह जनु पाई॥
भल तुम्ह सुवा कीन्ह है फेरा। गाढ़ न जाइ पिरीतम केरा॥
बातन्ह जानहु, बिखम पहारू। हिरदै मिला न होइ निनारू॥
मरम पानि कर जान पियासा। जो जल महँ ताकहँ का आसा॥
का रानी पूँछहु यह बाता। जनि कोइ होइ प्रेम कर राता॥
तुम्हरे दरसन लागि बियोगी। अहा जो महादेव मढ़ जोगी॥
तुम्ह बसंत लै तहाँ सिधाईं। देव पूजि पुनि ओपहँ आईं॥
दिस्टि बान तस मारेहु, घाइ रहा तेहि ठाउँ।
दोसरी बार न बोला, लै पदुमावति नाउँ॥ २२७॥

शब्दार्थ—फेरा = चक्कर, वापस आना। गाढ़ = कठिन। निनारू = अलग। ओपहँ = उस पर। घाइ = घाव। ठाउँ = जगह। दोसरी = दूसरी।

अर्थ—उसी समय हीरामनि वहाँ आ गया। उसे देख कर उसे ऐसा धीरज मिला जैसे प्यासे मरते व्यक्ति को छाया मिल जाय। पद्मावती ने कहा अच्छा हुआ कि तुमने यहाँ का चक्कर लगाया, क्योंकि प्रियतमा के कठिन वियोग के दिन बीतते नहीं। बातों में तो विषम पहाड़ ही मालूम होता है—पर मिला हुआ हृदय कभी अलग नहीं हो सकता। पानी का महत्व तो वही समझता है, जो प्यासा है, जो जलमें ही है उसकी भला क्या आशा? तब तोता बोला कि रानी! यह बात क्या पूछ रही हो, प्रेम का अनुरक्त, भगवान् करे, कोई न हो। वह जो महादेव जी के गढ़ पर जोगी तुम्हारे दर्शनों के लिए वियोगी

बना है, उसके पास वसन्त के दिन गईं थीं, देवता की पूजा करने के बाद तुम उसके पास भी गयी थीं। तुमने दृष्टि बाण जो उसके मारा था उससे वह वहीं पर घायल हो गया था और वह बेचारा पद्मावती नाम एक बार ही लेकर रह गया, दुबारा बोल भी न सका।

[ २२८ ]

रोवँहि रोवँ बान वै फूटे। सोतहि सोत रुहिर मकु छूटे॥
नैनन्हि चली रकत कै धारा। कंथा भीजि भएउ रतनारा॥
सूरज बूड़ि उठा परभाता। औ मँजीठ टेसू बन राता॥
पुहुमि जो भीजि, भएउ सब गेरू। औ तहँ अहा सो रात पखेरू॥
भएउ बसंत राती बनफती। औ राते सब जोगी जती॥
राती सती अगिनि सब काया। गँगन मेघ राते तेहि छाया॥
ईंगुर भा पहार तस भीजा। पै तुम्हार नहिं रोवँ पसीजा॥
तहाँ चकोर कोकिला, तिन्ह हिय मया पईठि।
नैन रकत भरि आए, तुम्ह फिरि कीन्ह न डीठि॥ २२८॥

शब्दार्थ—रोवँ = रोम। सोत = रोम-छिद्र। रुहिर = रुधिर। मकु = मानो। रतनारा = लाल। राता = लाल। बनफती = वनस्पति।

अर्थ– तोता रत्नसेन के दर्द का वर्णन करता गया—वे बाण उसके रोम-रोम में फूट चले, मानो रोम-छिद्रों में खून की धारें छूटने लगीं। उसके नेत्रों से रक्त की धारा बह निकली। उसकी गूदड़ी भीग कर लाल हो गयी, सूर्य प्रभात में उसी के खून में डूब कर लाल होकर निकला, मजीठ भी उसी में डूब कर लाल हो गया और टेसू का वन भी उसी से लाल होकर फूला। पृथ्वी जो उस खून में भीगी तो गेरू मिट्टी हो गयी और वहाँ जो भी पक्षी थे सब लाल हो गये। वसन्त का महीना भी उसी के कारण लाल होकर उपस्थित हुआ, सारी वनस्पतियाँ लाल हुईं, सब जोगी भी और जती भी लाल ही दिखाई पड़े। सती भी लाल हुई और उसके सारे शरीर में अग्नि प्रज्वलित हुई, आकाश के बादल भी उसी की छाया से लाल हो गये। पहाड़ भी भीग कर सिन्दूरी रंग का हो गया। इस प्रकार सारे संसार के अणु-अणु पर उसके विरह का प्रभाव पड़ा पर तुम्हारे रोम में भी उसका कोई प्रभाव नहीं हुआ।

वहाँ चकोर और कोकिलों के भी हृदय में दया ने प्रवेश किया, सब के नयनों में रक्त भर गया, पर तुमने तो लौट कर देखा तक नहीं।

अलङ्कार—हेतूत्प्रेक्षा।

[ २२६ ]

औस बसंत तुम्हहिं पै खेलहु। रकत पराएँ सेंदुर मेलहु॥
तुम्ह तौ खेलि मँदिर कहँ आईं। ओहिक मरम जस जान गोसाईं॥
कहसि मरै को बारहि बारा। एकहिं बार होउँ जरि छारा॥
सर रचि रहा आगि जौं लाई। महादेव गौरै सुधि पाई॥
आइ बुझाइ दीन्ह पँथ तहाँ। मरन खेल कर आगम जहाँ॥
उलटा पंथ पेम के बारा। चढ़ै सरग, जौं परै पतारा॥
अब धँसि लीन्ह चहै तेहि आसा। पावै साँस, कि मरै निसाँसा॥
पाती लिखि सो पठाई, लिखा सबै दुख रोइ।
दहुँ जिउ रहै कि निसरै, काह रजाएसु होइ॥ २२६॥

शब्दार्थ—औस = इस प्रकार। पै = पर। पराएँ = दूसरे के। ओहिक = उसका। भरम = भेद, कष्ट। गोसाईं = ईश्वर। सर = चिता। बारा = द्वार दहुँ = पता नहीं। सुधि = समाचार। धँसि = गड़ कर।

अर्थ—तोता कहता जा रहा है—इस प्रकार का वसन्त तो तुम्हीं खेलती हो कि दूसरे के रक्त से सिन्दूर लगाती हो। तुम तो खेल करके घर आ गयीं, पर उसको जो मर्मभेदी दुःख हुआ उसे तो ईश्वर ही जानता है। उसने कहा कि बार-बार कौन मरे, एक ही बार जल कर राख हो जाऊँगा। चिता बना कर ज्यों ही वह आग लगाने जा रहा था कि महादेव और पार्वती ने यह समाचार पाया। उन्होंने आकर चिता बुझा दी और उसे मार्ग दर्शन किया। उन्होंने वह मार्ग दिखाया है जहाँ मृत्यु के खेल का आगम है। प्रेम के दरवाजे पर जाने वाला वह उल्टा रास्ता है, उसमें मनुष्य तभी स्वर्ग पर चढ़ता है जो पाताल में जा पड़ता है। भाव यह कि शिव का बताया हुआ मार्ग उसने लिया है, योग मार्ग विषयों की ओर स्वभावतया जाते हुए मन को उलट कर अन्तर्मुखी होता है, इस मार्ग में उन्नति करने के लिए अनेक प्रकार के कष्ट सहने पड़ते हैं। अब पाताल में उसी की आशा से घुस जाना चाहता है, या

तो वह साँझ ही पावेगा या साँस छोड़ कर मर ही जायेगा।

उसने चिट्ठी लिखकर भेजी है और रो कर सारे दुःख लिखे हैं। पता नहीं उसके प्राण बचेंगे या निकल जायेंगे, बोलो आपकी क्या आज्ञा हो रही है।

[ २३० ]

कहि कै सुआ छोड़ि दई पाती। जानहु दिब्ब छुअत तसि ताती॥
गीवँ जो बाँधे कंचन तागे। राते स्याम कंठ जरि लागे॥
अगिनि स्वाँस सँग निकसै ताती। तरिवर जरहिं तहाँ का पाती॥
जरि जरि हाड़ भए सब चूना। तहाँ माँसु का रकत बिहूना॥
रोइ रोइ सुआ कही सब बाता। रकत के आँसुन्ह भा मुख राता॥
देखु कंठ जरि लाग सो गेरा। सो कस जरै बिरह अस घेरा॥
ओइँ तोहि लागि कया असि जारी। तपत मीन, जल देइ न पारी॥
तोहि कारन वह जागी, भसम कीन्ह तन डाहि।
तूँ अस निठुर निछोही, बात न पूँछी ताहि॥ २३०॥

शब्दार्थ—सुआ = तोते ने। दिब्ब-पाठान्तर-दीप = दीपक। ताती = गर्म। गीवँ = गर्दन। तागे = डोरे। राते = लाल। बिहूना = विहीन। गेरा = गिरा दिया। ओइँ = उसने। तोहि लागि = तेरे लिए। पारी = फेंकना। डाहि = जला कर।

अर्थ—ऐसी बात कह कर तोते ने चिट्ठी डाल दी। वह पत्री इतनी गर्म थी जैसे दीपक हो। उसकी गर्दन में जो सोने के तार बँधे हुए थे, उससे कंठ जल कर लाल और काले पड़ गये। स्वांस के साथ गर्म आग निकल रही थी, उससे पेड़ भी जल रहे थे, तो पत्तियों का तो कहना ही क्या है? सभी हड्डियाँ जल-जल कर चूना बन गईं तो फिर रक्त विहीन माँस की कौन पूछे। तोते ने रो-रो कर सब बातें कहीं, रक्त के आंसुओं के कारण उसका मुख भी लाल हो गया। तोते ने कहा कि देखो कि पत्री की जलन से मेरा कंठ जलने लगा। इसीलिए मैंने इसे गिरा दिया तो फिर भला सोचो कि वह किस प्रकार जल रहा होगा, जिसको ऐसे विरह ने घेर रखा है। तेरे ही कारण उस जोगी ने अपने शरीर को जला कर भस्म कर डाला है, पर तू ऐसी निष्ठुर और मोहरहित है कि उसकी बात तक नहीं पूछती।

[ २३१ ]

कहेसि सुआ मोसों सुनु बाता। चहौं तौ आजु मिलौं जस राता ॥
पै सो मरमु न जानै मोरा। जानै प्रीति जो मरि कै जोरा ॥
हौं जानति हौं अबहूँ काँचा। न जनहु प्रीति रंग थिर राचा ॥
न जनहु भएउ मलैगिरि बासा। न जनहु रबि होइ चढ़ा अकासा ॥
न जनहु होइ भँवर कर रंगू। न जनहु दीपक होइ पतंगू ॥
न जनहु करा भृंगि कै होई। न जनहु अबहिं जिऔ मरि सोई ॥
न जनहु पेम औटि एक भएउ। न जनहु हिय महँ कै डर गएऊ ॥

तेहि का कहिअ रहन खिन, जो है प्रीतम लागि।
जहँ वह सुनै लेइ धँसि, का पानी का आगि ॥ २३१ ॥

शब्दार्थ—मरमु = मर्म, रहस्य । काँचा = कच्चा । न जनहु = न वह व्यक्ति । कर = का । करा = कला, दशा । औटि = पग कर ।

अर्थ पद्मावती सुए की बात सुन कर बोली—हे तोते ! तूने मुझसे ये बातें कीं, अब मेरी भी सुनो—यदि मैं चाहूँ तो जिस प्रकार उस पर अनुरक्त हूं उसी प्रकार उससे आज ही मिल जाऊँ, पर वह तो मेरे प्रेम का रहस्य ही नहीं जानता। वह तो समझता है कि प्रीति वही है जो मर करके ही जोड़ी जाती है। मैं जानती हूं कि वह अभी प्रेम में कच्चा है, अभी उसमें प्रीति का रंग स्थिर नहीं हुआ है। अभी उसने मलयगिरि पर वास नहीं किया और न सर्प बन कर आकाश ही चढ़ा है। अभी तक उसमें भौंरे का सा रंग नहीं चढ़ा है और न वह अभी तक दीपक के लिए पतंगा हो सका है। अभी उसमें भृंगी की कला नहीं आयी है जो पतिंगे को अपने रूप में बदल सके और न अभी वह मर कर जीता ही है। अभी उसका प्रेम पग कर एक भी नहीं हुआ है, और न उसके हृदय का डर गया है।

जो प्रीतम के लिए आतुर है उसके एक क्षण के रहने का भी क्या कहें, जहाँ भी वह सुन पाता है उसे प्राप्त करने के लिए घुस जाता है, चाहे आग हो चाहे पानी।

[ २३२ ]

पुनि धनि कनक पानि मसि माँगी । उत्तर लिखत भीजि तन आँगी ॥
तेहि कंचन कहँ चहिअ सोहागा । जा निरमल नग होइ सो लागा ॥
हौं जो गई मढ़ मंडप भोरी । तहवाँ तूँ न गाँठि गहि जोरी ॥
भा बिसँभार देखि कै नैना । सखिन्ह लाज का बोलौं बैना ॥
खेल मिसुइँ मैं चँदन घाला । मकु जागसि तौ देउँ जैमाला ॥
तबहुँ न जागा, गा तैं सोई । जागें भेंट, न साएँ होई ॥
अब जौं सूर होइ चढ़ै अकासा । जौं जिउ देइ तौ आवै पासा ॥

तब लगि भुगुति न लै सका, रावन सिय एक साथ ।
अब कौन भरोसे किछु कहौं, जीउ पराएँ हाथ ॥ २३२ ॥

शब्दार्थ—पुनि = फिर । धनि = स्त्री (पद्मावती) । आँगि = अंगिया, चोली । बिसँभार = बेसँभाल । मिसुई = बहाने । घाला = डाला । मकु = शायद । भुगुति = भिक्षा ।

अर्थ—तब पद्मावती ने सोने के पानी वाली स्याही मंगाई । उत्तर लिखते हुए भावोद्रेक के कारण पसीना हो गया और उसकी चोली भीग गयी । उसने पत्र में लिखा कि कंचन को सोहागा चाहिए, जो निर्मल नग होगा वही उसमें लग सकता है । अर्थात् एक तो तुम में सोहागे के साथ मिल कर एक जान होने की तपस्या चाहिए, दूसरे नग की सी निर्मलता । पागल व्यक्ति, मैं तो मंडप में गयी थी, वहाँ पर तूने गाँठ क्यों नहीं जोड़ दी । तू तो आँखें देख कर ही बेसुध हो गया, सखियों की लाज से भला मैं क्या बोलती ? खेल के बहाने मैंने तुम्हारे चन्दन लगा दिया कि शायद यदि तुम जग जाओ और मैं तुम्हें जयमाला पहिना दूँ । पर फिर भी तू न जगा और सो गया । मिलन तो जागने पर ही होता है, सोने पर नहीं । अब तो यदि सूर्य होकर आकाश चढ़ो, जान दो तभी पास आ सकते हो ।

जब रावण-सीता एक साथ थे अर्थात् जब मैं तुम्हारे पास थी, तब तो तू भिक्षा ले न सका । अब कौन से भरोसे पर मैं कुछ कहूँ, क्योंकि अब तो मेरा जीव दूसरे (पिता) के हाथ में है ।

नोट—यहाँ पर 'रावण-सीय' की उपमा अप्रासंगिक है—पर रावण के सम्बन्ध में जितने प्रसंग ग्रन्थावली में हैं, सभी इसी प्रकार ऊटपटांग हैं। यहाँ तो केवल भिक्षा (भुगुति) शब्द मात्र के लिए ऐसा कर दिया है। रावण सीता से भिक्षा माँग रहा था और इसी बहाने वह हर ले गया था। जोगी रत्नसेन भी भिक्षा ही माँगने आया था और पद्मावती भिक्षा देने वाली थी—इसी साम्य मात्र पर जायसी ने 'रावण-सीय' कह मारा।

[ २३३ ]

अब जौं सूर गँगन चढ़ि धावहु। राहु होहु तौ ससि कहँ पावहु॥
बहुतन्ह ऐस जीउ पर खेला। तूँ जोगी केहि माहँ अकेला॥
बिक्रम धँसा पेम के बाराँ। सपनावति कहँ गएउ पताराँ॥
सुदैबच्छ मुगुधावति लागी। कँकन पूरि होइ गा बैरागी॥
राजकुँवर कंचनपुर गएऊ। मिरगावति कहँ जोगी भएऊ॥
साधा कुँवर मनोहर जोगू। मधुमालति कहँ कीन्ह बियोगू॥
पेमावति कहँ सरसुर साधा। उखा लागि अनिरुध बर बाँधा॥
हौं रानी पदुमावति, सात सरग पर बास।
हाथ चढ़ौं सो तेहि कें, प्रथम जो आपुहिं नास॥ २३३॥

शब्दार्थ—राहु = राहु जिसकी गर्दन कट गयी थी—भाव यह कि गर्दन कटाओ। बाराँ = द्वार। लागी = लिए। कँगन = गगन, आकाश। पूरि = भर कर। सरसुर = देवताओं का तालाब, मानसरोवर।

अर्थ—अब तो यदि सूर्य बन कर आकाश में चढ़ो तथा राहु की भाँति गर्दन को कटाओ, तभी चन्द्रमा को पा सकते हो। अनेक लोग इसी प्रकार जीव पर खेल चुके हैं, तुम जोगी भक्त किस में हो? प्रेम के द्वार पर विक्रमादित्य घुस गया था और स्वप्नावती के लिए पाताल गया था। सदावच्छ मुग्धावती के लिए आकाश में अपने स्वरों को अलाप कर वैरागी हो गया था। राजकुमार मृगावती के लिए जोगी बन कर कंचनपुर गया था। दूसरे एक राजकुमार ने मधुमालती के वियोग में सुन्दर योग साधा था। इसी प्रकार एक राजकुमार ने प्रेमावती के लिए मानसरोवर पर साधना की थी। उषा के लिए अनिरुद्ध बंधन में पड़ा था। मैं रानी पद्मावती सात खंडों के ऊपर

निवास करती हूँ। मैं तो उसी के हाथ चढ़ सकती हूँ जो पहले अपना नाश करे।

[ २३४ ]

हौं पुनि अहौं ऐसि तोहि राती। आधी भेंट प्रीतम कै पाती ॥
तोहिं जौं प्रीति निबाहै आँटा। भँवर न देखु केतु महँ काँटा ॥
होहु पतंग अधर गहु दिया। लेहु समुँद धँसि होइ मरजिया ॥
राति रंग जिमि दीपक बाती। नैन लाउ होइ सीप सेवाती ॥
चात्रिक होहु पुकारु पिआसा। पिउ न पानि रहु स्वाति की आसा ॥
सारस कै बिछुरी जिमि जोरी। रैनि होहु जस चक्क चकोरी ॥
होहु चकोर दिस्टि ससि पाहाँ। औ रबि होहु कँवल दधि माहाँ ॥

हहूँ ऐसि हौं तो सौं, सकसि तौ प्रीति निबाहु।
राहु बेधि होइ अरजुन, जीति द्रौपदी ब्याहु ॥ २३४ ॥

शब्दार्थ – राती = अनुरक्त । पाती = पत्री । निबाहै = निर्वाह करना । आँटा = पूरा पड़ना, सकना । केतु = केतकी फूल । अधर = होठ । दिया = दीपक । मरजिया = गोताखोर । चक्क = चकई-पाठान्तर-चन्द । दधि = दह, तालाब-पाठान्तर-दल । हहूँ = मैं भी । राहु = रोहू, मछली ।

अर्थ—इस पद में भी पद्मावती का पत्र चल रहा है—मैं तुझमें इस प्रकार अनुरक्त हूं कि तुम्हारी चिट्ठी इस प्रकार हुई जैसे अर्द्ध मिलन हुआ (पाती आधा मिलन है)। यदि तू प्रेम का निर्वाह कर सके तो विघ्नों की परवाह न कर। देखो, भौंरा केतकी फूल के काँटों की परवाह नहीं करता। पतिंगा बनो और उसी की भाँति होठों से दीपक की ज्वाला को पकड़ो। गोता-खोर बन कर समुद्र में घुस जाओ। जैसे दीपक की बत्ती स्नेह के रंग में रंगी हुई होती है उसी प्रकार तू भी प्रेम में डूब जा। जैसे सीप स्वाति पर नयन लगाये रहती है उसी प्रकार तू भी लगा। चातक बन कर प्यासा बन कर पुकारो। जैसे चातक अन्य पानी नहीं पीता, केवल स्वाति की आशा करता है उसी प्रकार ही अपने स्नेह में दृढ़ बनो। सारस जैसे अपने जोड़े से अलग होकर दुःखी होता है तथा रात्रि में जैसे चकवी बिछुड़ कर दुःख पाती है,

और चकोरी जैसे चन्दा पर दृष्टि लगाती है और सूर्य तालाब के कमल पर प्रेम करता है, वैसे ही तू प्रेम में एकनिष्ठ बन। मैं भी तुम्हारे साथ इसी प्रकार हूं। यदि तू ऐसा कर सकता है तो प्रेम का निर्वाह कर और अर्जुन की भांति मछली-भेद कर द्रौपदी को ब्याह ले जाओ। भाव यह कि प्राणों की बाजी लगाकर परीक्षा में पास होकर मुझे प्राप्त करो।

अलंकार—रूपक और रूपकातिशयोक्ति।

[ २३५ ]

राजा इहाँ तैस तपि झूरा। भा जरि बिरह छार कर कूरा॥
मौन गँवाए गएउ बिमोही। भा निरजिउ, जिउ दीन्हेसि ओही॥
गही पिंगला सुखमन नारी। सुन्नि समाधि लागि गौ तारी।
बुँदहि समुँद जैस होइ मेरा। गा हेराइ तस मिलै न हेरा॥
रंगहि पानि मिला जस होई। आपुहि खोइ रहा होइ सोई॥
सुवा आइ देखा भा नासू। नैन रकत भरि आए आँसू॥
सदा जो प्रीतम गाढ़ करेई। वह न भूल, भूला जिउ देई॥
मूरि सजीवनि आनि कै, औ मुख मेला नीर।
गरुर पंख जस झारै, अंब्रित बरसा कीर॥ २३५॥

शब्दार्थ—झूरा = सूख कर कांटा हुआ। छार कर = राख का। कूरा = ढेर। पिंगला-सुखमन = पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियाँ। सुन्नि = शून्य। तारी = त्राटक, टकटकी। मेरा = मेल। गा हेराइ = खो गया। हेरा = खोजने पर। नासू = नाश। गाढ़ = कठिन काम। मूरि = जड़ी। मेला = डाला। गरुर = गरुड़। झारै = झलै। कीर = तोता।

अर्थ—राजा रत्नसेन ने यहां पर ऐसी तपस्या की कि सूख कर कांटा हो गया, जल कर राख का ढेर हो गया। वह निर्मोही पद्मावती आँखें लाल कर चली गयी इसलिए वह उसके वियोग में जान देकर निर्जीव हो गया। रत्नसेन समाधि की अवस्था में पहुँच गया, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियों के द्वारा प्राणायाम की स्थिति समाप्त हुई। शून्य में समाधिस्थ होकर त्राटक लग गया। आत्मा का परमात्मा से एकीकरण इस प्रकार हो गया जैसे बूँद समुद्र में मिल जाती है, कि खोजने पर मिलती नहीं। जैसे पान में रंग मिला

होता है या उसमें खोया होता है। इसी प्रकार समाधि की अवस्था में पद्मावती रूपी ब्रह्म में मिलकर स्वयं खो गया। तोते ने जब जाकर उसे देखा तो उसकी दशा देखकर उसकी आँखों में रक्त के आँसू भर आये। उसने देखा कि जो सदा ही प्रियतमा के लिए कठिन प्रयत्न करता है उसे वह भूल नहीं सकता, स्वयं ही अपने को भूलकर अपनी जान दे रहा है। यह देखकर संजीवनी जड़ी लाके, उसने मुख में जल डाला। फिर अपने गरुड़ के ऐसे पंखों को फैला कर पंखा झलने लगा तथा उसके मुख में अमृत की वर्षा की।

[ २३६ ]

मुवा जियहि अस बास जो पावा। बहुरी साँस, पेट जिउ आवा॥
देखेसि जाग, सुआँ सिर नावा। पाती दै मुख बचन सुनावा॥
गुरु कर बचन स्रवन दुहुँ मेला। कीन्ह सुदिस्टि, बेगि चलु चेला॥
तोहिं अलि कीन्ह आपु भइ केवा। हौं पठवा कै बीच परेवा॥
पवन स्वाँस तोसौं मन लाए। जोवै मारग दिस्टि बिछाए॥
जस तुम्ह कया कीन्ह अगिडाहू। सो सब गुरु कहँ भएउ अगाहू॥
तव उड़ंत छाला लिखि दीन्हा। बेगि आउ, चाहौं सिध कीन्हा॥
आवहु स्यामि सुलक्खने, जीव बसै तुम्ह नाउँ।
नैनन्ह भीतर पंथ है, हिरदै भीतर ठाउँ॥

शब्दार्थ—बहुरी = लौटी। केवा = केतकी। पठवा = भेजा। जोवै = देखै। अगिडाहू = अग्निदाह। अगाहू = विदित। उड़ंत = संदेश। छाला = पत्र। सुलक्खने = सुन्दर लक्षणों वाला।

अर्थ—संजीवनी बूटी ऐसी थी कि उसकी महँक पाने से मरा हुआ आदमी भी जी उठता है। इसलिए रत्नसेन की स्वाँस लौटी और उसके पेट में जीव फिर से आ गया। उसने जग कर देखा तो तोते ने सिर नवाया और पद्मावती का पत्र देकर कहने लगा कि गुरु के वचनों को दोनों कानों में डाल कर हे शिष्य तुरन्त चलो, उस पद्मावती ने तुझ पर सुदृष्टि की है। तुझे उसने भौंरा बनाकर स्वयं केतकी बनी है और मुझ पक्षी को मध्यस्थ बना कर भेजा है। प्राण और साँस को तुझ पर लगाये हुए वह मार्ग पर दृष्टि बिछा कर तुम्हें देख रही है। जिस प्रकार तुमने अपनी काया को अग्नि

में जलाया है वह सब उस गुरु (पद्मावती) को विदित है। तुझका सारा संदेश उसने पत्र में लिख दिया है कि यदि सिद्धि चाहते हो तो तुरन्त आओ। उसने कहा है कि हे सुलक्षणों से युक्त स्वामी तुम्हारे नाम ही में मेरा जीव बसता है, मेरे नयनों के भीतर तेरा ही रास्ता है और हृदय में तेरा ही स्थान है।

[ २३७ ]

सुनि पदुमावति कै असि मया। भा बसंत, उपनी नै कया॥
सुवा क बोल पवन होइ लागा। उठा सोइ, हनिवँत अस जागा॥
चाँद मिलन कहँ दीन्हेउ आसा। सहसौ करौं सूर परगासा॥
पाती लीन्ह, लै सीस चढ़ावा। दिस्टि चकोर चाँद जनु पावा॥
आस पिआसा जो जेहि केरा। जौं झिझकार, वाहि सौं हेरा॥
अब यह कवन पवन मैं पिया। भा तन पंख, पंखि मरि जिया॥
उठा फूलि हिरदै न समाना। कंथा टूक टूक बेहराना॥

जहां पिरीतम वै बसहिं यह, जिउ बलि तेहि बाट।
जौं सो बोलावहि पाउ सौं, हम तहँ चलहिं लिलाट॥ २३७॥

शब्दार्थ—मया = दया, सहानुभूति। उपनी = उत्पन्न हुई। नै = नवीन। झिझकार = झिड़की दे। हेरा = देखता है। कंथा = गूदड़ी। टूक टूक = टुकड़े-टुकड़े। बेहराना = फट गया।

अर्थ—पद्मावती की इस प्रकार की कृपा को सुनकर राजा रत्नसेन वसन्त ऋतु की भांति प्रफुल्लित हो उठा, उसका नया शरीर जैसे बना हो। तोते की बोली उसे जागरण देने वाली हवा के समान लगी, वह सोकर इस प्रकार उठा जैसे हनूमान् जग उठे। चन्द्र रूपी पद्मावती से मिलने की आशा उसे हो गयी इसलिए वह इस प्रकार जगा जैसे सहस्रों करों से सूर्य प्रकाशित हो। पत्री को लेकर उसने शिर पर चढ़ाया, उसकी दृष्टि में ऐसा आनन्द प्रकट हुआ मानो चकोर ने चन्द्रमा को पा लिया हो। जो जिसकी आशा का प्यासा होता है उसे यदि झिड़की भी दी जाय तो भी वह उसी की ओर देखता है। राजा सोचने लगा कि मैंने अब कौन सी हवा पी रक्खी है कि मेरे शरीर में पंख से लग रहे हैं और पक्षी मर कर जीवित सा प्रतीत हो

रहा है। उसमें ऐसी प्रसन्नता हुई कि वह हृदय में समा न सका, उसका गूदड़ी टुकड़े-टुकड़े हो कर फट गयी। उसने कहा कि जहाँ प्रियतमा बसती है यह मेरा जीव उसके रास्ते पर निछावर है, यदि वह मुझे पैरों से चलकर भी बुलावे तो मैं मत्थे के बल पहुँच सकता हूँ।

[ २३८ ]

जो पँथ मिला महेसहि सेई। गएउ समुँद ओही धँसि लेई॥
जहँ वह कुंड बिषम अवगाहा। जाइ परा जनु पाई थाहा॥
बाउर अंध प्रीति कर लागू। सौहँ धँसै, कछु सूझ न आगू॥
लीन्हेसि धँसि सुवाँस मन मारे। गुरू मछिंदरनाथ सँभारे॥
चेला परे न छाड़हि पाछू। चेला मंछु, गुरू जस काछू॥
जनु धँसि लीन्ह समुँद मर जिया। उघरे नैन बरे जनु दिया॥
खोजि लीन्ह सो सरग दुवारी। बज्र सो मूँदे जाइ उघारी॥
बाँक चढाउ सुरंग गढ़, चढ़त गएउ होइ भोर।
भइ पुकार गढ़ ऊपर, चढ़े सेंधि दै चोर॥ २३८॥

शब्दार्थ—सेई = सेवा करके। धँसि लेई = घुस कर लेने के लिए। लागू = लगन। सौह = सामने। मंछु = मछली। काछु = कछुआ। बरे = जले।

अर्थ—शंकर जी की प्रार्थना करके जो ही मार्ग मिला उसी से घुस कर समुद्र में बढ़ गया। जब वह विषम अथाह कुंड में प्रविष्ट हो गया तो ऐसा उसमें मग्न हो गया मानो उसे थाह मिल गयी हो। जो प्रीति की लगन के कारण बावला और अन्धा हो जाता है वह सामने ही घुस जाता है उसे आगा-पीछा कुछ नहीं सूझता। घुस करके उसने मन मारकर सुवास ली। गुरु मत्स्येन्द्रनाथ (रूपी सुआ) से संभाला हुआ वह चला जाता था। उसके पीछे उसीके चेले राजकुमार पीछा नहीं छोड़ते। गुरु रत्नसेन मनो कछुआ है और चेले मछली हैं और आगे बढ़ रहे हैं। वे इस प्रकार गढ़ में प्रविष्ट हुए जैसे गोता-खोर समुद्र में घुस जाता हैं। उनके नेत्र ऐसे प्रकाशित थे मानो दीप जल रहे हों। उन्होंने सिंहलगढ़ के स्वर्गद्वार को खोज लिया। जो दरवाजे वज्र से बन्द थे उन्हें खोल दिया। टेढ़ी चढ़ाई वाले गढ़ की सुरंगों पर चढ़ते-चढ़ते प्रातः-काल हो गया तब गढ़ के ऊपर पुकार हुई कि चोर सेंध लगाकर घुस आये हैं।

# गन्धर्वसेन-मंत्री-खण्ड

[ २३६ ]

राजैं सुना, जोगि गढ़ चढ़े। पूँछे पास पंडित जो पढ़े॥
जोगी जो गढ़ सेंधि दै आवहिं। कहहु सो सबद सिद्धि जेहिं पावहिं॥
कहहिं बेद पढ़ि पण्डित बेदी। जोगी भँवर जस मालति भेदी॥
जैसें चोर सेंधि सिर मेलहिं। तस ये दुवौ जीव पर खेलहिं॥
पंथ न चलहि बेद जस लिखे। सरग जाइ सूरी चढ़ि सिखे॥
चोरहि होइ सूरी पर मोखू। देइ जो सूरी तेहि नहि दोखू॥
चोर पुकारि भेद गढ़ मूँसा। खोलै राज भंडार मँजूसा॥
जस भण्डार ये मूसहि, चढ़हिं रैनि दै सेंधि।
तस चाही पुनि एन्ह कहँ, मारहु सूरी बेधि॥ २३६॥

शब्दार्थ—सबद = व्यवस्था, बात। सूरी = शूली। मूँसा = चुराया। मँजूसा = मँजूषा-पोटली।

अर्थ—राजा ने सुना कि जोगी लोग गढ़ पर चढ़ आये हैं, उसने विद्वान् पंडितों को बुला कर पूछा कि यदि जोगी सेंध लगा कर गढ़ पर चढ़ आये तो बतलाओ कि उसे कैसी सिद्धि मिलेगी। पंडित लोग वेद पढ़ कर बोले कि जैसे भौंरा मालती को भेद डालता है, उसी प्रकार ये जोगी भी पद्मावती को प्राप्त करेंगे। जिस प्रकार चोर सेंध में सिर डाल कर घुसते हैं उसी प्रकार ये दोनों जान पर खेल रहे हैं। वेद में बताये हुए मार्ग पर ये नहीं चलते। शूली पर चढ़कर स्वर्ग जाना ही इन्होंने सीखा है। चोर शूली पर चढ़कर मोक्ष पाता है, अतः जो उसे शूली देता है उसे कोई दोष नहीं लगता। ये चोर पुकार के गढ़ का भेद कर उसमें चोरी कर रहे हैं और राजभंडार की पिटारी खोल रहे हैं। अतः जिस प्रकार से राज्य कोष को चुरा रहे हैं और रात में सेंध लगा रहे हैं, उसी प्रकार इन्हें दण्ड भी मिलना चाहिए, अतः आप इन्हें शूली पर चढ़ा कर मार दो।

[ २४० ]

राँध जो मन्त्री बोले सोई। अैस जो चोर सिद्ध पै कोई॥
सिद्ध निसंक रैनि पै भवँहीं। ताकहिं जहाँ तहाँ उपसवहीं॥
सिद्ध डरहिं नहिं अपने जीवाँ। खरग देखि कै नावहिं गीवाँ॥
सिद्ध जाहिं पै जिय बध जहाँ। औरहि मरन पंख अस कहाँ॥
चढ़हिं जो कोपि गगन उपराहीं। थोरे साज मरहिं ते नाहीं॥
जँबुक कह जौं चढ़िअै राजा। सिंघ साज कै चढ़िअ तौ छाजा॥
सिद्ध अमर, काया जस पारा। छरहिं मरहि, बर जाइ न मारा॥

छरहिं काज किरसुन कर छाजा, राजा छरहिं रिसाइ।
सिद्ध गिद्ध जस दिस्टि गंगन महँ, बिनु छर किछु न बसाइ॥२४०॥

शब्दार्थ—राँध = पास। पै = तो। भवँही = घूमते हैं। ताकहिं = देखते हैं। उपसवहीं = जाते हैं। खरग = खड्ग, तलवार। गीवाँ = गर्दन। मरन पंख = मृत्यु के पंख—चींटी आदि कुछ जीवों के मृत्यु के समय पंख निकलते हैं। उपराहीं = ऊपर। जंबुक = गीदड़। छरहिं = छल से ही। बर = बल से। बसाइ = बस चलना (विधि सन कछु न बसाइ—तुलसी)।

अर्थ—जो मन्त्री राजा के बहुत समीप रहने वाले थे, उन्होने कहा कि इस प्रकार का तो अवश्य ही कोई सिद्ध पुरुष होगा। सिद्ध ही तो निशशंक रात्रि में घूमता है और वह जहाँ ही दृष्टि लगाता है पहुँच जाता है। सिद्ध अपने जीवन के लिए नहीं डरता, वह तो तलवार देख कर अपनी गर्दन झुका देता है। जहाँ पर जान की हत्या होती है वहाँ सिद्ध अवश्य जाते हैं, सिद्ध के अतिरिक्त और किसी में ऐसे मृत्यु के पंख कहाँ होते हैं। जब सिद्ध लोग क्रुद्ध होकर चढ़ते हैं तो आकाश के ऊपर पहुँच जाते हैं, ये लोग थोड़े सामान से मारे नहीं जा सकते। राजा की चढ़ाई गीदड़ की चढ़ाई नहीं चाहिए, वह शोभा तो तब होगी जब सिंह के समान चढ़ाई की जाय। सिद्ध तो अमर होता है, उसका शरीर पारे के समान अकाट्य होता है। अतः उसे तो छल से ही मारा जा सकता है, बल प्रयोग उस पर व्यर्थ है। छल से ही कृष्ण के सारे कार्य सम्पन्न हुए थे, छल से ही राजा रोष प्रकट करता है। सिद्ध

लोग गृद्ध पक्षियों की भान्ति आकाश पर दृष्टि रखते हैं, बिना छल के उनसे कुछ नहीं हो सकता।

[ २४१ ]

आवहु करहु गुदर मिस साजू। चढ़हु बजाई जहाँ लगि राजु॥
होहु सँजोईल कुँवर जो भोगी। सब दर छेंकि धरहु अब जोगी।
चौबिस लाख छत्रपति साजे। छप्पन कोटि दर बाजन बाजे॥
बाइस सहस सिंघली चाले। गिरि पहार पब्बै सब हाले॥
जगत बराबर दै सब चाँपा। डरा इन्द्र, बासुकि हिय काँपा॥
पदुम कोटि रथ साजे आवहिं। गिरि होइ खेह गँगन कहँ धावहिं॥
जनु भुइँचाल जगत महँ परा। कुरुम पीठि टूटिहि, हिएँ डरा॥
छत्रन्ह सरग छाई गा, सूरुज गएउ अलोपि।
दिनहिं राति अस देखिअ, चढ़ा इन्द्र अस कोपि॥ २४१॥

शब्दार्थ—गुदर = हाज़िरी। मिसु = बहाना। बजाइ = घोषणा करके। सँजोइल = सावधान (होइ सँजोइल रोकहु घाटा तुलसी)। दर = द्वार। छेंकि = घेर कर। दर = दल-सेना। पब्बै = पर्वत। हाले = हिल गये। चाँपा = दबाया। वासुकि = शेषनाग। खेह = धूल। कुरुम = कूर्म, कच्छप भगवान्। अलोपि = लुप्त। इन्द्र = राजा।

अर्थ—मंत्रियों ने कहा—दरबार में हाज़िरी के बहाने सभी सेना तैयार करली जाय और जहाँतक राज है सर्वत्रसे बुला ली जाय। जो राजकुमार भोग-विलास में मग्न हैं वे भी सावधान हो जायँ और सभी द्वारों को घेर कर सब योगियों को पकड़ लिया जाय। इस पर कवि कहता है कि चौबीस लाख छत्रपति राजा तैयार हुए और छप्पन करोड़ दल में बाजे बजे। बाईस हजार सिंहली हाथी चले जिनके कारण सभी पर्वत हिल उठे। संसारको समतल कर डाला, पृथ्वी पर ऐसा दबाव उनके चलने से पड़ा कि इन्द्र डरने लगा और शेषनाग का हृदय काँप उठा। अगणित रथ सज उठे, जिनकी दरारों से पहाड़ मिट्टी हो-हो कर आकाश में उड़ने लगे। ऐसा मालूम हुआ कि संसार में भूकम्प आ गया, कच्छप भगवान् की पीठ टूटने लगी, वे हृदय में डरने से लगे। धूलि का छाता सा आकाश में छा गया और सूर्य लुप्त हो गया, राजा

ऐसा कोप कर चढ़ा कि दिन ही में रात ऐसी दिखाई पड़ने लगी।

अलंकार—सम्बन्धातिशयोक्ति।

[ २४२ ]

देखि कटक औ मैमँत हाथी। बोले रतनसेनि के साथी॥
होत आव दर बहुत असूझा। अस जानत हैं हाइहि जूझा॥
राजा तूँ जोगी होई खेला। एही दिवस कह हम भए चेला॥
जहाँ गाढ़ ठाकुर कह होई। संग न छाडै सेवक सोई॥
जो हम मरन देवस मन ताका। आजु आइ पूजी वह साका॥
बरु जिउ जाइ, जाइ जनि बोला। राजा सत्त सुमेरु न डोला॥
गरु केर जौं आएसु पावहिं। हमहुँ सौहँ होइ चक्र चलावहिं॥

आजु करहिं रन भारथ, सत्त बचा लै राखि।
सत्त करैं सब कौतुक, सत्त भरै पुनि साखि॥ २४२॥

शब्दार्थ—मैमँत = मदमत्त। दर = दल-सेना। जूझा = युद्ध। गाढ़ = विपत्ति। ठाकुर = राजा। साका = समय, अवधि। बोला = वचन, प्रतिज्ञा। सत्त = सत्य।

अर्थ—सेना और मदमत्त हाथियों को देख कर रत्नसेन के साथी जोगी लोग बोले, अपार सेना बढ़ती चली आ रही है। ऐसा प्रतीत होता है कि युद्ध होगा। हे राजा! तू जोगी होकर विचरण कर रहा है और इसी कठिनाई के दिन के लिए ही हम सब तेरे चेले बन कर आये हैं। जहाँ स्वामी को कठिनाई पड़ती है, वहाँ सेवक लोग कभी साथ नहीं छोड़ते। हम लोगों ने जिस मृत्यु दिवस को सोच रक्खा था। उसकी अवधि आज आकर पूरी हुई है। चाहे जान चली जाय, पर हमारी प्रतिज्ञा नहीं टल सकती। हे राजन्! सत्य का सुमेरु डोल नहीं सकता। यदि अब गुरु की आज्ञा हो जाय तो हम भी सम्मुख होकर अपने चक्र चलावें। अपने सत्य वचनों की रक्षा के लिए आज हम महाभारत करेंगे, सत्य ही यह सब खेल करता है, वही फिर अब साक्षी होगा।

[ २४३ ]

गुरू कहा चेला सिध होहू। पेम बार होइ करिअ न कोहू॥
जा कह सीस नाइ कै दीजै। रंग न होइ ऊभ जौं कीजै॥
जेहि जियँ पेम पानि भा सोई। जेहि रँग मिलै तेहि रँग होई॥
जौं पै जाइ पेम सिउँ जूझा। कत तपि मरहिं सिद्ध जिन्ह बूझा॥
यह सत बहुत जो जूझि न करिऔ। खरग देखि पानी होइ ढरिऔ॥
पानिहि काह खरग के धारा। लौटि पानि सोई जो मारा॥
पानी सेंति आगि का करई। जाइ बुझाइ पानि जौं परई॥
सीस दीन्ह मैं अगुमन, पेम पाय सिर मेलि।
अब सो प्रीति निबाहें, चलौं सिद्ध होइ खेलि॥ २४३॥

शब्दार्थ—बार = द्वार। कोहू = क्रोध। रंग = शोभा। ऊभ = ऊँचा। सिउँ = से। सेंति = से। अगुमन = आगे। मेलि = डाल कर।

अर्थ—गुरु ने कहा कि हे शिष्यो! सिद्ध बनो। प्रेम के दरवाजे पर खड़े होकर क्रोध न करो। जिसके सामने एक बार सिर झुका दिया फिर यदि सिर को ऊपर उठाओगे तो शोभा न होगी। जिसके हृदय में प्रेम है वह तो पानी सरीखा है। जिस प्रकार पानी जिस रंग में मिलता है उसी रंग का हो जाता है, उसी प्रकार प्रेमी भी सब रंगों में मिल जाता है। यदि प्रेम-मार्ग में भी युद्ध हो सकता तो जान बूझ कर भी सिद्ध लोग तपस्या क्यों करते? हमारा सत तो यही बहुत है कि हम युद्ध न करें, तलवार देख कर उसके सामने पानी होकर ढुलक जायँ। तलवार की धार पानी का क्या कर सकती है। जो पानी में तलवार मारता है वह स्वयं लौट जाता है। पानी से आग क्या कर सकती है? ज्योंही वह पानी में पड़ेगी बुझ जायेगी।

राजा ने कहा कि प्रेम को पाकर सिर को मैंने पहले ही डाल रखा है। अब तो उसी प्रीति का निर्वाह करना ही अच्छा है। अतः सिद्ध ही होकर विचरण करूँगा।

नोट—इस पद में जायसी ने अहिंसा अस्त्र का सुन्दर प्रतिपादन किया है।

अलंकार—पूर्णोपमा।

[ २४४ ]

राजैं छेंकि धरे सब जोगी। दुख ऊपर दुखु सहै बियोगी ॥
ना जियँ धरक धरत है कोई। ना जियँ मरन जियन कस होई ॥
नाग फाँस उन्ह मेली गीवाँ। हरख न बिसमौ एकौ जीवाँ ॥
जेइँ जिउ दीन्ह सो लेउ निरासा। बिसरै नहिं जौ लहि तन स्वाँसा ॥
कर किंगरी तिन्ह तंत बजावा। नेहु गीत बैरागी गावा ॥
भलेहिं आनि गियँ मेली फाँसी। हिएँ न सोच, रोस रिसि नासी ॥
मैं गियँ फाँद ओही दिन मेला। जेहि दिन पेम पंथ होइ खेला ॥

परगट गुपुत सकल महि मंडल, पूरि रहा सब ठाउँ।
जहँ देखौं ओहि देखौं, दोसर नहिं कहँ जाउँ ॥ २४४ ॥

शब्दार्थ—धरक = धड़क। हरख न बिसमौ = हर्ष न विस्मय। बिसरै = भूलै। जौ लहि = जब तक। किंगरी = चिकारा, सारंगी। तंत = तार। नेहु गीत = प्रेम का गीत। पूरि = भरा।

अर्थ—जब राजा गंधर्वसेन ने घेर कर सब जोगियों को पकड़ लिया तो वियोगी रत्नसेन जो वियोग के दुःख में पहले ही था और भी दुःख सहने लगा। फिर भी उन जोगियों में से किसी के भी जी में किसी प्रकार की धड़कन (आशंका) न थी, वे नहीं जानते थे कि मरना और जीना क्या है, दोनों में क्या भेद है? उन सबों ने नागफाँस में अपनी-अपनी गर्दनें स्वयं डाल दीं, उन्हें किसी प्रकार का हर्ष या विषाद न हुआ। जिसने जीवन दान ही कर दिया, वह तो निराशा को ही लेता है, वह तो जब तक शरीर में साँस होती है, अपने इष्ट मात्र को ही याद करता है, उसे भुला नहीं सकता। हाथ में छोटी सारंगी लिए हुए उसी का तार वह बजाता और उस पर प्रेम का गीत वह वैरागी रत्नसेन गाता रहा। उस गीत में वह गाता था कि अच्छा हुआ कि मैंने अपने गले में फाँसी का फंदा डाल लिया, हृदय में अब कोई सोच नहीं है, क्रोध को हमने पहले ही नष्ट कर रखा है, मैंने अपनी गर्दन फाँसी के फंदे में उसी दिन डाल दी थी जिस दिन प्रेम पंथ पर खेलने चला था। अब तो सारे महीमंडल में वही पद्मावती (ब्रह्म) प्रगट या गुप्त

रूप में व्याप्त दिखायी पड़ती है, मैं जहाँ देखता हूं वही है और कोई दूसरा नहीं, अब मैं कहाँ जाऊँ।

[ २४५ ]

जब लगि गुरु मैं अहा न चीन्हा। कोटि अँतरपट बिच हुत दीन्हा ॥
जौं चीन्हा तौ औरु न कोई। तन मन जिउ जोबन सब सोई ॥
हौं हौं कहत धोख अँतराहीं। जौं भा सिद्ध कहाँ परिछाहीं ॥
मारै गुरू, कि गुरू जियावा। औरु को मार, मरै सब आवा ॥
सूरी मेलु, हस्ति कर पूरू। हौं नहिं जानौं, जानै गूरू ॥
गुरू हस्ति पर चढ़ा सो पेखा। जगत जो नास्ति नास्ति सब देखा ॥
अंध मीन जस जल महँ धावा। जल जीवन जल दिस्टि न आवा ॥
गुरु मोर मोरें हित, दीन्हें तुरँगहि ठाठ।
भीतर करै डोलावै, बाहर नाचै काठ ॥ २४५ ॥

शब्दार्थ—अहा = था। अँतरपट = पर्दा। हुत = था। चीन्हा = पहचाना। अंतराहीं = अंतर पड़ गया-पाठान्तर-इतराहीं = गर्व करते हैं। करै = कल, यंत्र।

अर्थ--जब तक मैं गुरु था अर्थात् जब तक मुझ में अहन्त्व था तब तो उस (ब्रह्म) को न पहिचान सका। अपने और उसके बीच अनेक पर्दे डाले रहा। जब उसे पहचान लिया तो मुझमें और उसमें कोई अन्तर न दिखाई पड़ा, वही मेरा तन, मन, जीव और यौवन है। मैं-मैं करता हुआ मैं धोखे के अन्तर में पड़ा था, जब सिद्ध हो गया तो परछाहीं कहां रही, अर्थात् दोनों में सर्वथा एकीकरण हो गया। जीव ब्रह्म की छाया है यह द्वैत-भावना न रह गयी। अब तो मेरा गुरु (ब्रह्म) ही हमें मार सकता है, वही जिला सकता है, और मुझे कौन मार सकता है। अन्य सब लोग तो इस संसार में मरने को आते हैं। अतः वे कैसे किसी को मार सकते हैं। चाहे मुझे शूली दो, चाहे हाथी के हाथ (सूंड) में डाल दो। इससे मेरा कोई प्रयोजन नहीं, इसका जानने वाला तो मेरा गुरु है। गुरु ही हाथी पर चढ़ा है, वही देख रहा है। संसार तो नश्वर है, और सब कुछ नश्वर ही दिखाई पड़ रहा है। मनुष्य तो अन्धी मछली के समान जल रूपी जीवन में दौड़ता है, पर उसे जीवन का वास्तविक

रूप रूपी जल दिखाई नहीं पड़ता।

मेरे गुरु (ब्रह्म) ने मेरे हित के लिए काठ के घोड़े का ढाँचा दे रखा है। भीतर से कल के डोलाने से काठ का घोड़ा नाचता है। काठ का घोड़ा एक प्रकार का तमाशा होता था। अन्दर से चलाने पर वह नाचता, कूदता, उछलता और जमता था। भाव यह है कि मनुष्य का शरीर उस काठ के घोड़े के सदृश है जिसका चलाने वाला कोई और है। मनुष्य के सारे कर्म, उपादान-मात्र हैं, उस परमेश्वर के इंगित मात्र पर संसार के सारे कर्म होते चलते हैं।

[ २४६ ]

सो पदुमावति गुरु हौं चेला। जोग तंत जेहि कारन खेला॥
तजि ओहि बार न जानौं दूजा। जेहि दिन मिले, जातरा पूजा॥
जीउ काढ़ि भुइँ धरौं लिलाटू। ओहि कहँ देहुँ हिए महँ पाटू॥
को मोहि लै सो छुवावै पाया। को अवतार देइ नइ काया॥
जीउ चाहि सो अधिक पियारी। माँगे जीउ देउँ बलिहारी॥
माँगै सीस, देउँ सिउँ गीवा। अधिक नवौं जौ मारै जीवा॥
अपने जिय कर लोभ न मोही। पेम वार होइ माँगौ ओही॥
दरसन ओहि क दिया जस, हौं रे भिखारि पतंग।
जौ करवत सिर सारै, मरत न मोरौं अंग॥ २४६॥

शब्दार्थ -- जातरा = यात्रा। पूजा = पूरी हुई। काढ़ि = निकाल कर। पाटू = सिंहासन। पाया = पैर। चाहि = अपेक्षा। करवत = आरा। सारै = चलावै।

अर्थ -- वह पद्मावती ही मेरा गुरु है, मैं उसका चेला हूँ। उसी के कारण हम जोग तंत्र को खेल रहे हैं। उसके द्वार को छोड़ कर और कुछ नहीं जानता। जिस दिन वह मिलेगी, उसी दिन मेरी यात्रा पूरी होगी। जीव निकाल कर दे सकता हूँ, उसके सामने जमीन पर मत्था टेक सकता हूं और उसको हृदय का सिंहासन दे सकता हूँ। कौन है जो मुझे लेकर उसके पांवों को स्पर्श करा दे। कौन मेरे शरीर को नया अवतार दे दे। वह मेरे जीव की अपेक्षा मुझे बहुत अधिक प्यारी है। अतः यदि वह जीव माँगे तो मैं प्रसन्नता

रूप में व्याप्त दिखायी पड़ती है, मैं जहाँ देखता हूं वही है और कोई दूसरा नहीं, अब मैं कहाँ जाऊँ।

[ २४५ ]

जब लगि गुरु मैं अहा न चीन्हा। कोटि अँतरपट बिच हुत दीन्हा॥
जौं चीन्हा तौ औरु न कोई। तन मन जिउ जोबन सब सोई॥
हौं हौं कहत धोख अँतराहीं। जौं भा सिद्ध कहाँ परिछाहीं॥
मारै गुरू, कि गुरू जियावा। औरु को मार, मरै सब आवा॥
सूरी मेलु, हस्ति कर पूरू। हौं नहिं जानौं, जानै गूरू॥
गुरू हस्ति पर चढ़ा सो पेखा। जगत जो नास्ति नास्ति सब देखा॥
अंध मीन जस जल महँ धावा। जल जीवन जल दिस्टि न आवा॥
गुरु मोर मोरें हित, दीन्हें तुरँगहि ठाठ।
भीतर करै डोलावै, बाहर नाचै काठ॥ २४५॥

शब्दार्थ—अहा = था। अँतरपट = पर्दा। हुत = था। चीन्हा = पहचाना। अंतराहीं = अंतर पड़ गया-पाठान्तर-इतराहीं = गर्व करते हैं। करै = कल, यंत्र।

अर्थ—जब तक मैं गुरु था अर्थात् जब तक मुझ में अहन्त्व था तब तो उस (ब्रह्म) को न पहिचान सका। अपने और उसके बीच अनेक पर्दे डाले रहा। जब उसे पहचान लिया तो मुझमें और उसमें कोई अन्तर न दिखाई पड़ा, वही मेरा तन, मन, जीव और यौवन है। मैं-मैं करता हुआ मैं धोखे के अन्तर में पड़ा था, जब सिद्ध हो गया तो परछाहीं कहां रही, अर्थात् दोनों में सर्वथा एकीकरण हो गया। जीव ब्रह्म की छाया है यह द्वैत-भावना न रह गयी। अब तो मेरा गुरु (ब्रह्म) ही हमें मार सकता है, वही जिला सकता है, और मुझे कौन मार सकता है। अन्य सब लोग तो इस संसार में मरने को आते हैं। अतः वे कैसे किसी को मार सकते हैं। चाहे मुझे शूली दो, चाहे हाथी के हाथ (सूंड) में डाल दो। इससे मेरा कोई प्रयोजन नहीं, इसका जानने वाला तो मेरा गुरु है। गुरु ही हाथी पर चढ़ा है, वही देख रहा है। संसार तो नश्वर है, और सब कुछ नश्वर ही दिखाई पड़ रहा है। मनुष्य तो अन्धी मछली के समान जल रूपी जीवन में दौड़ता है, पर उसे जीवन का वास्तविक

रूप रूपी जल दिखाई नहीं पड़ता।

मेरे गुरु (ब्रह्म) ने मेरे हित के लिए काठ के घोड़े का ढाँचा दे रखा है। भीतर से कल के डोलाने से काठ का घोड़ा नाचता है। काठ का घोड़ा एक प्रकार का तमाशा होता था। अन्दर से चलाने पर वह नाचता, कूदता, उछलता और जमता था। भाव यह है कि मनुष्य का शरीर उस काठ के घोड़े के सदृश है जिसका चलाने वाला कोई और है। मनुष्य के सारे कर्म, उपादान-मात्र हैं, उस परमेश्वर के इंगित मात्र पर संसार के सारे कर्म होते चलते हैं।

[ २४६ ]

सो पदुमावति गुरु हौं चेला। जोग तंत जेहि कारन खेला॥
तजि ओहि बार न जानौं दूजा। जेहि दिन मिले, जातरा पूजा॥
जीउ काढ़ि भुइँ धरौं लिलाटू। ओहि कहँ देहुँ हिए महँ पाटू॥
को मोहि लै सो छुवावै पाया। को अवतार देइ नइ काया॥
जीउ चाहि सो अधिक पियारी। माँगे जीउ देउँ बलिहारी॥
माँगै सीस, देउँ सिउँ गीवा। अधिक नवौं जौ मारै जीवा॥
अपने जिय कर लोभ न मोही। पेम वार होइ माँगौ ओही॥
दरसन ओहि क दिया जस, हौं रे भिखारि पतंग।
जौ करवत सिर सारै, मरत न मोरौं अंग॥ २४६॥

शब्दार्थ—जातरा = यात्रा। पूजा = पूरी हुई। काढ़ि = निकाल कर। पाटू = सिंहासन। पाया = पैर। चाहि = अपेक्षा। करवत = आरा। सारै = चलावै।

अर्थ—वह पद्मावती ही मेरा गुरु है, मैं उसका चेला हूँ। उसी के कारण हम जोग तंत्र को खेल रहे हैं। उसके द्वार को छोड़ कर और कुछ नहीं जानता। जिस दिन वह मिलेगी, उसी दिन मेरी यात्रा पूरी होगी। जीव निकाल कर दे सकता हूँ, उसके सामने जमीन पर मत्था टेक सकता हूं और उसको हृदय का सिंहासन दे सकता हूँ। कौन है जो मुझे लेकर उसके पांवों को स्पर्श करा दे। कौन मेरे शरीर को नया अवतार दे दे। वह मेरे जीव की अपेक्षा मुझे बहुत अधिक प्यारी है। अतः यदि वह जीव माँगे तो मैं प्रसन्नता

पूर्वक अपने जीव को उस पर निछावर कर सकता हूं । यदि वह सिर मांगे तो प्रसन्नता पूर्वक गर्दन दे सकता हूं, यदि जीव मारना चाहे तो अधिक झुक सकता हूं, मुझे अपने जीवन का कोई भी लोभ नहीं है, मैं प्रेम के द्वार पर होकर उसी (पद्मावती) को माँग रहा हूं । उसका दर्शन मेरे लिए दीपक के सदृश है और मैं भिखारी पतिंगे के सदृश हूं । यदि वह मेरे शरीर पर आरा चलाना चाहे तो मरते हुए भी अंग को नहीं मोड़ सकता ।

अलंकार—उपमा ।

[ २४७ ]

पदुमावति कँवला ससि जोती । हँसै फूल, रोवै तब मोंती ॥
बरजा पितै हँसी औ रोजू । लाई दूत, होई नति खोजू ॥
जबहिं सुरुज कहँ लागेउ राहू । तबहिं कँवल मन भएउ अगाहू ॥
बिरह अगस्ती बिसमौ भएऊ । सरवर हरख सूखि सब गएऊ ॥
परगट ढारि सकै नहिं आँसू । घटि घटि माँसु गुपुत होइ नासू ॥
जस दिन माँझ रैनि होइ आई । बिगसत कँवल गएउ कुँभिलाई ॥
राता बरन गएउ होइ सेता । भँवति भँवर रहि गई अचेता ॥
चितहि जो चित्र कीन्ह धनि, रोवँ रोवँ रंग समेंटि ।
सहस साल दुख आहि भरि, मुरुछि परी गा मेंटि ॥ २४७ ॥

शब्दार्थ—बरजा = रोका । रोजू = रोना । खोजू = चौकसी । अगस्त = अगस्त तारा शरद् में उदय होता है जब कि पानी की बाढ़ कम हो जाती है—(उदित अगस्त पंथ जल सोखा—तुलसी) । बिसमौ = बिना समय । ढारि = गिराना । राता बरन = लाल वर्ण । भँवति भँवर = डोलते हुए भौंरे, चंचल पुतलियाँ । अचेता = स्थिर ।

अर्थ—पद्मावती कमल और शशि ज्योति की भांति खिली हुई थी, पर रत्नसेन की कैद सुनकर उसकी दशा विचित्र हो गयी, कभी हँसती है तो कभी रोती है । हँसने पर फूल झड़ते हैं और रोने पर मोती । पिता ने उसकी ऐसी हालत देखकर उसे हँसने और रोने के लिए मना कर दिया । एक दूती लगादी जो उसकी नित्य चौकसी रक्खे । पर ज्यों ही सूर्य को राहु लगा अर्थात् रत्नसेन को कैद में डाला गया तभी कमल रूपी पद्मावती को बड़ा दुःख

हुआ। असमय में विरह रूपी अगस्त का उदय हुआ और हर्षोल्लास रूपी तालाब का जल सूख गया। पर प्रकट रूप से वह आँसू नहीं गिरा सकती थी, पर गुप्त रीति से उसके शरीर का मांस घट-घट कर नाश होने लगा। उसके चेहरे पर ऐसी कालिमा छा गई जैसे दिन में ही रात हो जाय। खिला हुआ कमल कुम्हला गया। उसके मुख का लाल वर्ण फीका होकर सफेद हो गया और उसके आँखों की चंचल पुतलियाँ जो घूमते हुए भँवर की भाँति थीं, स्थिर हो गयीं।

अपने रोम-रोम में जिस पद्मावती ने प्रेम रंग को भर कर चित्त में रत्नसेन के चित्र को आँक रखा था वह अनेक कष्टों को सहकर आहें भर भूमि पर मूर्छित होकर गिर पड़ी।

अलंकार—उपमा।

[ २४८ ]

पदुमावति सँग सखी सयानी। गुनि कै नखत पीर ससि जानी॥
जानहिं मरम कँवल कर कोईं। देखि बिथा बिरहिनि की रोईं॥
बिरहा कठिन काल कै कला। बिरह न सहिअ, काल बरु भला॥
काल काढ़ि जिउ लेइ सिधारा। बिरह काल मारे पर मारा॥
बिरह आगि पर मेलै आगी। बिरह घाउ पर घाउ बजागी॥
बिरह बान पर बान पसारा। बिरह रोग पर रोग सँचारा॥
बिरह साल पर साल नवेला। बिरह काल पर काल दुहेला॥
तन रावन होइ सिर चढ़ा, बिरह भएउ हनिवंत।
जारे ऊपर जारै, तजै न कै भसमंत॥ २४८॥

शब्दार्थ—गुनि कै = समझ कर। नखत = नक्षत्र। कोईं = कुमुदिनी। सहिअ = सह लें। बरु = बल्कि। सँचारा = फैलाया। साल = दर्द। नवेला = नया। दुहेला = कठिन। जारे = जलाये हुए। भसमंत = भस्म।

अर्थ—पद्मावती के साथ जो चतुर सखी थी, वह समझ-बूझ कर उसकी हालत समझ गयी क्योंकि तारा ही चन्द्रमा की पीड़ा जान सकता है। कुमुदिनी ही कमल का दुःख जान सकती है। वह इस विरहिणी की व्यथा देखकर रोने लगी। विरह कठिन होता है उसकी कला तो काल के सदृश है,

विरह नहीं सहा जाता, बल्कि मृत्यु अच्छी। मृत्यु तो जान देकर चल देती है पर विरह तो मरे हुए को भी मारता रहता है। विरह तो आग पर आग डालता रहता है। विरह तो घाव पर घाव की वज्राग्नि डालता है। विरह बाण पर बाण चलाता रहता है और रोग पर रोग फैलाता रहता है। यह दर्द पर नये-नये दर्द उत्पन्न करता रहता है। विरह तो काल से भी कठिन काल है। पद्मावती का शरीर रावण रूप दारुण होकर सिर चढ़ा है और विरह हनूमान् होकर उसे जला रहा है, जले हुए को और जलाकर उसे राख बना रहा है।

**नोट**–रावण सम्बन्धी अटपटी उपमायें पीछे भी आ चुकी हैं। रावण की लंका नगरी स्वर्ण की थी। रावण भयंकर था, और उस नगरी को हनूमान् ने खूब जलाया और राख कर डाला। यहाँ पर पद्मावती का शरीर सोने की लंका के समान है, उसका दुःख उसके लिए भयानक है। जायसी ने रावण का प्रयोग भयंकरता को दिखाने के लिए ही सर्वत्र किया है। जायसी को व्यथा भयानक थी।

अलङ्कार— 'गुनि कै नखत पीर ससि जानि' और 'जानहि मरम कँवल का कोई'—में वाक्यार्थोपमा।
विरहा ...........मारा-में व्यतिरेक।
तन रावन ...........हनिवंत में रूपक।

[ २४६ ]

कोइ कमोद परसहिं कर पाया। कोइ मलयागिरि छिरकहिं काया॥
कोइ मुख सीतल नीर चुवावा। कोइ अंचल सौं पौनु डोलावा॥
कोइ मुख अंम्रित आनि निचोवा। जनु बिख दीन्ह, अधिक धनि सोवा॥
जोवहिं स्वाँस खिनहिं खिन सखी। कब जिउ फिर पवन औ पँखी॥
बिरह काल होइ हिए पईठा। जीउ काढ़ि लै हाथ बईठा॥
खिन एक मूँठि बाँध, खिन खोला। गही जीभ मुख जाइ न बोला॥
खिनहिं बेझ कै बानन्हि मारा। कँपि कँपि नारि मरै बिकरारा॥
कैसेहुँ बिरह न छाड़ै, भा ससि गहन गरास।
नखत चहुँ दिसि रोवहिं, अँधियर धरति अकास॥ २४६॥

शब्दार्थ—कमोद = कुमुदिनी। छिरकहिं = छिड़कती है। चुवावा = डालती थी। आनि = लाकर। निचोवा = निचोड़ती थी। बिख = विष। धनि = स्त्री। जोवहिं = देखती हैं। बेझि कै = फँसा कर। बिकरारा = बेचैन। अँधियर = अँधेरा। धरति = पृथ्वी।

अर्थ— पद्मावती की विरहाग्नि की शान्ति के लिए सखियाँ भिन्न-भिन्न प्रकार के उपचार करने लगीं—

कोई सखी कुमुदिनी को लेकर पद्मावती के हाथों और पैरों में स्पर्श कराने लगी, कोई मलयगिरि चन्दन का लेप बनाकर उसके शरीर पर छिड़कने लगी, कोई मुख में ठंडा पानी डालने लगी, कोई अंचल से हवा करने लगी, कोई मुख में अमृत निचोड़ने लगी, मानो उस को विष दिया गया है और वह अधिक सो रही है। सखियाँ क्षण-क्षण पर उसकी साँस देखती हैं और देखती हैं कि पवन और पक्षी रूप जीव कब लौटता है। विरह काल बन कर उसके हृदय में घुस गया था और उसके जीव को निकाल कर हाथ में लिए बैठा था। वह विरह कभी तो उसे मुट्ठी में बंद करता और कभी खोलता था। उसने उसकी जीभ पकड़ रक्खी थी जिससे वह बोल न सकती थी। कभी उसे फँसाकर बाण चलाता था जिससे बेचारी स्त्री (पद्मावती) काँप-काँप कर बेचैन होकर मरती थी। किसी प्रकार उसे विरह छोड़ता नहीं। चन्द्र-ग्रहण होना चाहता है, सारे तारागण चारों ओर रोते हैं। कभी पृथ्वी और आकाश में अंधेरा होना चाहता है। भाव यह कि पद्मावती के प्राण निकलने वाले हैं और सभी सखियाँ रो रही हैं।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

[ २५० ]

घरी चारि इमि गहन गरासी। पुनि बिधि जोति हिएँ परगासी॥
निसँसि ऊभि भरि लीन्हेसि स्वाँसा। भई अधार, जियन कै आसा॥
बिनवहिं सखी, छूट ससि राहू। तुम्हरी जोति जोति सब काहू॥
तूँ ससि बदन जगत उजियारी। केइ हरि लीन्हि, कीन्हि अँधियारी॥
तूँ गजगामिनि गरब गहीली। अब कस आस छाँड़ सत ढीली॥
तूँ हरि लंक हराए केहरि। अब कस हारें करसि हहे हरि॥

तूँ कोकिल बैनी जग मोहा। केइँ व्याधा होइ गही निछोहा॥
कँवल करी तूँ पदुमिनि, गै निसि भएउ बिहान।
अबहुँ न संपुट खोलहि, जौं रे उठा जग भान॥ २५०॥

शब्दार्थ—निसँसि = बिना साँस की होकर। ऊभि = ऊँचो होकर। हरि = छीन कर। लंक = कमर। करी = कली। गै = गयी। बिहान = प्रातः।

अर्थ—इस प्रकार चार घड़ी तक वह ग्रहण से ग्रसी हुई रही, अर्थात् मूर्छित रही, फिर ब्रह्मा ने उसके हृदय में ज्योति का प्रकाश किया। उसकी स्वाँस रुक सी गयी थी, वह मरी सी हो गयी थी, कुछ ऊँची होकर उसने साँस ली (मूर्छा के बाद होश आने पर छाती उठ जाती है)। तब सखियों को आशा हुई कि अब जी जायगी। सखियाँ विनती करने लगीं कि चन्द्रमा का ग्रहण दूर हो और कहने लगीं कि हे पद्मावती! तुम्हारे ही प्रकाश से सभी प्रकाशित हैं, हे शशिवदनी! तू ही संसार को उजाला करने वाली है, किसने तुझे हर लिया और संसार में अँधेरा पैदा कर दिया। तू गजगामिनी और गर्व से गम्भीर थी, अब तुमने क्यों आशा छोड़ कर अपने सत को ढीला कर दिया। तूने सिंह की कमर को छीन कर उसे हरा दिया था, तो अब तू स्वयं क्यों हार कर हिम्मत छोड़ रही है। तू तो कोकिल बैनी थी, तुमने सारे जग को अपनी वाणी से मोह लिया था। किस व्याधे के वश में होकर तूने निष्ठुरता ग्रहण कर ली है।

हे पद्मावती! तू तो कमल की कली के सदृश है, अब रात बीत गयी, सवेरा हुआ है, अब भी तू संपुट न खोलेगी, जब कि संसार में सूर्य उदय होकर ऊपर उठा है। भाव यह कि तू तो रत्नसेन की प्रियतमा है, रत्नसेन रूपी सूर्य अब तुम्हारे दरवाजे पर आ गया है, अब तो तू अपनी व्यथा को छोड़ कर खिल।

अलंकार—रूपक।

[ २५१ ]

भान नाउँ सुनि कँवल बिगासा। फिरि कै भँवर लीन्ह मधु बासा॥
सरद चंद मुख जानु उवेली। खंजन नैन उठे कै केली॥
बिरह न बोल आव मुख ताईं। मरि मरि बोल जीव बरियाईं॥

दबैं बिरह दारुन, हिय काँपा । खोलि न जाइ बिरह दुख झाँपा ॥
उदधि समुँद जस तरंग देखावा । चखु कोटिन्ह मुख एक न आवा ॥
यह सुठि लहरि लहरि पर धावा । भँवर परा, जिउ थाह न पावा ॥
सखी आनि विष देहु तौ मरऊँ । जिउ नहिं पेट ताहि डर डरऊँ ॥

खिनहिं उठै खिन बूड़ै, अस हिय कँवल सकेत ।
हीरामनिहि बोलावहु, सखी गहन जिउ लेत ॥ २५१ ॥

शब्दार्थ नाउँ = नाम । जानु = जानो-पाठान्तर-जबहिं । उघेली = खोला । केली = केलि, क्रीड़ा । ताईं = तक । बरियाईं = जबरदस्ती । दबैं = दबाता है । झाँपा = ढका हुआ । सकेत = संकट ।

अर्थ—सूर्य (रत्नसेन) का नाम सुनते ही मानो कमल विकसित हो गया और भौंरों ने फिर से मधु में वास किया अर्थात् उसका चेहरा खिल उठा, उसकी आँखों की पुतलियाँ भौंरों की भान्ति घूम-घूम कर रत्नसेन के दर्शन की कल्पना का रस लेने लगीं जैसे शरद् के चन्द्रमा ने मुख निकाला है और खंजन रूपी आंखे खेलती हुई खुलीं । फिर भी विरह के कारण मुख तक बोली नहीं निकलती, उसका जीव मर-मर कर जबरदस्ती बोलने का प्रयत्न करता था । दारुण विरह से दबा हुआ हृदय काँपता था और विरह के दुःख से ढका हुआ खोला नहीं जाता था । जैसे महासागर में अनेक तरंगें उठती हैं इसी प्रकार उसके हृदय से अनेक भाव उमड़ते थे, आँखों में करोड़ों भाव दिखाई पड़ते थे, पर मुख पर एक भी नहीं आते थे । यह (आंख) एक एक लहर (भाव) पर दौड़ती थी, पर इस प्रकार उसका थाह नहीं पाती जैसे पानी का भौंरा लहर-लहर पर दौड़ता है पर पार नहीं पाता । अन्त में वह बोली कि हे सखी ! लाकर मुझे विष दो जिससे मैं मर जाऊँ, ताकि पेट के भीतर जीव न रह जाय, क्योंकि मैं इसी के डर से डर रही हूँ । इस समय मेरी दशा यह है कि जी घबड़ाया है, कभी डूबता है और कभी ऊपर आता है, ऐसा संकट पड़ा हुआ है, मेरे जीव पर ग्रहण सा लगा है, अतएव हीरामनि को बुला दो ।

[ २५२ ]

पुरइनि धाइ सुनत खिन धाई। हीरामनिहि बेगि लै आई॥
जनहुँ बैद ओषद लै आवा। रोगिश्रौं रोग मरत जिउ पावा॥
सुनत असीस नैन धनि खोले। बिरह बैन कोकिल जिमि बोले॥
कँवलहि बिरह बिथा जसि बाढ़ी। केसरि बरन पियर हिय गाढ़ी॥
कत कँवलहि भा पेम अँकूरू। जौं पै गहन लीन्ह दिन सूरू॥
पुरइनि छाँह कँवल कै करी। सकल बिथा सो अस तुम्ह हरी॥
पुरुष गँभीर न बोलहिं काऊ। जौं बोलहिं तौं और निबाहू॥
एतना बोल कहत मुख, पुनि होइ गई अचेत।
पुनि जौं चेत सँभारै, बकत उहै मुख लेत॥ २५२॥

शब्दार्थ—पुरइनि = धाय का नाम है। खिन = तत्त्वण। धाई = दौड़ी। पियर = पीला। गाढ़ी = गम्भीर। कत = क्यों। अँकूरू = अंकुर। सूरू = सूर्य। पुरइनि = कमल का पत्ता। हरी = दूर की। ओर = आखीर, अन्त।

अर्थ— पुरइनि नाम की धाय सुनते ही दौड़ कर गयी और हीरामनि को शीघ्र ही ले आयी। मानो वैद्य औषधि ले आया, रोगी रोग से मर रहा था, उसे जीव प्राप्त हो गया। हीरामनि के आशीर्वाद को सुनते ही उस स्त्री (पद्मावती) ने आँखें खोल दीं और कोकिल कंठ से उससे विरह की बातें कहने लगी कि—कमल को विरह की व्यथा इतनी बढ़ती है कि उसका हृदय केसर की भान्ति पीला हो जाता है। कमल के भीतर पीले-पीले रेशे से होते हैं। भाव यह कि मैं तो रत्नसेन के विरह से पीली पड़ रही हूँ। कमल के भीतर प्रेम का अंकुर ही क्यों हुआ, यदि दिन में भी सूर्य को ग्रहण लेकर छिपा रहना था, अर्थात् रत्नसेन के प्रति तुमने क्यों मेरे हृदय में प्रेम उत्पन्न किया। जब सिंहल आकर भी रत्नसेन को बन्दी ही होना था। कमल की कली को तो पुरइनि पत्ते की छाया होती है, अर्थात् मेरे रत्तक तो केवल तुम हो, मेरी सारी व्यथाओं को आज तक तुम्हीं ने दूर किया है। पुरुष गम्भीर होते हैं, कोई वचन नहीं देते पर यदि वचन देते हैं तो अन्त तक निर्वाह करते हैं, अर्थात् तुम पुरुष हो, तुमने मुझे रत्नसेन से मिलाने का वचन दे रखा है तो

अब उसे पूरा करो। इतनी बात कहते ही वह फिर मूर्छित हो गयी, फिर ज्यों ही उसको होश सँभला, मुख से वही बात लेती हुई बकने लगी।

[ २५३ ]

औरु दगध का कहौं अपारा। सुनै सो जरै कठिन असि झारा॥
होइ हनिवंत बैठ है कोई। लंका डाह लाग तन होई॥
लंका बुझी आगि जौं लागी। यह न बुझै तसि उपजि बजागी॥
जनहुँ अगिन के उठहिं पहारा। वै सब लागहिं अंग अँगारा॥
कटि कटि माँसु सराग पिरोवा। रकत के आँसु माँसु सब रोवा॥
खिनु एक मारि माँसु अस भूँजा। खिनहिं जिआइ सिंघ अस गूँजा॥
एहि रे दगध हुँत उत्तिम मरीजै। दगध न सहिअ, जीउ बरु दीजै॥
जहँ लगि चंदन मलैगिरि, औ साएर सब नीर।
सब मिलि आइ बुझावहिं, बुझै न आगि सरीर॥ २५३॥

शब्दार्थ— दगध = दाह, जलना। झारा = ज्वाला, लपट। सराग = शलाका। पिरोवा = गूँथा। मारि = बहुत सा। भूँजा = भूना। गूँजा = गर्जा। हुँत = से। मरीजै = मर जाना। जहँ लगि = जहाँ तक। साएर = सागर।

अर्थ—जायसी यहाँ पर पद्मावती के विरह की जलन का वर्णन करते हुए कहते हैं कि—उसकी अपार जलन का और क्या वर्णन करूँ, उसकी ज्वाला इतनी थी कि सुनने वाला भी इस लपट से जल जाता था। कोई हनूमान् होकर उसके शरीर रूपी लंका में प्रवेश किये हुए है, उसका दाह कर रहा है। लंका तो बुझ भी गयी थी पर इसमें तो ऐसी वज्राग्नि लगी है कि बुझ नहीं सकती। जैसे अग्नि के पहाड़ उठ रहे हों, वे सब अंगारे से अंग में लगते हैं। उसका मांस कट-कट कर शलाकाओं में डल जाता था। सारा मांस रक्त की आँसुओं से रोता था—रक्त क्या निकलते थे, मानो मांस की आँसुएँ टपक रही हैं। थोड़ी देर तक उसका बहुत सा मांस भूना जाता था पर दूसरे क्षण में फिर उसे जिया कर सिंह जैसी गर्जना होती थी। कवि कहता है कि इस प्रकार के जलने से तो मर जाना ही उत्तम है. जलन नहीं सही जाती, बल्कि जीव दिया जाता है। संसार में जितना कि मलयगिरि चन्दन

और सागरों में पानी है, सब मिलकर भी यदि आकर बुझावें तो भी शरीर की विरहाग्नि नहीं बुझ सकती।

अलंकार—अत्युक्ति।

[ २५४ ]

हीरामनि जौं देखी नारी। प्रीति बेलि उपनी हियँ भारी ॥
कहेसि कस न तुम्ह होहु दुहेली। अरुझी पेम प्रीति की बेली ॥
प्रीति बेलि जनि अरुझै कोई। अरुझें, मुएँ न छूटै सोई ॥
प्रीति बेलि ऐसै तनु डाढ़ा। पलुहत सुख, बाढ़त दुख बाढ़ा ॥
प्रीति बेलि सँग बिरह अपारा। सरग पतार जरै तेहि झारा ॥
प्रीति बेलि केइँ अम्मर बोई। दिन दिन बाढ़ै, खीन न होई ॥
प्रीति अकेलि बेलि चढ़ि छावा। दोसरि बेलि न पसरै पावा ॥
प्रीति बेलि अरुझाइ जौं, तब सो छाँह सुख साख।
मिलै जो प्रीतम आइ कै, दाख बेलि रस चाख ॥ २५४ ॥

शब्दार्थ—उपनी = उत्पन्न हुई। दुहेली = दुःखी। अरुझी = उलझी। जनि = मत। डाढ़ा = दहा। पलुहत = पल्लवित होना। साख = शाखा, डाली।

अर्थ—हीरामनि ने जब पद्मावती को देखा तो समझ लिया कि इसके हृदय में प्रेम की बड़ी बेल उत्पन्न हुई है। उसने कहा कि तुम दुःखी क्यों न हो क्योंकि तुम तो प्रेम की बेल में उलझ गयी हो। प्रेम की बेल में कोई मत उलझे क्योंकि उसमें उलझने पर मरने पर भी आदमी नहीं छूट पाता। प्रीति की बेल इस प्रकार शरीर को जलाती है कि पल्लवित होते हुए तो सुख होता है पर ज्योंही वह लता बढ़ जाती है, दुःख बढ़ जाता है। प्रीति की बेल के साथ ही अपार विरह भी होता है और उसकी ज्वाला से स्वर्ग और पाताल सभी जल जाते हैं। इस प्रीति की अमर बेलि को किसने बो दिया है कि यह दिन पर दिन बढ़ती ही जाती है, क्षीण नहीं होती। जिस प्रकार अमर बेलि जब फैलती है अन्य लतायें या वृक्ष उसके नीचे नहीं फैल सकते, वह सबको मार कर हरी रहती है। उसी प्रकार यह प्रेम भी ऐसा ही है। इसकी स्थिति में और कोई सुख आदि नहीं रह सकते।

प्रीति बेल से उलझने पर तभी उसकी छाया और डालियों का सुख मिलता है जब प्रियतम आके मिलता है और उस द्राक्षालता के रस को चखता है।

अलंकार—साङ्ग रूपक।

[ २५५ ]

पदुमावति उठि टेकै पाया। तुम्ह हुँत होइ प्रीतम कै छाया॥
कहत लाज औ रहै न जीऊ। एक दिसि आगि दोसर दिसि सीऊ॥
सूर उदैगिरि चढ़त भुलाना। गहने गहा, चाँद कुँभिलाना॥
ओहटें होइ मरिउँ नहिं झूरी। यह सुठि मरौं जो निअरैं दूरी॥
घट महँ निकट, बिकट भा मेरू। मिलेहुँ न मिलै, परा तस फेरू॥
दसइँ अवस्था असि मोहि भारी। दसएँ लखन होहु उपकारी॥
दमनहि नल जस हंस मेरावा। तुम्ह हीरामनि नाउँ कहावा॥
मूरि सजीवनि दूरि इमि, सालै सकतीबान।
प्रान मुकुत अब होत हैं, बेगि देखावहु भान॥ २५५॥

शब्दार्थ—टेकै = सहारा। तुम्ह हुँत = तुमसे, तुम्हारे द्वारा। सीऊ = शिव-पाठान्तर - पीऊ = पति। गहने गहा = ग्रहण लगा। ओहटें = ओट में, दूर। झूरी = सूख कर। निअरैं = निकट। मेरू = मेल। दसइँ अवस्था = मृत्यु। दसएँ लखन = मृत्यु के दिनों पर। दमनहिं = दमयन्ती को। मेरावा = मिलाया। इमि = इस प्रकार। सालै = दर्द कर रहा है। सकतीबान = शक्ति-बाण (लक्ष्मण को शक्ति बाण लगा था, तो हनूमान् ने संजीवनी बूटी लाकर उनको जीवित किया था)। मुकुत = छूटना।

अर्थ—पद्मावती ने उठ कर हीरामनि के पैरों का सहारा लिया और कहा कि तुम्हारे द्वारा ही हमें अपने प्रियतम की छाया मिल सकती है। कहते हुए लज्जा लगती है पर प्राण नहीं बच रहे हैं। एक ओर तो विरह की अग्नि है और दूसरी ओर प्रियतम हैं। सूर्य तो उदयाचल पर चढ़ कर भूल गया। अर्थात् रत्नसेन तो सिंहल में आकर अपनी साधना में मग्न हो गया है, पर चन्द्रमा को ग्रहण लगा है और वह कुम्हला गया है। अर्थात् मैं विरहाग्नि से जल रही हूँ। उस सूर्य रूपी रत्नसेन से दूर रह कर मैं जल-जल कर मरी

नहीं। अब मैं निकट होकर भी दूर रह कर और अधिक मर रही हूं। हृदय के निकट होने पर भी उससे मिलना (कठिन) हो रहा है, ऐसा फेर पड़ गया है कि मिलने पर भी वह नहीं मिलता। अर्थात् सिंहल में होकर भी वह मेरे पास तक नहीं आ सकता। इस समय मेरी मृत्यु की कठिन अवस्था है। इस मृत्यु के दिनों में तुम उपकारी बनो। जिस प्रकार हंस ने दमयन्ती को नल से मिला दिया था उसी प्रकार तुम मुझे रत्नसेन से मिलाओ। क्योंकि तुम्हारा नाम तो हीरामनि है—तात्पर्य यह कि मणि क्या नहीं प्राप्त करा सकती ?

मुझे विरह का शक्ति-बाण लगा है। मुझे दर्द हो रहा है और संजीवनी बूटी रूपी रत्नसेन-मिलन दूर है, इसलिए अब मेरे प्राण छूटने ही चाहते हैं, जल्दी से सूर्य (रत्नसेन) को ला के दिखाओ।

नोट—छठी अर्द्धाली का पाठान्तर इस प्रकार है :—

तुम्ह सो मोर खेवक गुरु देवा। उतरौं पार तेही विधि खेवा॥

अर्थात् तुम तो मेरे खेने वाले गुरुदेव हो, इस प्रकार से नाव चलाओ कि मैं पार जा सकूँ।

[ २५६ ]

हीरामनि भुइँ धरा लिलाटू। तुम्ह रानी जुग जुग सुख पाटू॥
जेहि के हाथ जरी औ मूरी। सो जोगी नाहीं अब दूरी।
पिता तुम्हार राज कर भोगी। पूजै बिप्र मरावै जोगी॥
पौंरि पंथ कोटवार बइठा। पेम क लुबुधा सुरँग पइठा॥
चढ़त रैनि गढ़ होइगा भोरू। आवत बार धरा कै चोरू॥
अब लै देइ गए ओहि सूरी। तेहि सो अगाह बिथा तुम्ह पूरी॥
अब तुम्ह जीव कया वह जोगी! कया क रोग जीव पै रोगी॥
रूप तुम्हार जीव कै आपन, पिंड कमावा फेरि।
आपु हेराइ रहा तेहि खँड होइ, काल न पावै हेरि॥ २५६॥

शब्दार्थ—भुइँ = भूमि। लिलाटू = मत्था। पाटू = सिंहासन। जरी औ मूरी = जड़ और मूल। मरावै = मरवाता है। पौरि = पौड़ियाँ, ड्योढ़ियाँ। कोटवार = कोतवाल। लुबुधा = प्रेमी। भोरू = प्रभात। बार = द्वार। देइ = देने। ओहि = उसको। सूरी = शूली। पिंड = शरीर। कमावा = अर्जित

किया। फेरि = फिर। हेराइ = खोकर। तेहि खँड = उसी भाग में। हेरि = खोजना।

अर्थ—पद्मावती की बात सुन कर हीरामनि ने पहले अपने मत्थे को ज़मीन पर टेका फिर कहा—कि हे रानी! तुम्हें युग-युग सुख और सिंहासन प्राप्त हो। जिसके हाथ तेरी संजीवनी जड़ी है वह जोगी रत्नसेन अब दूर नहीं है। तुम्हारे पिता राज्य-भोग करने वाले हैं, ब्राह्मणों को तो सम्मानित करते हैं और जोगियों को मरवाते हैं। गढ़ की पौड़ियों वाले रास्ते पर तो कोतवाल रक्षा करता बैठा रहता है। इसलिए उस प्रेमी रत्नसेन ने सुरंग से प्रवेश किया। पर सारी रात चढ़ते-चढ़ते प्रभात हो गया और दरवाजे के पास आते ही राजा के कर्मचारियों ने चोर समझ कर उसे पकड़ लिया। अब उसको शूली देने के लिए ले गये हैं। इसीलिए तुम्हारे हृदय में अगाध व्यथा भर गयी है। पर तुम यह समझो कि अब तो तुम्हीं उसका जीव हो, और वह तो शरीर मात्र है। रोगी तो काया के रोग से जीवित रहता है। अर्थात् जब तक उसके रोग की अवधि रहती है, तभी तक रोगी का शरीर जीवित रहता है—वह रत्नसेन तो जीव से तुम्हारे भीतर आ गया है, शरीर भी अपनी अवधि तक रहेगा। उसने तो तुम्हारे रूप में अपने जीव को डाल कर फिर दूसरा शरीर प्राप्त कर लिया है, आप तो उसी भाग में रहता हुआ भी खो गया है। काल भी उसे खोज नहीं सकता।

नोट—योगी लोग दूसरे के शरीर में अपनी आत्मा का प्रवेश कर लेते थे और अपने शरीर को छोड़ कर भी जीवित रहते थे। शंकराचार्य के सम्बन्ध में कथा है कि कामशास्त्र का अध्ययन करने के लिए उन्होंने अपने शरीर को छोड़ कर एक मृत राजा के शरीर में प्रवेश कर लिया था।

[ २५७ ]

हीरामनि जौं बात यह कही। सुरुज के गहन चाँद गै गही॥
सुरुज के दुख जौं ससि होइ दुखी। सो कत दुख मानै करमुखी॥
अब जौं जोगि मरै मोहि नेहा। ओहि मोहि साथ धरति गँगनेहा॥
रहै तौ करौं जरम भरि सेवा। चलै तौ यह जिउ साथ परेवा॥

कौनु सो करनी कहु गुरु सोई। पर काया परबेस जो होई ॥
पलटि सो पंथ कौन बिधि खेला। चेला गुरू, गुरू भा चेला ॥
कौन खंड अस रहा लुकाई। आवै काल, हेरि फिरि जाई ॥
चेला सिद्धि सौ पावै, गुरू सों करै अछेद।
गुरू करै जौं किरिपा, कहै सो चेलहि भेद ॥ २५७ ॥

शब्दार्थ—करमुखी = काले मुख वाली। गँगनेहा = गगन में। परबेस = प्रवेश। अछेद = अभेद, भेदभाव का त्याग। भेद = रहस्यानुभूति।

अर्थ—हीरामनि ने जब रत्नसेन की बातें कहीं तो सूर्य का ग्रहण चन्द्र को लग गया। अर्थात् रत्नसेन के दुःख को अनुभव करके पद्मावती परम दुखी हुई। सूर्य के दुख से चन्द्रमा दुखी होता है। पर जो काले मुखों वाला अर्थात् बुरा है वह क्यों दूसरे के दुःख से दुखी होगा—पद्मावती तो ऐसी थी नहीं। अतः वह दुखी हुई। वह कहने लगी—अब यदि जोगी मेरे प्रेम में मरता है तो मेरा उसका साथ पृथ्वी या आकाश दोनों जगह रहेगा। यदि पृथ्वी में रहेगा तो जीवन भर सेवा करूँगी, यदि इस संसार से चलेगा तो मेरा जीव भी पक्षी बनकर उसी के साथ उड़ जायेगा। पर हे गुरु! बताओ कि वह कौन सा कर्म है जिससे दूसरे के शरीर में आत्मा प्रवेश कर जाता है, वह कौन सा मार्ग है जिसमें साधक उल्टा चलता है और चेला गुरु और गुरु चेला हो जाता है। अर्थात् गुरु शिष्य का द्वैतभाव दूर हो जाता है, वह कौन सा भाग है जहाँ वह छिप जाता है कि काल ( मृत्यु ) उसे खोजता है, न पाने के कारण लौट जाता है। इस पर तोते ने उत्तर दिया कि योग मार्ग से चेला सिद्धि प्राप्त करता है और गुरु से उसका भेदभाव जाता रहता है। दोनों एक हो जाते हैं। बात यह है कि गुरु यदि कृपा कर दे तो चेले को सारा आध्यात्मिक रहस्य बता देता है और वह सब कुछ कर लेता है।

नोट—२५६ वें पद में हीरामनि ने रत्नसेन के पर-काय-प्रवेश और साधना की सिद्धि की चर्चा की थी, अतः पद्मावती की जिज्ञासा स्वाभाविक थी, उसी का स्पष्टीकरण इस पद में हुआ है।

[ २५८ ]

अनु रानी तुम्ह गुरू वहु चेला। मोहि पूँछहु कै सिद्ध नवेला॥
तुम्ह चेला कह परसन भई। दरसन देइ मँडप चलि गई॥
रूप गुरू कर चेलें डीठा। चित समाइ होइ चित्र पईठा॥
जीउ काढ़ि लै तुम्ह उपसई। वह भा कया, जीव तुम्ह भई॥
कया जो लाग धूप औ सीऊ। कया न जान, जान पै जीऊ॥
भोग तुम्हार मिला ओहि जाई। जो ओहि बिथा, सो तुम्ह कहँ आई॥
तुम्ह ओहि घट, वह तुम्ह घट माहाँ। काल कहाँ पावै ओहि छाहाँ॥
अस वह जोगी अमर भा, पर काया परबेस।
आव काल, तुम्हहिं तहँ देखै, बहुरै कै आदेस॥ २५८॥

शब्दार्थ—अनु = फिर, आगे। नवेला = नया। डीठा = देखा। पईठा = प्रवेश किया। जीउ = जीव। काढ़ि = निकाल कर। उपसई = चली। सीऊ = शीत। भोग = सुख। घट = हृदय। छाँहा=छाया। बहुरै=लौटै। कै आदेश= प्रणाम करके।

अर्थ—तोता पूर्वपद के ही क्रम में कह रहा है और पर-काया-प्रवेश को स्पष्ट कर रहा है—फिर रानी तुम तो गुरु हो और वह चेला है, तुम्हीं ने तो उसे एक नया सिद्ध बनाया है, और अब मुझसे पूछती हो। तुम्ही ने चेला का स्पर्श किया, दर्शन देने के लिए मंडप तक गयी थी। गुरु का रूप चेले ने मंडप में देखा और उसका चित्त चित्र होकर तेरे अन्दर प्रवेश कर गया। तू तो उसका जीव निकाल कर चली गयी, वह तो शरीर मात्र रह गया, जीव तो तुम हो गयी। शरीर पर जो धूप या शीत लगती है, उसे शरीर तो नहीं जानता, उसका अनुभव करने वाला तो जीव है। इसलिए सुख तो उसको मिल गया और उसका दुख तुम्हें मिल गया। तुम उसके हृदय में और वह तुम्हारे हृदय में समा गया, तो फिर काल उसकी छाया कैसे पा सकता है। इस प्रकार वह योगी अमर हो गया है और उसने दूसरे के शरीर में प्रवेश कर लिया है, अब जब मौत उसे लेने आती है तो वह तुम्हें देखती है, क्योंकि उसका जीव जिसका बाहरी रूप तुम्हारा है, उसे भ्रम में डालता है, वह तुम्हें प्रणाम करके लौट जाता है।

[ २५६ ]

सुनि जोगी कै अम्मर करनी। नेवरी बिरह बिथा कै मरनी ॥
कँवल करी होइ बिगसा जीऊ। जनु रबि देखि छूटिगा सीऊ ॥
जो अस सिद्ध को मारै पारा। नेंबू रस नहिं जेइ होइ छारा ॥
कहहु जाई अब मोर सँदेसू। तजहु जोग अब, भएउ नरेसू ॥
जनि जानहु हौं तुम्ह सों दूरी। नयनन्हि माँझ गड़ी वह सूरी ॥
तुम्ह पर सबद घटई घट केरा। मोहि घट जीउ घटत नहीं बेरा ॥
तुम्ह कहँ पाट हिएँ महँ साजा। अब तुम्ह मोर दुहूँ जग राजा ॥
जौं रे जिअहिं मिलि केलि करहिं, मरहिं तौ एकहिं दोउ।
तुम्ह पै जियँ जिनि होऊँ कछु, मोहि जियँ होउ सो होउ ॥२५६ ॥

शब्दार्थ—अम्मर = अमर। करनी = कृत्य। नेवरी=निपटी, छूटी। सीऊ = शीत। पारा = सका। जनि = मत। सूरी = शूली। सबद = शब्द-पाठान्तर-परसेद = पसीना। घट = हृदय। घटइ = उपयुक्त होना, कम होना। बेरा = देर। पाट = सिंहासन। जिनि = न।

अर्थ योगी रत्नसेन के अमर कृत्य को सुन कर पद्मावती विरह-व्यथा के मरण से छूट गयी। उसका जीव कमल की कली होकर विकसित हो गया। जैसे सूर्य को देख कर शीत छूट जाय। उसने कहा कि यदि रत्नसेन ऐसा सिद्ध है फिर तो उसे कौन मार सकता है, वह नीबू का रस नहीं है जिसे जो चाहे निचोड़ करके नष्ट कर दे। अब तुम जाकर उससे मेर ासंदेश कह दो कि अब तुम जोग छोड़ो अब राजा हो गये। यह मत समझो कि तुम मुझसे दूर हो, मेरे नेत्रों में वह शूली गड़ी है, तुम पर हृदय का एक एक शब्द चरितार्थ होता है—( परसेद-पाठ का अर्थ होगा—तुम्हारे पसीने पर मेरा जीव घट जायेगा। ) मेरे हृदय के जीव को घटते देर नहीं लगेगी। तुम्हारे लिए मेरे हृदय में सिंहासन प्रस्तुत है, अब तो तुम मेरे दोनों लोकों के राजा हो। अब यदि मेरा जीव जियेगा तो मिलकर क्रीड़ा करेगा और मरेगा तो दोनों साथ मरेंगे। तुम्हारे जीव को कुछ न हो, जो कुछ होना हो मेरे जीव के लिए हो।

———

# २५. रत्नसेन-सूली-खण्ड

[ २६० ]

बाँधि तपा आने जहँ सूरी। जुरे आइ सब सिंघलपूरी ॥
पहिलें गुरू देइ कहँ आना। देखि रूप सब कोउ पछिताना ॥
लोग कहहिं यह होइ न जोगी। राजकुँवर कोइ अहै बियोगी।
काहूँ लागि भएउ है तपा। हिएँ सो माल, करै मुख जपा ॥
जोगी केर करहु पैं खोजू। मकु यह होइ न राजा भोजू ॥
जस मारइ कहँ बाजा तूरू। सूरी देखि हँसा मंसूरू ॥
चमके दसन भएउ उँजियारा। जो जहँ तहाँ बीजु अस मारा ॥
सब पूँछहिं कहु जोगी, जाति जनम औ नावँ।
जहाँ ठाँव रोवै कर, हँसा सो कौने भावँ ॥ २६० ॥

शब्दार्थ—तपा = तपस्वी, जोगी। आने = लाये। सूरी = शूली। सिंहलपूरी = सिंघलपुर के रहने वाले। देइ = शूली देने के लिए। मकु = कदाचित्। मंसूरू = मंसूर नामका सूफी जो हँस-हँस कर शूली पर चढ़ा था। दसन = दशन, दाँत। बीजु = विजली।

अर्थ—सब जोगियों को बंदी बनाकर वहां ले आये जहां शूली थी। सभी सिंहल के पुरवासी वहां पर एकत्र हो गये। सबसे पहले जोगियों के गुरु रत्नसेन को शूली देने के लिए लाए। उसके अपूर्व सौंदर्य को देखकर सभी पुरवासी पछताने लगे। लोग आपस में कहने लगे यह तो जोगी नहीं है, कोई राजकुमार है और किसी के प्रेम में वियोगी हुआ है, किसी के लिए तपस्वी हुआ है, हृदय में माला रखता है और हाथों और मुख से नाम जप रहा है। इस जोगी का पता लगाना चाहिए कदाचित् यह राजा भोज हो। ज्योंही मारने के लिए तुरही बजी, रत्नसेन उस प्रकार हर्षित हुआ जैसे मंसूर शूली देखकर हर्षोत्फुल्ल हो गया था। उसके दाँत चमके जिससे प्रकाश हुआ जो जहां था उसे वहीं बिजली लगी। सभी लोग पूछने लगे कि जोगी बताओ

तुम्हारी जाति क्या है, तुम कहां जन्मे और तुम्हारा नाम क्या है, जिस जगह रोना चाहिए वहां किस कारण हँसे हो।

[ २६१ ]

का पूँछहु अब जाति हमारी। हम जोगी औ तपा भिखारी॥
जोगिहि जाति कौन हो राजा। गारि न कोह, मार नहिं लाजा॥
निलज भिखारि लाज जेहिं खोई। तेहि के खोज परहु जनि कोई॥
जाकर जीव मरै पर बसा। सूरी देखि सो कस नहिं हँसा॥
आजु नेह सौं होइ निबेरा। आजु पुहुमि तजि गँगन बसेरा॥
आजु कया पिंजर बँध टूटा। आजु परान-परेवा छूटा॥
आजु नेह सों होइ निरारा। आजु पेम सँग चला पियारा॥
आजु अवधि सिर पहुँची कै, सो चलेउँ मुख रात।
बेगि होहु मोहि मारहु, का पूँछहु अब बात॥ २६१॥

शब्दार्थ—गारि = गाली पर। कोह = क्रोध। मरै पर = मरने पर। बसा = स्थित है। निबेरा = छुट्टी। पुहुमि = पृथ्वी। निरारा = न्यारा, अलग। सिर पहुँची = पूरी हुई। रात = लाल। बेगि होहु = जल्दी करके।

अर्थ—रत्नसेन ने उत्तर दिया कि अब तुम हमारी जाति के विषय में भी पूछ रहे हो, हम तो जोगी, तपस्वी, भिखारी हैं। हे राजा, भक्त जोगी की कौन सी जाति होगी। उसे न तो गाली सुनने पर क्रोध लगता है और न मार खाने पर लज्जा ही आती है। जो लज्जा को खाकर निर्लज बनता है वही भिखारी होता है, उसकी खोज बीन में कोई न पड़े। जिसका जीव मरने पर ही लगा है वह भला शूली देखकर क्यों न हँसेगा? आज प्रेम के कष्टों से छुट्टी मिली। आज पृथ्वी छोड़कर आकाश (स्वर्ग) में स्थान मिला। आज शरीर रूपी पिंजर का बंधन छूट जायेगा। आज प्राण रूपी पक्षी छूट गया। आज प्रेम से मुक्त होकर जीव प्यारे के साथ चला। आज अवधि पूरी हो गई। अतः मैं प्रसन्नता पूर्वक लाल मुख से चल रहा हूँ इसलिये जल्दी इसे और मुझे मार दो, अब बात क्या पूछ रहे हो।

नोट—अन्तिम दोहे में रत्नसेन की वही विह्वलता स्पष्ट है जो मंसूर को या सर-टामस मोर को शूली पर चढ़ने के पूर्व हुई थी। भौतिक शरीर के त्याग

के साथ ब्रह्म के अमर मिलन की उत्कंठा है।

[ २६२ ]

कहेन्हि सँवरु जेहि चाहसि सँवरा। हम तोहिं करहिं केत कर भँवरा॥
कहेसि ओहि सँवरौं हर फेरा। मुएँ जिअत आहौं जेहि केरा॥
औ सँवरौं पदुमावति रामा। यह जिउ निवछावरि जेहि नामा॥
रकत के बूँद कया जत अहहीं। पदुमावति पदुमावति कहहीं॥
रहहुँ त बुंद बुंद महँ ठाउँ। परहुँ तौ सोई लै लै नाऊँ॥
रोवँ रोवँ तन तासौं ओधा। सोतहि सोत बेधि जिउ सोधा॥
हाड़ हाड़ महँ सबद सो होई। नस नस माँह उठै धुनि सोई॥
खाइ बिरह गा ताकर, गूद माँस की खान।
हौं होइ साँचा धरि रहा, वह होइ रूप समान॥ २६२॥

शब्दार्थ—संवरु = स्मरण करो। केत = केतकी। हरफेरी = हर बार। आहौं = हूं। रामा = स्त्री। जत = जितनी। अहही = है। ओधा (आबद्ध) = उलझा (सचिव सुसेवक भरत प्रबोधे। निज निज काज, पाय सिख ओधे। —तुलसी) सोधा = शुद्ध किया। गूद = गूदा। समान = समायी।

अर्थ—मारने वालों ने कहा कि जिसे स्मरण करना चाहो उसे अब स्मरण करलो। हम तुम्हें केतकी का भँवरा बनाने जा रहे हैं अर्थात् जैसे भौंरा केतकी के कांटे में बिंध कर मरता है उसी प्रकार हम तुम्हें शूली में बांधकर मारेंगे। इस पर रत्नसेन ने उत्तर दिया कि मैं तो हर बार उसी (पद्मावती) को स्मरण करता हूं जिसका मरते हुए या जीते हुए सदा ही हूँ। मैं तो उस सुन्दरी पद्मावती का स्मरण करता हूं जिसके नाम पर मेरा यह जीवन निछावर है। जब तक इस शरीर में खून की एक बूंद भी है, मैं तो पद्मावती का ही नाम लूंगा। यदि मैं जीवित रहूंगा तो शरीर के एक-एक बूंद रक्त में उसका स्थान है, यदि मरूंगा तो भी उसी का नाम ले ले कर मरूंगा। मेरा तो रोम-रोम उसी से उलझा हुआ है, रोगों के छिद्र-छिद्र में बिंधकर जीव पवित्र हुआ है। शरीर की एक-एक हड्डी में उसी का शब्द निकलता और नस-नस में वही ध्वनि निकलती है। उसके विरह ने हमारे शरीर के मांस

और गूदे के कोष को खा लिया है, मैं तो उसी का साँचा मात्र रह गया हूं रूप बनकर तो वही समायी हूई है।

नोट—इस पद के पश्चात् पं० शुक्ल सम्पादित्व ग्रन्थावली में तीन पद हैं जिन्हें डा० माताप्रसाद जी अप्रामाणिक सिद्ध करते हैं। पद इस प्रकार हैं—

जोगिहिं जबहिं गाढ़ अस परा। महादेव कर आसन टरा ॥
वै हँसि पारवती सों कहा। जानहुँ सूर गहनअस गहा ॥
आजु चढ़े गढ़ ऊपर तपा। राजै गहा सूर तब छपा ॥
जग देखै गा कौतुक आजू। कीन्ह तपा मारै कहँ साजू ॥
पारवती सुनि पाँयन्ह परी। चलि, महेस! देखैं एहि घरी ॥
भेंस भाँट भाँटिनि कर कीन्हा। औ हनुवन्त बीर संग लीन्हा ॥
आए गुपुत होइ देखन लागी। वह मूरति कस सती सभागी ॥
कटक असूझ देखि क, राजा गरब करेइ।
दैउ क दसा न देखै, दहुं का कहँ जय देइ ॥

जब रत्नसेन पर संकट पड़ा तो महादेव का आसन डोल गया, उन्होंने हंसकर पार्वती से कहा कि मालूम होता है सूर्य को ग्रहण लगना चाहता है, सूर्यरूपी रत्नसेन छिप गया है। आज सारा संसार खेल देखेगा क्योंकि तपस्वी को मारने की तैयारी की गई। यह सुनकर पार्वती ने शंकर से कहा कि शंकर जी इस घड़ी चल कर देखें। उन लोगों ने भांट, भांटिनी का रूप धारण कर के हनूमान् वीर को साथ लिया और गुप्तरूप में उस सत वाले भाग्यवान् राजा के दर्शन करने लगे। राजा अपनी असंख्य सेना देखकर घमंड करता था पर कौन जाने कि परमेश्वर किसको विजय देगा।

आसन लेइ रहा होइ तपा। 'पद्मावति पद्मावति' जपा ॥
मन समाधि तासों धुनि लागी। जेहि दरसन कारन वैरागी।
रहा समाइ रूप औ नाऊँ। और न सूझ बार जहँ जाऊँ ॥
औ महेस कहँ करौं अदेसू। जेइ यह पंथ दीन्ह उपदेसू ॥
पारबती पुनि सत्य सराहा। औ फिरि मुख महेस कर चाहा ॥
हिय महेस जौं, कहै महेसी। कित सिर नावहिं ए परदेसी? ॥
मरतहु लीन्ह तुम्हारहि नाऊँ। तुम्ह चित किए रहे एहि ठाऊँ ॥

मारत हो परदेसी, राखि लेहु एहि बीर।
कोइ काहू कर नाहीं, जो होइ चलै न तीर॥

आसन लगाकर रत्नसेन 'पद्मावती पद्मावती' जपने लगा। समाधि में मग्न हो गय। क्योंकि उसी के दर्शन के लिए वैरागी बना था। अब तो मेरे हृदय में उसी का नाम और रूप समाया है और कुछ मुझे नहीं सूझता। शंकर जी के आदेश पर उन्हीं के बताये पथ पर चल रहा हूं। पार्वती ने उसके सत्य की सराहना की और शंकर से कहा कि फिर ये परदेशी क्यों किसी को सिर नवाये जबकि मरते हुए भी तुम्हारा ही नाम लेता है। इस परदेशी को लोग मार रहे हैं तुम इस वीर की रक्षा करो, यदि कोई किसी की सहायता न करे तो इस संसार में कोई किसी का नहीं है।

लेई संदेश सुअटा गा तहाँ। सूरी देहिं रतन कहँ जहाँ॥
देखि रतन हीरामन रोवा। राजा जिउ लोगन्ह हठि खोवा॥
देखि रुदन हीरामन केरा। रोवहिं सब राजा मुख हेरा॥
माँगहिं सब विधना सों रोई। कै उपकार छोड़ावै कोई॥
कहि सँदेस सब विपति सुनाई। विकल बहुत, किछु कहा न जाई॥
काढ़ि प्रान बैठी लेइ हाथा। मरै तो मरौं जिओं एक साथा॥
सुनि सँदेस राजा तब हँसा। प्रान प्रान घट घट महँ बसा॥

सुअटा भाट दसौंधी, भए जिउ पर एक ठाँव।
चलि सो जाइ अब देख तहँ, जहँ बैठा रह राव॥

तोता पद्मावती का संदेश लेकर वहां गया जहां रत्नसेन को लोग शूली दे रहे थे। तोता राजा को देखकर रोने लगा कि हठपूर्वक ही वह और अनेक लोगों की भाँति प्राण खो रहा है। उसका रोना सुनकर सभी लोग रोने लगे और ईश्वर से प्रार्थना करने लगे कि किसी प्रकार राजा रत्नसेन छूट जाय। तोते ने पद्मावती के दुःख सुनाये और उसका संदेश सुनाया कि वह हाथ में अपने प्राण लिए बैठी है और निश्चय कर रखा है कि रत्नसेन मरेगा तो मैं मरूंगी और जियेगा तो जीवित रहूँगी। संदेश सुनकर राजा हँसा। उसके हृदय में प्राण का संचार हुआ। फिर तोते और दसौंधी भाट के रूप में शंकर जी जान की बाजी लगाकर वहां को चले जहां राजा गंधर्वसेन बैठा था।

[ २६३ ]

राजा रहा दिस्टि किए औंधी। सहि न सका तब भांट दसौंधी॥
कहेसि मेलि कै हाथ कटारी। पुरुष न आछहिं बैठि पेटारी॥
कान्ह कोप कै मारा कंसू। गूँग कि फूँक न बाजइ बंसू॥
गंध्रपसेनि जहाँ रिस बाढ़ा। जाइ भाँट आगें भा ठाढ़ा॥
ठाढ़ देखि सब राजा राऊ। बाएँ हाथ दीन्ह बरम्हाऊ॥
गंध्रपसेनि तूँ राजा महा। हौं महेस मूरति सुनु कहा॥
जोगी पानि, आगि तुइँ राजा। आगिहि पानि जूझ नहिं छाजा॥
अगिनि बुझाइ पानि सों, तूँ राजा मन बूझू।
तोरें बार खपर है लीन्हे, भिख्या देहु न जूझु॥ २६३॥

शब्दार्थ—औंधी = नीची। मेलिकै = लेकर। आछहिं = शोभा देना। पेटारी = मंजूषा। बंसू = वंशी। ठाढ़ा = खड़ा हुआ। बरम्हाऊ = ब्राह्मण का आशीर्वाद। कहा = कहना। जूझ = युद्ध।

अर्थ—राजा गंधर्वसेन नीची दृष्टि किये हुए बैठा था, उसकी इस उदासीनता को दसौंधी भाट सह न सका। हाथ में कटार लेकर उसने कहा पुरुष मंजूषा में बैठा हुआ शोभा नहीं पाता। कृष्ण ने क्रोध करके कंस को मार डाला था। क्या गूंगे की फूंक से वंशी नहीं बजती। भाव यह कि भाट अपने आप कहने लगा कि चुप बैठे रहने से क्या होगा, हमारे अन्दर उसी प्रकार शक्ति है जैसे गूंगे में वंशी बजाने की होती है। मैं भी उत्साह करके बड़ा कार्य कर सकता हूँ। जहां गंधर्वसेन राजा क्रोध में भरा हुआ बैठा था वहीं जाकर वह खड़ा हो गया। उसके पास बहुत से राजा-राव खड़े थे। उन्हें देखकर भी इस ब्राह्मण ने बांए हाथ से आशीर्वाद दिया, बांए हाथ से आशीर्वाद देने का अर्थ राजा के प्रति क्रोध और विरोध प्रकट करना हुआ—फिर उसने कहा कि हे गंधर्वसेन! तू तो बड़ा राजा है, मैं शंकर की मूर्ति के रूप में हूँ, तुम मेरा कहना मानो। जोगी तो पानी है तू राजा अग्नि रूप है। अग्नि और जल का युद्ध नहीं सोहता। अग्नि तो पानी से बुझ जायेगी, इसे तू अपने मन में समझ ले। इसलिए वह जोगी तेरे द्वार पर खप्पर लेकर भिक्षा मांग रहा है, उसे भिक्षा दे दो। भाव यह कि योगी सत वाला है, अहिंसावादी है, उसमें

त्याग तपस्या और क्षमा का बल है। तू हिंसा और सैन्य बल से उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकता। इसलिये अच्छा होगा यदि उसकी मांगी हुई भिक्षा पद्मावती उसे दे दो।

नोट—छठी पंक्ति—"गंधर्वसेनि तू राजा महा। हौं महेस मूरति सुन कहा॥" कई प्रतियों में नहीं है। इसके स्थान पर पंचम पंक्ति इस प्रकार है—बोला गंध्रबसेन रिसाई। कस जोगी बस भाट असाकई।" असाई = बेढंगा।

[ २६४ ]

जोगि न आहि, आहि सो भोजू। जानै भेद करै सो खोजू॥
भारथ होइ जूझ जौं ओधा। होहिं सहाइ आइ सब जोधा॥
महादेव रन घंट बजावा। सुनि कै सबद ब्रह्मा चलि आवा॥
चढ़े अत्र लै किस्न मुरारी। इंद्रलोक सब लाग गोहारी॥
फनपति फन पतार सौं काढ़ा। अस्टौ कुरीं नाग भा ठाढ़ा॥
तैंतिस कोटि देवता साजा। औ छयानवे मेघ दर गाजा॥
छप्पन कोटि बैसंदर बरा। सवा लाख परबत फरहरा॥
नवौ नाथ चलि आवहिं, औ चौरासी सिद्ध।
आजु महा रन भारथ चले, गँगन गरुड़ औ गिद्ध। २६४॥

शब्दार्थ—भारथ = युद्ध (महाभारत)। ओधा = ठोना। अत्र = अस्त्र। गोहारी = सहायता। अस्टौ कुरी = आठों कुल बैसंदर = वैश्वानर अग्नि। बरा = जला। नवौंनाथ = नाथ पंथी साधुओं के नववर्ग।

अर्थ—भाट रूप में महेश कहते गये कि वह जोगी नहीं है, राजा भोज है। इस रहस्य को जानकर उसकी खोज करने का प्रयत्न करो। यदि तुम युद्ध करने की ठानते हो तो समझ लो कि महाभारत (भयंकर युद्ध) होगा। सभी योद्धा आकर सहायता करेंगे। ऐसा कहकर महादेव जी ने रण का घंटा बजाया, उसे सुन कर ब्रह्मा आ गए। अस्त्र लिए हुये कृष्ण जी आ गये, सारा इन्द्रलोक भी सहायता के लिए दौड़ पड़ा। शेषनाग ने पाताल से अपना फन निकाला, आठों कुल के सांप उपस्थित हो गये। तेंतीसों करोड़ देवताओं ने तैयारी कर ली। छियानवे प्रकार के बादल गर्जने लगे। छप्पन करोड़ प्रकार की अग्नि जल उठी। सवा लाख पहाड़ फड़क उठे। नाथ संप्रदाय के नवों वर्ग और

सिद्धों के चौरासी वर्ग सब के सब आ पहुंचे। आज भयंकर युद्ध होगा क्योंकि आकाश में गरुड़ और गिद्ध मंडराने लगे।

नोट–जायसी ने इस पद में अपने सुने-सुनाये ज्ञान के आधार पर हिन्दुओं के सभी मत-मतान्तरों से सम्बन्धित देव एकत्रित कर दिये हैं।

(कहीं का पत्थर कहीं का रोड़ा, भानुमती ने कुनबा जोड़ा।)

[ २६५ ]

भै अग्याँ को भाँट अभाऊ। बाएँ हाथ देइ बरम्हाऊ॥
को जोगी अस नगरी मारी। जो दै सेंधि चढ़ै गढ़ चोरी॥
इंद्र डर निति नावै माथा। किस्न डरै सेस जेइँ नाथा॥
बरम्हा डरै चतुर मुख जासू। औ पातार डरै बलि बासू॥
धरति डरै औ मंदर मेरू। चंद्र सूर औ गँगन कुबेरू॥
मेघ डरहिं बिजरी जहँ डीठी। कुरुम डरै धरनी जेहि पीठी॥
चहौं तो सब माँगौं धरि केसा। और को कीट पतंग नरेसा॥
बोला भाँट, नरेस सुनु, गरब न छाजा जीवँ।
कुंभकरन को खोपरी, बूड़त बाँचे भीवँ॥ २६५।

शब्दार्थ—अभाऊ = आदर भाव न जाननेवाला, अशिष्ट। बरम्हाऊ = आशीर्वाद। मेरू = सुमेरु पर्वत। कुरुम=कूर्म, कच्छप भगवान्। भीवँ=भीम।

अर्थ—राजा की आज्ञा हुई कि यह कैसा अशिष्ट भाट है, बांए हाथ से आशीर्वाद दे रहा है। कौन ऐसा जोगी है जो मेरी नगरी में रहकर सेंध देकर गढ़ में चोरी करना चाहे। इन्द्र तो मुझसे डरता है और नित्य मुझे माथ नवाता है। जिस कृष्ण ने कालिय नाग को नाथा यह भी मुझसे डरता है। जिसके चार मुख हैं वह ब्रह्मा भी मुझसे डरता है, वामन, बलि और वासुदि भी डरते हैं। पृथ्वी डरती है, मंदराचल, सुमेरु, चन्द्र, सूर्य, आकाश और कुबेर सब डरते हैं। बादल जिसके अन्दर बिजली चमकती है, तथा कच्छप जिसकी पीठ पर पृथ्वी है, सभी डरते हैं। चाहूँ तो केश पकड़ कर सब कुछ माँग लूं तो फिर राजा तो कीट पतंगे हैं।

भाट बोला कि हे राजा! सुनो, मनुष्य को गर्व नहीं शोभा देता।

कुम्भकर्ण जैसे महाबली की खोपड़ी तक न बची और भीम जैसे वीर भी गंगा में डूब कर बचे।

नोट – पता नहीं, राजा गंधर्वसेन का वर्णन करते हुए जायसी की क्या कल्पना थी—रावण से भी बढ़ाने का प्रयत्न किया है।

[ २६६ ]

रावन गरब बिरोधा रामू। औ ओहिं गरब भएउ संग्रामू॥
तेहि रावन अस को बरिबंडा। जेहि दस सीस, बीस भुअडंडा॥
सूरज जेहि कै तपै रसोई। बैसंदर निति धोती धोई॥
सूक सोंटिया, ससि मसिआरा। पवन करै निति बार बुहारा॥
मीचु लाइ कै पाटी बाँधा। रहा न दोसर ओहि सौं काँधा॥
जो अस बजर टरै नहिं टारा। सोउ मुआ, तपसी कर मारा॥
नाती पूत कोटि दस अहा। रोवन हार न एकौ रहा॥
ओछ जानि कै काहूँ, जनि कोइ गरब करेइ।
ओछे पारइ दैय है, जीत पत्र जो देइ॥ २६६॥

शब्दार्थ—बरिबंडा = बलवंत, बली। भुअडंडा = भुजदंडा-भुजाएँ। बैसंदर = वैश्वानर-अग्निदेव। सूक = शुक्राचार्य। सोंटिया = द्वारपाल-पाठांतर-सुसंता = सलाहकार। मसिआरा = मशालची। बार = द्वार। बुहारा = झाड़ू देना। मीचु = मृत्यु। लाइ कै = लाकर। पाटी = चारपाई की पट्टी। दोसर = दूसरी। काँधा = कंधा लेने वाला, बराबरी करने वाला। ओछ = छोटा। पारइ = पार करता है। दैय = ईश्वर।

अर्थ—भाट का ही कथन इस पद में भी है, इसमें वह गर्व की निर्मूलता सिद्ध कर रहा है—

रावण ने गर्व के कारण ही राम का विरोध किया और उसी घमण्ड के परिणाम स्वरूप ही राम-रावण-संग्राम हुआ। उस रावण के सदृश बली और कौन होगा, जिसके दश सिर और बीस भुजायें थीं। सूर्य उसकी रसोई को गर्म करता था और अग्नि उसकी धोती धोता था। शुक्राचार्य उसके दरबान और चन्द्रमा उसका मशालची था। पवनदेव नित्य उसके दरवाजे पर

झाड़ू देते थे। उसने मृत्यु को लाकर अपनी चारपाई में बाँध रक्खा था कोई। भी उसकी बराबरी के योग्य न था। इस प्रकार वज्र के समान अटल रावण भी तपस्वी ( राम ) के द्वारा मारा गया। उसके पुत्र-पौत्रादि दस करोड़ थे, पर एक भी रोने को न रहा। इसलिए किसी को छोटा समझ कर कोई गर्व न करे। छोटे को परमेश्वर पार करता है, जो कि विजय-पत्र का देने वाला है।

व्यंजना यह है कि यद्यपि तू रावण के समान प्रतापी है। पर इस तपस्वी रत्नसेन से गर्ववश विरोध न ठान, इसके विरोध में तेरा नाश निश्चित है।

[ २६७ ]

औ जो भाँट उहाँ हुत आगें। बिनै उठा राजहि रिसि लागें ॥
भाँट आहि ईसुर कै कला। राजा सब राखहिं अरगला ॥
भाँट मीचु आपुनि पै दीसा। तासौं कौन करै रस रीसा ॥
भएउ रजाएसु गंध्रपसेनी। काह मीचु कैं चढ़ा निसेनी ॥
काह अवनि पाएँ अस मरसी। करसि बिटंड भरम नहिं करसी ॥
जाति करा कत औगुन लावसि। बाएँ हाथ राज बरम्हावसि ॥
भाँट नाउँ का मारौं जीवाँ। अबहूँ बोल नाइ कै गीवाँ ॥
तुइँरे भाँट, यह जोगी, तोहि एहि कहाँ क संग।
कहाँ छरै अस पावा, काह भएउ चित भंग ॥ २६७ ॥

शब्दार्थ—हुत = था। बिनै उठा = विनय करने लगा। आहि = है। ईसुर = ईश्वर। अरगला = रोक-प्रतिबन्ध। रस रीसा = क्रोध। निसेनी = सीढ़ी। मरसी = मरते हो। बिटंड = वितंडावाद, उपद्रव। बरम्हावसि = आशीर्वाद देते हो। छरै = छल।

अर्थ—वहाँ और जो राजा का भाट आगे खड़ा था, राजा को क्रुद्ध देख कर विनती करने लगा कि हे राजा! भाट तो ईश्वर की कला है। भाट तो अपनी मृत्यु स्वयं देखता रहता है। ऐसे व्यक्ति से भला कौन क्रोध कर सकता है। तब राजा गंधर्वसेन की आज्ञा हुई कि हे भाट! मृत्यु की सीढ़ी पर क्यों चढ़ रहे हो। पृथ्वी में जन्म को पाकर इस प्रकार क्यों मर रहे हो? व्यर्थ में एक वितंडावाद मात्र ही कर रहे हो, तुझे भ्रम हो गया है। अपनी

जाति की कला में क्यों अवगुण ( दोष ) उत्पन्न कर रहे हो, बायें हाथ से राजा को आशीर्वाद देते हो। तुम भाट हो, तुम्हारे जीव को क्या मारूँ, अब भी तू गर्दन झुका कर अर्थात् नम्र होकर बोल। तू तो भाट है और यह एक योगी है, तेरा इसके साथ कहाँ का साथ है। तू इस प्रकार कैसे छला गया है, तेरा चित्त कैसे अशान्त है।

[ २६८ ]

जो सत पूँछहु गंध्रप राजा। सत पै कहौं परै किन गाजा॥
भाँटहि काह मीचु सों डरना। हाथ कटारि, पेट हनि मरना॥
जंबू दीप औ चितउर देसू। चित्रसेनि बड़ तहाँ नरेसू॥
रतनसेनि यहु ताकर बेटा। कुल चौहान जाइ नहिं मेंटा॥
खाँड़ै अचल सुमेर पहारू। टरै न जौं लागै संसारू॥
दान सुमेरू देत नहिं खाँगा। जो ओहि माँग न औरहि माँगा॥
दाहिन हाथ उठाएऊँ ताही। और को अस बरम्हावउँ जाही॥
नाउँ महापातर मोहि, तेहिक भिखारी ढीठ।
जौं खरि बात कहें रिस लागै, खरि पै कहै बसीठ॥ २६८॥

शब्दार्थ—गाजा = वज्र। हनि = मार कर। खाँगा = कम हुआ। महापातर = महापात्र (भाटों की एक पदवी)। खरि = कटु सत्य। बसीठ = दूत।

अर्थ—भाट ने कहा कि हे राजा गन्धर्वसेन यदि तुम सत्य पूछते हो तो मैं सत्य ही कहूंगा चाहे वज्र ही क्यों न गिरे। भाट को मृत्यु से क्या डर है वह तो हाथ में तलवार रखता है और पेट में मार कर उसे मरना होता है, भाव यह कि सत्यवादिता के कारण भाट तो स्वयं अपनी मृत्यु का आवाहन करता है। भाट ने कहा कि जम्बू द्वीप में चित्तौड़ देश है। वहाँ का राजा चित्रसेन महान् राजा हुआ है। यह रत्नसेन नामक उसी का पुत्र है। इसका वंश चौहान है और इसे कोई मिटा नहीं सकता। तलवार चलाने में यह ऐसा अटल है जैसे सुमेरु पर्वत, चाहे संसार इसके विरुद्ध लग जाय पर यह टाले नहीं टल सकता। दानी ऐसा है कि सुमेरु पर्वत के समान दान देने में भी इसको कुछ कमी नहीं पड़ती जो व्यक्ति इससे माँग लेता है वह औरों के सामने दुबारा नहीं माँगता, भाव यह कि रत्नसेन उसे सदा के लिए अयाचक

कर देता है। मैं अपना दाहिना हाथ उसी के लिए उठाता हूँ, और कौन उसके समान है जिसे मैं आशीर्वाद दूं। मुझे महापात्र की पदवी उससे मिली है, मैं केवल उसी का भिखारी हूँ। यद्यपि खरी बात कहने पर सुनने वाले को क्रोध लगता है पर दूत तो सदा खरी बात ही कहेगा।

इस छन्द के पश्चात् पं० रामचन्द्र शुक्ल द्वारा सम्पादित ग्रन्थावली में पाँच पद और हैं जिन्हें डा० माताप्रसाद जी गुप्त प्रक्षिप्त मानते हैं पदों के देखने से प्रतीत होता है कि डा० गुप्त का निर्णय समीचीन है, प्रथम पद निम्नलिखित है इसमें अनेक पुनरुक्तियाँ हुई हैं जैसे—अपना और रत्नसेन का परिचय—

ततखन पुनि महेस मन लाजा। भाँट करा होइ बिनवा राजा॥
गन्ध्रबसेन तु राजा महा। हौं महेस मूरति सुनु कहा॥
जौ पै बात होइ भलि आगे। कहा चहिय, का भा रिसि लागे॥
राजकुँअर यह, होहि न जोगी। सुनि पदमावति भएउ बियोगी॥
जंबू दीप राज घर बेटा। जो है लिखा सो जाइ न मेटा॥
तुम्हरहि सुआ जाइ ओहि आना। औ जेहि कर बर कै तेहि माना॥
पुनि यह बात सुनी सिवलोका। करसि बियाह धरम है तोका॥
माँगै भीख खपर लेइ, मुए न छाँड़ै बार॥
बूझहु कनक कचोरी, भीखि देहु नहि मार॥

द्वितीय पद में २२९ वें पद की बातें दुबारा कही गयी हैं। उस पद में गन्धर्वसेन ने कहा है कि इन्द्र, कृष्ण, ब्रह्मा, बलि, वासुकि, धरती, मंदर, मेरु, सूर्य, चन्द्र, कुबेर, मेघ, कूर्म आदि सभी उससे डरते हैं फिर उसके सामने कीट पतङ्ग ऐसे राजा क्या हैं—इस पद में भी वह कहता है कि सुर-नर मुनि गन्धर्व और देबता सब उसकी सेवा करते हैं तो फिर किस में सामर्थ्य है जो उसकी बराबरी करे—पद इस प्रकार है—

ओहट होहु रे भाँट भिखारी। का तू मोंहि देहि असि गारी॥
को मोंहि जोग जगत होइ पारा। जा सहुँ हेरौं जाइ पतारा॥
जोगी जती आव जो कोई। सुनतहि त्रासमान भा सोई॥
भीख लेहिं फिरि माँगहिं आगे। ए सब रैनि रहे गढ़ लागे॥

जस हींछा, चाहौं तिन्ह दीन्हा। नाहिं बेधि सूरी जिउ लीन्हा॥
जेहि अस साध होइ जिउ खोवा। सो पतङ्ग दीपक अस रोवा॥
सुर-नर मुनि सब गन्ध्रब देवा। तेहि को गनै ? करहिं निति सेवा॥
मोंसों को सरवरि करै ? सुन रे झूठे भाँट।
छार होइ जो चालौं, निज हस्तिन कर ठाटाँ॥

तृतीय, चतुर्थ और पंचम पदों में अङ्गद और हनूमान् की अनावश्यक अवतारणा और योगियों के युद्ध का वर्णन है। मूल के छन्दों में रत्नसेन की ओर से अहिंसात्मक सत्याग्रह प्रस्तुत किया गया है और आत्म-बलिदान का सिद्धान्त दिखाया गया है। इन छन्दों का युद्ध वर्णन उस सूफी-सिद्धान्त का निराकरण करता है अतः इन पदों को प्रक्षिप्त मानना ही उचित है। पद इस प्रकार है—

जोगी घिरि मेले सब पाछे। उरए माल आए रन काछे॥
मन्त्रिन्ह कहा सुनहु हो राजा। देखहु अब जोगिन्ह कर काजा॥
हम जो कहा तुम करहु न जूझू। होत आव दर जगत असूझू॥
खिन एक महँ झुरमुट होइ बीपा। दर महँ चढ़ि जो रहै सो जीता॥
कै धीरज राजा तब कीया। अङ्गद आइ पाँव रन रोपा॥
हस्ति पाँच जो अगमन धाए। तिन्ह अङ्गद धरि सूँड़ फिराए॥
दीन्ह उड़ाइ सरग कहँ गए। लौटि न फिरे, तहँहि के भए॥
देखत रहे अचंभौ जोगी, हस्ती बहुरि न आय।
जोगिन्ह कर अस जूझव, भूमि न लागत पाय॥

स्पष्ट है जोगियों का घेरना, अंगद का पाँव रोपना, हाथियों को सूँड पकड़ कर उछालना आदि एक खिलवाड़ ही है यद्यपि यह सब जायसी की पद्धति से विपरीत नहीं है।

कहहिं बात जोगी अब आए। खिनक माँह चाहत हैं भाए॥
जौ लहिं धावहिं अस कै खेलहु। हस्तिन केर जूह सब पेलहु॥
जस गज पेलि होहिं रन आगे। तस बगमेल करहु सँग लागे॥
हस्ति क जूह आय अगसारी। हनुवँत तबै लँगूर पसारी॥
जैसे सेन बीच रन आई। सबैं लपेटि लँगूल चलाई॥

बहुतक टूटि भए नवखंडा। बहुतक जाइ परे बरम्हंडा ॥
बहुतक भँवत सोइ अँतरीखा। रहे जो लाख भए ते लीखा ॥
बहुतक परे समुद महँ, परत न पावा खोज।
जहाँ गरब तहँ पीरा, जहाँ हँसी तहँ रोज ॥

पुनि आगे का देखै राजा। ईसर केर घंट रन बाजा ॥
सुना संख जो बिस्नू पूरा। आगे हनुमँत केर लँगूरा ॥
लीन्हें फिरहिं लोक बरम्हंडा। सरग पतार लाइ मृदमंडा ॥
बलि, बासुकि औ इंद्र नरिंदू। राहु नखत, सूरुज औ चन्दू ॥
जाँवत दानव राच्छस पुरे। आठों वज्र आइ रन जुरे ॥
जेहि कर गरब करत हुत राजा। सो सब फिरि बैरी होइ साजा ॥
जहवाँ महादेव रन खड़ा। सीस नाइ पायन्ह परा ॥
केहि कारन रिसि कीजिए, हौं सेवक औ चेर ॥
जेहि चाहिय तेहि दीजिय, बारि गोसाइँ केर ॥

इस प्रकार के युद्ध के अनावश्यक नाटक के पश्चात् फिर भाट दूत कार्य आरम्भ करता है—पुनि महेस अब कीन्ह बसीठी। पहिले करुइ, सोइ अब मीठी ॥—तात्पर्य यह कि ये पाँच पद कथा-वस्तु की दृष्टि से अनावश्यक हैं, इसीलिए प्रामाणिक प्रतियों में इनका स्थान न पाकर डा० माताप्रसाद जी ने अपनी ग्रन्थावली में इन छंदों को रखा ही नहीं है। २६९वें पद में प्रथम अर्धाली कुछ भिन्न है, क्योंकि इसमें भाट २६८वें पद के सिलसिले में ही कह रहा है, पर प्रक्षिप्त ५ पदों के आजाने पर बीच में युद्ध का प्रसंग था। अतः उसमें भाट को दुबारा बोलना था।

[ २६९ ]

सोइ बिनती सिउँ करौं बसीठी। पहिलें करुइ, अंत होइ मीठी ॥
तूँ गंध्रप राजा जग पूजा। गुन चौदह, सिख देइ को दूजा ॥
हीरामनि जो तुम्हार परेवा। गा चितउर औ कीन्हेसि सेवा ॥
तेहि बोलइ पूँछहु वह देसू। दहुँ जोगी, का तहँ क नरेसू ॥
हमरें कहत रहै नहिं मानू। जो वह कहै सोइ परवानू ॥

जहाँ बारि, तहँ आव बरोकाँ। करै बियाह धरम सुठि तोकाँ ॥
जौं पहिलें मन मारू त काँधिश्र। परुखिश्र रतन गाँठ तब बाँधिश्र ॥

रतन छिपाएँ ना छिपै, पारखि होइ सो परीख।
घालि कसौटी दीजिए, कनक कचोरी भीख ॥ २६६ ॥

शब्दार्थ—सिउँ = संग, साथ-साथ। करुइ = कड़वी। सिख = सीख-शिक्षा। परवानू = प्रमाण, ठीक। बारि = बाला। बरोकाँ = वररक्षा। काँधिश्र = स्वीकार करो। परीख = परखता है। घालि = डाल कर।

अर्थ—भाट ने कहा कि साथ ही साथ मैं दूत की वह विनती करता हूँ, जो पहले तो कड़वी प्रतीत होती है, पर बाद में मीठी प्रतीत होती है। तू संसार में पूज्यमान राजा गन्धर्वसेन है, तुझ में चौदहों गुण हैं, दूसरा कौन तुम्हें सीख दे सकता है ? हीरामनि तुम्हारा ही तोता है, वह चित्तौड़ गया था और रत्नसेन की सेवा की थी। उसे बुला कर चित्तौड़ देश के सम्बन्ध में पूछताछ कर लो कि रत्नसेन योगी है या राजा है। मेरे कहने पर न मान बैठो, वह तोता कहे उसे ही ठीक मानो। फिर यह बात भी ठीक है, जहाँ कन्या होती है वहीं वरक्षा का आयोजन होता है। इसलिए तू विवाह कर दे, इसमें तुझे धर्म होगा। यदि तेरा मन मान जाय, तब स्वीकार करो, पहले रत्न को परखो, फिर उसे गाँठ बाँधो। रत्न छिपाये से नहीं छिपता, पारखी उसे परख ही लेता है, कसौटी पर डाल कर पहले उसे कसो फिर जब सन्तुष्टि हो जाय तो उसे भिक्षा में सोने की कचौरी रूपी पद्मावती को दे दो।

[ २७० ]

हीरामनि जौं राजैं सुना। रोस बुझान, हिएँ महँ गुना ॥
अग्याँ भई बुलावहु सोई। पंडित हुँतें घोख नहिं होई ॥
एक कहत सहसक दस धाए। हीरामनिहि बेगि लै आए ॥
खोला आगे आनि मँजूसा। मिला निकसि बहु दिन कर रूसा ॥
अस्तुति करत मिला बहु भाँती। राजैं सुना भई हियँ साँती ॥
जानहुँ जरत अगिनि जल परा। होइ फुलवारि रहस हिय भरा ॥
राजैं मिलि पूँछी हँसि बाता। कस तन पीत, भएउ मुख राता ॥

चतुर बेद तुम्ह पंडित, पढ़े सास्त्र औ बेद ।
कहाँ चढ़े जोगी गढ़, आनि कीन्ह गढ़ भेद ॥ २७० ॥

शब्दार्थ—रोस = क्रोध । हुँतें = से । मंजूसा = पिंजरा । रूसा = रुष्ट । साँती = शान्ति । रहस = आनन्द ।

अर्थ—जब राजा ने हीरामनि का नाम सुना तो उसका क्रोध दूर हो गया, उसने अपने मन में विचार किया । राजा की आज्ञा हुई कि हीरामनि को बुलाओ, क्योंकि पंडित से तो कभी धोखा नहीं हो सकता । एक का नाम लेते ही हजारों आदमी दौड़ पड़े और हीरामनि को तुरन्त ही ले आये । लाकर राजा के सामने उसका पिंजरा खोल दिया । बहुत दिन का रुष्ट तोता निकल कर राजा से मिला । स्तुति करते हुए अच्छी प्रकार राजा से मिला । राजा ने उसके आशीर्वाद सुने तो उसे शान्ति मिली । मानो जलते हुए पर जल वृष्टि हो जाय, उसका हृदय फुलवाड़ी के समान खिल कर आनन्दित हो गया । राजा ने मिल कर हँसी पूर्वक कहा कि तुम्हारा शरीर पीला, मुख लाल क्यों हो रहा है ? तुम तो चारों वेद के पंडित हो, वेद-शास्त्र पढ़े हुए हो. बताओ कि ये जोगी लोग गढ़ पर कैसे चढ़े और क्यों इन्होंने हमारे किले में सेंध लगाई है ।

[ २७१ ]

हीरामनि रसना रस खोला । दई असीस औ अस्तुति बोला ॥
इंद्र राज राजेसुर महा । सौंहैं रिसि, किछु जाइ न कहा ॥
पै जेहि बात होइ भल आगें । सेवक निडर कहै रिस लागें ॥
सुवा सुफल अंब्रित पै खोजा । होइ न बिक्रम राजा भोजा ॥
हौं सेवक तुम्ह आदि गोसाईं । सेवा करौं जियौं जब ताईं ॥
जेइँ जिउ दीन्ह देखावा देसू । सो पै जिय महँ बसै नरेसू ॥
जो ओहि सँवरै एकै तुँ ही । सोई पंखि जगत रतमुँहीं ॥
नैन बैन औ सरवन बुद्धी, सबै तोर परसाद ।
सेवा मोर इहै निति, बोलौं आसिरबाद ॥ २७१ ॥

शब्दार्थ—राजेसुर = राजेश्वर । सौंहैं = सामने । विक्रम = विक्रमादित्य (इस की भूल की अन्तरकथा नागमती सुआखंड में आ चुकी है जिसमें राजा ने अमृत

फल को फेंकवा दिया था, क्योंकि उस पर अकस्मात् साँप का दंश लग गया था और उससे एक कुत्ता मर गया था। पर दूसरे फेंके हुए फल को खाकर बूढ़ा माली जवान हो गया था)। रतमुँही = लाल मुँह वाली। सरवन = श्रवण-कान।

अर्थ—हीरामनि ने अपनी रसयुक्त जीभ खोली और आशीर्वाद देकर राजा की प्रशंसा करने लगा। हे राजा! तुम बड़े राजेश्वर इन्द्र सदृश हो। तुम्हारे चेहरे पर क्रोध है इस डर से कुछ कहा नहीं जाता है। पर जिस बात से भविष्य में भलाई हो, उस बात को सेवक बेडर होकर कहता है। तोता तो अमृत फल ही खोज कर लाएगा, पर तू राजा विक्रमादित्य या भोज की भान्ति भूल न कर—अर्थात् जो अमृत सरिस बात मैं बताऊँगा वह भली है तू उसे भ्रमवश अनिष्टकर न समझ ले जैसे कि विक्रम और भोज ने समझा था। मैं सेवक हूं और तुम मेरे आरम्भ के मालिक हो। जब तक जिऊँगा आपकी सेवा करूँगा। जिसने जीवन दिया और देशों को दिखाया, हे राजा! वही परमेश्वर मेरे हृदय में बसा है। इस संसार में जो उस परमात्मा को "एक तू ही" कहता हुआ जीता है, वही पक्षी लाल मुख वाला (सुखँरू) है। हे राजा! परमेश्वर ने मुझे जो नेत्र, वाणी, बुद्धि आदि दिये हैं, वह सब तेरी कृपा के फल के रूप में है। अतः मेरी तो आपके प्रति यही सेवा है कि मैं प्रति दिन आशीर्वाद करूँ।

[ १७२ ]

जो अस सेवक चह पति दसा। तेहिकि जीभ अंब्रित पै बसा।
तेहि सेवक के क महि दोसू। सेव करत ठाकुर हाइ रोसू॥
औ जेहि दोख निदोखहि लागा। सेवक डरहि, जीव लै भागा॥
जौं पंखी कहवाँ थिर रहना। ताकै जहाँ जाइ जौं डहना॥
सपत दीप देखेउँ फिरि राजा। जँबू दीप जाइ पुनि बाजा॥
तहँ चितउर गढ़ देखेउँ ऊँचा। ऊँच राज सरि तोहि पहूँचा॥
रतनसेनि यह्नु तहाँ नरेसू। आएउँ लै जोगी कर भेसू॥
सुवा सुफल पै आनै, है तेहि गुन मुख रात।
कया पीत अस तातें, सँवरौं बिक्रम बात॥ २७२॥

शब्दार्थ—तेहिकि = उसकी। कहवाँ = कहाँ। ताकै = देखता है। डहना= डैना, पंख। सरि = बराबर। गुन = कारण। सँवरौं = याद करता हूँ।

अर्थ—जो सेवक अपने मालिक की ऐसी शुभ दशा चाहता है, उसकी जिह्वा पर अमृत रहता है। पर उस सेवक के कर्म का ही दोष है, यदि सेवा करते हुए उसके स्वामी को क्रोध हो जाय। और फिर जहाँ निर्दोष को भी दोष लग जाय वहाँ तो बेचारा सेवक डरता है और अपना जीव लेकर भाग निकलता है। जो पक्षी है स्थिर कैसे रह सकता है, जब उसके पंख हैं तो जिधर ही देखता है चला जाता है। उसका भाव यह है, जब आपकी कुदृष्टि मिली तो मैं आपके यहाँ से किसी ओर चला गया था। हे राजा! मैंने सातों द्वीप घूम कर देख लिये और अन्त में जम्बू द्वीप पर जा पहुँचा। वहाँ मैंने ऊँचे चित्तौड़गढ़ को देखा, राज्य ऐसा ही ऊँचा है कि आपकी बराबरी का है। यह रत्नसेन वहीं का राजा है, इसे मैं जोगी का भेष बनवा कर ले आया। मैं इसको इसी प्रकार ले आया हूं, जैसे विक्रमादित्य का हीरामनि तोता उसके लिए अमृत फल ले आया था। इस बात को महसूस कर कि श्रेष्ठ फल रूप रत्नसेन को ले आया हूँ, मेरा मुख लाल है, पर यह स्मरण करके कि जैसे विक्रमादित्य ने फल की परीक्षा में दैवात् उस पर पड़े हुए सर्प-विष के कारण विष-फल समझ कर तोते को मरवा डाला, मुझे भय लग रहा है और मेरा शरीर पीला हो गया है।

अलंकार—उपमा।

[ २७३ ]

पहिलें भएउ भाँट सत भाखी। पुनि बोला हीरामनि साखी॥
राजहि भा निस्चौ, मन माना। बाँधा रतन छोरि कै आना॥
कुल पूँछा चौहान कुलीना। रतन न बाँधे होइ मलीना॥
हीरा दसन पान रँग पाके। बिहँसत सबन्ह बीज बर ताके॥
मुंद्रा स्रवन मैन सो चाँपे। राजबैन उघरे सब झाँपे॥
आना काटर एक तुखारू। कहा सो फेरै, भा असवारू॥
फेरेउ तुरै, छतीसौ कुरी। सबहिं सराहा सिंघलपुरी॥

कुँअर बतीसौं लक्खना, सहस कराँ जस भान ।
काह कसौटी कसिए, कंचन बारह बानि ॥ २७३ ॥

शब्दार्थ—निस्चौ = निश्चय । बीज = बिजली । ताके = देखा । मैन = कामदेव । चाँपे = दबाये हुए । राजबैन = राजवर्णी । उघरे = स्पष्ट हुए । झाँपे = ढके हुए । काटर = कट्टर । तुखारू = घोड़ा । तुरै = घोड़ा । छतीसौ कुरी = छत्तीस कुल के क्षत्रिय । बारहबानि = बारहों वर्णों के आदित्य समान प्रकाशमान ।

अर्थ—जायसी कहते हैं कि पहले तो भाट ने सत्य वचन कहे थे, फिर हीरामनि उसकी बातों का साक्षी हुआ । ऐसा देखकर राजा को निश्चय हो गया, उसका मन मान गया । बँधे हुए रत्नसेन को छुड़वाकर बुलवाया । रत्नसेन से पूछा तो मालूम हुआ कि वह चौहान वंश कुलीन राजपूत है । बांधने से रत्न मलीन नहीं होता, भाव यह कि जोगी बनने और बन्दी बनाये जाने से रत्नसेन की श्री कम न हुई थी । उसके हीरे के समान दाँत पान के रंग में पके थे । अर्थात् पान खाने से दांतों के बीच-बीच में पान का रंग था और बीच में सफेद दाँत चमक रहे थे । उसके मुस्कराने पर बिजली के समान सभी दाँतों को सब ने देखा । कान में कामदेव के सदृश मुद्रा पहिने था । उसके सभी ढके हुए राजचिन्ह प्रकट हो गये । लोगों ने एक कट्टर घोड़ा ला दिया और कहा कि सवार होकर उसे फेर दो । उसने चढ़कर घोड़े को ऐसा फिराया कि छत्तीसों कुलों के सिंहलद्वीप के क्षत्रिय उसकी प्रशंसा करने लगे । राजकुमार रत्नसिंह बत्तीसों लक्षणों से युक्त था, सूर्य के सदृश सहस्रों किरणों से प्रकाशित था, ऐसे अत्यन्त दीप्तिमान् सोने को भला कोई कसौटी पर क्या कसेगा ।

अलंकार—श्लेष, दृष्टान्त, उपमा ।

[ २७४ ]

देखि सुरुज बर कँवल सँजोगू । अस्तु अस्तु बोला सब लोगू ॥
मिला सुबंस अंस उजियारा । भा बरोक औ तिलक सँवारा ॥
अनिरुध कहँ जो लिखी जैमारा । को मेटै, बानासुर हारा ॥
आजु मिलै अनिरुध को ऊखा । देव अनंद, दैतन्ह सिर दूखा ॥

सरग सूर, भुइँ सरवर केवा । बन खँड भँवर होइ रस लेवा ॥
पछिवँ क बार पुरुब की बारी । लिखी जा जोरी होइ न न्यारी ॥
मानुस साज लाख मन साजा । साजा बिधि सोई पै बाजा ॥

गए जो बाजन बाजते, जिन्हहि मारन रन माहँ ।
फिरि बाजन तेइ बाजे, मंगलचार ओनाहँ ॥ २७४ ॥

शब्दार्थ—अस्तु-अस्तु= हो, हो । बरोक = वररच्छा । जैमारा = जयमाला । ऊखा = उषा । सरग = स्वर्ग, आकाश । सूर = सूर्य । कँवर = कमल । पछिवँ = पश्चिम । बार = वर । बाजा = हुआ । ओनाहँ = उन्हीं के ।

अर्थ—ने यह देखकर कि कमल ( पद्मावती ) के संयोग के लिए सूर्य (रत्नसेन) वर उचित है, सभी लोगों ने कहा कि "अवश्य हो, अवश्य हो" सुन्दर वंश का उज्ज्वल अंश मिल गया । वरच्छा हुई और तिलक की तैयारी की गयी । जब अनिरुद्ध की जयमाला लिखी थी तो उसे कौन मेट सकता था, आखिर बाणासुर को हारना ही पड़ा । (उषा बाणासुर की कन्या और अनिरुद्ध की प्रेमिका थी, बाणासुर की हार के बाद उषा और अनिरुद्ध का विवाह हुआ था ) आज पद्मावती और रत्नसेन का ऐसा मेल हुआ कि जैसे उषा और अनिरुद्ध मिले थे । इस अवसर हर देवताओं को आनन्द हुआ और दैत्यों (दुष्टजनों) के सिर में पीड़ा हुई । कवि कहता है कि सूर्य आकाश में होता है और कमल भूमि पर तालाब में होता है, पर प्रेम के कारण दोनों का संयोग होता है, इसी प्रकार भौंरा बनकर प्रेमी रस लेने पहुंच जाता है । पश्चिम का वर (रत्नसेन) और पूर्व की बाला (पद्मावती) थी, पर जब इनकी जोड़ी भाग्य में लिखी थी, तो उसे अलग कौन कर सकता था ? मनुष्य अनेक प्रकार की कल्पनाएँ मन में करता है, पर होता तो वही है जो परमेश्वर को मंजूर होता है । जो बाजे रण में रत्नसेन को मारने के हेतु बजते हुए गए थे वे ही उन्हीं के मंगलचार में फिर बज उठे ।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति, दृष्टान्त, विरोध ।

नोट—शुक्ल जी की प्रति में एक छन्द और है पर इसे डा० माताप्रसाद गुप्त

प्रक्षिप्त मानते हैं। उनके प्रक्षिप्त मानने का कारण यह है कि इस छन्द में वररक्षा, तिलक आदि के दुबारा उल्लेख हुए हैं। पद इस प्रकार है—

बोल गोसाईं कर मैं माना। काह सो जुगुति उतर कहँ आना।
मसा बोल, हरष जिउ बाढ़ा। औ बरोक भा टीका काढ़ा॥
इवौ मिले मनावा भला। सुपुरुष आपु-आपु कहँ चला॥
लीन्ह उतारि जाहि हित जोगू। जो तप करै सो पावै भोगू॥
वह मन चित जो एकै अहा। मारै लीन्ह न दूसर कहा॥
जो अस कोई जिउ पर छेवा। देवता आइ करहिं निति सेवा॥
दिन दस जीवन जो दुख देखा। भा जुग-जुग सुख जाइ न लेखा॥

रत्नसेन सँग बरनौ, पद्मावती क बियाह।
मंदिर वेगि सँवारा, मादर तूर उछाह॥

छेवा = दुःख झेला। मादर = मृदंग। तूर = तुरही। उछाह = उत्साह-आनन्द।

————

# २६. रत्नसेन-पद्मावती-विवाह-खण्ड

[ २७५ ]

लगन धरी औ रचा बिआहू । सिंघल नेवत फिरा सब काहू ॥
बाजन बाजे कोटि पचासा । भा अनंद सगरौ कबिलासा ॥
जेहि दिन कहँ निति देव मनावा । सोइ देवस पद्मावति पावा ॥
चाँद सुरुज मनि माथें भागू । औ गावहिं सब नखत सोहागू ॥
रचि रचि मानिक माड़ौ छावहिं । औ भुइँ रात बिछाउ बिछावहिं ॥
चंदन खाँभ रचे चहुँ पाँती । मानिक दिया बरहिं दिन राती ॥
घर घर बंदन रचे दुआरा । जाँवत नगर गीत झनकारा ॥
हाट बाट सिंघल सब, जहँ देखिअ तहँ रात ।
धनि रानी पदुमावति, जा करि औसि बरात ॥ २७५ ॥

शब्दार्थ—सगरौ = सारा । सोहागू = विवाह के गीत । माड़ौ = विवाह-मंडप । रात = लाल । बिछाउ = बिस्तर । खाँभ = खम्भे । जाँवत = सारे ।

अर्थ—जायसी कहते हैं कि लग्न रक्खा गया और विवाह रचा गया । सिंहल के निमन्त्रण सबको भेजे गये । करोड़ों बाजे बजने लगे, सारे स्वर्ग में अत्यन्त आनन्द छा गया । जिस दिन के लिए नित्य देवताओं को मनाया करती थी, उसी दिन को अब पद्मावती पा गयी । उस चाँद और सूर्य (पद्मावती और रत्नसेन) के मत्थे पर सौभाग्य का मणि चमक उठा और सभी नक्षत्र अर्थात् सखियाँ सोभाग्य के गीत गाने लगीं । माणिक्यों द्वारा विवाह-मंडप तैयार किया गया । पृथ्वी पर लाल बिस्तरे बिछाये गये । चन्दन के अनेक प्रकार के सुन्दर खम्भे बनाये गये । माणिक्य के दीपक दिन-रात जलने लग गये । घर-घर में दरवाजों पर बन्दनवार लग गये, सारे नगर में गीतों की झनकार सुनाई पड़ने लगी । सिंहल का ठाट-बाट सब जगह जहाँ देखो लाल ही लाल दिखाई पड़ने लगा । वह रानी पद्मावती धन्य है जिसकी ऐसी सुन्दर बरात है ।

[ २७६ ]

रतनसेनि कहँ कापर आए। हीरा मोंति पदारथ लाए॥
कुअँर सहस सँग आइ सभागे। बिनौ करहिं राजा सौं लागे॥
जेहि लगि तुम्ह साधा तप जोगू। लेहु राज मानहु सुख भोगू॥
मंजन करहु, भभूति उतारहु। कै अस्नान चतुरसम सारहु॥
काढ़हु मुंद्रा फटिक अभाऊ। पहिरहु कुंडल कनक जराऊ॥
छोरहु जटा, फुलाएल लेहू। झारहु केस, मटुक सिर देहू॥
काढ़हु कंथा, चिरकुट लावा। पहिरहु राता दगल सोहावा॥
पाँवरि तजहु, देहु पग पैरी, आवा बाँक तोखार।
बाँधहु मौर, छत्र सिर तानहु, बेगि होहु असवार॥ २७६॥

शब्दार्थ कापर = कपड़े। लाए = लगाये हुए, जड़े हुए। मंजन= (मज्जन) स्नान। चतुरसम सारहु = चंदन केसर की खौर बनाओ। मुंद्रा = जोगियों के कान में पहने जाने वाली मुद्रा। फटिक = स्फटिक। काढहु = निकालो। अभाऊ = अशोभन। जराऊ = जड़ाऊ। फुलायल = फूलेल, इत्र। चिरकुट = फटा पुराना। राता = लाल। दगल = ढीला अंगरखा। पाँवरि = खड़ाऊँ। पैरी = पौड़ी पर, द्वार पर। तोखार = घोड़ा।

अर्थ—रत्नसेन के लिए कपड़े आये जिनमें हीरा मोती आदि अमूल्य रत्न जड़े हुए थे। उसके साथ दस हजार सौभाग्यशाली राजकुमार भी तैयार हुए। उन लोगों ने आकर राजा रत्नसेन से कहना आरम्भ किया कि जिस के लिए तुमने जप, तप और जोग साधा था वह अब प्राप्त है, अब राज्य लो और सुख भोग करो। अब स्नान करिए और भभूत उतारिए तथा स्नान के उपरान्त केसर चन्दन आदि को शरीर में मलवाइए। यह स्फटिक की अशोभन मुद्रा कान से निकालिए और उसके स्थान पर जड़ाऊ सोने की कुंडल पहनिए। अपनी जटाओं को खोलिए, उसमें इत्र-फुलेल डलवाइए और केशों को झार कर उस पर मुकुट धारण कीजिए। यह फटी-पुरानी कंथा को छोड़िये और लाल रंग का अंगरखा पहिनिए। खड़ाऊँ को छोड़िए, दरवाजे पर बाँका तोखारी घोड़ा आ गया है, मौर धारण कर सिर कर छत्र तानिए और तुरंत घोड़े पर चढ़िए।

[ २७७ ]

साजा राजा, बाजन बाजे। मदन सहाय दुहूँ दिसि गाजे॥
औ राता रथ सोने क साजा। भए बरात गोहन सब राजा॥
बाजत गाजत भा असवारू। सब सिंघल नै करहिं जोहारू॥
चहुँ ओर मसियर नखत तराईं। सूरज चढ़ा चाँद की ताईं॥
सब दिन तपा जैस हिय माहाँ। तैस रात पाई सुख छाहाँ॥
ऊपर रात छत्र तस छावा। इंद्रलोक सब सेवाँ आवा॥
आजु इंद्र आछरि सौं मिला। सब कविलास होइ सोहिला॥
धरती सरग चहूँ दिसि, पूरि रहे मसियार।
बाजत आवै राज मँदिर कहँ, होइ मंगलाचार॥ २७७॥

शब्दार्थ—मदन = कामदेव। गोहन = साथ में। नै = झुक कर। जोहारू = स्वागत। मसियर = मशाल। ताईं = तक। आछरि = अप्सरा। सोहिला = गीत।

अर्थ—राजा रत्नसेन सज गया। बाजे बजने लगे। दोनों ओर कामोद्दीपक बाजे बजने लगे। एक सोने का लाल रथ सज गया, साथ में सब राजा लोग बराती बने। बाजते गाजते वह घोड़े पर चढ़ा। सिंहल के सभी लोग झुक कर उसका अभिवादन करने लगे। चारों ओर मशालें इस प्रकार जल रही थीं जैसे तारागण हों। सूर्य ने चाँद तक चढ़ाई कर दी है। जैसे उसने सब दिन उसके लिए तपस्या की है उसी प्रकार आज रात की छाया में उसे सुख प्राप्त हो रहा है। उसके ऊपर लाल छत्र इस प्रकार शोभा पा रहा है मानो सारा इन्द्र लोक आकर उसकी सेवा में छाया हुआ है। आज इन्द्र अप्सरा से मिला है। सारे स्वर्ग ( सिंहल ) में सोहले गीत हो रहे थे।

मशालें पृथ्वी और आकाश चारों ओर जलती दिखाई पड़ रही थीं। बाजे बजते हुए राजमहल की ओर बढ़ रहे थे और मंगलाचार हो रहा था।

[ २७८ ]

पदुमावति धौराहर चढ़ी। दहुँ कस रबि जाकहँ ससि गढ़ी॥
देखि बरात सखिन्ह सौं कहा। इन्ह महँ कौनु सो जोगी अहा॥

केइँ सो जोग लै ओर निबाहा। भएउ सूर, चढ़ि चाँद बियाहा॥
कौनु सिद्ध सो ऐस अकेला। जेइँ सिर लाइ पेम सौं खेला॥
कासौं पितै बचा असि हारी। उतर न दीन्ह, दीन्हि तेहि बारी॥
काकहँ दैय ऐसि जै दीन्हा। जेइँ जैमार जीति रन लीन्हा॥
धन्नि पुरुख अस नवै न नाएँ। औ सुपुरुष होइ देस पराएँ॥
को बरिबंड बीर अस, मोहि देखै कर चाउ।
पुनि जाइहि जनवासे, सखी रे बेगि देखाउ॥ २७८॥

शब्दार्थ—दहुँ = पता नहीं। रवि = सूर्य—रत्नसेन-ससि = चन्द्रमा—पद्मावती। गढ़ी=बनाई गयी है। पितै = पिता ने। बचा = वचन। बरिवण्ड = श्रेष्ठ वीर। चाउ = रुचि। जनवासे = जनवास-बरातियों के ठहरने की जगह।

अर्थ—पद्मावती महल के ऊपर चढ़ गयी। उसने सोचा कि पता नहीं वह सूर्य रूपी रत्नसेन कैसा है जिसके लिए चन्द्रमा जैसी मेरी रचना ब्रह्मा ने की है। बरात को देख कर उसने सखियों से कहा कि इनमें से वह जोगी कौन था जिसने योगाभ्यास का पूर्ण निर्वाह किया और सूर्य बन कर चन्द्रमा से ब्याह करने आया। वह कौन सा अकेला सिद्ध है। जिसने सिर देकर प्रेम का खेल खेला है. जिससे मेरे पिता वचनों में हार गये और उसका उत्तर न दे सके। वरन् अपनी कन्या ही दे डाली। जिसको परमेश्वर ने ऐसी विजय दी है कि उसने रण को जीत कर जयमाला प्राप्त की है। ऐसा पुरुष धन्य है जो झुकाये से नहीं झुकता और दूसरे देश में भी अपना पुरुषार्थ दिखाता है। वह श्रेष्ठ वीर कहाँ है? मुझे उसके दर्शनों की रुचि है। हे सखी जल्द दिखाओ नहीं तो वह जनवासे में चला जायेगा।

नोट इस पद्य में जायसी ने स्त्री-सुलभ-जिज्ञासा का परिचय दिखाया है। अवधी-प्रान्त में कन्या को कोठे पर से वर को दिखाने की प्रथा भी है।

[ २७९ ]

सखी देखावहिं चमकहिं बाहू। तूँ जस चाँद, सुरुज तोर नाहू।
छपा न रहै सुरुज परगासू। देखि कँवल मन भएउ हुलासू॥
वह उजियार जगत उपराहीं। जग उजियार, सो तेहि परछाहीं॥

जस रबि, दीख, उठै परभाता। उठा छत्र देखिअ तस राता॥
आव माँझ भा दूलह सोई। औरु बराति संग सब कोई॥
सहसौं कराँ रूप बिधि गढ़ा। सोने के रथ आवै चढ़ा॥
मनि माथे, दरसन उजियारा। सौंह निरखि नहिं जाइ।नहारा॥
रूपवंत जस दरपन, धनि तूँ जाकर कंत।
चाहिअ जैस मनोहर, मिला सो मन भावंत॥ २७६॥

शब्दार्थ—बाहू = भुजायें। नाहू = पति। छपा = छिपा। परगासू = प्रकाश। हुलास = उल्लास-प्रसन्नता। उपराहीं = ऊपर-चढ़कर। राता = लालिमा। कराँ = किरणें। सौंह = सामने। निरखि = देखना। निहार = देखना। धनि = पत्नी। कंत = पति। मनभावंत = मनभावता, मनोहर।

अर्थ—सखियाँ पद्मावती को जब दिखाने लगीं तो उनकी भुजायें उठ उठ कर चमकने लगीं, उन्होंने कहा कि हे पद्मावती तू जिस प्रकार चन्द्रमा के सदृश है उसी प्रकार तेरा पति भी सूर्य सरीखा है। सूर्य का प्रकाश छिपा नहीं रह सकता। उसे देख कर कमल रूपी पद्मावती के मन में बड़ा हर्ष हुआ। उसका प्रकाश संसार के सभी प्रकाशों से अधिक था। संसार का सारा प्रकाश तो उस प्रकाश की परछांही मात्र है। जिस प्रकार सूर्य को देखकर प्रभात की लालिमा पहले ही छा जाती है उसी प्रकार उसका छत्र लाल रंग का दिखाई पड़ता था। बरात के बीच में दूल्हा आ रहा था, अन्य सब बराती उसके साथ आगे पीछे थे। ब्रह्मा ने उसके रूप को सहस्र किरणों से तैयार किया है, ऐसा राजा रत्नसेन सोने के रथ पर चढ़ा हुआ आ रहा था। उसके मस्तक पर मणि सुशोभित थी, उसका मुख इतना प्रकाशमान हो रहा था कि सामने दृष्टि करके उसको देखा नहीं जा सकता।

सखियों ने कहा कि हे पद्मावती! तू जिस पति की पत्नी बनने जा रही है वह दर्पण के समान रूपवान् है। जैसा मनभावना और मनोहर वर तू चाहती थी वैसा ही मिल रहा है।

अलंकार—पूर्णोपमा, रूपक।

[ २८० ]

देखा चाँद सुरज जस साजा। अस्टौ भाउ मदन तन गाजा॥
हुलसे नैन दरस मद माँते। हुलसे अधर रंग रस राते॥

हुलसा बदन ओप रबि आई। हुलसि हिया कंचुकि न समाई॥
हुलसे कुच कसनी बँद टूटे। हुलसी भुजा, बलय कर फूटे॥
हुलसी लंक कि रावन राजू। राम लखन दर साजहिं साजू॥
आजु कटक जोरा हठि कामू। आजु बिरह सो होइ संग्रामू॥
आजु चाँद घर आवै सूरू। आजु सिंगार होइ सब चूरू॥
अंग अंग सब हुलसे, कोउ कतहुँ न समाइ।
ठाँवहिं ठाँव बिमोहा, गइ मुरुछा गति आइ॥ २८० ॥

शब्दार्थ— अस्टौ भाउ = आठों अनुभाव (स्तम्भ, कम्प, स्वरभंग, वैवर्ण्य, आँसू, स्वेद, रोमांच और मूर्च्छा)। ओप = चमक। हिया = छाती। कंचुकी = चोली। कसनी = अँगिया। बलय = चूड़ी। लंक = कटि, लंका। रावन = रावण, रमण करने वाला, प्रिय। दर = दल। कामू = कामदेव।

अर्थ—जब चन्द्रमा रूपी पद्मावती ने सूर्य रूपी रत्नसेन की सजावट देखी तो आठों अनुभावों के साथ कामदेव उसके ऊपर गरजने लगा। उसके नेत्र दर्शन रूपी मद से मतवाले होकर उल्लसित हो गये। प्रसन्नता से होठों में प्रेमाधिक्य से ललाई अधिक चढ़ गयी। मुख में प्रसन्नता से सूर्य की चमक आ गयी, छाती उल्लसित होकर कंचुकी में नहीं समाती। उरोज उठ गये और अँगिया की डोरियाँ टूट गयीं, भुजायें फूल उठीं और कंकण तथा चूड़ियाँ टूट गयीं। उसकी कमर भी ऐसी हुलसी जैसे रावण के राज में लङ्का हुई थी। उधर राम-लक्ष्मण के समान रत्नसेन दल साज कर इस लङ्का रूपी लङ्क पर आ रहा है। आज तो कामदेव ने अपनी सारी सेना हठपूर्वक इकट्ठी कर ली है, अब विरह के साथ संग्राम होगा। आज चन्द्रमा के घर सूर्य आयेगा और सभी शृङ्गार चूर-चूर हो जायगा। भाव यह कि प्रियतम के समक्ष होने पर शृङ्गार का अहंकार नष्ट हो जायगा और संभोग में वे सब अव्यवस्थित भी हो जायेंगे। उसके प्रत्येक अंग प्रफुल्लित हो उठे, कोई अंग कहीं नहीं समाता, जगह-जगह मोह व्याप्त हो गया, अतः उसे मूर्छा आ गयी।

[ २८१ ]

सखी सँभारि पियापहिं पानी। राजकुँवरि काहे कुँभिलानी॥
हम तो तोहि देखावा पीऊ। तूँ मुरझानि, कैस भा जीऊ॥

सुनहु सखी सब कहहिं बियाहू। मो कहँ जैस चाँद कहँ राहू॥
तुम्ह जानहु आवै पिय साजा। यह धम धम सब मो कहँ बाजा॥
जेत बराती औ असवारा। आए मोर सब चालनिहारा॥
सोइ आगम देखत हौं झँखी। आपन रहन न देखौं सखी॥
होइ बियाह पुनि होइहि गवना। गौनब तह बहुरि नहिं अवना॥

अब सो मिलन कत सखी सहेलिनि, परा बिछोवा टूटि।
तैसि गाँठि पिय जोरब, जरम न होइहि छूट॥ २८१॥

शब्दार्थ—जेत = जितने। चालनिहारा = ले जाने वाले। आगम = आने वाला दिन। झँखी = पछताना। रहन = रहना। बहुरि = फिर। बिछोवा = वियोग। जरम = जीवन भर।

अर्थ—सखियाँ पद्मावती को सँभाल कर पानी पिला रही थीं। उन्हों ने कहा कि हे राजकुमारी ! तुम क्यों कुम्हला गयीं, हमने तो तुम्हें तुम्हारे प्रियतम को दिखाया और तू मुरझा गयी, बताओ अब तुम्हारा जी कैसा है। पद्मावती ने उत्तर दिया कि हे सखी ! सब लोग कहते हैं कि मेरा विवाह हो रहा है पर यह तो मेरे लिए इसी प्रकार है कि जैसे चन्द्रमा को राहु का ग्रहण लगे। तुम समझती हो कि मेरा पति सज कर आ रहा है, पर यह सारे बाजे जो धमाधम बज रहे हैं, सब मेरे लिए ही हैं। जितने बराती और सवार आये हैं, ये सब मुझे ही ले जाने वाले हैं। मैं पछता-पछता कर वही भविष्य देख रही हूं, अब मैं सिंहल में अपना रहना नहीं देखती। अब ब्याह होगा। फिर गवना होगा। फिर मैं ससुराल चली जाऊँगी और फिर लौट नहीं सकूँगी। अब सखियों और सहेलियों से मिलन कहाँ हो सकता है, अब तो वियोग टूट पड़ा है, विवाह के समय पति ऐसी गाँठ जोड़ेगा कि जीवन भर वह छूट न सकेगी।

नोट—ससुराल जाने के पीछे जायसी का आध्यात्मिक संकेत छिपा है। प्रिय के पास से तात्पर्य संसार को छोड़ कर परमेश्वर में लीन होने से है। परमेश्वर में लीन होने पर संसार के माया-मोह छूट जाते हैं और फिर परमेश्वर से अभिन्नता मिल जाती है।

[ २८२ ]

आइ बजावत पैठि बराता। पान, फूल, सेंदुर, सब राता॥
जहँ सोने कै चित्तरसारी। बैठि बरात जानु फुलवारी॥
माँझ सिंघासन पाट सँवारा। दूलह आनि तहाँ बैसारा॥
कनक खंभ लागे चहुँ पाँती। मानिक दिया बरहिं दिन राती॥
भएउ अचल ध्रुव जोगि पँखेरू। फूलि बैठ थिर जैस सुमेरू॥
आज दैयँ हौं कीन्ह सभागा। जत दुख कीन्ह नीक सब लागा॥
आजु सूर ससिअर घर आवा। चाँद सुरुज दुहुँ होइ मेरावा॥
आजु इंद्र होइ आएउँ, सें बरात कबिलास।
आजु मिलै मोहि आछरि, पूजै मन कै आस॥ २८२॥

शब्दार्थ—पैठि = घुस गई। चित्तरसारी = चित्रशाला। बैसारा = बैठाया।

अर्थ—बरात बाजा बजाते हुई आ गयी। सभी लोग पान, फूल और तिलक आदि से युक्त थे। जहाँ सुनहली चित्रशाला थी वहाँ पर बरात ऐसी बैठी जैसे फुलवाड़ी ही आ गयी हो। सबके बीचों बीच सुनहला सिंहासन था, वहाँ पर दूल्हे को लाकर बैठा दिया। मंडप में चारों ओर सोने के खम्भों की पंक्तियाँ थीं और मणि के दीप दिन-रात जल रहे थे। पक्षी के समान विचरण करने वाला जोगी अचल हो गया। प्रसन्नतापूर्वक ऐसा स्थिर होकर बैठा जैसे सुमेरु पर्वत है। वह सोचने लगा कि आज परमेश्वर ने हमें सौभाग्य-शाली बनाया है। जितना दुःख मैंने तपस्या करके सहा आज वह सब अच्छा लग रहा है। आज सूर्य चन्द्रमा के घर आया है और चन्द्र और सूर्य का मेल हुआ है। आज मैं बरात के साथ इन्द्र बन कर स्वर्गलोक में आया हूं। आज मुझे अप्सरा प्राप्त होगी, मेरे मन की अभिलाषा पूर्ण होगी।

[ २८३ ]

होइ लाग जेंवनार सुसारा। कनक पत्र पसरे पनवारा।
सोन थार मनि मानिक जरे। राए रंक सब आगें धरे॥
रतन जराऊ खोरा खोरी। जन जन आगें सौ सौ जोरी॥
गडुअन्ह हीर पदारथ लागे। देखि बिमोहे पुरुख सभागे॥
जानहु नखत करहिं उजियारा। छपि गा दीपक औ मसियारा॥

भै मिलि चाँद सुरुज कै करा। भा उदोत तैसै निरमरा॥
हहि मानुस कहँ जोति न होती। तेति भै जोति देखि वह जोती॥
पाँति पाँति सब बैठे, भाँति भाँति जेंवनार।
कनक पत्र तर धोती, कनक पत्रपनवार॥ २८३॥

शब्दार्थ—सुसारा = ससुर का। जेंवनार = भोजन। पसरे = फैले। पनवारा = पत्तल। जरे = जड़े। राए = राजा। रंक = गरीब। खोरा-खोरी = कटोरा और कटोरी। गडुअन्ह = लोटे। मसियारा = मशाल। करा = कला। उदोत = उदय। निरमरा = निर्मल।

अर्थ—ससुराल का भोजन आरम्भ हुआ। सोने के पत्तों के पत्तल फैल गये। मणि माणिक्य से जड़ी हुई सोने की थालियां थीं, जो गरीब और अमीर सब के सामने रक्खी गयीं। साथ ही रत्नजटित कटोरे और कटोरियां प्रत्येक के सामने सैकड़ों-सैकड़ों इकट्ठे किये गये। लोटों में भी हीरे और रत्न जड़े हुए थे जिन्हें देखकर सभी पुरुष मोहित हो गये। मानो नक्षत्र प्रकाश कर रहे हों, जिसके आगे दीपक और मशालों की ज्योति छिप गयीं। चन्द्रमा और सूर्य की कला मिल कर एक हो गया, और निर्मल ज्योति प्रकाशित हुई। जिस मनुष्य में कोई ज्योति नही, उसमें वह ज्योति देखकर ज्योति उत्पन्न हो गयी। सभी लोग पंक्ति-पंक्ति में बैठ गये, भाँति-भाँति के भोजन थे। स्वर्ण पत्रों के बने हुए पत्तलों के नीचे धुले हुए वस्त्र बिछे थे।

[ २८४ ]

पहिलें भात परोसै आने। जनहु कपूर सुवास बसाने॥
झालर माँड आए घिउ पोए। ऊजर देखि पाप गए धोए॥
लुचुई पूरि सोहारीं परीं। एक तातीं औ सुठि कांवरीं॥
पुनि बावन परकार जो आए। ना अस देखे, न कबहूँ खाए।
खँडरा खंडि खँडोई खंडी। परी एकोतर सै, कठहंडी॥
पुनि सँधान आए बहु सांधे। दूध दही के मोरँडा बाँधे॥
पुनि जाउरि पछियाउरि आई। दूध दही का कहौं मिठाई॥
जेंवन अधिक सुबासिक, मुख महँ परत बिलाइ।
सहस सवाद सो पावै, एक कवर जौं खाइ॥ २८४॥

शब्दार्थ—भात = चावल। सुवास बसाने = सुगन्धि से सुवासित। झालर = एक प्रकार का पकवान। माँड = एक प्रकार की रोटी। पोए = चुपड़े हुए। लुचुई = पुआ। सोहारी = पूड़ी। तातो = गर्म। सुठि = सुन्दर। कोंवरी = कोमल। परकार = प्रकार। खँडरा-खंड़ोई = भिन्न-भिन्न प्रकार की बेसन और मैदे की वस्तुएं। एकोतर सै = एक सौ एक। कठहंडी = काठ की हंडी। सँधान = अचार। साँधे = सुगन्धित। मोरंडा = गेहूं और गुड़ का लड्डू। जाउरि = खीर। पछियाउरि = सबसे पीछे दी जाने वाली। बिलाइ = गल जाना। कवर = ग्रास।

अर्थ—सबसे पहले चावल परसे गए। वे ऐसे सुगन्धित थे जैसे कपूर से सुवासित हों। घी डले हुए पकवान और रोटियाँ आईं। वे ऐसे उज्ज्वल थे, उन्हें देखकर पाप दूर होता था। लुचुई, पूड़ी बिलकुल गर्म और मुलायम रक्खी गयीं। फिर बावन प्रकार के भोजन रक्खे गये, वे ऐसे थे जो न किसी ने कभी देखे थे न खाये थे। खँडरा, खँडोई आदि अनेक कठहंडियों में रक्खी गयीं। फिर सुगन्धित अनेक अचार रखे गये। दूध दही के, गेहूं और गुड़ के बंधे लड्डू भी आये। फिर सबसे पीछे खाया जाने वाली खीर आयी। दूध दही और मिठाई का क्या वर्णन करें। भोजन बड़े सुगन्धित थे और ऐसे स्वादिष्ट और मुलायम थे कि मुहँ में पड़ते ही गल जाते थे। यदि कोई उसका एक ग्रास भी किसी को मिले तो मानो उसे हजार स्वाद प्राप्त हो गये।

इस पद के पश्चात् शुक्ल सम्पादित ग्रन्थावली में तीन पद ऐसे हैं जो कई प्रतियों में नहीं मिलते। डा० माताप्रसाद गुप्त इन तीनों पदों को प्रक्षिप्त मानते हैं। उनके द्वारा प्रस्तुत कारण इस प्रकार है। प्रथम पद में कहा गया है कि भोजन के समय बीन नहीं बजा, इसलिए रत्नसेन ने भोजन नहीं किया। दूसरे पद में भोजन न करने का कारण पूछा गया है और रत्नसेन ने नाद की महिमा कही है। तीसरे पद में रत्नसेन का समाधान किया गया है कि नाद—श्रवण से उन्माद होता। जैसे कि मद-पान से होता है। यह वार्ता अप्रासंगिक है, बाजे पहले भी बजे हैं। २७४, २७५, २७६, २७७, २८१, और २८२ छन्दों में बाजे बजे हैं। जब और सब जगहों में नाद का निषेध नहीं, और जगह उन्माद नहीं उत्पन्न हुआ तो भोजन के समय ही

ऐसा क्यों होता ? फिर प्रथम पद में रत्नसेन को मनाने के लिए 'पंडित-विद्वाना' का उल्लेख है। 'विद्वान्' शब्द का ग्रन्थ में कहीं उल्लेख नहीं मिलता। फिर यह पंडित और विद्वान् विद्वत्ता की कौन कहे मूर्खता की बातें करते हैं क्योंकि दूल्हे को मनाने के लिए कहते हैं कि "तुम्हें भूख नहीं है, नहीं तो इतने स्वादिष्ट भोजन की कौन कहे तुम तो रूखा-सूखा भी खाते, तुम इतनी चतुराई क्या छाँट रहे हो।" भाव यह कि तीनों पदों की बातें अयुक्त और अप्रासंगिक हैं, उनका प्रक्षिप्त मानना ही समीचीन है। पद इस प्रकार हैं—

जेंवन आवा बीन न बाजा। बिनु बाजन नहिं जेंवैं राजा ॥
सब कुँवरन्ह पुनि खैंचा हाथू। ठाकुर जेंव तौ जेवैं साथू ॥
विनय करहिं पंडित विद्वाना। काहे न जेंवहिं जजमाना ॥
यह कबिलास इन्द्र कर बासू। जहाँ न अन्न न माछरि माँसू ॥
पान-फूल आसी सब कोई। तुम्ह कारन यह कीन्ह रसोई ॥
भूख, तौ जनु अमृत है सूखा। धूप तौ सीअर नीबी रूखा ॥
नींद तो भुइं जनु सेज सपेती। छाटहुँ का चतुराई एती ॥
कौन काज केहि कारन, बिकल भएउ जजमान।
होइ रजायसु सोई, वेगि देहिं हम आन ॥
तुम पंडित जानहु सब भेदू। पहिले नाद भएउ तब वेदू ॥
आदि पिता जौ विधि अवतारा। नाद सँग जिउ ज्ञान सँचारा ॥
सो तुम बरजि नीक का कीन्हा। जेंवन संग भोग विधि दीन्हा ॥
नैन, रसन, नासिक, दुइ स्रवना। इन चारहु संग जेंवै अवना ॥
नासिक सबैं बासना पाई। स्रवनहिं काह करत पहुनाई ॥
तेहि कर होइ नाद सों पोखा। तब चारिहु कर होइ संतोषा ॥
औ सो सुनहिं सबद एक, जाहि परा किछु सूझि।
पंडित ! नाद सुनैं कहँ, बरजेहु तुम का बूझि ॥
राजा उतर सुनहु अब सोई। महि डोलै जो वेद न होई ॥
नाद, वेद, मद पैं जो चारी। काया महँ ते लेहु विचारी।
नाद, हिये मद उपनै काया। जहँ मद तहाँ पेड़ नहिं छाया ॥

होइ उनमद जूझा सोइ करै । जो न वेद आँकुस सिर धरै ॥
जोगी होइ नाद सो सुना । जेहि सुनि काय जरै चौगुना ॥
कया जो परम तंत मन लावा । घूम माति सुनि और न भावा ॥
गए जो धरमपंथ होइ राजा । तिनकर पुनि जो सुनै तौ छाजा ॥
जस मद पिये घूम कोइ, नाद सुनै पै घूम ।
तेहितें बरजे नीक है, चढ़े रहसि कै दूम ॥

[ २८५ ]

भै जेंवनार, फिरा खँडवानी । फिरा अरगजा कुंकुह बानी ॥
फिरे पान, बहुरा सब कोई । लाग बियाहचार सब होई ॥
माँडौ सोने क गँगन सँवारा । बंदनवार लाग सब तारा ॥
साजा पाट छत्र कै छाहाँ । रतन चौक पूरा तेहि माँहाँ ॥
कंचन कलस नीर भरि धरा । इंद्र पास आनी अपछरा ॥
गाँठि दुलह दुलहिनि कै जोरी । दुओ जगत जो जाइ न छोरी ॥
बेद भनहिं पंडित तेहि ठाऊँ । कन्या तुला रासि लै नाऊँ ॥
चाँद सुरुज दुइ निरमल, दुवौ सँजोग अनूप ।
सुरुज चाँद सौं भूला, चाँद सुरुज के रूप ॥ २८५ ॥

शब्दार्थ—खँडवानी = शरबत । कुंकुह = कुंकुम । बानी = रंगवाला-पाठान्तर-पानी । बहुरा = लौटे । बियाहचार = विवाह कार्य । माँडौ = विवाह मंडप । तारा = तारागण-पाठान्तर-बारा = द्वार ।

अर्थ—भोजन के उपरान्त शर्बत चला जिसमें अर्गजा और कुंकुम आदि के सुगन्धित चूर्ण पड़े थे । सब को पान दिये गये । सभी लोग जनवासे को लौट गये । तब विवाह कार्य होने लगे । विवाह मंडप में सुनहली चाँदनी तनी हुई थी जिसमें प्रत्येक दरवाजे पर बन्दनवार लगी हुई थी । उसके भीतर सिंहासन और छत्र सजे थे और रत्नों की चौक पूरी हुई थी । सोने का कलश जल से भर कर रखा गया था । इन्द्र रूपी रत्नसेन के पास अप्सरा रूपी पद्मावती लायी गयी । दूल्हे और दुलहिन की गाँठ जोड़ी गयी, यह गाँठ ऐसी जुड़ी कि दोनों लोकों में छूट नहीं सकती । पंडित वहीं पर वेद-पाठ कर रहे थे और उसी के बीच तुला राशि की कन्या का नाम

भी लेते जाते थे। चाँद-सूर्य के सदृश पद्मावती और रत्नसेन दोनों ही बड़े निर्मल थे, दोनों का संयोग अनुपम हुआ। दोनों के प्रेम वहीं पर इस स्थिति में पहुँच गये कि पद्मावती रत्नसेन के रूप में भूल गयी और रत्नसेन पद्मावती के रूप में।

[ २८६ ]

दुहूँ नाउँ होइ गोत उचारा। करहिं पदुमिनी मंगलचारा॥
चाँद के हाथ दीन्हि जैमाला। चाँद आनि सूरुज गियँ घाला॥
सूरुज लीन्हि, चाँद पहिराई। हार नखत तरइन्ह सिउँ पाई॥
पुनि धनि भरि अंजुलि जल लीन्हा। जोबन जरम कंत कहँ दीन्हा॥
कंत लीन्ह दीन्हा धनि हाथाँ। जोरी गाँठि दुहूँ एक साथाँ॥
चाँद सुरुज दुहुँ भाँवरि लेहीं। नखत मांति नेवछावरि देहीं॥
फिरहिं दुवौ मत फेर को टेकै। सातौ फेर गाँठि सो एकै॥
भै भाँवरि, नेवछावरि, राजचार सब कीन्ह।
दाइज कहौं कहाँ लगि, लिखि न जाइ तत दीन्ह॥ २८६॥

शब्दार्थ—गियँ = गले में। घाला = डाला। सिंउ = संग। धनि = दुलहिन। जरम = जीवन भर। दाइज = दहेज।

अर्थ--वर और वधू दोनों के गोत्रों का उच्चारण होता है। घर में पद्मिनी नारियाँ मंगलाचार करती हैं। चन्द्र रूपी पद्मावती के हाथ में जयमाला दी गयी। उसने उसे लाकर सूर्य रूपी रत्नसेन के गले में डाल दिया। रत्नसेन ने पद्मावती की पहनाई हुई माला धारण की। हार के रत्न ऐसे लग रहे थे मानो तारागणों के साथ वे शोभित हो रहे थे। तब पद्मावती ने अंजली को जल से भर लिया और अपना यौवन और जीवन अपने पति को समर्पित कर दिया। पति ने भी वधू का हाथ लिया और अपना हाथ उसे दिया और दोनों ने एक ही साथ ही मुट्ठी बन्द कर दी। इसके बाद पद्मावती और रत्नसेन भाँवरें लेने लगे। नक्षत्र रूपी सखियाँ न्योछावर में मोती लुटाने लगीं। दोनों ने सात भावरें लीं, सात भाँवरें वे फिरे, पर दोनों एक ही गाँठ में बँधे घूमते रहे। भाँवरें हुईं, न्योछावर हुई और राजा ने सभी

कार्य सम्पन्न किये। दहेज को मैं कहाँ तक कहूँ, इतना राजा गन्धर्वसेन ने दिया कि उसको लिखा नहीं जा सकता।

[ २८७ ]

रतनसेनि जौं दाइज पावा। गंध्रपसेनि आइ कँठ लावा॥
मानुस चित आन कछु निंता। करै गोसाइँ न मन महँ चिंता॥
अब तुम्ह सिंघलदीप गोसाईं। हम सेवक आहहिं सेवकाईं॥
जस तुम्हार चितउर गढ़ देसू। तस तुम्ह इहाँ हमार नरेसू॥
जंबूदीप दूरि का काजू। सिंघलदीप करहु नित राजू॥
रतनसेनि बिनवा कर जोरी। अस्तुति जोग जीभि नहिं मोरी॥
तुम्ह गोसाइँ जेइँ छार छड़ाई। कै मानुस असि दीन्हि बड़ाई॥
जौ तुम्ह दीन्ह तौ पावा, जियन जरम सुख भोग।
नाहिं तौ खेह पाय की हौं, न जानौं केहि जोग॥ २८७॥

शब्दार्थ- कंठ लावा = कहा-पाठान्तर-सिर नावा। चिन्त = चिन्ता करता है। निंता = नित्य। गोसाईं = स्वामी। छार = मिट्टी, राख।

अर्थ—जब रत्नसेन ने दहेज प्राप्त कर लिये तो गन्धर्वसेन ने आकर विनयपूर्वक कहा कि मनुष्य नित्य कुछ न कुछ चिन्ता किया करता है, पर स्वामी को तो मन में कोई चिन्ता नहीं होती। अब तुम सिंहलद्वीप के राजा हो गये, हम तो आपके सेवक हैं, सेवा करेंगे। जिस प्रकार से चित्तौड़गढ़ तुम्हारा देश है, उसी प्रकार तुम यहाँ पर हमारे भी राजा हो गये। अब दूर देश वाले जम्बू द्वीप ( भारत ) जाने से क्या काम, सिंहलद्वीप में ही राज्य करो। यह बात सुन कर रत्नसेन ने हाथ जोड़ कर विनय की कि हे राजा, आपकी स्तुति करने योग्य मेरी जिह्वा नहीं है। हे स्वामी ! तुम्हीं ने मेरी राख छुड़ाई अर्थात् मुझे जोगी से गृहस्थ बनाया, मनुष्य बना कर ऐसा बड़प्पन दिया। जब तुमने दिया तभी तो हमने जीवन का सुख-भोग पाया, नहीं तो मैं पैर की धूल ही था, पता नहीं मैं किस योग्य सिद्ध होता।

[ २८८ ]

धौराहर पर दीन्हेउ बासू। सत खंड जहँवा कबिलासू॥
सखी सहस दुइ सेवाँ आईं। जनहुँ चाँद सँग नखत तराईं॥

होइ मंडर ससि की चहुँ पासाँ। ससि सूरहि लै चढ़ी अकासाँ॥
मिलीं जाइ ससि की चहुँ पाहाँ। सूर न चाँपै पावै छाँहाँ॥
चलहि सूर दिन अथवै जहाँ। ससि निरमल तैं पावसि तहाँ॥
गंध्रपसेनि धौराहर कीन्हा। दीन्ह न राजहि जोगिहि दीन्हा॥
अब जोगी गुर पाए सोई। उतरा जोग, भसम गा धोई॥

सात खंड धौराहर, सातहुँ रँग नग लागु।
देखत गा कबिलासहि, दिस्टि पाप सब भागु॥ २८३॥

शब्दार्थ—मंडर = मंडल। अथवै = अस्त हो। चाँपै = दबाना।

अर्थ—राजा ने रत्नसेन को धौरहरे पर निवास दिया। वह स्वर्ग सदृश था, उसमें सात खंड थे। दो हज़ार सखियाँ सेवा में थीं, वे ऐसी थीं जैसे चन्द्रमा के साथ नक्षत्र और तारागण हों। मंडलाकार होकर वे सब शशी रूपी पद्मावती के चारों ओर रहती थीं, वे सब सूर्य और चन्द्र ( रत्नसेन-पद्मावती ) को लेकर आकाश के समान ऊँचे धौरहरे पर चढ़ गयीं। वे सब पद्मावती के चारों ओर लगी हुई थीं। पद्मावती की रूप-ज्योति ऐसी थी कि सूर्य रूपी रत्नसेन उसे दबा न सकता था। सखियों ने कहा कि हे सूर्य (रत्नसेन) चलो जहाँ दिन अस्त हो जायगा, वहीं निर्मल शशी को तू पावेगा। अर्थात् जहाँ तुम्हारा प्रकाश मंद पड़ेगा, वहीं तू पद्मावती को पायेगा। राजा गन्धर्व-सेन ने धौराहर बनवाया और उसे राजा को न देकर तुम जैसे जोगी को दे दिया। अब जोगी ने उस गुरु (पद्मावती) को पाया है कि उसका जोगा-भ्यास समाप्त हो गया और उसकी राख धो उठी। इस धौराहर में सात खंड हैं और सातों खंडों में रत्न जड़े हैं, उसे देखते ही दृष्टि के सारे पाप भाग कर स्वर्ग चले जाते हैं।

[ २८४ ]

सात खंड सातौ कबिलासा। का बरनौं जस उत्तिम बासा॥
हीरा ईंटि कपूर गिलावा। मलयागिरि चंदन सब लावा॥
बिसुकर्मैं सैं हाथ सँवारी। सात खंड सातौ चौपारी॥
चूना कीन्ह अवटि गज मोंती। मोंतिहु चाहि अधिक सो जोती॥

अति निरभर नहिं जाइ बिसेखा । जस दरपन महँ दरसन देखा ॥
भुँइ गच जानहु समुँद हिलोरा । कनक खंभ जनु रचेउ हिंडोरा ॥
रतन पदारथ होइ उजियारा । भूले दीपक औ मसियारा ॥

तहँ आछरि पदुमावति, रतनसेनि के पास ।
सातौ सरग हाथ जनु आए, औ सातो कबिलास ॥ २८९ ॥

शब्दार्थ—बासा = सुगन्ध । गिलावा = गारा । अवटि = गला कर । चाहि = अधिक । निरमर = निर्मल । गच = फर्श । मसियारा = मशाल ।

अर्थ— उस धौराहर ( महल ) के सात खंड सात स्वर्गों के सदृश थे । उसकी सुगन्ध का क्या वर्णन करूँ । हीरे की उसमें ईंटें लगी थीं और कपूर का गारा दिया गया था । मलयगिरि चन्दन उसमें लगाये गये थे । विश्वकर्मा ने स्वयं अपने हाथ उसे सँवारा था । उसके सात खंड थे और साथ चौपालें थीं । गज मुक्ताओं को गला कर चूना तैयार किया गया था, और उस चूने में मोती से भी अधिक सफेदी थी । ऐसा स्वच्छ भवन था कि उसका अनुमान भी नहीं लगाया जा सकता । जैसे दर्पण में स्वरूप दिखाई पड़ता है, इसी प्रकार उसकी दीवारों में प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता था । भूमि पर फर्श ऐसा सुन्दर चित्रित था मानो समुद्र की लहरें हों । सोने के खम्भे थे, मानो हिंडोले पड़े हों । रत्न और मणियों का ऐसा प्रकाश था कि दीपक और मशालें गायब हो गयी थीं । वहाँ पर रत्नसेन के पास अप्सरा सी पद्मावती थी, मानो उसके हाथ सातों स्वर्ग तथा उसके सभी ऐश्वर्य थे ।

[ २९० ]

पुनि तहँ रतनसेनि पगु धारा । जहँ नव रतन सेज सोवनारा ॥
पुतरीं गाढ़ि गाढ़ि खंभन्ह काढ़ी । जनु सजीव सेवाँ सब ठाढ़ी ॥
काहू हाथ चंदन कै खोरी । कोइ सेंदुर की गहे सिंधोरी ॥
कोइ केसरि कुंकुहँ लै रही । लावै अँग रहसि जनु चही ॥
कोई गहें कुंकुमा चोवा । दरसन आस ठाढ़ि मुख जोवा ॥
कोइ बीरा, कोइ लीन्हे बीरी । कोइ परिमल अति सुगँध समीरी ॥
काहू हाथ कस्तुरी मेदू । भाँतिन्ह भाँति लाग तस भेदू ॥

पाँतिन्ह पाँति चहूँ दिसि पूरी, सब सोंधे कर हाट।
माँझ रचा इन्द्रासन, पदुमावति कहँ पाट ।। २६० ।।

शब्दार्थ—सोवनारा = सोने के लिए। पुतरी = काठ की मूर्तियाँ। खोरी= कटोरी। सिंधोरी = सिन्दूरदानी। कुंकुह = कुमुकुम। चोवा = लेप। परिमल = इत्र। समीरी = हवा। मेदू = मुश्क। सोधें = सुगन्ध।

अर्थ—फिर रत्नसेन ने वहाँ प्रवेश किया जहाँ पर नवरत्नों की बनी ही सोने के लिए शय्या थी। पलंग के खम्भों में ऐसी पुतरियाँ कढ़ी हुई थीं मानो वे सजीव दासियाँ हैं और सेवा में खड़ी थीं। किसी के हाथ में चन्दन की कटोरी थी और किसी के हाथ में सिंदूरदानी हैं। कोई केसर और कुंकम लिये थी, मानो अंग में लगाना ही चाहती है। कोई कुंकुम का लेप लिये थी और दर्शन की आशा में मुख देखती खड़ी थी। कोई पान का बीड़ा और कोई दाँत रंगने का मंजन लिए खड़ी थी, कोई अत्यन्त सुगन्धित इत्र लिये थी। किसी के हाथ मुश्क कस्तूरी थी। इस प्रकार वे अनेक भाँति की बनी हुई थीं। चारों ओर पंक्ति-पंक्ति में जैसे सुगन्धियों का बाज़ार लगा हो, उसके बीच पद्मावती का इन्द्रासन सरीखा सिंहासन था।

———

# २७. पदमावती-रत्नसेन-भेंट-खण्ड

[ २६१ ]

सात खण्ड ऊपर कबिलासू। तहँ सोवनारि सेज सुखबासू॥
चारि खंभ चारिहुँ दिसि धरे। हीरा रतन पदारथ जरे॥
मानिक दिया बरै औ मोंती। होइ अँजोर रैनि तेहि जोती॥
ऊपर रात चँदोवा छावा। औ भुइँ सुरँग बिछाउ बिछावा॥
तेहि महँ पलँग सेज सो डासी। का कहँ असि रची सुखबासी॥
दुहुँ दिसि गेडुआ औ गलसुई। काँचे पाट भरी धुनि रूई॥
फूलन्ह भरी असि केहि जोगू। को तेहि पौंढ़ि मान सुख भोगू॥

अति सुकुमारी सेज सो साजी, छुवै न पावै कोइ।
देखत नवै खिनुहि खिन, पाँव धरत कस होइ॥ २६१॥

शब्दार्थ—सोवनारि = सोने के लिए-पाठान्तर-नारि-सेज। चँदोवा = चाँदनी। सुरँग = रंगीन। गेडुआ = तकिया। गलसुई = गाल के नीचे रखने वाला छोटा तकिया। काँचे पाट = गोटा पट्टा।

अर्थ—सात खंड ऊपर स्वर्ग सदृश महल है वहाँ सुखद सोने वाली शय्या थी। उसके चारों ओर चार खम्भे थे, जिनमें हीरे, रत्न और मणियाँ जड़ी थीं। माणिक्य और मोती के दीपक जल रहे थे, जिनकी ज्योति से प्रकाश हो रहा था। उसके ऊपर लाल रंग का चँदोवा लगा था और भूमि में सुन्दर रंगीन बिछौने बिछे थे। उसी में पलंग बिछा हुआ था। जायसी कहते हैं कि किसके लिए ऐसी सुखद पलंग रची गयी है? दोनों ओर तकिये और गलसुइयाँ लगी थीं, उनमें रेशमी गोटे पट्टे लगे थे और धुनी हुई रुई भरी थी। फूलों से भरी हुई ऐसी सेज किसके योग्य होगी जो इस पर सो कर सुख भोग करेगा। यह सेज अत्यन्त कोमल थी, इसको कोई छूने नहीं पाता था, उसमें कोमलता इतनी थी कि देखने मात्र पर वह क्षण-क्षण झुक

जाती थी तो फिर उस पर पाँव रखने पर उसकी क्या दशा होगी ?

अलङ्कार—अतिशयोक्ति ।

[ २९२ ]

सूरुज तपत सेज सो पाई। गाँठि छोरि सखि सखी छपाई॥
अहै कुँवर हमरे अस चारू। आज कुँवरि कर करब सिंगारू॥
हरदि उतारि चढ़ाएब रंगू। तब निसि चाँद सुरुज सौं संगू॥
जनु चात्रिक मुख हुति गौ स्वाती। राजहिं चकचौहट तेहि भाँती॥
जोगि छरा जनु अछरिन्ह साथा। जोग हाथ हुति भएउ बेहाथा॥
वै चतुरा गुरु लै उपसईं। मंत्र अमोल छीनि लै गईं॥
बैठेउ खोइ जरी औ बूटी। लाभ न आव, मूर भौ टूटी॥
खाइ रहा ठग लाडू, तंत मंत बुधि खोइ।
भा धौराहर बनखँड, ना हँसि आव न रोइ॥ २९२॥

शब्दार्थ- चारू=चाल । चात्रिक=चातक । हुति गौ=से गया। चकचौहट=बैचेन हो कर चारों ओर देखना। छरा=छला । अछरिन्ह= अप्सराओं। हुति=से। उपसईं=दूर गईं। ठग लाडू=ठग लोग जिस विष से भरे हुए लड्डू को खिला कर पथिकों को बेहोश करते और उनका धन लूटते थे।

अर्थ—सूर्य रूपी राजा रत्नसेन ने तपस्या करके वह शय्या प्राप्त की। पर सखियों ने वर-वधू की गांठ छोड़ कर पद्मावती को छिपा दिया और कहा कि हे राजकुमार! हमारे यहां एक चाल है, जिसके अनुसार हम आज राज-कुमारी का शृंगार करेंगे। विवाह के अवसर पर लगी हुई हल्दी को उसके शरीर पर से उतार कर उस पर नया रंग चढ़ायेंगे। तब रात्रि में राजा-रानी का साथ होगा। यह बात सुनकर राजा की ऐसी दशा हुई जैसे चातक के मुख से स्वाति नक्षत्र की पानी की बूँद निकल गयी हो, वह बेचैन होकर चारों ओर देखने लगा। जोगी जैसे अप्सराओं के द्वारा छल लिया गया हो और उसके हाथ से जोग निकल गया हो। वे चतुर सखियाँ गुरु (पद्मावती) को लेकर दूर चली गयीं और रत्नसेन के हाथ से अमूल्य मन्त्र छीन ले गयीं। जड़ी-बूटी खो कर वह बैठ गया, लाभ तो मिला नहीं, मूलधन भी जाता

रहा। जिस प्रकार ठगों के लड्डू खाकर पथिक बेहोश हो जाते हैं उसी प्रकार रत्नसेन भी अपने तंत्र-मंत्र को खोकर रह गया। उसके लिए धौराहर जंगल हो गया। न उससे हँसा जाता था और न रोया।

[ २६३ ]

अस तप करत गएउ दिन भारी। चारि पहर बीते जुग चारी॥
परी साँझ, पुनि सखी सो आईं। चाँद सो रहै न उईं तराईं॥
पूछेन्हि गुरू कहाँ रे चेला। बिनु ससियर कस सूर अकेला॥
धातु कमाइ सिखे तैं जोगी। अब कस जस निरधातु बियोगी॥
कहाँ सो खोए बीरौ लोना। जेहि तें होइ रूप औ सोना॥
कस हरतार पार नहिं पावा। गंधक कहाँ कुरकुटा खावा॥
कहाँ छपाए चाँद हमारा। जेहि बिनु जगत रैनि अँधिआरा॥

नैन कौड़िया हिय समुँद, गुरू सो तेहि महँ जोति।
मन मरजिया न होइ परै, हाथ न आवै मोंति॥ २६३॥

शब्दार्थ— उईं = उदय हुईं। ससियर = चन्द्रमा। निरधातु = धातु-रहित, निस्सार। बीरौ = बिरवा-पौदा। लोना = एक अमलोनी नामक घास जिसे रसायनी धातु सिद्ध करने में प्रयोग करते हैं। हरतार = एक जड़ी। कुरकुटा = दूषित अन्न। कौड़िया = कौड़िल्ला पक्षी जो मछली पकड़ने के लिए समुद्र पर मँडराता है। मरजिया = गोताखोर।

अर्थ—इस प्रकार तपस्या करते हुए बड़ा दिन व्यतीत हो गया। राजा को दिन के चार पहर ऐसे व्यतीत हुए जैसे चार युग बीते हों। सायंकाल होने पर फिर वही सखियाँ आईं। चन्द्रमा तो उदय न हुआ, तारागण ही निकले, अर्थात् पद्मावती तो आयी नहीं, सखियाँ ही आईं। सखियों ने रत्नसेन से कहा कि हे चेला! तेरा गुरु (पद्मावती) कहाँ है, बिना चन्द्र के अकेला सूर्य कैसे है? हे जोगी! तुमने तो धातु सिद्ध करना सीखा है, अब वियोगी बन कर निस्सार कैसे बन रहे हो। तुमने वह अमलोनी बिरवा कहाँ खो दिया, जिससे रूपा और सोना बन सकता था। क्या तुझे हरताल नामक जड़ी नहीं मिली जो तू गन्धक और कुरकुटे का सेवन कर रहा है। भाव यह कि

पद्मावती के अभाव में तू दुःख पा रहा है। तुमने हमारे चाँद (पद्मावती) को कहाँ छिपा दिया, जिसके बिना संसार में रात की अँधेरी छा गयी है। नेत्र कोड़िल्ला पक्षी है, हृदय समुद्र है, गुरु पद्मावती उसमें प्रकाश है। जब तक मन गोताखोर होकर उसमेंनहीं पड़ेगा, उसे मोती कैसे प्राप्त हो सकता है? भाव यह कि पद्मावती को प्राप्त करने के लिए पुनः मरजीवे की भान्ति जीवन को खतरे में डालना पड़ेगा, तभी वह प्राप्त हो सकेगी।

नोट—इस पद के बाद भी एक पद शुक्ल संपादित ग्रन्थावली में है जिसे डा० माताप्रसाद गुप्त प्रक्षिप्त बताते हैं—यह पद इस प्रकार है—

का पूछहु तुम धातु निछोही। जो गुरु कीन्ह अँतर पट ओही ॥
सिधि गुटिका अब मो संग कहा। भएउ राँग, सत हिए न रहा ॥
सो न रूप जासों मुख खोलौं। गएउ भरोस तहाँ का बोलौं?
जहाँ लोना बिरवा कै जाती। कहि कै सँदेस आन को पाती?
कै जो पार हरतार करीजै। गंधक देखि अबहिं जिउ दीजै ॥
तुम्ह जोरा कै सूर मयंकू। पुनि बिछोहि सो लीन्ह कलंकू ॥
जो एहि घरी मिलावै मोहीं। सीस देउँ बलिहारी ओही ॥
होइ अबरक इंगुर भया, फेरि अगिनि महँ दीन्ह ॥
काया पीतर होइ कनक, जो तुम चाहहु कीन्ह ॥

भाव यह कि रत्नसेन कहता है कि अब मुझ में पूर्व तेज नहीं रह गया है। रासायनिक क्रियायें और सामग्रियाँ भी नहीं हैं। तुमने मिलन के बाद बिछोह करा कर कलङ्क लिया है। अतः अब यदि पुनः पीतल को सोना करना चाहती हो, मिलन करा दो, मैं अपने सिर को भी निछावर कर सकता हूं।

अगले २९४वें पद में इस पद की अधिकांश बातें आ गयी हैं। इसीलिए इसे प्रक्षिप्त माना गया है।

[ २९४ ]

का बसाइ जौं गुरु अस बूझा। चकाबूह अभिमनु जो जूझा ॥
बिख जो देहि अंब्रित देखराई। तेहि रे निछोहिहिं को पति आई ॥
मरै सो जान होइ तन सूना। पीर न जानै पीर बिहूना ॥

पार न पाव जो गन्धक पिया। सो हरतार कहौ किमि जिया॥
सिद्धि गोटिका जापहँ नाहीं। कौनु धातु पूँछहू तेहि पाहीं॥
अब तेहि बाजु राँग भा डोलौं। होइ सार तब बर के बोलौं॥
अभरक कै तन एँगुर कीन्हा। सो तुम्ह फेरि अगिनि महँ दीन्हा॥
मिलि जौ पिरीतम बिछुरै, काया अगिनि जराइ।
कै मौ मिलै तन तपति बुझै, कै मोह मुएँ बुझाइ॥ २९६॥

शब्दार्थ—पतिआई = विश्वास करना। बाजु = बिना। राँग = राँगा नामक निकृष्ट धातु। एँगुर = लाल।

अर्थ—रत्नसेन ने कहा कि यदि पद्मावती ऐसा कहती है, तो इसमें मेरा क्या वश है, मैं अभिमन्यु की भान्ति चक्रव्यूह में मर जाऊँगा। (२९३वें पद के दोहे की ओर संकेत इसमें है, जिसमें कहा गया था कि पुनः मरजीवे की भान्ति प्रयत्न करना होगा)। जिसने अमृत दिखला कर विष दिखलाया, उस निष्ठुर का कौन विश्वास करेगा? जो मरता है और जिसका शरीर शून्य हो जाता है, वही मरण के कष्ट को जान सकता है, जिसमें पीड़ा है ही नहीं, वह दूसरे की पीड़ा क्या जाने? जिसने गंधक और हरताल का सेवन किया है, वह भला कैसे जी सकता है? अब मेरे पास सिद्धि गुटिका तो है नहीं तो फिर मुझसे किस धातु की बात करती हो। अब उस सिद्धि गुटिका (पद्मावती) के बिना राँगे के समान निस्सार हो रहा हूँ। जब तत्व हो तभी तो बोलूँ। मैंने अभ्रक के सदृश शरीर को तपाकर लाल कर दिया था, अब तुम उसे पुनः तपस्या की अग्नि में डाल रही हो। मिल करके जब प्रियतमा से वियोग हो गया तो अपने शरीर को जला कर या तो उससे मिल कर अपने शरीर की जलन को बुझाऊँगा या मर कर ही शान्ति पाऊँगा।

[ २९५ ]

सुनि कै बात सखीं सब हँसीं। जनहुँ रैनि तरईं परगसीं॥
अब सो चाँद गँगन महँ छपा। लालि किहें कत पावसि तपा॥
हमहुँ न जानहिं दहुँ सो कहाँ। करब खोज औ बिनउब तहाँ॥
औ अस कहब आहि परदेसी। करु माया, हत्या जनि लेसी॥
पीर तुम्हार सुनत भा छोहू। दैय मनाव, होउ अब ओहू॥

तूँ जोगी तप करु मन जथा। जोगिहि कवनि राज कै कथा॥
वह रानी जहवाँ सुख राजू। बारह अभरन करै सो साजू॥
जोगी दिढ़ आसन करु, अस्थिर धरु मन ठाउँ।
जौं न सुनै तौ अब सुनु, बारह अभरन नाउँ॥ २९५॥

शब्दार्थ—लालि = लाली। तपा = तपस्वी। दहुँ = पता नहीं। विनउब = विनय करूँगी। लेम्वी = लो। अभरन = आभरण, गहने।

अर्थ—राजा की बातें सुन कर सखियाँ हँसने लगीं। उनके दांत ऐसे लगे, मानो रात में तारागण चमक उठे हों। उन्होंने कहा कि अब तो चन्द्रमा आकाश में छिप गया है, हे तपस्वी! तप करके लाल होने से उसे न पा सकोगे। हम भी नहीं जानतीं कि वह कहाँ है, हम उसकी खोज करेंगे और मिलने पर विनय करेंगे कि वह बेचारा परदेशी है, दया करो, हत्या न लो। तुम्हारा दुःख देख कर हमें बड़ी दया आती है। ईश्वर से मनावो कि उसे भी इसी प्रकार दया लगे। तू तो जोगी है, तपस्या करने में लग जाता है, जोगी को राज्य भोग की कथा से क्या? उसी प्रकार वह रानी है, सुख-भोग में रत रहने वाली है, वह बारहों आभरणों से अपने को सजा रही है। हे जोगी! दृढ़ चित्त होकर अब उन बारह आभरणों का नाम सुनो जिसे तुमने शायद कभी न सुना हो।

अग्रिम पदों में बारह आभरण और सोलह शृङ्गारों का वर्णन जायसी ने किया है। इस वर्णन में उन्हें कुछ भ्रम हो गया। आभरण वास्तव में गहने को कहते हैं। बारह आभरण हैं—नूपुर, किंकिणी, वलय, अँगूठी, कंकण, अंगद, हार, कंठश्री, बेसर, खूँट, टीका और शीशफूल। पर जायसी ने आभरण को शृङ्गार समझ लिया, इसीलिए आभरणों और शृङ्गारों का बेमेल वर्णन किया है। वास्तव में हिन्दू परम्पराओं का उनका ज्ञान सुना-सुनाया तो था ही।

[ २९६ ]

प्रथमहि मंजन होइ सरीरू। पुनि पहिरै तन चंदन चीरू॥
साजि माँग पुनि सेंदुर सारा। पुनि लिलाट रचि तिलक सँवारा॥
पुनि अञ्जन दुहुँ नैन करेई। पुनि कानन्ह कुण्डल पहिरेई॥
पुनि नासिक भल फूल अमोला। पुनि राता मुख खाइ तँमोला॥

गियँ अभरन पहिरैं जहँ ताईं। औ पहिरैं कर कँगन कलाईं॥
कटि छुद्रावलि अभरन पूरा। औ पायल पायन्ह भल चूरा॥
बारह अभरन एइ बखाने। ते पहिरैं बरहौ असथाने॥

पुनि सोरह सिंगार जस, चारिहुं जोग कुलीन।
दीर चारि चारि लघु, चारि सुभर चहुँ खीन॥ २६६॥

शब्दार्थ मंजन = स्नान। चीरू = साड़ी। सारा = लगाया। राता = लाल। गियँ = गला। ताईं = तक। चूरा = कड़ा। कुलीन = उत्तम। सुभर = शुभ्र, सुन्दर। खीन = पतले।

अर्थ—सखियाँ बारह आभरणों का वर्णन करती हैं—

पहले तो स्नान किया जाता है, फिर शरीर में चन्दन की भान्ति सुगन्धित साड़ी पहनी जाती है। फिर माँग को सजा कर उसमें सिन्दूर लगाया जाता है। फिर ललाट में टीका लगाया जाता है। उसके बाद दोनों आँखों में अंजन डाले जाते हैं, फिर कानों में लौंग आदि फल-फूल पहने जाते हैं। इसके पश्चात् पान खाकर मुख को लाल किया जाता है। गले में हार आदि आभूषण डाले जाते हैं, हाथ और कलाई में कंगन आदि पहने जाते हैं। कमर में किंकिणी पहनी जाती है और पैरों में पायल और कड़े पहने जाते हैं। फिर सोलह श्रृङ्गार किये जाते हैं, जो चार-चार के सुन्दर विभागों में बंटे हैं। इनमें चार बड़े, चार छोटे, चार शुभ्र और चार पतले हैं।

नोट—सोलह श्रृङ्गार का वर्गीकरण भी भ्रमपूर्ण है। वास्तव में वर्गीकरण आभरणों का था। आभरणों के ४ भेद थे—१. आवेध्य (छेद कर पहने जाने वाले जैसे बेसर और कर्णफूल), २. बंधनीय (बाँधने वाले जैसे वलय, अंगद), ३. क्षेप्य (जैसे कड़े और अँगूठी), ४. आरोप्य (जैसे हार)।

[ २६७ ]

पदुमावति जो सँवरै लीन्ही। पूनिव राति दैयँ असि कीन्ही॥
कै मंजन तब किएहु अन्हानू। पहिरे चीर, गएउ छपि भानू॥
रचि पत्रावलि माँग सेंदुरा। भरि मोतिन्ह औ मानिक पूरा॥
चंदन चित्र भए बहु भाँती। मेघ घटा जानहुँ बग पाँती॥

सिरै जो रतन माँग बैसारा। जानहुँ गँगन टूट लै तारा॥
तिलक लिलाट धरा तस डीठा। जनहुँ दुइज पर नखत बईठा॥
मनि कुंडल खुँटिला औ खूँटी। जानहुँ परी कचपची टूटी॥
पहिरि जराऊ ठाढ़ि भौ, बरनि न आवै भाउ।
माँग क दरपन गँगन भा, तौ ससि तार देखाउ॥ २६७॥

शब्दार्थ—सँवरै लीन्हीं = शृंगार किया। दैयँ = ईश्वर। मंजन = दंत-मंजन। अन्हानू = स्नान। पत्रावलि = पत्रभंग, रचना, पत्ते के समान सिर के बाल और माँग सँवारना। तिलक = टीका, बिन्दी। कचपची = छः, सात छोटे तारों का समूह जिसे कृत्तिका नक्षत्र कहते हैं।

अर्थ—जब पद्मावती ने शृंगार किया तो ऐसी सुन्दर दिखाई पड़ी जैसे पूर्णमासी की रात्रि में चन्द्रमा। मंजन करके उसने स्नान किया, तब उसने साड़ी पहनी, उसके रूप के प्रकाश के आगे सूर्य भी छिप गया। उसने बालों में कंघी की और बालों को सीधा कर उसमें माँग सँवारी, फिर माँग में सिन्दूर लगाया। माँग को मोती और माणिक्य से पूर दिया। चन्दन मिश्रित वस्त्र पहिने मानों बादलों की घटा में बगुलों की पंक्ति शोभित है। सिर में जो उसने रत्नों की माँग बैठाई ऐसा प्रतीत होता था मानों आकाश से तारा टूट रहा हो। उसके माथे पर टीका, बिन्दी ऐसी लगती थी मानों दूज के चाँद पर तारा बैठा हो। मणि के कुण्डल और खूँट नामक माँग के गहने ऐसे लगते थे जैसे कृत्तिका नक्षत्र टूट पड़ा हो। जब वह जड़ाऊ गहनों को पहन कर खड़ी हो गयी तो उसकी सुन्दरता का वर्णन नहीं किया जा सकता। आकाश उसकी माँग का दर्पण (प्रतिबिम्ब) प्रतीत हो रहा था और चन्द्रमा उसके प्रकाश के सामने तारा के समान मालूम हो रहा था।

[ २६८ ]

बाँक नैन औ अंजन रेखा। खंजन जनहुँ सरद रितु देखा॥
जब जब हेरु, फेरु चखु मोरी। लुरै सरद महँ खंजन जोरी॥
भौहैं धनुक धनुक पै हारे। नैनन्ह साँधि बान जनु मारे॥
कनक फूल नासिक अति सोभा। ससि मुख आइ सूक जनु लोभा॥

सुरँग अधर औ लीन्ह तँबोरा। सोहै पान फूल कर जोरा॥
कुसुम गेंद, अस सुरँग कपोला। तेहि पर अलक भुअंगनि डोला॥
तिल कपोल अलि पदुम बईठा। बेधा सोइ जो वह तिल डीठा॥

देखि सिंगार अनूप विधि, बिरह चला तब भागि।
कालकूट एइ ओनए, सब मोरें जिय लागि॥ २६८॥

शब्दार्थ—हेरु = देखना। चखु = आँखें। लुरैं = झुके। धनुक = धनुष। साँधि = संधान कर। तंबोरा = ताम्बूल, पान। कालकूट = विष। ओनए = झुके हुए।

अर्थ—कवि पद्मावती के वदन-सौंदर्य का वर्णन कर रहा है—

उसकी तिरछी आँखों में काजल की रेखा ऐसी सुशोभित थी मानों शरद ऋतु में खंजन पक्षी दिखाई पड़ रहे हों। जब-जब वह अपनी आँखों को मोड़-मोड़ कर देखती है, ऐसा प्रतीत होता है मानों शरद ऋतु में दो खंजनों के जोड़े इधर उधर उड़ रहे हैं। उसकी धनुषाकार भौंहों से धनुष हार गये। ऐसा लगता है जैसे वह आँखों से चला-चला कर बाण मार रही है। नासिका पर सोने की लौंग सुशोभित है मानो शशि-मुख पर शुक कुन्द हो कर आया हुआ है। सुन्दर लाल होंठ हैं और उन पर उसने पान खा रक्खा है मानों पान और फूल ( पान और अधर ) का जोड़ा शोभित है। फूलों की गेंद के समान उसके सुन्दर कपोल हैं, जिस पर बाल रूपी सर्पिणी डोल रही है। कपोल पर एक तिल है मानों कमल पर भौंरा बैठा है। जो कोई उस तिल को देख लेता है वही छिद जाता है।

उसके अनुपम शृंगार को देखकर विरह भाग चला। उसने सोचा मेरे ही लिए ये सब विष झुके हुए हैं।

[ २६९ ]

का बरनौं अभरन उर हारा। ससि पहिरें नखतन्ह कै मारा॥
चीर चारु औ चंदन चोला। हीर हार नग लाग अमोला॥
तिन्ह झाँपी रोमावलि कारी। नागिनि रूप डसै हत्यारी॥
कुच कंचुकी सिरीफल उभै। हुलसहिं चहहिं कंत हिय चुभै॥

सिरै जो रतन माँग बैसारा। जानहुँ गँगन टूट लै तारा॥
तिलक लिलाट धरा तस डीठा। जनहुँ दुइज पर नखत बईठा॥
मनि कुंडल खुँटिला औ खूँटी। जानहुँ परी कचपची टूटी॥
पहिरि जराऊ ठाढ़ि भौ, बरनि न आवै भाउ।
माँग क दरपन गँगन भा, तौ ससि तार देखाउ॥ २९७॥

शब्दार्थ—सँवरै लीन्हीं = शृंगार किया। दैयँ = ईश्वर। मंजन = दंत-मंजन। अन्हानू = स्नान। पत्रावलि = पत्रभंग, रचना, पत्ते के समान सिर के बाल और माँग सँवारना। तिलक = टीका, बिन्दी। कचपची = छः, सात छोटे तारों का समूह जिसे कृत्तिका नक्षत्र कहते हैं।

अर्थ—जब पद्मावती ने शृंगार किया तो ऐसी सुन्दर दिखाई पड़ी जैसे पूर्णमासी की रात्रि में चन्द्रमा। मंजन करके उसने स्नान किया, तब उसने साड़ी पहनी, उसके रूप के प्रकाश के आगे सूर्य भी छिप गया। उसने बालों में कंघी की और बालों को सीधा कर उसमें माँग सँवारी, फिर माँग में सिन्दूर लगाया। माँग को मोती और माणिक्य से पूर दिया। चन्दन मिश्रित वस्त्र पहिने मानों बादलों की घटा में बगुलों की पंक्ति शोभित है। सिर में जो उसने रत्नों की माँग बैठाई ऐसा प्रतीत होता था मानों आकाश से तारा टूट रहा हो। उसके माथे पर टीका, बिन्दी ऐसी लगती थी मानों दूज के चाँद पर तारा बैठा हो। मणि के कुण्डल और खूँट नामक माँग के गहने ऐसे लगते थे जैसे कृत्तिका नक्षत्र टूट पड़ा हो। जब वह जड़ाऊ गहनों को पहन कर खड़ी हो गयी तो उसकी सुन्दरता का वर्णन नहीं किया जा सकता। आकाश उसकी माँग का दर्पण (प्रतिबिम्ब) प्रतीत हो रहा था और चन्द्रमा उसके प्रकाश के सामने तारा के समान मालूम हो रहा था।

[ २९८ ]

बाँक नैन औ अंजन रेखा। खंजन जनहुँ सरद रितु देखा॥
जब जब हेरु, फेरु चखु मोरी। लुरै सरद महँ खंजन जोरी॥
भौहैं धनुक धनुक पै हारे। नैनन्ह साँधि बान जनु मारे॥
कनक फूल नासिक अति सोभा। ससि मख आइ सूक जनु लोभा॥

सुरँग अधर औ लीन्ह तँबोरा। सोहै पान फूल कर जोरा॥
कुसुम गेंद, अस सुरँग कपोला। तेहि पर अलक भुअं गनि डोला॥
तिल कपोल अलि पदुम बईठा। बेधा सोइ जो वह तिल डीठा॥

देखि सिंगार अनूप विधि, बिरह चला तब भागि।
कालकूट एइ ओनए, सब मोरें जिय लागि॥ २६८॥

शब्दार्थ—हेरु = देखना। चखु = आँखें। लुरै = झुके। धनुक = धनुष। साँधि = संधान कर। तंबोरा = ताम्बूल, पान। कालकूट = विष। ओनए = झुके हुए।

अर्थ—कवि पद्मावती के वदन-सौंदर्य का वर्णन कर रहा है—

उसकी तिरछी आँखों में काजल की रेखा ऐसी सुशोभित थी मानों शरद ऋतु में खंजन पत्ती दिखाई पड़ रहे हों। जब-जब वह अपनी आँखों को मोड़-मोड़ कर देखती है, ऐसा प्रतीत होता है मानों शरद ऋतु में दो खंजनों के जोड़े इधर उधर उड़ रहे हैं। उसकी धनुषाकार भौंहों से धनुष हार गये। ऐसा लगता है जैसे वह आँखों से चला-चला कर बाण मार रही है। नासिका पर सोने की लौंग सुशोभित है मानो शशि-मुख पर शुक कुन्द हो कर आया हुआ है। सुन्दर लाल होंठ हैं और उन पर उसने पान खा रक्खा है मानों पान और फूल ( पान और अधर ) का जोड़ा शोभित है। फूलों की गेंद के समान उसके सुन्दर कपोल हैं, जिस पर बाल रूपी सर्पिणी डोल रही है। कपोल पर एक तिल है मानों कमल पर भौंरा बैठा है। जो कोई उस तिल को देख लेता है वही छिद जाता है।

उसके अनुपम शृंगार को देखकर विरह भाग चला। उसने सोचा मेरे ही लिए ये सब विष झुके हुए हैं।

[ २६६ ]

का बरनौं अभरन उर हारा। ससि पहिरें नखतन्ह कै मारा॥
चीर चारु औ चंदन चोला। हीर हार नग लाग अमोला॥
तिन्ह झाँपी रोमावलि कारी। नागिनि रूप डसै हत्यारी॥
कुच कंचुकी सिरीफल उभै। हुलसहिं चहहिं कंत हिय चुभै॥

सिरै जो रतन माँग बैसारा। जानहुँ गँगन टूट लै तारा॥
तिलक लिलाट धरा तस डीठा। जनहुँ दुइज पर नखत बईठा॥
मनि कुंडल खुँटिला औ खूँटी। जानहुँ परी कचपची टूटी॥
पहिरि जराऊ ठाढ़ि भौ, बरनि न आवै भाउ।
माँग क दरपन गँगन भा, तौ ससि तार देखाउ॥ २९७॥

शब्दार्थ—सँवरै लीन्हीं = शृंगार किया। दैयँ = ईश्वर। मंजन = दंत-मंजन। अन्हानू = स्नान। पत्रावलि = पत्रभंग, रचना, पत्ते के समान सिर के बाल और माँग सँवारना। तिलक = टीका, बिन्दी। कचपची = छः, सात छोटे तारों का समूह जिसे कृत्तिका नक्षत्र कहते हैं।

अर्थ—जब पद्मावती ने शृंगार किया तो ऐसी सुन्दर दिखाई पड़ी जैसे पूर्णमासी की रात्रि में चन्द्रमा। मंजन करके उसने स्नान किया, तब उसने साड़ी पहनी, उसके रूप के प्रकाश के आगे सूर्य भी छिप गया। उसने बालों में कंघी की और बालों को सीधा कर उसमें माँग सँवारी, फिर माँग में सिन्दूर लगाया। माँग को मोती और माणिक्य से पूर दिया। चन्दन मिश्रित वस्त्र पहिने मानों बादलों की घटा में बगुलों की पंक्ति शोभित है। सिर में जो उसने रत्नों की माँग बैठाई ऐसा प्रतीत होता था मानों आकाश से तारा टूट रहा हो। उसके माथे पर टीका, बिन्दी ऐसी लगती थी मानों दूज के चाँद पर तारा बैठा हो। मणि के कुण्डल और खूँट नामक माँग के गहने ऐसे लगते थे जैसे कृत्तिका नक्षत्र टूट पड़ा हो। जब वह जड़ाऊ गहनों को पहन कर खड़ी हो गयी तो उसकी सुन्दरता का वर्णन नहीं किया जा सकता। आकाश उसकी माँग का दर्पण (प्रतिबिम्ब) प्रतीत हो रहा था और चन्द्रमा उसके प्रकाश के सामने तारा के समान मालूम हो रहा था।

[ २९८ ]

बाँक नैन और अंजन रेखा। खंजन जनहुँ सरद रितु देखा॥
जब जब हेरु, फेरु चखु मोरी। लुरै सरद महँ खंजन जोरी॥
भौहैं धनुक धनुक पै हारे। नैनन्ह साँधि बान जनु मारे॥
कनक फूल नासिक अति सोभा। ससि मख आइ सूक जनु लोभा॥

सुरँग अधर औ लीन्ह तँबोरा। सोहै पान फूल कर जोरा॥
कुसुम गेंद, अस सुरँग कपोला। तेहि पर अलक भुअंगनि डोला॥
तिल कपोल अलि पदुम बईठा। बेधा सोइ जो वह तिल डीठा॥

देखि सिंगार अनूप विधि, बिरह चला तब भागि।
कालकूट एइ ओनए, सब मोरें जिय लागि॥ २९८॥

शब्दार्थ—हेरु = देखना। चखु = आँखें। लुरै = झुके। धनुक = धनुष। साँधि = संधान कर। तंबोरा = ताम्बूल, पान। कालकूट = विष। ओनए = झुके हुए।

अर्थ—कवि पद्मावती के वदन-सौंदर्य का वर्णन कर रहा है—

उसकी तिरछी आँखों में काजल की रेखा ऐसी सुशोभित थी मानों शरद ऋतु में खंजन पक्षी दिखाई पड़ रहे हों। जब-जब वह अपनी आँखों को मोड़-मोड़ कर देखती है, ऐसा प्रतीत होता है मानों शरद ऋतु में दो खंजनों के जोड़े इधर उधर उड़ रहे हैं। उसकी धनुषाकार भौंहों से धनुष हार गये। ऐसा लगता है जैसे वह आँखों से चला-चला कर बाण मार रही है। नासिका पर सोने की लौंग सुशोभित है मानो शशि-मुख पर शुक कुन्द हो कर आया हुआ है। सुन्दर लाल होंठ हैं और उन पर उसने पान खा रक्खा है मानों पान और फूल ( पान और अधर ) का जोड़ा शोभित है। फूलों की गेंद के समान उसके सुन्दर कपोल हैं, जिस पर बाल रूपी सर्पिणी डोल रही है। कपोल पर एक तिल है मानों कमल पर भौंरा बैठा है। जो कोई उस तिल को देख लेता है वही छिद जाता है।

उसके अनुपम शृंगार को देखकर विरह भाग चला। उसने सोचा मेरे ही लिए ये सब विष झुके हुए हैं।

[ २९९ ]

का बरनौं अभरन उर हारा। ससि पहिरें नखतन्ह कै मारा॥
चीर चारु औ चंदन चोला। हीर हार नग लाग अमोला॥
तिन्ह झाँपी रोमावलि कारी। नागिनि रूप डसै हत्यारी॥
कुच कंचुकी सिरीफल उभै। हुलसहिं चहहिं कंत हिय चुभै॥

बाँहन्ह बाँहू टाड सलोनी। डोलत बाँह भाउ गति लोनी॥
नीबी कँवल करी जनु बाँधी। बिसा लंक जानहु दुइ आधी॥
छुद्रघटि कटि कंचन तागा। चलै तो उठै छतीसौ रागा॥

चूरा पायल अनवट बिछिया, पायन्ह परे बियोग।
हिए लाइ टुक हम कहँ समदहु, तुम्ह जानहु अउ भोगु॥ २९९॥

शब्दार्थ—मारा = माला। चारु = सुन्दर। झाँपी = ढक लिया। रोमावलि = रोम की पंक्ति जो नाभि से सीने तक चलती है। जिसका उल्लेख जायसी ने पहले भी किया है। सिरीफल = श्रीफल-बेल। उभै = उठे हुए। हुलसहिं = उल्लसित होते हैं। टाड = बाँह पर पहना जाने वाला एक गहना। नीबीं = वह गाँठ जिसमें स्त्रियाँ लहँगे की गाँठ बांधती हैं। बिसा = भिड़, ततैया या बर्र। चूरा = कड़ा। अनवट-अँगूठे का एक गहना। बिछिया = पैर की उंगली का गहना। टुक = जरासा। समदहु = मिलो।

अर्थ—कवि कहता है कि मैं आभूषणों और हृदय के हार का क्या वर्णन करूँ मानों चन्द्र ने नक्षत्रों की माला पहन रखी हो। सुन्दर साड़ी और चन्दन चर्चित चोला पहन रखा है जिनमें हीरे और अन्य अमूल्य रत्न टंके हुए हैं। इनने उसके हृदय की उस रोमावली को ढँक लिया है जो नागिन के समान प्राण लेती है। चोली में उसके श्रीफल के सदृश उरोज उठे हुए हैं। ऐसा मालूम होता है कि हुलस कर ये पति के हृदय में चुभ जाना चाहते हैं। बाँहों में सुन्दर टाड शोभा पा रही है, अपनी गति से जब बाँहें चलती हैं तो अत्यन्त सुन्दर लगती हैं। कमर में लहँगे की डोर कमल नाल के समान बन्धी है, कमर भिड़ के कमर के समान इतनी पतली है जैसे उसके दो भाग कर दिये गये हैं। सोने के तागों में घुंघुरुओं की करधनी है, जब चलती है तो घुंघुरु बजते हैं और प्रतीत होता है कि छत्तीसों बाजे बज रहे हैं। उसके पैर में कड़ा, पायल, अनवट, बिछिया हैं, उन सब से स्वर निकलता है। कवि कहता है कि पद्मावती के अंग गहनों के स्वरों से मानों कह रहे हैं कि थोड़ी देर के लिए हमें हृदय लगा कर मिलो तब जानोगे कि जीवन का सुख क्या है?

[ ३०० ]

अस बारह सोरह धनि साजै। छाज न औरहि, औहि पै छाजै ॥
बिनवहि सखीं गहरु नहिं कीजै। जेइँ जिउ दीन्ह ताहि जिउ दीजै ॥
सँवरि सेज धनि मन भौ संका। ठाढ़ि तिवानि टेकि कै लंका ॥
अनचिन्ह पिउ, काँपै मन माहाँ। का मैं कहब गहब जब बाँहाँ ॥
बारि बएस गौ प्रीति न जानी। तरुनी भइ मैमंत भुलानी ॥
जोबन गरब कछु मैं नहिं चेता। नेहु न जानिउँ स्याम कि सेता ॥
अब जौं कंत पूँछिहि सेइ बाता। कस मुँह होइहि पीत कि राता ॥
हौं सो बारि औ दुलहिनि, पिउ सो तरुन औ तेज।
नहिं जानौं कस होइहि, चढ़त कंत की सेज ॥ ३००॥

शब्दार्थ—धनि = स्त्री। छाज = शोभा पाना। गहरु = देर। सँवरि = स्मरण करके। तिबानि = सोच में। लंका = कमर। अनचिन्ह = अपरिचित। बारि = कुमारी। बएस = उम्र। गौ = गयी। मैमंत = मस्त।

अर्थ—कवि कहता है कि इस प्रकार वह स्त्री (पद्मावती) बारह आभरणों और सोलह शृंगारों से सज गयी। ये सारे शृंगार जितना उस पर सुशोभित हो रहे हैं उतना और किसी पर सुशोभित नहीं हो सकते। सखियाँ उससे विनती करने लगीं कि अब देर न करो। जिस रत्नसेन ने तुम्हारे लिए जान की बाजी लगा दी उसे अब अपना हृदय दो। पद्मावती सेज को स्मरण कर के सशंकित हो गयी और कमर टेढ़ी कर के सोच में पड़ कर खड़ी रह गयी। अपरिचित पति को सोच कर मन में काँपने लगी और सोचने लगी जब उनकी बाँह पकड़ूँगी तो क्या कहूँगी। कुमारी अवस्था मेरी बीत गयी, मैंने प्रेम नहीं जाना, अब युवती होकर मस्ती में भूल गयी हूँ। जवानी के गर्व में मुझे कुछ चेत नहीं है, मैं नहीं समझती कि प्रेम का क्या स्वरूप है काला या सफेद ? अब जो मेरे प्रियतम मुझ से वही बात पूछेंगे तो पता नहीं मेरा मुख लज्जा और भय से लाल होगा या पीला। मैं तो एक कुमारी और नयी दुलहिन हूँ और मेरा पति पूर्ण युवक और तेजस्वी है। मेरी समझ में नहीं आता कि पति की सेज पर चढ़ते हुए मुझ पर क्या बीतेगी ?

नोट—स्त्री-मनोविज्ञान का सुन्दर चित्रण जायसी ने प्रस्तुत किया है।

[ ३०१ ]

सुनि धनि डर हिरदैं तब ताईं। जौ लगि रहसि मिला नहिं साईं॥
कवन सो करी जो भँवर न राई। डारि न टूटै फर गरुआई।
माता पिता बियाही सोई। जरम निबाह पिअहि सो होई॥
भरि जमबार चहै जहँ रहा। जाइ न मेंटा ताकर कहा॥
ताकहँ बिलँबु न कीजै बारी। जो पिय आएसु सोइ पियारी॥
चलहु बेगि आएसु भा जैसें। कंत बालावै रहिए कैसें॥
मान न करु, थोरा करु लाडू। मान करत रिस मानै चडू॥

साजन लेइ पठाइया, आएसु जेहि क अमेंट।
तन मन जोबन साजि सब, देइ चलिअ लै भेंट॥ ३०१॥

शब्दार्थ—ताईं = तक। रहसि = एकान्त में। साईं = पति। राईं = अनुरक्त हुई। फर = फल। गरुआई = भार। जरम = जीवन भर। जमबार-पाठान्तर-जीवन। लाडू = प्यार। चाडू = गहरी चाह वाला।

अर्थ—पद्मावती की मनोदशा को समझ कर उसकी सखी बोली कि हे पद्मावती सुनो हृदय में डर तभी तक होता है, जब तक एकान्त में पति से मिलन नहीं होता। ऐसी कौन सी कमल की कली है जिस पर भौंरा अनुरक्त नहीं हुआ। फल के भार से कभी डाल नहीं टूटती अर्थात् प्रेमाधिक्य में किसी प्रकार का डर नहीं है। माता पिता ने जिसके साथ विवाह कर दिया उसी पति के साथ सारे जीवन निर्वाह करना होगा। जीवन भर जहाँ वह रहना चाहेगा वहीं रहना होगा, उसका कथन किसी प्रकार मेटा नहीं जा सकता। इसलिए देर मत करो। जो स्त्री पति की आज्ञा में रहती है वही उसकी प्यारी होती है। अतएव जिस प्रकार आज्ञा हुई है शीघ्र चलो। पति बुला रहा है तो फिर किस प्रकार रुक सकती हो। मान न करो, थोड़ा प्यार करो, मान करने पर गहरी चाह वाला भी रुष्ट हो जाता है। पति ने बुला भेजा है उसकी आज्ञा मेटी नहीं जा सकती, यौवन रूप की भेंट लेकर उससे मिलो।

[ ३०२ ]

पदुमिनि गवँन हंस गौ दूरी। हस्ती लाजि मेल सिर धूरी॥
बदन देखि घटि चंद छपाना। दसन देखि छबि बीजु लजाना॥
खंजन छपा देखि कै नैना। कोकिल छपा सुनत मधु बैना॥
गोवँ देखि कै छपा मँजूरू। लंक देखि कै छपा सदूरू॥
भौंह धनुक जो छपा अकाराँ। बेनी बासुकि छपा पताराँ॥
खरग छपा नासिका बिसेखी। अंब्रित छपा अधर रस पेखी॥
भुजन छपानि कँवल पौनारी। जंघ छपा केदली होइ बारी॥

आछरिं रूप छपानीं, जबहिं चली धनि साजि।
जावँत गरब गहीलि हुतिं, सबै छपीं मन लाजि॥ ३०२॥

शब्दार्थ—गौ = गया। मेल = डाल लिया। दसन = दाँत। गीवँ = गर्दन। मँजूरू = मयूर। सदूरू = शार्दूल, सिंह। धनुक = धनुष। अकाराँ = आकार। बेनी = चोटी। वासुकि = शेष नाग। खरग = खड्ग, तलवार। देखी = देखकर। पौनारी = पद्मनाल। केदली = केला। बारी = बगीचा। जाँवत = जितनी। गरब गहिलि = गर्व धारण करने वाली।

अर्थ—इस पद में कवि पद्मावती के अंग-अंग की हेतूत्प्रेक्षा के द्वारा सुन्दरता वर्णन करता है—

पद्मावती की चाल देखकर लज्जा के मारे हंस दूर (मानसरोवर में) भाग गया और हाथी ने लज्जा के मारे अपने मस्तक पर धूल डाल ली। मुख को देखकर चन्द्रमा घटने लगा और छिप गया। दाँतों की चमक देखकर बिजली शरमा गई। आँखों को देख कर खंजन पक्षी छिप गये। मीठे वचन सुन कर कोकिल छिप गया। गले की शोभा देख कर मोर छिप गया और कटि के पतलेपन को देख कर सिंह छिप गया। भौंह के आकार को देख कर धनुस छिप गया और चोटी को देखकर शेषनाग पाताल में जा छिपा। नाक की शोभा से लज्जित हो कर तलवार म्यान में छिप गयी और होंठों के रस को देखकर अमृत छिप गया। भुजाओं को देखकर कमल की नाल पानी में छिप गयी और जंघों को देखकर केला बाग में छिप गया। जब

पद्मावती सज कर चली तो अप्सरायें उसके सौंदर्य को देखकर छिप गयीं। जितना को अपने रूप का गर्व था सब की सब मन में लजा कर छिप गयीं।

[ ३०३ ]

मिलीं तराईं सखी सयानीं। लिए सो चाँद सुरुज पहँ आनी ॥
पारस रूप चाँद देखराई। देखत सुरुज गएउ मुरुछाई ॥
सोरह कराँ दिस्टि ससि कीन्ही। सहसौ करा सुरुज कै लीन्ही ॥
भा रबि अस्त, तराइन हँसें। सुरुज न रहा, चाँद परगसें ॥
जोगी आहि, न भोगी होई। खाइ कुरकुटा गा: परि सोई ॥
पदुमावति निरमलि जसि गंगा। तोहि जो कित जोगी भिखमंगा ॥
अबहुँ जगावहिं चेला जागू। आवा गुरू, पाय उठि लागू ॥
बोलहिं सबद सहेलीं, कान लागि गहि माँथ।
गोरख आइ ठाढ़ भा, उठु रे चेला नाथ ॥ ३०३ ॥

शब्दार्थ—तराईं = तारागण। आनी = लाईं। परगसे = प्रकाशित होने पर। आहि=है। कुरकुटा=मोटा अन्न। ठाढ़ भा = खड़ा है। नाथ = नाथपंथी जोगी।

अर्थ—तारागणों के सदृश सखियाँ पद्मावती से मिलीं और उस चन्द्र (पद्मावती) को सूर्य (रत्नसेन) के पास ले आयीं। उस पारस रूप चन्द्रमा के देखते ही सूर्य (रत्नसेन) मूर्छित हो गया। जब चन्द्र (पद्मावती) ने अपनी सोलहों कलाओं की दृष्टि की तो सूर्य की हजारों कलाओं को छीन लिया। सूर्य अस्त हो गया, तारागण हँस पड़े (रत्नसेन को मूर्छित देखकर सखियाँ हँस पड़ीं) सूर्य नहीं रह गया, चन्द्रमा (पद्मावती) का प्रकाश फैल गया। सखियाँ कहने लगीं यह तो जोगी है, भोगी नहीं है, मोटा अन्न खा कर सो गया है। फिर रत्नसेन के प्रति कहने लगीं कि हे जोगी! पद्मावती तो गंगा जैसी निर्मल है, तुझ जोगी, भिखारी के लिए और कहीं जाने की क्या आवश्यकता है। हम तुम्हें अब भी जगा रहे हैं जगो, देखो तेरा गुरु आया है तू उसके चरण लग। सब सहेलियाँ उसके मत्थे को पकड़ कर और कान में लग कर शब्द बोल रही हैं कि हे जोगी देख तेरा गुरु गोरखनाथ आया है, तू शीघ्र उठ।

[ ३०४ ]

गोरख सबद सुद्ध भा राजा। रामा सुनि रावन होइ गाजा॥
गही बाँह धनि सेजवाँ आनी। आँचर ओट रही छपि रानी॥
सकुच डरै मुरै मन नारी। गहु न बाँह रे जोगि भिखारी॥
ओहट होहि, जोगि तोरि चेरी। आवै बास कुरुकुटा केरी॥
देखि भभूति छूति मोहि लागा। काँपै चाँद, राहु सौं भागा॥
जोगी तोरि तपसी कै काया। लागी चहै अंग मोहि छाया॥
बार भिखारि न माँगसि भीखा। माँगै आइ सरग चढ़ि सीखा॥
जोगि भिखारी कोई, मँदिर न पैसै पार।
माँगि लेहि किछु भिख्या, जाइ ठाढ़ होहि बार॥ ३०४॥

शब्दार्थ—सुद्ध = चैतन्य। गही = पकड़ी। मुरै = मुड़ै। बार = द्वार। पैसे = प्रवेश। पार = सकना।

अर्थ—गोरख शब्द को सुन कर राजा रत्नसेन चैतन्य हो गया जैसे राम के नाम को सुन कर रावण जग कर गर्ज उठे। उसने पद्मावती की बाँह पकड़ ली और सेज पर ले गया। रानी ने अपने आँचल की ओट में अपना मुँह ढक लिया। वह सकुचाने लगी, वह नारी स्वभाव से मुड़ने लगी। फिर उसने कहा कि हे भिखारी मेरी बाँह न पकड़ो! हे जोगी! तू सामने से हट जा, तू तो जोगी है और मैं तेरी सेविका। तेरे शरीर से तो कुत्सित अन्न की महँक आ रही है। तेरे शरीर की श्मशान की भभूत देख कर मुझे छूत लगती है। इस प्रकार वह चन्द्रमा रूपी पद्मावती उस राहू रूपी रत्नसेन से डरने लगी। उसने फिर कहा कि हे जोगी! तेरा शरीर तो तपस्वी का शरीर है तेरी छाया मेरे शरीर को छूना चाहती है। तू तो भिखारी है, द्वार पर भिक्षा क्यों नहीं माँगता। तुम तो स्वर्ग चढ़कर माँगना सीख रहे हो। कोई जोगी और भिखारी घर में प्रवेश नहीं कर सकता अतः कुछ भिक्षा माँगो और जा कर द्वार पर खड़े हो।

[ ३०५ ]

अनु तुम्ह कारन पेम पियारी। राज छाँड़ि कै भएउँ भिखारी॥
नेह तुम्हार जो हिए समाना। चितउर माँह न सुमिरेउँ आना॥

जस मालति कह भँवर बियोगी। चढ़ा बियोग चलेउँ होइ जोगी ॥
भएउँ भिखारि नारि तुम्ह लागी। दीप पतँग होइ अँगएउँ आगी ॥
भँवर खोजि जस पावै केवा। तुम्ह काँटे मैं जिव पर छेवा ॥
एक बार मरि मिलै जौं आई। दोसरि बार मरै कत जाई ॥
कत तेहिं मीचु जो मरि कै जिया। भा अम्मर मिलि कै मधु पिया ॥

भँवर जो पावैं कँवल कहँ, बहु आरति बहु आस।
भँवर होइ नेवछावरि, कँवल देइ हँसि बास ॥ ३०५ ॥

शब्दार्थ—अनु = फिर। अँगएउ = सहा। केवा = कमल। छेवा = खेला। कत = कहाँ। मीचु = मृत्यु। आरति = कातरता। बास = सुगंध।

अर्थ—राजा रत्नसेन ने उत्तर दिया, हे प्राण प्यारी हम तो तुम्हारे कारण ही राज्य को छोड़कर भिखारी बने हैं। ज्योंही तेरा प्रेम मेरे हृदय में प्रविष्ट हुआ कि मुझे चित्तौड़ में और कुछ भी स्मरण न हुआ। जिस प्रकार भौंरा मालती के लिए चल पड़ता है उसी प्रकार मैं भी वियोगी होकर चल पड़ा। हे नारी, मैं तो तुम्हारे लिए ही भिखारी बना था। दीपक के पतंगे की भाँति विरह की अग्नि को सहता रहा हूं। जिस प्रकार भौंरा कमल को खोज लेता है, उसी प्रकार मैं तुम्हारे काँटों पर जान देने वाला हूँ। एक बार मर कर जो अपनी प्यारी से मिल जाय उसे दुबारा मरने की क्या आवश्यकता। (इस पंक्ति में अध्यात्म की झलक है।) जो मर के जीता है उसे मृत्यु कहाँ है। उसने तो मिल कर अमरत्व पा लिया है। जो भौंरा अनेक दुःख, कातरता और आशाओं के बाद कमल को पाता है और अपने को उस पर न्योछावर करता है, उसे कमल भी प्रसन्नतापूर्वक अपनी सुगन्धि देता है। भाव यह कि इतनी कठिनाइयाँ मैंने सहीं, अब तुम अपना प्रेम मुझे दे दो।

[ ३०६ ]

अपने मुँह न बड़ाई छाजा। जोगी कतहुँ होहिं नहि राजा ॥
हौं रानी, तूँ जोगि भिखारी। जोगिहि भोगिहि कौन चिन्हारी ॥
जोगी सबै छंद अस खेला। तूँ भिखारि केहि माहँ अकेला ॥
पवन बाँधि उपसवहिं अकासाँ। मनसहिं जहाँ जाहिं तेहि पासाँ ॥

तैं तेहि भाँति सिस्टि यह छरी। एहि भेस रावन सिय हरी ॥
भँवरहि मींचु नियर जब आवा। चंपा बास लेइ कहँ धावा ॥
दीपक जोती देखि उजियारी। आइ पतँग होइ परा भिखारी ॥
रैनि जो देखिअ चंद मुख, मकु तन होइ अनूप।
तहूँ जोगि तस भूला, भै राजा के रूप ॥ ३०६ ॥

अर्थ—छाजा = शोभा पाना। चिन्हारी = पहचान। छंद = कपट। उपसवहिं = जाते हैं। मनसहिं = मन से सोचते हैं। सिष्टि = सृष्टि। छरी = छला है। मकु = सम्भवतः। तहूँ = तू भी।

शब्दार्थ—पद्मावती ने उत्तर दिया कि अपने मुख से अपनी बड़ाई शोभा नहीं देती। जोगी कहीं भी राजा नहीं हो सकता। मैं तो रानी हूं और तू जोगी और भिखारी है, भला जोगी और भोगी की क्या पहचान। सभी जोगी इसी प्रकार कपट का खेल खेलते हैं, तो तू भिखारी किस में है। वे लोग प्राणायाम के द्वारा गगन में पहुंचते हैं, जहाँ जाने की सोचते हैं वहीं पहुंच जाते हैं। उसी भाँति तुमने भी सारे संसार को छल लिया। इसी वेष में रावण ने भी सीता को हर लिया था। भौंरा जब मृत्यु के समीप आता है तो चम्पा की सुगन्ध लेने के लिए आता है। दीपक (पद्मावती) की उज्ज्वल ज्योति देखकर पतंगा बन कर भिखारी हो गया। यह कल्पना करके कि शायद वह (पद्मावती) ऐसी ही अनुपम है, जैसा कि रात में देखा हुआ चन्द्रमा है। जोगी तू भी राजा के रूप में भूल गया। अर्थात् सचमुच तो तू एक जोगी है पर छल करने के लिए राजा के रूप में वेष बदल रहा है।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

[ ३०७ ]

अनु धनि तूँ ससिअर निसि माहाँ। हौं दिनअर तेहि की तूँ छाहाँ ॥
चाँदहि कहाँ जोति औ करा। सुरज कि जोति चाँद निरमरा ॥
भँवर बास चंपा नहिं लेई। मालति जहाँ तहाँ जिउ देई ॥
तुम्ह निति भएउ पतँग कै करा। सिंघल दीप आइ उड़ि परा ॥
सेएउँ महादेव कर बारू। तजा अन्न, भा पवन अधारू ॥
तुम्ह सों प्रीति गाँठि हौं जोरी। कटै न काटे, छुटै न छोरी ॥

सीय भीख रावन कहँ दीन्ही। तूँ असि निठुर अँतरपट कीन्ही ॥
रंग तुम्हारे रातेउँ, चढ़ेउँ गँगन होइ सूर।
जहँ ससि सीतल कहँ तपनि, मन इंछा धनि पूर ॥ ३०७ ॥

शब्दार्थ—अनु = फिर। ससिअर = चन्द्र। दिनअर = सूर्य। करा = कला। निरमरा = निर्मल। बास = सुगन्ध। बारू = द्वार। रातेउँ = लाल हुआ। धनि = स्त्री (पद्मावती)।

अर्थ—रत्नसेन ने उत्तर दिया कि हे पद्मावती तू रात्रि का चन्द्रमा है और मैं सूर्य, जिसकी तू छाया है। चन्द्रमा में ज्योति और कला कहाँ होती है, सूर्य की ही ज्योति तो निर्मल चन्द्र है। भौंरा चम्पा की सुगन्ध नहीं लेता, जहाँ मालती होती है वहीं जान देता है। तुम्हारे लिए ही मैं नित्य पतंगा बन कर सिंहल द्वीप में उड़कर आ गया, और महादेव के द्वार की सेवा की। मैंने अन्न छोड़ दिया, हवा ही मेरा एक मात्र जीवनाधार बनी। मैंने तुमसे प्रीति की गाँठ जोड़ ली, यह प्रीति की गाँठ काटे से कट नहीं सकती और छुड़ाने से छुट नहीं सकती। सीता ने रावण को भी भिक्षा दे दी थी, पर तू तो ऐसी निष्ठुर है कि कपड़े की ओट में हो रही हो। मैं तुम्हारे प्रेम के रंग में ही लाल हो गया और सूर्य बनकर आकाश पर चढ़ गया हूँ, जहाँ शीतल चन्द्रमा है वहाँ गर्मी कैसे रह सकती है, हे पद्मावती तू मेरी इच्छा को पूरी कर।

[ ३०८ ]

जोगि भिखारि करसि बहु बाता। कहेसि रंग, देखौं नहिं राता ॥
कापर रँगे रंग नहिं होई। हिएँ औटि उपनै रँग सोई ॥
चाँद के रंग सुरुज जौं राता। देखिअ जगत साँझ परभाता ॥
दगध बिरह निति होइ अँगारू। ओहि की आँच धिकै संसारू ॥
जौं मँजीठ औटैं औ पचा। सो रँग जरम न डोलै रँचा ॥
जरै बिरह जेउँ दीपक बाती। भीतर जरै, उपर होइ राती ॥
जर परास कोइला के भेसू। तब फूलै राता होइ टेसू ॥
पान सुपारी खैर दुहुँ, मेरे करै चक चून ॥
तब लगि रंग न राचै, जब लगि होइ न चून ॥ ३०८ ॥

शब्दार्थ—कापर = कपड़ा। औटि = उबाल कर। उपनै = उत्पन्न हो। दगध = जलन। अँगारू = अंगारा। धिकै = गर्म हो। मँजीठ = लाल रंग का फल। जरम = जन्म भर। रँचा = तनिक भी। जेउँ = ज्यों। मेरै = मिलावै। चकचून = चकनाचूर। राचै = चढ़ै।

अर्थ—पद्मावती बोली कि तू जोगी भिखारी बड़ी बातें कर रहा है, तूने अपने प्रेम के रंग का उल्लेख किया, पर मैं तो तुझे अनुराग में लाल नहीं देख रही हूं। कपड़ा रँगने से रँगा हुआ नहीं माना जाता। हृदय को जब अच्छी प्रकार तपाया जाता है तब कहीं रंग उत्पन्न होता है। सूर्य जब चाँद के प्रेम रंग में लाल होता है तो उसका स्वरूप सायं या प्रातः दिखाई पड़ता है। वह विरह में जल कर अंगारा बन जाता है और उसकी आँच से सारा संसार गर्म हो जाता है। यदि मजीठ को खूब औटाया और पकाया जाय तभी उसका पक्का रंग बनता है और वह जन्म भर तनिक भी नहीं जाता। प्रेमी इस प्रकार प्रेम में जलता है जैसे दीपक की बत्ती जो कि अन्दर-अन्दर तो जलती है पर ऊपर लाल दिखाई पड़ती है। पलाश कोयले के स्वरूप में जलता है तभी तो वह लाल होकर टेसू नाम से फूल उठता है। पान, सुपारी और खैर को मिलायै और कितना ही चकनाचूर करें पर जब तक उसमें चूना नहीं पड़ेगा उसमें रंग बिलकुल न आयेगा।

अलंकार—उत्प्रेक्षा, उपमा और रूपक।

[ ३०६ ]

धनिआ का सुरंग का चूना। जेहि तन नेह दगध तेहि दूना॥
हौं तुम्ह नेहुँ पियर भा पानू। पेंड़ी हुत सुनि रासि बखानू॥
सुनि तुम्हार संसार बड़ौना। जोग लीन्ह, तन कीन्ह गड़ौना॥
करभँज किंगरी लै बैरागी। नेवती भएउँ बिरह की आगी॥
फेरि फेरि तन कीन्ह भुँजौना। औटि रकत रँग हिरदै औना॥
सूखि सुपारी भा मन मारा। सिर सरौत जनु करवत सारा॥
हाड़ चून भै, बिरह जो डहा। सो पै जान दगध इमि सहा॥
कै जानै सो बापुरा, जेहि दुख अस सरीर।
रकत पियासे जे हहिं, का जानहिं पर पीर॥ ३०६॥

शब्दार्थ—धनिआ = स्त्री (पद्मावती)। पियर = पीला। पेंड़ी = अच्छा पान पेड़ी का होता है—पान की पुरानी जड़ में से निकली हुई बेल को पेड़ी कहते हैं। सुनिरासि = पका हुआ पीला पान। बरौना = बराई, एक जाति का पान। गड़ौना = पुराना पान जो जमीन में गाड़ कर सुरक्षित रक्खा जाता है। करभँज = भजन करना। नेवती = निमंत्रित। भूँजौना = भुनी हुई वस्तु। औना = आना। करवत सारा = आरा चलाया। बापुरा = बेचारा!

अर्थ—रत्नसेन ने कहा कि हे पद्मावती तू रंग और चूने की क्या बात करती है। जिसके शरीर में प्रेम है उसके शरीर में जलन दूनी होती है। मैं तुम्हारे प्रेम में पान की भाँति पीला पड़ गया हूँ। पेड़ी वाले सोनराय जैसा पक गया हूं। संसार में तुम्हारी बड़ाई सुनकर मैंने योग धारण किया और अपने शरीर को गड़े हुए पान की भाँति संसार से विमुख कर दिया। एक-तारा लेकर वैरागी बना और भजन में निरत हुआ और विरह की अग्नि का आमन्त्रण स्वीकार किया। फिर फिर मैंने अपने शरीर को भून डाला, जिससे खून औट कर हृदय में आ गया। मैं सुपारी की भाँति सूख गया और अपने मन को मार दिया और सिर पर करौता चलवा कर अपने को कटवाया। विरह से जलकर मेरी हड्डियां चकनाचूर होकर चूना बन गयीं। मेरे दुःख को वही जान सकता है जिसने इसी प्रकार की जलन सही है। या जो बेचारा शरीर में ऐसे ही दुःख को झेल रहा है। वे लोग जो खून के प्यासे हैं, दूसरे की पीड़ा को क्या जान सकते हैं।

[ ३१० ]

जोगिन्ह बहुतै छंद ओराहि। बुँद सेवातिहि जैस पराही।
परै समुंद्र खार जल ओहीं। परै सीप मुँह मोती होहीं॥
परै पुहमी पर होइ कचूरू। परै केदली महँ होइ कपूरू॥
परै मेरु पर अंम्रित होई। परै नाग मुख बिख होइ सोई॥
जोगी भँवर न थिर ये दोऊ। केहिं आपन भए कहै सो कोऊ॥
एक ठाँउ वै थिर न रहाहीं। भखु लै खेलि अनत कहँ जाहीं॥
होइ गिरिही पुनि होहिं उदासी। अंत काल दुनहूँ बिसवासी॥

तासौं नेह जो दिढ़ करै, थिर आछहि सहदेस।
जोगी भँवर भिखारी, इन्ह तें दूरि अदेस ॥ ३१० ॥

शब्दार्थ—ओराहीं = खतम होना, चुक जाना। पारहिं=पड़ना। पुहमी= पृथ्वी। कचूरू = हल्दी की तरह का एक पौधा। केदली=केला। भखु (भक्ष्य)= भोजन। अनत = अन्यत्र। गिरिही = गृही। उदासी = संन्यासी। बिसवासी= विश्वासघाती। आछहिं = रहते हैं। सहदेस = स्वतन्त्र। अदेस = प्रणाम।

अर्थ—पद्मावती ने कहा जोगियों के पास इतनी चालें हैं कि सभी कपट उनमें समाप्त हो जाते हैं। उनके छल-छन्दों के प्रभाव इस प्रकार भिन्न-भिन्न हैं जैसे स्वाति नक्षत्र के बूंद की। स्वाति का जल समुद्र में पड़ता है तो खारा जल हो जाता है पर जब वह सीप में पड़ता है तो मोती हो जाता है। पृथ्वी में पड़ता है तो हल्दी की तरह काएक पौधा बन जाता है और जब केले में पड़ता है तो कपूर हो जाता है। सुमेरु पर्वत पर गिरने पर अमृत हो जाता है, साँप के मुख में पड़ने पर विष हो जाता है। जोगी और भौंरे दोनों स्थिर नहीं रहते। कौन कहता है कि ये किसी के अपने हुए। एक स्थल पर ये स्थिर नहीं रहते, भोजन लेकर विचर कर अन्यत्र चले जाते हैं। कभी गृहस्थ होते हैं और कभी संन्यासी। अन्त में दोनों ही विश्वासघाती बन जाते हैं। इनसे जो प्रेम को दृढ़ करते हैं उनका परिणाम अच्छा नहीं होता। क्योंकि वे तो निश्चय ही स्वतन्त्र हो जाते हैं। इसलिए मैं तो योगी, भौंरा और भिखारी को दूर ही से प्रणाम करती हूं।

[ ३११ ]

थल थल नग न होइ जेहि जोती। जल जल सीप न उपनै मोती ॥
बन बन बिरिख चँदन नहिं होई। तन तन बिरह न उपजै सोई ॥
जहि उपना सो औटि मरि गएऊ। जरम निनार न कबहूँ भएऊ ॥
जल अंबुज, रवि रहै अकासा। प्रीति तो जानहुँ एकहि पासा ॥
जोगी भँवर जो थिर न रहाहीं। जेहि खोजहिं तेहि पावहिं नाहीं ॥
मैं तुइ पाए आपन जीऊ। छाँड़ि सेवातिहि जाइ न पीऊ ॥
भँवर मालती मिलै जौं आई। सो तजि आन फूल कत जाई ॥

चंपा प्रीति जो बेलि हैं, दिन दिन आगरि बास ।
गरि गुरि आपु हेराइ जौ, मुएहु न छाँड़ै पास ॥ ३११ ॥

शब्दार्थ—उपनै = उत्पन्न हो । निनार = अलग । आगरि = अधिक । बास = महँक । गरि = गल कर । हेराइ = नष्ट हो ।

अर्थ—रत्नसेन ने उत्तर दिया कि वे नग प्रत्येक स्थल पर नहीं मिलते जिनमें ज्योति होती है और प्रत्येक जल की सीप से मोती उत्पन्न नहीं होता, इसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य में विरह उत्पन्न नहीं होता । जिसमें विरह उत्पन्न होता है वह उसी की तपन से मर जाता है और जीवन भर उससे बच नहीं सकता । कमल जल में होता है और सूर्य आकाश में पर प्रीति के सम्बन्ध से दोनों पास ही होते हैं । जोगी और भौंरा स्थिर नहीं रहते क्योंकि जिसे वे खोजते हैं उसे पाते ही नहीं । मैंने अपने प्राण-सरिस तुझे पा लिया है । जैसे पपीहा स्वाति को नहीं छोड़ सकता, उसी प्रकार अब मैं तुझे छोड़ कर अन्यत्र नहीं जा सकता । भौंरा भी जब मालती को पा जाता है तो वह उसे छोड़ कर और फूल के पास नहीं जाता । चम्पा लता में दिन पर दिन सुगन्ध बढ़ती जाती है (मालती की अपेक्षा कहीं अधिक सुगन्धित है) पर चाहे भौंरा गल कर नष्ट ही क्यों न हो जाय, पर मर कर भी वह मालती को नहीं छोड़ता, और चम्पा से प्रीति नहीं करता ।

नोट—पंडित शुक्ल की प्रति में अन्तिम दोहे का पाठान्तर इस प्रकार है—

चंपा प्रीति न भौंरहि, दिन दिन आगरि बास ।
भौंर जो जो पावै मालती, मुएहु न छाँड़ै पास ॥

[ ३१२ ]

ऐसें राजकुँवर नहिं मानौं । खेलु सारि पाँसा तौ जानौं ॥
कच्चे बारह बार फिरासी । पक्के तौ फिरि थिर न रहासी ॥
रहै न आठ अठारह भाखा । सोरह सतरह रहै सो राखा ॥
सतएँ ढरै सो खेलनिहारा । ढारु इग्यारह जासि न मारा ॥
तूँ लीन्हे मन आछसि दुवा । औ जुग सारि चहसि पुनि छुवा ॥
हौं नव नेह रचौं तोहि पाहाँ । दसौं दाँउ तोरे हिय माहाँ ॥

पुनि चौपर खेलौं कै हिया। जो तिरहेल रहै सो तिया॥
जेहि मिलि बिछूरन औ तपनि, अंत तंत तेहि निंत।
तेहि मिलि बिछूरन को सहै, बरु बिनु मिलें निचिंत॥ ३१२॥

शब्दार्थ—सारि पाँसा = पाँसासारी चौसर का खेल। फिरासी = फिरोगे। सोरह = सोलह। सो + रह = वही रहता है। सतरह=सत्रह। सत रह = सत्य रहे। ढरैं = पाँसा फेंके। इग्यारह = ११, और १० इन्द्रियाँ तथा मन। आछसि = हो। दुवा = दाँव, द्विविधा। जुग सारि = दो गोटियाँ, दो कुच। दसों दाउँ = दसवाँ दाँव, अन्त तक पहुंचने वाली चाल। तिरहेल = नीचे पड़ा हुआ। तिया = एक दाँव, स्त्री।

अर्थ—पद्मावती ने कहा कि ऐ राजकुमार ! मैं इस प्रकार नहीं मानूंगी, अब तुम चौसर का खेल खेलो तो तुम्हें समझूं। बारह पाँसे कच्चे हैं, इनके पड़ने पर तुम्हें बार-बार चक्कर लगाना पड़ेगा, यदि पक्के पड़ेंगे तो स्थिर नहीं रह सकते। आठ-अठारह की बात नहीं चलती। सोलह-सत्रह का पाँसा पड़े तभी ठीक है। श्लेष से इसका अर्थ यह है कि जो सत्य पर दृढ़ रहता है वही रहता है और किसी प्रकार काम नहीं चलता। जो खेलने वाला है वह सात के दाँव रखता है, मतलब यह कि सत्य का आधार लेने वाला ही सच्चा खेलाड़ी है। जो ग्यारह गोटें ढारता है वह मारा नहीं जाता, अर्थात् जो दश इन्द्रियाँ और मन को वश में करके खेलता है उसे कोई नहीं हरा सकता। तुम मन में दुवा का दाँव अर्थात् द्विविधा लिये हो और दो गोटों (दो कुचों) को छूना चाहते हो। मैं तो तुझमें नया प्रेम रखती हूँ और तू अपने हृदय में दसों दाँव अर्थात् अन्त में निकल जाने वाली चाल चलना चाहता है। मैं साहस करके तुझसे चौपड़ खेलूंगी जो नीचे पड़ जायगा वह तिया दाँव होगा अर्थात् हार जाने पर आपकी स्त्री बन जाऊँगी। जिसके मिल जाने के पश्चात् बिछुड़ना है और फिर नित्य दुःख पाना है उससे एक बार मिल कर बिछुड़ना कौन सहेगा बल्कि बिना मिले ही शान्ति रहेगी।

[ ३१३ ]

बोलौं बचन नारि सुनु साँचा। पुरुष क बोल सपत औ बाचा।
यह मन तोहि अस लावा नारी। दिन तोहि पास और निसि सारी॥

पौ परि बारह बार मनावौं। सिर सौं खेलि पैत जिउ लावौं ॥
मारि सारि सहि हौं अस राँचा। तेहि बिच कोठा बोल न बाँचा ॥
पाकि गहे पै आस करीता। हौ जीतेहुँ हारा तुम्ह जीता ॥
मिलि कै जुग नहिं होउँ निनारा। कहाँ बीच दुतिया देनिहारा ॥
अब जिउ जरम जरम तोहि पासा। किएउँ जाग, आएउँ कबिलासा ॥

जाकर जीउ बसै जेहि सेतें, तेहि पुनि ताकरि टेक।
कनक सोहाग न बिछुरै, अवटि मिलैं जौ एक ॥ ३१३ ॥

शब्दार्थ—सपत=शपथ। बाचा=वचन, प्रतिज्ञा। लावा=लगाया। पौ=पांव। पैंति=दाँव। पाकि=पक्की गोट। करीता=किया था। दुतिया=द्वितीय, दूती। देनिहारा=मध्यस्थ होने वाला।

अर्थ—रत्नसेन ने कहा कि हे पद्मावती मेरे कहे हुए बचनों को सुनो। पुरुष का वचन शपथ और प्रतिज्ञा के समान है। हे नारी! मैंने अपने मन को तुझ पर इस प्रकार लगाया है कि सारे दिन और रात यह तुम्हारे पास ही है। मैं तुम्हारे पैरों पड़कर बार-बार विनती करता हूं और सिर से खेल कर अपने प्रेम की बाजी पर चित्त लगा रहा हूँ। ऐसा चित्त लगा हुआ है कि गोटों की मार सहूंगा (सभी कठिनाइयों को सहूंगा) और उसके बीच का कोई कोठा मुझसे बच नहीं सकता अर्थात् प्रेम मार्ग पर कोई करतूत शेष न रक्खूंगा। पक्के दाँव की ही आश कर रखी है। पर जीत लेने पर भी मैं हार मानता हूं, तुम जीत गयीं। अब मेरा और तुम्हारा जोड़ा मिल कर अलग नहीं हो सकता, अब बीच में मध्यस्थता करने वाली दूती की कोई आवश्यकता नहीं है। अब तो मेरा जीव जन्म-जन्म उसी के पास रहेगा जिसके लिए मैंने योगाभ्यास किया और कैलाश (सिंहलद्वीप) आया हूं।

जिसका जीव जिसमें बसता है, उसे उसी की टेक लगी रहती है। उनका बिछोह इस प्रकार नहीं होता जैसे सोना और सोहागा जब तप कर एक हो जाते हैं तो अलग नहीं किये जा सकते।

अलङ्कार— उपमा

[ ३१४ ]

बिहँसी धनि सुनि कै सत बाता। निस्चैं तूँ मोरे रँग राता॥
निस्चै भँवर कँवल रस रसा। जो जेहि मन सो तेहि मन बसा॥
जब हीरामनि गएउ संदेसी। तोहि निति मँडप गइउँ परदेसी॥
तोर रूप देखेउँ सुठि लोना। जनु जोगी तू मेलेसि टोना॥
सिद्ध गोटिका दिस्टि कमाई। पारैं मेलि रूप बैसाई॥
भुगुति देइ कहँ मैं तुहिं डीठा। कँवल नयन होइ भँवर बईठा॥
नैन पुहुप, तूँ अलि भा सोभी। रहा बेधि, उड़ि सकेसि न लोभी॥
जाकरि आस होइ असि जा कहँ, तेहि पुनि ताकरि आस।
भँवर जो डाढ़ा कँवल कहँ, कस न पाव रस बास॥ ३१४॥

शब्दार्थ—निस्चैं = निश्चय ही। राता = अनुरक्त। संदेशी = संदेशा ले जाने वाला। निति = निमित्त। पारैं = पारा। मेलि = डाल कर। रूप = रूपा, चांदी। बैसाई = बैठाया, जमाया। भुगुति = भिक्षा।

अर्थ—पद्मावती रत्नसेन के सत्य वचन को सुन कर प्रसन्न हो गयी और बोली कि निश्चय ही तू मेरे रंग में अनुरक्त है। निश्चय ही भौंरा (रत्नसेन) (कमल) पद्मावती के रस में निमग्न है, सच है जिसका मन जिस पर होता है, वह उसी में तल्लीन रहता है। जब हीरामनि ने तेरा संदेश मुझ से सुनाया था, तो मैं तुम्हारे लिए ही शिव मंदिर पर गयी थी। मैंने तेरा सुन्दर रूप देखा था, उसे देख कर मुझे ऐसा प्रतीत हुआ, मानो हे जोगी! तुमने टोना (जादू) कर दिया हो। तुमने सिद्धि गुटिका द्वारा दिव्य दृष्टि प्राप्त की है और पारे में मिला कर रूवा को जमा रक्खा है (गोरखपंथी साधु पारा और चांदी आदि रासायनिक वस्तु मिलाते हैं)। इसका अर्थ यह भी है कि तुमने अपनी साधना से अपने जीव को मेरे रूप में तल्लीन करके समाधि ले ली थी। मैंने तुम्हें भिक्षा (रूप-दर्शन) देने के लिए तुझे देखा, तेरे कमल रूपी नेत्रों में तो भौंरे रूपी पुतली बैठ चुकी थीं, अर्थात् तू मूर्छित था। तेरे पुष्प रूपी नेत्रों में अलि रूपी पुतलियाँ मात्र ही शोभायमान हो रही थीं। लोभी भौंरे रूपी पुतलियाँ विंध गयी थीं, उड़ नहीं सकती थीं, अर्थात् आँखों की गति बन्द थी। जिसकी आशा इस प्रकार की होती है उसी की आश

होती है। जो भौंरा कमल के लिए इस प्रकार जलता है, वह भला उसके रस और सुगन्धि को क्यों न प्राप्त करे।

[ ३१५ ]

कवनि मोहनी दहुँ हुति तोही। जो तोहि बिथा सो उपनी मोहीं ॥
बिनु जल मीन तपी तस जीऊ। चात्रिक भइउ, कहत पिउ पिऊ ॥
जरिउँ बिरह जस दीपक बाती। पँथ जोवत भइउँ सीप सेवाती ॥
डारि डारि जेउँ कोइल भई। भइउँ चकोरि, नींद निसि गई ॥
मोरें पेम पेम तोहि भएऊ। राता हेम अगिनि जो तएऊ ॥
हीरा दिपै जौं सुरुज उदोती। नाहिं त कित पाहन कहँ जोती ॥
रबि परगासें कँवल बिगासा। नाहिं त कित मधुकर, कित बासा ॥
तासों कवन अँतरपट, जो अस प्रीतम पीउ।
नेवछावरि गइ आप हौं, मन तन जोबन जीउ ॥ ३१५ ॥

शब्दार्थ—हुति = थी। चात्रिक = पपीहा। जोवत = देखते हुए। अँतरपट = दुराव-छिपाव।

अर्थ—पद्मावती ही कह रही है—पता नहीं तुम्हारे भीतर कौन सी मोहिनी शक्ति थी, कि जो विरह की पीड़ा तुम्हें थी, वही मुझ में भी उत्पन्न हो गयी। मैं हृदय में इस प्रकार दुःखी हुई, जैसे मछली बिना जल के होती है। पपीहे के समान 'पी-पी' कहने लगी। विरह में इस प्रकार जली, जैसे दीपक की बत्ती जलती है। तेरी प्रतीक्षा मैंने इस प्रकार की जैसे सीप स्वाति की करती है। जैसे डाल-डाल पर कोयल कूकती है, इसी प्रकार मैं भी बेचैन होकर इधर-उधर पुकारती फिरने लगी। जैसे चकोरी रात भर एकटक चांद को देखती है, सोती नहीं, उसी प्रकार सारी रात मुझे भी नींद नहीं आती थी। मुझ में तेरा प्रेम ही प्रेम हो गया, जैसे सोना तपाने पर लाल हो जाता है, उसी प्रकार विरह में मैं तप उठी। सूर्य के उदय होने पर ही हीरे में चमक आती है, नहीं तो कहाँ पत्थर और कहाँ ज्योति। सूर्य के प्रकाश पर ही तो कमल खिलता है, नहीं तो कहाँ भौंरा और कहाँ सुगन्धि। भाव यह कि मेरे सौंदर्य का मूल्य तभी है, जब तुम्हारा प्रेम प्राप्त हुआ।

वह कहती है कि अब तुमसे कौन दुराव है ? क्योंकि तुम ही मेरे प्रियतम

हो। अब तो मैं तुम्हारे ऊपर ही बलिहारी जाती हूँ और अपना तन, मन और यौवन और जीव सभी समर्पित करती हूँ।

इस पद के बाद पं० शुक्ल संपादित ग्रन्थावली में ३ पद और भी हैं। डाक्टर माताप्रसाद गुप्त इन पदों को प्रक्षिप्त मानते हैं। प्रक्षिप्त होने के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है कि ये पद सभी प्रतियों में नहीं हैं। तथा प्रथम पद में पद्मावती रत्नसेन से प्रश्न करती है कि उसने सिंहल और उसके विषय कैसे जाने और ऐसे दुर्गम प्रेम-मार्ग को महादेव जी ने उसे कहाँ दिखाया? दूसरे पद में रत्नसेन इन प्रश्नों का उत्तर देता है कि सुए ने सब कुछ बताया। प्रेम-मार्ग सम्बन्धी प्रश्न का उत्तर है ही नहीं। तीसरे पद में रत्नसेन के उत्तर से पद्मावती सन्तुष्ट होकर उसके प्रति अनुराग कथन करती है।

डा० गुप्त का कथन है कि "कहने की आवश्यकता नहीं कि पद्मावती के प्रश्नों का जो उत्तर रत्नसेन ने यहाँ दिया है, वह हीरामनि ने पद्मावती को अपनी पहली ही भेंट में बहुत पूर्व दिया था (छंद १७७, १७८)। सारी कथा हो जाने के बाद रत्नसेन से पद्मावती का यह प्रश्न करना वैसा ही लगता है जैसे सारी रामायण हो जाने के बाद भरत राम से कह रहे हों कि उनका वनवास क्यों हुआ?"

पद इस प्रकार हैं :—

हँसि पदमावति मानी बाता। निहचय तू मोरे रंग राता॥
तू राजा दुहुँ कुल उजियारा। अस कै चरिचऊँ मरम तुम्हारा॥
पै तू जबू दीप बसेरा। किमि जानेसि कस सिंघल मोरा॥
किमि जानेसि सो मानसर केवा। सुनि सो भौंर भा, जिउ पर छेवा॥
ना तुइ सुनी न कबहूँ दीठी. कैस चित्र होइ चितहिं पईठी॥
जौ लहि अगिनि करै नहिं भेदू। तौ लहि औटि चुवै नहिं मेदू॥
कहँ संकर तोहिं ऐस लखाया। मिला अलख अस पेम चखावा॥

जेहि कर सत्य सँघाती, तेहि कर डर सोइ मेट।
सो सत कहु कैसे भा, दुवौ भांति जो भेंट॥

सत्य कहौं सुनु पदमावती। जहँ सत पुरुष तहाँ सुरसती॥
पाएउं सुवा, कही वह बाता। भा निहचय देखत मुख राता॥

रूप तुम्हार सुनेउं अस नीका। ना जेहि चढ़ा काहु कहँ टीका ॥
चित्र किएउं पुनि लेइ लेइ नाऊँ। नैनहिं लागि हिये भा ठाऊँ ॥
हौं भा साँच सुनत ओहि घड़ी। तुम होइ रूप चित्त आइ चढ़ी ॥
हौं भा काठ मूर्ति मन मारे। चहै जो कर सब हाथ तुम्हारे ॥
तुम्ह जो डोलाइहु तबहीं डोला। मौन साँस जौ दीन्ह तो बोला ॥
को सोवै को जागे, अस हौं गएउँ बिमोहि।
परगट गुपुत न दूसर, जहँ देखौं तहँ तोहिं ॥
बिहँसी धनि सुनि कै सत भाऊ। हौं रामा तू रावन राऊ ॥
रहा जो भौंर कँवल के आसा। कस न भोग मानै रस बासा ॥
जस तस कहा कुँवर तू मोही। तस मन मोर लाग पुनि तोही ॥
जब हुँत कहि गा पंखि संदेसी। सुनिउँ कि आवा है परदेसी ॥
तब हुत तुम बिनु रहै न जीऊ। चातकि भइउँ कहत पिउ पीऊ ॥
भइउ चकोरि सो पंथि निहारी। समुद सीप जस नैन पसारी ॥
भइउ विरह दहि कोइल कारी। डार डार जिमि कूकि पुकारी ॥
कौन सो दिन जब पिउ मिलै, यह मन राता तासु।
वह दुख देखै मोर सब, हौं दुख देखौं तासु ॥

[ ३१६ ]

कहि सत भाउ भएउ कँठलागू। जनु कंचन मों मिला सोहागू ॥
चौरासी आसन बर जोगी। खट रस बिंदक चतुर सो भोगी ॥
कुसुम माल असि मालति पाई। जनु चंपा गहि डार ओनाई ॥
करी बेधि जनु भँवर भुलाना। हना राहु अर्जुन के बाना ॥
कंचन करी चढ़ी नग जोती। बरमा सौं बेधा जनु मोती ॥
नारँग जानुँ कीर नख देई। अधर आँबु रस जानहुँ लेई ॥
कौतुक केलि करहिं दुख नंसा। कुंदहि कुरुलहि जनु सर हंसा ॥
रही बसाइ बासना, चोवा चंदन मेद।
जो असि पदुमिनि रावै, सो जानै यह भेद ॥ ३१६ ॥

शब्दार्थ—बिंदक = जानने वाला। ओनाई = झुकाई। करी = कली। बरमा = छेदने का औजार। नारँग = नारंगी। कुंदहिं = उछल कूद करते

हैं। कुरलहिं = आनन्द मनाते हुए शोर करते हैं। बसाई = सुगन्धित है। बासना = सुगन्ध। मेद = कस्तूरी। रावै—पाठान्तर—रानी।

अर्थ—अपने हृदय के सच्चे भाव को उक्त प्रकार से कहने के बाद दोनों का आलिङ्गन हुआ। यह मेल इस प्रकार हुआ जैसे सोने में सोहागा मिलता है। वह राजा रत्नसेन श्रेष्ठ जोगी था साथ ही रतिशास्त्र के चौरासी आसनों, छः रसों में चतुर भोगी भी था। उसने मालती फूल की माला के समान पद्मावती को पाकर अपना हृदय-हार बना लिया, मानो चम्पा की डाल को पकड़ कर झुका लिया हो। मानो भौंरा पुष्प-कली को भेद कर उसी में मस्त होकर भूल गया है। अर्जुन के बाण से मछली बेधी गयी। अर्थात् अब तो राजा अपने लक्ष्य में सफल हो गया। राजा और रानी के मेल की जायसी और उपमा देते हैं—मानो सोने की कली में हीरे की ज्योति लगी है और मोती में बरमा से छेद कर दिया हो। संभोग शृंगार में पद्मावती के उरोजों पर नखक्षत हो गये। उनको दृष्टि में रख कर कवि कहता है कि मानो तोते ने नारंगी पर चोंच चला दी है। अधरामृत का रस भी राजा ले रहा है। कौतुक में काम-क्रीड़ायें होने लगीं, सभी दुःखों की समाप्ति हो गयी, दोनों इस प्रकार किलोल करने लगे जैसे तालाब में हंस के जोड़े हँसते, कूदते और कुरलते हैं।

चोवा, चन्दन और कस्तूरी की सुगन्ध चारों ओर फैल रही है, जो ऐसी पद्मिनी रानी को देखे वही उसकी काम-क्रीड़ा का रहस्य जान सकता है।

पं० शुक्ल सम्पादित ग्रन्थावली के इस पद के बाद वाले छन्द को डा० माताप्रसाद गुप्त प्रक्षिप्त मानते हैं। इसमें उक्त पद की पुनरुक्तियाँ हैं। पद इस प्रकार है—

रतनसेन सो कंत सुजानू। खट-रस पंडित सोरह बानू॥
तस होइ मिले पुरुष औ गोरी। जैसी बिछुरी सारस जोरी॥
रचि सारी दूनौ एक पासा। होइ जुग-जुग आवहिं कविलासा॥
पिय धनि गही, दीन्ह गलबाहीं। धनि बिछुरी लागी उर माहीं॥
ते छकि रस नव केलि करेहीं। चोका लाइ अधर-रस लेहीं॥

धनि नौ सात, सात औ पाँचा। पूरुष दस ते रह किमि बाँचा ॥
लीन्ह विधाँसि बिरह धनि साजा। औ सब रचन जीत हुत राजा ॥
जनहुँ औटि कै मिलि गये, तस दूनौ भए एक।
कंचन कसत कसौटी, हाथ न कोऊ टेक ॥

शब्दार्थ सारि = पाँसासारी। नौ सात = सोलह शृंगार। सात औ पाँचा = बारह आभरण। दस = दश उंगलियाँ। बाँचा = बचना। विंधाँसि = विध्वंस।

[ ३१७ ]

चतुर नारि चित अधिक चिहूटै। जहाँ पेम बाँधै किमि छूटै ॥
किरिरा काम केलि मनुहारी। किरिरा जेहिं नहिं सो न सुनारी ॥
किरिरा होइ कंत कर तोखू। किरिरा किहें पाव धनि मोखू ॥
जेहि किरिरा सो सोहाग सोहागी। चंदन जैस स्यामि कँठ लागी ॥
गोदि गेंद कै जानहुँ लई। गेंदहुँ चाहि धनि कोंवरि भई ॥
दारिवँ, दाख, बेल रस चाखा। पिउ के खेल धनि जीवन राखा ॥
बैन सोहावनि कोकिल बोली। भएउ बसंत करी मुख खोली ॥
पिउ पिउ करत जीभ धनि सूखी, बोली चात्रिक भाँति।
परी सो बूँद सीप जनु मोंती, हिएँ परी सुख सांति ॥ ३१७ ॥

शब्दार्थ—चिहूटै = चिमट कर लगे। किरिरा = क्रीड़ा। मनुहारी = शान्ति, तृप्ति। मोखू = मोक्ष, छुटकारा। चाहि = अधिक। कोंवरि = कोमल।

अर्थ—चतुर नारी पद्मावती का दिल और अधिक रत्नसेन में चिमट कर लग गया, जहाँ प्रेम होता है वहाँ भला कैसे छूट सकता है। काम-क्रीड़ा ही से शान्ति मिलती है, जिसमें क्रीड़ा नहीं वही सुन्दर स्त्री नहीं है। क्रीड़ा से ही पति को सन्तुष्टि होती है और क्रीड़ा करने से ही स्त्री को छुटकारा मिलता है। जिसने क्रीड़ा की वही सौभाग्य से सुहागिन हुई और चन्दन के समान पति के कण्ठ में शोभा पाती है। रत्नसेन ने पद्मावती को गेंद के समान गोद में ले-लिया, वह तो गेंद से भी अधिक कोमल थी। दाड़िम, दाख और बेल आदि के मीठे रसों को खाकर स्त्री ने पति के लिए ही अपने जीवन को रख रखा है। इस समय वह कोकिल के समान मीठे वचन

बोली मानो वसन्त ऋतु में कली ने अपने मुख खोले हैं। उसकी जीभ 'पी पी' करते हुए इस प्रकार सूख गयी, जैसे पपीहे की रट-रट कर सूख जाती है। उसके हृदय में इस प्रकार शान्ति प्राप्त हुई, जैसे सीप में स्वाति की बूँद पड़ने से मती बोन जाता है।

[ ३१८ ]

कहौं जूझि जस रावन रामा। सेज बिधंसि बिरह संग्रामा ॥
लीन्ह लंक, कंचन गढ़ टूटा। कीन्ह सिंगार अहा सब लूटा ॥
औ जोबन मैमंत बिधंसा। बिचला बिरह जीव लै नंसा ॥
लूटे अंग अंग सब भेसा। छूटी मंग, भङ्ग भे केसा ॥
कंचुकि चूर, चूर भै ताने। टूटे हार, मोंति छहराने ॥
बारी टाड सलोनी टूटीं। बाँहू कँगन कलाई फूटीं ॥
चंदन अंग छूट तस भेंटी। बेसरि टूटि, तिलक गा मेंटी ॥

पुहुप सिंगार सँवारि जौं, जोबन नवल बसंत।
अरगज जेउँ हिय लाइ कै, मरगज कीन्हें कंत ॥ ३१८ ॥

शब्दार्थ—जूझि = युद्ध, काम-क्रीड़ा। बिधंसि = बिध्वंस हुई। लंक = लंका, कमर। कंचनगढ़ = सोने का गढ़, आभूषणों से रचित शरीर। मैमंत = मस्त। नंसा = नष्ट किया था। मंग = माँग। बारी = कान की बालियाँ। टाड = गले का आभूषण। अरगज = सुगन्धित लेप। मरगज = मला दला हुआ।

अर्थ—जायसी कहते हैं कि अब मैं रत्नसेन और पद्मावती की संभोग क्रीड़ा का वर्णन करता हूं—मानो राम-रावण की लड़ाई हो। इस युद्ध में सेज विध्वंस हो गयी और विरह से युद्ध संग्राम हो रहा है कि संयोग की अवस्था है। लंका रूपी कटि को राजा ने ले लिया और कंचनगढ़ रूपी आभूषण छीना-झपटी में टूट गये। जो शृंगार पद्मावती ने कर रखा था वह सब लुट गया। मस्त यौवन विध्वंस हो गया। वह विरह जिसने जीव को नष्ट कर रखा था विचलित हो गया। अंग-अंग के भेष सब टूट गये, माँग

छूट गयी, बाल खुल गये। चोली और उसकी बन्दें सब टूट गयीं, हार टूट गये और उसके सारे मोती बिखर गये। कान की सुन्दर बालियाँ और टाड टूट गये, बाँह के कंगन और चूड़ियां टूट गईं। इस प्रकार गाढ़ आलिंगन किया कि शरीर में लगा हुआ चन्दन छूट गया, बेसर टूट गयी और मत्थे की टीका-बिंदी बिखर सी गयी। यौवन रूपी जो नया वसन्त फूलों के शृंगार से सजा था उसको जैसे अरगजा को हृदय में लगा कर रत्नसेन ने मल-दल डाला।

[ ३१६ ]

बिनति करै पदुमावति बाला। सो धनि सुराही पीउ पियाला॥
पिउ आएसु माँथे पर लेऊँ। जौं माँगै नै नै सिर देऊँ॥
पै पिय बचन एक सुनु मोरा। चाखि पियहु मधु थोरइ थोरा॥
पेम सुरा सोई पै पिया। लखै न कोइ कि काहूँ दिया॥
चुवा दाख मधु सो एक बारा। दोसरि बार होहु बिसँभारा॥
एक बार जो पी कै रहा। सुख जेंवन, सुख भोजन कहा॥
पान फूल रस रंग करीजै। अधर अधर सों चाखन कीजै॥
जो तुम्ह चाहहु सो करहु, नहि जानहुँ भल मंद।
जो भावै सो होइ मोहि, तुम्हहि पै चहौं अनंद॥ ३१६॥

शब्दार्थ—नै नै = झुक झुक कर। दोसरि = दूसरी। बिसँभारा = सँभालने में अशक्त। जेंवन-पाठान्तर-जीवन।

अर्थ—पद्मावती विनय करने लगी हे प्रिय तू तो प्याले के स्थान पर सुराही भर पीने लगा। आज्ञा तो मैं शिरोधार्य करूँगी और जो आप मांगेंगे उसे नम्रतापूर्वक झुक-झुक कर दूँगी। पर हे प्रिय मेरी एक बात सुनिये, आप अमृत को थोड़ा-थोड़ा ही चखिये। प्रेम की शराब तो वही पीता है कि जिसे कोई देखें न कि उसे किसने दिया। दाख का मधु तो एक बार ही चू जाता है, दूसरी बार वह बेसंभाल हो जाता है, जिसने एक बार ही सब पी लिया उसके भोजन में क्या आनन्द है? पान फूल के रस रंग को कीजिए और अधरामृत पान धीरे-धीरे करिए। जो तुम चाहोगे उसे ही करूँगी, यह न विचार करूँगी कि वह अच्छा है; या बुरा, जो तुम्हें

अच्छा लगेगा वही मुझे भी प्रिय हो जायेगा, मैं तो तुम्हारा ही आनन्द चाहती हूँ।

[ ३२० ]

सुनु धनि पेम सुरा के पिएँ। मरन जियन डर रहै न हिएँ ॥
जहँ मद तहाँ कहाँ संभारा। कै सो खुमरिहा, कै मँतवारा ॥
सो पै जान पियै जो कोई। पी न अघाइ जाइ परि सोई ॥
जा कहँ होइ बार एक लाहा। रहै न ओहि बिनु, ओही चाहा ॥
अरथ दरब सब देइ बहाई। कह सब जाउ, न जाउ पियाई ॥
रातिहुँ देवस रहै रस भीजा। लाभ न देख, न देखै छीजा ॥
भोर होत तब पलुह सरीरू। पाव खुमरिहा सीतल नीरू ॥
एक बार भरि देहु पियाला, बार बार को माँग।
मुहमद किमि न पुकारै, अैस दाँउ जेहि खाँग ॥ ३२० ॥

शब्दार्थ—खुमरिहा = खुमारी वाला-शराब के नशे के उतरने की अवस्था को खुमारी कहते हैं। लाहा = लाभ। छीजा = हानि। पलुह = प्रसन्न होना। खांग = कम होना।

अर्थ—रत्नसेन ने कहा कि हे पद्मावती सुनो। प्रेमी रूपी शराब के पीने पर हृदय में जीने मरने का डर नहीं रह जाता। जहाँ मस्ती है वहाँ सँभालने का अवसर कहाँ है, उस अवस्था में या तो खुमारी रहेगी या मस्ती। उसको तो वही जान सकता है जो उसे पियेगा। पीने वाला पीने से कभी तृप्त नहीं होता और पीकर सो जाता है। जिसे एक बार उसके पीने का लाभ प्राप्त हो गया वह उस सुरा के बिना रह नहीं सकता और उसे ही चाहता रहता है। उसके पीछे अपना सब द्रव्य और धन बहा देता है और कहता है कि चाहे सब चला जाय पीना न जाय। रात दिन उसी के रस में तर रहता है, न तो इसमें वह लाभ देखता है और न हानि। प्रातः होते ही उसके शरीर में प्रसन्नता छा जाती है, शराब और नींद की खुमारी मिटाने के लिए वह ठंडे जल का प्रयोग करता है।

इसलिए एक बार ही प्रेम का प्याला भर दो, बार-बार कौन माँगे।

जायसी कहते हैं कि जिसे ऐसे दाँव में भी पूरा न पड़ा वह फिर क्यों न पुकारता रहेगा।

नोट—अश्लील प्रसंग के भीतर भी जायसी ने इस पद में अपने रहस्यात्मक प्रेम की अभिव्यंजना कर ही दी। यहाँ प्रेम प्याले की मस्ती के पीछे सूफी-प्रेम की आध्यात्मिकता की झलक प्रत्यक्ष है।

[ ३२१ ]

भएउ बिहान उठा रबि साईं। ससि पहँ आईं नखत तराईं॥
सब निसि सेज मिले ससि सूरू। हार चीर बलया भे चूरू॥
सो धनि पान, चून भै चोली। रंग रँगीलि निरँग भै भोली॥
जागत रैनि भएउ भिनुसारा। हिय न सँभार सोवति बेकरारा॥
अलक भुअंगिनि हिरदै परी। नारँग ज्यों नागिनी बिख भरी॥
लरै मुरै हिय हार लपेटी। सुरसरि जनि कालिंदी भेंटी॥
जनु पयाग अरइल बिच मिली। बेनी भइ सो रोमावलि॥
नाभी लाभी पुन्य की, कासी कुंड कहाउ।
देवता मरहिं कलपि सिर आपुहि, दोख न लावहिं काउ॥ ३२१॥

शब्दार्थ—रवि = सूर्य – ( रत्नसेन )। ससि = पद्मावती। तराईं = सखियाँ। बलया=चूड़ियाँ। निरंग = बिना रंग की, तेजहीन। भिनुसारा = प्रातः। अलक = बाल। लरै मुरै = मुड़ी और उलझी हुई। अरइल = यमुना के किनारे का गाँव। कलपि = काट कर।

अर्थ—प्रातःकाल होने पर रत्नसेन उठा और सखियाँ पद्मावती के पास आयीं। उन्होंने आकर देखा कि सारी रात सूर्य और चन्द्र ( रत्नसेन और पद्मावती ) मिले रहे इससे हार, चीर और चूड़ियाँ चूर-चूर हो गये। वह स्त्री पद्मावती पान के पत्ते की भाँति पीली हो गयी और उसकी चोली चूर्ण हो गयी। वह रंग-रंगियाँ करने वाली भोली पद्मावती—तेजहीन से (फीकी) पड़ गयी। सारी रात जगते हुए सवेरा हो गया, वह अपने को सँभाल न सकी, और बेसुध होकर सोने लगी। उसके हृदय पर बालों की चोटी सर्पिणी के समान पड़ी हुई है। मानो नारंगी ( स्तनों ) के पास विष से भरी सर्पिणी पड़ी है। हृदय के हार से लिपट कर वेणी उलझ गयी है,

मानो गंगा यमुना से मिल रही है। उसके दोनों कुच मानो प्रयाग और अरैल हैं और उसी के बीच गंगा यमुना मिल रही हैं, जो रोमावली नाभि से कुच तक सहसा रूप में आ रही है वह मानो सरस्वती है, इस प्रकार पूरी त्रिवेणी बनी है। नाभि को पुण्य लाभ हुआ है। अतः उसे काशी कुण्ड कहते हैं, देवता भी उस पर अपने सिर काट कर मरते हैं, पर किसी को दोष नहीं लगता।

अलंकार—रूपक, उपमा।

[ ३२२ ]

बिहँसि जगावहिं सखी सयानी। सूर उठा, उठु पदुमिनि रानी॥
सुनत सूर जनु कँवल बिगासा। मधुकर आइ लीन्ह मधुबासा॥
जनहु माँति बसियानी बसी। अति बिसँभार फूल जनु अरसी॥
नैन कँवल जानहुँ धनि फूले। चितवनि मिरिग सोवत जनु भूले॥
भै ससि खोनि गहन असि गही। बिथुरे नखत, सेज भरि रही॥
तन न सँभार केस औ चोली। चित अचेत मन बाउर भोली॥
कँवल माँझ जनु केसरि डीठी। जोबन हुत सो गँवाइ बईठी॥
बेलि जो राखी इन्द्र कहँ, पवनहुँ बास न दीन्ह।
लागेउ आइ भँवर तहँ, करी बेधि रस लीन्ह॥ ३२२॥

शब्दार्थ—माँति = मतवाली। बसियानी = बासी हुई, सुस्त। अरसी = अलसी, अलसायी हुई। बिथुरे = बिखरे। नखत = आभूषण।

अर्थ—हँस कर सखियाँ पद्मावती को जगाने लगीं। यह कहने लगीं कि रत्नसेन तो उठ गया है। हे रानी! तू भी उठ। सूर्य (रत्नसेन) का नाम सुनते ही पद्मावती ऐसी खिल उठी जैसे कमल। उसकी आँख रूपी खिले हुए कमल में मधुकर रूपी पुतलियाँ मानो मधु के लिए लगी हुई हैं। नींद के बाद वह मस्ती की सुस्ती में थी। अलसायी हुई पद्मावती अलसी के फूल के समान अत्यन्त बेसम्भाल हो रही थी। उसके कमल रूपी नेत्र फूले हुए थे, उसकी चितवन रूपी मृग मानो सुप्तावस्था में भूल गये थे। ग्रहण लगने पर जैसे चन्द्रमा क्षीण हो जाता है, उसी प्रकार पद्मावती निष्प्रभ थी। नक्षत्र रूपी उसके हार के मोती बिखरे थे जिससे सारी सेज भरी थी।

उसका शरीर अपनी सँभाल में न था, केश और चोली खुले हुए थे। भोली पद्मावती का मन अचेत था। उसके चेहरे पर ऐसा पीलापन था जैसे कमल के ऊपर केसर छा गयी हो। जो उसका यौवन था उसे वह गँवा चुकी थी। जिस यौवनलता को इन्द्र के लिए उसने बचा रखा था और पवन भी उसकी बास नहीं ले पाया था वहाँ भौंरा ( रत्नसेन ) आकर लग गया और कली को बेध कर उसने सारा रस ले लिया।

[ ३२३ ]

हँसि हँसि पूँछहिं सखी सरेखी। जानहुँ कुमुद चंद मुख देखी॥
रानी तुम्ह ऐसी सुकुमारा। फूल बास तनु जीउ तुम्हारा॥
सहि न सकहु हिरदै पर हारू। कैसे सहिहु कंत कर भारू॥
मुखा कवँल बिगसत दिन राती। सो कुँभिलान सहिहु केहि भाँति॥
अधर जो कोंवल सहत न पानू। कैसें सहा लागि मुख भानू॥
लङ्क जो पैग देत मुरि जाई। कैसें रही जो रावन राई॥
चन्दन चोंप पवन अस पीऊ। भइउ चित्र सम, कस भा जीऊ॥
सब अरगज भा मरगज, लोचन पीत सरोज।
सत्य कहहु पदुमावति, सखीं परीं सब खोज॥ ३२३॥

शब्दार्थ - सरेखी = चतुर। रावन = रमण करने वाला, रावण। अरगज = चन्दनादि का लेप। मरगज = मला-दला हुआ। खोज = खोजबीन, पूछताछ।

अर्थ—चतुर सखियाँ हँस-हँस कर पूछने लगीं। वे सब इस प्रकार प्रफुल्लित थीं, जैसे कुमुदिनियाँ चन्द्रमा का मुख देख कर खिली होती हैं। उन्होंने कहा कि हे रानी! तुम तो अत्यन्त ही सुकुमारी हो, तुम्हारा शरीर फूल के समान और जीव सुगन्धि के समान है। तुम तो हृदय पर हार के बोझ को भी नहीं सह सकती हो। फिर तुमने अपने पति का भार कैसे सह लिया। तेरा कमल रूपी मुख दिन रात विकसित रहता है। वह इस समय कुम्हलाया हुआ है। तुम्हारे होठ इतने कोमल हैं कि वे पान तक को नहीं सह सकते थे तो तूने सूर्य (रत्नसेन) के मुख में उन्हें लगा कर कैसे सहा। तुम्हारी कटि इतनी नाजुक है कि चलने में पग रखने से मुड़ जाती है वह कैसे

रह सकी जब रावण रूप रमण करने वाले रत्नसेन के हाथ लगी। चन्दन चोबा और सुगन्धि के समान तो तुम्हारा पति है, पर तू इस समय चित्र के समान ठिठक रही है, बताओ कि तुम्हारा जी कैसा है। तेरे चन्दनादि के सुगन्धित लेप मले-दले जा चुके हैं, तेरी आँखें पीले कमल की भाँति निस्तेज हैं। हे पद्मावती ! सब सच-सच कहना, ऐसा कह कर सब सखियाँ पूछ-ताछ करती हुई उसके पीछे पड़ गयीं।

[ ३२४ ]

कहौं सखी आपन सति भाऊ। हौं जो कहति कस रावन राऊ ॥
जहाँ पुहुप अलि देखत संगू। जिउ डेराइ काँपत सब अंगू ॥
आजु मरम मैं पावा सोई। जस पियार पिउ औरु न कोई ॥
तब लगि डर हा मिला न पीऊ। भान कि दिस्टि छूटि गा सीऊ ॥
जत खन भान कीन्ह परगासू। कँवल करी मन कीन्ह बिगासू ॥
हिएँ छोह उपना औ सीऊ। पिउ न रिसाइ लेउ बरु जीऊ ॥
हुत जो अपार बिरह दुख दोखा। जनहुँ अगस्ति उदधि जल सोखा ॥
हहूँ रंग बहु जानति, लहरैं जेति समुंद।
पै पिय की चतुराई सकिउँ न एकौ बुंद ॥ ३२४ ॥

शब्दार्थ—सतिभाऊ = सत्यभाव। रावन = रमण करने वाला। सीऊ = शीत। जत खन = जिस क्षण। उपना = उत्पन्न हुआ। हँ हूँ = मैं भी। जेंति = जितनी। रंग = चतुराई।

अर्थ—पद्मावती कहने लगी कि हे सखि ! मैं अपना सत्यभाव कहती हूँ। मैं कहती हूं कि वह रमण करने वाला राजा कैसा होगा। जहाँ भी मैं पुष्प के साथ भौंरे को देखती थी हृदय डर उठता और शरीर काँप उठता था। पर प्रेम के रहस्य को तो मैंने अब समझा है कि पति से प्यारा कोई नहीं होता। जब तक मेरे हृदय में डर था, वह प्रियतम नहीं मिला। अब उसके मिलने पर भय इस प्रकार दूर हुआ— जैसे सूर्य की दृष्टि पड़ते ही शीत उड़ जाता है। ज्योंही सूर्य का प्रकाश होता है कमल की कली विकसित हो जाती है। हृदय में प्रेम और शीतलता उत्पन्न होते हैं। मैं तो यह कहती हूं, पति क्रुद्ध न हो चाहे जान भले ही ले ले। प्रियतम के मिलने पर जो अपार

उसका शरीर अपनी सँभाल में न था, केश और चोली खुले हुए थे। भोली पद्मावती का मन अचेत था। उसके चेहरे पर ऐसा पीलापन था जैसे कमल के ऊपर केसर छा गयी हो। जो उसका यौवन था उसे वह गँवा चुकी थी। जिस यौवनलता को इन्द्र के लिए उसने बचा रखा था और पवन भी उसकी बास नहीं ले पाया था वहाँ भौंरा ( रत्नसेन ) आकर लग गया और कली को बेध कर उसने सारा रस ले लिया।

[ ३२३ ]

हँसि हँसि पूँछहिं सखी सरेखी। जानहुँ कुमुद चंद मुख देखी ॥
रानी तुम्ह ऐसी सुकुमारा। फूल बास तनु जीउ तुम्हारा ॥
सहि न सकहु हिरदै पर हारू। कैसे सहिहु कंत कर भारू ॥
मुखा कवँल बिगसत दिन राती। सो कुँभिलान सहिहु केहि भाँति ॥
अधर जो कोंवल सहत न पानू। कैसें सहा लागि मुख भानू ॥
लङ्क जो पैग देत मुरि जाई। कैसें रही जो रावन राई ॥
चन्दन चोंप पवन अस पीऊ। भइउ चित्र सम, कस भा जीऊ ॥
सब अरगज भा मरगज, लोचन पीत सरोज।
सत्य कहहु पदुमावति, सखीं परीं सब खोज ॥ ३२३ ॥

शब्दार्थ - सरेखी = चतुर । रावन = रमण करने वाला, रावण । अरगज = चन्दनादि का लेप । मरगज = मला-दला हुआ । खोज = खोजबीन, पूछताछ ।

अर्थ—चतुर सखियाँ हँस-हँस कर पूछने लगीं। वे सब इस प्रकार प्रफुल्लित थीं, जैसे कुमुदिनियाँ चन्द्रमा का मुख देख कर खिली होती हैं। उन्होंने कहा कि हे रानी! तुम तो अत्यन्त ही सुकुमारी हो, तुम्हारा शरीर फूल के समान और जीव सुगन्धि के समान है। तुम तो हृदय पर हार के बोझ को भी नहीं सह सकती हो। फिर तुमने अपने पति का भार कैसे सह लिया। तेरा कमल रूपी मुख दिन रात विकसित रहता है। वह इस समय कुम्हलाया हुआ है। तुम्हारे होठ इतने कोमल हैं कि वे पान तक को नहीं सह सकते थे तो तूने सूर्य (रत्नसेन) के मुख में उन्हें लगा कर कैसे सहा। तुम्हारी कटि इतनी नाजुक है कि चलने में पग रखने से मुड़ जाती है वह कैसे

रह सकी जब रावण रूप रमण करने वाले रत्नसेन के हाथ लगी। चन्दन चोबा और सुगन्धि के समान तो तुम्हारा पति है, पर तू इस समय चित्र के समान ठिठक रही है, बताओ कि तुम्हारा जी कैसा है। तेरे चन्दनादि के सुगन्धित लेप मले-दले जा चुके हैं, तेरी आँखें पीले कमल की भाँति निस्तेज हैं। हे पद्मावती! सब सच-सच कहना, ऐसा कह कर सब सखियाँ पूछ-ताछ करती हुई उसके पीछे पड़ गयीं।

[ ३२४ ]

कहौं सखी आपन सति भाऊ। हौं जो कहति कस रावन राऊ॥
जहाँ पुहुप अलि देखत संगू। जिउ डेराइ काँपत सब अंगू॥
आजु मरम मैं पावा सोई। जस पियार पिउ औरु न कोई॥
तब लगि डर हा मिला न पीऊ। भान कि दिस्टि छूटि गा सीऊ॥
जत खन भान कीन्ह परगासू। कँवल करी मन कीन्ह बिगासू॥
हिएँ छोह उपना औ सीऊ। पिउ न रिसाइ लेउ बरु जीऊ॥
हुत जो अपार बिरह दुख दोखा। जनहुँ अगस्ति उदधि जल सोखा॥
हौंहूँ रंग बहु जानति, लहरै जेति समुंद।
पै पिय की चतुराई सकिउँ न एकौ बुंद॥ ३२४॥

शब्दार्थ—सतिभाऊ = सत्यभाव। रावन = रमण करने वाला। सीऊ = शीत। जत खन = जिस क्षण। उपना = उत्पन्न हुआ। हौं हूँ = मैं भी। जेति = जितनी। रंग = चतुराई।

अर्थ—पद्मावती कहने लगी कि हे सखि! मैं अपना सत्यभाव कहती हूँ। मैं कहती हूं कि वह रमण करने वाला राजा कैसा होगा। जहाँ भी मैं पुष्प के साथ भौंरे को देखती थी हृदय डर उठता और शरीर काँप उठता था। पर प्रेम के रहस्य को तो मैंने अब समझा है कि पति से प्यारा कोई नहीं होता। जब तक मेरे हृदय में डर था, वह प्रियतम नहीं मिला। अब उसके मिलने पर भय इस प्रकार दूर हुआ—जैसे सूर्य की दृष्टि पड़ते ही शीत उड़ जाता है। ज्योंही सूर्य का प्रकाश होता है कमल की कली विकसित हो जाती है। हृदय में प्रेम और शीतलता उत्पन्न होते हैं। मैं तो यह कहती हूं, पति क्रुद्ध न हो चाहे जान भले ही ले ले। प्रियतम के मिलने पर जो अपार

विरह, दुःख और दोष थे वे सब इस प्रकार समाप्त हो गये मानो अगस्त ऋषि ने समुद्र को ही सोख लिया हो। मैं भी समुद्र की तमाम लहरों की भाँति अनेक चतुराइयाँ जानती हूँ। पर प्रियतम की चतुराई कहीं अधिक है उनके सामने एक बूँद भी नहीं निकलता। अर्थात् मैं सर्वथा ही उनके वश में हो जाती हूँ।

[ ३२५ ]

कै सिंगार तापहँ कहँ जाऊँ। ओहि कहँ देखौं ठाँवहिं ठाऊँ॥
जौं जिउ महँ तौ उहै पियारा। तन महँ सोइ न होइ निरारा॥
नैनन्ह माँह तौ उहै समाना। देखउँ जहाँ न देखउँ आना॥
आपुन रस आपुहि पै लेई। अधर सहें लागें रस देई॥
हिया थार कुच कंचन लाड़ू। अगुमन भेंट दीन्ह होइ चाड़ू॥
हुलसी लंक लंक सो लसी। रावन रहसि कसौटी कसी॥
जोबन सबै मिला ओहि जाई। हौं रे बीच हुति गई हेराई॥
जस किछु दीजै धरै कहँ, आपन लीजै सँभारि।
तस सिंगार सब लीन्हेसि, मोहि कीन्हेसि ठठियारि॥ ३२५॥

शब्दार्थ—निरारा = अलग। आना = अन्य, दूसरा। सहें-पाठान्तर सैं-सोइ-रसहि-सहस, सम, सैं। लाड़ू = लड्डू। अगुमन = पहले। चाड़ू = चाह, इच्छा। हुलसी = खिली। लंक = कमर। रावन = रावण, रमण करने वाला प्रियतम। हेराई = खो जाना। दीजे-लीजै-पाठान्तर-दीन्ह-लीन्ह। ठठियारि = खाली, छूछी।

अर्थ - पद्मावती ही कह रही है कि—अब मैं श्रृंगार करके उसके पास कैसे जाऊँ। अब मैं उसी को जगह-जगह देख रही हूँ। यहाँ आकर जायसी ने रहस्यात्मक भाव प्रकट कर दिये। प्रियतम को परमेश्वर के स्वरूप में देखने का प्रयास है। जीव में उसी का प्यार बसा है, शरीर में भी वही है, वह अब अलग नहीं हो सकता। आँखों में भी वही समाया हुआ है। जहाँ कहीं भी देखती हूँ और कोई नहीं दिखाई पड़ता। अपने रस को वह स्वयं प्राप्त कर रहा है। होठों को अधरों की चोट सहनी पड़ती है और अमृत

रस उत्पन्न करने लगते हैं। उसने हृदय रूपी थाल में कुच रूपी लड्डुओं को चाह के रूप में प्रथम भेंट में दिया। कमर उल्लसित हो उठी। जैसे रावण की लंका खिली हुई थी। रावण रूपी उस रमण करने वाले राजा रत्नसेन ने प्रसन्न होकर कसौटी पर कस कर परीक्षा की—अर्थात् अंग में भर कर उसकी परीक्षा की। सारा यौवन स्वतः उससे जाकर मिल गया और मैं तो उसमें खो गयी। जिस प्रकार उसने यौवन को मुझे धरोहर के रूप में दे रखा था उसे उसने सम्भाल लिया। उसने मेरे सारे शृंगार को लेकर मुझे बिलकुल छूछी ही कर दिया।

[ ३२६ ]

अनु री छबीली तोहि छबि लागी। नेत्र गुलाल कंत संग जागी॥
चंप सुदरसन भा तोहि सोई। सोन जरद जसि केसरि होई॥
पैठ भँवर कुच नारँग बारी। लागे नख, उछरे रँग ढारी॥
अधर अधर सों भीज तबोरी। अलकाउरि मुरि मुरि गौ मोरी॥
रायमुनी तूँ औ रतमुँही। अलि मुख लागि भई फुलचुही॥
जैस सिंगार हार सो मिली। मालति ऐसि सदा रहि खिली॥
पुनि सिंगार करि अरसि नेवारी। कदम सेवती पियहि पियारी॥
कुंद करी जहँवा लगि बिगसै, रितु बसंत औ फागु।
फूलहु फरहु सदा सखि औ, सुख सुफल सोहाग॥ ३२६॥

शब्दार्थ – अनु = फिर। चंप = चंपा। सुदरसन = सुन्दर रूप। तबोरी = पान। अलकाउरि = केश। रायमुनी = एक छोटी चिड़िया। रतमुँही = लाल मुख वाली। अरसि = क्षोभ। नेवारी = निवारण कर। कदम = चरण।

अर्थ—पद्मावती के वचनों को सुन कर सखियों ने कहा कि हे सुन्दरी! अब तुम्हें एक नयी छवि मिल गयी है। पति के साथ रात भर जगते रहने के कारण तेरे नेत्र गुलाब के सदृश लाल हो गये हैं। चंपे के समान तेरी उज्ज्वल कान्ति पीली पड़ गयी है। हे सुन्दरी! तेरे कुच रूपी नारंगियों पर नखक्षत पड़े हैं। उनके लाल रंग खिले हुए हैं। होठ होठों की रगड़ खाकर पान सदृश हो गये हैं और केश मुड़-मुड़ गये हैं। तू तो रायमुनी चिड़िया की भांति लाल मुँह वाली है। पर भ्रमर (रत्नसेन) के मुख से लग कर

फुलचुही चिड़िया के समान श्याम मुख वाली बन गयी है। ऐसा प्रतीत होता है मानो तुम सदा खिली रहने वाली हो। अब तुम फिर से शृंगार करो, अपना क्षोभ छोड़ो। अपने पति के चरणों की सेवा करती हुई उसकी प्यारी बनो। जहाँ ही कुंदकली होती हैं वहीं वसन्त ऋतु के आने पर वह खिलती है और फाग होता है। अतः हे सखी ! अब तुम खूब फूलो और सुख करो, तेरा सुहाग सफल हो।

अलंकार—इस पद की अन्तिम पंक्तियों में जायसी ने पद्मावती के साथ ही साथ सिंगारहार, मालती, अलसी, नेवारी, कदम्ब, सेवती, कुन्द-कली फूलों का नाम भी वसन्त ऋतु के साथ उपस्थित कर दिया है। यह मुद्रा अलंकार का सुन्दर उदाहरण है।

[ ३२७ ]

कहि यह बात सखीं सब धाईं। चंपावति कहँ जाइ सुनाईं॥
आजु निरँग पदुमावति बारी। जीउ न जानहुँ पवन अधारी॥
तरकि तरकि गौ चंदन चोला। धरकि धरकि डर उठै न बोला॥
अही जो करी करा रस पूरी। चूर चूर होइ गई सो चूरी॥
देखहु जाइ जैसि कुँभिलानी। सुनि सोहाग रानी बिहँसानी॥
लै सँग सबै पदुमिनी नारी। आइ जहाँ पदुमावति बारी॥
आइ रूप सबहीं सो देखा। सोन बरन होइ रही सो रेखा॥

कुसुस फूल जस मरदिअ, निरँग दीखु सब अंग।
चंपावति भै वारने, चूँबि केस औ मंग॥ ३२७॥

शब्दार्थ—निरँग = रंग (आभा) विहीन। तरकि = फट जाना। बारनै= बलिहारी गई। चूँबि = चूम कर। मंग = माँग।

अर्थ—सखियाँ पद्मावती से ये बातें करने के बाद दौड़ कर पद्मावती की माँ चम्पावती के पास गयीं और जाकर उससे कहा कि आज पद्मावती रंग-विहीन हो गयी है, उसमें जीव नहीं रह गया है, केवल स्वांसों का ही आधार रह गया है। उसकी चन्दन चर्चित चोली फट गयी है। उसका हृदय धड़क रहा है, वह बोल नहीं सकती। जो कमल की कली थी और कला युक्त तथा

रस पूर्ण थी, वह चूर-चूर हो गयी, उसकी चूड़ियाँ भी चूर हो गयीं। अब तुम जाकर देखो कि वह कैसी कुम्हलाई हुई है। उनके इस वर्णन का लक्ष्यार्थ रानी ने समझा, और पद्मावती के सोहाग को समझ कर रानी चम्पावती हँस पड़ी। वह सभी पद्मिनी नारियों को साथ लेकर जहाँ सुन्दरी पद्मावती थी, आयी। आ करके उसने उसका रूप देखा, तो वह पीली होकर रेखा के समान शरमाई हुई हो गयी थी। उसने देखा कि जैसे फूल मले जाने पर रंग विहीन हो जाता है, उसी प्रकार पद्मावती भी संभोग के उपरान्त निष्प्रभ हो गयी थी। उसको ऐसा देख कर चम्पावती ने उसकी बलैयाँ लीं और उसके केशों और माँग को चूम लिया।

[ ३२८ ]

सब रनिवास बैठ चहु पासा। ससि मंडर जनु बैठ अकासा॥
बोला सबहिं बारि कुँभिलानी। करहु सँभार, देहु खँडवानी॥
कोंवलि करी कँवल रँग भीनी। अति सुकमारि, लंक कै खीनी॥
चाँद जैस धनि बैठि तरासी। सहस करा होइ सुरज गरासी॥
तेहि की झार गहन अस गही। भै निरंग, मुख जोति न रही॥
दरब उबारहु अरघ करेहू। औ लै वारि सन्यासिहि देहू॥
भरि कै थार नखत गज मोंती। वारने कीन्ह चाँद कै जोती॥

कीन्ह अरगजा मरदन, औ सखि दीन्ह अन्हान।
पुनि भै चाँद जो चौदसि, रूप गएउ छपि भान॥ ३२८॥

शब्दार्थ मंडर = मंडल। खंडवानी = शरबत। तरासी = दुःखी की गयी। झार = ज्वाला। वारि = वारना, चारों ओर घुमा कर दान करना।

अर्थ—सारा रनिवास पद्मावती के चारों ओर बैठ गया। मानो आकाश में चन्द्रमा का मंडल लगा हुआ है। सब की सब स्त्रियों ने कहा कि बाला पद्मावती कुम्हलाई हुई है, उसे सम्भालो और पीने को शरबत दो। यह तो कमल की कोमल कली है, अपने स्वाभाविक रंग से युक्त ी। अत्यन्त सुकुमारी है और इसकी कटि बहुत पतली है। चन्द्रमा के समान यह बेचारी दुखाई गयी है, क्योंकि सहस्र किरणों वाले प्रचंड सूर्य ने इसे ग्रस रखा था।

उसकी ज्वाला से इसकी ऐसी दशा हो गयी, मानो इसे ग्रहण लगा हो। इसीलिए द्रव्य निकालो, देवताओं को अर्घ्यदान करो और इसकी बलैया लेकर साधुओं को दान दो। तब रानी चम्पावती ने थाल भर गज मुक्ताओं को पद्मावती के चारों ओर घुमा कर निछावर किया। सखियों ने चन्दन के लेप को उसके शरीर पर खूब मला और फिर स्नान कराया। इसके पश्चात् फिर वह चतुर्दशी के चन्द्र की भान्ति कान्ति युक्त हो गयी, जिसे देख कर सूर्य (रत्नसेन) छिप गया।

[ ३२६ ]

पटुवन्ह चीर आनि सब छोरे। सारी कंचुकी लहरि पटोरे ॥
फुँदिआ और कसनिआ राती। छाएल पंडु आए गुजराती ॥
चदनौटा खीरोदक फारी। बाँस पोर झिलमिल की सारी ॥
चिकवा चीर मेघौना लोने। मोंति लाग औ छापे सोने ॥
सुरँग चीर भल सिंघल दीपी। कीन्ह छाप जो धन्नि वै छीपी ॥
पेमचा डोरिआ औ बीदरी। स्याम, सेत, पियरी औ हरी ॥
सातहुँ रँग सो चित्र चितेरी। भरि कै डीठि जाहिं नहिं हेरी ॥

पुनि अभरन बहु काढ़ा, अनबन भाँति जराउ।
फेरि फेरि निति पहिरहि, जैस जैस मन भाउ ॥ ३२६ ॥

शब्दार्थ—पटुवन्ह = रेशमी। चीर = साड़ी। लहरि-पटोरी = रेशमी लहरिया कपड़ा। फुंदिआ = नीबी (इजारबंद) के फुलरे। कसनिआ = अँगिया। छाएल = कुरती। पंडु = पीले। चँदनौटा = एक प्रकार का लहँगा। खीरोदक = दूध के समान सफेद। फारी = फिरिया-ओढ़नी। बाँस पोर = ढाके की मलमल जिसका एक थान बाँस की नली में आ जाता था।

"रक्खा नली में बाँस की जो थान कपड़े का नया।
आश्चर्य अम्बारी सहित हाथी उसी से ढक गया ॥" —भारत-भारती।

चिकवा = एक रेशमी कपड़ा। मेघौना = मेघ वर्ण का, नीला। पेमचा = एक प्रकार का कपड़ा। अनबन = अनेक। जराउ = जड़ाऊ।

अर्थ—अनेक प्रकार के रेशमी वस्त्र लाये गये और पहले के पहने हुए सभी वस्त्र उतारे गये। उसकी साड़ी और कंचुकी लहरिया रेशम की बनी थी। नीवी के फुलरे और अँगिया लाल थीं। उसकी पीली कुरती गुजरात से आयी थी। लहँगा था और उसके ऊपर श्वेत ओढ़नी था, जो कि ढाके की महीन मलमल की बनी थी। चिकवा की चीर भी जो कि नीले रङ्ग की थी, उसमें मोती टँके थे और सोने के छापे पड़े थे। ऐसी रङ्गीन सिंहलद्वीपी चीर थी, उस पर बड़े सुन्दर छापे थे, वे छापने वाले धन्य हैं। बीदर नगर के बने हुए पेमचा, डोरिया के कपड़े थे, जो काले, सफेद, हरे और पीले रङ्ग के थे। सातों रंग के चित्र उसमें चित्रित थे। दृष्टि भर-कर उसे देखा ही नहीं जाता। फिर अनेक गहने निकाले गये, जो जड़ाऊ थे। पद्मावती अपने मन के मुताबिक बदल-बदल कर चुन कर पहनने लगी।

— —

# २८. रत्नसेन-साथी-खण्ड

[ ३३० ]

रतनसेनि गौ अपनी सभा। बैठे पाट जहाँ अठखभा ॥
आइ मिले चितउर के साथी। सबहीं बिहँसि आइ दिए हाथी ॥
राजा कर भल मानहिं भाई। जेइ हम कहँ यह भूम्मि देखाई ॥
जौं हम कहँ आनत न नरेसू। तब हम कहाँ, कहाँ यह देसू ॥
धनि राजा तोर राज बिसेखा। जेहि की रजाउरि सब किछु देखा ॥
भोग बेलास सबै किछु पावा। कहाँ जीभ तसि अस्तुति आवा ॥
तहँ तुम्ह आइ अंतरपट साजा। दरसन कहँ न तपावहु राजा ॥
नैन सिराने, भूख गइ, देखि तोर मुख आजु।
नौ औतार भए सब काहूँ, औ नौ भा सब साजु ॥ ३३० ॥

शब्दार्थ—आनत = ले आता। रजाउरि = राज्यत्व। अंतरपट = परदे के भीतर। सिराने = ठंडे हुए।

अर्थ—राजा रत्नसेन अपने चित्तौड़ से आये हुए राजकुमारों की सभा में गया और सिंहासन पर बैठा, वहां आठ खम्भे लगे हुए थे। यहाँ उसे सभी चित्तौड़ के साथी आ मिले। सबने प्रसन्न होकर उसे नमस्कार किया। वे आपस में कहने लगे कि हम तो राजा रत्नसेन का भला मनाते हैं, जिसने आकर हमें इस सिंहल द्वीप की भूमि दिखाई है। यदि यह राजा हमें न ले आता, तो हम कहाँ थे और यह देश कहाँ था। हे राजा! तेरा श्रेष्ठ राज्यत्व धन्य है, जिसके शासन में हमने सब कुछ देख लिया। सभी प्रकार के सुख हमने भोगे। हमारी वाणी में वह शक्ति कहाँ कि वह तुम्हारी प्रशंसा कर सके। पर तुम तो यहाँ आकर भीतर ही घुस गये। हे राजा! इस प्रकार दर्शनों के लिए हमें न दुखाओ।

आज तुम्हारे मुख को फिर देख कर हमारे नेत्र ठंडे पड़ गये और भूख मिट गयी, सब का जैसे नया जन्म हुआ और सब नये साज तैयार हुए।

[ ३३१ ]

हँसि कै राज रजाएसु दीन्हा। मैं दरसन कारन अस कीन्हा ॥
अपने जोग लागि हौं खेला। भा गुरु आपु, कीन्ह तुम्ह चेला ॥
यहिक मोर पुरुषारथ देखेहु। गुरू चीन्ह कै जोग बिसेखेहु ॥
जौं तुम्ह तप साधा मोहि लागी। अब जनि हिएँ होहु बैरागी ॥
जो जेहि लागि सहै तप जोगू। सो तेहि के सँग मानै भोगू ॥
सोरह सहस पदुमिनीं माँगीं। सबहीं दीन्ह, न काहुँ खाँगीं ॥
सब क धौरहर सोने साजा। सब अपने अपने घर राजा ॥

हस्ति घोर औ कापर, सबहि दीन्ह नौ साजु।
मैं गिरहस्त लखपती, घर घर मानहिं राजु ॥ ३३१ ॥

शब्दार्थ—लागि = लिए । खाँगी = कम हुई । धौरहर = महल । कापर = कपड़े । नौ = नया । गिरहस्त = गृहस्थ ।

अर्थ—हँस कर राजा ने कहा कि मैंने पद्मावती के दर्शनों के लिए ही ऐसा किया है। अपने जोग के लिए ही मैंने यह यात्रा की है, मैं स्वयं गुरु बना और तुम सब को चेला बनाया है। तुम लोगों ने यहाँ पर मेरा पुरुषार्थ देख लिया। गुरु को पहिचान कर योग को प्राप्त किया। जब तुमने मेरे लिए तपस्या की है, तो अब तुम लोग भी संन्यासी मत रहो। जो किसी के लिए तपस्या और योगाभ्यास के कष्ट सहता है, वह उसके साथ-साथ सुखों का भी भोग करता है। मैंने राजा से सोलह हजार पद्मिनी नारियाँ माँग रखो हैं और राजा ने सब की सब दे दी हैं, किसी को कमी न पड़ेगी। सब के लिए सजे हुए महल भी मिले हैं, सभी अपने-अपने महल में राजा के समान रहेंगे। हाथी, घोड़ा, कपड़े सभी नवीन सजा कर दिये हैं। अब तुम सब लखपति गृहस्थ बन गये हो, घर-घर में राज्य का सुख भोगो।

———

## २६. षट्-ऋतु-वर्णन-खण्ड

[ ३३२ ]

पदुमावति सब सखीं बोलाईं। चीर पटोर हार पहिराईं ॥
सीस सबन्हि के सेंदुर पूरा। सीस पूरि सब अंग सेंदूरा ॥
चंदन अगर चतुरसम भरीं। नए चार जानहुं अवतरीं ॥
जनहु कँवल सँग फूलीं कुईं। कै सो चाँद सँग तरईं उईं ॥
धनि पदुमावति, धनि तोर नाहूँ। जेहि पहिरत पहिरा सब काहूँ ॥
बारह अभरन, सोरह सिंगारा। तोहि सोहइ यह ससि संसारा ॥
ससि सो कलंकी राहुहि पूजा। तोहि निकलंक, न होइ सरि दूजा ॥
काहूँ बीन गहा कर, काहूँ नाद म्रिदंग।
सब दिन अनँद गँवावा, रहस कोड एक संग ॥ ३३२ ॥

शब्दार्थ—चतुरसम = चन्दन, केशर, कस्तूरी और कपूर से बना हुआ लेप। चार = चाल, प्रकार। सरि = समान। रहस = रास-नृत्य। कोड = खेल।

अर्थ—पद्मावती ने सब सखियों को बुलाया और रेशमी वस्त्र और हार आदि आभूषण पहनाये। सब के सिर में सिन्दूर भरा हुआ था। सिर के भरे होने से सारा अंग लाल दिखाई पड़ता था। सभी चंदन, अगर तथा केशर, कस्तूरी, कपूर और चंदन मिश्रित लेप से भरी थीं। ऐसी मालूम होती थीं, मानो इन्होंने नये प्रकार का अवतार ग्रहण किया है। मानो कमल (पद्मावती) के साथ कुमुदिनियाँ (सखियाँ) खिली हुई हैं या चन्द्रमा के साथ तारागण उदय हुए हैं। सखियाँ प्रसन्न होकर कहने लगीं, हे पद्मावती! तू धन्य है और तेरा पति भी धन्य है, जिसके आभूषण पहिनने पर हम सब ने सुन्दर आभूषण और वस्त्र पहने। बारह आभरण और सोलह श्रृङ्गार तेरे ऊपर शोभा पा रहे हैं। संसार में तू चन्द्रमा के सदृश लग रही है। पर शशी तो कलङ्की है और उसे राहु-ग्रहण है, पर तू तो निष्कलङ्क है, अतः तेरे समान कोई दूसरा नहीं है।

सखियों में से किसी ने वीणा उठाई और किसी ने मृदङ्ग। सारे दिन को इन सब ने रास, नृत्य, खेल के द्वारा आनन्द से बिता दिया।

अलंकार—उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक।

[ ३३३ ]

भै निसि, धनि जसि ससि परगसी। राजैं देखि पुहुमि फिरि बसीं।
भै कातिकी सरद ससि उवा। बहुरि गँगन रवि चाहै छुवा॥
पुनि धनि धनुक भौंहँ कर फेरी। काम कटाख टँकोर सो हेरी॥
जानहुँ नहिं कि पैज पिय खाँचौ। पिता सपथ हौं आजु न बाँचौं॥
काल्हि न होइ, रहे सह रामा। आजु करौं रावन संग्रामा॥
सेन सिंगार महूँ है सजा। गज गति चाल, अँचर गति धुजा॥
नैन समुंद्र खरग नासिका। सरवरि जूझि को मो सौं टिका॥
हौं रानी पदुमावति, मैं जीता सुख भोग।
तूँ सरवरि करु तासौं, जस जोगी जेहिं जोग॥ ३३३॥

शब्दार्थ—पुहुमि = पृथ्वी। हेरी = देखा। पैज = फुर्ती, चतुराई। खाँचौं = खचित है, युक्त है। बाँचौं = पढ़ना। सह = साथ। रामा = राम, रमण करने वाली स्त्री। रावन = रावण, रमण करने वाला। महूँ = मैंने भी। सरवरि = बराबरी।

अर्थ—रात्रि हुई और सुन्दरी पद्मावती इस प्रकार शोभित हुई, जैसे चन्द्रमा प्रकाशित होता है। राजा ने देखा कि पृथ्वी फिर शोभायमान होकर बस रही है। आकाश में कार्तिक मास का शरत्कालीन स्वच्छ चन्द्रमा उदय हुआ है और अपने प्रकाश से वह आकाश के सूर्य को छूना चाहता है। अर्थात् पद्मावती अपने सौंदर्य से रत्नसेन को मात करना चाहती है। पद्मावती अपनी भौंह रूपी धनुष अपने हाथ में घुमा रही है और कामोद्दीपक कटाक्ष रूपी टंकोर के साथ देख रही है। पद्मावती ने कहा कि हे प्रिय! आज मैं नही समझती कि तुम्हारे अन्दर कितनी फुर्ती और निपुणता है, आज मैं अपने पिता की शपथ को भी नहीं देखती, अर्थात् आज बेधड़क और खुल कर युद्ध करने को प्रस्तुत हूँ। यह कल नहीं है, जब तुम मेरे साथ सुख से रहे, आज तुम मेरे साथ संग्राम करो। मैंने भी शृङ्गार रूपी अपनी सेना सजा ली है। मेरी हाथी की सी चाल ही इस सेना का हाथी है और आँचल उसकी ध्वजा है। आँखें ही समुद्र और नासिका ही तलवार है। आज कौन युद्ध में मेरी समता कर सकता है? मैं रानी पद्मावती हूँ, मैंने सारे

सुख और भोगों को जीत रखा है। तू भला मेरी बराबरी क्या करे, तू तो उसकी बराबरी कर सकता है, जो तेरे समान ही जोगी हो।

अलंकार—रूपक।

[ ३३४ ]

हौं अस जोगि जान सब कोऊ। बीर सिंगार जिते मैं दोऊ ॥
उहाँ त समुँह रिपुन दर माहाँ। इहाँ त काम कटक तुव पाहाँ ॥
उहाँ त कोपि बैरिंदर मडौं। इहाँ त अधर अमिअ रस खंडौं ॥
उहाँ त खरग नरिंदन्ह मारौं। इहाँ त बिरह तुम्हार सँवारौं ॥
उहाँ त गज पेलौं होइ केहरि। इहाँ त कामिनि करसि हहेहरि ॥
उहाँ त लूसौं कटक खँधारू। इहाँ त जितौं तुम्हार सिंगारू ॥
उहाँ त कुंभस्थल गज नावौं। इहाँ त कुच कलसन्ह कर लावौं।

परा बीचु धरहरिया, पेम राज कै टेक।
मानहिं भोग छहूँ रितु, मिलि दूनौं होइ एक ॥ ३३४ ॥

शब्दार्थ—समुँह = समक्ष। दर = दल। बैरिंदर = शत्रु दल। मडौं = नष्ट करूँ। नरिंदन्ह = राजा। लूसौं = नष्ट करूँ। खंधारू = स्कंधावार, तम्बू, छावनी। नावौं = झुकाऊँ।

अर्थ—पद्मावती की ललकार सुन कर रत्नसेन बोल उठा—मैं जैसा जोगी हूँ, सभी संसार जानता है। मैंने वीर और शृङ्गार दोनों रसों को जीत रखा है। वीर युद्ध में तो सामने शत्रु का दल होता था, यहाँ शृङ्गार में कामदेव की सेना के रूप में तुम्हारे पास बारह आभरण और सोलह शृङ्गार हैं। वहाँ पर क्रुद्ध होकर मैं शत्रु दल को नष्ट करता हूँ, यहाँ पर अमृत रूपी अधरों के रस को लूटूँगा। वहाँ पर अपनी तलवार से राजाओं को मारता हूँ, यहाँ पर तुम्हारे वियोग को नष्ट करूँगा। वहाँ पर तो सिंह बन कर हाथियों को मार भगाता हूँ, यहाँ पर तुम्हारी काम-वासना को परास्त करूँगा। वहाँ तो सेना और छावनी को लूटता हूँ, यहाँ तुम्हारे सोलह शृङ्गारों को जीतूँगा। वहाँ तो हाथियों के कुम्भस्थलों को झुकाता हूँ, यहाँ हाथ में तुम्हारे कुचों को लूँगा।

कवि जायसी कहते हैं कि दोनों के बीच में प्रेम-राज्य की हठ पड़ी हुई है। दोनों एक होकर छहों ऋतुओं में भोग-विलासमग्न हैं।

अलंकार—साङ्गरूपक।

[ ३३५ ]

प्रथम बसंत नवल रितु आई। सुरितु चैत बैसाख सोहाई॥
चंदन चीर पहिरि धनि अंगा। सेंदुर दीन्ह बिहँसि भरि मंगा॥
कुसुम हार ओ परिमल बासू। मलयागिरि छिरिका कबिलासू॥
सौर सुपेती फूलन्ह डासी। धनि औ कंत मिले सुखबासी॥
पिउ सँजाग धनि जोबन बारी। भँवर पुहुप सँग करहिं धमारी॥
होइ फागु भलि चाँचरि जोरी। बिरह जराइ दीन्ह जसि हारी॥
धनि ससि सियरि तपै पिउ सूरू। नखत सिंगार होहिं सब चूरू॥
जेहि घर कंता रितु भली, आउ बसंता नित्तु।
सुख बहरावहि देवहरै, दुक्ख न जानहिं कित्तु॥ ३३५॥

शब्दार्थ—सौर = चादर। सुपेती = श्वेत। धमारी = उछल-कूद। चाँचरि = चर्चरी एक प्रकार का हल्ला-गुल्ला युक्त होली का गीत। नित्तु = नित्य। बहरावहि = बहलावे। देवहरै = देवघर, मंदिर। कित्तु = कुछ।

अर्थ—सबसे पहले नवीन वसन्त-ऋतु आई। इस सुन्दर ऋतु में चैत वैसाख के महीने हैं। पद्मावती ने चन्दन से सुवासित वस्त्र अपने शरीर पर धारण किये और प्रसन्नता पूर्वक माँग भर कर सिंदूर लगाया। फूलों का हार पहना, जिनकी सुगंध ऐसी थी, मानो स्वर्ग के मलयगिरि का छिड़काव हो। सफेद चद्दर डाल कर फूलों की सेज तैयार की गयी। वे पति-पत्नी धन्य हैं, जिन्हें इस प्रकार का सुख वास मिला है। पति का युवति पत्नी के साथ संयोग हुआ है। भौंरा (रत्नसेन) पुष्प (पद्मावती) के साथ आनन्द-क्रीड़ा करने लगा। फाग होने लगा, चर्चरी की उछल-कूद होने लगी, विरह को इस प्रकार जला डाला, जैसे इस मास में होली जलाते हैं। पत्नी तो शीतल चन्द्रमा की भान्ति और पति सूर्य की भान्ति प्रकाशित है, अतः नक्षत्र रूपी सभी शृङ्गार चूर हो गये। कवि कहता है जिस घर में पति है,

उसमें सुन्दर वसन्त ऋतु नित्य ही आवे। घर में सुख और मन बहलाव हो, दुःख का पता ही नहीं चले।

नोट—प्रकृत वर्णन के साथ कवि ने वसन्त-ऋतु का भी पूर्ण वर्णन किया है पुष्पों का खिलना, मलय-पवन, भौंरों की उछल-कूद, फाग, होली जलना आदि सभी का उल्लेख प्राप्त है।

[ ३३६ ]

रितु ग्रीखम कै तपनि न तहाँ। जेठ असाढ़ कंत घर जहाँ॥
पहिरें सुरँग चीर धनि झीना। परिमल मेद रहै तन भीना।
पदुमावति तन सियर सुबासा। नैहर राज कंत कर पासा॥
अधर तँबोर कपूर भिवँसेना। चंदन चरचि लाव नित बेना॥
ओबरि जूड़ि तहाँ सोवनारा। अगर पोनि, सुख नेति ओधारा॥
सेत बिछावन सौर सुपेती। भोग करहिं निसि दिन सुख सेंती॥
भा अनंद सिंघल सब कहूँ। भागिवंत सुखिथा रितु छहूँ॥
दारिवँ दाख लेहिं रस, बेरसहिं आँव सहार॥
हरियर तन सुवटा कर, जो अस चाखनहार॥ ३३६॥

शब्दार्थ—झीना = पतला। मेद = कस्तूरी। परिमल = सुगन्ध। भिवँसेना = भीमसेनी कपूर। बेना = पंखा। ओबरि = शयनागार। ओधारा = पर्दे। सेंती = से। दारिवँ = दाड़िम-अनार। बेरसहिं = बिलसहिं-आनन्द करते हैं। आँव = आम। सहार = सभार-पाठान्तर-छोहार, बेरस हिया उर भार, आम सदाफर डार।

अर्थ—जिस घर में जेठ और आषाढ़ को ग्रीष्म-ऋतु में पति विद्यमान है, वहाँ तपनि (गर्मी) नहीं होती। पत्नी ने सुन्दर रंगीन और महीन कपड़ों का चीर पहना है। कस्तूरी की सुगन्ध उसके सारे शरीर में समायी हुई है। उसका अंग शीतल और सुवासित है। एक तो पीहर का राज्य दूसरे पास में पति। होठों पर भीमसेनी कपूर मिश्रित पान है और चन्दन-चर्चित पंखा ले रखा है। ठंडा कमरा है, वहाँ शयनागार बनाया गया है। अगर से पोत कर उसमें सुखदायक पर्दे डाले गये हैं। बिस्तर पर श्वेत चद्दर बिछी है,

वहाँ पर पति-पत्नी रात-दिन सुख भोग करते हैं। सिंहल में सबको अत्यन्त आनन्द हुआ। यहाँ छहों ऋतुयें भी भाग्यवान् हो रही हैं। दाड़िम और दाख में रस आ गया है, आम का वृक्ष फलों के भार से सुशोभित है। हरे-हरे शरीर वाला तोता इन फलों को चखने वाला शोभित है।

[ ३३७ ]

रितु पावस बिरसै, पिउ पावा। सावन भादौं अधिक सोहावा॥
कोकिल बैन, पाँत बग छूटी। धनि निसरी जेउँ बीर बहूटी॥
चमकै बिज्जु, बरिस जग सोना। दादुर मोर सबद सुठि लोना॥
रँग राती पिय सँग निसि जागै। गरजै चमकि चौंकि कँठ लागै॥
सीतल बुंद, ऊँच चौबारा। हरियर सब देखिअ संसारा॥
मलै समीर बास सुख बासी। बेइलि फूल सेज सुख डासी॥
हरियर भुम्मि, कुसुम्भी चोला। औ पिय संगम रचा हिंडोला॥
पौन झरक्के हिय हरख, लागै सियरि बतास।
धनि जानै यह पौनु है, पौनु सो अपनो आस॥ ३३७॥

शब्दार्थ—बिरसै = विलसै, सुशोभित। निसरी = निकली। जेऊँ = जिमि। कुसुम्भी = कुसुम्भ ( एक पीला रंग का फूल ) रंग का। चोला = पहिनावा। झरक्कै = झकोरै। सियरि = ठंडो। बतास = हवा। चौबारा = चारों ओर दरवाजे वाला खंड।

अर्थ—पावस (वर्षा) ऋतु पति के संग के कारण अत्यन्त आनन्ददायक है। सावन-भादों के दो महीने इस ऋतु के अन्तर्गत हैं। कोयल बोल रही है, बगलों की पंक्तियाँ छूटी हुई हैं। स्त्रियाँ इस प्रकार निकल रही हैं जैसे बीर-बहूटियां हों। बिजली चमकती है तो बरसता हुआ पानी ऐसा प्रतीत होता है मानो सोना बरस रहा है। मेंढक और मोरों का शब्द अत्यन्त प्रिय लगता है। पद्मावती प्रेम के रंग में रंगी हुई पति के साथ रात में जगती है। जब बादल गरजता या चमकता है तो वह चौंककर पति के कण्ठ से लिपट जाती है। ऊँचे चौबारे पर ठंडी-ठंडी बूँदें पड़ती हैं। सारा संसार हरा-हरा ही दीख पड़ता है। मलय पवन चल रहा है, सुख में सुगन्ध है। लताओं और पुष्पों की सेज बिछी है। हरी-हरी भूमि है, कुसुम्भ रंग के पहिनावे को पहने

हुए पति के साथ हिंडोले पर पद्मावती विराजमान है। हवा का झकोरा लगता है, ठंडी हवा चलती है और हृदय में हर्ष उत्पन्न होता है। इस हर्ष का कारण पद्मावती समझती है कि ठण्डी हवा है पर यह पवन की शीतलता तो अपनी ( पति-पत्नी ) की आशा पर है। अर्थात् विह्वलता पवन के कारण नहीं वरन् प्रिय-समागम के कारण है जो उसके पास ही विद्यमान है।

[ ३३८ ]

आइ सरद रितु अधिक पियारी। नौ कुवार कातिक उजियारी॥
पदुमावति भै पूनिवँ कला। चौदह चाँद उए सिंघला॥
सोरह करा सिंगार बनावा। नखतन्ह भरे सुरुज ससि पावा॥
भा निरमर सब धरनि अकासू। सेज सँवारि कीन्ह फुल डासू॥
सेत बिछावन औ उजियारी। हँसि हँसि मिलहिं पुरुख औ नारी॥
सोने फूल पिरिथिमी फूली। पिउ धनि सों, धनि पिउ सों भूली॥
चखु अंजन दै खंजन देखावा। होइ सारस जोरी पिउ पावा॥

एहि रितु कन्ता पास जेहि, सुख तिन्ह के हिय माँह।
धनि हँसि लागै पिय गले, धनि गल पिय कै बाँह॥ ३३८॥

शब्दार्थ—नौ कुवार = आश्विन महीने में नव दिनों का नवरात्र होता है उसमें पितरों के लिए श्राद्ध आदि होते हैं और लोग संयम से दिन बिताते हैं। चौदह चाँद = मुसलमान लोग द्वितीया के चांद से गिनना आरम्भ करते हैं अतः पूर्णमासी को चौदहवाँ दिन ही मानते हैं। उए = उदय हुए। फुल डासू = फूल बिछाए। निरमर = निर्मल। पिरिथिमी = पृथ्वी। सोने फूल = सोहन-फली नामक एक घास जो इस मास में बहुत मिलती है।

अर्थ—शरद् की अत्यन्त प्यारी ऋतु आई। इसमें नवरात्र युक्त आश्विन और कातिक के दो मास होते हैं। पद्मावती तो शरत् कालीन पूर्णिमा की कला की भांति खिल उठी मानो सिंहल पर चतुर्दशी का चांद निकला है। उसने अपने सोलह शृंगार किए मानो शशी ने नक्षत्रों से भरे हुए सूर्य को पा लिया है—भाव यह कि उसके आभूषण नक्षत्रों और सूर्य की भांति चमक रहे हैं। सारी पृथ्वी और आकाश निर्मल है, शय्या को खूब संवार कर उस

पर फूल बिछा रक्खे हैं। सफेद बिस्तर है और शरत् की चांदनी है, पति और पत्नी हँस-हँस कर मिल रहे हैं। पृथ्वी में सोनफूली बहुत फूली है मानो पृथ्वी प्रसन्न होकर खिल उठी है। पति और पत्नी आपस में मिलकर अपने-अपने को भूल गये हैं। पद्मावती ने आँखों में अंजन लगा रखा है उसके कारण उसकी आंखें खंजन के सदृश दीख रही हैं, अपने पति के साथ वह ऐसी लग रही है जैसे सारस की जोड़ी हो। इस ऋतु में जिस स्त्री के पास उसका पति है उसके हृदय में अजीब सुख है, पत्नी तो हँसकर पति के गले में लिपटती है और पति की बाहें पत्नी के गले में लिपट जाती हैं।

[ ३३९ ]

आइ सिसिर रितु तहाँ न सीऊ। अगहन पूस जहाँ घर पीऊ॥
धनि औ पिउ महँ सीउ सोहागा। दुहूँक अँग एकै मिलि लागा॥
मन सौं मन तन सौं तन गहा। हिय सौं हिय, बिच हार न रहा॥
चानहुं चँदन लागेउ अङ्गा। चँदन रहै न पावै संगा॥
भोग करहिं सुख राजा रानी। उन्ह लेखें सब सिस्टि जुड़ानी॥
जूझै दुहुँ जोबन सौं लागा। बिच हुत सीउ जीउ लै भागा॥
दुइ घट मिलि एकै होइ जाहीं। ऐस मिलहिं तबहूं न अघाहीं॥
हंसा केलि करहिं जेउँ सरवर, कुंदहि कुरलहिं दोउ।
सीउ पुकारै ठाढ़ भा, जस चकई क बिछोउ॥ ३३९॥

शब्दार्थ— सीऊ = शीत। दुहूँक = दोनों का। उन्ह लेखें = उनके विचार में। सिस्टि = सृष्टि। जुड़ानी = शीतल हुई, सुखी हुई। जूझैं = काम-क्रीड़ा का युद्ध कर रहे हैं। बिच हुत = बीच में होकर। कुंदहिं कुरलहिं = उछल-कूद और किलोल करते हैं।

सिसिर—शिशिर ऋतु, शिशिर ऋतु माघ, फागुन के महीने होते हैं। पं० शुक्ल संपादित ग्रन्थावली में इस पद में शिशिर के स्थान पर हेमन्त ही है। पर डा० गुप्त लिखते हैं कि पाठ की दृष्टि से इस पद में शिशिर ही होना चाहिए, कवि से भूल हो जाना असम्भव नहीं माना जा सकता। प्रतीत होता है पं० शुक्ल ने जान बूझकर ठीक ऋतु का नाम लिखा है। पर ऐसा परिवर्तन अग्राह्य है।

अर्थ—शिशिर ऋतु गयी जिसमें अगहन और पूस के महीने हैं, जिसके घर पति होता है उसके घर शीत नहीं आता। पति और पत्नी के बीच में शीत ऐसा मिलकर विलीन हो जाता है जैसे सोने में सोहागा। दोनों के अङ्ग मिलकर एकसे हो गये हैं। मन से मन और शरीर से शरीर पकड़े गये हैं। हृदय से हृदय इतने मिल गए कि उनके बीच में हार को भी स्थान नहीं प्राप्त हो सकता। मोती के हार पिसकर जैसे चन्दन हो गए, पर वह चन्दन भी रगड़ के कारण साथ नहीं रह पाता। राजा और रानी सुख भोग कर रहे हैं, उनकी समझ में सारी सृष्टि सुखमग्न है। जवानी में उन्मत्त दोनों काम-क्रीड़ा के युद्ध में रत हैं। इन दोनों के संघर्ष में शीत बीच में पड़ गया अतः वह तो अपना जीव लेकर भाग चला। दो हृदय मिलकर एक हो रहे हैं। इस प्रकार मिल रहे हैं फिर भी उन्हें तृप्ति नहीं होती। दोनों इस प्रकार काम-केलि कर रहे हैं जैसे हंसों का जोड़ा तालाब में उछल-कूद करता है और कलोलें भरता है। शीत दूर से खड़ा हुआ इस प्रकार पुकार रहा है जैसे चकवा और चकई बिछुड़ जाने पर चिल्लाते हैं।

अलंकार—उत्प्रेक्षा। शीत के सम्बन्ध में बड़ी मनोहारी कल्पना इस पद में जायसी ने प्रस्तुत की है।

[ ३४० ]

रितु हेवंत संग पीउ न पाला। माघ फागुन सुख सीउ सियाला ॥
सौर सुपेती महँ दिन राती। दगल चीर पहिरहिं बहु भाँती ॥
घर घर सिंघल होइ सुख भोगू। रहा न कतहूँ दुख कर खोजू ॥
जहँ धनि पुरुख सीउ नहिं लागा। जानहुँ काग देखि सर भागा ॥
जाइ इंद्र सौं कीन्ह पुकारा। हौं पदुमावति देस निकारा ॥
एहि रितु सदा सँग मैं सोवा। अब दरसन हुत मारि बिछोवा ॥
अब हँसि कै ससि सूरहि भेंटा। अहा जो सीउ बीच हुत मेंटा ॥
भएउ इंद्र कर आएसु, प्रस्थावा यह सोइ।
कबहुँ काहु कै प्रभुता, कबहु काहु कै होइ ॥ ३४० ॥

शब्दार्थ—हेवंत = हेमन्त। जैसा ऊपर लिखा गया है कवि की भूल से शिशिर के स्थान पर हेमन्त लिखा गया है। पाला = बर्फ-पाठान्तर—पिएउ

पियाला-शराब पी रखी है । सौर = चादर । दगल = रुई से भरा हुआ कुर्ता । प्रस्थाना = प्रस्थान जाना, चाल ।

अर्थ हेमन्त ऋतु आई, साथ में पति है अतः पाला आ नहीं सकता । माघ-फागुन के महीने की ठंडक सुखदायी हो रही है । दिन रात शय्या पर सफेद चादर बिछी रहती है, रुईदार अनेक प्रकार के रंग-बिरंगी छींट के वस्त्र पहनते हैं । सिंहलद्वीप के घर-घर में सुख भोग हो रहा है । कहीं भी दुःख खोजने से नहीं मिल सकता । जहां पर पति-पत्नी दोनों हैं वहां शीत नहीं लगता । शीत इस प्रकार भागा जैसे कौवा बाणको देखकर भाग गया हो । जाकर उसने इन्द्र को पुकार कर कहा कि मुझे तो पद्मावती ने देश निकाला दे दिया । इस ऋतु में तो मैं सदा साथ में सोया करता था, अब तो दर्शनों का भी बिछोह हो गया है । अब तो हँस कर चन्द्रमा (पद्मावती) सूर्य (रत्नसेन) से मिल रहा है । जो भी शीत था वह दोनों के बीच में पड़कर नष्ट हो गया ।

इन्द्र की आज्ञा हुई कि यह तो संसार की चाल ही है कि कभी प्रभुता (ऐश्वर्य) किसी के पास होती है और कभी दूसरे के पास । भाव यह कि शीत रूपी कौए की शिकायत मान्य नहीं ।

नोट--जायसी को राम-कथा का सुना-सुनाया अपरिपक्व ज्ञान था । यहां कौवे में इन्द्र के पुत्र जयन्त की ध्वनि है पर वास्तविक कथा से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है । जैसे पिछले पदों में राम और रावण के उल्लेख अटकल पच्चू हुए हैं उसी प्रकार इन्द्र-सुत का भी ।

---

# ३०. नागमती-वियोग-खण्ड

[ ३४१ ]

नागमती चितउर पँथ हेरा। पिउ जो गए फिरि कीन्ह न फेरा ॥
नागरि नारि काहुँ बस परा। तेइँ बिमोहि मोसौं चितु हरा ॥
सुवा काल होइ लै गा पीऊ। पिउ नहिं लेत, लेत बरु जीऊ ॥
भएउ नरायन बावन करा। राज करत बलि राजा छरा ॥
करन बान लीन्हेउ करि छंदू। भर्थरि भएउ छल मिला अनंदू ॥
मानत भोग गोपीचँद भोगी। लै उपसवा जलंधर जोगी ॥
लै कान्हहि भा अकरुर अलोपी। कठिन बिछोउ, जिअै किमि गोपी ॥

सारस जोरी किमि हरी, मारि गएउ किन खग्गि।
झुरि झुरि पाँजरि धनि भई, बिरह कै लागी अग्गि ॥ ३४१ ॥

शब्दार्थ—हेरा = देखा। फेरा = वापसी। नागरि = चतुर, नायिका। नरायन बावन = भगवान् वामन। करा = कला। करन = राजा कर्ण (राजा इन्द्र ने एक बार ब्राह्मण वेश धारण कर राजा कर्णसे उनका कवच मांग लिया था)। उपसवा = चला। अकरुर = अक्रूर। खग्गि = खड्ग, तलवार। झुरि = सूख कर। पाँजरि = पंजराविशेष, हड्डी का ढांचा मात्र।

अर्थ—जब राजा रत्नसेन चित्तौड़ से चला गया और बहुत दिन न आया तो रानी नागमती उसके लौटने वाले चित्तौड़ के रास्ते को देखने लगी। वह अपने आप कहने लगी कि मेरे पतिदेव यहां से गये पर आज तक वापस न आये। मालूम होता है किसी चतुर नायिका ने उसे अपने वश में कर लिया है। उसी ने मोहित कर मेरी ओर से उसके चित्त को चुरा लिया है। वह हीरामनि तोता मेरा काल बन कर मुझसे मेरा पति हर ले गया, अच्छा होता कि वह मेरा पति न लेकर उसके बदले में मेरा जीव ही ले जाता। वह तो भगवान् वामन की छल-विद्या वाला था, उसने मुझ सुखिया को ऐसे ही छल लिया जैसे राज्य करते हुए बलि को वामन ने छला था। इन्द्र ने धोके से

राजा कर्ण से उन बाणों को ले लिया जो कर्ण की मृत्यु के कारण बने। राजा भर्तृहरि को आनन्द ने मिलकर छला था। राजा गोपीचन्द सुख से जीवन व्यतीत कर रहा था पर जालन्धर का योगी उसे लेकर चला गया। अक्रूर कृष्ण को लेकर गायब हो गया और गोपियों को उनका दारुण विरह सहना पड़ा। भाव है कि मैं निस्सहाय अब पति के वियोग में कैसे जीवित रहूँ।

सारस के जोड़े को क्यों अलग कर दिया? किसने तुझे कटार मार दिया। जायसी जी कहते हैं कि सूख-सूख कर बेचारी नागमती इतनी कृशकाय हो गयी कि उसके शरीर में केवल हड्डियों का ढांचा ही शेष रहा, उसमें विरह की आग लगी हुई है।

[ ३४२ ]

पिउ बियोग अस बाउर जीऊ। पपिहा तस बोलै पिउ पीऊ॥
अधिक काम दगधै सो रामा। हरि जिउ लै सो गएउ पिय नामा॥
बिरह बान तस लाग न डोली। रकत पसीज, भीजि तन चोली॥
सखि हिय हेरि हार मैन मारी। हहरि परान तजै अब नारी॥
खिन एक आव पेट महँ स्वाँसा। खिनहि जाइ सब, होइ निरासा॥
पौनु डोलावहिं, सींचहिं चोला। पहरक समुझि नारि मुख बोला॥
प्रान पयान होत केइँ राखा। को मिलाव चात्रिक कै भाखा॥
आह जो मारी बिरह की, आगि उठी तेहि हाँक।
हंस जो रहा सरीर महँ, पाँख जरे तन थाक॥ ३४२॥

शब्दार्थ—रामा = स्त्री। हेरि = देख कर। मैन = मदन, कामदेव-पाठान्तर—हियँमारी, भा भारी, हरि मारी। हहरि=हाय छोड़कर। पहरक= एक पहर। चात्रिक = चातक। हाँक = प्रज्वलित हो जाना। हंस = जीव।

अर्थ—नागमती की दशा का कवि वर्णन करता है कि पति वियोग में उसका जीव इतना बावला हो गया है कि वह पपीहा की भाँति 'पी-पी' पुकारती रहती है। कामोद्दीपन से वह स्त्री जल रही है, वह तोता तो उसके प्राणों को हर ले गया और उसके पति का नाम तक ले गया (क्योंकि हिन्दू नारी अपने पति का नाम भी नहीं ले सकती)। विरह का बाण उसे ऐसा तेज लगा कि वह डोल भी न सकी, खून पसीज आया और शरीर की चोली खून

से डूब गयी। सखियों ने यह देखकर कि यह काम से मारी गयी है हार गयीं। नागमती अब हाय हाय करके प्राण छोड़ देगी। उसकी मूर्छा की दशा ऐसी भयंकर है कि कभी तो क्षण भर के लिए उसके पेट में साँस आती है और दूसरे ही क्षण साँस चली जाती है, सभी निराश हो जाते हैं। लोग पंखा झलते हैं, उसके वस्त्रों पर पानी छिड़कते हैं। कभी एक पहर तक वह बोलती ही रहती है। उसके प्राण निकलना चाहते हैं कौन इनकी रक्षा करे? कौन चातक की बात पूरी करे—उसके पिय से मिलावे। विरह से भरी हुई जो आह उसने निकाली उससे उसी की विरहाग्नि प्रज्वलित हो उठी। उस आग से उसके शरीर के भीतर जो जीव रूपी हंस था उसके पंख जल गये और शरीर थक गया।

[ ३४३ ]

पाट महादेइ हिए न हारू। समुझि जीउ, चित चेतु सँभारू॥
भँवर कँवल सँग होइ न परावा। सँवरि नेह मालति पहँ आवा॥
पीउ सेवाति सौं जैस पिरीती। टेकु पियास बाँधु जिय थीती॥
धरती जैस गँगन के नेहा। पलटि भरै बरखा रितु मेहा॥
पुनि बसंत रितु आव नवेली। सो रस, सो मधुकर, सो बेली॥
जनि अस जीउ करसि तूँ नारी। दहि तरिवर पुनि उठहिं सँभारी॥
दिन दस जल सूखा का नंसा। पुनि सोइ सरवर, सोई हंसा॥
मिलहिं जो बिछुरै साजना, गहि गहि भेंट गहंत।
तपनि मिरगिसिरा जे सहहिं, अद्रा ते पलुहंत॥ ३४३॥

शब्दार्थ—पाट महादेइ = पट्ट महादेवी, पटरानी। परावा = दूसरा। टेकु = सँभालो। थीती = स्थिरता। नंसा = बिगड़ा। मिरगिसिरा = जेठ के महीने में मृगशिरा नाम का नक्षत्र लगता है जब गर्मी अपनी चरम सीमा पर पहुँचती है। अद्रा = आषाढ़ मास का पहला नक्षत्र जिसमें वर्षा आरम्भ होती है। पलुहंत = पल्लवित होना।

अर्थ—सखी नागमती को सांत्वना दे रही है—हे महारानी! जी आप जी में हार न मानिए। हृदय में समझ बूझ-कर आप अपने चित्त और चेतना को सँभालिए। भौंरा कमल के साथ पराया हो जाता है पर मालती के प्रेम का

स्मरण करके फिर उसके पास आता है। इसी प्रकार भले ही तेरा पति किसी नायिका के प्रेम में पड़ गया हो पर वह तुम्हारे प्रेम का स्मरण कर अवश्य लौटेगा। जिस प्रकार पपीहे को स्वाति से प्रेम होता है उसी प्रकार अपनी प्यास को सँभालो और मन को स्थिर रखो। पृथ्वी को आकाश का प्रेम होता है तभी तो आकाश को गया हुआ जल पलट कर वर्षा ऋतु में उसी में भर जाता है। हे सुन्दरी! वसन्त ऋतु फिर आयेगा, वही भौंरा, वही रस फिर होगा अर्थात् मिलन के दिन फिर आयेंगे और तू फिर सुख भोग करेगी। हे नागमती! तू अपने जीव को इस प्रकार न सुखा, यह जलाया हुआ तेरा शरीर रूपी वृक्ष प्रिय संयोग से फिर हरा हो कर सँभल जायगा। दस दिन जलके सूख जाने से क्या बिगड़ता है, हंस लोग उस तालाब से उड़ जाते थे, बाद में पानी भर जाने पर वही तालाब होता है और वे ही हंस लौटकर आ जाते हैं। जो प्रिय बिछुड़ जाता है फिर मिलता है और उसे पकड़-पकड़ कर फिर फिर भेंटते हैं। जो मृगशिरा की गर्मी को सहते हैं वे ही तो आर्द्रा के जल को पाकर पल्लवित होते हैं। तात्पर्य यह कि यह तो संसार का नियम ही है कि दुःख के बाद सुख होता है, अतः पिय-मिलाप की आशा रखो और दुख दूर करो।

अलंकार—दृष्टान्त।

[ ३४४ ]

चढ़ा असाढ़, गँगन घन साजा। गाजा बिरह दुंद दल बाजा॥
धूम, स्याम, धौरे घन धाए। सेत धुजा बगु पाँति देखाए॥
खरग बीज चमकै चहुँ ओरा। बुंद बान बरिसै घन घोरा॥
अद्रा लाग बीज भुइँ लेई। मोहि पिय बिनु को आदर देई॥
आनै घटा आई चहुँ फेरी। कंत उबारु, मदन हौं घेरी॥
दादुर मोर कोकिला पीऊ। करहिं बेझ, घट रहै न जीऊ॥
पुख नछत्र, सिर ऊपर आवा। हौं बिनु नाँह, मँदिर को छावा॥

जिन्ह घर कंता ते सुखी, तिन्ह गारौ तिन्ह गर्व।
कंत पियारा बाहिरें, हम सुख भूला सर्व॥ ३४४॥

से डूब गयी। सखियों ने यह देखकर कि यह काम से मारी गयी है हार गयीं। नागमती अब हाय हाय करके प्राण छोड़ देगी। उसकी मूर्छा की दशा ऐसी भयंकर है कि कभी तो क्षण भर के लिए उसके पेट में साँस आती है और दूसरे ही क्षण साँस चली जाती है, सभी निराश हो जाते हैं। लोग पंखा झलते हैं, उसके वस्त्रों पर पानी छिड़कते हैं। कभी एक पहर तक वह बोलती ही रहती है। उसके प्राण निकलना चाहते हैं कौन इनकी रक्षा करे? कौन चातक की बात पूरी करे—उसके पिय से मिलावे। विरह से भरी हुई जो आह उसने निकाली उससे उसी की विरहाग्नि प्रज्वलित हो उठी। उस आग से उसके शरीर के भीतर जो जीव रूपी हंस था उसके पंख जल गये और शरीर थक गया।

[ ३४३ ]

पाट महादेइ हिए न हारू। समुझि जीउ, चित चेतु सँभारू ॥
भँवर कँवल सँग होइ न परावा। सँवरि नेह मालति पहँ आवा ॥
पीउ सेवाति सौं जैस पिरीती। टेकु पियास बाँधु जिय थीती ॥
धरती जैस गँगन के नेहा। पलटि भरै बरखा रितु मेहा ॥
पुनि बसंत रितु आव नवेली। सो रस, सो मधुकर, सो बेली ॥
जनि अस जीउ करसि तूँ नारी। दहि तरिवर पुनि उठहिं सँभारी ॥
दिन दस जल सूखा का नंसा। पुनि सोइ सरवर, सोई हंसा ॥
मिलहिं जो बिछुरै साजना, गहि गहि भेंट गहंत।
तपनि मिरगिसिरा जे सहहिं, अद्रा ते पलुहंत ॥ ३४३ ॥

शब्दार्थ—पाट महादेइ = पट्ट महादेवी, पटरानी! परावा = दूसरा। टेकु = सँभालो। थीती = स्थिरता। नंसा = बिगड़ा। मिरगिसिरा = जेठ के महीने में मृगशिरा नाम का नक्षत्र लगता है जब गर्मी अपनी चरम सीमा पर पहुँचती है। अद्रा = आषाढ़ मास का पहला नक्षत्र जिसमें वर्षा आरम्भ होती है। पलुहंत = पल्लवित होना।

अर्थ—सखी नागमती को सांत्वना दे रही है—हे महारानी! जी आप जी में हार न मानिए। हृदय में समझ बूझ-कर आप अपने चित्त और चेतना को सँभालिए। भौंरा कमल के साथ पराया हो जाता है पर मालती के प्रेम का

स्मरण करके फिर उसके पास आता है। इसी प्रकार भले ही तेरा पति किसी नायिका के प्रेम में पड़ गया हो पर वह तुम्हारे प्रेम का स्मरण कर अवश्य लौटेगा। जिस प्रकार पपीहे को स्वाति से प्रेम होता है उसी प्रकार अपनी प्यास को सँभालो और मन को स्थिर रखो। पृथ्वी को आकाश का प्रेम होता है तभी तो आकाश को गया हुआ जल पलट कर वर्षा ऋतु में उसी में भर जाता है। हे सुन्दरी ! वसन्त ऋतु फिर आयेगा, वही भौंरा, वही रस फिर होगा अर्थात् मिलन के दिन फिर आयेंगे और तू फिर सुख भोग करेगी। हे नागमती ! तू अपने जीव को इस प्रकार न सुखा, यह जलाया हुआ तेरा शरीर रूपी वृक्ष प्रिय संयोग से फिर हरा हो कर सँभल जायगा। दस दिन जलके सूख जाने से क्या बिगड़ता है, हंस लोग उस तालाब से उड़ जाते थे, बाद में पानी भर जाने पर वही तालाब होता है और वे ही हंस लौटकर आ जाते हैं। जो प्रिय बिछुड़ जाता है फिर मिलता है और उसे पकड़-पकड़ कर फिर फिर भेंटते हैं। जो मृगशिरा की गर्मी को सहते हैं वे ही तो आर्द्रा के जल को पाकर पल्लवित होते हैं। तात्पर्य यह कि यह तो संसार का नियम ही है कि दुःख के बाद सुख होता है, अतः पिय-मिलाप की आशा रखो और दुख दूर करो।

अलंकार—दृष्टान्त।

[ ३४४ ]

चढ़ा असाढ़, गँगन घन साजा। गाजा बिरह दुंद दल बाजा॥
धूम, स्याम, धौरे घन धाए। सेत धुजा बगु पाँति देखाए॥
खरग बीज चमकै चहुँ ओरा। बुंद बान बरिसै घन घोरा॥
अद्रा लाग बीज भुइँ लेई। मोहि पिय बिनु को आदर देई॥
आनै घटा आई चहुँ फेरी। कंत उबारु, मदन हौं घेरी॥
दादुर मोर कोकिला पीऊ। करहिं बेझ, घट रहै न जीऊ॥
पुख नछत्र, सिर ऊपर आवा। हौं बिनु नाँह, मँदिर को छावा॥
जिन्ह घर कंता ते सुखी, तिन्ह गारौ तिन्ह गर्ब।
कंत पियारा बाहिरें, हम सुख भूला सर्ब॥ ३४४॥

शब्दार्थ—गाजा = गरजा। दुंद = द्वन्द्व, दुःख। धौरे = धवल, सफेद। खरग = खड्ग। बीज = बिजली। औनै = झुकी हुई। फेरी = ओर। बेझ = तीर मारना। पुख = पुष्य नक्षत्र। गारौ = गौरव-अभिमान।

अर्थ—यहाँ से जायसी बारहमासा वर्णन करते हैं। लोक गीतों में विरह की अवस्था में बारह-मासों में विरहिणी की दशा का वर्णन करने की पद्धति है, इसमें प्रत्येक ऋतु का प्रभाव विरहिणी पर प्रदर्शित किया जाता है। बारह मासे का आरम्भ लोक गीतों में वर्षा ऋतु से ही होता है जायसी ने उसी पद्धति का निरूपण किया है—

आषाढ़ मास लगा, आकाश में बादल गरजने लगे। विरह के दुःखों ने भी अपना सारा दल सजा लिया। धूमिल, काले और सफेद रंग के बादल आकाश में दौड़ने लगे। बगलों की पंक्ति ऐसी लगती है मानो सफेद ध्वजा फहर रही है। बिजली चारों ओर चमकती है मानो तलवारें चमक रही हैं पानी की बूँदें गिर रही हैं। मानों बाण चल रहे हैं। इस प्रकार सेना का पूरा रूपक है।

आर्द्रा-नक्षत्र के लगते ही बिजली पृथ्वी तक चमक कर आने लगी, पद्मावती कहती है कि इस समय पति के बिना कौन मुझे आदर दे सकता है? चारों ओर बादलों की घटायें झुकी हुई हैं। हे प्रियतम! मुझे बचाओ, कामदेव की सेनाओं ने मुझे घेर रखा है। मेंढक, मोर, कोयल, और पपीहे तीर चला कर वेध रहे हैं, हृदय में जीव न रहने पायेगा। पुष्य नक्षत्र भी चढ़ आया, मैं बिना पति के घर में हूँ, मेरी रक्षा कौन करे?

आज जिनके घर में उनके पति हैं, उन्हें गौरव और गर्व है। और मेरा प्रियतम मुझसे बाहर है। इसलिए मेरे सभी सुख भूले हुए हैं।

[ ३४५ ]

सावन बरिस मेह अति पानी। भरनि भरइ, हौं बिरह झुरानी॥
लागु पुनर्वसु पीउ न देखा। भै बाउरि, कह कंत सरेखा॥
रकत क आँसु परे भुइँ टूटी। रेंगि चली जनु बीर बहूटी॥
सखिन्ह रचा पिउ संग हिंडोला। हरियर भुइँ, कुसुम्भि तन चोला॥
हिय हिडोल जस डोलै मोरा। बिरह झुलावै देइ झँकोरा॥

बाट असूझ अथाह गँभीरा । जिउ बाउर, भा भवै भँभीरा ॥
जग जल बूड़ि जहाँ लगि ताकी । मोर नाव खेवक बिनु थाकी ॥
परबत समुँद अगम बिच, बन बेहड़ घन ढङ्ख ।
किमि करि भेंटौं कंत तोहि, ना मोहि पाँव न पङ्ख ॥ ३४५ ॥

शब्दार्थ—बरिस = बरसता है । भरनि = पानी का भर जाना । पुनर्वसु = एक नक्षत्र । सरेखा = चतुर, एक नक्षत्र का नाम । रेंगि = कीड़ों का चलना । भवै = चक्कर लगाना । भँभीरा=एक पतिंगा जो बरसात में संध्या समय आकाश में उड़ता दिखलाई पड़ता है । ताकी = देखते हैं । मोर नाव = मेरी नाव । बेहड़ = बीहड़, अगम । ढंख = वृक्ष और झाड़ झंखाड़ आदि से युक्त ।

अर्थ—सावन में पानी अधिक बरसने लगा । सारे जलाशय पानी से भर गये पर मैं विरह से और भी सूख गयी । पुनर्वसु नक्षत्र भी लग गया । पर मैंने अपने पति का दर्शन भी न पाया । मैं तो बावली हो गयी हूँ । हे चतुर प्रियतम ! कहाँ हो—अब तो सरेखा नक्षत्र भी आ गया है । खून को आँसुएँ भूमि पर टूट कर गिर रही हैं, वे लाल-लाल ज़मीन पर इस प्रकार लगती हैं मानो बीर बहूटियाँ चल रही हों । सखियों ने अपने पति के साथ हिंडोला डाल रखा है । भूमि हरी है और उन्होंने कुसुम्भ ( लाल ) रंग के वस्त्र धारण किये हैं । मेरा हृदय ही इस प्रकार डोल रहा है । जैसे झूला और विरह उसे झकोरे दे-देकर झुला रहा है । रास्ते असूझ, अथाह और कठिन हो गये हैं । मेरा हृदय बावला होकर इस प्रकार चक्कर कर रहा है जैसे भँभीरा नामक पतिंगा आकाश में चक्कर लगाता है । जहाँ तक देखो सारा संसार पानी में डूब गया है, मेरी नाव तो मेरे खेवैया—पति के बिना थक गयी है ।

मेरे और प्रियतम के बीच में बड़ा अन्तर है—अनेक पर्वत, अगम समुद्र, बीहड़ वन और जंगल बीच में हैं । हे प्रियतम, मैं तुमसे कैसे मिलूँ, न तो तुझ तक पहुँचने के लिए मेरे पैरों में शक्ति है और न मेरे पंख हैं कि मैं उड़ कर तुझ तक पहुँच जाऊँ ।

[ ३४६ ]

भर भादौं दूभर अति भारी। कैसें भरौं रैनि अँधियारी॥
मँदिल सून पिय अनतै बसा। सेज नाग भै धै धै डसा॥
रहौं अकेलि गहें एक पाटी। नैन पसारि मरौं हिय फाटी॥
चमकि बीज, घन गरजि तरासा। विरह काल होइ जीउ गरासा॥
बरिसै मघा झँकोरि झँकोरी। मोर दुइ नैन चुवहिं जसि ओरी॥
पुरबा लाग पुहुमि जल पूरी। आक जवास भई हौं भूरी॥
धनि सूखी भर भादौं माहाँ। अबहूँ आइ न सींचसि नाहाँ॥

जल थल भरे अपूरि सब, गँगन धरति मिलि एक।
धनि जोबन औगाह महँ, दे बूड़त पिय टेक॥ ३४६॥

शब्दार्थ—दूभर = कठिन। भरौं = काटूँ। मँदिल = घर। धै = पकड़ कर। गरासा = खाना। तरासा = डराता है। मघा और पुरबा = नक्षत्रों के नाम।

अर्थ—सारा भादों का महीना बड़ा कठिन है। ये अँधेरी रातें कैसे काटूँ। मेरा घर सूना है, मेरे पति अन्यत्र बसे हैं। शय्या नागिन हो गई है—पास जाने पर पकड़ कर काट खाती है। शय्या की एक पट्टी पकड़े हुए अकेली पड़ी रहती हूँ, आँखें फाड़ कर हृदय फाड़ कर मर रही हूँ। बिजली चमकती है, बादल गर्ज कर डराता है। विरह काल होकर जीव को ग्रस रहा है। मघा का नक्षत्र है, झकोरों के साथ वर्षा हो रही है, मेरी आँखों से आँसू की धारा इस प्रकार अविरल बह रही है। जैसे घरों के खपरैलों पर से अटूट धार में पानी गिर रहा है। पुरबा का नक्षत्र लगा। सारी पृथ्वी जल से भर गयी। मैं तो आक और जवास की भांति जल कर सूख गयी हूँ। जायसी कहते हैं कि कैसा विरोधाभास है कि सारे भादौं के महीने में नारी नागमती सूखती रही, अब भी उसका पति आकर उसे नहीं सींचता। जल-थल सब पूरी तरह से भर गए। आकाश और पृथ्वी वर्षा द्वारा मिल-कर एक हो गये हैं और नागमती अथाह जवानी में डूब रही है और सहारा देने के लिए पति को पुकार रही है।

[ ३४७ ]

लाग कुआर, नीर जग घटा। अबहुँ आउ, पिउ परभुमि लटा॥
तोहि देखे, पिउ पलुहै काया। उतरा चित्त, फेरि करु माया॥
उए अगस्ति, हस्ति घन गाजा। तुरै पलानि चढ़े रन राजा॥
चित्रा मित मीन घर आवा। कोकिल पीउ पुकारत पावा॥
स्वाति बुंद चातिक मुख परे। सीप समुन्द्र मोंति लै भरे॥
सरवर सँवरि हंस चलि आए। सारस कुरुरहिं, खँजन देखाए॥
भएउ अवगास, कास बन फूले। कंत न फिरे, बिदेसहि भूले॥
बिरह हस्ति तन सालै, खाइ करै तन चूर॥
बेगि आइ पिय बाजहु, गाजहु होइ सदूर॥ ३४७॥

शब्दार्थ परभुमि लटा = दूसरी भूमि (विदेश) में अनुरक्त। पलुहे = पल्लवित होती है। माया = प्रेम। तुरै = घोड़ा। पलानि = जीन कस कर। चित्रा = एक नक्षत्र। अवगास पाठान्तर-विकास। सदूर = शार्दूल, सिंह।

अर्थ आश्विन का महीना लगा, जलाशयों में पानी कम होने लगा। विदेश में अनुरक्त होने वाले पति अब भी तो आओ। तुझे देख कर हमारा हृदय पल्लवित होने लगता है। तेरा चित्त हमारी ओर से उतरा हुआ है, फिर से हमसे प्रेम करिए। अगस्त तारा उदय हो गया है, रास्ते साफ हो गये—राजा के हाथी गर्ज रहे हैं क्योंकि मार्ग में वे चलने लगे हैं। राजा घोड़े पर जीन कस कर रण के लिए चल पड़ा। चित्रा का नक्षत्र लगा। मछलियों का मित्र भी उनके घर आ गया। कोयल भी पुकारती हुई अपने प्रिय को पा गयी। स्वाति नक्षत्र के पानी की प्रिय बूँद पपीहा के मुख में पड़ चुकी, सीपों में स्वाती जल पड़ा जिससे उनमें मोती बन गये। तालाब में हंस लौट कर आ गये। सारसों के जोड़े कुलेलें कर रहे हैं, खंजन पक्षी दिखाई पड़ने लगे। वन में कास बढ़ीं और फूल उठीं, तात्पर्य यह कि सारी प्रकृति में हर्ष और संयोग का सुख है—पर मेरा पति न लौटा, विदेश में भूल गया है। विरह रूपी हाथी शरीर को कष्ट दे रहा है खा-खा कर शरीर को चूर कर रहा है। हे प्रिय! शीघ्र ही सिंह बन कर आकर गर्जो और विरह-रूपी हाथी का विध्वंस करो।

[ ३४८ ]

काति  सरद चंद उजियारी। जग सीतल, हौं बिरहैं जाही ॥
चौदह करा कीन्ह परगासू। जनहुँ जरै सब धरति अकासू ॥
तन मन सेज करै अगिडाहू। सब कहँ चाँद, मोहिं होइ राहू ॥
चहूँ खंड लागै अँधियारा। जौं घर नाहिंन कंत पियारा ॥
अबहूँ निठुर आव एहिं बारा। परब देवारी होइ संसारा ॥
सखि झूमक गावहिं अँग मोरी। हौं झूरौं, बिछुरी जेहि जोरी ॥
जेहि घर पिउ सो मुनिवरा पूजा। मो कहँ बिरह, सवति दुख दूजा ॥
सखि मानहिं तेवहार सब, गाइ देवारी खेलि।
हौं का खेलौं कंत बिनु, तेहिं, रही छार सिर मेलि ॥ ३४८ ॥

शब्दार्थ—अगिडाहू = आग जलना। झूमक = गीत का नाम। झूरौं = पछता रही हूँ। छार = मिट्टी।

अर्थ—कातिक के महीने में शरद् के चन्द्रमा का उजेला फैला है। सारा संसार शीतल है—केवल मैं विरह में जल रही हूँ। चन्द्रमा अपनी पूर्ण कलाओं के साथ प्रकाशित है—मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि सारी पृथ्वी और आकाश जल रहा है। शरीर, मन और शय्या सब अग्नि से जल रहे हैं। सब के लिए तो यह शीतल चाँद है, पर मेरे लिए तो यह राहु हो रहा है। मुझे तो चारों ओर अँधेरा प्रतीत होता है क्योंकि मेरे घर में मेरा प्रिय पति नहीं है। हे निष्ठुर पति, इस बार अब भी तो आ जाओ, संसार में दीवाली का आनन्द-पर्व हो रहा है। सखि अंग मोड़-मोड़ कर झूमक करा गीत गा रही हैं और मैं दुःख मना रही हूँ, क्योंकि मुझे वियोग हो रहा है। जिसके घर में पति है वहाँ मुनिवरों की पूजा हो रही है—अर्थात् ब्राह्मण भोजन आदि से आनन्दित हो रहे हैं पर मुझे तो विरह रूपी सौत दूना दुःख दे रही है। सारी सखियाँ त्योहार मना रही हैं, जा जाकर दीवाली का खेल खेल रही हैं। मैं पति के बिना क्या खेलूँ, इसलिए मैं तो अपने सिर धूल डाल रही हूँ।

[ ३४९ ]

अगहन देवस घटा, निसि बाढ़ी। दूभर दुख, सो जाइ किमि काढ़ी ॥
अब धनि देवस बिरर भा राती। जरै बिरह ज्यों दीपक बाती ॥

काँपा हिया जनावा सीऊ। तौ पै जाइ होइ सँग पीऊ ॥
घर घर चीर रचा सब काहू। मोर रूप रँग लै गा नाहू ॥
पलटि न बहुरा गा जो बिछोई। अबहूं फिरै. फिरै रँग सोई ॥
सियरि अगिनि बिरहिनि हिय जारा। सुलगि सुलगि दगधै भै छारा ॥
यह दुख दगध न जानै कंतू। जोवन जरम करै भसमंतू ॥
पिय सौं कहेहु सँदेसरा, ऐ भँवरा ऐ काग।
सो धनि बिरहैं जरि गई, तेहिक धुआँ हम लाग ॥ ३५६ ॥

शब्दार्थ—देवस = दिन। जनावा = प्रकट हुआ। सीऊ = शीत। बहुरा= लौटा। सियरि = ठंडक।

अर्थ--अगहन का महीना आया, दिन घटने लगा और रात बढ़ने लगी। यह कठिन दुःख किस प्रकार निकाला जाय। अब तो नारी (पद्मावत) के लिए दिन का विरह भी रात के समान हो गया है, जिसमें विरह इस प्रकार जल रहा है, जैसे दीपक की बत्ती जलती रहती है। ठंडक मालूम पड़ने लगी, हृदय कांपने लगा। यह शीत तो तभी जा सकत है, जब साथ में पति हो। घर-घर में स्त्रियाँ नये-नये रंग-बिरंगे वस्त्र पहन रही हैं, मेरे रंग रूप को तो मेरा पति ले गया है। वह निर्मोही जाकर फिर न लौटा, अब भी यदि वह लौट आये, तो मेरे शरीर का रंग लौट सकता है। ठंडक की अग्नि विरहिणियों को जला रही है। सुलग-सुलग कर जला-जला कर राख कर रही है। मेरा पति मेरे इस दुःख और जलन को नहीं जानता, जवानी जीवन को भस्म कर रही है। इसलिए ऐ भौंरे और कौए तुम उड़ कर मेरे पति के पास आओ और उससे यह संदेशा कहो कि वह स्त्री (नागमती) तो विरह से जल कर मर गई और उसका धुँवा हमें लगा है, इसीलिए हम काले हो गये हैं।

अलङ्कार—विरोधाभास और हेतूत्प्रेक्षा।

[ ३५० ]

पूस जाड़ थरथंर तन काँपा। सुरुज जड़ाइ लंक दिसि तापा ॥
बिरह बाढ़ि, भा दारुन सीऊ। कँपि कँपि मरौं, लेहि हरि जीऊ ॥
कंत कहाँ हौं लागौं हियरे। पंथ अपार, सूझ नहिं नियरें ॥

सौर सुपेती आवै जूड़ी। जानहुँ सेज हिवंचल बूड़ी॥
चकई निसि बिछुरैं, दिन मिला। हौं निसि बासर बिरह कोकिला॥
रैनि अकेलि साथ नहिं सखी। कैसे जिओं बिछोही पँखी॥
बिरह सैचान भँवै तन चाँड़ा। जीयत खाइ मुएँ नहिं छाँड़ा॥
रकत ढरा माँसू गरा, हाड़ भए सब सङ्ख।
धनि सारस होइ ररि, मुई आइ समेटहु पङ्ख॥ ३५०॥

शब्दार्थ—लङ्क दिशि = दक्षिण दिशा। सौर = चद्दर। जूड़ी = ठंडी। हिवंचल = हिमालय। सैचान = बाज़। ररि = रह कर।

अर्थ—पूस में जाड़ा पड़ रहा है, शरीर थर-थर कांप रहा है। सूर्य भी मानो ठंडक पा रहा है, अतः दक्षिण में रह आग सेंक रहा है। विरह बढ़ गया और शीत दारुण हो गया है, मैं काँप-काँप कर मर रही हूँ और शीत मेरी जान ले रहा है। हे पति कहाँ हो, मैं तेरे दिल से लगूँ। सारा रास्ता अपार है, निकट भी नहीं दिखाई पड़ रहा है। शय्या पर की सफेद चद्दर बिल्कुल ठंडी हो जाती है, ऐसा मालूम होता है, मानो बर्फ में डूबी हुई है। चकई तो रात को अपने पति से बिछुड़ जाती है, पर दिन में तो मिल ही जाती है, पर मैं तो रात और दिन दोनों में कोयल की भान्ति चिल्लाती रहती हूँ। रात में मैं अकेली हूँ, साथ में कोई सहेली भी नहीं है, मैं बिछुड़ी हुई चिड़िया के समान कैसे जिऊँ। विरह रूपी बाज घूम रहा है, शरीर पर दृष्टि लगाये है, जीते हुए भी खाता है और मरने पर भी नहीं छोड़ता।

शरीर का रक्त बह गया, माँस गल गया, हड्डियाँ सब शङ्ख के समान सफेद-सफेद दिखाई पड़ने लगीं। नागमती सारस होकर रह-रह कर मर गई। हे पति! उसके मरने पर आवो और उसके पंख मात्र को समेट लो।

[ ३५१ ]

लागेउ माँह, परै अब पाला। बिरहा काल भएउ जड़काला॥
पहल पहल तन रुई जो झाँपै। हहलि हहलि अधिकौ हिय काँपै॥
आइ सूर होइ तपु रे नाहाँ। तेहि बिनु जाड़ न छूटै माहाँ॥
एहि मास उपजै रस मूलू। तूँ सो भँवर, मोर जोबन फूलू॥
नैन चुवहिं जस माँहुट नीरू। तेहि जल अंग लाग सर चीरू॥

टूटहिं बुंद परहिं जस ओला। बिरह पवन होइ मारैं झोला॥
केहिक सिंगार, को पहिर पटोरा। गियँ नहिं हार, रही होइ डोरा॥
तुम्ह बिनु कंता धनि हरुई, तन तिनुवर भा डोल।
तेहि पर बिरह जराइ कैं, चहै उड़ावा झोल॥ ३५१॥

शब्दार्थ—माँह = माघ का महीना। पहल-पहल = धुली हुई रुई के दगले। हहलि = हहरना। माँहा = माघ में। रस मूलू = रस का मूल अर्थात् काम। माँहुट = माघ की झड़ी। पटोरा = रेशम। हरुई = हलकी। झोल = राख।

अर्थ—माघ का महीना लगा, पाला पड़ने लगा। जाड़े के समय में विरह मौत बन रहा है। इस काल में तो जो रुई के दगलों से शरीर को छिपा रखे वही रह सकता है। नहीं तो हृदय हाय-हाय करके काँपता है, हे नाथ! अब तुम सूर्य होकर आओ और गर्मी पहुँचाओ, बिना तुम्हारे इस माघ में जाड़ा नहीं छूट सकता। इस महीने में काम उत्पन्न होता है। तू तो मेरे जीवन-रूपी फूल का भौंरा है। आँखों से आँसू इस प्रकार चू रहे हैं, जैसे माघ की झड़ी लगती है। इस जल के कारण शरीर के कपड़े बाण के समान लगते हैं, क्योंकि गीले होकर ठंडक पहुँचाते हैं। बूँदें पड़ती हैं, जैसे ओले पड़ रहे हों। विरह पवन होकर झकोरे मारता है। इस समय किसका शृङ्गार, कौन रेशमी वस्त्र पहने, गले में हार नहीं है, एक डोरा लगा है। हे पति! तुम्हारे बिना मैं बिल्कुल हलकी हो गयी हूँ, शरीर रूपी वृक्ष हिल रहा है, तिस पर विरह जला कर इसकी राख उड़ाना चाहता है।

[ ३५२ ]

फागुन पवन झँकोरै बहा। चौगुन सीउ जाइ किमि सहा॥
तन जस पियर पात भा मोरा। बिरह न रहै पवन होइ झोरा॥
तरिवर झरै झरै बन ढाँखा। भइ अनपत्त फूल फर साखा॥
करिन्ह बनाफति कीन्ह हुलासू। मो कहँ भा जग दून उदासू॥
फाग करहि सब चाँचरि जोरी। मोहिं जिय लाइ दीन्हि जसि होरी॥
जौं पै पियहि जरत अस भावा। जरत मरत मोहि रोस न आवा॥
रातिहु देबस इहै मन मोरें। लागौं कंत छार जेउँ तोरें॥

यह तन जारौं छार कै. कहौं कि पवन उड़ाउ ।
मकु तेहि मारग होइ परौं, कंत धरै जहँ पाउ ।। ३५२ ।।

शब्दार्थ—ढाँखा = पलाश, वृक्ष । अनपत्त = पत्तों से रहित । बनाफति= वनस्पति । चाँचरि = स्वाँग जिसमें नृत्य और गीत का आधिक्य होता है । मकु = काश ।

अर्थ – फागुन के महीने में हवा झकझोर कर बहने लगी, शीत चौगुना हो गया, किस प्रकार सहा जाय । मेरा शरीर भी वैसा ही पीला हो गया, जैसे इस मास में पेड़ों के पत्ते पीले हो गये हैं । विरह पवन होकर झकझोर रहा है, इससे रहा नहीं जाता । जङ्गल में पलाश तथा अन्य पेड़ों के पत्ते झड़ रहे हैं, पेड़ की डालियाँ पत्ते से विहीन हो गयीं, पर साथ ही उनमें फल-फूल भी आने लगे । सारी वनस्पतियों में अनन्द आने लगा, पर मुझे तो उदासी दूनी हो गयी । सब लोग फाग खेलते हैं और चाँचरि नाम का स्वांग करते हैं, पर मेरे दिल में तो मानो होली जलाई गई है । यदि मेरे पति को मेरा जलना ही अच्छा लगता है, तो जलते और मरते हुए मुझे किसी प्रकार का क्रोध या दुःख नहीं । रात-दिन मेरे मन में यही बात है कि हे पतिदेव ! राख बन कर तेरे हृदय से लगूँ ।

इस शरीर को जला कर राख बना दूँ और कहूँ कि हवा उसे उड़ा कर उस रास्ते पर डाल दे कि जहाँ पर मेरा पति अपना पैर रखे ।

नोट—अन्तिम चौपाई और दोहे में कैसी हृदयविदारक त्याग की भावना है । विरह का ऐसा पुनीत भाव कहाँ मिलेगा ? एक स्थल पर मीरा ने अपना यही भाव व्यक्त किया है—

अगर चंदन की चिता रचाऊँ । उसमें आग लगा जा ।।
जल-जल भई राख की ढेरी । अपने अंग लगा जा ।।
जोगी मत जा, मत जा, मत जा ।

[ ३५३ ]

चैत बसंता होइ धमारी । मोहि लेखें संसार उजारी ।।
पंचम बिरह पंच सर मारै । रकत रोइ सगरौ बन ढारै ।।
बूड़ि उठे सब तरिवर पाता । भीज मंजीठ, टेसू बन राता ।।

मौरै आँब फरैं अब लागे। अबहुँ सँवरि घर, आउ सभागे॥
सहस भाव फूली बनफती। मधुकर फिरे सँवरि मालती॥
मो कहँ फूल भए जस काँटे। दिस्टि परत तन लागहिं चाँटे॥
भर जोवन एहु नारँग साखा। सोवा बरह अब जाइ न राखा॥
घिरिनि परेवा आव जस, आइ परहु पिय टूटी।
नार पराएँ हाथ है, तुम्ह बिनु पाव न छूटि॥ ३५३॥

शब्दार्थ—पंचम = कोकिल का पंचम स्वर। पंचसर = कामदेव-जिसके पाँच फूलों के बाण होते हैं। सगरौ = सारे। घिरिनि परेवा = गिरह बाज कबूतर, जो कि अपने जोड़े को छोड़कर क्षण भर के लिए ऊपर उड़ जाता है पर ज्यों ही स्मरण आता है, बड़ी तेजी से टूट पड़ता है और पास आ जाता है—सूरदास ने लिखा है

प्रीति परेवा की गनो, चाहत चढ़न अकास॥

अर्थ—चैत के महीने में वसन्त और धमार के गीत हो रहे हैं, पर मेरी दृष्टि में तो जैसे सारा संसार ही उजड़ा हुआ है। कोकिल का पंचम स्वर मुझ में कामोद्दीपन कर रहा है। ऐसा प्रतीत होता है, सारा वन जो नव-पल्लवों से लाल हो रहा है, वह उन बाणों की चोट से है, जो खून बन कर प्रकट है। सभी पेड़ों के पत्ते खून में डूब गये हैं। मंजीठ का फल खून से भीग कर ही लाल हुआ है और टेसू का वन भी इसीलिए लाल हुआ है। आम में बौर लगे हैं, उनमें फल भी लगने लगे, ऐ भाग्यवान पति, अब भी तो मुझे स्मरण करके घर वापस आओ। वनस्पतियाँ हजार रङ्गों में फूली हुई हैं। भौंरा मालती को स्मरण करता हुआ घूम रहा है। मुझे तो फूल ऐसे लग रहे हैं, जैसे कांटे हों। फूल दिखाई पड़ते हैं, तो प्रतीत होता है कि सारे शरीर में चींटियाँ लग गई हों। जवानी से भरी हुई यह नारङ्गी की शाखा रूपी शरीर है, इसमें विरह सो रहा है, किसी प्रकार यह रखा नहीं जा सकता।

हे पति! तुम इस प्रकार शीघ्र आओ, जैसे गिरहबाज कबूतर ऊपर से टूट कर अपने जोड़े के पास पहुँच जाता है। आप सोचिये तो कि तुम्हारी पत्नी दूसरे (विरह) के हाथ पड़ गयी है और तुम्हारे बिना वह छूट नहीं पाती।

[ ३५४ ]

भा बैसाख तपनि अति लागी। चोला चीर चँदन भौ आगी ॥
सूरुज जरत हिवंचल ताका। बिरह बजागि सौहँ रथ हाँका ॥
जरत बजागिनि होउ पिय छाहाँ। आइ बुझाउ, अँगारन्ह माहाँ ॥
तोहि दरसन होइ सीतल नारी। आइ आगि सौं करु फुलवारी ॥
लागिउँ जरैं, जरैं जस भारू। बहुरि जो भूँजसि, तजौं न बारू ॥
सरवर हिया घटत निति जाई। टूक टूक होइ होइ बिहराई ॥
बिहरत हिया करहु पिय टेका। दिस्टि दवँगरा मेरवहु एका ॥
कँवल जो बिगसा मानसर, छारहिं मिलै सुखाई।
अबहुं बेलि फिरि पलुहै, जौं पिय सींचहु आइ ॥ ३५४ ॥

शब्दार्थ—हिवंचल-ताका = हिमालय की ओर देखा-उत्तरायण हुआ। बिरह बजागि = वियोग की वज्राग्नि। सौंह = मेरे सामने। भारू = भाड़। बहुरि = फिर। भूँजसि = भूनोगे। बारू = द्वार। बिहराई = तालाब का पानी जब सूखता है तो मिट्टी में दरारें फूट जाती हैं। दवँगरा = जोर की वर्षा। मेरवहु = मिला दो।

अर्थ—वैसाख का महीना लगा, गर्मी बढ़ गयी, साड़ी, वस्त्र तथा चन्दन सब में आग सी लग गयी। जलता हुआ सूर्य उत्तरायण हो गया और विरह की वज्राग्नि मेरी ओर होकर रथ चला कर आ रही है। इस विरह की वज्राग्नि में जलते हुए मुझे, हे पति! अपनी छाया दो और आकर अङ्गारों को बुझाओ। तेरे दर्शन से मेरी नाड़ियाँ शीतल हो जायँगी, आकर इस आग को फुलवाड़ी बना दो—भाव यह कि तुम्हारे आते ही सारे अङ्गारे मेरे लिए फूल हो जायेंगे। अब मैं भाड़ की भान्ति जलने लग गयी हूँ, यदि अब और मुझे भूलोगे, तो भी मैं द्वार नहीं छोड़ सकती। जिस प्रकार तालाबों का पानी इस समय घट रहा है, उसी प्रकार मेरा हृदय भी दबता जा रहा है, और जैसे तालाबों की मिट्टी पानी के सूख जाने पर टुकड़े-टुकड़े होकर फटी जा रही है, उसी प्रकार मेरा हृदय भी फटा जा रहा है। इस फटते हुए हृदय को हे पति! सहारा दो। अपनी दृष्टि-रूपी जल वृष्टि से इन फटी हुई दरारों को मिला कर एक कर दो। जो कमल मानसरोवर में खिला था, वह सूख कर मिट्टी

में मिल रहा है—अर्थात् मेरे मन की सारी प्रसन्नता इस समय नष्ट हो चुकी है। पर अब भी मेरे हृदय—कमल की बेल पल्लवित हो सकती है, यदि हे पति! तुम आकर इसे सींच दो।

[ ३५५ ]

जेठ जरै जग, बहै लुवारा। उठै बवंडर धिकै पहारा॥
बिरह गाजि हनिवंत होइ जागा। लंका डाह करै तन लागा॥
चाहिहुँ पवन झँकोरै आगी। लंका डाहि पलङ्गा लागी॥
दहि भइ स्याम नदी कालिंदी। बिरह कि आगि कठिन असि मंदी॥
उठै आगि औ आवै आँधी। नैन न सूझ, मरौं दुख बाँधी॥
अधजर भई, माँसु तन सूखा। लागेउ बिरह काग होइ भूखा॥
माँसु खाइ अब हाँड़न्ह लागा। अबहूँ आउ, आवत सुनि भागा॥
परबत समुँद मेघ ससि दिनअर, सहि न सकहिं यह आगि।
मुहमद सती सराहिऔ, जरै जो अस पिय लागि॥ ३५५॥

शब्दार्थ — लुवारा = लू। धिकै = गर्म हो जाना। मंदी = धीरे-धीरे जल रही है। दिनअर = दिनकर। मुहमद = मलिक मुहम्मद जायसी।

अर्थ—जेठ के महीने में लू चल रही है, सारा संसार जल रहा है। बवंडर उठते हैं और पहाड़ जलने लगते हैं। विरह हनूमान् होकर गर्ज रहा है और लंका रूपी शरीर को जलाने लगा। चारों ओर से हवा चल कर उस आग को प्रज्ज्वलित करती जा रही है। लंका रूपी शरीर को जलाने के बाद पलंगों में भी लग रही है। जल जाने के कारण ही यमुना नदी काली हो गयी है। विरह की अग्नि धीरे-धीरे जल रही है। आग उठती है, आँधी चलती है; आँखों से दिखाई नहीं पड़ता और मैं दुःख से बँधी मर रही हूँ। अधजली हो गयी हूँ, शरीर का सारा मांस सूख गया। विरह रूपी कौआ भूखा होकर शरीर को खा रहा है। सारे मांस को खा चुका, तो अब हड्डियों में लग रहा है, हे पति! अब भी आ जाओ, तुम्हारे आते ही यह विरह-कौआ भाग जायगा।

जायसी कहते हैं कि विरह की आग को पर्वत, समुद्र, बादल, चन्द्रमा

और सूर्य नहीं सह सकते। उस सती की तारीफ करनी चाहिए, जो पति के लिए इस प्रकार जल रही है।

[ ३५६ ]

तपै लाग अब जेठ असाढ़ी। भै मोकहँ यह छाजनि गाढ़ी॥
तन तिनुवर भा, झूरौं खरी। भै बिरहा, आगरि सिर परीं॥
साँठि नाहिं लगि बात को पूँछा। बिनु जिय भएउ मूँज तन छूँछा॥
बंध नाहिं, औ कंध न कोई। बाक न आव कहौं केहि रोई॥
ररि दूबरि भई टेक बिहूनी। थंभ नाहिं उठि सकै न थूनी॥
बरिसहिं नैन, चुअहिं घर माहाँ। तुम्ह बिनु कंत न छाजन छाहाँ॥
को रे कहाँ ठाट नव साजा। तुम्ह बिनु कंत न छाजन छाजा॥
अबहूं दिस्टि मया करु, छान्हिन तजु घर आउ।
मंदिल उजार होत है, नव कै आनि बसाउ॥ ३५६॥

शब्दार्थ—छाजनि = छप्पर। तिनुवर = तिनकों का ठाट। झूरौं = सूख रही हूँ। आगरि = अग्रिम। साँठि = पूँजी। मूँज = एक घास जिसका बन्धन बनाया जाता है। बंध = बंधु। कंध = सहारा। बाक = बात। ररि = रट कर। टेक बिहूनी = सहारे के बिना। थंभ = सहारा। थूनी = वह लकड़ी का खम्भा जिस पर छप्पर ठहरता है।

अर्थ—अब जेठ-आसाढ़ की गर्मी तपने लगी है, मुझे तो यह छप्पर दुःखदायी हो रहा है। शरीर तिनकों का छप्पर हो रहा है और मैं खड़ी सूख रही हूँ। विरह तो आगे-आगे सिर पर पड़ रहा है। जब पूँजी समाप्त हो जाती है तो कौन बात पूछता है। बिना प्राण-पति के यह शरीर तो मूँज की घास के समान बिलकुल ही नीरस हो रहा है। न मेरा कोई बन्धु है और न कोई आश्रय-दाता, आवाज नहीं निकलती, किसके सामने अपना दुःख रोऊँ। रट-रट कर मैं आश्रय-विहीना दुबली हो गयी हूँ कोई खंभा नहीं है कि जिस पर थूनी वाली लकड़ी खड़ी हो सके। आँखों से आँसू रूप जल बरसने लगा—घर चूने लगा। हे पति! तुम्हारे बिना न तो मेरे पास छप्पर है न छाँह। कौन मेरा नया ठाट (छप्पर) बनाये। हे कंत! तुम्हारे बिना मेरा छप्पर न

बनेगा। हे पति! अब भी दया करो। अन्य छप्परों (स्त्रियों) को छोड़ कर अपने घर आओ। घर उजड़ रहा है, आकर इसे नया बना कर बसा दो।

[ ३५७ ]

रोइ गँवाएउ बारह मासा। सहस सहस दुख एक एक साँसा॥
तिल तिल बरिस बरिस बरु जाई। पहर पहर जुग जुग न सिराई॥
सो न आउ पिउ रूप मुरारी। जासों पाव सोहाग सो नारी॥
साँझ भए झुरि झुरि पँथ हेरा। कौनु सो घरी करै पिउ फेरा॥
दहि कोइल भै कन्त सनेहा। तोला माँस रहा नहिं देहा॥
रकत न रहा, बिरह तन गरा। रती रती होइ नैनन्हि ढरा॥
पाव लागि चेरी धनि हाहा। चूरा नेहु, जोरु रे नाहा॥
बरिस देवस धनि रोइ कै, हारि परी चित झाँखि।
मानुस घर घर पूँछि कै, पूँछै निसरी पाँखि॥ ३५७॥

शब्दार्थ—बरु = बल्कि। सिराई = बीतता। सोहाग = सौभाग्य, सोहागा जिससे सोना जोड़ा जाता है। सो नारी = वह स्त्री, सोनारिन। गरा = गल गया। ढरा = गिरा। झाँकि = पछता कर। निसरी = निकल कर। पाँखि = पक्षी।

अर्थ—बेचारी नागमती ने रो रो कर बारह मास बिता दिये। उसकी एक-एक साँस में हजारों दुःख भरे थे। क्षण-क्षण वर्ष-वर्ष के समान प्रतीत हो जाता है, पहर-पहर युग-युग के समान होता है। अतः समय कटता ही नहीं। वह स्वरूपवान प्रिय नहीं आता जिससे कि वह स्त्री अपना सौभाग्य प्राप्त करती। सारा रास्ता देखते हुए वह सूख जाती और सायंकाल हो जाता। कहती है कि हे प्रिय! वह घड़ी कौन सी होगी जब तुम वापस आओगे। प्रिय के स्नेह में जल कर वह कोयला हो गयी। शरीर में एक तोला भी मांस नहीं रह गया। शरीर में रक्त नहीं रह गया। सारा शरीर जल गया। आँखों से रत्ती-रत्ती खून बह गया। तुम्हारे पैरों में लग कर यह दासी हा-हा करके प्रार्थना करती है, हे पति! चूड़े के स्नेह को तो जोड़ो।

सारा वर्ष रो-रोकर वह स्त्री (नागमती) पछता-पछता कर और दुःखी हो

हो कर हृदय हार गयी। मनुष्यों के घर-घर में पूछ कर जब निराशा हुई तो पक्षियों से पूछने के लिए निकल पड़ी।

[ ३५८ ]

भई पुछारि लीन्ह बनबासू। बैरिनि सवति दीन्ह चिल्हवाँसू॥
कै खर बान कसै पिय लागा। जौं घर आवै अबहुँ कागा॥
हारिल भई पंथ मैं सेवा। अब तहँ पठवौं कौनु परेवा॥
धौरी पंडुक कहु पिय ठाऊँ। जौं चित रोख न दोसर नाऊँ॥
जाहि बया गहि पिय कँठ लवा। करे मेराउ सोइ गौरवा॥
कोइलि भई पुकारत रही। महरि पुकारि लेहु रे दही॥
पियरि तिलोरि आव जलहँसा। बिरहा पैठि हिएँ कत नंसा॥
जेहि पङ्खी कहँ अढ़वौं, कहि सो बिरह कै बात॥
सोई पङ्खी जाइ डहि, तरिवर होइ निपात॥ ३५८॥

शब्दार्थ—पुछारि = पूछने वाली, मोर। चिल्हवाँसू = चिड़िया फंसाने का फंदा हारिल = हारी हुई, एक पक्षी। धौरी = सफेद, एक पक्षी। पंडुक = पीला, एक पक्षी। बया = लौट कर आ, एक पक्षी। लवा = लगने वाला, एक पक्षी। मेराउ = मिलन। गौरवा = गौरवपूर्ण, एक पक्षी। महरि=एक पक्षी जिसकी आवाज़ निकलती है 'ले दही'। तिलोरि = तेलिया मैना। कत = क्यों। नंसा = नष्ट करता है। अढ़वौं = भेजूँ। डहि = जल जाना।

अर्थ—नागमती ने अपने पति के लिए पूछ-ताछ करने के लिए मोरनी होकर बनवास लिया पर शत्रु सवति ने उसे चिल्हवास के फंदे में डाल दिया—भाव यह कि मोरनी जंगल में रहती है पर फंदे में पड़ कर दुःखी होती है, इसी प्रकार नागमती अपने पति के लिए चिल्ला-चिल्ला कर वन में पति की पूछताछ कर रही है—सौत (पद्मावती) के कारण ही उसे यह कष्ट भोगना पड़ रहा है। वह कहती है कि अब तो बाणों को तेज करके मेरा पति मुझ पर छोड़ रहा है—अर्थात् विरह की पीड़ा हो रही है। हे कौवे! तू उड़ कर बता कि क्या अब भी मेरा पति घर आयेगा? मैं हारिल पक्षी बन गयी हूं। अर्थात् रास्ते चलते-चलते थक गयी हूँ, अब किस पक्षी को उनके पास भेजूँ? हे धौरी और पंडुक! मेरे पति का स्थान बतलाओ। जब तक चित्त में रोष

है, अर्थात् जब तक शक्ति है, दूसरा नाम नहीं ले सकती हूँ। हे बया पक्षी! तुम भी जाओ और मेरे गले में लगने वाले को ला। जो मेरी भेंट उस प्रियतम से करावे, वही गौरवपूर्ण पक्षी है। उसको पुकारते-पुकारते कोयल के समान मैं काली हो गयी। महरि की भांति मैं भी 'रे दही' अर्थात् 'मैं जली' पुकार रही हूं। पीली सिलोरी मैना और जल-हंस तुम भी आओ। विरह हमारे दिल में घुस कर हमें क्यों नष्ट कर रहा है?

नागमती कहती है कि मैं जिस पक्षी को ही संदेशा भेजने के लिए प्रेरित करती हूं कि वह विरह की बात जाकर कहे वही पक्षी जल जाता है और पेड़ पत्तों से रहित हो जाता है। भाव यह है कि मुख से विरह का संदेशा जलती हुई लपट सी निकलती है जिससे पक्षी और पत्ते झुलस उठते हैं।

इस पद में श्लेष के साथ अनेक पक्षियों की भी नामावली प्रस्तुत की गयी है। अतः इसमें मुद्रा अलंकार है। अन्तिम पंक्ति में सम्भावनातिशयोक्ति अलंकार भी है।

[ ३५६ ]

कुहुकि कुहुकि जसि कोइलि रोई। रकत आँसु घुँघुची बन बोई॥
पै करमुखी नैन तन राती। को सिराव बिरहा दुख ताती॥
जहँ जहँ ठाढ़ि होइ बनबासी। तहँ तहँ होइ घुँघु चिन्ह कै रासी॥
बुंद बुँद महँ जानहुं जीऊ। कुंजा गुंजि करहिं पिउ पिऊ॥
तेहि दुख डहे परास निपाते। लोहू बूड़ि उठे परभाते॥
राते बिंब भए तेहि लोहू। परवर पाक, फाट हिय गोहूँ॥
देखिअ जहाँ सोइ होइ राता। जहाँ सो रतन कहै को बाता॥
ना पावस ओहि देसरें, ना हेवंत बसंत।
ना कोकिल न पपीहरा, केहि सुनि आवहि कंत॥ ३६६॥

शब्दार्थ घुँघची = गुंजा, रत्ती। राती = लाल। सिराव = ठंडा करे। कुंजा = क्रौञ्च पक्षी। गुंज करहि = गूँजता है। परवर = परवल। गोहूँ = गेहूँ।

अर्थ—बेचारी नागमती कोयल के समान कुहक-कुहक कर रोती रही,

उसकी आँखों से रक्त के आँसू गिरे। उनसे वन में गुंजा के बीज बोये गये। वह काले मुख वाली हो गयी, आँखें और शरीर लाल हो गये। कौन विरह से गर्म शरीर को ठंडा करे ? वन में जहाँ-जहाँ ही वह खड़ी होकर रक्त के आँसू गिराती है वहीं-वहीं रत्तियों का ढेर लग जाता है। मानो उसके आँसुओं की बूँद बूँद में जीव है, और वे क्रौंच पक्षी की भांति 'पी-पी' की रट लगा रहे हैं। उसके दुःख से पलाश के पेड़ जल गये, वे पत्तों से रहित हो गये। उसकी आँख से निकले हुए खून के आँसू प्रभात में पूर्व दिशा की ललाई में प्रकट हुए। बिम्ब फल भी उसी के खून से ही लाल हो गये। परवल का फल भी पक कर फट गया और गेहूँ का दाना भी फट गया। जहाँ-जहाँ देखती है वहाँ-वहाँ ललाई चढ़ जाती है, जहाँ वह रत्नसेन है, उसकी बात कोई नहीं करता।

नागमती कहती है कि मालूम होता है कि जिस देश में मेरा पति रत्नसेन है उस देश में न तो वर्षा ऋतु होती है और न हेमन्त-वसन्त। न वहाँ कोयल है और न पपीहा जिनके शब्दों को सुनकर उसके हृदय में भी प्रेम-भाव उत्पन्न हो और वह घर आवे।

नोट—ऋतु का उद्दीपक-प्रभाव विरहियों पर व्यञ्जित किया गया है।

— - —

# ३१. नागमती-सन्देश-खण्ड

[ ३६० ]

फिरि फिरि रोई न कोई डोला। आधी राति बिहगम बोला॥
तैं फिरि फिरि दाधे सब पाँखी। केहि दुख रैनि न लावसि आँखी॥
नागमती कारन कै रोई। का सोवै जौं कंत बिछोई॥
मन चित हुतें न बिसरै भोरैं। नैन कजल चखु रहै न मोरैं॥
कहिसि जाति हौं सिंघल दीपा। तेहि सेवाति कहँ नैना सीपा॥
जोगी होइ निसरा सो नाहू। तब हुत कहा सँदेस न काहू॥
निति पूछौं सब जोगी जंगम। कोइ निजु बात न कहै बिहंगम॥
चारिउ चक्र उजारि भे, सकसि सँदेसा टेकु।
कहौं बिरह दुख आपन, बैठि सुनहि डँड एकु॥ ३६०॥

शब्दार्थ—दाधे = जलाया। लावसि = लगाती हो। कारन = करुणा करके। हुँतै = से। चखु = आँख। तब हुत = तब से। चक्र = दिशाएँ। डँड = दण्ड।

अर्थ—बेचारी नागमती घूम-घूम कर रोती रही। कोई भी उसकी बात सुनने के लिए नहीं चला। अब आधी रात हुई तो एक पत्ती उससे बोला—तुमने घूम-घूम कर सभी पत्तियों को जला डाला किस दुख के कारण तू रात में भी आँख नहीं लगाती? उसकी सहानुभूतिपूर्ण बातें सुनकर नागमती करुणा करके रोने लगी। उसने कहा कि जो अपने पति से बिछुड़ी हुई है वह भला क्या सो सकती है? वह मन और चित्त से किसी प्रकार नहीं भूलता। आँसुओं के कारण आँख में काजल नहीं रह पाता। नागमती ने कहा कि मैं सिहल द्वीप जा रही हूँ क्योंकि उस रत्नसेन रूपी स्वाति के लिए मेरे नैन सीप हो रहे हैं। मेरा पति जोगी होकर निकल गया और तब से आज तक किसी ने मेरा संदेशा उस तक न पहुँचाया। निग्य सारे जोगी और जंगमों से पूछती हूँ, पर हे पत्ती! कोई भी मेरी बात नहीं करता। मेरे लिये

उसकी आँखों से रक्त के आँसू गिरे। उनसे वन में गुंजा के बीज बोये गये। वह काले मुख वाली हो गयी, आँखें और शरीर लाल हो गये। कौन विरह से गर्म शरीर को ठंडा करे? वन में जहाँ-जहाँ ही वह खड़ी होकर रक्त के आँसू गिराती है वहीं-वहीं रत्तियों का ढेर लग जाता है। मानो उसके आँसुओं की बूँद बूँद में जीव है, और वे क्रौंच पक्षी की भांति 'पी-पी' की रट लगा रहे हैं। उसके दुःख से पलाश के पेड़ जल गये, वे पत्तों से रहित हो गये। उसकी आँख से निकले हुए खून के आँसू प्रभात में पूर्व दिशा की ललाई में प्रकट हुए। बिम्ब फल भी उसी के खून से ही लाल हो गये। परवल का फल भी पक कर फट गया और गेहूँ का दाना भी फट गया। जहाँ-जहाँ देखती है वहाँ-वहाँ ललाई चढ़ जाती है, जहाँ वह रत्नसेन है, उसकी बात कोई नहीं करता।

नागमती कहती है कि मालूम होता है कि जिस देश में मेरा पति रत्नसेन है उस देश में न तो वर्षा ऋतु होती है और न हेमन्त-वसन्त। न वहाँ कोयल है और न पपीहा जिनके शब्दों को सुनकर उसके हृदय में भी प्रेम-भाव उत्पन्न हो और वह घर आवे।

नोट—ऋतु का उद्दीपक-प्रभाव विरहियों पर व्यञ्जित किया गया है।

———

# ३१. नागमती-सन्देश-खण्ड

[ ३६० ]

फिरि फिरि रोई न कोई डोला। आधी राति बिहगम बोला ॥
तैं फिरि फिरि दाधे सब पाँखी। केहि दुख रैनि न लावसि आँखी ॥
नागमती कारन कै रोई। का सोवै जौं कंत बिछोई ॥
मन चित हुतें न बिसरै भोरैं। नैन कजल चखु रहै न मोरैं ॥
कहिसि जाति हौं सिंघल दीपा। तेहि सेवाति कहँ नैना सीपा ॥
जोगी होइ निसरा सो नाहू। तब हुत कहा सँदेस न काहू ॥
निति पूछौं सब जोगी जंगम। कोइ निजु बात न कहै बिहंगम ॥
चारिउ चक्र उजारि भे, सकसि सँदेसा टेकु।
कहौं बिरह दुख आपन, बैठि सुनहि डँड एकु ॥ ३६० ॥

शब्दार्थ—दाधे = जलाया। लावसि = लगाती हो। कारन = करुणा करके। हुँतै = से। चखु = आँख। तब हुत = तब से। चक्र = दिशाएँ। डँड = दण्ड।

अर्थ—बेचारी नागमती घूम-घूम कर रोती रही। कोई भी उसकी बात सुनने के लिए नहीं चला। अब आधी रात हुई तो एक पत्ती उससे बोला—तुमने घूम-घूम कर सभी पत्तियों को जला डाला किस दुख के कारण तू रात में भी आँख नहीं लगाती? उसकी सहानुभूतिपूर्ण बातें सुनकर नागमती करुणा करके रोने लगी। उसने कहा कि जो अपने पति से बिछुड़ी हुई है वह भला क्या सो सकती है? वह मन और चित्त से किसी प्रकार नहीं भूलता। आँसुओं के कारण आँख में काजल नहीं रह पाता। नागमती ने कहा कि मैं सिहल द्वीप जा रही हूँ क्योंकि उस रत्नसेन रूपी स्वाति के लिए मेरे नैन सीप हो रहे हैं। मेरा पति जोगी होकर निकल गया और तब से आज तक किसी ने मेरा संदेशा उस तक न पहुँचाया। निम्य सारे जोगी और जंगमों से पूछती हूँ, पर हे पत्ती! कोई भी मेरी बात नहीं करता। मेरे लिये

तो चारों दिशायें उजड़ गयी हैं। क्या तुम मेरा संदेशा ले सकते हो? यदि ऐसी बात है तो मैं तुमसे अपना विरह-निवेदन करूँगी, तुम एक क्षण के लिए बैठ कर सुन लो।

[ ३६१ ]

तासौं दुख कहिए, हो बीरा। जेहि सुनि कै लागै पर पीरा॥
को होइ भीवँ अँगवै परगाहा। को सिंघल पहुँचावै चाहा॥
जहाँ सो कंत गए होइ जोगी। हौं किंगरी भै झुरौं बियोगी॥
ओहूँ सिंगी पूरै, गुरु भेंटा। हौं भै भस्म, न आइ समेटा॥
कथा जो कहै आइ पिय केरी। पाँवरि होउँ, जनम भरि चेरी॥
ओहि के गुन सँवरत भ माला। अबहुँ न बहुरा उड़िगा छाला॥
बिरह गुरुइ, खप्पर कै हिआ। पवन आधार रहा होइ जिया॥
हाड़ भए झुरि किंगरी, नसैं भईं सब ताँति।
रोवँ रोवँ तन धुनि उठै, कहेसु बिथा एहि भाँति॥ ३६१॥

शब्दार्थ—बीरा = भाई। भीवँ = भीम। अँगवै = सहे। परगाहा = दूसरे की कठिनाई। चाहा = खबर। पाँवरि = जूती। बहुरा = लौटा।

अर्थ—नागमती कह रही है कि हे भाई! दुःख तो उसी से कहना चाहिए जिसे सुन कर दूसरे का दुःख महसूस हो। कौन भीम के समान दूसरे का दुःख अपने ऊपर ले सकता है और कौन मेरी खबर सिंहल तक पहुँचा सकता है, जहाँ मेरा पति जोगी होकर चला गया है। मैं यहाँ पर सारंगी बन कर वियोग में सूख रही हूँ। उसने भी शृंगी ले रखा है और गुरु से मिल रहा है पर मैं भस्म हो गयी हूँ, वह आकर इसे समेटता भी नहीं। जो लौटकर मेरे पति की कथा कहे, उसकी मैं जूती होकर जीवन भर सेवा करूँगी। मैं तो उसके (रत्नसेन के) गुणों को स्मरण करते-करते माला ही बन गयी हूँ, पर वह अब तक न लौटा। मेरे शरीर का सारा माँस-चाम उड़ गया। कठोर विरह से खप्पर के समान हृदय हो गया है। केवल साँसों के आधार पर जीव शेष है। हड्डियाँ सूख कर किंगरी (सारंगी) हो गयीं। नसें सब उसकी तांतें (तारें) हो गयीं। रोम-रोम और सारा शरीर धुन उठा है। तुम इस प्रकार मेरे दुःख को उससे कह देना।

नोट—इस पद के बाद एक पद पं० शुक्ल संपादित ग्रन्थावली में है। इसे डा० माता प्रसाद जी प्रक्षिप्त मानते हैं। कारण उन्होंने लिखे हैं कि एक तो सभी हस्तलिखित प्रतियों में से तीन में यह पद नहीं मिलता। दूसरे, इस पद में एक असंगति है कि पद्मावती के प्रति शत्रुता पूर्ण कथन भी है और प्रीति-पूर्ण भी-क्योंकि अन्तिम दोहे में कहती है कि 'सवति न होसि तू बैरिनि, मोर कंत जेहि हाथ।" और ऊपर अपनी प्रीति और न्याय दिखाते हुए कहा था—

अबहुं मया कर कर जिउ फेरा। मोंहि जियाउ कंत देइ मेरा॥
मोहिं भोग सों काज न बारी। सौंह दीठि कै चाहन हारी॥

तीसरे, इस पद में "चैन और मेरा" के प्रयोग हैं जो कि ग्रन्थावली में अन्यत्र नहीं मिलते। पद्मावती से यह संदेश पत्ती ने कहा भी नहीं और न पत्ती उससे मिला ही है। और न जब पद्मावती और नागमती मिलती हैं तब इसकी कोई चर्चा होती है। पद इस प्रकार है:—

पदमावती सौं कहेहु विहंगम। कंत लोभाइ रही करि संगम॥
तू घर घरनि भई पिउ हरता। मोहिं तन दीन्हेसि जप और वरता॥
रावट कनक सो तो कहँ भएऊ। रावट लंक मोंहि कै गएऊ॥
तोहि चैन सुख मिलै सरीरा। मो कहँ हिए दुंद दुख पूरा॥
हमहुँ बिआही संग ओहि पीऊ। आपुहिं पाइ जानु पर जीऊ॥
अबहुं मया करु, कस जिउ फेरा। मोहि जियाउ केत देइ मेरा॥
मोहि भोग सौं काज न बारी। सौंह दीठि कै चाहन हारी॥
सवति न होहि तू बैरिनि, मोर कंत जेहि हाथ।
आनि मिलाव एक बेर, तोर पाँय मोर माथ॥

[ ३:२ ]

रतनसेनि कै माइ सुरसती। गोपीचँद जसि मैनावती।
आँधरि बूढ़ि सुतहि दुख रोवा। जोबन रतन कहाँ भुँइ टोवा॥
जोबन अहा लीन्ह सो काढ़ी। भै बिनु टेक करै को ठाढ़ी॥
बिनु जोबन भौ आस पराई। कहाँ सपूत खाँभ होइ आई॥
नैनन्ह दिस्टि त दिया बराहीं। घर अँधियार पूत जौं नाहीं॥

को रे चलाव सरवन के ठाऊँ। टेक देंह ओहि टेकौं पाऊँ॥
तुम्ह सरवन होइ काँवरि सजी। डारि लाइ सो काहे तजी॥
सरवन सरवन कै ररि मुई सो, काँवरि डारहि लागि।
तुम्ह बिनु पानि न पावै, दसरथ लावै आगि ॥ ३६२ ॥

शब्दार्थ—टोवा = टटोलना। अहा = था। काढ़ी = निकाल लिया। टेक = सहारा। सरवन = श्रवण कुमार जिसकी कथा माता-पिता की सेवा के सम्बन्ध में प्रसिद्ध है। पं० रामचन्द्र शुक्ल जी ने 'सरवन' शब्द की बड़ी सुन्दर व्युत्पत्ति लिखी है। 'श्रवण कुमार' शब्द 'श्रमण कुमार' से बना है। बौद्धों के साम जातक में भी यही कथा है। श्रमण बौद्ध भिक्षु को कहते हैं। बाल्मीकि रामायण में मुनिपुत्र नाम है। मालूम होता है कि वाल्मीकि वाली कथा का ही रूपान्तर बौद्धों ने किया। बौद्ध भिक्षु प्रातःकाल सूर्योदय से पूर्व भिक्षा मांगते थे। अब भी बहुत से भिखारी करताल बजा कर श्रवण कुमार के गीत गाते और भीख माँगते हैं। इस प्रकार प्रचार में बौद्धों का श्रवण शब्द ही 'सरवन' बन गया। काँवरि = बँहगी जिसमें अपने अंधे माता-पिता को बिठा कर श्रवण कुमार उन्हें ले जाया करता था।

अर्थ—रत्नसेन की माँ सरस्वती ऐसी दुखी हुई जैसे कि राजा गोपीचन्द के जोगी होने पर उसकी माँ मैनावती दुखी हुई थी। बेटे के दुःख से ही रोते रोते वह अन्धी और बूढ़ी हो गई। वह रोकर कहने लगी कि रत्नसेन तू ही मेरी जवानी था, तेरे जाने से मैं अन्धी बूढ़ी हूं मैं तुझे जमीन में कहां टटोलती फिरूं। मेरी युवावास्था तो तुमने निकाल ली अब मैं सहारे से रहित हूं, कौन मुझे खड़ा कर सकता है। जवानी के रहित होने के कारण अब तो मुझे दूसरों की ही आशा है, मेरा वह सपूत कहां है जो खंभा होकर आ सकता है। आंखों में दृष्टि है तो मानों दीपक जल रहा है, पर यदि घर में पुत्र नहीं है तो अंधेरा छाया रहता है। कौन मुझे मेरे श्रवणकुमार (रत्नसेन) के स्थान पर पहुंचावे। जो मुझे सहारा देगा मैं उसका पैर पकड़ूंगी। हे बेटे! तुमने तो श्रवणकुमार के समान बँहगी सजा ली थी और अपने कन्धे में डाल लिया था, तो अब क्यों छोड़ गये। भाव यह कि पहले तुम श्रवणकुमार की भाँति मातृ-भक्त थे तो अब क्यों भूल गये।

इस प्रकार उसकी काँवरि के लिए श्रवण का नाम रट रट कर वह मरने लगी, तुम्हारे बिना हम पानी नहीं पा रहे हैं, दशरथ रूपी विरह आग लगा रहा है।

[ ३६३ ]

लै सो सँदेस बिहगम चला। उठी आगि बिनसा सिंघला।
बिरह बजागि बीच को ठेघा। धूम जो उठे स्याम भए मेघा॥
भरि गा गँगन लूकि तसि छूटी। होइ सब नखत गिरहिं भुइँ टूटी॥
जहँ जहँ पुहुमी जरी भा रेहू। बिरह के दगध होइ जनि केहू॥
राहु केतु, जरि लंका जरी। औ उड़ि चिनगि चाँद महँ परी॥
जाइ बिहगम समुँद डफारा। जरे माँछ पानी भा खारा॥
दाधे बन तरिवर, जल, सीपा। जाइ नियर भा सिंघल दीपा॥
समुँद तीर एक तरिवर, जाइ बैठ तेहि रूख।
जब लगि कह न सँदेसरा, ना आहि प्यास न भूख॥ ३६३॥

शब्दार्थ बिनसा = नष्ट हुआ। ठेघा = पकड़ सकता है। पुहुमी = पृथ्वी रेहू = रेह नामक मिट्टी जिससे धोबी कपड़े धोता है। डफारा = चिल्लाया। माँछ = मछली।

अर्थ—नागमती का संदेश लेकर पक्षी चला। एक विरह की अग्नि लगी जिससे सारा सिंहलद्वीप नष्ट होने लगा। विरह की वज्राग्नि लगी उसको बीच में पड़ कर कौन पकड़ सकता है। उस अग्नि से जो धुआं निकला उसी से तो सारे बादल काले हो गये। सारा आकाश भर गया, उसमें से तारे टूटने लगे। सारे नक्षत्र टूट-टूट कर भूमि में गिरने लगे। जहां-जहां पृथ्वी जल उठी वहां वहां मिट्टी रेह हो गई। विरह से कोई न जले तो अच्छा। राहु और केतु भी इसी से जल उठे, लंका भी इसी से जली और उसकी एक चिनगारी उड़कर चन्द्रमा में पहुँची इसीलिए उसमें काला धब्बा दिखाई पड़ता है। पक्षी जाकर समुद्र में चिल्ला उठा, उसकी चिल्लाहट सुनकर विरहाग्नि की लपट से सारी मछलियां जल गईं और समुद्र का पानी खारा हो गया। वन के सारे वृक्ष जल गये, पानी की सीपें जल गयीं। फिर पक्षी सिंहलद्वीप के

निकट पहुंच गया। समुद्र के किनारे एक वृक्ष था उसी पर जाकर वह बैठ गया, जब तक वह संदेशा नहीं कह देता, न तो उसे भूख थी और न प्यास।

[ ३६४ ]

रतनसेनि बन करत अहेरा। कीन्ह ओहि तरुवर तर फेरा॥
सीतल बिरिछ समुँद के तीरा। अति उतंग औ छाँह गँभीरा॥
तुरै बाँधि कै बैठु अकेला। औरु जो साथ करैं सब खेला॥
देखेसि फरी जो तरुवर साखा। बैठि सुनहिं पाँखिन्ह कै भाखा॥
उन्ह महँ ओहि बिहंगम अहा। नागमती जासौं दुख कहा॥
पूँछहिं सबै बिहंगम नामा। अहो मींत काहे तुम्ह स्यामा॥
कहेसि मींत मासक दुइ भए। जंबू दीप तहाँ हम गए॥
नगर एक हम देखा, गढ़ चितउर ओहि नाउँ।
सो दुख कहौं कहाँ लगि, हम दाधे तेहि ठाउँ॥ ३६४॥

शब्दार्थ—उतंग = ऊंचा। तुरै = घोड़ा। मासक = महीना।

अर्थ—रत्नसेन वन में शिकार के लिए निकला था। वह उस वृक्ष के नीचे घूम पड़ा। पेड़ की छाया बड़ी शीतल थी, समुद्र का किनारा था, वृक्ष बहुत ऊँचा था और छाया गम्भीर थी। घोड़ा बाँध कर वह अकेला बैठ गया। उसके साथ और जो साथी थे वे सब खेल करने में लग गये। रत्नसेन ने देखा कि पेड़ की जो डाली फली है उस पर बैठकर सभी पक्षी बातें सुन रहे हैं उनमें से एक पक्षी था जिससे नागमती ने अपना दुख कहा था। सभी पक्षी उससे पूछ रहे थे कि हे मित्र तुम काले क्यों हो गए हो? उस मित्र पक्षी ने उत्तर दिया—दो मास के लगभग हो रहे हैं मैं जम्बूद्वीप गया था। वहाँ पर मैंने एक चित्तौड़ नाम का शहर देखा। वहाँ पर हम इस प्रकार जल गये कि उस दुख का वर्णन कहाँ तक करूँ।

[ ३६५ ]

जोगी होइ निसरा जो राजा। सून नगर जानहुँ धुँध बाजा॥
नागमती है ताकरि रानी। जरि बिरहैं, भै कोइलि बानी॥
अब लगि जरि होइहि भै छारा। कहि न जाइ बिरहा कै झारा॥

हिया फाट वह जबहिं कुहूकी। परे आँसु होइ होइ सब लूकी ॥
चहुँ खँड छिटकि परी वह आगी। धरती जरत गँगन कहँ लागी ॥
बिरह दवा अस को रे बुझावा। चहै लागि जरि हियरे धावा ॥
हौं पुनि तहाँ डहा दव लागा। तन भा स्याम, जीव लै भागा ॥

का तुम्ह हँसहु गरब कै, करहु समुँद महँ केलि।
मति ओहि बिरहे बसि परहु, दहै अगिनि जल मेलि ॥ ३६५ ॥

शब्दार्थ— निसरा = निकला। धुंध बाजा=अंधकार छा गया। बानी = वर्ण (रंग) वाली। झारा = लपट। लूकी = लपट। दवा = दावाग्नि।

अर्थ— वह राजा रत्नसेन योगी होकर निकल गया। सारा नगर सूना हो गया। मानो चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार छा गया हो। नागमती उसकी रानी है, वह जलकर कोयल के समान रंगवाली हो गयी। अब तक जल कर राख हो गयी होगी। विरह की जलन का वर्णन नहीं किया जा सकता। जब वह विरह से कुहकती है तो श्रोता का हृदय फट जाता है। आँसू लपटें हो होकर गिरते हैं। वह आग छिटक कर चारों ओर जा गिरी, पृथ्वी जलने लगी, आकाश में भी आग लग गयी। विरह की दावाग्नि को ऐसा कौन है जो बुझा दे। हृदय की लगी हुई आग चारों ओर दौड़ने लगी। मैं भी वहाँ दावाग्नि में लग कर जल उठा। इसी से मेरा शरीर काला हो गया। मैं तो अपनी जान बचा कर किसी प्रकार भाग निकला। तुम यहाँ गर्व करके आनन्द कर रहे हो, समुद्र में विविध प्रकार के खेल खेल रहे हो, कहीं भूल से उसके बिरह में न पड़ जाना कि जल में भी घुस कर वह आग तुम्हें जला दे।

[ ३६६ ]

सुनि चितउर राजैं मन गुना। बिधि सँदेश मैं कासौं सुना ॥
को तरिवर अस पंखी भेसा। नागमती कर कहै संदेसा ॥
को तूँ मींत मन चित्त बसेरू। देव कि दानौ पौन पखेरू ॥
रुद्र ब्रह्म हरि बाचा तोही। सो निजु अंत बात कहु मोही ॥
कहाँ सो नागमती तुइँ देखी। कहेसु बिरह जस मरन बिसेखी ॥

हौं राजा सोई भा जोगी। जेहि कारन वह ऐसि बियोगी॥
जस तूँ पंखि होंहुँ दिन भरऊँ। चाहौं कबहुँ जाइ उड़ि परऊँ॥
पंखि आँखि तेहि मारग, लागी दुनहुँ रहाहिं।
कोइ न सँदेसी आवहिं, तेहि क सँदेस कहाहिं॥ ३६६॥

शब्दार्थ—बसेरू = बसने वाला। बाचा = शपथ। अंत = अन्तिम बात, अन्तःकरण की बात। होंहुँ = मैं भी। भरऊँ = बिता रहा हूँ।

अर्थ—चित्तौड़ का नाम सुन कर राजा ने मन में विचार किया कि ब्रह्मा का यह संदेश मैंने किससे सुना है। इस वृक्ष पर पक्षी के वेश में कौन है जो नागमती का संदेश कह रहा है। हे मित्र! मेरे चित्त में बसने वाले तुम कौन हो, देवता, राक्षस, पवन या पक्षी क्या हो। तुझे शंकर, विष्णु और ब्रह्मा की सौगंध है, तुम अपने अन्तःकरण की बात मुझसे कहो। तुमने नागमती को कहाँ देखा। मरण के समान उसके विरह को तू कह। मैं ही वह राजा हूँ जो जोगी हो गया और जिसके कारण वह विरहिणी है। हे पक्षी! जैसे तू दुःखी है उसी प्रकार मैं भी दुःख से ही दिन काट रहा हूँ और चाहता हूँ कि कब उड़ कर उसके पास जा पड़ूँ। हे पक्षी, दोनों आँखें उसी रास्ते पर लगी रहती हैं, कोई संदेश कहने वाला आकर उसका सन्देश नहीं कहता।

[ ३६७ ]

पूँछसि काह सँदेस बियोगू। जोगी भया न जानसि जोगू॥
दहिने संख न सिंगी पूरे। बाएँ पूरि बादि दिन भूरे॥
तेलि बैल जस बाएँ फिरै। परा भौंर महँ सौंह न तिरै॥
तुरी औ नाव दाहिन रथ हाँका। बाए फिरै कोंहार क चाका॥
तोहि अस नाहीं पंखि भुलाना। उड़ै सो आदि जगत महँ जाना॥
एक दीप का आवउँ तोरे। सब संसार पाव तर मोरे॥
दहिने फिरै सो अस उँजियारा। जस जग चाँद सुरुज औ तारा॥
मुहमद बाईं दिसि तजी, एक सरवन एक आँखि।
जब ते दाहिन होइ मिला, बोलु पपीहा पाँखि॥ ३६७॥

शब्दार्थ—मया = दया, मोह। पूरे = बजाता है। बादि = व्यर्थ-पाठान्तर-

रैन = रात । झूरे = सूखे । भौंर = चक्कर । सौंह = सामने । तिरै = पार हो । तुरी = घोड़ा । कोंहार = कुम्हार ।

अर्थ—जोगी लोग वामपक्षी होते हैं—उनके वामपक्ष पर ही कवि इस पद में विचार कर रहा है ।

पक्षी ने कहा कि तुम नागमती के विरह का क्या सन्देश पूछ रहे हो? जोग करने वाला जोगी तो दया जानता ही नहीं । वह दाहिनी ओर शंख नहीं रखता—शृंगी बजाता है—और बाईं ओर बजा कर सारा दिन (काल) व्यर्थ में सुखाता है—अर्थात् तपस्या करता है । जैसे तेली का बैल सदा बाईं ओर ही मुड़ता रहता है । उसी प्रकार योगी भी योग के चक्कर में वाम मार्ग लेता हुआ घूमता रहता है, सामने होकर वह पार नहीं कर सकता । घोड़े, नाव आदि सांसारिक वाहन सब दाहिने को चलते हैं पर कुम्हार की चाक बांयें चलती है । हम पक्षी तुम जैसे भूलने वाले तो नहीं हैं, हम तो उड़ते रहते हैं और आरम्भ से ही संसार में उड़ना जानते हैं । क्या तुम्हारे एक ही द्वीप में आया हूँ, सारा संसार ही मेरे पैरों तले है । पक्षी तो दाहिने चलता है और इस प्रकार प्रकाशमान है जैसे संसार में चाँद, सूर्य और तारे ।

मलिक मोहम्मद जायसी ने भी वाम-मार्ग को ठीक न समझ कर अपनी बाईं आँख और बायाँ कान छोड़ दिया । जब से दाहिने मार्ग से चलने लगा, तभी से पपीहा पक्षी बोल रहा है । अर्थात् दाहिने मार्ग वाला ही प्रेम कर सकता है और विरह को जानता है, वाम-मार्ग वाला योगी तो हृदयहीन है, वह विरह क्या जाने ।

नोट—मलिक मुहम्मद जायसी बाईं आँख से काने और बाँयें कान से बहरे थे । इस पद में वे वाम-पक्ष का खण्डन कर रहे थे, तो उसी के सिलसिले में अपनी अंग-हीनता का गुण भी कह गये ।

( ३६८ )

हौं ध्रुव अचल सो दाहिन लावा । फिरि सुमेरु चितउर गढ़ आवा ॥
देखेउँ तोरे मँदिल घमोई । माता तोरि आँधरि भै रोई ॥
जस सरवन बिनु अंधी अंधा । तस ररि मुई, तोहि चित बँधा ॥

कहेसि मरौं, अब काँवरि रेंई। सरवन नाहिं, पानि को देई॥
गई पिआस लागि तेहि साथाँ। पानि दिहें दसरथ के हाथाँ॥
पानि न पियै, आगि पै चाहा। तोहि अस पूत जरम अस लाहा॥
भागीरथी होइ करु फेरा। जाइ सँवारु मरन कै बेरा॥
तूँ सपूत मनि ताकरि, अस परदेस न लेहि।
अब ताईं मुई होइहि, मुएहुँ जाइ गति देहि॥ ३६८॥

शब्दार्थ—दाहिन लावा = दाहिनी ओर से प्रदक्षिणा की। मँदिल=मँदिर। घमोई = काँटेदार पौदा। रटि = रट कर। रेंई = लटका कर। जरम = जन्म, जीवन। लाहा = लाभ। ताईं = तक।

अर्थ—मैंने अचल ध्रुव के दाहिने ओर से चक्कर किया, फिर सुमेरु के समान चित्तौड़गढ़ पर आया। मैंने देखा कि तेरे महल पर घमोड़ जैसे झाड़-झंखाड़ उठे हैं और तेरी माँ रो रोकर अन्धी हो गयी है। जैसे श्रवण के बिना उसके अन्धो-अन्धे—माता पिता रो रो कर मर गये। उसी प्रकार तेरी माँ भी तुम्हारे ऊपर ही चित बाँधे थी। उसने कहा कि अब मैं मरूँगी, श्रवणकुमार के समान मेरा बेटा नहीं है जो कांवरि ( बहँगी ) में हमें लटका कर पानी देगा। मेरी प्यास तो उसी के साथ चली गयी, दशरथ के हाथ का पानी होगा ? वह पानी नहीं पीती, आग पीना चाहती है। तुम जैसे पुत्र को पाकर उसे अपने जीवन में ऐसा ही लाभ है। अब तो तू राजा भागीरथ बन कर फेरा कर और उसकी मृत्यु की वेला में जाकर उसे सँभाल। तुम तो सुपूत हो, उसकी मणि इस प्रकार परदेश में रह कर न ले, अब तक तो वह बेचारी मर भी गयी होगी, अब तू जा मरने के बाद उसकी गति कर।

[ ३६९ ]

नागमती दुख बिरह अपारा। धरती सरग जरै तेहि झारा॥
नगर कोट घर बाहिर सूना। नौजि होइ घर पुरुख बिहूना॥
तूँ काँवरू परा बस लोना। भूला जोग, छरा जनु टोना॥
ओहि तोहि कारन मरि भै बारा। रही नाग होइ पवन अधारा॥
कह चील्हन पिय पहँ लै खाहू। माँसु न, कया जो रूचै काहू॥

विरह मँजूर, नाग वह नारी। तूँ मँजार करु बेगि गोहारी॥
माँसु गरा, पाँजर होइ परी। जोगी अबहुँ पहुँचु लै जरी॥
देखि बिरह दुख ताकर, मैं सो तजा बनबास॥
आएँउ भागि समुँद टट, तबहुँ न छाँड़े पास॥ ३६९॥

शब्दार्थ—नौजि = न, ईश्वर न करे। काँवरू = कामरूप (आसाम) जहाँ का जादू टोना प्रसिद्ध है। छरा = छला। लोना = लोना नाम की चमारी जो टोना करने में मशहूर थी। मँजूर = मयूर। मँजार = बिल्ली। गोहारी = सहायता। जरी = जड़ी। टट = तट।

अर्थ—नागमती के विरह का दुःख तो अपार है, उसकी ज्वाला से तो सारी पृथ्वी और स्वर्ग जलता है। नगर, कोट, घर-बाहर सभी सूना हो गया है। वह घर कभी न हो जिसमें पति ही नहीं है। तू तो काम रूप के जादू और लोना नामक जादूगरनी के वश में हो गया है, तेरा योग भूल गया, जैसे टोने ने मुझे छल लिया है। वह स्त्री तो तेरे कारण मर रही है। नाग बन कर केवल पवन के अधार पर जी रही है। चीलों से कहती है कि पति के पास ले जाकर मेरे मांस को खाओ। पर उसके शरीर में तो मांस ही नहीं है, अतः किसी को वह नहीं पसन्द आती। विरह मोर हो रहा है और वह नागमती नाग हो रही है, तू बिल्ली बन कर शीघ्र ही उसकी सहायता कर। उसके शरीर का सारा मांस जल गया है, उसमें केवल अस्थि पंजर रह गया है, इस लिए हे जोगी! अब भी जड़ी लेकर पहुँच जाओ। उसके इस दुःख को देखकर मैंने उस वन का बसना ही छोड़ दिया। भागकर मैं समुद्र के किनारे आया, फिर भी वह साथ नहीं छोड़ती।

[ ३७० ]

अस परजरा बिरह कर कठा। मेघ स्याम भै धुआँ जो उठा॥
दाधे राहु, केतु गा दाधा। सूरज जरा, चाँद जरि आधा॥
औ सब नखत तराइं जरहीं। टूटहिं लूक, धरनि महँ परहीं॥
जरी सो धरती ठाँवहि ठाँवाँ। ढंक परास जरे तेहि ठावाँ॥
बिरह साँस तस निकसै झारा। धिकि धिकि परबत होहिं अँगारा॥
भँवर पतंग जरे औ नागा। कोइलि, भुँजइल औ सब कागा॥

बन पंछी सब जिउ लै उड़े। जल पंछी जरि जव महँ बुड़े॥
हौंहूँ जरत तहँ निकसा, समुँद बुझाएउँ आइ।
समुँदौ जरा खार भा पानी, धूम रहा जग छाइ॥ ३७०॥

शब्दार्थ—परजरा = जला। काठा = काठ, लकड़ी। धिकि = गर्म होकर। भुंजइल = एक काली चिड़िया।

अर्थ—उसके विरह की लकड़ी इस प्रकार जली कि उसके जलने में जितना धुवाँ हुआ उससे बादल काले हो गये। राहु और केतु जल गये, सूर्य भी उसी के कारण जलता है और चन्द्रमा तो जल कर आधा हो गया। सारे नक्षत्र तथा तारागण भी उसी से जलते हैं, तारे टूट-टूट कर पृथ्वी में पड़ते हैं। पृथ्वी भी जगह-जगह जल गयी। ढाक और पलाश उसमें जल उठे। उसकी विरह की साँस में से ऐसी लपट निकलती है कि पहाड़ गर्म हो-हो कर अंगारे हो गये। भौंरे, पतिंगे और साँप भी जल-जल कर काले हो गये। कोयल, भुँजइल और कौए आदि काले पक्षी भी जल कर ही काले हुए हैं। वनों के सारे पक्षी अपनी जान लेकर उड़ चले, जल के पक्षी जलने लगे तो पानी में डूब गए।

मैं भी जलता हुआ वहाँ से निकल भागा और समुद्र में आकर मैंने अपनी आग बुझाई। पर समुद्र भी तो जल उठा और इसीलिए उसका पानी खारा हो गया और सारे संसार में धूम कर छाया है।

[ ३७१ ]

राजैं कहा, रे सरग सँदेसी। उतरि आउ, मोहि मिलु, सहदेसी॥
पावँ टेकि तोहि लावौं हियरे। प्रेम सँदेस कहौ होइ नियरे॥
कहा बिहंगम जो बनबासी। कित गिरिही तें होइ उदासी॥
जेहि तरिवर तर तुम अस कोऊ। कोकिल काग बराबरि दोऊ॥
धरती महँ बिख चारा पारा। हारिल जानि पुहुमि परिहरा॥
फिरौं बियोगी डारहि डारा। करौं चलै कहँ पंख सँवारा॥
जियन की घरी घटत निति जाहीं। साँसहि जिऊ है, देवसन्ह नाहीं॥
जौं लहि फेरि मुकुति है, परौं न पिंजर माँह।
जाउँ बेगि थरि आपनि, है जहाँ बिंझ बनाँह॥ ३७१॥

शब्दार्थ—सरग सँदेसी = स्वर्ग (आकाश) से संदेशा देने वाले। सह-देसी = एक देश में रहने वाले। पारा = पड़ा हुआ। परिहरा = छोड़ दिया (हारिल पक्षी कभी भूमि पर नहीं आता)। थरि = स्थल (घर)। वनाँह = वन पाठान्तर-निबाह।

अर्थ—राजा ने कहा कि हे स्वर्ग से संदेश देने वाले मेरे देशवासी पक्षी! नीचे उतर आओ। तेरे पैर को पकड़ कर हृदय से लगाऊंगा, तू प्रेम के संदेश को निकट होकर कह। पक्षी ने कहा कि मैं तो वन में रहने वाला पक्षी हूँ और पक्षी गृहस्थ से उदासीन कैसे हो सकता है, पर जिस पेड़ के नीचे तुम जैसा कोई व्यक्ति है उसके लिए तो कोयल और कौआ बराबर है। भाव यह है कि तुम तो धोखा देने वाले व्यक्ति हो—नागमती के साथ छल कर यहाँ आये और दूसरी स्त्री पद्मावती के प्रेम पाश में बँधे। तुम अच्छे और बुरे की पहचान नहीं जानते, अतः विश्वास के योग्य नहीं हो।

पृथ्वी में तो विष का चारा डाला हुआ है, तभी तो हारिल पक्षी पृथ्वी को छोड़कर ऊपर ही रहता है। इसीलिए मैं भी वियोगी हूं और डाल ही डाल पर फिरता रहता हूं, अब मैं अपने पंखों को सँभाल कर चलना चाहता हूं। जीवन की घड़ी तो नित्य ही घटती जा रही है, जीव स्वांसों में है दिनों में नहीं, अर्थात् जीवन क्षणिक मात्र ही है। जब तक मेरे पास मुक्ति है (अर्थात् छूटा हूं) मैं पिंजरे में न पड़ूँगा, मैं शीघ्र ही अपने स्थान को जो कि वन के बीच में है, जाऊँगा। व्यंजना से पक्षी कहता है कि मनुष्य को अपने ही स्थल पर रहना चाहिए, अन्यत्र बन्दी न होना चाहिए, इस प्रकार हे रत्नसेन! तू भी पद्मावती के पिंजरे से मुक्त होकर अपने घर को जा।

[ ३७२ ]

कहि सो सँदेस बिहंगम चला। आगि लाइ सारिउ सिंघला॥
घरी एक राजैं गोहराबा। भा अलोप, पुनि दिस्टि न आवा॥
पंखी नाउँ न देखौं पाँखौ। राजा रोइ फिरा कै साँखौ॥
जस हेरत यह पंखि हेराना। दिनेक हमहुँ अस करब पयाना॥
जौं लगि प्रान पिंड एक ठाऊँ। एक बेर चितउर गढ़ जाऊँ॥
आवा भँवर मँदिल जहँ केवा। जीउ साथ लै गएउ परेवा॥

तन सिंघल, मन चितउर बसा। जिउ बिसँभर जनु नागिनि डसा॥
जेति नारि हँसि पूँछै, अमिअ बचन जिमि नित।
रस उतरा सो चढ़ा बिख, ना ओहि चित न मित॥ ३७२॥

शब्दार्थ—गोहरावा = बुलाया। अलोप = लुप्त। साँखौ = शंका। हेरत = खोजते हुए। हेराना = खो गया। केवा = कमल। बिसँभर = बेसंभाल।

अर्थ—पक्षी तो संदेशा कह कर चल पड़ा, उसने सारे सिंहल में मानो आग लगादी। एक घड़ी तक तो राजा उसे पुकारता रहा, पर वह तो लुप्त हो गया और दिखाई न पड़ा। न तो पक्षी का नाम-निशान रहा न उसके पंख दिखाई पड़ते थे, तब तो राजा शंकित होकर रोता हुआ लौटा। वह अपने आप कहने लगा कि जैसे खोजते हुए यह पक्षी खो गया, उसी प्रकार एक दिन मैं भी प्रस्थान करूँगा। जब तक शरीर और प्राण एक जगह हैं, एक बार चित्तौड़ अवश्य ही जाऊँगा। अब वह भौंरा रूपी रत्नसेन कमल रूपी पद्मावती के पास आया। उसका प्राण तो पक्षी लेकर उड़ गया है। उसका शरीर तो सिंहल में है पर मन चित्तौड़ में बसा है। उसका जीव बेसँभाल हो गया, मानो सर्पिणी ने उसे डस लिया हो। जितनी स्त्रियां वहां थी वे रोज की भांति अमृत वचनों से पूछती हैं, पर उसका (रत्नसेन) तो रस उतर गया है, उस पर तो विष चढ़ चुका है। अब तो न उसका चित्त है और न मित्र, अर्थात् अब तो वह सारी सुध-बुध भूल गया है।

[ ३७३ ]

बरिस एक तेहि सिंघल रहे। भोग बेरास कीन्ह जस चहे॥
भा उदास जिउ सुना सँदेसू। सँवरि चला मन चितउर देसू॥
कँवल उदासी देखा भँवरा। थिर न रहै मालति मन सँवरा॥
जोगी औ मन पौन परावा। कत ये रहै जौं चित्त उँचावा।
जौं जिय काढ़ि देह इन्ह कोई। जोगी भँवर न आपन होई॥
तजा कँवल मालति हियँ घाली। अब कत थिर आछै अलि आली॥
गंध्रपसेनि आए सुनि बारा। कस जिउ भएउ उदास तुम्हारा॥

मैं तुम्हहीं जिउ लावा, दै नैनन्ह महँ बास।
जौं तुम्ह होहु उदासी, तौ यह काकर कबिलास ॥ ३७३ ॥

शब्दार्थ—बेरास = विलास। सँवरा = स्मरण करके। उँचावा = उचट जाने पर। काढ़ि = निकाल कर।

अर्थ—एक वर्ष भर सिंहल में रहते हो गये और इच्छानुसार भोग विलास किया। अब संदेश सुनकर राजा का मन उदास हो गया और मन अब स्मरण करके चित्तौड़ देश में ही पहुँच गया। कमल (पद्मावती) ने भौंरे (रत्नसेन) को उदास देखा और समझ लिया कि अब तो यह मालती (नागमती) तो स्मरण कर रहा है, अतः स्थिर नहीं रह सकता। जोगी, मन, पवन और पन्नी को ज्यों ही मन में उचाट हो जाता है, फिर वे वहाँ रह नहीं सकते। चाहे कोई अपना जीव भी निकाल कर दे दे तो भी जोगी और भौंरा अपने नहीं हो सकते। इसने तो कमल को छोड़कर अपने हृदय को मालती (नागमती) में डाल दिया है, इसलिए हे सखी! अब यह स्थिर कैसे रह सकता है। यह समाचार सुनकर राजा गन्धर्वसेन द्वार पर आया और बोला कि तुम्हारा चित्त उदास क्यों हो रहा है। मैंने तो तुम्हें अपने नेत्रों में स्थान देकर तुम में ही जी लगा रखा है, यदि अब तुम उदास होगे तो यह स्वर्ग का सुख किसके लिए होगा?

———

# ३२. रत्नसेन-बिदाई-खण्ड

[ ३७४ ]

रतनसेनि बिनवा कर जोरी। अस्तुति जोग जीभ कहँ मोरी॥
सहस जीभ जौं होइ गोसाईं। कहि न जाइ अस्तुति जहँ ताईं॥
काँचु करा तुम्ह कंचन कीन्हा। तब भा रतन जोति तुम्ह दीन्हा॥
गाँग जो निरमल नीर कुलीना। नार मिलें जल होइ न मलीना॥
तस हौं अहा मलीनी करा। मिलेउँ आइ तुम्ह, भा निरमरा॥
मान समुंद मिला होइ सोती। पाप हरा, निरमल भै जोती॥
तुम्ह मनि आएउँ सिंघल पुरी। तुम्हतें चढ़ेउँ राज औ कुरी॥

सात समुँद तुम्ह राजा, सरि न पाव कोइ घाट।
सबै आइ सिर नावहिं, जहाँ तुम्हारइ पाट॥ ३७४॥

शब्दार्थ—ताईं = तक। कांचु = काँच, शीशा। गाँग = गंगा। नार = नाला। करा = कला, गुण। निरमरा = निर्मल। कुरी = कुलीनता। सरि = बराबर। पाट = सिंहासन।

अर्थ—रत्नसेन ने राजा गन्धर्वसेन से हाथ जोड़कर कहा कि आप की प्रशंसा करने योग्य मेरी जिह्वा नहीं है। हे स्वामी! यदि मेरे सहस्र जिह्वा भी हों तो भी तुम्हारी प्रशंसा नहीं कर सकता। तुमने तो मुझ काँच को स्वर्ण कर दिया, मैं तो रत्न तभी हुआ जब तुमने ज्योति दी। गंगा जल जो निर्मल और पवित्र होता है, नाले के मिलने से मलिन नहीं होता। उसी प्रकार मैं मलीन गुणों वाला था पर तुमसे मिलकर मैं भी निर्मल हो गया। मान रूपी समुद्र में सोता होकर मिल गया, मेरा पाप दूर हो गया और मेरी ज्योति निर्मल हो गयी। मणि के समान तुम्हारी सिंहलपुरी में आ गया और राज्य और कुलीनता को प्राप्त किया।

हे राजा! सात समुद्रों में तुम्हारी बराबरी का कोई नहीं है। सभी राजा लोग आ-आकर तुम्हारे सिंहासन के आगे सिर झुकाते हैं।

[ ३७५ ]

अब स बिनति एक करौं गोसाईं। तब लगि कया जिऔं जब ताईं ॥
आवा आजु हमार परेवा। पाती आनि दीन्ह पति देवा ॥
राज काज औ भुइँ उपराहीं। सतुरु भाइ अस कोइ हित नाहीं ॥
आपनि आपनि करहिं सो लीका। एकहिं मारि एक चह टीका ॥
भएउ अमावस नखतन्ह राजू। हम कै चाँद चलावहु आजू ॥
राज हमार जहाँ चलि आवा। लिखि पठएन्हि अब होइ परावा ॥
उहाँ नियर ढीली सुलितानू। होइहि भोर उठिहि जौं भानू ॥
तुम्ह चिरंजिवहु जौं लहि महि गँगन, औ जौं लहि हम आउ।
सीस हमार तहाँ निति, जहाँ तुम्हारइ पाउ ॥ ३७५ ॥

शब्दार्थ—उपराहीं = ऊपर। सतुरु = शत्रु। लीका = स्थापना (सिक्का जमाना)। ढीली = दिल्ली। भोर = प्रातः, ढीलापन। लहि = लेकर। आउ = आयु। निति = नित्य।

अर्थ—रत्नसेन कह रहा है कि हे राजा! आप मेरी एक विनती अवश्य सुनें। जब तक जीव होता है, तभी तक शरीर का अस्तित्व है। आज मेरा पक्षी आया और उसने मुझे पत्र दिया। राज-कार्य और पृथ्वी पर भाई शत्रु हो जाते हैं, कोई हितैषी नहीं रह जाता है। अब मेरे यहाँ आने से मेरे भाई लोग अपना-अपना प्रभुत्व स्थापित कर रहे हैं, एक को मार कर दूसरा अपना राज्य तिलक चाहता है। अमावस्या में नक्षत्रों का राज्य है—अर्थात् मेरी अनुपस्थिति में वे लोग मनमानी करना चाहते हैं। इसलिए आज आप मुझे चन्द्रमा बना कर वहाँ भेजिए। जहाँ मेरा राज्य था, वहाँ पर पत्र में लिखा है, [illegible] का राज्य हो रहा है। हमारे राज्य के निकट ही दिल्ली का सुलतान है, तनिक भी ढिलाई हुई कि प्रातःकाल के सूर्य की भान्ति दिल्ली का बादशाह चढ़ बैठेगा।

आप जब तक आकाश और पृथ्वी हैं, मेरी भी आयु लेकर कुशल से रहें। जहाँ आप का पाँव है, वहाँ पर मेरा शीश सदा ही रहे।

[ ३७६ ]

राजसभा सब उठी सँवारी। अनु बिनती राखिअ पति भारी ॥

भाइन्ह माहँ होइ जनि फूटी। घर के भेद लंक असि टूटी॥
बीरौ लाइ न सूखै दीजै। पावै पानि दिस्टि सो कीजै॥
अनु राखा तुम्ह दीपक लेसी। पै न रहै पाहुन परदेसी॥
जाकर राज जहाँ चलि आवा। उहै देस पै ताकहँ भावा॥
हम दुहुँ नैन घालि कै राखहिं। ऐसि भाख यहि जीभ न भाखहिं॥
देहु देवस सैं कुसल सिधावहिं। दीरघ आउ होइ पुनि आवहिं॥
सबहिं बिचार परा अस, भा गवने कर साज।
सिद्ध गनेस मनावहु, बिधि पुरवै सब काज॥३७६॥

शब्दार्थ—बीरौ = बिरवा, पौदा। घालि = डाल कर। देवस = दिन, शुभ दिन। लेसी = जलाना।

अर्थ—राज सभा के सभी लोग सँभल उठे और सब ने राजा से विनती की, कि हे राजन्! भाइयों में जब फूट होती है तो 'घर का भेदी लंका ढावे' वाली बात चरितार्थ हो जाती है। जिस पौदे को लगाते हैं, उसे सूखने नहीं देते, उसे पानी देकर देख-भाल करते हैं। तुमने तो दीपक जला कर (सभी प्रकार के सुखों को देकर) रखा है पर अब यह पाहुना परदेशी (रत्नसेन) नहीं रह सकता। जिसका राज्य जहाँ होता है, उसे वही देश अच्छा लगता है। हमने इसको अपनी दोनों आँखों में डाल कर रखा है, ऐसी बात यह जीभ नहीं कह पाती। पर अब तो आप इनके प्रस्थान का शुभ दिन दे दीजिए, दीर्घ आयु होगी तो फिर आयेंगे।

सब लोगों में विचार किया गया, और पद्मावती के गौने की तैयारियाँ होने लगीं। सिद्ध और गणेश को मनाने लगे कि ब्रह्मा सब काम पूरा करें।

[ ३७७ ]

बिनौ करै पदमावति नारी। हौं पिय कँवल सो कुंद नेवारी॥
मोहि असि कहाँ सो मालति बेली। कदम सेवती चाँप चँबेली॥
औ सिंगार हार जस ताका। पुहुप करी अस हिरदै लागा॥
हौं सो बसंत करौं निति पूजा। कुसुम गुलाल सुदरसन कूजा॥
बकचुन बिनवौं अवसि बिमोही। सुनि बिकाउ तजि जाही जूही॥
नागेसरि जौं है मन तोरें। पूजि न सकै बोल सरि मोरें॥

होइ सतबरग लीन्ह मैं सरना। आगें कंत करहु, जो करना ॥
केत नारि समुझावै, भँवर न काँटे बेध।
कहै मरौं पै चितउर, करौं जग्गि असुमेध ॥३७७॥

शब्दार्थ—बिनौ = विनय। कदम-सेवती = कदम्ब और सेवती के फूल, पैरों की सेबा करती हुई। चाँप = चम्पा। सिंगार हार = हार सिंगार का पुष्प, गहनों के शृंगार। बकुचुन = हाथ जोड़ कर, फूलों का गुच्छा। नागेसरि = नागकेसर, नागमती। सरि = बराबर। बोलसरि = मौलिश्री। सतबरग = सदवर्ग फूल। केत = केतकी। असुमेध = अश्वमेध यज्ञ।

अर्थ—पद्मावती राजा रत्नसेन से विनती करने लगी कि हे प्रिय मैं कमल हूँ तो वह नागमती कुंद और नेवारी के समान ही है। मेरे समान वह मालती (नागमती) कहाँ हो सकती है। यहाँ पर तो चम्पा और चमेली जैसी दासियाँ आपके चरणों की सेवा में तत्पर हैं। यहाँ के आभूषणों—हार आदि शृंगार को देखिये फूल की कली के समान हृदय में लगे हुए हैं। मैं सदा वसन्त बन कर आपकी नित्य पूजा करती हूँ। कुसुम, गुलाल, सुदर्शन और कूजा आदि सभी फूल (सभी सखियाँ) मेरे पास हैं। मैं आपसे हाथ जोड़ कर प्रार्थना करती हूं। मैं तो आप पर मोहित हूं। मुझ बावली को छोड़ कर जूही पर क्यों जा रहे हो? आपके मन में नागकेसर रूपी नागमती बसी है, पर वह मेरी बराबरी नहीं कर सकती। मैंने सदवर्ग फूल बन कर आपकी शरण ली है। अब आगे आप की जो इच्छा हो कीजिए।

केतकी रूपी पद्मावती बहुत समझाती है। भौंरा रूपी रत्नसेन उसके कांटे में नहीं बँधता। वह तो कहता है कि मैं तो चित्तौड़ ही में मरूँगा और वहीं पर अश्वमेध यज्ञ करूँगा।

अलङ्कार—इस पद में सभी फूलों के नाम गिनाये गये हैं, अतः मुद्रालंकार है।

[ ३७८ ]

गवनचार पदुमावति सुना। उठा धसक्क जिय औ सिर धुना ॥
गहबर नैन आए भरि आँसू। छाँड़ब यह सिंघल कबिलासू ॥
छाँड़िउँ नैहर, चलिउँ बिछोई। एहि रे दिवस मैं होतहि रोई ॥

छाँड़िउँ आपन सखी सहेली। दूरि गवन तजि चलिउँ अकेली॥
जहाँ न रहन भएउ निज चालू। होतहि कस न भएउ तहँ कालू॥
नैहर आएँ का सुख देखा। जनु होइ गा सपने कर लेखा॥
राखत बारि न पिता निछोहा। कत बियाहि कै दीन्ह बिछोहा॥
हिएँ आइ दुख बाजा, जिउ जानहु गा छेंकि।
मन तिवानि कै रोवै, हरि भंडार कर टेकि॥३७८।

शब्दार्थ—गहवर = गीले। बाजा = पड़ा। छेंकि = घिर। तिवानि = चिन्ता। हरि = प्रत्येक। भँडार = भंडार, घर।

अर्थ—जब पद्मावती ने गौने के समाचार को सुन लिया तो उसका हृदय धड़क उठा। उसने अपना सिर पीट डाला। उसके गीले नेत्रों में आँसू भर गये। उसने सोचा कि अब तो स्वर्ग सदृश यह सिंहल छूट जायेगा, अब तो इस पीहर को छोड़ कर चलना पड़ेगा। इसी दिन के लिए मैं रोई थी। मेरी सखी सहेलियाँ सब छूट जायेंगी, इन सब को दूर छोड़ कर मुझे अकेली जाना होगा। वहाँ पर अपने रहन-सहन से न रहना होगा। पैदा होते ही मेरी मृत्यु क्यों नहीं हो गयी। इस पीहर में रह कर अभी तक हमने कौन सा सुख देख लिया है, सब कुछ स्वप्न की बात हो जायगी। निष्ठुर पिता अपनी लड़की को नहीं रखता—क्यों ब्याह करके उसको वियोग देता है। हृदय पर दुःख आ पड़ा है, हृदय मानो दुःखों से घिर गया है, मन में चिन्ता करके रो रही है, घर के हर एक भाग में जा-जाकर सहारा ले-लेकर रोती है।

[ ३७६ ]

पुनि पदुमावति सखीं बोलाईं। सुनि कै गवन मिलै सब आईं॥
मिलहु, सखी हम तहँवाँ जाहीं। जहाँ जाइ फिरि आवन नाहीं॥
सात समुन्द्र पार वह देसू। कत रे मिलन, कत आव सँदेसू॥
अगम पंथ परदेस सिधारी। न जनहु कुसल कि बिथा हमारी॥
पितै निछोह किएउ हिय माहाँ। तहाँ को हमहिं राख गहि बाहाँ॥
हम तुम्ह एक मिले सँग खेला। अंत बिछोउ आनि केइँ मेला॥
तुम्ह असि हितू सँघाति पियारी। जियत जीय नहिं करौं निनारी॥

कंत चलाई का करौं, आएसु जाइ न मेंटि।
पुनि हम मिलहिं कि ना मिलहिं, लेहु सहेलिहु भेंटि ॥३७६॥

शब्दार्थ—संघाति = साथ। निनारी = अलग।

अर्थ—फिर पद्मावती ने अपनी सखियों को बुलाया। सखियों ने यह सुन कर कि पद्मावती का गौना होने वाला है, उससे मिलने आईं। पद्मावती ने कहा कि हे सखियो! मुझसे मिल लो क्योंकि हम तो वहाँ जा रहे हैं जहाँ जाकर फिर लौटना न होगा। वह देश तो सात समुद्र पार है। फिर मिलना कैसे होगा। और संदेशा कैसे आयेगा? मैं तो परदेश के अगम रास्ते पर प्रस्थान कर रही हूं, तुम न जान सकोगी कि मैं कुशल से हूं या नहीं मेरे पिता ने अपने हृदय में कठोरता धारण कर रखी है, यहाँ कौन है जो हमें बाँह पकड़ कर रख ले। हम तुम एक साथ मिल कर खेलते थे। अन्त में वियोग आ पड़ा है। तुम हमारी इतनी हितैषी, संगिनी और प्यारी हो कि मैं जीते जी तुम्हें अलग नहीं करना चाहती। मेरे पति ने आज्ञा दे दी, वह आज्ञा मिटाई नहीं जा सकती। फिर हम लोग मिल सकें या न मिल सकें, इसलिए ऐ सहेलियो भेंट लो।

[ ३८० ]

धनि रोवत सब रोवहिं सखीं। हम तुम्ह देखि आपु कहँ झखीं।
तुम्ह ऐसी जहँ रहै न पाई। पुनि हम काह जो आहिं पराई॥
आदि पिता जो अहा हमारा। ओह नहिं यह दिन हिएँ बिचारा॥
छोह न कीन्ह निछोहैं ओहूँ। गा हम बेंचि लागि एक गोहूँ॥
मकु गोहूँ कर हिय बेहराना। पै सो पिता नहिं हिएँ छोहाना॥
औ हम देखी सखी सरेखी। एहि नैहर पाहुन के लेखी॥
तब तेइँ नैहर नाहिं पै चाहा। जेहि ससुरारि अधिक होइ लाहा॥
चलने कहँ हम औतरी औ, चलन सिखा हम आइ॥
अब सो चलन चलावै, को राखै गहि पाइ॥ ३८०॥

शब्दार्थ—झखीं = पछतायीं। गोहूँ = गेहूँ, मुसलमान धर्म के अनुसार खुदा ने हौवा को मना किया था कि वह गेहूँ न खाये, पर उसने खा लिया। इसलिए खुदा ने आदम और हौवा को बिहिश्त से निकाल दिया। बेहराना =

फट गया। छांहाना = प्रीति लगी। सरेखी = चतुर। लेखी = समझो।

अर्थ—सब स्त्रियाँ और सखियाँ रोने लगीं और कहने लगीं कि हम तुम्हें देख कर अपने सम्बन्ध में पछता रही हैं। जब तुम्हारी जैसी स्त्री की ही ऐसी दशा है, फिर हम क्या हैं जो पराई हैं। जो परमेश्वर हमारा आदि पिता है, हमारी दशा पर कुछ भी नहीं विचारता। वह कृपा नहीं करता, बड़ा निर्दयी है। एक गेहूँ के लिए हम लोगों को बेच गया। भाव यह कि गेहूँ के खाने के कारण वह हमें अपने घर (पीहर) से निकाल देता है। उस गेहूँ का हृदय बल्कि फट गया, पर उस पिता के हृदय में दया न उत्पन्न हुई। इस पर पद्मावती ने कहा कि मैंने देखा है कि बहुत सी चतुर सखियाँ इस पीहर को मेहमानी के समान समझती हैं। वे ही इस पीहर को नहीं चाहतीं जो समझती हैं कि ससुराल में ही अधिक लाभ होगा। हम लोग तो चलने के लिए ही उत्पन्न हुई हैं और हमने चलना ही यहाँ आकर सीखा है। अब वह पति चलने को प्रेरित कर रहा है, कौन हमारे पैर पकड़ कर हमें रोक ले ?

[ ३८१ ]

तुम्ह बारी, पिय चहुँ चक राजा। गरब किरोध ओहि सब छाजा॥
सब फर फूल ओहि कै साखा। चहै सो चूरै, चहै सो राखा॥
आएसु लिहें रहेहु निति हाथा। सेवा करेहु लाइ भुइँ माँथा॥
बर पीपर सिर ऊभ जो कीन्हा। पाकरि तेहि ते खीन फर दीन्हा॥
बँवरि जो पौंड़ि सीस भुइँ लावा। बड़ फर सुभर ओहि पै पावा॥
आँब जो फरि कै नवै तराहीं। तब अँम्रित भा सब उपराहीं॥
सोइ पियारी पियहि पिरीती। रहै जो सेवा आएसु जीती॥
पोथा काढ़ि गवन दिन देखहु, कवन देवस दहुँ चाल।
दिसासूर औ चक्र जोगिनी, सौंहँ न चलिअै काल॥ ३८१॥

शब्दार्थ - बारी = बाला, किशोरी। चूरै = चूर करै। ऊभ = ऊँचा। खीन = निकम्मा। फर = फल। बँवरि = लता। पौंड़ि = लोट कर। तराहीं = नीचे। उपराहीं = ऊपर। दिसासूर = दिक्शूल। सौंह = सामने।

अर्थ—सखी पद्मावती को उत्तर देती है कि तुम किशोरी हो और राजा रत्नसेन चक्रवर्ती राजा है। अतः गर्व और क्रोध उसी को शोभा देता है,

तुमको नहीं। तुम प्रतिदिन उसकी आज्ञा को स्वीकार करना और मस्तक को नवाकर उसकी सेवा करना। बरगद, पीपल और पाकर के पेड़ ऊँचे होते हैं, अपना मस्तक ऊँचा रखते हैं, इसीलिए परमेश्वर ने उनको बड़ा निकम्मा फल दे रक्खा है; पर लता जो ज़मीन पर लेट कर नम्र बनी रहती है उसे बड़ा सुन्दर फल दिया है। आम जो फल कर झुक जाता है, अमृत के समान मीठा और सब से बढ़ कर होता है। वही स्त्री पति की प्यारी होती है जो सारी उम्र उसकी सेवा में रत रहती है।

इसलिए पत्रा निकलवाकर देखो गवन का कौन सा दिन शुभ है, दिशा-शूल और चक्रजोगिनी यदि सामने हो तो नहीं चलना चाहिए।

[ ३८२ ]

आदित सूक पछिउँ दिसि राहू। बिहफै दखिन लंक दिसि डाहू॥
सोम सनीचर पुरुब न चालू। मंगर बुद्ध उतर दिसि कालू॥
अवसि चला चाहै जौं कोई। ओखद कहौं, रोग कहँ सोई॥
मंगर चलत मेलु मुख धना। चलिअ सोम देखिअ दरपना॥
सूकहि चलत मेलु मुख राई। बिहफै दखिन चलत गुर खाई॥
आदित हीं तँबोर मुख मंडिअ। बावभिरंग सनीचर खंडिअ॥
बुद्धहिं दधि कै चलिअ भोजना। ओखद यहै, और नहिं खोजना॥
अब सुनु चक्र जोगिनी, ते पुनि थिर न रहाहिं।
तीसौ देबस चन्द्रमा, आठौ दिसा फिराहिं॥ ३८२॥

शब्दार्थ—आदित = आदित्यवार, इतवार। बिहफै = बृहस्पतिवार। डाहू = जलना। ओखद = औषधि, उपाय। धना = धनिया। तँबोर = पान। बावभिरंग = काली मिर्च के रंग का एक प्रकार का दाना जो दस्तावर होता है। ओखद = उपाय।

अर्थ—इस पद में शकुन विचार है—सखी कहती है कि इतवार और शुक्रवार को पश्चिम की राह न जाना चाहिए। बृहस्पति को लंका की दिशा अर्थात् दक्षिण खतरनाक है। सोमवार और शनिवार को पूर्व की ओर न चलना चाहिए। मंगल और बुध को उत्तर जाने पर काल रहता है, पर यदि

किसी को इन दिनों में चलना आवश्यक हो हो तो दोष को दूर करने का उपाय भी बतला रही हूँ। यदि मंगल को दिक्शूल में जाना हो तो मुख में धनिया रख लो, यदि सोमवार को चलना हो दर्पण देखो। शुक्रवार के दिन चलते हुए मुख में राई रखना चाहिए। बृहस्पति के दिन जब आदमी दक्षिण को प्रस्थान करे तो मुख में गुड़ रख ले। रविवार को मुख में पान सुशोभित करे और शनिवार को बायभरंग चबा ले। बुधवार के दिन दही खाकर चले, यही उपाय है और कुछ करने की आवश्यकता नहीं है। अब चक्रजोगिनी की दशा सुनो। ये स्थिर नहीं रहतीं। ये सारे महीने आठों दिशाओं में चन्द्रमा के साथ फिरती हैं।

[ ३८३ ]

बारह ओनइस चारि सताइस। जोगिनि पच्छिउँ दिसा गनाइस ॥
नव सोरह चौबिस औ एका। पुरुब दखिन गौनै कै टेका ॥
तीन एगारह छबिस अठारह। जोगिनि दक्खिन दिसा बिचारह ॥
दुइ पचीस सत्रह औ दसा। दक्खिन पछिउँ कोन बिच बसा ॥
तेइस तीस आठ पंद्रहा। जोगिनि होइ पुरब सामुँहा ॥
बीस अठारह तेरह पाँचा। उत्तर पछिउँ कोन तेहि बाँचा ॥
चौदह बाइस ओनतिस सात। जोगिनि उतर दिसा कहँ जात ॥
एकइस औ छ चौदह जोगिनि, उत्तर पुरुब के कोन।
यह गनि चक्र जोगिनी बाँचहु, जौं चाहो सिधि होन ॥३८३॥

शब्दार्थ—ओनइस = उन्नीस। बाँचहु = बचो।

अर्थ—बारह, उन्नीस, चार और सत्ताईसवीं तिथि को योगिनी पश्चिम दिशा में रहती हैं। नव, सोलह, चौबीस और एक को पूर्व और दक्षिण में रहती है, यह गवन के अनुकूल होती है। तीन, ग्यारह, छब्बीस और अठारह तिथियों को योगिनी दक्षिण दिशा में होती है। दो, पच्चीस, सत्रह और दश तारीखों को जोगिनी दक्षिण-पश्चिम के कोने में होती है। तेईस, तीस, आठ और पंद्रह तिथियों को जोगिनी पूर्व की ओर होती है। बीस, अठारह, तेरह और पंचमी तिथियों को उत्तर और पश्चिम के कोने में होती है। चौदह, उनतीस, बाईस और सात तिथियों को जोगिनी उत्तर दिशा को चली जाती है। इक्कीस,

छः, चौदह तिथियों में जोगिनी उत्तर और पूर्व के कोने में होती है। इस प्रकार की गणना करके योगिनी के चक्र से बचो यदि सिद्धि चाहते हो।

नोट—इस पद के पश्चात् पं० रामचन्द्र शुक्ल सम्पादित ग्रन्थावली में चार पद हैं जिनको डा० माताप्रसाद गुप्त प्रक्षिप्त मानते हैं। उन्होंने कारण बताते हुए लिखा है कि ये पद सभी हस्तलिखित प्रतियों में नहीं मिलते। ३८२ और ३८३ छन्दों में यात्रा विचार सम्बन्धी कुछ बातों का उल्लेख है, उन्हीं का विस्तार इन पदों में मिलता है। ३८३ छन्द के अन्त में ऐसा प्रतीत होता है कि दिशाशूल और जोगिनी चक्र की बात समाप्त कर दी है, क्योंकि लिखा है :—

"यह गति चक्र जोगिनी झाँचहु, जो चाहहु सिधि होन।"

पर आगे के पदों में फिर वही कथन है, अनेक पुनरुक्तियाँ भी हैं। अतः गुप्त जी इन्हें प्रक्षिप्त कहते हैं। पद ये हैं :—

परिवा नवमी पुरुब न भाए। दूइज दसमी उतर अदाए॥
तीज एकादसि अगनिउ मारै। चौथि दुवादसि नैऋत वारै॥
पाँचइँ तेरसि दखिन रमेसरी। छठि चौदसि पच्छिउँ परमेसरी॥
सतमी पूनिउँ बायब आछी। अठइँ अमावस ईसन लाछी॥
तिथि नछत्र पुनि बार कहीजै। सुदिन साथ प्रस्थान धरीजै॥
सगुन दुघरिया लगन साधना। भद्रा औ दिकसूल बाँचना॥
चक्र जोगिनी गानै जो जानै। पर बर जीति लच्छि घर आनै॥
सुख समाधि आनन्द घर, कीन्ह पयाना पीउ।
थरथराइ तन काँपै, धरकि धरकि उठि जीउ॥

शब्दार्थ—अदाए = वाम, बुरा। रमेसरी = लक्ष्मी। परमेसरी = देवी। अगनिउ, नैऋत, ईसन, बायब = आग्नेय, नैऋत्य, ईशान और वायव्य कोने।

मेष सिंह धन पूरुब बसै। बिरिख, मकर कन्या जम-दिसै॥
मिथुन तुला औ कुंभ पछाहाँ। करक, मीन, बिरछिक उतराहाँ॥
गवन करै कहँ उगरै कोई। सनमुख सोम लाभ बहु होई॥
दहिन चन्द्रमा सुख सरबदा। बाएं चन्द त दुख आपदा॥
अदित होइ उत्तर कहँ कालू। सोम काल बायब नहिं चालू॥

भौम काल पनिछउँ बुध निऋता। गुरु दक्खिन औ सुक अगनइता ॥
पूरब काल सनीचर बसै। पीठि काल देइ चलै त हँसै ॥
धन नक्षत्र औ चन्द्रमा, औ तारा बल सोइ।
समय एक दिन गवनैं, लछमी केतिक होइ ॥

मेष, सिंह, धन, बिरिख (वृष), मकर, कन्या, मिथुन, तुला, कुम्भ, करक (कर्क), मीन, वृश्चिक (विरछिक) राशियाँ हैं।

उगरै = निकले। सोम = चन्द्रमा। सरबदा = सर्वदा-हमेशा। अदित = इतवार। बायब = वायव्य (पूर्व और उत्तर का कोना)। निऋता = नैऋत्य (पूर्व और दक्षिण का कोना)। अगनइता = आग्नेय (पश्चिम और दक्षिण का कोना)।

पहिले चाँद पुरुब दिसि तारा। दूजे बसइ इसान बिचारा ॥
तीजे उतर और चौथे बायब। पचएँ पछिउँ दिसा गनाइब ॥
छठएँ नैऋत, दक्खिन सतएँ। बसै जाइ अगनिउँ सो अठएँ ॥
नवएँ चन्द्र सो पृथिवी बासा। दसएँ चन्द जो रहै अकासा ॥
ग्यरहें चंद पुरुब फिरि जाई। बहु कलेस सों दिवस बिहाई ॥
असुनि, भरनि, रेवती भली। मृगसिर, मूल, पुनरवसु बली ॥
पुष्य, ज्येष्ठा, हस्त, अनुराधा। जौ सुख चाहे पूजै साधा ॥
तिथि नक्षत्र औ बार एक, अस्ट सात खंड भाग।
आदि अंत बुध सो एहि, दुख सुख अंकम लाग ॥

असुनि = अश्विनी। भरण = भरणी, रेवती, मृगसिर, मूल, पुनर्वसु, पुष्य, ज्येष्ठा, अनुराधा आदि नक्षत्र हैं।

परिवा छठि, एकादसि नंदा। दुइजि, सत्तमी द्वादसि मंदा ॥
तीज अष्टमी तेरसि जया। चौथि चतुरदसि नवमी खया ॥
पूरन पुनिउँ दसमी पाँचै। सुक्रै नंदै, बुध भए नाचै ॥
अदित सौं हस्त सिधि लहिए। बीफै पुष्य स्रवन ससि कहिए ॥
भरनि रेवती बुध अनुराधा। भए अमावस रोहिनि साधा ॥
राहु चन्द्र भू संपति आए। चंद गहन तब लाग सजाए ॥

सनि रिकता कुज आज्ञा लीजै। सिद्धि जोग गुरु परिवा कीजै॥
छठे नछत्र होइ रवि, ओहि अमावस होइ।
बीचहिं परिवा जो मिलै, सुरुज गहन तब होइ॥

नंदा = आनन्द दायिनी। मंदा = अशुभ। जया = जय देने वाली। खया = खाने वाली। सनि रिकता = शनिचार रिक्ता तिथि या खाली दिन। कुज = मंगल।

[ ३८४ ]

चलहु चलहु भा पिय कर चालू। घरी न देख लेत जिय कालू॥
समदि लोग धनि चढ़ी बेवाना। जो दिन डरी सो आइ तुलाना॥
रोवहिं मातु पिता औ भाई। कोइ न टेक जौं कंत चलाई॥
रोवै सब नैहर सिंघला। लै बजाइ के राजा चला॥
तजा राज रावन का कोऊ। छाँड़ी लंक भभीखन लेऊ॥
फिरी सखी भेंटत तजि भीरा। अंत कंत सो भएउ किरीरा॥
कोउ काहूँ कर नाहिं नियाना। मया मोह बाँधा अरुझाना॥
कंचन कया सो नारि की, रहा न तोला माँसु।
कत कसौटी घालि कै, चूरा गढ़ै कि हाँसु॥ ३८४॥

शब्दार्थ--समदि=बिदाई के समय मिल कर। बैवाना = विमान। तुलाना = पहुँचा। टेक = पकड़ना। किरीरा=क्रीड़ा (काम क्रीड़ा)। नियाना= निदाना-अन्त में। चूरा = कड़ा। हाँसु = हँसली, गले में पहना जाने वाला एक गहना।

अर्थ--लोग कहने लगे--चलो चलो! प्रियतम (रत्नसेन) का प्रस्थान हो गया। काल (मृत्यु) घड़ी नहीं देखता जीव ले लेता है--भाव यह कि विलम्ब उचित नहीं। पद्मावती विदाई के समय सब लोगों से मिल कर विमान पर चढ़ गई। जिस दिन के लिए वह डरा करती थी वह दिन आज आ पहुँचा। माता-पिता और भाई सब रो रहे हैं, जब पति लेकर चलता है तो कोई नहीं पकड़ सकता। उसके पीहर सिंहल के सभी लोग रो रहे है पर बाजा-बजा कर राजा (रत्नसेन) ले चला। रावण के राज्य के समान पितृगृह के सुख को पद्मावती ने छोड़ दिया। दूमावती कहती है कि हमने

तो लंका छोड़ी, अब विभीषण राज्य ले—अर्थात् जो चाहे यहाँ रह कर सुख करे। फिर सखियों की भीड़ को छोड़ा यह (पद्मावती) दूसरी ओर लौटी, क्योंकि उसे तो अन्त में प्रियतम से ही प्रणय क्रीड़ा करनी है। अन्त में कोई किसी का नहीं है, माया मोह तो एक उलझन और बंधन मात्र है। यहाँ भाव यह कि संसार के माया मोह को छोड़ कर परमेश्वर की ओर झुकना ही उचित है—संसार तो व्यर्थ में बन्धन है।

उस पद्मावती का शरीर तो सोने का है। उसमें तोला भर मांस नहीं है, अब तो उसका प्रियतम रत्नसेन अपने प्रेम रूपी कसौटी पर उसे कस कर चाहे उसका (कंचन का) चूड़ा बनाये और चाहे हँसली–अर्थात् अपने प्रेम का दान करके चाहे उसे चूड़ामणि करे और चाहे कण्ठहार।

[ ३८५ ]

जौं पहुँचाइ फिरा सब कोऊ। चले साथ गुन औगुन दोऊ॥
औ सँग चला गवन जेत साजा। उहै देइ पारै अस राजा॥
डाँड़ी सहस चलीं सँग चेरीं। सबै पदुमिनी सिंघल केरीं॥
भल पटवन्ह खरबार सँवारे। लाख चारि एक भरे पेटारे॥
रतन पदारथ मानिक मोती। काढ़ि भँडार दीन्ह रथ जोती॥
परिखि सो रतन पारिखन्ह कहा। एक एक नग सिस्टिहि बर लहा॥
सहस पाँति तुरियन्ह कै चली। औ सै पाँति हस्ति सिंघली॥
लिखै लाख जो लेखा, कहै न पारहि जोरि।
अरबुद खरबुद नील सँख, औ खँड पदुम करोरि॥ ३५॥

शब्दार्थ—पटवन्ह=रेशमी वस्त्र। खरबार-पाठान्तर जराव=जड़ाऊ। पारहि=सकता। अरबुद=अरब। खरबुद=दश अरब। पदुम=पद्म।

अर्थ—सब लोग कुछ दूर तक पद्मावती को पहुँचा कर वापस लौटे। अब तो उसके साथ केवल गुण और अवगुण चले गये। उसके साथ जितने साज राजा दे सकता था सब चले। हज़ारों डोलियों में उसकी चेरियाँ चलीं, सब की सब सिंहल की पद्मिनी नारियाँ थीं। सुन्दर-सुन्दर रेशमी और जड़ाऊ वस्त्र चार लाख पेटारों में भरे थे। रत्न, जवाहरात, माणिक्य, मोती आदि सब कोष से निकाल कर उसके साथ जोतवा दिये गये। उन रत्नों को

परख कर पारखी लोगों ने कहा कि एक एक नग सृष्टि के बराबर मूल्यवान् है। घोड़ों की एक हज़ार पंक्तियाँ चलीं और सिंहल के हाथियों की भी सौ पंक्तियाँ चलीं। यदि लाख व्यक्ति भी उस दहेज़ का हिसाब करने बैठें तो नहीं कर सकते। अरब, दश अरब, नील, शंख, नील-पद्म करोड़ और संख्या से भी अधिक का दहेज़ था।

[ ३८६ ]

देखि गवन राजा गरबाना। दिस्टि माहँ कोइ औरु न आना ॥
जौं मैं होब समुँद के पारा। को मोरि जोरि जगत संसारा ॥
दरब ते गरब, लोभ बिख मूरी। दत्त न रहै, सत्त होइ दूरी ॥
दत्त सत्त एइ दूनौ भाई। दत्त न रहै, सत्त पुनि जाई ॥
जहाँ लोभ तहँ पाप सँघाती। संचि कै भरै आन कै थाती ॥
सिद्ध दरब आगि कै थापा। कोई जरा, जारि कोई तापा ॥
काहू चाँद, काहू भा राहू। काहू अंब्रित, बिख भा काहू ॥
तस फूला मन राजा, लोभ पाप अध कूप।
आइ समुँद्र ठाढ़ भा, होइ दानी के रूप ॥ ३८६ ॥

शब्दार्थ—बिखमूरी = विष की मूल। दत्त = दान। सत्त = सत्य। संघाती = साथ में। संचि = इकट्ठा करके। थाती = धन, धरोहर। दानी = दान लेने वाला।

अर्थ—गवन के समय के दहेज को देख कर राजा रत्नसेन को बड़ा गर्व हुआ। उसकी दृष्टि में उसके समान अब संसार में कोई नहीं है। जब मैं समुद्र पार हो जाऊँगा तो संसार में कौन मेरे समान हो सकता है। कवि कहता है कि धन के होने पर विष की मूल गर्व भी हो जाता है। मिला हुआ दान तो नहीं रह जाता हाँ, सत्य दूर हो जाता है क्योंकि अहंकार के कारण उसका विनाश हो जाता है। जहाँ लोभ होता है वहाँ साथ में पाप होता है। धन तो पराया है, दूसरे की थाती के समान मनुष्य तो उसका रखवाली करने वाला मात्र है, निरर्थक वह उसकी रक्षा में श्रम करता है। सिद्ध लोग इसीलिए कहते हैं कि धन भी आग के समान ही है, कोई तो

इसमें जल जाता है और कोई इससे लाभ उठा कर अपनी टेक्क भगाता है-अर्थात् कुछ लोग तो उसकी रक्षा करते-करते ही नष्ट हो जाते हैं पर कुछ अन्य लोग उसका उपयोग करते हैं। किसी के लिए तो धन चन्द्रमा के समान शीतल और किसी के लिए राहु के समान दुखकारी है। किसी के लिए अमृत और किसी के लिए विष।

धन के गर्व में राजा अत्यन्त प्रसन्न हुआ, लोभ-पाप रूपी अन्ध-कूप में जा गिरा। इसी समय समुद्र दान लेने वाला बन कर उसके सामने आकर उपस्थित हो गया।

———

# ३३. देश-यात्रा-खण्ड

[ ३८७ ]

बोहित भरे, चला लै रानी। दान माँगि सत देखै दानी॥
लोभ न कीजै, दीजै दानू। दानहि पुन्य होइ कल्यानू॥
दरबहि दान देइ बिधि कहा। दान मोख होइ, दोख न रहा॥
दान आहि सब दरब क चूरू। दान लाभ होइ बाँचै मूरू॥
दान करै रछया मँझ नीराँ। दान खेइ लै लावै तीराँ॥
दान करन दै दुइ जग तरा। रावन संचि अगिनि महँ जरा॥
दान मेरु बढ़ि लाग अकाराँ। सैंति कुबेर बूड़ तेहि भाराँ॥
चालिस अंस दरब जहँ, एक अंस तहँ मोर।
नाहिं तो जरै कि बूड़ै, कै निसि मूसहिं चोर॥ ३८७॥

शब्दार्थ—बोहित = जहाज़। दरब क चूरू = धन का तत्व। बाँचै = बचै। मूरू = मूलधन। रछया = रक्षा। लावै = लगावै। करन = राजा कर्ण। संचि = संचय करके। अकाराँ = आकाश। सैंति = इकट्ठा करके। मूसहिं = चुरा ले।

अर्थ—जब राजा रत्नसेन रानी पद्मावती को लेकर अपने जहाज़ रत्नों से भर कर चला तब समुद्र राजा से दान माँग कर उसके सत्य की परीक्षा करने लगा: समुद्र ने कहा कि हे राजा लोभ न कीजिए दान दीजिए। दान से पुण्य होता है और कल्याण होता है। ब्रह्मा ने यही कहा कि द्रव्य से दान देना चाहिए। दान से मोक्ष होता है और दोष नष्ट होते हैं। दान ही सब सम्पत्तियों का तत्व है। दान से लाभ होता है और मूलधन की रक्षा होती है दान ही जल के भीतर रक्षा करता है, दान ही खे कर पार करता है। राजा कर्ण दान करके दोनों लोक तर गया। रावण ने धन को एकत्र किया तो वह अग्नि में जल गया। दान ही के प्रताप से सुमेरु पर्वत बढ़ कर आकाश से जा लगा और कुबेर ने धन का संग्रह मात्र किया तो उसी के भार से

इसमें जल जाता है और कोई इससे लाभ उठा कर अपनी ठंडक भगाता है-अर्थात् कुछ लोग तो उसकी रक्षा करते-करते ही नष्ट हो जाते हैं पर कुछ अन्य लोग उसका उपयोग करते हैं। किसी के लिए तो धन चन्द्रमा के समान शीतल और किसी के लिए राहु के समान दुःखकारी है। किसी के लिए अमृत और किसी के लिए विष।

धन के गर्व में राजा अत्यन्त प्रसन्न हुआ, लोभ-पाप रूपी अन्ध-कूप में जा गिरा। इसी समय समुद्र दान लेने वाला बन कर उसके सामने आकर उपस्थित हो गया।

———

# ३३. देश-यात्रा-खण्ड

[ ३८७ ]

बोहित भरे, चला लै रानी। दान माँगि सत देखै दानी॥
लोभ न कीजै, दीजै दानू। दानहि पुन्य होइ कल्यानू॥
दरबहि दान देइ बिधि कहा। दान मोख होइ, दोख न रहा॥
दान आहि सब दरब क चूरू। दान लाभ होइ बाँचै मूरू॥
दान करै रछया मँझ नीराँ। दान खेइ लै लावै तीराँ॥
दान करन दै दुइ जग तरा। रावन संचि अगिनि महँ जरा॥
दान मेरु बढ़ि लाग अकाराँ। सैंति कुबेर बूड़ तेहि भाराँ॥
चालिस अंस दरब जहँ, एक अंस तहँ मोर।
नाहिं तो जरै कि बूड़ै, कै निसि मूसहिं चोर॥ ३८७॥

शब्दार्थ—बोहित = जहाज़। दरब क चूरू = धन का तत्व। बाँचै = बचै। मूरू = मूलधन। रछया = रक्षा। लावै = लगावै। करन = राजा कर्ण। संचि = संचय करके। अकाराँ = आकाश। सैंति = इकट्ठा करके। मूसहिं = चुरा ले।

अर्थ—जब राजा रत्नसेन रानी पद्मावती को लेकर अपने जहाज़ रत्नों से भर कर चला तब समुद्र राजा से दान माँग कर उसके सत्य की परीक्षा करने लगा। समुद्र ने कहा कि हे राजा लोभ न कीजिए दान दीजिए। दान से पुण्य होता है और कल्याण होता है। ब्रह्मा ने यही कहा कि द्रव्य से दान देना चाहिए। दान से मोक्ष होता है और दोष नष्ट होते हैं। दान ही सब सम्पत्तियों का तत्व है। दान से लाभ होता है और मूलधन की रक्षा होती है दान ही जल के भीतर रक्षा करता है, दान ही खे कर पार करता है। राजा कर्ण दान करके दोनों लोक तर गया। रावण ने धन को एकत्र किया तो वह अग्नि में जल गया। दान ही के प्रताप से सुमेरु पर्वत बढ़ कर आकाश से जा लगा और कुबेर ने धन का संग्रह मात्र किया तो उसी के भार से

डूब गया।

धन में चालीसवाँ अंश मेरा है, उसे मुझे दे दो नहीं तो या तो नष्ट हो जायेगा या डूब जायेगा या कोई चोर रात में चुरा ले जायेगा।

[ ३८८ ]

सुनि सो दान राजै रिस मानी। केइँ बौराएसि बौरे दानी॥
सोई पुरुष दरब जेहि सैंती। दरबहि तें सुनु बातैं एती॥
दरब त धरम करम औ राजा। दरब त सुद्धि बुद्धि बल गाजा॥
दरब त गरबि करै जो चाहा। दरब त धरती सरग बेसाहा॥
दरब त हाथ आव कबिलासू। दरब त आछरि छाँड़ न पासू॥
दरब त निरगुन होइ गुनवंता। दरब त कुबुज होइ रूपवंता॥
दरब रहै भुइँ दिपै लिलारा। अस मनि दरब देइ को पारा॥
कहा समुँद रे लोभी, बैरी दरब न झाँपु।
भएउ न काहू आपन, मूँदि पेटारे साँपु॥ ३८८॥

शब्दार्थ दानी = दान माँगने वाला। सैंती = इकट्ठा किया है। बेसाहा = खरीदना। आछरि = अप्सरा। कुबुज = कुबड़ा। दिपै = प्रकाशित है। लिलारा = ललाट = मत्था। पारा-सकना। झाँपु = छिपाओ।

अर्थ—समुद्र से इस दान की बात को सुन कर राजा को क्रोध लग गया। उसने कहा कि ऐ भोले भिक्षुक तुझको किसने पागल कर दिया है। पुरुष वही है जिसने धन एकत्रित कर रखा है। धन से ही इतनी सब बातें होती हैं। धन है तभी सब धर्म, कर्म और राज्यत्व है। धन है तो बुद्धि शुद्ध है, बल है और आदमी गर्ज सकता है। धन है तभी आदमी सब को खरीद सकता है। धन है तो स्वर्ग भी हाथ आ जायेगा, अप्सरायें साथ नहीं छोड़तीं। धन हो तो निर्गुणी भी गुणी हो जाता है, धन से कुबड़ा और कुरूप भी रूपवान् हो जाता है। धन ही से पृथ्वी में मस्तक चमकता रहता है, ऐसे मणि रूपी धन को कौन दे सकता है।

यह सुन कर समुद्र ने कहा कि हे लोभी! इस शत्रु रूपी धन को छिपा के मत रख, यह किसी का सगा न हुआ, यह तो पेटारे में ढका हुआ साँप है।

इस पद में भर्तृहरिशतक के इस पद्य का ही भाव है :—

यस्यास्ति वित्तं स नर कुलीनः
स पण्डितः स श्रुतवान् गुणज्ञः।
स एव वक्ता स च दर्शनीयः
सर्वे गुणाः कांचनमाश्रयन्ति ॥

[ ३८६ ]

आधे समुँद आए सो नाही। उठी बाउ आँधी उपराहीं।
लहरैं उठी समुँद उलथाना। भूला पंथ, सरग नियराना॥
अदिन आइ जौं पहुँचै काऊ। पाहन उड़ाइ बहै सो बाऊ॥
बोहित बहे लंक दिसि ताके। मारग छाँड़ि, कुमारग हाँके॥
जौं लै भार निबाहि न पारा। सो का गरब करै कनहारा॥
दरब भार सँग काहु न उठा। जेइ सैंता तेहि सों पुनि रूठा॥
गहि पखान लै पंखि न उड़ा। मोर मोर जेइँ कीन्ह सो बुड़ा॥
दरब जो जानहिं आपन, भूलहिं गरब मनाहँ।
जौं रे उठाइ न लै सके, बोरि चले जल माहँ॥ ३८६॥

शब्दार्थ—बाउ = वायु। उपराहीं = ऊपर उठी। पारा = सका। कनहारा = कर्णधार। मनाँह = मन में।

अर्थ—समुद्र के आधे भाग में भी नहीं पहुँचे थे कि हवा चलने लगी और जोर की आँधी आयी। लहरें उठने लगीं, सागर क्षुब्ध हो गया। रास्ता भूल गया, जहाज़ उछल-उछल कर आकाश के समीप पहुँचने लग गये। जब कभी दुर्दिन आ जाता है तो हवा पत्थर को भी उड़ा लेती है। जहाज़ लंका की दिशा में बह चले। रास्ता छोड़ कर बुरे रास्ते पर चल निकले। यदि भार को लेकर निर्वाह नहीं कर सकता तो कर्णधार क्या घमण्ड करता है? धन के बोझ से कोई नहीं उठ सकता। जो ही धन का संचय करता है उसी से ईश्वर रूठ जाता है। पक्षी यदि पत्थर को पकड़ेगा तो उड़ नहीं सकता, जो 'मेरा-मेरा' करता है वह नष्ट हो जाता है। जो लोग धन को अपना समझते हैं वे व्यर्थ में अपने में गर्व करते हैं। यह उनकी बड़ी भूल है। जो उठा के नहीं चल सकता है, अवश्य ही वह जल में डूबेगा।

[ २६० ]

केवट एक भभीखन केरा। आवा मंछ कर करत अहेरा।
लंका कर राकस अति कारा। आवै चला मेघ अँधियारा॥
पाँच मुंड दस बाहैं ताही। दहि भा स्याम लंक जब डाही॥
धुवाँ उठै मुख स्वाँस सँघाता। निकसै आगि कहै जब बाता॥
फेकरे मुंड चँवर जनु लाए। निकसि दाँत मुँह बाहिर आए॥
देह रीछ कै रीछ डेराई। देखत दिस्टि धाइ जनु खाई॥
राते नैन निडेरें आवा। देखि भयावनु सब डर खावा॥
धरती पाय सरग सर, जानहुँ सहसराबाहु।
चाँद सुरुज नखतन्ह महँ, अस दीखा जस राहु॥२६०॥

शब्दार्थ—संघाता = साथ। फेकरे = नंगे। मुंड = सिर। राते = लाल। निडेरे = निकाले हुए। सहसराबाहु = सहस्रबाहु-अर्जुन।

अर्थ—विभीषण का एक माझी मछलियों का आखेट करता हुआ आ रहा था। वह लंका का राक्षस अत्यन्त काला था। इस प्रकार आ रहा है जैसे काला बादल हो। उसके पाँच सिर और दस भुजायें थीं, जब लंका जली थी तभी जल कर वह काला हो गया था। मुख से साँस निकलती है तो धुवाँ उड़ जाता है। जब बात कहता है तब तो मुख से आग की चिनगारियाँ ही निकल जाती हैं। सिर खुला था, उस पर बाल इस प्रकार बिखरे थे मानो चँवर हैं, बड़े-बड़े दाँत निकल कर बाहर दिखाई पड़ते हैं। उसका शरीर रीछ की तरह था, उसे देख कर तो रीछ भी डर जायेगा। उसकी आँखों को देखने पर तो मालूम होता था कि यह खा ही जायेगा। लाल-लाल आँखें निकाले हुए चला आ रहा था, उस भयानक राक्षस को देख कर सभी भयभीत हो गये उसका पैर तो पृथ्वी पर था और सिर आकाश में था, मानो सहस्रबाहु हो। चन्द्र, सूर्य और नक्षत्रों में जैसे राहु हो इस प्रकार वह दिखाई पड़ रहा था।

[ २६१ ]

बोहित बहे न मानहिं खेवा। राकस देखि हँसा जस देवा।
बहुते दिनन्ह बार भै दूजी। अजगर केरि आइ भख पूजी॥

इहै पदुमिनी भभीखन पावा। जानहुँ आजु अजोध्या छावा॥
जानहुँ रावन पाई सीता। लंका बसी रमाएन बीता॥
मंछ देखि जैसें बग आवा। टोइ टोइ भुइँ पाउ उठावा॥
आइ नियर भै कीन्ह जोहारू। पूँछा खेम कुसल बेवहारू॥
जो बिस्वास घातिका देवा। बड़ बिस्वास करै कै सेवा॥
कहाँ मीत तुम्ह भूलेहु, औ जाबेहु केहि घाट।
हौं तुम्हार अस सेवक, लाइ देउँ तेहि बाट॥३६१॥

शब्दार्थ—खेबा = खेया जाना। देवा = राक्षस (फारसी)। बार = दिन। टोइ = टटोलकर।

अर्थ—सब जहाज बह चले, खेना उनके बहाव को न रोक सका। ऐसा देखकर वह राक्षस हँस पड़ा। उसने अपने आप कहा—बहुत दिनों के बाद दूसरा दिन आया है। आज अजगर की भूख पूरी होगी। यह पद्मिनी विभीषण को मिल जायगी मानो उसे अयोध्या का राज्य मिल गया हो। अथवा मानो रावण को सीता मिल गई हो, लङ्का फिर से जैसे बस जायगी और रामायण की बात समाप्त हो गयी हो। भाव यह कि जिस सीता के लिये राम-रावण का युद्ध हुआ, लङ्का उजड़ी, वैसी ही पद्मावती के मिल जाने पर लंका का ऐश्वर्य फिर से जग उठेगा। जिस प्रकार बगला मछली देखकर निकट आता है और टटोल-टटोल कर उसे उठाता है उसी प्रकार यह राक्षस रत्नसेन के बेड़े के पास आया। निकट आकर उसने राजा को प्रणाम किया और क्षेम, कुशल पूछा। जो राक्षस बड़ा ही विश्वासघाती होता है वह बड़े विश्वास और श्रद्धा को दिखा कर सेवा करता है। उसने कहा कि हे मित्र, तुम कहाँ भूल गये, किस घाट पर जा रहे हो, मैं तुम्हारा ऐसा सेवक हूँ कि तुम्हें तुम्हारे रास्ते पर पहुँचा दूँगा।

नोट—अजगर के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वह परिश्रम नहीं करता, अनायास ही उसे भोजन मिल जाता है—"अजगर करै न चाकरी, पंछी करै न काम"। —मलूकदास

[ ३६२ ]

गाढ़ परें जिउ बाउर होई। जो भलि बात कहै भल सोई॥

राजै राकस नियर बोलावा। आग कीन्ह, पंथ जनु पावा॥
बहु पसाउ राकस कहँ बोला। बेगि टेकु पुहुमी सब डोला॥
तू खेवक खेवकन्ह उपराहीं। बोहित तीर लाउ गहि बाँहों॥
तोहि ते तीर घाट जौं पावौं। नवगिरिहीं टाडर पहिरावौं॥
कुंडल स्रवन देउँ नग लाई। महरा कै सौंपौं महराई॥
तस राकस तोरि पुरवौं आसा। रकसाइँधि कै रहै न बासा॥
राजै बीरा दीन्हेउ, जानैं नाहिं बिसवास।
बगु अपने भख कारन, भएउ मंछ कर दास॥३६२॥

शब्दार्थ—गाढ़=कठिनाई। पसाउ=पसारना। टेकु=सहारा दो। पुहुमी=पृथ्वी। खेवक=माझी। नवगिरिहि=स्त्रियों द्वारा कलाई पर पहना जाने वाला एक गहना। टाडर=तोड़ा नामक हाथ का गहना। स्रवन=कान। महरा=मल्लाहों का सरदार। रकसाइँधि=राक्षस की गंध। बासा=महँक। बगु=बगला।

अर्थ—विपत्ति पड़ने पर मनुष्य का चित्त पागल हो जाता है। किसी भी बात को वह भली कह देता है। राजा ने राक्षस को अपने निकट बुलाया और उसे अपने आगे रख लिया मानो अब रास्ता ही मिल गया है। बड़े विश्वास के साथ वह राक्षस से बोला कि शीघ्र ही तुम सहारा दो, हमें तो सारी पृथ्वी डोलती दिखाई पड़ती है। तू सभी माझियों से बढ़कर है किसी प्रकार जहाजों को सहारा देकर किनारे ले चलो। यदि तुम्हारे सहारे मैं घाट को पा जाऊँगा तो नवगिरही और तोड़ा तुझे पहना दूँगा। हीरे जड़े हुए कुण्डलों को तेरे कान में पहना दूँगा और तुझे सब माझियों का सर्दार बना दूँगा। हे राक्षस! तेरी ऐसी आशा पूरी करूँगा कि तेरे शरीर में राक्षस की गंध तक न रह जाएगी। राजा ने उसे बीड़ा दे दिया, उसके विश्वास को तो जानता न था, उधर वह राक्षस इस प्रकार मिल गया जैसे बगला अपने पेट भरने के लिये मछलियों का सेवक हो जाना पसन्द कर लेता है।

[ ३६३ ]

राकस कहा गोसाइँ बिनाती। भल सेवक राकस कै जाती॥
जहिया लंक डही स्री रामा। सेव न छाँड़ि भएउँ डहि स्यामा॥

अबहूँ सेव करहिं सँग लागे। मानुस भूलि होहिं तिन्ह आगे॥
सेत बंध जहँ राघौ बाँधा। तहँ लै चढ़ौं भारु मैं काँधा॥
पै जब तुरित दान कछु पावौं। तुरित खेइ ओहि बाँध चढ़ावौं॥
तुरित जो दान पान हँसि दिया। थोरा दान बहुत पुनि किया॥
सेव कराइ जौ दीजै दानू। दान नाहिं, सेवा बर जानू॥
दिया बुझा सतु ना रहा, हुत निरमल जेहि रूप।
बहुँ आँधी उड़ि आइ कै, मारि किया अँध कूप॥३६३॥

शब्दार्थ—जहिया = जिसदिन । पानि = हाथ। तुरित = तुरन्त। राघौ = राघव, श्रीरामचन्द्र जी।

अर्थ—राक्षस ने राजा से नम्रतापूर्वक कहा कि हम तो आप के सेवक हैं, जगत् के बीच राक्षस हैं। जिस दिन श्री रामचन्द्र जी ने लंका जलायी थी उस दिन भी मैंने सेवा नहीं छोड़ी थी, इसी से जलकर काला हो गया। अब भी हम साथ-साथ सेवा करते हैं। जब मनुष्य समुद्र में रास्ता भूल जाते हैं तो हम उनके आगे होकर रास्ता दिखाते हैं। जहाँ रामचन्द्र जी ने सेतुबन्ध बाँधा था वहाँ अपने कन्धे पर भार लेकर चढ़ जाऊँगा। पर यदि तुरन्त दान पा जाऊँ तो खे कर उस सेतुबन्ध पर बेड़े को चढ़ा दूँ। जो दान प्रसन्नता पूर्वक तुरन्त दिया जाता है वह थोड़ा भी हो तो बहुत होता है। सेवा करा कर यदि दान दीजिए तो उसे दान न समझ कर सेवा के बदले की मजदूरी समझनी चाहिए।

इसी समय आँधी आई और अंधेरा होगया, मानो दीपक बुझ गया और दीपक के कारण जो निर्मलता दिखाई पड़ रही थी वह सब लुप्त हो गयी, किसी वस्तु का वास्तविक रूप दिखाई न पड़ता था। जोरों की आँधी से चारों ओर अन्ध-कूप मचा दिया।

[ ३६४ ]

जहाँ समुँद मँझधार भँडारू। फिरै पानि पातार दुवारू॥
फिरि फिरि पानि ओहि ठाँ भरई। बहुरि न निकसै जो तहँ परई॥
ओहि ठाँव महिरावन पुरी। हलका तर जमकातरि जुरी॥
ओहि ठाँव महिरावन मारा। परे हाड़ जनु परे पहारा॥

परी रीरि जहँ ताकरि पीठी। सेतबंध अस आवै डीठी॥
राकस आनि तहाँ कै छरै। बोहित भँवर चक्र महँ परै॥
फिरै लाग बोहित अस आई। जनु कुम्हार धरि चाक फिराई॥
राजैं कहा रे राकस बौरे, जानि बूझि बौरासि।
सेतबंध जहँ देखिअ आगें, कस न तहाँ लै जासि॥ ३६४॥

शब्दार्थ—भँडारू = भंडार, गहरा दह। ठाँ = जगह। बहुरि = फिर। हलका = लहरें। तर = नीचे। रीरि = रीढ़ की हड्डी। छरै = छले।

अर्थ—जहाँ समुद्र में बहुत गहरा दह था, जिसका पानी पाताल के द्वार तक पहुँचता था, वहाँ वह राक्षस ले गया। उस जगह पानी चक्कर काट-काट कर आता जाता था, उस जगह जो पड़ जाता फिर वह न निकल सकता था। उसी जगह अहिरावण राक्षस की पुरी थी, पानी की लहरों के नीचे यमपुरी के समान जमी हुई थी। यहीं पर अहिरावण मारा गया था, उसकी हड्डियाँ अब भी पड़ी हुई हैं जैसे पहाड़ हों। उसके पीठ की रीढ़ की हड्डी पड़ी हुई है ऐसी प्रतीत होती है मानों सेतुबन्ध हो। राक्षस ने इस भयंकर स्थान में लाकर छल किया। जहाज इस भँवर के चक्र में पड़ गये। जहाज इस प्रकार चक्कर लगाने लगे जैसे कुम्हार का चाक घूम रहा हो।

राजा ने कहा कि हे पागल राक्षस! क्या तू जान-बूझकर पागल हो रहा है, सामने ही सेतुबन्ध दिखाई पड़ रहा है, वहाँ तू क्यों नहीं ले जाता।

[ ३६५ ]

सुनि बाउर राकस तब हँसा। जानहुँ टूटि सरग भुइँ खसा॥
को बाउर, तुहँ बौरे देखा। सो बाउर, भख लागि सरेखा॥
बाउर पंखि जो रह धरि माँटी। जीभ चखाइ भखै निति चाँटी॥
बाउर तुहँ जो भखे कह आनें। तबहुँ न समुझहु, पंथ भुलाने॥
महिरावन कै रीरि जो परी। कहा सो सेतबंध बुधि हरी॥
यह सो आहि महिरावन पुरी। जहवाँ सरग नियर, घर दूरी॥
अब पछिताहु दरब जस जोरा। करहु सरग चढ़ि हाथ मरोरा॥
जबहिं जियत महिरावन, लेत जगत कर भार।
जौं रे मुवा लेइ गया न हाड़ों, अस होइ परा पहार॥ ३६५॥

शब्दार्थ -- खसा = गिरा । सरेखा = चतुर । पंखि = पतिंगा । बरि = घर । आने = लाया हूँ ।

अर्थ--राजा से 'पागल' शब्द सुन कर राक्षस हँस पड़ा, मानो स्वर्ग ऊपर से जमीन पर गिर पड़ा हो । उसने कहा कि 'कौन बावला है,' तुम किसे बावला देख रहे हो, बावला भी अपने भोजन के लिए चतुर होता है। पतिंगा बिल्कुल नासमझ मालूम होता है, पर वह भी मिट्टी के घर में रहता और नित्य चींटियों को खा जाता है । पागल तो तुम हो, जिसको खाने के लिए मैं लाया हूँ, इतने पर भी तुम नहीं समझते हो कि तुम्हारा रास्ता भूला हुआ है । सामने तो अहिरावण की हड्डी दिखाई पड़ती हैं, सेतुबन्ध भला कहाँ है ? तुम्हारी तो बुद्धि ही हरी गयी है । यह तो अहिरावण की पुरी है, जहाँ से स्वर्ग (मृत्यु) निकट है, घर दूर है । अब तुम उसी प्रकार पछताओ, जैसा कि तुमने धन एकत्रित किया है और स्वर्गवासी होकर हाथ मलो ।

जब तक अहिरावण जीवित था, उसने सारे जगत् का भार अपने ऊपर उठाया । जब वह मर गया, तो अपनी हड्डी को भी न ले जा सका और वह पहाड़ बन कर पड़ी हुई है ।

[ ३६६ ]

बोहिब भँवै, भँवै जस पानी । नाचै राकस आस तुलानी ॥
बूड़हिं हस्ति, घोर, मानवा । चहुँ दिस आइ जुरे मँसुखवा ॥
तेतखन राजपंखि एक आवा । सिखर टूट तस डहन डोलावा ॥
परा दिस्टि वह राकस खोटा । ताकेसि जैस हस्त बड़ मोंटा ॥
आइ ओहि राकस पर टूटा । गहि लै उड़ा, भँवर जल छूटा ॥
बोहित टूक टूक सब भए । अस न जाने दहुं कहँ गए ॥
भए राजा रानी दुइ पाटा । दूनौ बहे, भए दुइ बाटा ॥
काया जीउ मिलाइ कै, कीन्हेसि अनँद उछाहुँ ।
लवटि : बिछोउ दीन्ह तस, कोउ न जानै काहुँ ॥ ३६६ ॥

शब्दार्थ--भँवै = चक्कर लगाते हैं । तुलानी = समाप्त हुई । घोर = घोड़े । मंसुखवा = मांस खाने वाले राक्षस । तेतखन = उसी समय । डहन = डैना । पाटा = पटरे । लवटि = लौट कर ।

अर्थ—जहाज उस भँवर में इस प्रकार चक्कर लगाने लगे, जैसा कि वहाँ पानी घूम रहा था। राक्षस प्रसन्नता से नाचने लगा। सब की आशायें समाप्त हो गयीं। हाथी, घोड़े और मनुष्य सब डूबने लगे। चारों ओर मांस खाने वाले राक्षस इकट्ठे हो गये। इसी समय एक राजपक्षी (ईगल) आया। उसके डैने ऐसे चल रहे थे, मानो पहाड़ टूट रहे हैं। उसकी दृष्टि में वही खोटा राक्षस पड़ गया, उसने देखा कि वह हाथी की भान्ति मोटा है। आ करके वह पक्षी इसी राक्षस के ऊपर टूट पड़ा, उसे पकड़ कर उड़ चला, इससे पानी के भँवर से मुक्ति मिली। सारे जहाज टुकड़े-टुकड़े हो गये। ऐसा नहीं मालूम पड़ा कि सब कहाँ चले गये। राजा और रानी दो अलग-अलग पटरों (तख्तों) पर हो गये, दोनों बह चले और दो रास्ते हो गये।

एक बार तो राजा और रानी इस प्रकार मिल कर एक हो गये थे जैसे शरीर और जीव, और इन्होंने बड़े आनन्द उल्लास पाये, पर लौट कर अब इनको वियोग मिल गया, कोई भविष्य की बात कुछ नहीं जान सकता।

---

## ३४. लक्ष्मी-समुद्र-खण्ड

[ ३६७ ]

मुरुछि परी पदुमावति रानी। कहँ जिउ कहँ पिउ औस न जानी॥
जानु चित्र मूरति गहि लाई। पाटा परी बही तसि जाई॥
जनम न पौन सहै सुकुमारा। तेहि सो परा दुख समुँद अपारा॥
लखिमिनि मान समुँद कै बेटी। ता कहँ लच्छि भई जेइँ भेंटी॥
खेलत अही सहेलिन्ह सेंती। पाटा जाइ लगा तेहि रेती॥
कहेसि सहेलिहु देखहु पाटा। मूरति एक लागि एहि घाटा॥
जौं देखेन्हि, तिरिया है साँसा। फूल मुएउ, पै मुई न वासा॥
रग जो राती पेम के, जानहुँ बीर बहूटि॥
आइ बही दधि समुँद महँ, पै रंग गएउ न छूटि॥ ३६७॥

शब्दार्थ—पाटा = लकड़ी का पट्टा। लखिमिनि = लक्ष्मी। मान-पाठान्तर नावँ = नाम। अही = थी। सेंती = साथ। रग = नस। राती = लाल।

अर्थ—रानी पद्मावती मूर्छित हो गयी, वह नहीं जानती थी कि कहाँ जीव और कहाँ पीव, अर्थात् उसका और उसके पति का अभिन्न सम्बन्ध था, अतः अलग होते ही वह मूर्छित हो गयी। वह लकड़ी के फट्टे पर इस प्रकार बही जा रही थी, जैसे चित्र या मूर्ति फट्टे पर बही जा रही है। इस सुकुमारी ने जीवन में हवा भी तो न सही थी, उसके ऊपर इतना अपार दुःख का समुद्र पड़ गया, फिर उसे कैसे सह्य होता? समुद्र की बेटी लक्ष्मी है, उससे जिसकी भेंट हो जाती है, वह धनवान् हो जाता है। वह अपनी सहेलियों के साथ खेल रही थी, इतने में पद्मावती का फट्टा रेत से जा लगा। लक्ष्मी ने कहा कि हे सखियो! इस फट्टे को देखो, इस घाट पर एक मूर्ति आई है। सखियों ने देखा कि स्त्री में अभी साँस शेष है, फूल तो मरा है, पर अभी उसकी महक शेष है। उसके रग-रग लाल थे, उनमें प्रेम की ललाई थी और वे बीर बहूटी सी लग रहीं थीं, दधि-सागर में वह बह कर आ गई, उसके प्रेम का रंग रगों से नहीं छूटा है।

[ ३९८ ]

लखिमिनि लखन बतीसौ लखी। कहेसि न मरै सभाँरहु सखी॥
कागर पुतरी जैस्न सरीरा। पवन उड़ाइ परी मँझ नीरा॥
उड़हिं झकोर लहरि जल भीजी। तबहु रूप रँग नाहीं छीजी॥
आपु सीस लै बैठी कोरा। पवन डोलावहिं सखि चहुँ ओरा॥
पहरक समुझि परा तन जीऊ। माँगेसि पानि बोलि कै पीऊ॥
पानि पियाइ सखी मुँह धोई। पदुमिनि जानु कँवल सँग कोई॥
तब लखिमिनि दुख पूँछ पिरौही। तिरिया समुझि बात कहु मोही॥
देखि रूप तोर आगर, लागि रहा चित मोर।
केहि नगरी कै नागरि, काह नाउँ धनि तोर॥ ३९८॥

शब्दार्थ—लखन = लक्षण। कागर = कागज, कपड़ा। छीजी = कम होना। कोरा = गोद। पहरक = एक पहर। कोई = कुमुदिनी। पिरौही = पीड़ा। आगर = श्रेष्ठ। धनि = स्त्री।

अर्थ—लक्ष्मी ने पद्मावती के बत्तीसों लक्षणों को देखा और कहा कि हे सखियो! यह मरेगी नहीं, इसे सँभालो। इसका शरीर कागज की पुतली के समान हलका है, हवा से उड़ कर यह पानी में गिर पड़ी है। लहरों के झकोरों के जल से यह भीग गयी है, फिर भी इसका रूप रंग कम नहीं हुआ है। वह स्वयं अपनी गोद में पद्मावती को लेकर बैठ गयी, सखियाँ चारों ओर हवा डोलाने लगीं। एक पहर में उसमें जीव समझ पड़ा, पति को पुकार कर उसने पानी माँगा। सखी ने पानी पिला कर उसका मुख धो दिया। उस समय पद्मावती ऐसी लगी, मानो कमल कुमुदिनियों के बीच सुशोभित है। तब लक्ष्मी ने उसका दुःख-दर्द पूछा, कि हे स्त्री! समझ-बुझ कर मुझ से बात कर। तेरा सुन्दर रूप देख कर मेरा चित्त तुझ में लगा हुआ है, तू किस नगरी की नायिका है और तेरा क्या नाम है?

[ ३९९ ]

नैन पसारि चेत धनि चेती। देखै काह समुँद कै रेती॥
आपन कोउ न देखेसि तहाँ। पूँछेसि को हम को तुम कहाँ॥

अहीं जो सखीं कँवल सँग कोईं । सो नाहीं मो ह कहाँ बिछोईं ॥
कहाँ जगत मनि पीउ पियारा । जौं सुमेरु बिधि गरुअ सँवारा ॥
ताकरि गरुई प्रीति अपारा । चढ़ी हिएँ जस चढ़ै पहारा ॥
रहै न गरुई प्रीति सो झाँपी । कैसै जियौं भार दुख चाँपी ॥
कँवल करी कइँ चूरी नाहाँ । दीन्ह बहाइ उदधि जल माहाँ ॥

आवा पौन बिछोउ का, पात परा बेकरार ।
तरिवर तजै जो चूरि कै, लागै केहि की डार ॥ ३९९ ॥

शब्दार्थ—पसारि = खोल कर । चेत = चैतन्य होकर । बिछोईं = अलग कर दिया । गरुअ = भारी । चाँपी = दबी हुई । नाहाँ = पति । बेकरार = असहाय, बेबस ।

अर्थ—पद्मावती ने आँखें खोलीं, उसे चेतना प्राप्त हुई । तब क्या देखती है कि समुद्र की रेत है । वहाँ पर अपना कोई नहीं दिखाई पड़ता, उसने पूछा कि हम कौन हैं और तुम कौन हो और हम कहाँ हैं ? कमल के साथ रहने वाली कुमुदिनियों के समान जो मेरी सखियाँ थीं वे अब नहीं हैं, मैं कहाँ बिछुड़ गयी हूँ । वह मेरा संसार का मणि मेरा प्यारा प्रिय कहाँ है ? उसको ब्रह्मा ने सुमेरु पर्वत की भांति गम्भीर बनाया है, उसकी गम्भीर प्रीति भी है, मैं उसके हृदय पर चढ़ी थी मानो पहाड़ पर चढ़ी होऊँ । वह गम्भीर प्रीति छिपाई नहीं जा सकती । इस दुःख के भार को दबा कर अब मैं कैसे जिऊँ । स्वामी ने कमल की कली को चूर करके सागर के जल में बहा दिया । विरह की हवा आई और पत्ता बेबस होकर वृक्ष से गिर पड़ा, जब पेड़ ही पत्ते को चूर करके उसे छोड़ दे तो फिर पत्ता किसकी डाल से लग सकता है ? अर्थात् जब मेरे पति ही ने मुझे छोड़ दिया तो अब मैं किसके सहारे जी सकती हूँ ?

[ ४०० ]

कहेन्हि न जानहिं हम तोर पीऊ । हम तोहि पावा अहा न जीऊ ॥
पाटा परी आइ तूँ बही । ऐसि न जानहिं दहुँ का अही ॥
तब सो सुधि पदुमावति भई । सूर बिछोह मुरछि मरि गई ॥
बिनु सिर रकत सुराही ढारी । जनहुँ बकत सिर काटि पबारी ॥

खिनहिं चेत खिन होइ बेकरारा। भा चंदन बंदन सब छारा॥
बाउर होइ परी सो पाटा। देहु बहाइ कंत जेहि घाटा॥
को मोहि आगि देइ रचि होरी। जियत जा बिछुरी सारस जोरी॥

जेहि सर मारि बिछोहि गा, देहि ओहि सर आगि।
लोग कहैं यह सर चढ़ी, हौं सौ चढ़ौं पिय लागि॥ ४००॥

शब्दार्थ—अहा = था। दहुँ = पता नहीं। सूर = सूर्य (रत्नसेन)। बकत = सिर के धड़ से अलग होने पर सिर एक प्रकार की हिचकी लेता है, उसी बोली को अवधी में बकलना कहते हैं। पबारी = फेंका। चंदन = सिन्दूर। छारा = मिट्टी, नष्ट। सर = शर, बाण। सर = सिर। सर = चिता।

अर्थ—लक्ष्मी तथा उसकी सखियों ने कहा कि हम लोग तेरे पति को नहीं जानतीं। हमने तो तुम्हें जब पाया तब तुममें जीव न था, तू लकड़ी के पट्टे पर बही आ रही थी। हम लोग नहीं जानते कि तुम कौन थी। तब तक पद्मावती को सब कुछ याद आ गया, वह रत्नसेन के वियोग को स्मरण कर मूर्छित हो गयी जैसे बिना सिर के रक्त की सुराही ढाली गयी हो। इस प्रकार हिचकियाँ लेने लगी, मानो उसका सिर धड़ से अलग काट कर फेंक दिया गया है। क्षण में तो उसे चैतन्य होती है और क्षण भर बाद ही वह बेहाल हो जाती है, उसके सिंदूर आदि शृंगार सब नष्ट हो रहे हैं। बावली होकर वह फिर उसी पट्टे पर लेट गयी और कहा कि मुझे फिर उसी घाट पर बहा दो जहाँ मेरा पति है। कौन मेरी होली रचा कर उसमें आग लगा सकता है, क्योंकि मैं इस प्रकार बिछुड़ गयी हूँ जैसे सारस की जोड़ी अलग-अलग होकर दुःख अनुभव करती है।

जिस सिर में बाण मार कर विरह का दुःख उत्पन्न कर दिया है उसे अब अग्नि में डाल दो, लोग कहेंगे कि यह चिता पर चढ़ी है और मैं अपने प्रियतम के लिए उस पर प्रसन्नता पूर्वक चढ़ कर जल जाऊँगी।

अन्तिम दोहे में—यमक अलंकार है।

[ ४०१ ]

कया उदधि चितवौं पिय पाहाँ। देखौं रतन सो हिरदै माहाँ॥
जानु आहि दरपन मोर हिया। तेहि महँ दरस देखावै पिया॥

नैन नियर, पहुँचत सुठि दूरी। अब तेहि लागि मरौं सुठि झूरी॥
पिउ हिरदै महँ भेंट न होई। को रे मिलाव, कहौं केहि रोई॥
साँस पास नित आवै जाई। सो न सँदेस कहै मोहि आई॥
नैन कौड़िया भै मँड़राहीं। थिरकि मारि लै आवहिं नाहीं॥
मन भँवरा ओहि कँवल बसेरी। होइ मरजिया न आनहि हेरी॥
साथी आथ निआथि भै, सकेसि न साथ निबाहि।
जौं जिउ जारें पिउ मिलै, फिटु रे जीय जरि जाहि॥ ४०१॥

शब्दार्थ—कया = काया, शरीर। चितवौं = देखती हूँ। सुठि = सुन्दर। झूरी = सूख कर, दुखी होकर। थिरकि = नाचता है। मारि = बहुत। मरजिया = गोता खोर। आथि = सार, पूँजी। निआथि = निर्धनता।

अर्थ—पद्मावती ही प्रलाप कर रही है—इस शरीर रूपी सागर में अपने पति की ओर देखती हूँ तो हृदय में रत्नसेन रूपी रत्न दिखाई पड़ता है। मानो मेरा हृदय दर्पण है और उसी में मेरे पति का दर्शन हो रहा है। आँखों के लिए तो वह निकट ही है पर पहुँचने में अत्यन्त दूर है, अब मैं उसी के लिए अत्यन्त दुःखी हो-हो कर मरूँगी। हृदय में ही मेरा पति है, पर मिल नहीं सकता। कौन मिला सकता है, किससे रोकर अपना दुःख सुनाऊँ? श्वास तो उसके पास नित्य आतो जातो है। पर मुझसे उनका संदेश नहीं कहती। आँख रूपी कौड़िया पक्षी ऊपर मँडराते रहते हैं, बहुत नाचते हैं पर उसे ले नहीं आते। मन रूपी भँवरा उसी कमल में बसेरा लेता है, पर गोता खोर होकर उस रत्न को खोज कर नहीं लाता।

साथी तो वह है जो धन और निर्धनता दोनों में रहे, पर हे जीव तू साथ का निर्वाह न कर सका। यदि जीव के जलाने पर प्रिय मिल जाय तो यह हृदय फट जाय और जीव नष्ट हो जाय, मैं प्रसन्नता से मरने को प्रस्तुत हूँ।

नोट इस पद में भी जायसी ने आध्यात्मिक रहस्य की झलक दी है। आत्मा रूप परमात्मा मनुष्य के हृदय में रहता है, फिर भी कोई उसे प्राप्त नहीं कर पाता। निकट होते हुए भी वह अत्यन्त दूर है। नेत्रों में उसकी छबि बसी होती है, मन उसी में रमा होता है पर उससे मिलना नहीं होता।

अलंकार—समासोक्ति।

[ ४०२ ]

सती होइ कहँ सीस उघारी। घन महँ बिज्जु घाय जस मारी ॥
सेंदुर जरै आगि जनु लाई। सिर की आगि सँभारि न जाई ॥
छूटि माँग सब मोंति पुरोई। बारहिं बार गरहिं जनु रोई ॥
टूटहिं मोंति बिछोहा भरे। सावन बुंद गरहिं जनु ढरे ॥
भहर भहर करि जोबन करा। जानहुँ कनक आगानि महँ परा ॥
अगिनि माँग, पै देइ न कोई। पाहन पवन पानि सुनि होई ॥
कनै लंक टूटी दुख जरी। बिनु रावन केहि बार होइ खरी ॥
रोवत पंखि बिमोहे, जनु कोकिला अरंभ।
जाकरि कनक लता यह बिछुरी, कहाँ सो प्रीतम खंभ ॥ ४०२ ॥

शब्दार्थ— घाय = घाव-चोट। गरहिं = बूंद-बूंद गिरना। भहर-भहर = जगमगाता हुआ। करा = कला, प्रकाश। कनै = कनक, सोना। लंक = कमर और लंका। बर = बल। खरी = खड़ी।

अर्थ— पद्मावती ने सत होने के लिए अपने सिर को खोल दिया तो काले बालों के बीच में सिंदूर की रेखा ऐसी लगी जैसे बादलों के बीच बिजली की चोट पड़ी हो। लाल रंग का सिन्दूर ऐसा प्रतीत होता था मानो आग लगी है। यह सिर की आग है इसे कोई सँभाल नहीं सकता। माँग छूटी जिसमें मोती पिरोये थे, बाल-बाल से मोती के दाने गिरने लगे। मानो बाल रो रहे हैं और उनसे आँसू की बूँदें गिर रही हैं। यौवन का प्रकाश जगमगाने लगा मानो सोना अग्नि में पड़ा है। पद्मावती अग्नि माँगने लगी पर कोई उसे अग्नि नहीं देता, उसकी बात को सुन कर या तो वे पत्थर के समान जड़ हो जाती हैं, या हवा की तरह उड़ जाती हैं। या संकोच से पानी-पानी हो जाती हैं। सुनहली कमर रूपी लंका दुःख से जल कर टूट गयी। रावण रूपी रत्नसेन के बिना किसके बल पर वह खड़ी हो।

उसे रोते हुए देख कर पक्षी भी मूर्छित हो गये, उसका रोना ऐसा था जैसे कोयल ने निरंतर कूकना आरम्भ कर दिया हो। कवि कहता है कि जिस

प्रियतम रूपी खंभे से लिपटने वाली यह कनक-लता बिछुड़ गयी है वह कहाँ है ?

अलंकार—हेतूत्प्रेक्षा और रूपक के चमत्कार इस पद में द्रष्टव्य हैं।

[ ४०३ ]

लखिमिनि लागि बुझावै जीऊ। ना मरु भगिनिजिऔ तोर पीऊ॥
पिउ पानी, होइ पौन अधारी। जस हौं तुहू समुंद्र कै बारी॥
मैं तोहि लागि लेब खटबाटू। खोजब पितैं जहाँ लगि घाटू॥
हौं जेहि मिलौं तासु बड़ भागू। राज पाट ओ होइ सोहागू॥
कै बुझाउ लै मँदिल सिधारी। भई सुसार जेंवै नहिं नारी॥
जेहि रे कंत कर होइ बिछोवा। का तेहि भूख नींद का सोवा॥
जिउ हमार पिउ लेबे अहा। दरसन देउ लेउ जब चहा॥
लखिमिनि जाइ समुँद पहँ बिनई, ते सब बातैं चालि।
कहा समुंद्र अहै घट मोरें, आनि मिलावौं कालि॥ ४०३॥

शब्दार्थ— लागि बुझावै = समझाने लगी। खटबाटू = (खटपटी) रूठना (स्त्रियाँ कभी कभी रूठ कर घर के सारे काम छोड़ कर खाट पर पड़ रहती हैं कि तब तक न उठेंगे जब तक उनकी बात न मानी जायगी—इस रूठने को खटपाटी लेना कहते हैं)। सुसार = पाठान्तर वनार = रसोई।

अर्थ—लक्ष्मी पद्मावती को समझाने-बुझाने लगी और कहने लगी कि हे बहन ! रो-रो के मत मरो, तेरा पति जीता होगा। पानी पियो और हवा का सहारा लो अर्थात् साँस को न छोड़ो। जैसी मैं समुद्र की बेटी हूं उसी प्रकार तुम भी अब अपने को समुद्र की ही लड़की समझो। मैं तुम्हारे लिये रूठ जाऊँगी जिससे मेरे पिता समुद्र के जितने घाट हैं सबकी खोज करवायेंगे। मैं जिसे मिल जाती हूं उसका बड़ा भाग्य हो जाता है, राज-पाट और सौभाग्य उसे प्राप्त हो जाते हैं। इस प्रकार अनेक प्रकार से समझा-बुझाकर पद्मावती को लेकर वह मंदिर (घर) में चली गई। वहाँ पर अच्छे भोजन तैयार थे, पर पद्मावती भोजन नहीं करती। कवि कहता है कि जिसे अपने पति का वियोग है उसे क्या भूख लग सकती है और वह क्या सो सकती है ? पद्मावती ने

कहा मेरा जी तो मेरे पति ने ले रखा है, यदि तुम चाहती हो कि मैं भोजन करूँ तो पति का दर्शन करवाओ।

लक्ष्मी ने समुद्र के पास जाकर सारी बातें बता कर बड़ी विनती की, तब समुद्र ने कहा कि रत्नसेन हमारे हृदय के भीतर ही है, कल ला के मिला दूँगा।

[ ४०४ ]

राजा जाइ तहाँ बहि लागा। जहाँ न कोइ सँदेसी कागा॥
तहाँ एक परबत हा टूँगा। जहवाँ सब कपूर औ मूँगा॥
तेहि चढ़ि हेरा कोइ न साथा। दरब सैंति कछु लाग न हाथा॥
अहा जो रावन रैनि बसेरा। गा हेराइ, कोइ मिलै न हेरा॥
धाह मेलि कै राजा रोवा। केइँ चितउर कर राज बिछोवा॥
कहाँ मोर सब दरब भँडारू। कहाँ मोर सब कटक खँधारू॥
कहाँ मोर तुरग बालका बली। कहाँ मोर हस्ती सिंगली॥
कहँ रानी पदुमावति, जीउ बसत तेहि पाँह।
मोर मोर कै खोएउँ, भूलेउँ गरब मनाँह॥ ४०४॥

शब्दार्थ—टूँगा = टीला। हेरा = देखा। धाह = पुकार। खँधारु = स्कंधावार, तम्बू। बालका = बलख बुखारा वाले। मनाँह = मन में।

अर्थ—राजा बह कर वहाँ जा के लगा जहाँ संदेशा ले जाने के लिए कोई कौवा भी न था। वहाँ एक पहाड़ का टीला था जहाँ कपूर और मूँगा ही थे। उस पर चढ़ कर उसने चारों ओर देखा पर कोई साथी न दिखाई पड़ा, सब कुछ खो गया कुछ भी खोजने पर नहीं मिलता। राजा बड़े जोर से चिल्लाकर रोने लगा कि किसने उसको चित्तौड़ के राज्य से अलग कर दिया। मेरा सब धन और कोष आदि अब कहाँ हैं, मेरी सारी सेना और तम्बू आदि कहाँ हैं? मेरे बलख बुखारे वाले बड़े घोड़े कहाँ हैं? मेरे सिंहल वाले हाथी कहाँ गये? मेरी रानी पद्मावती कहाँ है जिसके पास ही मेरा जीव है? मैंने तो मेरा-मेरा कह कर अपना सब खो दिया, मन में बड़ा घमण्ड रखे हुए रह गया।

[ ४०५ ]

चंपा भँवरा कर जो मेरावा। माँगै राजा बेगि न पावा॥
पदुमनि चाह जहाँ सुनि पावौं। परौं आगि औ पानि धँसावौं॥

टूटौं परबत मेरु पहारा। चढ़ौं सरग औ परौं पतारा॥
कहँ अस गुरु पावौं उपदेसी। अगम पंथ को होइ सँदेसी॥
परेउँ आइ तेहि समुँद अथाहा। जहवाँ वार पार, नहिं थाहा॥
सीता हरन राम संग्रामा। हनिवँत मिला मिली तब रामा॥
मोहि न कोइ, केहि बिनवौं रोई। को बर बाँधि गवेंसी होई॥
भँवर जो पावा कँवल कहँ, मन चिंता बहु केलि।
आइ परा कोइ हस्ति तहँ, चूरि गएउ सब बेलि॥ ४०५॥

शब्दार्थ—मेरावा = मेल। चाह = खबर। धँसावों = घुस जाऊँ। हनिवँत = हनुमान्। रामा = सीता। गवेंसी = गवेषणा (खोज) करने वाला। केलि = खेल, आनन्द, क्रीड़ा। बेलि = लता।

अर्थ—चम्पा और भँवरे के मेल को राजा माँगता था, पर वह उसे शीघ्र नहीं मिलता अर्थात् वह पद्मावती से मिलना चाहता था पर यह शीघ्र सम्भव न था। वह अपने आप कहता था कि यदि पद्मावती की खबर पा जाऊँ तो अग्नि में पड़ सकता हूँ और पानी में प्रवेश कर सकता हूँ, सुमेरु पर्वत पर टूट पड़ सकता हूँ, स्वर्ग पर चढूँगा और पाताल में कूदूँगा। ऐसा उपदेश करने वाला गुरु कहाँ पाऊँ जो अगम पन्थ में संदेशा लावे। आज तो मैं ऐसे अथाह समुद्र में पड़ा हूँ कि जिसका कोई वार-पार ही नहीं दिखाई पड़ता। सीता के हरण पर ही तो राम-रावण का संग्राम हुआ था, सीता तो तभी मिली थी जब राम को हनुमान् मिले थे। मेरे पास तो कोई नहीं है, किसके पास रोकर विनती करूँ, कौन जाकर उसकी खोज करेगा? जब भंवरे को कमल मिला तो अनेक प्रकार के आनन्दों की ही चिन्ता रही। इतने में कोई हाथी आया और उसने कमल की सारी बेल को चूर-चूर कर दिया अर्थात् पद्मावती के संयोग की अवस्था में मैं आनन्द मनाता था, इतने में दुर्भाग्य ने आकर सब कुछ नष्ट कर दिया।

[ ४०६ ]

कासुँ पुकारौं, का पहँ जाऊँ। गाढ़ें मीत होइ एहि ठाऊँ॥
को यह समुँद मँथै बर बाढ़ा। को मथि रतन पदारथ काढ़ा॥
कहाँ सो ब्रह्मा बिस्नु महेसू। कहाँ सो मेरु, कहाँ सो सेसू॥

कहा मेरा जी तो मेरे पति ने ले रखा है, यदि तुम चाहती हो कि मैं भोजन करूँ तो पति का दर्शन करवाओ।

लक्ष्मी ने समुद्र के पास जाकर सारी बातें बता कर बड़ी विनती की, तब समुद्र ने कहा कि रत्नसेन हमारे हृदय के भीतर ही है, कल ला के मिला दूँगा।

[ ४०४ ]

राजा जाइ तहाँ बहि लागा। जहाँ न कोइ सँदेसी कागा ॥
तहाँ एक परबत हा डूँगा। जहवाँ सब कपूर औ मूँगा ॥
तेहि चढ़ि हेरा कोइ न साथा। दरब सैंति कछु लाग न हाथा ॥
अहा जो रावन रैनि बसेरा। गा हेराइ, कोइ मिलै न हेरा ॥
धाह मेलि कै राजा रोवा। केइँ चितउर कर राज बिछोवा ॥
कहाँ मोर सब दरब भँडारू। कहाँ मोर सब कटक खँधारू ॥
कहाँ मोर तुरग बालका बली। कहाँ मोर हस्ती सिंगली ॥
कहँ रानी पदुमावति, जीउ बसत तेहि पाँह।
मोर मोर कै खोएउँ, भूलेउँ गरब मनाँह ॥ ४०४ ॥

शब्दार्थ—डूँगा = टीला। हेरा = देखा। धाह = पुकार। खँधारू = स्कंधावार, तम्बू। बालका = बलख बुखारा वाले। मनाँह = मन में।

अर्थ—राजा बह कर वहाँ जा के लगा जहाँ संदेशा ले जाने के लिए कोई कौवा भी न था। वहाँ एक पहाड़ का टीला था जहाँ कपूर और मूँगा ही थे। उस पर चढ़ कर उसने चारों ओर देखा पर कोई साथी न दिखाई पड़ा, सब कुछ खो गया कुछ भी खोजने पर नहीं मिलता। राजा बड़े जोर से चिल्लाकर रोने लगा कि किसने उसको चित्तौड़ के राज्य से अलग कर दिया। मेरा सब धन और कोष आदि अब कहाँ हैं. मेरी सारी सेना और तम्बू आदि कहाँ हैं? मेरे बलख बुखारे वाले बड़े घोड़े कहाँ हैं? मेरे सिंहल वाले हाथी कहाँ गये? मेरी रानी पद्मावती कहाँ है जिसके पास ही मेरा जीव है? मैंने तो मेरा-मेरा कह कर अपना सब खो दिया, मन में बड़ा घमण्ड रखे हुए रह गया।

[ ४०५ ]

चंपा भँवरा कर जो मेरावा। माँगै राजा बेगि न पावा ॥
पदुमिनि चाह जहाँ सुनि पावौं। परौं आगि औ पानि धँसावौं ॥

टूटौं परबत मेरु पहारा। चढ़ौं सरग औ परौं पतारा॥
कहँ अस गुरु पावौं उपदेसी। अगम पंथ को होइ सँदेसी॥
परेउँ आइ तेहि समुँद अथाहा। जहवाँ वार पार, नहिं थाहा॥
सीता हरन राम संग्रामा। हनिवँत मिला मिली तब रामा॥
मोहिं न कोइ, केहि बिनवौं रोई। को बर बाँधि गवेंसी होई॥
भँवर जो पावा कँवल कहँ, मन चिंता बहु केलि।
आइ परा कोइ हस्ति तहँ, चूरि गएउ सब बेलि॥ ४०५॥

शब्दार्थ—मेरावा = मेल। चाह = खबर। धँसावों = घुस जाऊँ। हनिवँत = हनुमान्। रामा = सीता। गवेंसी = गवेषणा (खोज) करने वाला। केलि = खेल, आनन्द, क्रीड़ा। बेलि = लता।

अर्थ—चम्पा और भँवरे के मेल को राजा माँगता था, पर वह उसे शीघ्र नहीं मिलता अर्थात् वह पद्मावती से मिलना चाहता था पर यह शीघ्र सम्भव न था। वह अपने आप कहता था कि यदि पद्मावती की खबर पा जाऊँ तो अग्नि में पड़ सकता हूँ और पानी में प्रवेश कर सकता हूँ, सुमेरु पर्वत पर टूट पड़ सकता हूँ, स्वर्ग पर चढ़ूँगा और पाताल में कूदूँगा। ऐसा उपदेश करने वाला गुरु कहाँ पाऊँ जो अगम पन्थ में संदेशा लावे। आज तो मैं ऐसे अथाह समुद्र में पड़ा हूँ कि जिसका कोई वार-पार ही नहीं दिखाई पड़ता। सीता के हरण पर ही तो राम-रावण का संग्राम हुआ था, सीता तो तभी मिली थी जब राम को हनुमान् मिले थे। मेरे पास तो कोई नहीं है, किसके पास रोकर विनती करूँ, कौन जाकर उसकी खोज करेगा? जब भंवरे को कमल मिला तो अनेक प्रकार के आनन्दों की ही चिन्ता रही। इतने में कोई हाथी आया और उसने कमल की सारी बेल को चूर-चूर कर दिया अर्थात् पद्मावती के संयोग की अवस्था में मैं आनन्द मनाता था, इतने में दुर्भाग्य ने आकर सब कुछ नष्ट कर दिया।

[ ४०६ ]

कासुँ पुकारौं, का पहँ जाऊँ। गाढ़ें मीत होइ एहि ठाऊँ॥
को यह समुँद मँथै बर बाढ़ा। को मथि रतन पदारथ काढ़ा॥
कहाँ सो ब्रह्मा बिस्नु महेसू। कहाँ सो मेरु, कहाँ सो सेसू॥

को अस साज मेरावै आनी। बासुकि बँध, सुमेरु मथानी॥
को दधि मथै, समुँद जस मँथा। करनी सार न कथनी कथा॥
जौं लगि मथै न कोइ दै जीऊ। सूधी अँगुरी न निकसै घीऊ॥
लै नग मोर समुँद भा बटा। गाढ परै तौ पै परगटा॥
लीलि रहा अब ढील, होइ पेट पदारथ मेलि।
को उजियार करै जग, झापाँ चाँद उघेलि॥४०६॥

शब्दार्थ—गाढ़े = कठिनाई। नग = रत्न। बटा = राही। करनी = कर्म, कार्य। कथनी = कहना, बातें।

अर्थ—रत्नसेन कह रहा है कि मैं किसे पुकारूँ और किसके पास जाऊँ। विपत्ति पड़ने पर कोई मित्र यहाँ पर नहीं है। कौन इस बहुत बढ़े हुए समुद्र का मन्थन करे और मथ कर उसमें से रत्न निकाले। समुद्र मन्थन के लिए वह ब्रह्मा, विष्णु और महेश कहाँ मिलेंगे। सुमेरु पहाड़, शेषनाग आदि कहाँ मिलेंगे, जिन सब ने मिलकर समुद्र मन्थन किया था। कौन सारे समुद्र को दही की भांति मथेगा। कार्य ही सार वस्तु है। बातें कुछ नहीं हैं। जब तक जान देकर कोई समुद्र मन्थन नहीं करेगा कोई काम नहीं हो सकता, सीधी उंगली से तो घी भी नहीं निकलता। समुद्र मेरा हीरा (पद्मावती) ले कर चल पड़ा है, बहुत दबाव पड़े तभी वह प्रकट कर सकता है। वह अपने पेट के भीतर इनको निगलकर ढीला पड़ा है कौन है। जो छिपे हुए चन्द्रमा को निकालकर प्रकाश करवा सकता है।

अलङ्कार—दृष्टान्त, रूपक।

[ ४०७ ]

ऐ गोसाइँ तू सिरजनहारू। तूँ सिरिजा यहु समुँद अपारू॥
तूँ जल ऊपर धरती राखे। जगत भार लै भार न भाखे॥
तूँ यह गँगन अंतरिख थाँभा। जहाँ न टेक, न थून्ही, खाँभा॥
चाँद सुरुज औ नखतन्ह पाँती। तोरे डर धावहिं दिन राती॥
पानी पवन अगिनि औ माँटी। सब की पीठि तोरि है साँटी॥
सो अमुरुख बाउर औ अंधा। तोहि छाँड़ि औरहि चित्त बंधा॥
घट घट जगत तोरि है डीठी। मोहिं आपनि कछु सूझ न पीठी॥

पौन हुतें भा पानी, पानि हुतें भै आगि।
आगि हुतें भै माँटी, गोरख धंधै लागि॥ ४०७॥

शब्दार्थ—सिरजन हारू = सृष्टिकर्ता। थाँभा = टिकाया। थून्ही = छप्पर को टेकने वाली लकड़ी की बल्ली। साँटी = छड़ी-शासन। अमुरुख = मूर्ख। हुतें = से। गोरखधन्धा = प्रपंचात्मक, संसार।

अर्थ—रत्नसेन कहने लगा कि हे ईश्वर! तू ही विश्व का कर्ता है, तू ने ही इस अपार सागर को भी बनाया है। तुम्हीं ने जल के ऊपर पृथ्वी बना रखी है, संसार का भार लेते हुए भी भार को कुछ नहीं समझता। तू ने इस आकाश को टेक रखा है. जहाँ पर और कोई भी टेकने का आधार नहीं है। चन्द्रमा, सूर्य और नक्षत्रों की पंक्तियाँ सब तेरे ही डर से दिन रात दौड़ लगाती रहती हैं। जल, पवन, अग्नि, पृथ्वी सब की पीठ पर तेरी ही छड़ी है और सभी तेरे शासन के अन्दर हैं। इसलिए वह तो मूर्ख, बावला और अन्धा है, जो तुझको छोड़ कर अन्यत्र अपना चित्त लगाये है। संसार के प्रत्येक जीव पर तेरी दृष्टि है, पर मुझे तो अपने पीछे कुछ नहीं दिखाई पड़ रहा है। तुमने पवन से पानी बनाया, फिर अग्नि बनाई, फिर पृथ्वी बनाई और इसी प्रकार सारे प्रपंचात्मक संसार की रचना कर डाली।

[ ४०८ ]

तूँ जिउ तन मेरवसि दै आऊ। तुँही बिछोवसि, करसि मेराऊ॥
चौदह भुवन सो तोरें हाथा। जहँ लगि बिछुरे औ एक साथा॥
सब कर मरम भेद तोहि पाहाँ। रोम जमावसि टूटै तहाँ॥
जानसि सबै अवस्था मोरी। जस बिछुरी सारस कै जोरी॥
एक मुए सँग मरै सो दूजी। रहा न जाइ, आइ सब पूजी॥
झूरत तपत दगधि का मरऊँ। कलपौं सीस बेगि निस्तरऊँ॥
मरौं सो लै पदुमावति नाऊँ। तूँ करतार करसि एक ठाँऊ॥
दुख जो पिरीतम भेंटि कै, सुख जो न सोवै कोइ।
इहै ठाउँ मन डरपै, मिलि न बिछोवा होइ॥ ४०८॥

शब्दार्थ—मेरवसि = मिलाता है। आऊ = आयु। बिछोवसि = वियोग कराता है। झूरत = सूखना, दुःख पाना। कलपौं = काटूँ।

अर्थ—रत्नसेन ईश्वर के सम्बन्ध में कहता जा रहा है—हे ईश्वर ! तुम ही आयु देकर शरीर में जीव का मेल कराते हो, तुम ही वियोग और मिलाप के कराने वाले हो। चौदहों भुवन तुम्हारे ही हाथ में हैं। जितने भी जीव मिले या बिछुड़े हुए हैं, सब का रहस्य जानने वाले तुम ही हो। एक रोम भी जहाँ टूटता है, तुम वहाँ नया उत्पन्न कर देते हो। तुम मेरी सारी हालत जानते हो। जैसे सारस की जोड़ी बिछुड़ती है तो सारस को दुःख होता है, वैसी ही दशा मेरी अब है। एक की मृत्यु के साथ दूसरा भी मर जाता है, इसलिए बिछुड़ने पर अब रहा नहीं जाता, मेरी आयु अब समाप्त हो गयी है। दुःख पाते हुए, जलते हुए मरूँगा, इसलिए अपने सिर को काट डालूँगा, ताकि शीघ्र ही निस्तार हो जाय। पद्मावती का नाम लेकर मर जाऊँगा। हे ईश्वर ! तुम हम दोनों को मरने के उपरान्त एक कर दो। मैंने अपनी प्रियतमा (पद्मावती) से अनेक कष्ट सहने के पश्चात् भेंट तो की, पर सुख से सो न सका, इसलिए इस जगह मरते हुए भी मुझे शंका है कि कहीं मरने के उपरान्त भी मैं मिल कर बिछुड़ न जाऊँ।

[ ४०६ ]

कहि कै उठा समुँद महँ आवा। काढ़ि कटार गरे लै लावा।
कहा समुंद्र पाप अब घटा। बाँभन रूप आइ परगटा॥
तिलक दुवादस मस्तक दीन्हे। हाथ कनक बैसाखी लीन्हे॥
मुंद्रा कान, जनेऊ काँधे। कनक पत्र धोती तर बाँधे॥
पायन्ह कनक जराऊ पाऊँ। दीन्ह असीस आइ तेहि ठाऊँ॥
कहु रे कुँवर मोसौं एक बाता। काहे लागि करसि अपघाता॥
परिहँसि मरसि कि कौनेहु लाजा। आपन जीउ देसि केहि काजा॥
जनि कटार कँठ लावसि, समुझि देखु जिउ आपु।
सकति हँकारि जीव जो काढ़ै, महा दोख औ पापु॥ ४०६॥

शब्दार्थ—काढ़ि = निकाल कर। गरे = गले। बैसाखी = लाठी। तर = नीचे। अपघाता = आत्मघात। परिहँसि = ईर्ष्या। जनि = मत। लावसि = लगावो। सकति = शक्ति। हँकारि = बुलाकर- स्वेच्छा से।

अर्थ—ऐसा कह कर रत्नसेन उठा और समुद्र के किनारे आ गया, कटार

निकाल कर उसने अपनी गर्दन पर रखा। ऐसा देख कर समुद्र ने अपने आप कहा कि अब तो पाप की घटना होनी चाह रही है और ऐसा सोचकर ब्राह्मण रूप धारण कर सामने आकर प्रकट हो गया। उसके मस्तक पर लम्बा तिलक था और हाथ में सोने का डण्डा था। कान में शीशे की मुद्रा और कन्धे पर यज्ञोपवीत तथा धोती के नीचे स्वर्णपत्र बाँधे हुए था। पैरों में सुनहला जड़ाऊ गहना पहने था, इस वेश में उसने वहाँ पर आकर आशीर्वाद दिया। समुद्र ने पूछा—हे राजकुमार! तुम मुझ से एक बात बताओ, क्यों तू आत्मघात कर रहा है। किसी की ईर्ष्या से मर रहे हो, या तुम्हें कोई लज्जा की बात हो गयी है, तुम अपना जीव किस कार्य के लिए दे रहे हो। कटार को गर्दन पर मत लगाओ, पहले अपने जी से सोच कर देख समझ लो। शक्ति के रहते हुए जो स्वेच्छा से अपना जीव देता है, उसे बड़ा दोष और पाप लगता है।

[ ४१० ]

को तुम्ह उतर देइ हो पाँड़े। सो बोलै जाकर जिय भाँड़े।
जंबू दीप केर हौं राजा। सो मैं कीन्ह जो कर तन छाजा॥
सिंघल दीप राज घर बारी। सो मैं जाइ बियाही नारी॥
लाख बोहित तेइँ दाइज भरे। नग अमोल औ सब निरमरे॥
रतन पदारथ मानिक मोंती। हती न काहु के संपति ओती॥
बहल, घोर, हस्ती सिंघली। औ सँग कुँवर लाख दुइ बली॥
तेहि गोहने सिंघल पदुमिनी। एक सों एक चाहि रूपमनी॥
पदुमावति संसार रूपमनि, कहँ लगि कहौं दुहेल।
एत सब आइ समुँद महँ खोएउँ, हौं का जियौं अकेल॥ ४१०॥

शब्दार्थ—पाँड़े = पंडित जी। भाँड़े = घट में, हृदय में। केर = का। छाजा = शोभा पाना। बारी = बाला (स्त्री)। बोहित = जहाज। ओती = उतनी। गोहने = साथ। चाहि = बढ़ कर। दुहेल = दुःख।

अर्थ—रत्नसेन ने कहा कि हे पंडित जी! तुम कौन हो, जो इस प्रकार का उत्तर दे रहे हो, वही बोल सकता है, जिसके हृदय में उसी प्रकार का कष्ट हो। मैं जम्बू द्वीप का राजा हूँ, मैंने वह काम किया, जो मुझे शोभा

नहीं देता था। सिंहल द्वीप के राज घराने की लड़की से जाकर मैंने विवाह किया। राजा ने एक लाख जहाज दहेज़ में दिये, अनेक रत्न और अमूल्य तथा निर्मल मोती, जवाहरात, माणिक्य आदि इतने दिये, जितने कि किसी के पास हो नहीं सकते। बैल, घोड़े, हाथी और साथ में दो लाख राजकुमार जिनके साथ सिंहल की पद्मिनियाँ भी जो कि एक से एक बढ़ कर सुन्दरियाँ थीं। और मेरी पद्मावती तो सारे संसार भर से अधिक सुन्दरी थी, कहाँ तक अपने दुःख का वर्णन करूँ। यह सब मैंने आकर समुद्र में खो दिया, अतः अब मैं अकेला क्या जिऊँ।

[ ४११ ]

हँसा समुँद, होइ उठा अँजोरा। जग जो बूड़ सब कहि-कहि मोरा॥
तोर होत तोहि परत न बेरा। बूझि बिचारि तुँही केहि केरा॥
हाथ मरोरि धुनै सिर माँखी। पै तोहि हिएँ न उघरी आँखी॥
बहुतन्ह ऐस रोइ सिर मारा। हाथ न रहा झूठ संसारा॥
जौं पै जगत होति थिर माया। सैंतत सिद्ध न पावत राया॥
बड़ेन्ह जौं न सैंत औ गाड़ा। देखा भार चूँवि कै छाड़ा॥
पानी कै पानी महँ गई। जौं तू बचा कुसल सब भई॥
जाकर दीन्ह कया जिउ, लीन्ह चाह जब भाव।
धन लछिमी सब ताकरि, लेइ तौ का पछिताव॥ ४११॥

शब्दार्थ—अँजोरा = उजेला। बेरा = बेड़ा। सैंतत = इकट्ठा करता। राया = राजा। सैंत = इकट्ठा किया। चूँवि = चूम कर, छू कर।

अर्थ—समुद्र हँस पड़ा, उसके हँसने से प्रकाश हो उठा। उसने कहा कि संसार में लोग जिसे अपना कहते हैं, वह सभी डूब जाता है। यदि वह सब तेरा होता तो बेड़ा न डूबता, तुम्हीं समझ-बूझ कर विचार करो, भला कौन चीज किसकी है? तू हाथ मल कर सिर धुन रहा है, पर तेरे हृदय की आँख अभी तक न खुली। इसी प्रकार और बहुत से लोगों ने रो-रो कर सिर पीट डाला, पर उनके हाथ कुछ न रह सका—क्योंकि संसार तो झूठा है। यदि संसार में माया स्थिर होती, तो हे राजा! क्या तू संचित करते

हुए सिद्ध पद न पा जाता ? बड़े लोगों ने न तो धन को एकत्रित किया और न उसे गाड़ रक्खा, क्योंकि उन्होंने देखा कि धन तो भार स्वरूप है, इसीलिए उन्होंने इसे चूम कर ही छोड़ दिया। तेरी सम्पत्ति तो पानी की ही थी और पानी में ही चली गयी, यह बड़े कुशल की बात हुई कि तू बच गया।

जिस ईश्वर का दिया हुआ यह शरीर और जीव है, वह उसे जब लेना चाहता है ले लेता है, यह धन और लक्ष्मी सब उसी के हैं, यदि वह इन्हें ले ले, तो इसमें पश्चात्ताप की कौन सी बात है ?

[ ४१२ ]

अनु पाँडे फुरि कही कहानी। जौं पावौं पदुमावति रानी।
तपि कै पाव, उभरि कर फूला। पुनि तेहो खोइ सोइ पँथ भूला।।
पुरुख न आपन नारि सराहा। मुएँ गएँ सँवरा पै चाहा।।
कहँ असि नारि जगत महँ होई। कहँ अस जिवन मिलन सुख सोई।।
कहँ अस रहस भोग अब करना। ऐसे जियन चाहि भल मरना।।
जहँ अस बरँ समुँद नग दिया। तहँ किमि जीव आछै मरजिया।।
जस एइँ समुँद दीन्ह दुख मोकाँ। दै हत्या झगरौं सिवलोकाँ।।
का मैं एहिक नसावा, का एइँ सँवरा दाउ।
जाइ सरग पर होइहि, एकर मोर नियाउ।। ४१२।।

शब्दार्थ—अनु = फिर। फुरि = सच। रहस = रास, आनन्द। चाहि = अपेक्षा, से। एहिक = इसका। नसावा = बिगाड़ा। सँवरा = याद किया। दाउ = दाँव, बदला लेने का अवसर। एकर = इसका। नियाउ = न्याय।

अर्थ—राजा रत्नसेन ने जबाब दिया कि हे पांडे जी ! तुमने बात ठीक ही कही है, यदि मैं अपनी पद्मावती रानी को पा जाऊँ—अर्थात् यदि पद्मावती अकेली मुझे मिल जाय, तो मैं तेरी सारी बातें ठीक मान लूँ—धन-संपत्ति के नष्ट होने की परवाह न करूँ। मैंने बड़ी तपस्या करके अपनी उम्र भर के परिश्रम के परिणाम स्वरूप उस पद्मावती रूपी फूल को पाया था, फिर मैंने उसे खो दिया और सो कर पथ-भ्रष्ट हो गया। पुरुष अपनी पत्नी की बड़ाई नहीं करता, पर मर जाने पर या चले जाने पर वह उसे

स्मरण करता है। पद्मावती जैसी स्त्री संसार में कहाँ हो सकती है, फिर इस प्रकार का जीवन के मिलन का सुख कहाँ हो सकता है ? ऐसे आनन्द और भोग को हम कहाँ कर सकते हैं; तो फिर ऐसे जीवन की अपेक्षा तो मरना ही अच्छा है। जहाँ इस समुद्र में ऐसा रत्न-दीपक जल रहा है, अर्थात् जिसके भीतर पद्मावती डूबी है, वहाँ फिर गोताखोर (रत्नसेन) क्यों जीव रखेगा, अर्थात् मैं क्यों न गोताखोर बन कर मरूँ और उसे पाऊँ। जिस प्रकार इस समुद्र ने मुझे दुःख दिया, उसी प्रकार मैं भी इस पर हत्या का दोष डाल कर ईश्वर के यहाँ न्याय के लिए झगड़ा करूंगा। मैंने भला इसका क्या बिगाड़ा था, इसने कौन से बैर का बदला निकालने का अवसर निकाला है, अब तो स्वर्ग में ही जाकर इसका और मेरा न्याय होगा।

[ ४१३ ]

जौं तूँ मुवा, कस रोवसि खरा। न मुवा मरै न रोवै मरा॥
जौं मर भया औ छाँड़ेसि माया। बहुरि न करै मरन कै दाया॥
जौं मर भया न बूड़ै नीरा। बहत जाइ लागै पै तीरा॥
तहूँ एक बाउर मैं भेंटा। जैस राम, दसरथ कर बेटा॥
ओहू मेहरी कर परा बिछोवा। एहि समुँद्र महँ फिरि फिरि रोवा॥
पुनि जौं राम खोइ भा मरा। तब एक अंत भएउ मिलि तरा॥
तस मर होहि मूँदु अब आँखी। लावौं तीर, टेकु बैसाखी॥
बाउर अंध पेम कर लुबुधा, सुनत ओहि भा बाट।
निमिखि एक महँ लेइ गा, पदुमावति जेहि घाट॥ ४१३॥

शब्दार्थ—मुवा = मरा। खरा = खड़ा हो कर। दाया = दाँव, आयोजन। मेहरी = पत्नी। बिछोवा = विरह। लुबुधा = लालच में पड़ा हुआ। निमिख = पल।

अर्थ—समुद्र कहने लगा कि यदि तू मर चुका तो खड़ा हुआ क्या रो रहा है, क्योंकि न तो मृत व्यक्ति फिर मरता है और न यह रोता है। यदि तू मर गया और तूने संसार के माया-मोह को छोड़ दिया है, तो फिर मरने का आयोजन न करना। यदि तू मरा हुआ हो गया तो पानी में डूबेगा नहीं, बहते चले जाओगे और कहीं किनारे पर लग जाओगे। तू भी मुझे एक

पागल ही मिला है, जैसे कि दशरथ का बेटा राम था। उसे भी अपनी पत्नी का विरह हो गया, और वह भी इसी समुद्र में फिर-फिर कर रो रहा था। फिर जब राम अपने को खो कर जीवन-मृत हो गया, तब उसके दुःख का अन्त हो गया और वह फिर से मिल कर तर गया। उसी प्रकार तू भी जीवन-मृत हो जा, इस समय तो तू अपनी आँखें बन्द कर ले, मेरी लाठी को पकड़, मैं तुम्हें एक किनारे पहुँचाऊँ। राजा बावला और प्रेम के लालच में लीन था, उसकी बातें सुनते ही उसी के बताये रास्ते पर हो गया और वह समुद्र एक पल में ही उसे उस घाट पर ले गया, जहाँ पद्मावती थी।

[ ४१४ ]

पदुमावतिहि सोग तस बीता। जस असोग बीरौ तर सीता॥
कनक लता दुइ नारँग फरी। तेहि के भार उठि सकै न खरी॥
तेहि चढ़ि अलक भुअंगिनि डसा। सिर पर रहै हिएँ परगसा॥
रही भ्रिनाल टेंक दुख दाधी। आधा कँवल भई, ससि आधी॥
नलिनि खंड दुइ तस करिहाऊँ। रोमावलि बिछोउ कर भाऊ॥
रहै टूटि जस कंचन तागू। कहँ पिउ मिलै, जो देइ सोहागू॥
पान न खंडै करै उपवासू। सूख फूल, तन रहा सुबासू॥
गँगन धरति जल पूरि चखु, बूड़त होइ निसाँसु।
पिउ पिउ चात्रिक ज्यों ररै, मरै सेवाति पियासु॥ ४१४॥

शब्दार्थ—सोग = शोक, दुःख। बीरौ = बिरवा, वृक्ष। नारँग = नारंगी। अलक = बाल। भुअंगिनि = नागिनी। भ्रिनाल = मृणाल, कमल नाल। करिहाऊँ = कमर। पान = पत्ता। खंडै = तोड़ती। पूरि = भर गया। ररै = रटै।

अर्थ—पद्मावती के विरह का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि पद्मावती का दुःख इस प्रकार बीत रहा था जैसे अशोक के वृक्ष के नीचे सीता की दशा थी। उसका शरीर स्वर्ण की लता के समान दुबला-पतला था, उसमें उसके स्तन ऐसे लगते थे जैसे लता में दो नारङ्गियाँ फली हैं और उन्हीं के भार से वह उठ कर खड़ी नहीं हो सकती। फिर उसे वेणी रूपी नागिनी चढ़ कर डस रही थी, सिर तक चढ़ी थी और हृदय में भी प्रकट हुई

थी, अर्थात् सिर से हृदय तक फैली थी। कमल की नाल पकड़कर दुःख से जली हुई वह बैठी थी, आधे कमल या आधे चन्द्रमा के समान वह हो रही थी। उसकी कमर इतनी पतली और नाजुक लग रही थी जैसे कमल की नाल तोड़ देने पर अपने रेशे से जुड़ी रहती है। उसकी रोमावलियाँ विरह के भाव को स्पष्ट कर रही थीं। वह ऐसी पड़ी थी जैसे सोने का तागा टूट कर पड़ा हो, पति कहाँ मिले जो सोहाग (सौभाग्य) दे। पत्ता भी नहीं तोड़ती थी, व्रत कर रही थी, सूखे फूल के समान उसके शरीर में कुछ महक मात्र ही रह गयी थी। उसकी आँखों से जल इतना गिर रहा था कि आकाश और धरती जल से भर गये थे। उसमें वह डूब रही थी और उसकी साँस समाप्त हो रही थी, चातक की भांति पी-पी रट रही थी, स्वाति की प्यास से मर रही थी।

[ ४१५ ]

लखमिनि चंचल नारि परेवा। जेहि सत देखु छरै कै सेवा॥
रतनसेनि आवा जेहि घाटा। अगुमन जाइ बैठ तेहि बाटा॥
औ भै पदुमावति के रूपा। कीन्हेसि छाँह, जरै जनि धूपा॥
देखि सो कँवल भँवर मन धावा। साँस लीन्ह, पै बास न पावा॥
निरखत आई लखमिनी डीठी। रतनसेनि तब दीन्ही पाठी॥
जौं भलि होति लखमिनी नारी। तजि महेस कत होत भिखारी॥
पुनि फिरि धनि आगे भ रोई। पुरुख पीठि कस देखि बिछोई॥
हौं पदुमावति रानी, रतनसेनि तूँ पीउ।
आनि समुँद महँ छाँड़े, अब रे देब मैं जीउ॥ ४१५॥

शब्दार्थ—परेवा = पक्षी। छरै = छलती है। अगुमन = पहले ही। जनि = न। निरखत = देखते हुए। धनि = स्त्री।

अर्थ—लक्ष्मी चंचल स्त्री होती है, पक्षी के समान उड़कर एक जगह से दूसरी जगह पहुंचने वाली होती है। जिसमें सत्य देखती है, सेवा करके उसे छलती है। रत्नसेन जिस घाट पर आया था आगे से उसी के रास्ते में जाकर बैठ गयी। वह पद्मावती के रूप की हो गयी, ऐसी छाया कर दी कि धूप की जलन निकल गयी। उस कमल को देखकर भौंरे रूपी रत्नसेन का मन

दौड़ पड़ा, उसने साँस लिया पर उसे पद्‌मिनी की सुगन्ध उसमें न मिली। लक्ष्मी उसे देखती हुई दिखाई पड़ी पर उसने उसकी ओर पीठ कर ली। उसने कहा कि यदि लक्ष्मी नारी ही अच्छी होती तो उसे छोड़कर शंकर जी भिखारी क्यों हो जाते। फिर वह स्त्री (लक्ष्मी) आगे होकर रोने लगी कि हे पुरुष, मुझ बिछोही को तुम पीठ क्यों दे रहे हो? मैं रानी पद्‌मावती हूं और तू मेरा पति रत्नसेन है, तूने लाकर मुझे समुद्र में छोड़ दिया अब तो तू मुझे जीव-दान कर।

[ ४१६ ]

अनु हौं सोइ भँवर औ भोजू। लेत फिरौं मालति कर खोजू॥
मालति नारि, भँवर अस पीऊ। कहँ तोहि बास रहै थिर जीऊ॥
तूँ को नारि करसि अस रोई। फूल सोइ पै बास न होई॥
हौं ओहि बास जीउ बलि देऊँ। और फूल कै बास न लेऊँ॥
भँवर जो सब फूलन्ह कर फेरा। बास न लेइ मालतिहि हेरा॥
जहाँ पाव मालति कर बासू। वारने जीउ देइ होइ दासू॥
कब वह बास पौन पहुँचावै। नव तन होइ पेट जिउ आवै॥
भँवर मालतिहि पै चहै, काँट न आवै डीठि।
सौंहे भाल छाय हिय, पै फिरि देइ न पीठि॥ ४१६॥

शब्दार्थ—हेरा = खोजता है। वारने = निछावर करता है। सौंहें = सामने। भाल = भाला, काँटा।

अर्थ—फिर राजा रत्नसेन ने उत्तर दिया—मैं तो उसी राजा भोज और भौंरे के समान हूं, और मालती का खोज करता हुआ फिर रहा हूं। मेरी स्त्री पद्‌मावती मालती की भांति है और उसका पीउ मैं भौंरे की भांति, फिर तेरी महक से मेरा जीव कैसे स्थिर हो सकता है। तू कौन सी स्त्री है जो इस प्रकार रुदन कर रही है, फूल तो वही है पर इसमें वह महक नहीं है। मैं तो उसी की सुगन्ध पर अपने जीव की बलि देता हूं और किसी फूल की सुगन्ध को नहीं लेता। भौंरा जो सब फूलों का चक्कर लगाता है और फूलों की सुगन्ध नहीं लेता, वह तो केवल मालती को खोजता है। जहाँ मालती की महक पाता है वहाँ सेवक होकर अपने जीव को निछावर कर देता है।

थी, अर्थात् सिर से हृदय तक फैली थी। कमल की नाल पकड़कर दुःख से जली हुई वह बैठी थी, आधे कमल या आधे चन्द्रमा के समान वह हो रही थी। उसकी कमर इतनी पतली और नाजुक लग रही थी जैसे कमल की नाल तोड़ देने पर अपने रेशे से जुड़ी रहती है। उसकी रोमावलियाँ विरह के भाव को स्पष्ट कर रही थीं। वह ऐसी पड़ी थी जैसे सोने का तागा टूट कर पड़ा हो, पति कहाँ मिले जो सोहाग (सौभाग्य) दे। पत्ता भी नहीं तोड़ती थी, व्रत कर रही थी, सूखे फूल के समान उसके शरीर में कुछ महक मात्र ही रह गयी थी। उसकी आँखों से जल इतना गिर रहा था कि आकाश और धरती जल से भर गये थे। उसमें वह डूब रही थी और उसकी साँस समाप्त हो रही थी, चातक की भांति पी-पी रट रही थी, स्वाति की प्यास से मर रही थी।

[ ४१५ ]

लखमिनि चंचल नारि परेवा। जेहि सत देखु छरै कै सेवा ॥
रतनसेनि आवा जेहि घाटा। अगुमन जाइ बैठ तेहि बाटा ॥
औ भै पदुमावति के रूपा। कीन्हेसि छाँह, जरै जनि धूपा ॥
देखि सो कँवल भँवर मन धावा। साँस लीन्ह, पै बास न पावा ॥
निरखत आई लखमिनी डीठी। रतनसेनि तब दीन्ही पीठी ॥
जौं भलि होति लखमिनी नारी। तजि महेस कत होत भिखारी ॥
पुनि फिरि धनि आगे भ रोई। पुरुख पीठि कस देखि बिछोई ॥
हौं पदुमावति रानी, रतनसेनि तूँ पीउ।
आनि समुँद महँ छाँड़े, अब रे देब मैं जीउ ॥ ४१५ ॥

शब्दार्थ—परेवा = पक्षी। छरै = छलती है। अगुमन = पहले ही। जनि = न। निरखत = देखते हुए। धनि = स्त्री।

अर्थ—लक्ष्मी चंचल स्त्री होती है, पक्षी के समान उड़कर एक जगह से दूसरी जगह पहुंचने वाली होती है। जिसमें सत्य देखती है, सेवा करके उसे छलती है। रत्नसेन जिस घाट पर आया था आगे से उसी के रास्ते में जाकर बैठ गयी। वह पद्मावती के रूप की हो गयी, ऐसी छाया कर दी कि धूप की जलन निकल गयी। उस कमल को देखकर भौंरे रूपी रत्नसेन का मन

दौड़ पड़ा, उसने साँस लिया पर उसे पद्मिनी की सुगन्ध उसमें न मिली। लक्ष्मी उसे देखती हुई दिखाई पड़ी पर उसने उसकी ओर पीठ कर ली। उसने कहा कि यदि लक्ष्मी नारी ही अच्छी होती तो उसे छोड़कर शंकर जी भिखारी क्यों हो जाते। फिर वह स्त्री (लक्ष्मी) आगे होकर रोने लगी कि हे पुरुष, मुझ बिछोही को तुम पीठ क्यों दे रहे हो ? मैं रानी पद्मावती हूं और तू मेरा पति रत्नसेन है, तूने लाकर मुझे समुद्र में छोड़ दिया अब तो तू मुझे जीव-दान कर।

[ ४१६ ]

अनु हौं सोइ भँवर औ भोजू। लेत फिरौं मालति कर खोजू॥
मालति नारि, भँवर अस पीऊ। कहँ तोहि बास रहै थिर जीऊ॥
तूँ को नारि करसि अस रोई। फूल सोइ पै बास न होई॥
हौं ओहि बास जीउ बलि देऊँ। औरु फूल कै बास न लेऊँ॥
भँवर जो सब फूलन्ह कर फेरा। बास न लेइ मालतिहि हेरा॥
जहाँ पाव मालति कर बासू। वारने जीउ देइ होइ दासू॥
कब वह बास पौन पहुँचावै। नव तन होइ पेट जिउ आवै॥
भँवर मालतिहि पै चहै, काँट न आवै डीठि।
सौंहे भाल छाय हिय, पै फिरि देइ न पीठि॥ ४१६॥

शब्दार्थ—हेरा = खोजता है। वारने = निछावर करता है। सौंहें = सामने। भाल = भाला, काँटा।

अर्थ—फिर राजा रत्नसेन ने उत्तर दिया—मैं तो उसी राजा भोज और भौंरे के समान हूं, और मालती का खोज करता हुआ फिर रहा हूं। मेरी स्त्री पद्मावती मालती की भांति है और उसका पीउ मैं भौंरे की भांति, फिर तेरी महक से मेरा जीव कैसे स्थिर हो सकता है। तू कौन सी स्त्री है जो इस प्रकार रुदन कर रही है, फूल तो वही है पर इसमें वह महक नहीं है। मैं तो उसी की सुगन्ध पर अपने जीव की बलि देता हूं और किसी फूल की सुगन्ध को नहीं लेता। भौंरा जो सब फूलों का चक्कर लगाता है और फूलों की सुगन्ध नहीं लेता, वह तो केवल मालती को खोजता है। जहाँ मालती की महक पाता है वहाँ सेवक होकर अपने जीव को निछावर कर देता है

हवा कब उस सुगन्ध को हम तक पहुंचावेगी कि मेरा नया शरीर होगा और मेरे पेट में जान आ जायेगी। भौंरा तो मालती ही को चाहता है, उसे उसका कांटा नहीं दिखाई पड़ता, उसके सामने ही मालती के कांटे का भाला छाया रहता है, उसे वह अपने सीने पर लेता है पर फिर कर पीठ नहीं देता।

[ ४१७ ]

तब हँसि बोली राजा आऊ। देखेउँ पुरखा तोर सति भाऊ॥
निस्चै भँवर मालतिहि आसा। लै गै पदुमावति के पासा॥
पीउ पानि कँवला जसि तपा। निकसा सूर समुँद महँ छपा॥
मैं पावा सो समुँद के घाटा। राजकुँवर मनि दिपै लिलटा॥
दसन दिपहिं जस हीरा जोती। नैन कचोर भरै जनु मोंती॥
भुजा लंक उर केहरि जीता। मूरति कान्ह देख गोपीता॥
जस नल तपत दामनहिं पूँछा। तस बिनु प्रान पिंड है छूँछा॥
जस तूँ पदिक पदारथ, तैस रतन तोहि जोग।
मिला भँवर मालति कहँ, करहुँ दोउ रस भोग॥ ४१७॥

शब्दार्थ—आऊ = आवो। छपा = छिपा हुआ। दिपै = चमकै। कचोर = कटोरा। दामनहिं = दमयन्ती। पदिक = मणि। पदारथ = जवाहरात।

अर्थ—तब लक्ष्मी बोली, हे राजा! आओ। हे पुरुष! मैं तो तेरा सत्य-भाव देख रही थी। निश्चय भौंरे (रत्नसेन) को मालती (पद्मावती) की ही आशा है। ऐसा कह कर वह राजा को पद्मावती के पास ले गयी। उसने कहा कि तपे हुए कमल की भांति अब तुम पानी पियो, अब समुद्र में छिपा हुआ सूर्य ( पद्मावती ) प्रकट हो गया है। मैंने इसे समुद्र के घाट पर पाया था, इस राजकुमारी का ललाट मणि की भांति चमक रहा था। इसके दाँत ऐसे चमकते थे जैसे हीरा की ज्योति और नैन रूपी कटोरे में मोती रूपी आँसू भरे थे। फिर भुजा, कमर और हृदय में सिंह को जीतने वाले राजा रत्नसेन को पद्मावती ने इस प्रकार देखा जैसे गोपियाँ कृष्ण को देखती थीं। जैसे तपे हुए नल ने दमयन्ती को पूछा था। उसी प्रकार उसका शरीर बिना प्राण के बिलकुल खाली था। लक्ष्मी ने पद्मावती से कहा कि जिस प्रकार तू मोती

और जवाहरात की भाँति है उसी प्रकार रत्नसेन भी रत्न है और तेरे योग्य है। अब तो भौंरा मालती से मिल गया अब तुम दोनों रस-भोग करो।

[ ४१८ ]

पदिक पदारथ खीन जो होती। सुनतहि रतन चढ़ी मुख जोती॥
जानहुँ सुरुज कीन्ह परगासू। दिन बहुरा, भा कँवल बिगासू॥
कँवल बिहँसि सुरुज मुख दरसा। सुरुज कँवल दिस्टि सों परसा॥
लोचन कँवल सिरीमुख सूरू। भए अतियन्त दुहुँन रसमूरू॥
मालति देखि भँवर गा भूली। भँवर देखि मालति मन फूली॥
डीठा दरसन, भए एक पासा। वह ओहि के, वह ओहि के बासा॥
कंचन डाहि दीन्ह जनु जीऊ। उगवा सुरुज, छूटि गा सीऊ॥
पाय परी धनि पिय के, नैनन्ह सों रज मेंटि।
अचरज भएउ सबहि कहँ, ससि कँवलहि भै भेंटि॥ ४१८॥

शब्दार्थ—बहुरा = लौटा। सिरी मुख = मुख श्री। एक पासा = समीप। डाहि = जला कर। उगवा = निकला। सीऊ = शीत। रज मेंटि = मिट्टी धोकर।

अर्थ—पदिक-पदार्थ रूपी पद्मावती की ज्योति क्षीण थी, रत्नसेन का नाम सुन कर उसके मुख पर ज्योति चढ़ गयी। मानो सूर्य ने प्रकाश किया हो इसलिए दिन फिर लौटा और कमल (पद्मावती) खिल उठा। कमल-लोचन प्रफुल्लित हो उठे, मुखश्री सूर्य के समान हो उठी। दोनों ही अत्यन्त रस युक्त हो गये। मालती (पद्मावती) को देख कर भौंरा (रत्नसेन) भूल गया और भौंरे को देख कर मालती का मन प्रफुल्लित हो उठा। दोनों ने दर्शन किये और दोनों के नेत्र एक पास हो गये, दोनों एक दूसरे के पास ही हो गये। सोने को जला कर जैसे जीव दे दिया है, सूर्योदय हुआ और सारा शीत जाता रहा। स्त्री (पद्मावती) पति के पैरों पर आ गिर पड़ी और आँसूओं से पैर की धूलि को धोने लगी, सबको आश्चर्य हुआ कि चन्द्रमा और कमल की मुलाकात हो गयी।

नोट—चन्द्रमा और कमल नहीं मिलते, इस विरह में रत्नसेन और

पद्मावती का मिलना असम्भव हो गया था। अतः यह मिलना आश्चर्यजनक ही हो गया।

इस पद के बाद जायसी ग्रंथावली की अनेक प्रतियों में कई पद हैं। जिन्हें डा० माताप्रसाद गुप्त प्रक्षिप्त मानते हैं। पं० रामचन्द्र शुक्ल-संपादित ग्रन्थावली के तीन पदों को प्रक्षिप्त बताते हैं। कारण यह कि इन पदों में पूर्ववर्ती छन्द की ही बातों को कुछ संशोधन-परिवर्धन के साथ दुहराया गया है। पद्मावती रत्नसेन के पैरों में गिरती है और रत्नसेन भी पद्मावती के पैरों में गिरता है। रत्नसेन का पैरों पर गिरना अनुचित है। आगे के पदों में पद्मावती लक्ष्मी से सारा खोया धन माँगती है और लक्ष्मी नये रत्न आदि देती है। पर आगे चल कर इसके विरुद्ध कथन मिलता है, क्योंकि रत्नसेन और पद्मावती दोनों ही धन के नष्ट हो जाने की बात करते और सन्तोष दिखाते हैं।

पंडित शुक्ल संपादित ग्रन्थावली के तीन प्रक्षिप्त पद इस प्रकार हैं :—

जिनि काहू कह होइ बिछोऊ। जस वै मिले मिलै सब कोऊ॥
पद्मावति जो पावा पीऊ। जनु मरजियहि परा तन जीऊ॥
कै नेवछावरि तन मन वारी। पायन्ह परी घालि गिउ नारी॥
नव अवतार दीन्ह विधि आजू। रही छार भइ मानुष साजू॥
राजा रोव घालि गिउ पागा। पद्मावति के पायन्ह लागा॥
तन जिउ महँ विधि कीन्ह बिछोऊ। अस न करै तौ चीन्ह न कोऊ॥
सोई मारि छार कै मेंटा। सोइ जियाइ करावै भेंटा॥
मुहमद मीत जो मन बसै, विधि मिलाव ओहि आनि।
संपति बिपति पुरुष कहँ, काह लाभ का हानि॥
लक्ष्मी सों पद्मावति कहा। तुम्ह प्रसाद पायउँ जो चहा॥
जौ सब खोइ जाहि हम दोऊ। जो देखै भल कहै न कोऊ॥
जे सब कुँवर आए हम साथी। औ जत हस्ति घोड़ औ आथी॥
जौ पावैं, सुख जीवन भोगू। नाहिं मरन, भरन दुख रोगू॥
तब लछिमी गइ पिता के ठाऊँ। जो एहि कर सब बूड़ सो पाऊँ॥
तब सो जरी अमृत लेइ आवा। जो मरे हुत तिन्ह छिरिकि जियावा॥

एक एक कै दीन्ह सो आनी। भा सँतोष मन राजा रानी॥
आइ मिले सब साथी, हिलि मिलि करहिं अनन्द।
भई प्राप्त सुख संपति, गएउ छूटि दुख दंद॥
और दीन्ह बहु रतन पखाना। सोन रूप तौ मन हे न आना॥
जो बहु मोल पदारथ नाऊँ। का तिन्ह बरनि कहौं तुम्ह ठाऊँ॥
तिन्ह कर रूप भाव को कहै। एक एक नग चुनि चुनि कै गहै॥
हीर फार बहु मोल जो अहे। तेइ सब नग चुनि चुनि कै गहे॥
जौं एक रतन भँजावै कोई। करै सोइ जो मन महँ होई॥
दरब गरब मन गएउ भुलाई। हम सब लच्छ मनहिं नहिं आई॥
लघु दीरघ जो दरब बखाना। जो जेहि चहिय सोइ तेइ माना॥
बड़ औ छोट दोउ सम, स्वामी-काज जो सोइ।
जो चाहिय जेहि काज कहँ, ओहि काज सो होइ॥

शब्दार्थ—घालि गिउ = गर्दन नीचे झुका कर। घालि गिउ पागा = गले में दुपट्टा डाल कर। तन जिउ···चीन्ह न कोऊ=शरीर और जीव के बीच ईश्वर ने वियोग दिया, यदि वह ऐसा न करे तो कोई उसे न पहचाने। आथी = पूँजी। पखाना = पत्थर, रत्न। तुम्ह ठाऊँ = तुम्हारे निकट। हीर फार = हीरे के टुकड़े।

[ ४१६ ]

ओहि दिन आइ रहे पहुनाई। पुनि भै बिदा समुद सौं जाई॥
लखमिनि पदुमावति सौं भेंटी। जो साखा उपनी सो मेंटी॥
समदन दीन्ह पान कर बीरा। भरि कै रतन पदारथ हीरा॥
और पाँच नग दीन्ह बिसेखे। स्रवन जो सुने, नैन नहिं देखे॥
एक जो अंब्रित, दोसर हंसू। औ सोनहा पंछी कर बंसू॥
और दीन्ह सावक सादूरू। दीन्ह पारस, नग कंचन मूरू॥
तरुन तुरंगम दुऔ चढ़ाए। जल मानुस अगुवा सँग लाए॥
भेंटि घाट समदन कै, फिरे नाइ कै माथ।
जल मानुस तब बहुरे, जब आए जग्रनाथ॥ ४१६॥

शब्दार्थ—पहुनाई = मेहमानी। उपनी = उत्पन्न हुई। समदन=प्रसन्नता

से । सादूरू = शार्दूल । सावक = बच्चा । परस = पारस पत्थर । कंचन मूरू = सोने का मूल-सोना बनाने वाला । तरुन-तुरंगम = नये घोड़े ।

अर्थ--उस दिन ये लोग मेहमानी के लिए ठहरे । फिर जाकर समुद्र से विदा माँगी । लक्ष्मी ने पद्मावती को भेंटा, जो प्रीति की शाखा उसमें उत्पन्न हुई थी वह बिदाई के समय समाप्त हो गयी । प्रसन्नता से इसने पद्मावती को पान का बीड़ा और रत्न जवाहरात, हीरा, और पाँच विशेष प्रकार के ऐसे रत्न दिये जिन्हें किसी ने न कभी देख रखा था और न सुना ही था । एक तो अमृत, दूसरा हंस, तीसरे सोने का पक्षी, फिर सिंह का बच्चा, पारस पत्थर जो कि सोना बनाने का मूल है, दो नये घोड़े आदि सब साथ में चढ़ा दिये । जल-का माझी भी अगुवा साथ में दिया ।

समुद्र तो घाट पर ही भेंट कर सिर नवा कर लौट गया और माझी लोग तब लौटे जब ये लोग जगन्नाथपुरी में पहुँच गये ।

[ ४२० ]

जगरनाथ जौं देखेन्हि आई । भोजन रींधा हाट बिकाई ॥
राजैं पदुमावति सौं कहा । साँठ नाठि, किछु गाँठि न रहा ॥
साँठ होइ जासौं स बोला । निसँठा पुरुख पात पर डोला ॥
साँठें राँक चलैं मौराई । निसँठ राउ सब कह बौराई ॥
साँठें ओद गरब तन फूला । निसँठें बोद, बुद्धि बल भूला ॥
साँठें जाग नींद निसि जाई । निसँठें खिन आवै औंघाई ॥
साँठें दिस्टि, जोति होइ नैना । निसँठें हियँ, न आव मुख बैना ॥
साँठें रहै सुधीनता, निसँठें आगारि भूख ।
बिनु गथ पुरुख पतंग ज्यौं, ठाठ ठाढ़ पै सूख ॥ ४२० ॥

शब्दार्थ - रींधा = पकाया हुआ । साँठि = पूँजी । नाठि = नष्ट हुई । राँक = रंक, भिखारी । मौराई = मुकुट धारण कर । निसँठ = बिना धन के । ओद = भीगा हुआ । बोद = बुद्धू । औंघाई = नींद । गथ = पूँजी ।

अर्थ—ये लोग जगन्नाथ जी के दर्शन को गये, वहाँ देखा कि पकाया हुआ भोजन ( भात ) निकला है । राजा ने पद्मावती से कहा कि हमारी गाँठ में तो कुछ नहीं है, क्योंकि सारी पूँजी तो समुद्र में ही नष्ट हो गयी ।

जिसके पास पूँजी होती है वही बोलता है। बिना पूँजी वाला पुरुष तो पत्ते पर ही डोलता है। धन होने पर भिखारी भी मुकुट धारण करके चलता है, बिना पूँजी के राजा को भी लोग पागल कहते हैं। पूँजी से तरी रहती है और आदमी घमंड में फूला रहता है, बिना पूँजी के मनुष्य बुद्धू बन जाता है। उसकी बुद्धि और बल सब भूल जाते हैं। धन से आदमी रात भर जगता रहता है, बिना धन के मनुष्य को क्षण भर में नींद आने लगती है। धन से आँखों में ज्योति आ जाती है और बिना पूँजी के मुख से वचन नहीं निकलते। पूँजी के होने पर आदमी में स्वतन्त्रता रहती है, बिना पूँजी के भूख ही लगती रहती है। बिना पूँजी के मनुष्य पतिंग के समान होता है—खड़ा सूखता रहता है।

[ ४२१ ]

पदुमावति बोली सुनु राजा। जीउ गएँ धन कवने काजा ॥
अहा दरब तब लीन्ह न गाँठी। पुनि कत मिलै लच्छि जौं नाठी ॥
मुकुतें साँबर गाँठि जो करई। सँकरें परे सोइ उपकरई ॥
जौं तन पङ्ख, जाइ जहँ ताका। पैग पहार होइ जौं थाका ॥
लखिमिनि अहा दीन्ह मोहि बीरा। भरि कै रतन पदारथ हीरा ॥
काढ़ि एक नग बेगि भँजावा। बहुरि लच्छि, फेरि दिनु पावा ॥
दरब भरोस करै जनि कोई। दरब सोइ जो गाँठी होई ॥

जोरि कटक पुनि राजा, घर कहँ कीन्ह पयान।
देवसहि भान अलोपा, बासुकि इन्द्र सँकान ॥ ४२१ ॥

शब्दार्थ—अहा = था। नाठी = नष्ट हुई। मुकुते = छुटने पर, चलते समय। साँबर = संबल, रास्ते की सामग्री। उपकरई = लाभ होता है। पैग = कदम। काढ़ि = निकाल कर। भँजावा = तुड़ाया। बहुरि = लौटी। सँकान = डरे।

अर्थ—पद्मावती ने कहा कि हे राजा! सुनो, यदि जीव ही चला जाता तो धन किस काम आता। जब धन था तब यदि गाँठ में न बाँधा तो लक्ष्मी के नष्ट होने पर वह कहाँ मिल सकता है। चलते समय जो संवल हम

अपनी गाँठ में रख लेते हैं, संकट पड़ने पर उसी से अपनी भलाई होती है। जब तक पंख होता है वहीं तक जाया जा सकता है—अर्थात् शक्ति भर ही आदमी जा सकता है, पर जब वह थक जाता है तो एक कदम भी पहाड़ मालूम होता है। लक्ष्मी ने चलते समय मुझे पान का बीड़ा दिया था और उसके साथ ही रत्न, जवाहरात और हीरे दिये थे। उसने तुरन्त ही एक रत्न निकाल कर उसे तुड़ा लिया, फिर तो जैसे लक्ष्मी लौट आई, अच्छे दिन आ गये। कवि कहता है कि आदमी को धन का भरोसा न करना चाहिए। धन तो वही है जो मनुष्य की गाँठ में हो।

फिर राजा ने अपना दल साज कर घर को प्रस्थान किया। दिन ही में सूर्य लुप्त हो गया, अतः शेषनाग और इन्द्र डर गये।

---

## ३५. चित्तौड़-आगमन-खण्ड

[ ४२२ ]

चितउर आइ नियर भा राजा । बहुरा जीति इंद्र अस गाजा ॥
बाजन बाजै, होइ अँदोरा । आवहिं हस्ति बहल औ घोरा ॥
पदुमावति चंडोल बईठी । पुनि गै उलटि सरग सौं डीठी ॥
यह मन ऐंठा रहै न सूधा । बिपति न सँवरै सँपतिहि लुबुधा ॥
सहस बरिख दुख जरै जो कोई । घरी एक सुख बिसरै सोई ॥
जोगिन्ह इहै जानि मन मारा । तउव न मुवा यह मन औ पारा ॥
रहै न बाँधाँ बाँधा जेही । तेलिया मुवा डारु पुनि तेही ॥

मुहमद यह मन अमर है, कहु किमि मारा जाइ ।
ग्यान सिला घँसौं जौं सै, घँसतहि घँसत बिलाइ ॥ ४२२ ॥

शब्दार्थ—बहुरा = लौटा । अँदोरा = कोलाहल । बहल = रथ । चंडोल = पालकी । ऐंठा = अकड़ा हुआ, घमंड में । सँवरै = स्मरण करे । लुबुधा = लिप्त । बरिख = वर्ष । तउव = तब भी । तेलिया = एक प्रकार का विष । घँसै = घिसै ।

अर्थ—राजा चित्तौड़ के निकट आया । जीत करके लौटा है । अतः इन्द्र के समान गर्ज उठा । बाजे बजने लगे, कोलाहल हो उठा । हाथी, रथ और घोड़े आ रहे हैं । पद्मावती पालकी पर बैठी है । फिर स्वर्ग से दृष्टि उलट गयी—अर्थात् राजा का मन अभी तक तो विपत्तियों के कारण ईश्वर की ओर था पर अब अपनी राजधानी में विजय के साथ प्रवेश करते हुए उसकी दृष्टि ईश्वर पर से हट गयी, उसमें अहं भावना का उदय हुआ । इस बात पर कवि कहता है कि यह मन तो अहंकारी है, सीधा नहीं रहता । विपत्ति की याद नहीं करता, सम्पति में लिप्त हो जाता है । यदि कोई हज़ार वर्ष भी दुःख पाये पर एक घड़ी के सुख के बाद ही सब कुछ उसे भूल जाता है । यही सोच कर जोगियों ने मन को मारने का प्रयत्न किया फिर भी यह

मन न तो मारा जा सका और न इसका पार ही मिला। यह बाँधा नहीं जा सकता, जिससे बँधा है उसी में लगा रहता है, चाहे उस पर तेलिया विष ही डाला जाय पर उसका अन्त नहीं है। जायसी कहते हैं कि यह मन तो अमर है, भला इसे किस प्रकार मारा जा सकता है? ज्ञान रूपी शिला पर यदि इसे घिसा जाय तो घिसते-घिसते यह विलीन हो जायगा। गीता का भी यही मत है:—

"अभ्यासेन तु कौंतेय वैराग्येण च गृह्यते।"

[ ४२३ ]

नागमती कहँ अगम जनावा। गै सो तपनि बरखा रितु आवा॥
अही जो मुई नागिनि जसि तचा। जिउ पाएँ तन महँ भै सचा॥
सब दुख जनु कँचुली गा छूटी। होइ निसरी जनु बीर बहूटी॥
जस भुइँ दहि असाढ़ पलुहाई। परहिं बुंद औ सोंध बसाई॥
ओहि भाँति पलुही सुख बारी। उठे करिल नव कोंप सँवारी॥
हुलसी गँग जस बाढ़ैं लेइ। जोबन लाग तरँगैं देई॥
काम, धनुक सर दै भै ठाढ़ी। भागेउ बिरह रही जिसु डाढ़ी॥
पूँछहिं सखी सहेली, हिरदै देखि अनंद।
आजु बदन तुव निरमल, कहाँ उवा है चंद॥ ४२३॥

शब्दार्थ—अगम = आगम, भविष्य के आसार। जनावा = मालूम हुए। तचा = त्वचा, खाल। सचा = सत्यता, सजीवता। पलुही = पल्लवित हुई। बारी = बाला, वाटिका। करिल = कल्ला, नये पत्ते।

अर्थ—नागमती को सुन्दर भविष्य के आसार मालूम हुए। उसकी गर्मी इस प्रकार शान्त हुई जैसे ग्रीष्म के बाद वर्षा ऋतु आ जाय। उसकी त्वचा साँप की भाँति काली पड़ गयी थी, अब उसमें जैसे जीव पाकर सजीवता आ गयी हो। उसका दुःख इस प्रकार दूर हो गया मानो सर्पिणी के ऊपर से उसकी केंचुली छूट जाय। उसके शरीर पर ऐसी ललायी आ गयी जैसे वर्षा ऋतु में लाल रंग की बीर बहूटियाँ निकलती हैं। जिस प्रकार आषाढ़ के महीने में पानी पड़ने पर हरियाली आ जाती है और भूमि में से सोंधी सुगंध सी निकलने लगती है इसी प्रकार नागमती भी प्रफुल्लित हो गयी। जिस

प्रकार नये पौधों में नये पत्ते और कोंपलें निकलती हैं, उसी प्रकार नागमती में भी नयी अभिलाषायें उठने लगीं। वह इस प्रकार उल्लसित हुई, जैसे गङ्गा में बाढ़ आवे, उसका यौवन तरंगें लेने लगा। कामोद्दीपन हुआ—मानो कामदेव धनुष लेकर खड़ा हुआ और जिस विरह से वह जलायी गयी थी वह भाग निकला। उसके हृदय के इस आनन्द को देख कर सखी-सहेलियाँ पूछने लगीं कि आज तो तुम्हारा चेहरा निर्मल है, चन्द्रमा का उदय कहाँ हुआ ?

[ ४२४ ]

अब लगि सखी पवन हा ताता। आजु लाग मोहि सीतल गाता॥
महि हुलसै जस पावस छाहाँ। तस हुलास उपना जिय माहाँ॥
दसौं दाउ कै गा जो दसहरा। पलटा सोइ नाँउँ लै महरा॥
अब जोबन गंगा होइ बाढ़ा। औटन घटन मारि सब काढ़ा॥
हरियर सब देखौं संसारू। नए चार जानहुँ अवतारू॥
भागेउ बिरह करत जो डाहू। भा मुख चंद, छूटि गा राहु॥
लहकहि नैन बाँह हिय खिला। को दहुँ हितू आइ चह मिला॥
कहतहिं बात सखिन्ह सौं, तेतखन आवा भाँट।
राजा आइ नियर भा, मँदिल बिछावहु पाट॥४२४॥

शब्दार्थ—ताता = गर्म। उपना = उत्पन्न हुआ। दसौं दाउ = दसवीं दशा, मृत्यु। महरा = मल्लाहों का सरदार। औटन = ताप, गर्मी। लहकहिं = फड़क रही हैं। मंदिल = मंदिर, महल। पाट = सिंहासन।

अर्थ—नागमती ने उत्तर दिया कि हे सखी! अब तक मुझे हवा बड़ी गर्म लगती थी, पर आज मेरे शरीर में यह ठंडी लगी है। पृथ्वी इस प्रकार प्रसन्न लग रही है जैसे वर्षा आ गयी हो। हमारे हृदय में बड़ा उल्लास उत्पन्न हुआ है। गङ्गा दशहरा (जेष्ठ मास के शुक्लपक्ष की दशमी तिथि) के दिन जो मुझे मृत्यु दे गया था वही मल्लाहों का सरदार आज नाव लेकर अब यौवन गङ्गा होकर बढ़ रहा है, सारी गर्मी को घटाओं ने मार-मार कर निकाल दिया है। सारा संसार मुझे हरा दिखाई पड़ता है मानो आज नये प्रकार से मेरा अवतार हुआ है। जो विरह मुझे जला रहा था वह भाग गया। अब तो राहु का ग्रह छूट गया और मुख रूपी चन्द्र प्रकाशित हो

गया। आँख और बाँह फड़क रही हैं, हृदय खिल रहा है, पता नहीं कौन सा प्रिय जन आकर मिलना चाहता है। इस प्रकार की बात के कहते ही तुरन्त भाट आ गया और कहा कि राजा निकट आ गया है, महल में सिंहासन बिछवाओ।

[ ४२५ ]

सुनतहि खन राजा कर नाऊँ। भा अनंद सब ठावँहि ठाऊँ॥
पलटा कै पुरुखारथ राजा। जस असाढ़ आवै दर साजा॥
देखि सो छत्र भई जग छाहाँ। हस्ति मेघ ओनए जग माहाँ॥
सैन पूरि आए घन घोरा। रहस चाउ बरिसै चहुँ ओरा॥
धरति सरग अब होइ मेरावा। भरिअहि पोखरि ताल तलावा॥
लहकि उठा सब भुमिया नामा। ठाँवहि ठाँव दूब अस जामा॥
दादुर मोर कोकिला बोले। हते अलोप जीभ सब खोले॥
भै असवार परथमै, मिलै चले सब भाइ।
नदी अठारह गंडा, मिलीं समुँद कहँ जाइ॥ ४२५॥

शब्दार्थ—खन = क्षण। दर = दल। ओनए = झुके हुए। सैन = सेना। रहस-चाउ = आनन्द-उत्साह। मेरावा = मेल। पोखरि = छोटे तालाब। भुमिया = भूमि। हते = थे। अलोप = लुप्त। अठारह गंडा = बहत्तर।

अर्थ—जिस क्षण लोगों ने राजा का नाम सुना, सभी जगह आनन्द ही आनन्द हो गया। राजा पुरुषार्थ करके लौटा है, आषाढ़ के महीने में जैसे बादलों के दल आते हैं उसी प्रकार वह दल-बल साज कर आ रहा है। उसके राज-छत्र को देख कर संसार में छाया हो गयी, हाथी ऐसे हैं जैसे बादल झुके हुए हों। घनघोर सेना आ गयी, चारों ओर आनन्द और उत्साह बरसने लगे। अब पृथ्वी और आकाश मिलने लगे, ताल और तालाब आदि सभी भरने लगे। पृथ्वी पर की सभी वस्तुएँ लहलहा उठीं, जगह-जगह दूब (हरी घास) जम उठी मेंढक, मोर और पपीहा बोलने लगे, ये सब छिपे हुए थे, अब सबने जिह्वा खोल दी। आगे से मिलने के लिए सभी भाई लोग घोड़ों पर सवार हो कर चल पड़े, जैसे बहत्तर नदियाँ समुद्र से मिलने जा रही हों।

अलंकार—रूपक, उपमा।

[ ४२६ ]

बाजत गाजत राजा आवा। नगर चहूँ दिसि होइ बधावा ॥
बिहँस आइ माता कहँ मिला। जनु रामहि भेंटै कौसिला ॥
साजे मंदिल बंदनवारा। औ बहु होइ मंगलाचारा ॥
आवा पदुमावति क बेवानू। नागमती धिकि उठा सो भानू ॥
जनहुँ छाँह महँ धूप देखाई। तैस झार लागी जौं आई ॥
सहि नहिं जाइ सौति कै झारा। दोसरे मंदिल दीन्ह उतारा ॥
भै अहान चहु खंड बखानी। रतनसेनि पदुमावति आनी ॥
पुहुप सुगंध संसार मनि, रूप बखानि न जाइ।
हेम सेत औ गौर गाजना, जगत बात फिरि आइ ॥ ४२६ ॥

शब्दार्थ—बेवानू = विमान। धिकि उठा = गर्म हो गया। भानू = सूर्य (क्रोध से)। तैसे = वैसी। झार = लपट। अहान = शोर। हेम-सेत = बर्फ।

अर्थ बाजे-गाजे के साथ राजा आया। शहर में चारों ओर आनन्द-बधाइयाँ होने लगीं। प्रसन्नतापूर्वक राजा अपनी माता से इस प्रकार मिला जैसे श्रीरामचन्द्र जी कौशल्या माता से मिले थे। महल में बन्दनवार सज उठे। अनेक प्रकार के मंगलाचार होने लगे। पद्मावती का भी विमान आया। उसे देख कर नागमती का हृदय इस प्रकार जल उठा जैसे सूर्य। मानो छाया में धूप दिखाई पड़ गयी, उसी प्रकार ईर्ष्या की लपटें उसे आ लगीं। सौत की ईर्ष्या सही नहीं जाती, उसको दूसरे महल पर उतारा गया। चारों ओर यही शोर हो गया कि रत्नसेन पद्मावती रानी ले आया है। फूल की सुगन्ध और संसार में मणि के समान उसका रूप बखाना नहीं जा सकता। बर्फ के समान उसके गौरांग की बात सारे संसार में फैल गयी।

इस छंद के पश्चात् शुक्ल जी की प्रति में एक छन्द है जिसे डा० माताप्रसाद जी प्रक्षिप्त मानते हैं। कथा-प्रसंग और शैली की दृष्टि से पद अप्रासंगिक नहीं है। पद निम्नलिखित है—

बैठ सिंघासन लोग जोहारा। निधनी निरगुन दरब बोहारा ॥
अगनित दान नेछावरि कीन्हा। मँगतन्ह दान बहुत कै दीन्हा ॥
लेइ कै हस्ति महाउत मिले। तुलसी लेइ उपरोहित चले ॥

बेटा भाइ कुँवर जत आवहिं। हँसि-हँसि राजा कंठ लगावहिं॥
नेगी गये मिले अरकाना। पँवरिहिं बाजे घहरि निसाना॥
मिले कुँवर, कापर पहिराए। देइ दरब तिन्ह घरहि पठाए॥
सब कै दसा फिरी पुनि दुनी। दान डाँग सब ही जग सुनी॥
बाजै पाँच सबद निति, सिद्धि बखानहिं भाट।
छतिस कूरि खट दरसन, आइ जुरै ओहि घाट॥

अर्थ—राजा सिंहासन पर बैठा, लोग राजा के दर्शन को आने लगे। निर्धन और निगुणी लोगों को बहुत सा दान दिया गया। अगणित दान निछावर किया गया, भिखारियों को भी बहुत दान मिला। महाजन हाथी लेकर राजा से मिले और पुरोहित लोग तुलसीदल ले कर राजा के पास आये। पुत्र, भाई, राजकुमार जितने लोग राजा से मिलने आते थे राजा हँस-हँस कर सबको गले लगाता था। जब दान लेने वाले और निछावर करने वाले चले गये तो उमराव और सरदार लोग आने लगे। नगर में खूब डंके बज रहे थे। राजकुमार लोग मिले तो उन्हें नये वस्त्र पहनाये गये, सरदारों को धन देकर घर लौटाया गया। सब लोगों की दशा लौट आयी, उसके दान के डंके सारे संसार ने सुने। नित्य पाँच नौबतें बजती थीं और भाट लोग विरुदावली वर्णन करते थे, छत्तीसों कुलों के क्षत्री और छहों दर्शनों के जानने वाले विद्वान् आकर राजा के दरबार में इकट्ठे हो गये।

[ ४२७ ]

सब दिन बाजा दान दवाँवाँ। भै निसि नागमती पहँ आवा॥
नागमती मुख फेरि बईठी। सौंह न करै पुरुख सौं डीठी॥
ग्रीखम जरत छाँड़ि जो जाई। पावस आव कवन मुख लाइ॥
जबहिं जरै परबत बन लागे। औ तेहि झार पंखि उड़ि भागे॥
अब साखा देखिअ औ छाहाँ। कवने रहस पसारिअ बाहाँ॥
कोउ नहिं थिरकि बैठ तेहि डारा। कोइ नाहिं करै केलि कुरुआरा॥
तूँ जोगी होइगा बैरागी। हौं जरि भई छार तोहि लागी॥
काह हँससि तूँ मोसौं, किए जो और सौं नेहु।
तोहि मुख चमकै बीजुरी, मोहि मुख बरसै मेंहु॥ ४२७॥

शब्दार्थ—दबाँबा = दिलाया। सौंह = सामने। दीठी = दृष्टि। झार = लपट। कुरुआरा = कलरव।

अर्थ—राजा ने सारे दिन तो दान दिलाया, रात होने पर वह नागमती के पास आया। नागमती मुख फेर कर बैठ गयी, राजा से सामने दृष्टि न मिलाती थी। नागमती कहने लगी—गर्मी में जलते हुए जो छोड़ गया वह अब कौन सा मुँह लेकर वर्षा में आता है। जब पर्वत और वन सब जलने लगे और उसकी लपट से वन के सब पत्ती उड़ भगे। अब वर्षा के आने पर डाली और छाया देख रहे हो तो किस आनन्द के लिए बाँह फैला रहे हो। अर्थात् मेरे दुख के दिनों में तू दूर चला गया, अब सुख के दिनों में फिर मिलना चाहता है। अब इस डाल पर कोई पत्ती नहीं बैठ रहा है और न कोई पत्ती कलरव ही कर रहा है। तुम तो जोगी बैरागी हो गये थे और मैं जल गयी थी, मेरी ही राख तो तुम्हारे अंग में लगी थी। अब तुम मुझसे क्यों हँस रहे हो, तुमने तो दूसरी स्त्री से प्रेम कर लिया है, तुम्हारे मुख पर हँसी की बिजली चमक रही है और मेरे मुख पर आँसुओं के मेंह बरस रहे हैं।

[ ४२८ ]

नागमती तूँ पहिलि बियाही। कान्ह पिरीति डही जसि राही ॥
बहुते दिनन्ह आवै जौं पीऊ। धनि न मिल धनि पाहन जीऊ ॥
पाहन लोह पोढ़ जग दोऊ। सोउ मिलहिं मन सँवरि बिछोऊ ॥
भलेहि सेत गंगा जल डीठा। जउँन जो स्याम, नीर अति मीठा ॥
काह भएउ तन दिन दस डहा। जौं बरखा सिर ऊपर अहा ॥
कोउ केहि पास आस कै हेरा। धनि वह दरस निरास न फेरा।
कंठ लाइ कै नारि मनाई। जरी जो बेलि सींचि पलुहाई ॥
फरे सहस साखा होइ, दारिवँ दाख जँभीर।
सबै पंखि मिलि आइ जोहारे, लौटि उहै भै भीर ॥४२८॥

शब्दार्थ—धनि=स्त्री। पोढ़=कठोर, सख्त। हेरा=देखता है।

अर्थ—राजा ने कहा कि हे नागमती! तू मेरी पहली ब्याही रानी है। कृष्ण की प्रीति भी दुखदायी थी। बहुत दिनों पर जब पति आता है तब यदि पत्नी उससे न मिले तो समझना चाहिए कि स्त्री का हृदय पत्थर है। पत्थर

और लोहा दोनों ही संसार में बड़े कठोर होते हैं, पर ये भी वियोग को स्मरण कर मिल जाते हैं। गंगा का जल भले ही देखने में सफेद हो पर वह काले यमुना जल से मिल कर मीठा हो जाता है। क्या हुआ जो दस दिन (थोड़े दिन) दुःख सहना पड़ा जबकि अब वर्षा (सुख) सिर पर है। जब कोई किसी के पास आशा लगा कर जाता है तो स्त्री उसे निराश करके नहीं लौटाती। ऐसा कहने के बाद राजा ने नागमती को गले से लगा लिया और खूब मनाया और जो लता जल गयी थी उसे सींच कर पल्लवित किया और उस लता में हजार शाखायें निकलीं और दाड़िम, दाख और नींबू फले, सभी पक्षी फिर आकर मिले और लौट-लौट कर उन सब की भीड़ हो गयी। अर्थात् नागमती की जवानी की लता मुरझा गयी थी। अब फिर उसमें पूर्व-स्थिति आ गयी, सब प्रकार के आमोद-प्रमोद और उत्साह के भाव जग उठे।

[ ४२६ ]

जौं भा मेरु भएउ रँग राता। नागमती हँसि पूँछी बाता॥
कहहु कंत जो बिदेस लोभाने। कसि धनि मिली भोग कस माने॥
जौं पद्मावति है सुठि लोनी। मोरे रूप कि सरवरि होनी॥
जहां राधिका अछरिन्ह माहाँ। चंद्रावलि सरि पूज न छाहाँ॥
भँवर पुरुख अस रहै न राखा। तजै दाख, महुआ रस चाखा॥
तजि नागेसरि फूल सोहावा। कँवल बिसैंधे सौं मन लावा॥
जौं नहवाइ भरिअ अरगजा। तबहु गयंद धूरि नहिं तजा॥
काह कहौं हौं तोसौं, किछौ न तोरे भाउ॥
इहाँ बात मुख मोसौं, उहाँ जीउ ओहि ठाँउ॥ ४२६॥

शब्दार्थ—मेरु = मिलाप। लोनी = सुन्दरी। सरवरि = बराबर। बिसैंधे = मछली की सी गंध वाला।

अर्थ—जब मिलाप हुआ और प्रेम का रंग चढ़ गया तब नागमती ने हँस कर बात पूछी कि हे पति! बतलाओ कि तुम तो विदेश में अनुरक्त हो गए, तुम्हें कैसी स्त्री मिली और तुमने उसके साथ कैसे सुख भोगे? यदि पद्मावती सुन्दरी है तो क्या वह मेरे सौन्दर्य की समानता कर सकती है? जहाँ अप्सराओं के बीच रहने वाली राधिका है वहाँ क्या चन्द्रावली उसकी

बराबरी कर सकती है? पर पुरुष तो भौंरे के समान एक जगह रखा नहीं जा सकता, वह तो दाख को छोड़ कर महुआ का रस लेने दौड़ जाता है। तुमने नागकेसर (नागमती) सुन्दर फूल को छोड़ कर कमल (पद्मावती) से मन लगाया है जिसमें मछली की गंध आती है। हाथी को चाहे स्नान करा कर उस पर चन्दन का लेप ही क्यों न किया जाय पर वह तो धूल को नहीं छोड़ सकता। भाव यह कि पद्मावती को कुछ भी किया जाय वह हमारे समान नहीं हो सकती। मैं तुमसे क्या कहूँ, तुम्हारे हृदय में तो कुछ भी प्रेम-भाव नहीं है। यहाँ पर तुम मुझ से बात कर रहे हो पर तुम्हारा जीव तो पद्मावती पर लगा है।

[ ४३० ]

कही दुख कथा रैनि बिहानी। भोर भएउ जहँ पदुमिनि रानी॥
भान देख ससि बदन मलीनी। कँवल नैन राते तन खीनी॥
रैनि नखत गनि कीन्ही बिहानू। बिमल भई जस देखे भानू।
सुरुज हँसा ससि रोई डफारा। टूटि आँसु नखतन्ह कै मारा॥
रहै न राखे होइ निसाँसी। तहँवहि जाहि जहाँ निसि बासी॥
हौं कै नेहु आनि कुँव मेली। सोंचै लाग झुरानी बेली॥
भए वै नैन रहँट कै घरी। भरीं ते ढारीं, छूछीं भरी॥

सुभर सरोवर हंस जल, घटतहि गएउ बिछोइ।
कँवल प्रीति नहिं परिहरै, सूखि पंक बरु होइ॥ ४३०॥

शब्दार्थ—डफारा = ढाढ़ मार कर, फूट-फूट कर। मारा = माला। निसाँसी = बिना साँस के। जाहि = जाओ। तहँवहि = वहीं। हौं = मुझे। कै = करके। आनि = लाकर। कुँव मेली = कुएँ में डाल दिया। झुरानी = सूखी हुई। रहँट कै घरी = रहट का घड़ा। बरु = बल्कि, चाहे।

अर्थ—रानी नागमती ने अपनी दुःख कथायें कह-कह कर रात बिता दी। प्रातःकाल हुआ तो राजा पद्मावती रानी के पास आया। सूर्य (रत्नसेन) ने देखा कि चन्द्रमा (पद्मावती) का मुख मलीन है, कमल के समान आँखें लाल हैं और शरीर क्षीण है। रात के तारे गिन-गिन कर उसने सवेरा किया था, अब सूर्य को देखकर उस पर निर्मलता आयी। रत्नसेन (सूर्य) हँस पड़ा,

पद्मावती (शशी) फूट-फूट कर रो पड़ी, उसकी आँसुएं तारों की माला सी बन गईं। उसकी साँसें रोके से नहीं रुकतीं, मालूम होता है सारी साँसें निकल जायेंगी। उसने कहा कि वहीं जाओ जहाँ रात भर रहे। मुझे तो प्रेम करके कुएँ में लाके डाल दिया और स्वयं सूखी लता (नागमती) को सींचने लगे। मेरी ये आँखें तो रहट के घड़े के समान भरते ही ढल जाती हैं और फिर आँसू से भर जाती हैं—अर्थात् सारी रात आँसू ही चलते रहे। भरे हुए तालाब का जल जब घट जाता है, तब हंस तो उसे छोड़कर कहीं और चला जाता है, पर कमल प्रीति नहीं छोड़ता, चाहे वह सूख कर कीचड़ में ही मिल जाय। भाव यह है कि तुम तो भले ही प्रीति छोड़ दो, पर हम तो छोड़ नहीं सकते।

( ४३१ )

पद्मावति तूँ जीव पराना। जिय तें जगत पिआर न आना॥
तूँ जस कँवल बसी हिय माहाँ। हौं होइ अलि बेधा तोहि पाहाँ॥
मालति करी भँवर जौं पावा। सो तजि आन फूल कित धावा॥
अनु हौं सिंघल कै पदुमिनी। सरि न पूज जंबू नागिनी॥
हौं सुगंध निरमलि उजियारी। वह बिख भरी डरावनि कारी॥
मोरें बास भँवर सँग लागहिं। ओहि देखें मानुस डरि भागहिं॥
हौं पूरुख कै चितवौं डीठी। जेहि के जियँ असि अहौं पईठी॥
ऊँचे ठाँव जो बैठै, करै न नीचेहँ संग।
जहाँ सो नागिनि हिरगै, काह कहिअ सो अंग॥४३१॥

शब्दार्थ—पराना = प्राण। सरि = बराबर। पूजि = हो सकती। नागिनी = नागमती। हिरगै = निकट आवे।

अर्थ—रत्नसेन ने कहा कि हे पद्मावती! तू तो मेरा जीव और प्राण है, संसार में प्राण से अधिक प्यारा तो कुछ नहीं होता। कमल के समान तू जैसे मेरे हृदय में बसी है वैसे ही मैं भी भौंरा होकर तेरे प्रेम में उलझा हुआ हूं। यदि भौंरा मालती की कली को पायेगा तो क्या वह और फूलों की ओर कभी दौड़ेगा? फिर पद्मावती बोली कि मैं तो सिंहल द्वीप की पद्मिनी हूं, जम्बू द्वीप की नागिनी (नागमती) कभी भी मेरी बराबरी में पूरी नहीं उतर

सकती। मैं तो सुगन्ध से निर्मल और प्रकाशवती हूं और वह नागमती तो विष से भरी हुई और काली है। मेरी सुगंध के साथ भौंरा लग जाता है, उसे देखकर तो मनुष्य डर से भाग जाता है। मैं तो जिस पुरुष की ओर दृष्टि कर के देख देती हूं तो उसके हृदय में प्रवेश कर जाती हूं। जो व्यक्ति ऊँचे स्थान पर बैठता है वह फिर नीच का साथ नहीं करता। भला जहाँ नागिनी निकट आवेगी यहाँ अंगों की क्या दशा होगी।

[ ४३२ ]

पलुही नागमती कै बारी। सोन फूल फूली फुलवारी॥
जावँत पंखि अहे सब डहे। ते बहुरे बोलत गहगहे॥
सारौ सुवा महरि कोकिला। रहसत आइ पपीहा मिला॥
हारिल सबद, महोख सो आवा। काग कोराहर करहिं सोहावा॥
भोग बेरास कीन्ह अब फेरा। बासहिं, रहसहिं, करहिं बसेरा॥
नाचहिं पंडुक मोर परेवा। निफल न जाइ काहु कै सेवा॥
होइ उँजियार बैठि जस तपी। खूसट मुहँ न देखावहिं छपी॥
नागमती सब साथ सहेलीं, अपनी बारी माँह।
फूल चुनहिं फर चूरहिं, रहस कोड सुख छाँह॥४३२॥

शब्दार्थ—पलुही = पल्लवित हुई। बारी = वाटिका, बाला। जाँवत = जितने, सभी। गहगहे = प्रसन्नता पूर्वक। रहसत = नाचता हुआ। बेरास = विलास। खूसट = उल्लू।

अर्थ—नागमती की वाटिका पल्लवित हो उठी, सुनहले फूलों से फुलवारी फूल उठी। जितने पक्षी जल चुके थे वे सब प्रसन्नतापूर्वक वाटिका में लौट आये। मैना, तोता, महरि, कोयल, पपीहा सभी नाचते हुए आ गये। हारिल ने शब्द किया, महोख आ गया, कौआ कोलाहल करता हुआ शोभित हुआ। अब भोग-विलास ने फिर फेरा किया है, सुगन्ध उड़ती है, आनन्द हो रहे हैं, सभी पक्षी बसेरा लेते हैं। पंडुक, मोर और कबूतर नाचते हैं। सेवा कभी भी निष्फल नहीं जाती। प्रातःकाल होने पर कान्तियुक्त वह चमकती हुई बैठी है, उसे देखकर उल्लू मुँह नहीं दिखाता, छिप गया। नागमती अपनी सहेलियों के साथ फुलवाड़ी में गयी, सब फूल चुनती हैं, फल तोड़ती हैं, नाच और खेल करती हैं।

# नागमती-पद्मावती-विवाद-खण्ड

[ ४३३ ]

जाही जुही तेहिं फुलवारी। देखि रहस सहि सकी न बारी॥
दूतिन्ह बात न हिएँ समानी। पदुमावति सौं कहा सो आनी॥
नागमती फुलवारी बारी। भँवर मिला रस करी सँवारी॥
सखी साथ सब रहसहिं कूदहिं। औ सिंगार हार जनु गूँदहिं॥
तहँ जो बिकाबरि तुम्ह सो लरना। बकुचुन कहौं लहौं जस करना॥
नागमती नागेसरि रानी। कँवल न आछे अपनी बानी॥
जस सेवती गुलाल चँबेली। तैसि एक जनि उहौ अकेली॥
अति जो सुदरसन कूजा, तब सत बरगहि जोग।
मिला भँवर नागेसरि सेंती, दैय दीन्ह सुख भोग॥४३३॥

शब्दार्थ—रहस = रास, विनोद। बिकावरि = गुल बकावली। बकुचुन = एक फूल। करना = एक फूल। नागेसरि = नाग केसर। सुदरसन = सुदर्शन फूल। कूजा = एक फूल। सतबरग = सतवर्ग फूल। सेंती = से। दैय = ईश्वर।

अर्थ— नागमती की फुलवाड़ी में जाही, जूही आदि फूल खिल उठे। सखियों के खेल आदि को देखकर वह भी अपने को न रोक सकी, उन्हीं के साथ मग्न हो गयी। दूतियों के हृदय में यह बात ठहर न सकी, उन्होंने आकर पद्मावती से कहा कि नागमती की फुलवाड़ी में भौंरा पहुँचा है और रस की कली सुशोभित है अर्थात् नागमती को रत्नसेन का संयोग प्राप्त है और वह सौभाग्य-सुख का भोग कर रही है। सभी सखियाँ नाच-कूद कर रही हैं, पुष्पों का शृंगार बना रही हैं। वहाँ पर बकावली तुमसे ईर्ष्या कर रही है, वकुच और करना आदि फूलों आदि की कथा कहूँ। नागमती तो नागकेसर के समान है। इन सब के कारण कमल अपने स्वरूप में नहीं है अर्थात् नागमती आदि के सुख-सौंदर्य के आगे पद्मावती अपने स्वरूप को भूली हुई है। जैसे सेवती, गुलाब और चमेली आदि इसी प्रकार

वह (कमल रूपी पद्मावती) भी अकेली पड़ी है। सुदर्शन, कूजा और सद्-वर्ग के सम्पर्क में भौंरा (रत्नसेन) नागकेसरि (नागमती) से मिला है, परमेश्वर ने इस समय उसे ही सुख-भोग दे रखा है।

[ ४३४ ]

सुनि पदुमावति रिस न नेवारी। सखी साथ आई तेहि बारी॥
दुऔ सवति मिलि पाट बईठीं। हियँ विरोध, मुख बातैं मीठीं॥
बारी दिस्टि सुरंग सुठि आई। हँसि पदुमावति बात चलाई॥
बारि सुफल आहि तुम्ह रानी। है लाई, पै लाइ न जानी॥
नागेसरि औ मालति जहाँ। सखदराउ न चाहिअ तहाँ॥
अहा जो मधुकर कँवल पिरीती। लागेउ आइ करील की रीती॥
जो आँबिली बाँकी हिय माहाँ। तेहि न भाव नारँग कै छाहाँ॥
पहिलें फूल कि दहुँ फर, देखिअ हिएँ बिचारि।
आँब होइ जेहि ठाईं, जाँबु लागि रहि आरि॥ ४३४॥

शब्दार्थ—नेवारी = दूर किया। पाट = सिंहासन। सखदराउ = संगतरा नींबू, राजा का सौख्य। आँबिली = इमली, विरहिणी। नारँग = नारंगी नवीना। दहुँ = अथवा। आरि = हठ।

अर्थ—दूतियों से यह समाचार पाकर पद्मावती अपने क्रोध का निवारण न कर सकी। वह सखियों के साथ नागमती की वाटिका में आयी। दोनों सौतें (पद्मावती और नागमती) मिलकर एक ही सिंहासन पर बैठ गयीं। दोनों के हृदय में एक दूसरे के प्रति विरोध है पर मीठी बातें करने लगीं। सुन्दर वाटिका को देखकर मुस्कराकर पद्मावती ने बात चला दी। हे रानी! तुमने फलों से युक्त वाटिका लगायी है पर लगाना तू जानती नहीं। जहाँ नागकेसर और मालती है वहाँ संगतरा नहीं होना चाहिए। भाव यह है कि जहां नागमती (नागकेसर) और पद्मावती (मालती) है, वहां राजा को सुख न प्राप्त होगा। जिस भौंरे को कमल से प्रीति है वह यहाँ पर करील के प्रेम में है अर्थात् जो रत्नसेन पद्मावती का प्रेमी था, अब नागमती में अनुरक्त हो रहा है। जिसके हृदय में इमली स्थित हो गयी है उसे नारंगी कहाँ अच्छी लगेगी। अर्थात् जिसे अब नागमती से प्रीति हो गयी है वह पद्मावती को

नहीं चाह रहा है। भाव यह कि तेरे कारण रत्नसेन भ्रम में पड़ा है, इस प्रकार का भ्रम उत्पन्न करना उचित नहीं।

भला तू विचार कर तो देख कि पहले फल होता है या फूल। जिस स्थान पर आम होगा वहां क्या जामुन का हठ चल सकता है? अर्थात् फूल के समान मैं (पद्मावती) हूँ, तू (नागमती) फल के समान है—फूल पहले निकलता है, अतः पहले रत्नसेन को मेरे पास आना चाहिए था। आम से तात्पर्य पद्मावती और जामुन से नागमती है। भाव यह कि मेरे (पद्मावती) सामने तेरी (नागमती) प्रतिष्ठा नहीं हो सकती।

[ ४३५ ]

अनु तुम्ह कही नीकि यह सोभा। पै फुल सोइ भँवर जेहि लोभा॥
साँवरि जाँबु कस्तुरी चोवा। आँब जो ऊँच, तौ हिरदै रोवाँ॥
तेहि गुन अस भै जाँबु पियारी। लाई आनि माँझ कै बारी॥
जल बाढ़ै ऊभै जो आई। हिय बाँको अँबिली सिर नाई॥
सो कस पराई बारी दूखी। तजै पानि, धावहिं मुँह सूखी॥
उठै आगि दुई डार अभेरा। कौनु साथ तेहिं बैरी केरा॥
जो देखी नागेसरि बारी। लाग मरै सब सुग्गा सारी॥
जेहि तरिवर जो बाढ़ै, रहै सो अपने ठाउँ।
तजि केसरि औ कुंदहि, जाँउन पर अँबराउँ॥ ४३५॥

शब्दार्थ—अनु = और। नीकि = अच्छी। फुल = फूल। जाँबु = जामुन। रोवाँ = रोम, रेशे। ऊभै = ऊपर आये। अभेरा = भिड़ा दिया। बैरी = बेर। केरा = केला। बारी = वाटिका। सुग्गा = तोता। सार = मैना। जाउन = जामुन। पर अँवराउँ = दूसरी अमराई।

अर्थ—पद्मावती को उत्तर देते हुए नागमती कहती है कि तुमने हमारी वाटिका की शोभा को अच्छा कहा है पर फूल तो वही सुन्दर है जिस पर भौंरा मोहित हो अर्थात् स्त्री तो वही सुन्दरी है जो अपने पति की प्यारी हो (लोनी सोइ कंत जेहि चाहै—नागमती सुवा संवाद)। साँवरी और गोरी से कोई अन्तर नहीं पड़ता। उदाहरण में वह कहती है कि कस्तूरी के लेप के समान जामुन काली तो होती है पर उसका गुण आकर्षक है पर आम भले

ही ऊँचा हो पर उसके हृदय में रेशे होते हैं। इसी गुण के ही कारण मुझे तो जामुन प्यारी है और मैंने उसे अपनी वाटिका में रखा। यहाँ पर नागमती पद्मावती के उस कथन का प्रत्युत्तर दे रही है जिसमें उसने कहा था कि "आँब होइ जेहि ठाईं जाँवु लागि रहि आरि" नागमती प्रेम गर्विता है उसे विश्वास है कि राजा उसे अधिक प्यार करता है, इसी बल पर वह अपने को पद्मावती से बढ़कर सिद्ध करना चाह रही है। यद्यपि रूप की दृष्टि से पद्मावती उससे सुन्दरी है।

पद्मावती ने नागमती को पूर्व पद में इमली भी कहा था, (जो बाँकी आँविली हिया माहाँ) इस बात का प्रत्युत्तर देती हुई नागमती कहती है कि जब जल बढ़कर बहुत ऊंचा हो जाता है तो तब लोग टेढ़ी इमली को ही सिर चढ़ाते हैं अर्थात् मेरे विरह के पुनीत प्रवाह को देखकर ही राजा रत्नसेन को मेरा प्रेम स्वीकार करना पड़ा है।

इसलिए दूसरे की नाटिका को देखकर तुझे क्यों दुःख हो रहा है, पानी को छोड़ कर तू सूखे मुँह दौड़ रही है—अर्थात् मुझे पति-प्रेम प्राप्त है, मैं इस समय प्रफुल्लित हूं, तू क्यों उसे देख नहीं सकती। दो डालियों को भिड़ा देने से आग निकल पड़ती है—दो सौतों में जलन उत्पन्न हो जाती है। बेर और केले का साथ भला क्या हो सकता है क्योंकि बेर जब अपने सुख के लिए अपनी डाल हिलाती है तो केले के पत्ते अपने आप फटते हैं—इसी प्रकार जब मुझे प्रसन्नता हो रही है तो तू स्वतः जल रही है। नाग केसर का प्रयोग भी पद्मावती ने पूर्व पद में नागमती के लिए किया था, अतः नागमती कहती है कि नागकेसर की वाटिका को देख कर तोता और मैना मरने लगते हैं, अर्थात् मुझे प्रसन्न देखकर तुम्हें और तुम्हारी सखियों को दाह हो रही है। जो पक्षी जिस पेड़ पर पाला-पोसा गया, जहां वह छोटे से बड़ा हुआ, वह उसी जगह रहता है, वह अपने नागकेसर और जामुन को नहीं छोड़ता, उसी पर कूदता और प्रसन्न होता है, अमराइयों पर नहीं जाता। अर्थात् जो राजा रत्नसेन आरम्भ से मुझ (नागमती) से प्रेम करता रहा है वह अब भी मुझे न छोड़ेगा और तुझ (पद्मावती) में अनुरक्त न होगा।

पद्मावती ने पूर्व पद में अपनी आम से और नागमती की जामुन से समता की थी, उसी का उत्तर नागमती ने इस प्रकार दिया।

[ ४३६ ]

तुम्ह अँबराँउ लीन्ह का चूरी। काहे भई नींबि बिख मूरी ॥
भई बैरि कत कुटिल कटैली। तेंदु कैथ चाहि बिगसैली ॥
नारँग दाख न तुम्हरी बारी। देखि मरहिं जहँ सुग्गा सारी ॥
औ न सदाफर तुरुँज जँभीरा। कटहर बड़हर लौकी खीरा ॥
कँवल के हिय रांवा तो केसरि। तेहिं नहिं सरि पूजै नागेसरि ॥
जहँ केसरि नहिं उबरै पूँछी। बर पाकरि का बोलहिं छूँछी ॥
जो फर देखिअ सोइअ फीका। ताकर काह सराहिअ नीका ॥
रहु अपनी तैं बारी, मों सौं जूझु न बाँझ।
मालति उपम कि पूजै, बन कर खूझा खाझ ॥ ४३६ ॥

शब्दार्थ—चूरी = जोड़, बराबरी। बिखमूरी = विष की मूल। तेंदु कैथ= दो भिन्न भिन्न पेड़ों के नाम हैं। बिगसैली = विशेष रूप से कसैली। उबरै= गूलर। बर = बरगद। पाकरि = एक बरगद सरीखा पेड़। जूझु = लड़ाई करना। बाँझ = बंध्या, जिसके बच्चे नहीं हैं, एक गाली। खूझर खाझ = नीरस फल, घासपात।

अर्थ पद्मावती उत्तर देती है तुम अमराई की बराबरी क्या कर सकती हो, नीम विष-मूल सी कड़वी क्यों हुई, बेरी कटीली है, तेंदु और कैथ अत्यन्त कसैली हैं, यही सब तेरी वाटिका में हैं, नारंगी दाख आदि सुन्दर फल तेरी बाटिका में नहीं है जिसे देख कर तोता, मैना आकर्षित होते फिर इसमें सदाफल, संतरा और जंभीरी नींबू, कटहल, लौकी, खीरा आदि मधुर वस्तुएँ नहीं हैं। यदि कमल के हृदय में रेशे हैं तो उसमें केसर तो है, उसकी बराबरी नागकेसर कभी नहीं कर सकती। जहाँ कमल की केसर है वहाँ गूलर को कौन पूछेगा? (क्योंकि उसके भीतर तो रेशे के स्थान पर मच्छर होते हैं) बरगद और पाकर जैसे वृक्ष जिसमें फल नीरस होते हैं— आदि किस काम के हैं। जिस ही फल को देखें वही फीका है, तो इन्हें अच्छा

कौन कहेगा ? पद्मावती ने व्यंजना से नागमती को गुण और माधुर्य से हीन बताया।

फिर खीझ कर पद्मावती कहती है कि तू अपनी वाटिका में रह, हे बाँझ तू मुझसे न लड़, बता जंगल की घास-पत्ती कभी मालती की समता कर सकती है ? यहाँ मालती से तात्पर्य पद्मावती से और घास-पात से नागमती है।

[ ४३७ ]

कँवल सो कवन सुपारी रोठा। जेहि के हिएँ सहस दुइ कोठा।
रहै न झाँपे आपन गटा। सकति उघेलि चाह परगटा॥
कँवल पत्र दारिवँ तोरि चोली। देखसि सूर देसि हँसि खोली॥
ऊपर राता, भीतर पियरा। जारौं वहै हरदि अस हियरा॥
इहाँ भँवर मुख बातन्ह लावसि। उहाँ सुरुज हँसि हँसि तेहि रावसि॥
सब निसि तपि तपि मरसि पियासी। भोर भएँ पावसि पिय बासी॥
सेजवाँ रोइ रोइ जल निसि भरसी। तूँ मोसौं का सरबरि करसी॥
सुरुज किरिन तोहि रावै, सरवर लहरि न पूज।
करम बिहून ए दूनौ, कोउ रे धोबि कोउ भूँज॥ ४३७॥

शब्दार्थ—रोठा = रोड़ा-टुकड़ा। कोठा = कँवल गट्टे के भीतर का बीज कोश। झाँपै = ढके हुए। गटा = कँवलगट्टा। दारिवँ = दाड़िम, अनार (कुच)। राता = लाल। पियरा = पीला। हरदि = हल्दी। हियरा = हृदय। रावसि = बहलाती हो। भूँज = भूँजा जाति जो चना, चावल आदि भून कर अपनी जीविका कमाते हैं।

अर्थ—नागमती भी क्रुद्ध हो कर बोली—तू कमल की बड़ाई करती है उसके भीतर तो सुपारी जैसे कठोर टुकड़े (कमल गट्टे) हैं उसके हृदय में तो दो हजार बीज कोश हैं। फिर वह तो अपने गट्टे को भी छिपा कर नहीं रखता, वह खोलकर उसे प्रकट करता है—भाव यह कि तू तो अपने अंगों का प्रदर्शन करती है—बेहया। कमल के पत्ते अनार के समान कुचों के लिए चोली हैं पर तू तो प्रसन्नतापूर्वक खोलकर रत्नसेन (सूर्य) को दे देती है उसने उनको खुला हुआ देखा। ऊपर से तो तेरे कुच लाल, पर भीतर से

पीले हैं। उस हल्दी जैसी पीली छाती को जला दूं। (यह गाली है) यहां जो भौंरे की बातों में लजाती है और वहां सूर्य को हँस-हँस कर बहलाती है। सारी रात तो जल-जल कर प्यासी मरती है, प्रातः काल होने पर प्रिय का वास पाती है। (स्मरण रहे पिछली रात भर रत्नसेन नागमती के पास रहा और प्रातः काल में पद्मावती के पास गया था, कमल भी रात भर अपने प्रिय सूर्य से बिछुड़ा होता है और प्रातः ही खिलता है) रात में तो रो-रो कर अपनी शय्या को आँसू के जल से भरती है। भला तू मेरी बराबरी क्या कर सकती है?

सूर्य की किरण तो तुझे केवल बहलाती हैं, तालाब की लहरें सूर्य तक नहीं पहुँचतीं अर्थात् रत्नसेन तो तुझे केवल बातों से प्रसन्न करता है, सच्चा प्रेम उसका तुम्हें प्राप्त नहीं है, तुझे उसका पूर्ण सुख-भोग नहीं प्राप्त हो सकता। धोबिनें और भूंजे की स्त्री दोनों ही तो अभागिनी हैं अर्थात् जल में काम करती हुई धोबिन के समान मिलन में भी तुझे सुख उपलब्ध नहीं है, और आग के सामने काम करती हुई भूंजे की स्त्री के समान विरह में जलती हुई भी तू दुःखी है।

नोट—शुक्ल जी द्वारा सम्पादित ग्रन्थावली में पदों के क्रम में कुछ अन्तर है। यह तथा इसके बाद का पद कुछ पदों के बाद उसमें मिलते हैं।

[ ४३८ ]

अनु हौं कँयल सुरुज कै जोरी। जौं पिय आपन तौ का चोरी॥
हौं ओहि आपन दरपन लेखौं। करौं सिंगार, भोर उठि देखौं॥
मोर बिगास ओहिक परगासू। तूँ जरि मरसि निहारि अकासू॥
हौं ओहि सौं, वह मो सौं राता। तिमिर बिलाइ होत परभाता॥
कँवल के हिरदै मँह जौं गटा। हरिहर हार कीन्ह का घटा॥
जाकर देवस ताहि पै भावा। कारि रैनि कत देखै पावा॥
तू उँबरी जेहिं भीतर माँखा। चाँटिहि उठे मरन कै पाँखा॥
धोबिनि धोवै बिख हरै, अंब्रित सौं सरि पाव।
जेहि नागिनि डसु सो मरै, लहरि सुरुज कै आव॥ ४३८॥

शब्दार्थ — ओहिक = उसका। निहारि = देखकर। राता = अनुरक्त। विलाइ = नष्ट होता है। हरिहर = विष्णु और शिव। कारि = काली। उंबरी = गूलर। माँखा = मच्छर। चाँटिहि = चींटी। मरन के पाँखा = मृत्यु के समय पंख।

अर्थ—पद्मावती ने नागमती का उत्तर इस प्रकार दिया—

हम दोनों तो कमल और सूर्य की जोड़ी हैं, जो पति अपना है तो उससे किसी प्रकार दुराव या छिपाव क्या? स्मरण रहे ऊपर नागमती ने पद्मावती की निर्लज्जता का उल्लेख किया था कि वह तो अपने पयोधर तक पति को दिखाती है। इसी बात का उत्तर पद्मावती ने दिया है कि पति के समक्ष कोई दुराव ही नहीं। वह कहती है कि मैं तो उसे अपना दर्पण समझती हूँ अतः जब प्रातः काल शृंगार करती हूं तो उसे ही उठ कर देखती हूं। भाव यह कि उसके सम्मुख खुल कर उपस्थित होती हूं। मेरा समस्त विकास उसी का तो प्रकाश है—तू आकाश की ओर देखकर जला करती है। मैं उसमें और वह मुझमें अनुरक्त हैं। हमारे मिलन में दुःख रूपी अन्धकार का नाश होता है और प्रभात होता है। कमल के हृदय में कमलगट्टा है तो भी विष्णु और शिव उसका हार पहनते हैं, गट्टे के कारण कमल का क्या घट गया। दिन जिसका होता है उसी को तो अच्छा लगेगा, काली रात उसे कैसे देख सकती है। तुम तो गूलर की भांति हो जिसके भीतर अनेक मच्छर होते हैं अर्थात् तेरा तो हृदय ही दूषित है। तुझे दूसरे का सुख-सौभाग्य कैसे प्रिय होगा? चींटी के भी मृत्यु के समय पंख निकल आते हैं, इसी प्रकार तू इस समय बहुत बढ़-बढ़ कर बातें कर रही है, मेरे और रत्नसेन के प्रेम को नहीं जानती, भविष्य में जब तुम्हें प्रतीत होगा तो तू बहुत दुखी होगी।

नागमती ने पूर्व पद में पद्मावती की धोबिन से समता की थी, इस पर पद्मावती कहती है कि धोबिन तो कपड़े को धोकर उसका विरह रूपी मैल निकाल डालती है और अमृत के सदृश श्वेत वस्त्र बना देती है, पर जिसे नागिन डस ले वह तो मर ही जाता है, उसे तो सूर्य की किरणों की भाँति केवल लहरें आती हैं।

यहां पर नागिनि का प्रयोग नागमती के लिए हुआ है।

[ ४३९ ]

जौं कटहर बड़हर तौ बड़ेरी। तोहि अस नाहि जो कोका बेरी॥
स्यामि जानु मोर तुरुँज जँभीरा। करुई नींबि तौ छाँह गँभीरा॥
नरियर दाख ओहि कहँ राखौं। गलि गलि जाउँ न सौतहि भाखौं॥
तोरे कहँ होइ मोर ऊहा। फर बिनु बिरिख कोइ ढेल न बाहा॥
नवै सदाफर सो नित फरई। दारिवँ देखि फाटि हिय मरई॥
जैफर लौंग सुपारी हारा। मिरिचि होइ जो सहै न पारा॥
हौं सो पान रँग पूज न कोऊ। बिरह जो जरै चून जरि होऊ॥
लाजन्ह बूड़ि मरसि नहिं, ऊभि उठावसि माँथ।
हौं रानी पिउ राजा, तो कह जोगी नाथ॥ ४३९॥

शब्दार्थ—कोका बेरी = कमलिनी। ढेल = पत्थर, कंकड़। बाहा = फेंकता। पारा = सकता। ऊभि = उठकर।

अर्थ—नागमती कह रही है कि यदि मेरी वाटिका में कटहल और बड़हल जैसे वृक्ष हैं तो भी बड़ी बात है। तुम्हारी भांति मैं कमलिनी तो नहीं हूँ जिसमें केवल फूल होता है न तो उसमें फल है और न छाया। हमारे वृक्ष काले भले ही हो, पर उनमें नारंगी और जंभीरी नीबू तो हैं, अर्थात् चाहे मैं भले ही काली हूँ, पर मेरे पास यौवन तो है। कड़वी नीम है तो क्या उसमें गंभीर छाया तो है—बोली चाहे मेरी कटु ही हो, पर हूँ तो अपने पति को सुख देने वाली। नारियल और दाख आदि फल उसी (रत्नसेन) के लिए रखती हूँ। चाहे मैं गल कर नष्ट हो जाऊँ, पर सौत को नहीं कह सकती। सदाफर जो हमेशा नया रहता है, हमारी वाटिका में फलता रहता है। अनार (पद्मावती) उसे देख कर हृदय फाड़ कर मर जाता है। जायफर, लौंग, सुपारी हार जाते हैं, मिर्च उसे सह नहीं सकती। मैं तो पान हूँ, जिसकी बराबरी कोई कर नहीं सकता। मेरे भीतर पति का जो विरह है वह चूना है।

अब तू लज्जा से डूब कर मत मर, उठ कर अपना मस्था उठा, मैं रानी हूँ और रत्नसेन राजा है तेरे लिए यदि वह जोगी और नाथ-पन्थी हो तो हो।

[ ४४० ]

हौ पदुमिनी मानसर केवा। भँवर मराल करहिं निति सेवा॥
पूजा जोग दैय हौं गढ़ी। मुनि महेस के माँथें चढ़ी॥
जानै जगत कँवल कै करी। तोहि असि नाहिं नागिन बिखभरी॥
तूँ सब लेसि जगत के नागा। कोइलि भइसि न छाँड़सि कागा॥
तूँ भुँजइलि, हौं हंसिनि गोरी। मोहि तोहि मोंति पोति कै जोरी॥
कंचन करी रतन नग बना। जहाँ पदारथ सोह न पना॥
तूँ रे राहु हौं ससि उजियारी। दिनहि कि पूजै निसि अँधियारी॥
ठाढ़ि होसि जेहि ठाईं, मसि लागै तेहि ठाउँ।
तेहि डर राँध न बैठौं, जनि साँवरि होइ जाउँ॥ ४४०॥

शब्दार्थ—केवा = कमलिनी। करी = कली। भुँजइलि = एक काली चिड़िया। पोति = काँच या पत्थर की गुरिया। पना = पन्ना। मसि = स्याही। राँध = निकट। जनि = न।

अर्थ—पद्मावती क्रुद्ध होकर बोली कि मैं तो मानसरोवर की कमलिनी हूँ, भौंरे और हंस सब मेरी सेवा करते हैं। मैं तो पूजा के योग्य ही ईश्वर से बनाई गयी हूँ, ऋषियों तथा शंकर आदि देवताओं के मस्तक पर चढ़ती हूँ। सारा संसार कमल की कली को जानता है। तुझ जैसी सर्पिणी नहीं हूँ जो विष से भरी है। तू संसार के सारे सर्पों को लिये है। कोयल हो रही है, कौए को नहीं छोड़ती। तो भुँजइल चिड़िया के समान काली है और मैं हंसिनी के समान गोरी हूँ। मुझमें और तुझमें इतना अन्तर है जितना मोती और काँच-पत्थर की गुरिया में होता है। सोने की कली में ही हीरा और मोती शोभा देता है अर्थात् मेरे साथ ही रत्नसेन सुशोभित होता है। जहाँ हीरा है वहाँ पन्ना शोभा नहीं देता। तू तो यदि राहु है तो मैं उज्ज्वल चन्द्रमा। भला कहीं दिन की समता रात की अंधेरी कर सकती है? तू तो जहाँ खड़ी हो जाती है वहीं जैसे स्याही लग गयी हो। इसी डर से मैं तेरे निकट नहीं बैठती कि कहीं मैं साँवली न हो जाऊँ।

[ ४४१ ]

फूलु न कँवल भान के उएँ। मैल पानि होइहि जरि छुएँ॥

भँवर फिरहिं तोरे नैनाहाँ। तुबुन बिसाँइधि सब तोहि पाहाँ॥
मंछ कच्छ दादुर तोहि पासा। बग पंखी निसि बासर बासा॥
जो जो पंखि पास तोहि गए। पानी महँ सो बिसाँइधि भए॥
सहस बार जौं धोवै कोई। तबहुँ बिसाँइधि जाइ न धोई॥
जौं उजियार चाँद होइ उई। बदन कलंक डोवँ कै छुई॥
औ मोहि तोहि निसि दिन कर बीचू। राहु के हाथ चाँद कै मीचू॥
काह कहौं ओहि पिय कहँ, मोहिं पर धरेसि अंगार।
तेहि के खेल भरोसे, तुइँ जीता, मोरि हार॥ ४४१॥

शब्दार्थ—जरि = जड़। बिसाँइधि = दुर्गन्ध। मंछ = मच्छली। डोवँ = डोम, चाण्डाल (प्रवाद है कि चन्द्रमा डोमों का ऋणी है। अतः अपने ऋण के लिए डोम चन्द्रमा को घेरते हैं तो ग्रहण लगता है, लोग चन्द्रमा को ऋणमुक्त करने के लिए ग्रहण के दिन डोमों को दान देते हैं—वास्तव में डोम राहु के प्रतीक हैं।) धरेसि = रख दिया है।

अर्थ—पद्मावती के गर्व भरे उक्त वचनों को सुनकर नागमती जल कर बोली कि सूर्य के उदय होने पर कमल (पद्मावती) फूलो मत—घमंड मत करो—तेरी जड़ के स्पर्श से तो पानी तक मैला हो जाता है। तेरी आँखों में पुतली रूपी भौंरे चलते रहते हैं। जितने भी तेरे रूप के लोभ में पड़ते हैं, तेरे कारण दुर्गन्ध-पूर्ण हो जाते हैं। मछली, कछुवा, मेंढक, बगुला आदि सदा तेरे पास रहते हैं, जो-जो और भी पक्षी या जीव तेरे समीप जाते हैं, सब के सब दुर्गन्ध-पूर्ण हो जाते हैं। चाहे कोई सौ बार भी अपने अंग को धोए, पर दुर्गन्ध नहीं निकलती। तेरा शरीर अवश्य गोरा है पर यह भी ऐसा जैसे चन्द्रमा का रंग जिसके मुख में कलंक है और जिसे डोम छूता है। भाव यह कि तेरा रंग गोरा है पर दोषों से युक्त है।

मुझमें और तुझमें तो रात और दिन का अन्तर है। जैसे राहु के हाथ चन्द्र का मरण होता है, उसी प्रकार तू राहु सदृश होकर मुझ पर आ गयी है और मुझे दुःख दे रही है। मैं अपने उस पति के लिए क्या कहूँ जिसने आकर मेरे ऊपर आग का अंगारा रख दिया। उसके मनोरञ्जन और खेल के सहारे तू ही जीत गयी और मैं हार गयी।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति क्योंकि कमल (उपमान) का प्रयोग उपमेय पद्मावती के लिए है।

[ ४४२ ]

तार अकेल जीतेउँ का हारू। मैं जीता जग केर सिंगारू॥
बदन जीतेउँ जो ससि उजियारी। बनी जीतेउँ भुअंगिनि कारी॥
लोयन जीतेउँ मिरिग के नैना। कंठ जीतेउँ कोकिल के बैना॥
भौंह जीतेउँ अर्जुन धनुधारी। गीवँ जीतेउँ तँवचूर पुछारी॥
नासिक जीतेउँ पुहुप तिल सूवा। सूक जीतेउँ बेसरि होइ ऊवा॥
दामिनि जीतेउँ दसन चमकाहीं। अधर रंग रवि जीतेउँ सबाहीं॥
केहरि जीति लंक मैं लीन्हा। जीति मराल, चाल ओइ दीन्हा॥
पुहुप बास मलयागिरि जीतेउँ, परिमल अंग बसाइ।
तूँ नागिनि मोरि आसा लुबुधी, मरसि कि हरकौं जाइ॥ ४४२॥

शब्दार्थ—जीतेउँ = जीत लिया। लोयन = लोचन, आँखें। गीवँ = ग्रीवा, कंठ। तँवचूर = तमचुर, मुर्गा। पुछारी = मोर। सबाहीं = प्रातः-कालीन। लंक = लंका। हरकौं = रोकूँ।

अर्थ—नागमती के इस कथन पर कि तू जीती मैं हारी पद्मावती कहती है कि तू हार गयी। पर मैंने क्या केवल अकेले तुम्हें ही जीता है—मैंने तो संसार के सभी शृंगारों को जीत रखा है। देखो मुख से मैंने उज्ज्वल चन्द्रमा को जीत लिया है, वेणी (चोटिया) से काली सर्पिणी को जीता है, आँखों से हिरनों को जीता है, कंठ से कोयल की वाणी जीती। भौंहों से अर्जुन के धनुष को जीत लिया, गर्दन से मुर्गे और मोर को जीत लिया। नासिका से तिल के फूल और तोते को जीत लिया। वेसरि (नथ का चंदक) से शुक्रतारे को जीत लिया क्योंकि वह वेसरि के रूप में आ बैठा है। (उत्प्रेक्षा अलंकार) अपने दाँतों की चमक से बिजली को जीत लिया है, होठों के रंग से प्रातःकालीन सूर्य भी जीत लिया है। सिंह को मैंने अपनी कमर से जीत लिया, अपनी चाल से हंस को जीत लिया है। फूल की सुगन्ध और चन्दन को मैंने अपने शरीर की सहज सुगन्ध से जीत लिया है। तू नागिनी (नागमती)

आशा के लालच में मर रही है कि मैं इसे रोक दूँ--इसका मार्गा-वरोध करूँ।

अलङ्कार— समस्त पद में रूपक और उत्प्रेक्षा का सौंदर्य है।

[ ४४३ ]

का तोहि गरब सिंगार पराएँ। अबहीं लेहिं लूसि सब ठाएँ॥
हौं साँवरि सलोनि सुभ नैना। सेत चार मुख चात्रिक बैना॥
नासिक खरग फूल धुव तारा। भौंहैं धनुक गँगन को पारा॥
हीरा दसन सेत औ स्यामा। छपै बिज्जु जौं बिहँसै रामा॥
बिद्रुम अधर रंग रस राते। जूड़ अमीं अस रबि परभाते॥
चाल गयंद गरब अति भरी। बिसा लंक नागेसरि करी॥
साँवरि जहाँ लोनि सुठि नीकी। का गोरी सरबरि कर फीकी॥
पुहुप बास हौं पवन अधारी, कँवल मोर तरहेल।
जब चाहौं धरि केस ओनावौं, तोर मरन मोर खेल॥ ४४३॥

शब्दार्थ— लूसि = जला देना। खरग = खड्ग, तलवार। पारा = हराया। रामा = स्त्री। विद्रु = ममूँगा। राते = लाल। बिसरा = भिड़, ततैया, बर्रे। तरहेल = नीचा। ओनावौं = झुकाऊँ। पुहुपवास हौं, पवन, अधारी = फूलों की सुगन्ध और हवा पी कर जीना--अवधी प्रान्त में स्त्रियों में कोमलता के लिए कहावत है कि--यह तो फूल सूंघ कर और हवा पीकर रहती है।

अर्थ—नागमती कहती है तेरा शृंगार ही क्या यह तो पराया है। अर्थात् जैसा तूने ऊपर कहा, तेरे प्रत्येक अंग की सुन्दरता तो दूसरों की सुन्दरता है। जो तेरे पास आ गयी है--अपनी नहीं है। थोड़े ही काल में सब नष्ट हो जायगी। मैं साँवली और सलोनी हूँ, मेरी आँखें सुन्दर हैं। श्वेत रंग की साड़ी पहनती हूँ। मुख में चातक की वाणी (पी-पी) है। मेरी नासिका तलवार के समान और शीश फूल ध्रुवतारे के समान है। मेरी भौंहों ने आकाश के इन्द्र धनुष को हरा दिया है। मेरे दाँत हीरे के समान हैं, दाँत सफेद हैं, बीच-बीच में पान की बतीसी है। जब मैं हँस देती हूँ तो दाँतों की चमक से शर्मा कर बिजली छिप जाती है। मूँगे के समान होठ रस-रंग

से लाल हैं। उनमें शीतलता और अमृत की मधुरता है। उनका रंग और गुण ऐसा है, जैसे प्रातःकाल का सूर्य। जहाँ मैं साँवली हूँ वहाँ मैं सलोनी और सुन्दर हूँ, भला तू गोरी और फीकी मेरी बराबरी क्या कर सकती है। मैं इतनी कोमल हूं कि फुल की सुगन्ध और हवा के आधार पर रहती हूं, कमल ( पद्मावती ) तो मेरे पैरों तले है। मैं जब चाहूँ तेरे बाल पकड़ कर झुका दूँ। तुझे मार देना तो मेरे लिए खेल है उसका भाव यह है कि मैं राजा की परिणीता पत्नी हूं, उनकी चहती भी हूं, जब चाहूँ तुझे मार सकती हूं। अधिकार दिखाने की यह प्रवृत्ति स्त्रियों में बहुत मिलती है।

[ ४४४ ]

पदुमावति सुनि उतर न सही। नागमती नागिनि जिमि गही ॥
ओइँ ओहि कहँ ओइँ ओहि कहँ गहा। गहा गहनि तस जाइ न कहा ॥
दुओ नवल भर जोबन गाजीं। अछरीं जानु अखारें बाजीं ॥
भा बाँहनि बाँहनि सौं जोरा। हिया हिया सों, बाग न मोरा।
कुच सौं कुच जौं सौहें आने। नवहिं न नाए, टूटहिं ताने।
कुंभ स्थल जेउँ गज मैमंता। दूनौ अल्हर मिरे चौदंता ॥
देव लोक देखत मुए ठाढ़े। लागे बान हियँ, जाहि ने काढ़े ॥
जानहुँ दीन्ह ठग लाडू, देखि आइ तस मीचु।
रहा न कोइ धरहरिया, करै जो दुहुं महँ बीचु ॥ ४४४ ॥

शब्दार्थ—अछरीं = अप्सराएँ। बाजीं = लड़ीं। बाग न मोरा = बाग नहीं मोड़तीं, लड़ाई से नहीं हटतीं। अल्हर = अल्हड़, निर्भीक रूप से। चौदन्ता=चार दाँत वाला चार दाँत वाला बैल जवान होता है, इस अवस्था के बैल आपस में लड़ते भी बहुत हैं। ठगलाडू = ठग लोग एक प्रकार का लड्डू रखते थे, मुसाफिरों को इसे खिला कर बेहोश कर देते थे और सारा धन लूट लेते थे। धरहरिया = बीच-बिचाव करने वाला।

अर्थ—पद्मावती नागमती के उत्तर को सह न सकी। उसने नागमती को सर्पिणी के समान पकड़ लिया। दोनों ने एक दूसरे को पकड़ लिया, ऐसी धर-पकड़ उनकी हुई कि कहा नहीं जाता। दोनों युवतियाँ थीं, जवानी

में भरी हुई गर्ज उठीं। मानो अप्सरायें अखाड़े में लड़ रही हैं। बाँह से बाँह और छाती से छाती भिड़ रही थीं--दोनों लड़ाई नहीं बन्द करतीं। सामने तने हुए दोनों के उरोज भिड़ गये, झुकाने पर ये झुकते नहीं, चोली की तनी टूट गयीं। उनके पेट मतवाले हाथी के कुम्भ स्थलों के समान मालूम होते थे। दोनों अल्हड़ थीं और युवतियाँ थीं। देव लोक में देवता लोग यह लड़ाई देख कर खड़े-खड़े मर से गये, उनके हृदय में ऐसे बाण लगे कि वे निकाले नहीं निकलते। ऐसा प्रतीत होता था मानो इन्हें किसी ने ठग-लड्डू खिला कर बुद्धि शून्य कर दिया है। मृत्यु आने वाली है। कोई बीच-बिचाव करने वाला भी न था जो दोनों को छुड़ा देता।

[ ४४५ ]

पवन स्रवन राजा के लागा। लरहिं दुऔ पदुमावति नागा॥
दूऔ सम साँवरि औ गोरी। मरहिं तो कहँ पावसि असि जोरी॥
चलि राजा आवा तेहि बारीं। जरत बुझाई दूनौ नारीं॥
एक बार जिन्ह पिउ मन बूझा। काहे कौं दोसरे सौं जूझा॥
अैस ग्यान मन जान न कोई। कबहुँ राति, कबहुँ दिन होई॥
धूप छाँह दुइ पिय के रंगा। दूनौं मिली रहहु एक संगा॥
जूझब छाँड़हु बूझहु दोऊ। सेव करहु सेवाँ कछु होऊ॥
तुम्ह गंगा जमुना दुइ नारी, लिखा मुहम्मद जोग।
सेव करहु मिलि दूनहुँ, औ मानहु सुख भोग॥ ४४५॥

शब्दार्थ- स्रवन = कान। बारीं = वाटिका। जूझा = लड़ती हो।

अर्थ—हवा राजा के कान तक पहुँची और उसने बताया कि पद्मावती और नागमती दोनों लड़ रही हैं। उसने सोचा ये दोनों साँवली और गोरी समान हैं, यदि इनमें से कोई मर जायगी तो ऐसी जोड़ी मुझे कहाँ मिलेगी। ऐसा सोच कर राजा चल कर उस वाटिका में आया और इन दोनों जलती हुई नारियों को बुझा दिया। उसने कहा कि एक बार जिसने अपने पति के मन को समझ लिया है, वह दूसरे से क्यों लड़े। ऐसा ज्ञान तुम दोनों में कोई नहीं जानता कि कभी रात होती है और कभी दिन— दोनों का रहना

अनिवार्य है। पति के रंग में दोनों धूप और छाँह के रूप में रह सकती हैं, दोनों एक साथ ही धूप-छाँह की तरह मिली रहो। लड़ाई छोड़कर दोनों समझ बूझ लो, यदि तुम्हारे पास कुछ सेवा है तो पति की सेवा करो। तुम दोनों तो गंगा और यमुना के सदृश हो, ईश्वर ने पहले ही से तुम दोनों का मिलाप लिख रखा था। अब तुम दोनों मिलकर अपने पति की सेवा करो और सुख-भोग प्राप्त करो।

इस पद के पश्चात् पं० शुक्ल सम्पादित ग्रन्थावली में एक पद और है। डा० माताप्रसाद गुप्त उसे प्रक्षिप्त मानते हैं क्योंकि यह पद सभी प्राप्त हस्त-लिखित प्रतियों में नहीं है। वैसे विषय की दृष्टि से इस पद में कोई दोष नहीं है, जो चिन्त्य प्रयोग डा० गुप्त ने इस पद में निकाले हैं वे सारगर्भित नहीं हैं। पद इस प्रकार है—

अस कहि दूनौ नारि मनाई। बिहँसि दोउ तब कंठ लगाई।
लेइ दोउ संग मन्दिर महँ आए। सोन पलंग जहँ रहे बिछाए॥
सीझी पाँच अमृत जेवनारा। औ भोजन छप्पन परकारा॥
हुलसीं सरस खजहजा खाई। भोग करत बिहँसी रहसाई॥
सोन-मन्दिर नगमति कहँ दीन्हा। रूप-मन्दिर पद्मावती लीन्हा॥
मन्दिर रतन रतन कै खंभा। बैठा राज जोहारै सभा॥
सभा सो सबै सुभर मन कहा। सोई अस जो गुरु मल कहा॥

बहु सुगंध, बहु भोग सुख, कुरलहिं केलि कराहिं।
दुहुँ सौं केलि नित आनै, रहस अनँद दिन जाहिं॥

———

# ३७. रत्नसेन-संतति-खण्ड

डा० माताप्रसाद जी गुप्त इस खंड को प्रक्षिप्त मानते हैं। इस खंड में है भी केवल एक ही छंद। क्षेपक बताने का मुख्य कारण तो यह है कि यह पद भी कई हस्तलिखित प्रतियों में उपलब्ध नहीं होता। फिर इसमें पद्मावती और नागमती के एक-एक पुत्र कँवलसेन और नागसेन के उत्पन्न होने का उल्लेख है। इन दोनो पुत्रों का यहाँ के अतिरिक्त ग्रन्थ में कहीं भी कथन नहीं मिलता। साथ ही अर्थ की दृष्टि से भी इस पद के कई शब्द 'तोहीं', 'जाही' और 'दुखी' को डा० गुप्त चिन्त्य बताते हैं जिनके अर्थ बिलकुल ठीक नहीं निकलते। पद इस प्रकार है—

जाएउ नागमती नागसेनहिं। ऊँच भाग, उँचै दिन रैनहिं॥
कँवलसेन पद्मावति जाएउ। जानहुँ चन्द धरति महँ आएउ॥
पंडित बहु बुधिवंत बोलाए। रासि बरग औ गरह गनाए॥
कहेन्हि बड़े दोऊ राजा होहीं। ऐसे पूत होंहि सब तोहीं॥
नवौ खंड के राजन्ह जाहीं। औ किछु दुंद होइ दल मांही॥
खोलि भँडारहिं दान देवावा। दुखी सुखी करि मान बढ़ावा॥
जाचक लोग गुनी जन आए। औ अंनद के बाज बधाए॥

बहु किछु पावा जोतिसिन्ह, औ देइ चले असीस॥
पुत्र, कलत्र, कुटुम्ब सब, जीयहिं कोटि बरीस॥

शब्दार्थ—जाएउ = उत्पन्न किया। रासि = राशि। बरग = वर्ग। गरह = ग्रह। दुंद = लड़ाई।

———

उत्तरार्द्ध शो-भ्या

# ३८. राघव-चेतन-देश-निकाला-खण्ड

[ ४४६ ]

राघौ चेतनि चेतनि महा। आइ ओरँगि राजा के रहा॥
चित चिंता जानै बहु भेऊ। कवि बियास पंडित सहदेऊ॥
बरनी आइ राज कै कथा। सिंघल कबि पिंगल सब मथा॥
कबि ओहि सुनत सीस पै धुना। स्रवन सों नाद बेद कबि सुना॥
दिस्टि सो धर्म पंथ जेहि सूझा। ग्यान सो परमारथ मन बूझा॥
जोग सो रहै समाधि समाना। भोग सो गुनी केर गुन जाना॥
बीर सो रिस मारै, मन गहा। सोइ सिंगार पाँच भल कहा॥

बेद भेद जस बररुचि, चित चिंता तस चेत।
राजा भोज चतुर्दस बिद्या, भा चेतन सौं हेत॥ ४४६॥

शब्दार्थ—ओरँगि = तख्त, राजदरबार-पाठान्तर-आऊसरि = उम्रभर। पिंगल = छंद। गहा = वश में किया। बररुचि = विक्रमादित्य की सभा के विद्वान् पंडित।

अर्थ—राघव चेतन नामक चक बड़ा विद्वान् राजा के दरबार में रहता था। मनोविज्ञान के अनेक रहस्यों का वह ज्ञाता था। कविता में व्यास और पंडिताई में सहदेव के सदृश था। आ करके उसने राजा की सारी सिंहल की कथा को छन्दोवद्ध कर डाला। उस रचना को जो ही सुनता था सिर धुनने लगता था उसे ऐसा प्रतीत होता था मानो वह कानों से वेद ध्वनि सुन रहा हो। उसे सुन कर धर्म पंथ में दृष्टि हो जाती थी। ज्ञान ऐसा हो जाता था कि परमार्थ में ही मन लग जाता था। जोगी उसे सुनकर समाधि में समा जाता था भोगों का ऐसा वर्णन उसमें था कि गुणी ही उसको समझ सकते हैं। वीर रस का ऐसा परिपाक था कि क्रोध का आवेश पाठक के मन को वशीभूत कर

लेता था। उसमें पाँचों शृङ्गारों का भी सुन्दर वर्णन था। जिस प्रकार विद्वान् पंडित वररुचि को वेद के भेदों का ज्ञान था उसी प्रकार राघवचेतन की बुद्धि में भी ज्ञान था। राजा भोज की चौदह विद्याओं को भी वह जानता था अतएव राजा को उससे प्रीति हो गयी।

[ ४४७ ]

घरी अचेत होइ जौं आई। चेतन कर पुनि चेत भुलाई॥
भा दिन एक अमावस साई। राजैं कहा दुइज कब होई॥
राघौ के मुख निकसा आजू। पँडितन्ह कहा कालिह बड़ राजू॥
राजैं दुहूँ दिसा फिरि देखा। को पंडित बाउर, को सरेखा॥
पैज टेकि तब पँडितन्ह बोला। झूठा वेद बचन जौं डोला॥
राघौ करत जाखिनी पूजा। चहत सो रूप देखावत दूजा॥
तेहि बर भए पैज कै कहा। झूठ होइ सो देस न रहा॥

राघौ पूजा जाखिनी, दुइज देखावा साँझ।
पंथ गरंथ न जे चलहिं, ते भूलहिं बन माँझ॥४४७॥

शब्दार्थ—चेतन = चैतन्य-बुद्धिमान्। सरेखा = चतुर। पैज = पग, पाँव। जाखिनी = यक्षिणी। गरंथ = ग्रन्थ।

अर्थ—कवि कहता है कि जब संयोग से चेतना-शून्यता की घड़ी आ जाती है, तो बुद्धिमान् की भी बुद्धि भूल जाती है। एक दिन अमावस्या का दिन था, राजा ने पूछा कि द्वितीया कब होगी। राघव चेतन के मुख से निकल गया कि 'आज' है, पर अन्य पंडितों ने कहा कि कल होगी। राजा ने दोनों दिशाओं में–राघव चेतन की ओर और पंडितों की ओर देखा और तुममें से कौन बावला और कौन चतुर है। तब पंडितों ने पाँव रोप कर कहा कि यदि हमारी बात झूठ हो, तो वेद के वचन मिथ्या हैं। राघव तो यक्षिणी की पूजा करता है, उसी के बल पर जैसा चाहता है, वैसा दूसरा रूप दिखा देता है। उसी के बल पर पाँव रोप कर कहता है। जो आज झूठा सिद्ध हो जाय, वह देश में न रहने पावे।

राघव चेतन ने अपनी यक्षिणी की पूजा की और सांचमाच उसने द्वितीया का चन्द्रमा दिखा दिया। जायसी कहते हैं कि जो लोग ग्रन्थ के रास्ते नहीं

चलते, वे वास्तव में भूलते हैं, जैसे कोई वन में भटक जाय। भाव यह कि राघव चेतन ने शास्त्र के विरुद्ध यह करके अच्छा न किया।

[ ४४८ ]

पंडित कहहिं हम परा न धोखा। यह सो अगस्ति समुँद जेउँ सोखा॥
सो दिन गएउ साँझ भौ दूजी। देखिअ दूजि घरी वह पूजी॥
पंडितन्ह राजहिं दीन्ह असीसा। अब कसिअइ कंचन औ सीसा॥
जौं वह दूजि का लन्ह कै होती। आजु तीजि देखिअति तसि जोती॥
राघौ काल्हि दिस्टि बँध खेला। सभा मोहिं चेटक सिर मेला॥
एहि कर गुरू चमारिनि लोना। सिखा काँवरू पाढ़ित टोना॥
दूजि अमावस महँ जो देखावै। एक दिन राहु चाँद कहँ लावै॥
राज बार अस गुनी न चाहिअ, जेहि टोना कर खोज।
एहि छंद ठगबिद्या, डहँका राजा भोज॥ ४४८॥

शब्दार्थ—सोखा = पी गया। कसिअइ = कसिए-परखिए। दिस्टिबंध = इन्द्रजाल। चेटक = जादू। चमारिनि लोना = काम रूप की प्रसिद्ध जादूगरनी लोना चमारी। काँवरू = काम रूप (आसाम)। पाढ़ित टोना = टोना (जादू) पढ़ना। राज बार = राज दरबार। डहँका = ठगा गया।

अर्थ—पंडितों के कहा कि ऐसे धोखेधड़ी की बात कभी नहीं हो सकती, यह तो अगस्त हो गया, जिसने सारे समुद्र को पी लिया था। भाव यह कि अमावस्या के दिन द्वितीया का चाँद दिखाना और द्वितीया तिथि का होना असम्भव है, इतनी प्रत्यक्ष बात को झूठा कैसे कहा जा सकता है। वह दिन बीता और दूसरी संध्या आई, तब ठीक समय कर द्वितीया का चन्द्रमा आकाश में दिखलाई पड़ा। पंडितों ने जाकर राजा को आशीर्वाद दिया और कहा कि हे राजन्! अब आप कसौटी पर सोना और शीशा कस कर देखिए। यदि कल ही द्वितीया की तिथि रही होती, तो आज चन्द्रमा में तृतीया की ज्योति होती। राघव चेतन ने तो कल इन्द्रजाल से दृष्टिबन्ध का खेल कर दिया था, सभा में सब पर उसने जादू कर दिया था। इसकी गुरु तो काम रूप की प्रसिद्ध जादूगरनी लोना चमारी है, उसी से इसने वहाँ पर टोना पढ़ना सीख रक्खा है। जो व्यक्ति अमावस्या में द्वितीया दिखा सकता है, वह

तो चन्द्रमा के लिए राहु भी ला सकता है, भाव यह कि पद्मावती के लिए अलाउद्दीन को भी ला सकता है। राज दरबार में ऐसा गुणी नहीं चाहिए, जो टोना जादू की खोज में रहता है। इसी छल छन्द और ठगविद्या से राजा भोज भी ठगा गया था।

[ ४४६ ]

राघौ बैन जो कंचन रेखा। कसें बान पीतर अस देखा ॥
अग्याँ भई रिसान नरेसू। मारौं काह निसारौं देसू ॥
तब चेतन चित चिंता गाजा। पंडित सो जो बेद मति साजा ॥
कबि सो पेम तंत कबिराजा। झूँठ साँच जेहि कहत न साजा ॥
खोट रतन सेवा फटिकरा। कहँ खर रतन जो दारिद हरा ॥
चहै लच्छि बाउर कवि सोइ। जेहि सुरसती, लच्छि कित होई ॥
कबिता सँग दारिद मति भँगी। काँटइ कुटिल पुहुप के संगी ॥
कबिता चेला बिधि गुरू, सीप सेवाती बुंद।
तेहि मानुस कै आस का, जो मरजिआ समुंद ॥ ४४६ ॥

शब्दार्थ बान = वर्ण, रंग। पीतर = पीतल। रिसान = क्रुद्ध। काह = या। निसारों देसू = देश निकाला दूँ। गाजा = उत्पन्न हुई। फटिकरा = फिटकरी जिसका प्रयोग सोनार लोग खोटे सोने के साथ करते हैं। खर = खरा, शुद्ध। हरा = हरने वाला। मतिभंगी = बुद्धि को नष्ट करने वाला। मरजिआ = गोताखोर।

अर्थ—राजा ने राघवचेतन की बातों को जो सोने की रेखा सी प्रतीत होती थी, परीक्षा करके देखा तो प्रतीत हुआ कि वह तो पीतल के समान है। राजा क्रुद्ध हो गया और आज्ञा हुई कि यह मार डाला जाय या देश से निकाल दिया जाय। तब राघवचेतन को चिन्ता हुई। वह सोचने लगा कि पंडित तो वही है जो वेद की बुद्धि में रहता है। कवि तो श्रेष्ठ वही है जो प्रेम-तत्त्व का आधार लेता है उसे झूठ-साँच शोभा नहीं देती। खोटे सोने (रत्न) की ही सेवा फिटकरी करती है। अर्थात् मैंने खोटे राजा रत्नसेन की सेवा अब तक की। यह वह खरा रत्न (राजा) नहीं है जो हमारे दारिद्र्य को हर सके। जो कवि लक्ष्मी (धन) चाहता है वह पागल है। भला जिसके

पास सरस्वती (विद्या) है उसके पास लक्ष्मी (धन) कहाँ से हो सकती है ? कविता के साथ मतिभ्रष्ट करने वाला दारिद्र्य इसी प्रकार लगा रहता है जैसे पुष्प के साथ कुटिल कांटे। कविकर्म तो चेला है, भाग्य गुरु है। धन या वैभव की इच्छा स्वाति नक्षत्र की बूँद है, तो भला उस मनुष्य के लिए क्या आशा की जा सकती है जो समुद्र का गोताखोर (मरजीवा) है। भाव यह कि कवि कर्म दुष्कर है, भाग्य का ही सहारा है, कवि बेचारे की धन-वैभव की इच्छा की पूर्ति बड़ी कठिन है। उसका जीवन सदा ही संशयात्मक है, उसे जीवन में कोई शुभाशा न करनी चाहिए।

अलंकार—पूर्णोपमा और साङ्गरूपक।

[ ४५० ]

यह रे बात पदुमावति सुनी। चला निसरि कै राघौ गुनी ॥
कै गियान धनि अगम बिचारा। भल न कीन्ह अस गुनी निसारा ॥
जेइँ जाखिनी पूजि ससि काढ़ी। सुरुज के ठाउँ करै पुनि ठाढ़ी ॥
कबि कै जीभ खरग हिरवानी। एक दिसि आग, दोसर दिसि पानी ॥
जनि अजगुत काढ़ै मुख भोरें। जस बहुतें, अपजस होइ थोरें ॥
राघौ चेतनि बेगि हंकारा। सुरुज गरह भा लेहु उतारा ॥
बाँभन जहाँ दक्खिना पावा। सरग जाइ जौं होइ बोलावा ॥
आवा राघौ चेतनि, धौराहर के पास।
ऐस न जानै हिरदै, बिजुरी बसै अकास ॥ ४५० ॥

शब्दार्थ—निसरि = निकल कर। धनि = स्त्री, पद्मावती। अगम = आगे आने वाला परिणाम। खरग = खड्ग, तलवार। हिरवानी = हरद्वान की प्रसिद्ध तलवार। दोसर = दूसरी। जनि = मत। अजगुत = अयुक्त बात। भोंरे = भोले। सुरज गरह = सूर्य-ग्रहण। उतारा = निछावर किया हुआ दान। ऐस = ऐसा।

अर्थ—इस बात को पद्मावती ने सुना कि गुणी राघवचेतन निकल के जा रहा है। बुद्धि से सोच कर उस स्त्री ने उसके परिणाम पर विचार किया कि राजा ने यह काम अच्छा नहीं किया कि ऐसे गुणी को निकाल दिया। जिसने यक्षिणी पूज कर अमावस्या में चन्द्रमा निकाल दिया वह तो चन्द्रमा

को सूर्य के पास खड़ा कर सकता है। अर्थात् मुझे (चन्द्रमा) किसी और राजा (सूर्य) के पास खड़ी कर सकता है। कवि की जिह्वा तो हरद्वानी तलवार है; एक ओर उसमें अग्नि है और दूसरी ओर पानी है—अर्थात् जितना ही उसकी वाणी में मिठास है उतनी ही भयंकरता भी है। मेरे भोले राजा ने व्यर्थ ही अयुक्त बात मुख से निकाल दी। यश तो बहुत करने पर प्राप्त होता है, पर अपयश थोड़े ही में मिल जाता है। उसने तुरन्त ही राघवचेतन को बुलवाया और कहा कि सूर्य-ग्रहण लगा है, तुम निछावर किया हुआ दान ले जाओ। कवि कहता है कि ब्राह्मण यदि दक्षिणा पा जाय तो उसे यदि स्वर्ग से भी बुलावा आए तो वह जा सकता है। प्रतएव दक्षिणा के लिए राघवचेतन पद्मावती के महल के पास आया, वह हृदय में ऐसा नहीं जानता था कि आकाश में बिजली रहती है। कवि का मन्तव्य यह है कि राघवचेतन ने कभी पद्मावती को न देखा था—वह बिजली की द्युति वाली थी—ऐसी कल्पना भी वह न कर सकता था।

अलंकार—रूपक।

[ ४५१ ]

पदुमावति सो झरोखें आई। निहकलंक जसि ससि देखराई॥
तेतखन राघौ दीन्ह असीसा। जनहुँ चकोर चंद मुख दीसा॥
पहिरें ससि नखतन्ह कै मारा। धरती सरग भएउ उजियारा॥
औ पहिरें कर कंगन जोरी। लहैं सो एक एक नग नव कोरी॥
कंगन काढ़ि सो एक अडारा। काढ़त हार टूटि गौ मारा॥
जानहुँ चाँद टूट लै तारा। छूटेउ सरग काल कर धारा॥
जानहुँ सुरुज टूट लै करा। परा चौंधि चित चेतनि हरा॥
परा आइ भुइँ कंगन, जगत भएउ उजियार।
राघौ मारा बीजुरी, बिसँभर कछु न सँभार॥ ५१॥

शब्दार्थ—मारा = माला। लहैं = शोभा पा रहे थे। नवकोरी = ९ × २० = १८०। अडारा = डाल दिया। बिसँभर = बेहोशी।

अर्थ—पद्मावती महल के झरोखे पर आई तो ऐसी दीख पड़ी जैसे निष्कलङ्क चन्द्रमा। उसी समय राघवचेतन ने आशीर्वाद दिया। राघव इस

प्रकार पद्मावती को देख रहा था जैसे चकोर चन्द्रमा को देखता है। शशि रूपी पद्मावती नक्षत्र रूपी हीरों की माला पहने थी, उसके प्रकाश से पृथ्वी और आकाश सभी जगह उजाला हो गया। हाथ में कंगनों की जोड़ी पहने थी, प्रत्येक में एक सौ अस्सी हीरे जड़े थे। उसने एक कंगन निकाल कर डाल दिया। उसके निकालने में हार की माला भी टूट गयी। ऊपर से जब कंगन मोतियों के साथ गिरा तो ऐसा प्रतीत हुआ मानो चन्द्रमा ताराओं को लेकर टूट रहा है और स्वर्ग से काल की धारा टूट रही है। अथवा मानो सूर्य अपनी किरणों को लेकर टूट रहा है। राघवचेतन उसे देख कर चकाचौंध हो गया, उसका चित्त हो उठा।

कंगन भूमि पर आ गिरा, उसके प्रकाश से पृथ्वी में उजेला हो गया। राघवचेतन को तो मानो बिजली लग गयी हो, वह बेहोश हो गया, उसे किसी चीज की याद न रह गयी।

अलंकार—निहकलंक जसि ससि = व्यतिरेक।
जनहुँ चकोर चन्द मुख दीसा—उत्प्रेक्षा।
पहिरे सीख नखतन कै मारा = रूपकातिशयोक्ति।
जानहु चाँद............. उत्प्रेक्षा।

[ ४५२ ]

पदुमावति हँसि दीन्ह झरोखा। अब जो गुनी मरइ, मोहिं दोखा॥
सखीं सरेखीं देखहिं धाई। चेतन अचेत परा केहि घाई॥
चेतन परा, न एकौ चेतू। सबन्हि कहा एहि लाग परेतू॥
कोइ कह, काँप आहि सनिपातू। कोइ कह आहि मिरिगिया बातू॥
कोइ कह, लाग पवन कर झोला। कैसेहुँ समुझि न राघौ बोला॥
पुनि उठारि बैसारिन्हि छाहाँ। पूछहि, कौनि पीर जियय माहाँ॥
दहुँ काहू के दरसन हरा। कै एहि धूत भूत छँद छरा॥
कै तोहि दीन्ह काहु किछु, कै र डसा तूँ साँप।
कहु सचेत होइ चेतन, देह तोरि कस काँप॥ ४५३॥

शब्दार्थ—सरेखीं = चतुर। घाई = चोट। परेतू = प्रेत। सनिपातू =

सन्निपात। मिरिगिया = मृगी, हिस्टीरिया। झोला = झोंका। दहुँ = अथवा। छरा = छला गया।

अर्थ—पद्मावती झरोखे में हँस पड़ी। उसने कहा कि अब यदि यह गुणी राघवचेतन मरेगा तो इसका दोष मुझे ही लगेगा। उसकी चतुर सखियाँ दौड़ कर देखने लगीं कि राघवचेतन किस चोट से बेहोश हो गया है। वह पड़ा हुआ था, उसे बिल्कुल ही होश न था। सबने कहा कि इसे तो प्रेत लगा हुआ है। कोई कहने लगी कि यह काँप रहा है, इसे सन्निपात हो गया है, कोई कहने लगी कि इसे मृगी (हिस्टीरिया) रोग हुआ है, कोई कहने लगी कि इसे ठंडी हवा का झोंका लगा है। किसी प्रकार उन्हें समझ नहीं पड़ता और न राघव बोलता था। फिर उसे उठा कर उन लोगों ने उसे छाया में बैठाया और पूछने लगी कि कौन सी पीड़ा तुम्हारे दिल में है। क्या किसी के दर्शन से तो तुम्हारी सुधबुध नहीं हरी गयी या भूत-प्रेतों के छल-छंद से छले गये हो? या तो तुझे कुछ विष आदि तो नहीं दे दिया या कहीं तुझे साँप ने तो नहीं डस लिया? हे राघवचेतन! सचेत होकर बताओ तेरी देह क्यों काँप रही है?

[ ४५३ ]

भएउ चेत चेतन तब जागा। बकत न आव, टकटका लागा॥
पुनि जौं बोला बुधि मति खोवा। नैन झरोखा लाएँ रोवा॥
बाउर बहिर सीस पै धुना। आप न कहै पराए न सुना॥
जानहुँ लाई काहुँ ठगौरी। खिन पुकार, खिन बाँधै पौरी॥
हौं रे ठगा एहि चितउर माहाँ। कासौं कहौं, जाउँ केहि पाँहा॥
यह राजा सुठि बड़ हत्यारा। जेइँ अस ठग राखा उजिथारा॥
ना कोइ बरज न लाग गोहारी। अस एहि नगर होइ बटवारी॥
दिस्टि दिए ठगलाडू, अलक फाँस परि गींव।
जहाँ भिखारि न बाँचहि, तहाँ बाँच को जीव॥ ४५३॥

शब्दार्थ—बकत = बोली। ठगौरी = ठगविद्या, जादू। पौरी = पौड़ियों पर। गोहारी = पुकार सुनने वाला। बटवारी = लूट। अलक = बाल। गींव = ग्रीवा, गर्दन। बाँचहि = बचते हैं।

अर्थ—होश आने पर राघवचेतन जग पड़ा, उसकी बोली नहीं निकलती, आँखों में टकटकी लग गयी। फिर जो बोला तो उसकी बुद्धि खो गयी, महल के झरोखे पर दृष्टि लगा कर रोने लगा। बावले और बहरे की भांति अपने हृदय के दुःख-दर्द को व्यक्त न कर सकने के कारण वह अपना सिर धुनने लगा। न वह अपनी कहता है और न दूसरों की सुनता है। मानो किसी ने उस पर जादू कर दिया है। कभी पुकारता है, कभी अपनी दृष्टि महल की पौड़ियों पर लगाता है। कहने लगा कि मैं तो इस चित्तौड़ में ठगा गया, अब किससे कहूँ और किसके पास जाऊँ ? यह राजा तो बड़ा ही हत्यारा है, जिसने ऐसा उज्ज्वल ठग (पद्मावती) रख छोड़ा है। न कोई इसे रोकने वाला है और न कोई पुकार सुनता है। इस प्रकार इस नगर में लूट हो रही है। पद्मावती की आँखों और अलकों के सम्बन्ध में कहता है कि इसकी दृष्टि वह ठग-लड्डू हैं जिसे देख कर वन में ठग लोग मुसाफिरों को मार देते थे और इसकी अलकें मेरे गले की फाँसी हैं। जब इस नगर में मुझ जैसा भिखारी ही नहीं बचता, वहाँ और कोई जीव कैसे बचेगा ?

अलंकार—अन्तिम दोहे में रूपक।

[ ४५४ ]

कत धौराहर आइ झरोखें। लै गै जीव दक्खिना धोखें ॥
सरग सूर ससि करै अँजोरी। तेहि तें अधिक देउँ केहि जोरी ॥
ससि सूरहि जौ होति यह जोती। दिन भा रहत, रैनि नहिं होती ॥
सो हँकारि मोहि कंगन दीन्हा। दिस्टि न परै जीव हरि लीन्हा ॥
नैन भिखारि ढीठ सत छाँड़े। लागे तहाँ बान बिखु गाड़े ॥
नैनहिं नैन जो बेधि समाने। सीस धुनहिं नहिं निसरहिं ताने ॥
नवहिं न नाएँ निलज भिखारी। तबहुँ न रहहिं लागि मुख कारी ॥
कत करमुखे नैन भए, जीव हरा जेहि बाट।
सरवर नीर बिछोह जेउँ, तरकि तरकि हिय फाट ॥ ४५४ ॥

शब्दार्थ—दक्खिना = दक्षिणा, दान। हँकारि = बुला कर। बिख = विष। निसरहिं = निकलते हैं। ताने = खींचने पर। तरकि = सूख कर।

अर्थ—राघवचेतन कहता जा रहा है कि पद्मावती धौराहर के झरोखे

पर क्यों आई ? वह तो दक्षिणा का धोखा देकर मेरा जीव ही ले गयी। आकाश के सूर्य और चन्द्रमा प्रकाशमान हैं उनसे अधिक किसकी समता इसके साथ करूँ। पर चन्द्रमा और सूर्य में यदि पद्मावती जैसा प्रकाश होता तो दिन ही रहता, रात क्यों होती। इसने मुझे बुला कर कंगन दिया, अब वह मेरी दृष्टि में नहीं पड़ रही है, उसने तो मेरा जीव ही हर लिया है। भिखारी रूपी मेरे नेत्रों ने धृष्टता करके सत को भी छोड़ दिया, इन्हें विष से भरे हुए बाण लगे हैं। आँखों से आँखें जब विंध कर एक दूसरे में समा जाती हैं तो सारे सिर धुन डालो, खींचने पर निकल नहीं पातीं। ये निर्लज्ज भिखारी--नेत्र झुकाने पर झुकते नहीं। इनके मुख में कालिख (अँजन) भी लग गया तब भी ये नहीं मानते। ये कलमुँहे नेत्र हुए ही क्यों, जिनके रास्ते से जीव हरा गया (भाव यह कि आँखों के देखने ही से प्राण जा रहे हैं। यदि ये न होतीं तो अच्छा होता)। अब हमारा हृदय इस प्रकार फट रहा है जैसे तालाब का पानी सूख जाने पर उसमें दरारें पड़ जाती हैं।

अलंकार--उत्प्रेक्षा— लागि मुख कारी।

उपमा—सरवर नीर बिछोह जेउँ।

[ ४५५ ]

सखिन्ह कहा चेतनि बिसँभरा। हिएँ चेतु जिय जासि न मरा ॥
जौं कोइ पावै आपन माँगा। ना कोइ मरै, न काहू खाँगा ॥
वह पदुमावति आहि अनूपा। बरनि न जाइ काहु के रूपा ॥
जेइँ चीन्हा सो गुपुत चलि गएऊ। परगट काह, जीव बिनु भएऊ ॥
तुम्ह अस बहुत बिमोहित भए। धुनि धुनि सीस जीव दै गए ॥
बहुतन्ह दीन्ह नाइ कै गीवा। उतरु न देइ, मार पै जीवाँ ॥
तूँ पुनि मरब होब जरि भुई। अबहुँ उघेलु कान कै रूई ॥
कोई माँगि मरै नहिं पावै, कोइ बिनु माँगा पाउ।
तूँ चेतनि औरहि समुझावहि, दहुँ तोहि को समुझाउ ॥ ४५५ ॥

शब्दार्थ—खाँगा = कमी पड़ना। भुई = सरकंडे का धुआं। उघेलु = खोलो।

अर्थ सखियों ने कहा कि हे राघव चेतन हृदय में चेतो, मर नहीं जाना। यदि किसी को मुँह माँगी मृत्यु मिले तब तो कोई किसी प्रकार का दुःख न पावेगा और न किसी को कुछ घटेगा। वह पद्मावती तो अनुपम सुन्दरी है, उसके रूप का वर्णन तो कोई कर ही नहीं सकता। जो उसे पहचानता है वह तो गुप्त रूप से चला जाता है, प्रगट हो कर जीव-विहीन क्यों हो। तुम्हारे ऐसे बहुत से लोग मोहित हुए और सिर धुन-धुन कर जान दे गये। अनेक लोगों ने अपनी गर्दन फँसा दी, उत्तर नहीं मिलता जान जाती है। तू भी मर कर सरकंडे के धूएँ की तरह भस्म हो जायेगा। इसलिए अब भी अपने कान की रुई को निकाल—अर्थात् ध्यान से सुन।

संसार में कोई तो बिना माँगे ही मौत पा जाता है और कोई माँग कर भी मरने नहीं पाता। तू तो राघव चेतन है, औरों को समझाने वाला है। अब भला तुझे ही कौन समझावे।

[ ४५६ ]

भएउ चेत, चित चेतनि चेता। बहुरि न आइ सहौं दुख एता ॥
रोवत आइ परे हम जहाँ। रोवत चले कवन सुख तहाँ ॥
जहँवाँ रहें साँसौ जिय केरा। कौनु रहनि, मकु चलौं सबेरा ॥
अब यह भीख तहाँ होइ माँगौं। ते। देइ जग जरमि न खाँगौं ॥
औ अस कंगनु पावौं दूजी। दारिद हरै, इंछ मन पूजी ॥
ढीली नगर आदि तुरुकानू। साहि अलाउदीन सुलतानू ॥
सोन जरै जेहि की टकसारा। बारह बानी परहिं दिनारा ॥
तहाँ जाइ यह कँवल अभासौं, जहाँ अलाउद्दीन।
सुनि के चढ़ै भानु होइ, रतन होइ जल मीन ॥ ४५६ ॥

शब्दार्थ - मकु = बल्कि। सबेरा = शीघ्र। जरमि = जन्म लेकर। खाँगी= कमी हो। इंछ = इच्छाएँ। ढीली = दिल्ली। बारहबानी = शुद्ध, चमकीला। दिनारा = दीनार, सोने का सिक्का। अभासौं = प्रकाशित करूँ।

अर्थ—राघव चेतन को चेत हुआ। उसने सोचा कि फिर आकर यहाँ इतना दुःख न सहूँगा। रोते हुए हम जहाँ आ पड़े हैं, वहाँ से रोते हुए ही चल रहे हैं। यहाँ किस प्रकार का सुख है (इसमें संसार की ओर संकेत भी

है)। जहाँ जीव भी संशय में है वहाँ क्या रहना, इससे तो अच्छा यह कि शीघ्र ही यहाँ से चल दें। अब तो यह भिक्षा वहीं माँगूँगा। जहाँ उतना मिले कि जन्म पाकर मुझे कुछ न घटे। फिर मुझे ऐसा ही दूसरा कंगन मिल जाय जो कि मेरे दारिद्रय को हर ले और मेरी इच्छाओं को पूरा कर दे।

दिल्ली नगर तुरकों का आदि स्थान है वहाँ पर अलाउद्दीन सुलतान है। उसकी टकसाल में सोना जलता है और शुद्ध सोने की दीवार बनती है। वहीं जाकर इस कमल (पद्मावती) का प्रकाश करूँगा। जिससे अलाउद्दीन सूर्य बन कर चित्तौड़ पर आक्रमण करेगा और रत्नसेन का पद्मावती से ऐसा बिछोह होगा, जैसे जल का मछली से होता है।

अलंकार—रूपक।

---

# ३६. राघव-चेतन-दिल्ली-गमन-खण्ड

[ ४५७ ]

राघौ चेतन कीन्ह पयाना। ढीली नगर जाइ नियराना॥
जाइ साहि के बार पहूँचा। देखा राज जगत पर ऊँचा॥
छतिस लाख ओरगन्ह असवारा। बीस सहस हस्ती दरबारा॥
जाँवत तपै जगत महँ भानू। ताँवत राज करै सुलतानू॥
चहूं खंड के राजा आवहिं। होइ अस मर्द जोहारि न पावहिं॥
मन तिवानि कै राघौ झूरा। नहिं उबारु, जिय कादर पूरा॥
जहाँ झुराहिं दिहिं सिर छाता। तहाँ हमार को चालै बाता॥
अरध उरध नहिं सूझै, लाखन्ह उमरा मीर।
अब खुर खेह जाब मिलि, आइ परे तेहि भीर॥ ४५७॥

शब्दार्थ—नियराना = निकट पहुँचा। ओरगन्ह = अराकान के। जाँवत = जितना तिवानि = चिन्ता। झूरा = सूखा, दुखी हुआ। उबारु = रक्षा, गुजारा होना। कादर = कायरता। झुराहिं = सूखते हैं। सिर छाता = सिर पर छत्र धारण करने वाले। खुर-खेह = घोड़ों की टापों की धूल में।

अर्थ – राघव चेतन ने प्रस्थान किया और दिल्ली के समीप जा पहुँचा। वह अलाउद्दीन बादशाह के द्वार पर जा पहुँचा और देखा कि यह दरबार तो सारे संसार से उच्च है। उसके छत्तीस लाख अराकानी घुड़सवार थे और बीस हजार हाथी थे। जितना तेज सूर्य का है उतने प्रताप से सुलतान अलाउद्दीन राज्य करता था। चारों ओर के राजा उसके दरबार में आते थे और वे भी इतनी क्षमता न रखते थे कि उसे सलाम कर सकते। राघव चेतन चिन्तित होकर दुःखी होने लगा कि यहाँ तो हमारा गुज़ारा नहीं हो सकता, ऐसा सोच कर उसके दिल में कायरता भर गई। उसने सोचा कि जहाँ छत्रपति राजा लोग खड़े-खड़े सूखते हैं। वहां भला मेरी बात कौन चलावेगा। उसे वार-पार कुछ नहीं सूझता था। लाखों उमराव और मीर लोग थे। ऐसा

देख कर उसने समझा कि मैं तो इस भीड़ में घोड़ों की टापों से निकली हुई धूल में ही मिल जाऊँगा।

अलंकार—जहाँ झुराहिं दिहं सिर-छाता = विरोधाभास।

[ ४५८ ]

पातसाहि सब जाना बूझा। सरग पतार रैनि दिन सूझा॥
जौं राजा अस सजग न होई। काकर राज, कहाँ, कर कोई॥
जगत भार वहि एक संभारा। तौ थिर रहै सकल संसारा॥
औ अस ओहिक सिंघासन ऊँचा। सब काहू पर दिस्टि पहूँचा॥
सब दिन राज काज सुख भोगी। रैनि फिरै घर घर होइ जोगी॥
राँव राँक सब जावँत जाती। सब की चाह लेइ दिन राती॥
पंथी परदेसी जेत आवहिं। सब की बात दूत पहुँचावहिं॥
यहु रे बात तहँ पहुँची, सदा छत्र सुख छाँह।
बाँभन एक बार है, कँगन जराऊ बाँह॥ ४५८॥

शब्दार्थ—पातसाहि = बादशाह। सजग = चतुर। वहि = वहन करके, सँभाल कर। बार = द्वार।

अर्थ—बादशाह अलाउद्दीन बड़ा जानकार था, स्वर्ग से पाताल तक दिन और रात सदा ही उससे स्पष्ट थे। यदि राजा इतना चतुर न हो तो फिर उसका राज्य संसार में कैसे होगा? सारे संसार के भार को धारण करके वह उसे सम्भालता है। तभी तो वह संसार में स्थिर रहता है। उसका सिंहासन इतना ऊँचा है कि उसकी दृष्टि सब पर पहुँच जाती है। वह सारे दिन तो राज-काज में लगाता था। पर रात में घर-घर जोगी होकर (भेष बदल कर) घूमा करता था। उसके राज्य में जितने भी राजा और रङ्क होते थे सबकी इच्छाओं को रात-दिन जाना करता था। जिसने भी परदेशी राहगीर नगर में आते थे, सबकी बातें दूत लोग उसके पास पहुँचाया करते थे। सुलतान के पास यह बात भी पहुंची कि हे सदा राज-छत्र की सुख-छाँह में रहने वाले सुलतान! तेरे द्वार पर एक ब्राह्मण आया है जिसकी बाँह में एक जड़ाऊ कंगन है।

[ ४५६ ]

मया साहि मन सुनत भिखारी। परदेसी कहँ पूँछु हँकारी॥
हम पुनि है जाना परदेसा। कौनु पंथ गवनब केहि भेसा॥
ढीली राज चिंत मन गाढ़ी। यह जग जैस दूध महँ साढ़ी॥
सैंति बिरोरि छाछि कै फेरा। मथि घिउ लीन्ह महिउ केहि केरा॥
एहि ढीली कत होइ होइ गए। कै कै गरब छार सब भए॥
तेहि ढीली का रही ढिलाई। साढी गाढि, ढालि जब ताईं॥
रावन लंक जारि सब तापा। रहा न जोबन, श्रो तरुनापा॥
भीखि भिखारिहि दीजिश्रै, का बाँभनु का भाँट।
श्रग्याँ भई हँकारहु, धरती धरै लिलाट॥ ४५६॥

शब्दार्थ—मया = दया। साढ़ी = मलाई। सैंति = संचित करके। बिरोरि = बिलोकर। महिउ = मट्ठा। ढीली = दिल्ली। तरुनापा = जवानी।

श्रर्थ—भिखारी का नाम सुन कर सुलतान के मन में दया श्राई! उसने कहा कि परदेशी को बुला कर पूछो। फिर मुझे भी तो परदेश जाना है, वह रास्ता कौन है, जिससे जाना होगा श्रौर कौन सा भेष धारण करना होगा। दिल्ली राज्य के सम्बन्ध में दिल में बड़ी चिन्ता है, क्योंकि दिल्ली संसार में इस प्रकार है, जैसे दूध में मलाई। मलाई को इकट्ठा करके बिलोते हैं श्रौर मट्ठा बना कर खूब मथानी घुमाते हैं, फिर मथ करके उसमें में से घी निकाल लेते हैं, मट्ठे का क्या करना? इस दिल्ली में तो कितने ही लोग श्रा-श्रा कर चले गये, सभी घमण्ड कर-कर के श्राये, पर श्रन्त में मिट्टी होकर चले गये। उस दिल्ली में क्या ढिलाई से काम चल सकता है, मलाई तो तभी तक गाढ़ी रहती है, जब तक श्रालस्य है। रावण की लंका को भी जला कर तपा डाला, इसी प्रकार जवानी भी नहीं रह जाती।

सुलतान ने कहा कि भिखारी को भिक्षा देनी चाहिए, चाहे वह ब्राह्मण हो श्रौर चाहे भाट। इसलिए उसकी श्राज्ञा हुई कि उसे बुलाश्रो कि वह श्रा कर सुलतान के सामने श्रपना मत्था टेके (सलाम करे)।

श्रलंकार—समासोक्ति।

नोट—इन पंक्तियों में कवि ने आध्यात्मिक संकेत उपस्थित किये हैं—परदेश से तात्पर्य परलोक है—जहाँ जाने का मार्ग किसी को ज्ञात नहीं है। दिल्ली से संसार का मतलब है। इसको मथने और घी निकालने से तात्पर्य ज्ञान (ईश्वरीय प्रेम) प्राप्त करने से है। इस जीवन में सभी आ-आ कर अन्त में मिट्टी में मिल जाते हैं। यहाँ आलस्य से काम नहीं चलता, कर्म-मार्ग में प्रवृत्त होना पड़ता है। रावन का अर्थ रमण करने वाला है, लंक से जीवन के सुख-भोगों का अर्थ है। संसार के सुख-भोग, यौवन आदि सभी नाशवान हैं।

[ ४६० ]

राघौ चेतनि हुत जो निरासा। तेतखन बेगि बोलावा पासा॥
सीस नाइ कै दीन्ह असीसा। चमकत नगु कंगनु कर दीसा॥
अग्याँ भई सो राघौ पाहाँ। तूँ मंगन, कंगन का बाहाँ॥
राघौ बहुरि सीस भुइँ धरा। जुग जग राज भान कै करा॥
पदुमिनि सिंघल दीप की रानी रतनसेनि चितउर गढ़ आनी॥
कँवल न सरि पूजै तेहि बासाँ। रूप न पूजै चंद अकासाँ॥
जहाँ कँवल ससि सूर न पूजा। केहि सरि देउँ, औरु को दूजा॥
सो रानी संसार मनि, दखिना कंगन दीन्ह।
आछरि रूप देखाइ कै, धरि गहनें जिउ लीन्ह॥ ४६०॥

शब्दार्थ हुत=था। दीसा=दिखाई पड़ा। पाहाँ=पर। करा=किरण। आनी=ले आया। सरि=समता। बासाँ=सुगन्ध। गहने=ग्रहण लगना।

अर्थ- जो राघव चेतन निराश था, कि उसे अलाउद्दीन बादशाह का दर्शन नहीं प्राप्त हो सकता, उसे तुरन्त ही बुलावा आया। उसने बादशाह के सामने सिर नवाया और आशीर्वाद दिया। उसके हाथ के कंगन का चमकता हुआ नग दिखाई पड़ा, उसे देख कर सुलतान की आज्ञा हुई कि हे राघव चेतन! तू तो भिखारी है, फिर इतना मूल्यवान् कंगन तेरी बाँह में कैसे आया। तब राघव चेतन ने पृथ्वी पर मत्था टेका और आशीष दिया कि हे सुलतान! तेरा यश सूर्य किरणों की भान्ति युग-युग प्रकाशित हो। सिंह-

लङ्कद्वीप की रानी पद्मावती को राजा रत्नसेन चित्तौड़गढ़ में ले आया है। उसकी शारीरिक सुगन्ध की समता कमल नहीं कर सकता, और स्वरूप में आकाश का चन्द्रमा भी बराबरी नहीं कर सकता। जहाँ वह कमल (पद्मावती) है, वहाँ चन्द्रमा और सूर्य भी उसकी बराबरी में पूरे नहीं पड़ते तो और किसकी समता उससे करूँ, कौन उसकी समता में पूरा पड़ेगा। वह रानी संसार की मणि है, उसी ने मुझे यह कंगन दक्षिणा में दिया है। उसने अपना अप्सरा जैसा रूप दिखा कर मेरे जीव पर ग्रहण सा लगा दिया है।

अलंकार—असम, सम्बन्धातिशयोक्ति, रूपक और उपमा।

[ ४६१ ]

सुनि कै उतर साह मन हँसा। जानहु बीज चमकि परगसा॥
काँच जोग जहँ कंचन पावा। मंगन तेहि सुमेरु चढावा॥
नाउँ भिखारि जीभ मुख बाँची। अबहुँ सँभारु बात कहु साँची॥
कहँ असि नारि जगत उपराहीं। जेहि की सरिस सूर ससि नाहीं॥
जौं पदुमिनि तौ मंदिर मोरें। सातौं दीप जहाँ कर जोरें॥
सप्त दीप महँ चुनि चुनि आनी। सो मोरें सोरह सौ रानी॥
जौं उन्ह महँ देखसि एक दासी। देखि लोन होइ लोन बेरासी॥
चहुँ खंड हौं चक्कवै, जस रबि तवै अकास।
जौं पदुमिनि तौ मंदिल मोरें, आछरि तौ कबिलास॥ ४६१॥

शब्दार्थ—बाँची = बची। उपराहीं = बढ़कर। लोन = लावण्य, सुन्दरता। लोन = नमक। बेरासी = विलासी। चक्कवै = चक्रवर्ती। तवै = तपै, प्रकाशमान है। मंदिल = महल। आछरि = अप्सरा। कबिलास = स्वर्ग।

अर्थ—राघवचेतन के उत्तर को सुनकर अलाउद्दीन मन में हँस पड़ा, उसकी मुस्कराहट ऐसी लगी मानो बिजली प्रकाशित हुई हो। उसने कहा कि जो दरिद्र काँच पाने के योग्य है, उसे जब सोना प्राप्त हो गया, उसे वह सुमेरु पर्वत के समान ऊँचा चढ़ा देता है। तुम भिखारी हो और भिखारी के नाम पर ही तेरी जीभ मुख में अब तक बची हुई है—नहीं तो जीभ मुख से निकलवा ली जाती। इसलिए अब तो बात सँभाल कर सच्ची बात ही कहो।

भला ऐसी संसार से बढ़कर कोई स्त्री कहाँ है जिसकी समता में सूर्य और चन्द्रमा पूरे नहीं पड़ते। जो पद्मिनी स्त्रियाँ हैं वे तो सब मेरे महल में हैं, उनके सामने सातों महाद्वीप हाथ जोड़कर खड़े रहते हैं। सातों महाद्वीपों से चुन-चुन कर लायी गयी सोलह सौ रानियाँ मेरे महल में हैं। यदि उन रानियों की एक दासी को ही तू देखले तो उसके सौंदर्य को देखकर तुझ जैसे विलासी लोग नमक की भाँति पिघल जायेंगे। मैं चारों खंडों में चक्रवर्ती राजा हूँ, जैसे आकाश में सूर्य तप रहा है उसी प्रकार मैं संसार में चमक रहा हूँ। यदि कोई पद्मिनी है तो वह मेरे ही महल में है और यदि कोई अप्सरा है तो वह स्वर्ग में है। भाव यह है कि पृथ्वी पर की कोई भी पद्मिनी यदि सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी है तो मेरे महल वाली ही है।

अलंकार—उत्प्रेक्षा--जानहुँ बीज चमकि।
यमक—लोन--लोन।
उपमा--जस रवि तपै अकास।

[ ४६२ ]

तुम्ह बड़ राज छत्रपति भारी। अनु बाँभन हौं आहि भिखारी ॥
चरिहुँ खंड भीख कहँ बाजा। उदै अस्त तुम्ह ऐस न राजा ॥
धरम राज औ सत कुलि माहाँ। झूठ जो कहै जीभ केहि पाहाँ ॥
किछु जो चारि सब किछु उपराहीं। सो एहि जंबु दीप महँ नाहीं ॥
पदुमिनि अंब्रित हंस सदूरू। सिंघल दीप सो मलेहँ अँकूरू ॥
सातौ दीप देखि हौं आवा। तब राघौ चेतनि कहवावा ॥
अग्याँ होइ न राखौं धोखा। कहौं सो सब नारिन्ह गुन दोखा ॥
इहाँ हस्तिनी सिंघिनी, चित्रिनि बनबास।
कहाँ पदुमिनी पदुमसरि, भँवर फिरहिं चहुँ पास ॥ ४६२ ॥

शब्दार्थ—अनु = फिर, और। बाजा = चक्कर लगाया। उदै अस्त = उदयाचल से अस्ताचल तक। किछु जो चारि = चार वस्तुयें। सब किछु = सब कुछ से, सबसे। उपराहीं = बढ़कर। अंब्रित = अमृत। सदूरू = शार्दूल। मलेहँ = मिलते हैं। अंकूरू = अंकुर। सिंघिनी = शंखिनी (एक प्रकार की

नारी, नारियाँ चार प्रकार की होती हैं—पद्मिनी, शंखिनी, चित्रिणी और हस्तिनी)।

अर्थ—राघवचेतन ने उत्तर दिया कि हे बादशाह अलाउद्दीन तुम तो बड़े भारी छत्रपति बादशाह हो और मैं तो एक भिखारी ब्राह्मण हूं। भिक्षा के लिए मैंने तो चारों खंडों का चक्कर लगा डाला है, मैंने उदयाचल से अस्ताचल तक सारे विश्व में तुम्हारा जैसा राजा नहीं देखा। तुम्हारे राज्य में धर्म है और कुल में सत है। ऐसे राजा के सामने किसके मुख में जीभ है जो झूठ कह सकता है। परन्तु वे चार वस्तुएँ जो सभी वस्तुओं से बढ़कर हैं वे इस जम्बू द्वीप में नहीं प्राप्त होतीं। वे वस्तुएँ हैं—पद्मिनी नारी, अमृत, हंस और शार्दूल। इनके अंकुर तो सिंहल द्वीप में ही मिलते हैं। मैं सातों द्वीपों को देखकर आया हूँ, तभी तो मैं राघवचेतन कहा जाता हूँ। यदि आज्ञा हो तो आपको भ्रम में न रखूँ और सभी नारियों के गुण दोष कहूँ।

इस अपने जम्बू द्वीप में तो हस्तिनी, सिंहिनी और चित्रिणी नारियाँ हैं, वे पद्मसर की पद्मिनी नारियाँ कहाँ है जिनके चारों ओर भौंरे मंडराया करते हैं।

———

भला ऐसी संसार से बढ़कर कोई स्त्री कहाँ है जिसकी समता में सूर्य और चन्द्रमा पूरे नहीं पड़ते। जो पद्मिनी स्त्रियाँ हैं वे तो सब मेरे महल में हैं, उनके सामने सातों महाद्वीप हाथ जोड़कर खड़े रहते हैं। सातों महाद्वीपों से चुन-चुन कर लायी गयी सोलह सौ रानियाँ मेरे महल में हैं। यदि उन रानियों की एक दासी को ही तू देखले तो उसके सौंदर्य को देखकर तुझ जैसे विलासी लोग नमक की भाँति पिघल जायेंगे। मैं चारों खंडों में चक्रवर्ती राजा हूँ, जैसे आकाश में सूर्य तप रहा है उसी प्रकार मैं संसार में चमक रहा हूँ। यदि कोई पद्मिनी है तो वह मेरे ही महल में है और यदि कोई अप्सरा है तो वह स्वर्ग में है। भाव यह है कि पृथ्वी पर की कोई भी पद्मिनी यदि सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी है तो मेरे महल वाली ही है।

अलंकार—उत्प्रेक्षा—जानहुँ बीज चमकि।

यमक—लोन—लोन।

उपमा—जस रवि तपै अकास।

[ ४६२ ]

तुम्ह बड़ राज छत्रपति भारी। अनु बाँभन हौं आहि भिखारी॥
चरिहुँ खंड भीख कहँ बाजा। उदै अस्त तुम्ह ऐस न राजा॥
धरम राज औ सत कलि माहाँ। झूठ जो कहै जीभ केहि पाहाँ॥
किछु जो चारि सब किछु उपराहीं। सो एहि जंबु दीप महँ नाहीं॥
पदुमिनि अंम्रित हंस सदूरू। सिंघल दीप सो मलेहँ अँकूरू॥
सातौ दीप देखि हौं आवा। तब राघौ चेतनि कहवावा॥
अग्याँ होइ न राखौं धोखा। कहौं सो सब नारिन्ह गुन दोखा॥
इहाँ हस्तिनी सिंखिनी, चित्रिनि बनबास।
कहाँ पदुमिनी पदुमसरि, भँवर फिरहिं चहुँ पास॥ ४६२॥

शब्दार्थ—अनु = फिर, और। बाजा = चक्कर लगाया। उदै अस्त = उदयाचल से अस्ताचल तक। किछु जो चारि = चार वस्तुयें। सब किछु = सब कुछ से, सबसे। उपराहीं = बढ़कर। अंम्रित = अमृत। सदूरू = शार्दूल। मलेहँ = मिलते हैं। अंकूरू = अंकुर। सिंघिनी = शंखिनी (एक प्रकार की

नारी, नारियाँ चार प्रकार की होती हैं—पद्मिनी, शंखिनी, चित्रिणी और हस्तिनी)।

अर्थ—राघवचेतन ने उत्तर दिया कि हे बादशाह अलाउद्दीन तुम तो बड़े भारी छत्रपति बादशाह हो और मैं तो एक भिखारी ब्राह्मण हूं। भिक्षा के लिए मैंने तो चारों खंडों का चक्कर लगा डाला है, मैंने उदयाचल से अस्ताचल तक सारे विश्व में तुम्हारा जैसा राजा नहीं देखा। तुम्हारे राज्य में धर्म है और कुल में सत है। ऐसे राजा के सामने किसके मुख में जीभ है जो झूठ कह सकता है। परन्तु वे चार वस्तुएँ जो सभी वस्तुओं से बढ़कर हैं वे इस जम्बू द्वीप में नहीं प्राप्त होतीं। वे वस्तुएँ हैं—पद्मिनी नारी, अमृत, हंस और शार्दूल। इनके अंकुर तो सिंहल द्वीप में ही मिलते हैं। मैं सातों द्वीपों को देखकर आया हूँ, तभी तो मैं राघवचेतन कहा जाता हूँ। यदि आज्ञा हो तो आपको भ्रम में न रखूँ और सभी नारियों के गुण दोष कहूँ।

इस अपने जम्बू द्वीप में तो हस्तिनी, सिंहिनी और चित्रिणी नारियाँ हैं, वे पद्मसर की पद्मिनी नारियाँ कहाँ है जिनके चारों ओर भौंरे मंडराया करते हैं।

———

# ४०. स्त्री-भेद-वर्णन-खण्ड

[ ४६३ ]

पहिलें कहौं हस्तिनी नारी। हस्ती कै परकीरति सारी।,
कर औ पाय सुभर गियँ छोटी। उर कै खीनि, लंक कै मोंटी॥
कुंभस्थल गज, मैमँत आहीं। गवन गयंद, ढाल जनु बाहीं॥
दिस्टि न आवै आपन पीऊ। पुरुख पराएँ ऊपर जीऊ॥
भोजन बहुत, बहुत रति चाऊ। अछवाई सौं थोर सुभाऊ॥
मद जस मंद बसाइ पसेऊ। औ बिसवास धरें जस देऊ॥
डर औ लाज न एकौ हिएँ। रहै जो राखें आँकुस दिएँ॥
गज गति चलै चहूँ दिसि हेरति, लाइ जगत कहँ चोख।
वह हस्तिनी नारि पहिचानिअ, सब हस्तिन्ह गुन दोख॥ ४६३॥

शब्दार्थ—परकीरति = प्रकृति, स्वभाव। सुभर = भरे हुए। गियँ = गर्दन। खीनि = क्षीण। लँक = कमर। अछवाई = स्वच्छता। मद = हाथी के मस्तक से बहने वाला पानी। पसेऊ = पसीना। बसाइ = महँकता है। चोख = नेत्र।

अर्थ—राघव चेतन कहता है कि पहले मैं हस्तिनी नारी का वर्णन करता हूँ। उसके सारे स्वभाव हाथी से मिलते हैं। उसके हाथ और पाँव भरे हुए और गर्दन छोटी होती है। उसकी छाती छोटी और कमर मोटी है। उसका पेट हाथी के समान बड़ा और मतवाला सा होता है। उसकी चाल हाथी के समान मंद और मतवाली और बाहें ढाल के समान होती हैं। उसे अपना पति अच्छा नहीं लगता है, पर-पति पर ही उसकी दृष्टि रहती है। भोजन में उसे बड़ी रुचि होती है, स्वच्छता में उसकी प्रकृति कम रहती है। उसका पसीना ऐसा दुर्गन्ध पूर्ण होता है, जैसे हाथी का मद। वह उतना ही विश्वास करती है जितना उसे दिया जाय—अर्थात् उपहारों से वह बहुत प्रसन्न होती है। उसके हृदय में न तो डर होता है और न लज्जा,

उसी के संरक्षण में रह सकती है जो अंकुश दिये हुए उसे नियंत्रण में रखे। हाथी की चाल से चारों ओर दृष्टि लगाये संसार को देखती चलती है। इस प्रकार की हस्तिनी नारी को हाथी के गुण-दोषों को देख कर पहचानना चाहिए।

[ ४६४ ]

दोसरें कहौं सिंघिनी नारी। करै बहुत बल अलप अहारी॥
उर अति सुभर खीन अति लंका। गरब भरी, मन धरै न संका॥
बहुत रोस, चाहै पिय हना। आगें घालि न काहूँ गना॥
अपनै अलंकार ओहि भावा। देखि न सकै सिंगार परावा॥
मोंट, माँसु रुचि भोजन तासू। औ मुख आव बिसाइधि बासू॥
सिंघ कै चाल चलै डग ढीली। रोवाँ बहुत होहि दुहुँ फीली॥
दिस्टि तराहीं, हेर न आगें। जनु मथवाह रहै सिर लागें॥
सेजवाँ मिलत स्यामिहि, लावै उर नख बान।
जे गुन सबै सिंघ, के सो सिंहिनि सुलतान॥ ४६४॥

शब्दार्थ—हना = मारना। फीली = पिंडली। तराहीं = नीची। हेर = देखती है। मथवाह = घोड़ों के मत्थे पर की वह पट्टी, जिसके कारण घोड़े अगल-बगल नहीं देख पाते। स्यामिहिं = स्वामी को।

अर्थ—राघव चेतन कहता है कि अब मैं दूसरे प्रकार की सिंहिनी नारी का वर्णन करता हूं। वह कम खाने वाली होती है, पर उसमें शक्ति बहुत होती है। उसकी छाती खूब भरी हुई और कमर पतली होती है, वह घमण्ड से भरी होती है, और मन में किसी प्रकार की शंका नहीं करती। उसमें इतना क्रोध होता है कि वह अपने पति को मारना चाहती है। वह अपने सामने किसी को नहीं गिनती। अपना ही आभूषण उसे अच्छा लगता है, दूसरे का शृंगार तो वह देख भी नहीं सकती। मोटा माँस उसका रुचिदायक भोजन है, उसके मुख से मांस की दुर्गन्ध निकला करती है। सिंह की भाँति ढीले कदमों से चला करती है, उसकी दोनों पिंडलियों पर बहुत रोंगटे होते हैं। वह नीची दृष्टि करके चलती है आगे नहीं देखती, जैसे मस्तक पर छपनी लगे हुए घोड़े नीचे ही देखते हैं, उसी प्रकार वह

भी देखती चलती है।

सेज पर मिलते ही अपने पति के सीने में बाण के समान नख चुभाने लग जाती है, हे सुलतान जो गुण सिंह के होते हैं, वहीं इस सिंहिनी नारी के गुण हैं।

नोट—हिन्दू-शास्त्रों में सिंहिनी-नारी नहीं है—शंखिनी नारी है—जायसी ने भ्रमवश उसे सिंहिनी समझ लिया और नाम के अनुरूप उसका वर्णन किया है।

[ ४६५ ]

तीसरि कहौं चित्रिनी नारी। महा चतुर रस पेम पियारी॥
रूप सरूप, सिंगार सवाई। आछरि जसि नागरि अछवाई॥
रो न जानै, हँसता मुखी। जहँ असि नारि पुरुख सो सुखी॥
अपने पिय कै जानै पूजा। एक पुरुख तज जान न दूजा॥
चंद बदन रँग कुमुदिनि गोरी। चाल सोहाइ हंस कै जोरी॥
खीर खाँड किछु अलप अहारू। पान फूल सौं बहुत पियारू॥
पदुमिनि चाहि घाटि दुइ करा। और सबै ओहि गुन निरमरा॥
चित्रिनि जैस कमोद रँग, आव न बासना अंग।
पदुमिनि सब चदन अस, भँवर फिरहिं तिन्ह संग॥ ४६५॥

शब्दार्थ—अछवाई = स्वच्छ, साफ-सुथरी। चाहि = अपेक्षा।

अर्थ राघव चेतन कहता है कि अब मैं तीसरे प्रकार की नारी चित्रिणी का वर्णन करता हूँ। वह प्रेम-रस में बड़ी चतुर और प्यारी होती है। उसका रूप सुन्दर होता है और सभी शृंगारों को वह करती है। वह अत्यन्त साफ-सुथरी अप्सरा जैसी होती है। रोना नहीं जानती सदा हँसमुख ही रहती है, जहाँ ऐसी स्त्री है वहाँ पुरुष अत्यन्त सुखी होता है। अपने पति की पूजा करती है और एक पति छोड़ कर और दूसरा नहीं जानती। चन्द्रमा जैसा चेहरा और कुमुदिनी जैसा गोरा रंग उसका होता है, उसकी चाल ऐसी होती है, जैसे हंस की जोड़ी जा रही है। दूध, मिष्टान्न जैसी वस्तुएँ पर अल्पाहार ही खाती है—पान-फूल (सात्विक भोजन) ही उसे अतिप्रिय

होते हैं। पद्मिनी नारी से दो कला ही घट कर होती है और सभी उसी के निर्मल गुण इसमें भी होते हैं। कुमुदिनी के समान ही चित्रिणी का रंग होता है, उसके शरीर से किसी प्रकार की महक नहीं आती। उसमें और पद्मिनी में खास अन्तर यह है कि पद्मिनी की सुगन्धि चन्दन जैसी होती है और भौंरे उसके चारों ओर मंडराते हैं पर चित्रिणी में यह बात नहीं होती।

[ ४६६ ]

चौथें कहौं पदुमिनी नारी। पदुम गंध सो दैय सँवारी॥
पदुमिनि जाति पदुम रँग ओहीं। पदुम बास, मधुकर सँग होहीं॥
ना सुठि लाँबी, ना सुठि छोटी। ना सुठि पातरि, ना सुठि मोंटी॥
सोरह करा अंग होइ बनी। वह सुलतान पदुमिनी गनी॥
दीरघ चारि, चारि लहु सोई। सुभर चारि, चारि खीन जो होई॥
औ ससि बदन रंग सब मोहा। चाल मराल चलत गति सोहा॥
खीर न सहै अधिक सुकुवारा। पान फूल के रहै अधारा॥
सोरह करा सँपूरन, औ सोरहौ सिंगार।
अब तेहि भाँति बरन गुन, जस बरनै संसार॥ ४६६॥

शब्दार्थ—दैय = ईश्वर। सुठि = अधिक। लहु = लघुता। सुकुवारा = कोमल।

अर्थ—राघव चेतन कहता है कि अब मैं चौथे प्रकार की पद्मिनी नारी का वर्णन करता हूँ, उसकी महँक कमल की सी होती है और वह ईश्वर की ही सँवारी और बनायी होती है। उसकी जाति पद्मिनी है, उसका नेत्र कमल जैसा, उसकी महँक कमल जैसी और उसके साथ भौंरे होते हैं। न तो अधिक लम्बी होती है और न अधिक छोटी, न तो अधिक पतली और न मोटी। सोलह कलाओं से युक्त अंगों से वह बनी होती है, हे सुलतान ऐसी नारी को पद्मिनी समझना चाहिए। उसकी चार कलाएँ उसकी बड़ाई को और चार कलाएँ छोटाई को, चार कलाएं मोटाई को और चार कलाएं पतलाई को सम्वारती हैं। उसका मुख चन्द्र जैसा सब को मोहित करने वाला होता है। चलते हुए उसमें हंस की सी चाल सुहावनी लगती है। ऐसी कोमल होती है कि दुग्धाहार को भी नहीं बर्दाश्त कर सकती।

अतः वह जो पान-फूल के आधार पर ही रहता है। सोलह कलाओं से पूर्ण और सोलहों शृंगारों से युक्त होती है--अब मैं उसके गुणों का वैसा वर्णन करता हूँ, जैसा कि संसार वर्णन करता है।

[ ४६७ ]

प्रथम केस दीरघ सिर होहीं। औ दीरघ अँगुरी कर सोहीं॥
दीरघ नैन तिक्ख तिन्ह देखा। दीरघ गीवँ, कंठ तिरि रेखा॥
पुनि लघु दसन होहिं जस हीरा। औ लघु कुच जस उतँग जँभीरा॥
लघू लिलाट दुइज परगासू। औ नाभी लघु, चंदन बासू॥
नासिक खीन खरग कै धारा। खीन लंक जेहि केहरि हारा॥
खीन पेट जानहुँ नहिं आँता। खीन अधर बिद्रुम रँग राता॥
सुभर कपोल, देहिं सुख सोभा। सुभर नितंब देखि मन लोभा॥
सुभर बनी भुअडंड कलाई, सुभर जाँघ गज चालि।
ये सोरहौ सिंगार बरनि के, करहिं देवता लालि॥ ४६७॥

शब्दार्थ—तिक्ख = तिरछे, कटाक्ष। तिरि = तीन। भुअडंड = भुजाएँ। लालि = लालसा।

अर्थ—पद्मिनी नारी का वर्णन करता हुआ राघव चेतन कहता है कि पहले तो उसके बाल लम्बे होते हैं। फिर उसकी उंगलियाँ लम्बी होती हैं। उसकी आँखें लम्बी होती हैं और उनसे वे तिरछी देखती हैं। गर्दन लम्बी होती है और उसमें तीन रेखाएं होती हैं। दाँत छोटे हीरे की भाँति चमकते हैं, छोटे-छोटे कुच जंभीरी नीबू की भांति उठे होते हैं। दूज के चाँद की भाँति छोटा मत्था होता है, नाभि छोटी होती है और उसमें से चन्दन की सी महक निकलती है। छोटी नाक तलवार की भाँति होती है, कमर ऐसी पतली होती है कि उसे देख कर सिंह भी हार मानता है। पेट ऐसा पतला होता है मानो उसमें अंतड़िया ही न हों। छोटे-छोटे होंठ ऐसे लाल होते हैं, जैसे मूंगा। सुन्दर भरे हुए कपोल सुन्दर लगते हैं, सुन्दर उठे हुए नितम्ब बड़े लुभावने लगते हैं। सुन्दर भरी हुई भुजाएं, कलाई और जंघाएँ शोभा पाती हैं और उसकी चाल हाथी जैसी होती है। इस प्रकार उसके सोलह अंगों के शृंगार वर्णन करके देवता भी उसके पाने की इच्छा रखते हैं।

# ४१. पद्मावती-रूप-चर्चा-खण्ड

[ ४६८ ]

यह जो पदुमिनि चितउर आनी। कुंदन कया दुवादस बानी ॥
कुंदन कनक न गंध न बासा। वह सुगंध जनु कँवल बिगासा ॥
कुंदन कनक कठोर सो अंगा। वह कोवँलि, रँग पुहुप सुरंगा ॥
ओहि छुइ पवन बिरिख जेहि लागा। सोइ मलयागिरि भएउ सभागा ॥
काह न मूँठि भरी ओहि खेही। असि मूरति कै दैयँ उरेही ॥
सबै चितेर चित्र कै हारे। ओहिक चित्र कोइ करै न पारे ॥
कया कपूर, हाड़ जनु मोंती। ते ह तें अधिक दीन्ह बिधि जोती ॥
सुरुज क्रांति करा जसि, निरमल नीर सरीर।
सौहँ निरखि नहिं जाइ निहारी, नैनन्ह आवै नीर ॥ ४६८ ॥

शब्दार्थ--कुंदन = स्वर्ण। दुवादस बानी = बारह आदित्यों के समान चमकीला रंग। मूँठि भरी = मुट्ठी भर। खेही = मिट्टी। काह न मूँठि भरी ओहि खेही = उसके शरीर में क्या नहीं है-- (हम अपने कीसए खाकी में क्या नहीं रखते—अनीस) चितेरे = चित्र बनाने वाले। ओहिक = उसका। कोइ करे न पारे = कोई बना नहीं सकता )।

लिखन बैठि जाकी सबी; गहि गहि गरब गरूर।
हुए न केते जगत के, चतुर चितेरे कूर—विहारी ॥

अर्थ—स्त्री-भेद वर्णन करने के पश्चात् राघवचेतन पद्मावती के रूप का वर्णन करने लगा। पद्मावती जो चित्तौड़ में लायी गयी है, वह तो द्वादशादित्य की भाँति चमकीले सुन्दर स्वर्ण के समान शरीर वाली है। सोने में तो सुगन्ध नहीं होती पर उसके शरीर से ऐसी सुगन्ध निकलती है जैसे कमल खिला हो। सोना तो कठोर होता है पर उसका शरीर तो पुष्प के समान कोमल है। उसके शरीर को छूकर हवा जिस वृक्ष को लगी है वही सुन्दर चन्दन वृक्ष बन गया है। उसकी इस मुट्ठी भर की मिट्टी—अर्थात्

शरीर में क्या नहीं है ? परमेश्वर ने उसकी ऐसी मूर्ति बनाई है कि सभी चित्रकार उसकी तसवीर बना-बना कर हार गये, पर उसका चित्र बना नहीं पाते। उसका शरीर कपूर की भाँति सुगन्धित और हड्डियाँ मोती जैसी हैं। ब्रह्मा ने उनसे भी अधिक इसको चमक दे रखी है। सूर्य की कांति के समान उसकी कान्ति और जल के समान उसका शरीर निर्मल है। सामने कोई उसे देख नहीं सकता, देखने पर आँखों में पानी भर जाता है अर्थात् आँखें चकाचौंध हो जाती हैं, उसकी ज्योति को सह नहीं सकतीं।

अलंकार—व्यतिरेक—कुन्दन कनक ····

हेतूत्प्रेक्षा—ओहि छुइ पवन बिरिख······

काव्यलिङ्ग—सबै चितेरे······

उपमा—कसा कपूर हाड़ जस मोती। सूरज कांति ···

इस पद के बाद पं० रामचन्द्र शुक्ल जी द्वारा संपादित ग्रन्थावली में एक पद है जिसे डा० माताप्रसाद गुप्त प्रक्षिप्त मानते हैं। कथा-प्रसंग की दृष्टि से तो पद ग्राह्य है। पद निम्नलिखित है—

ससि मुख जबहिं कहै किछु बाता। उठत ओठ सूरुज जस राता॥
दसन-दसन सौं किरिनि जो फूटहिं। सब जग जनहुँ फुलझरी छूटहिं॥
जानहुँ ससि महँ बीजु देखावा। चौंधि परै किछु कहत न आवा॥
कौंधत अह जस भादौं रैनी। साम रैनि जनु चलै उड़ैनी॥
जनु बसंत ऋतु कोकिल बोली। सुरस सुनाइ मारि सर डोली॥
ओहि सिर सेस नाग जो हरा। जाइ सरन बेनी होइ परा॥
जनु अमृत होइ बचन बिगासा। कँवल जो बास बास धनि पासा॥
सबै मनहि हारि जाइ मरि, जो देखै तस चार।
पहिले सो दुःख बरनि कै, बरनौ ओहिक सिंगार॥

अर्थ—अपने चन्द्रमा के समान मुख से जब वह कुछ बात कहती है, तो उसके लाल रंग के ओठ ऐसे उठते हैं, जैसे सूर्य। उसके एक-एक दाँत से किरने निकलती हैं, मानो संसार में फुलझरी छूट रही हैं। मानो चन्द्रमा में बिजली चमकी, ऐसी चकाचौंध लगती है, कि कहा नहीं जाता। अथवा जैसे भादों की रात में बिजली चमक रही हो या अँधेरी रात में जुगनू चमक रहे

हों उसकी बोली ऐसी लगती है, जैसे वसन्त ऋतु में कोयल बोल रही हो। सुरीली वाणी को सुना कर बाण मार देती है। उसके केशों से शेषनाग हार गया, इसीलिए बेणी के रूप में इसकी शरण में आ गया। उसकी बोली है, मानो अमृत है और कमल की जो सुगन्ध है, वही उसके शरीर की सुगन्ध है। जो उसके रङ्ग-ढङ्ग को देखता है, उ..का मन हर जाता है और मर सा जाता है, इसलिए उसके देखने से मुझे जो दुःख हुआ, पहले उसी का वर्णन करूँगा, फिर उसके शृङ्गार का वर्णन करूँगा।

नोट—इस पद में बहुत सी पुनरुक्तियाँ हैं, अनेक शब्द और उपमायें अगले पद में मिल भी जाती हैं, इसीलिए सम्भवतः यह पद प्रक्षिप्त माना गया है।

[ ४६६ ]

कत हौं अहा काल कर काढ़ा। जाइ धौराहर तर भौ ठाढ़ा॥
कत वह आइ झरोखें झाँकी। नैन कुरंगिनि, चितवनि बाँकी॥
बिहँसी ससि तरईं जनु परीं। कै सो रैनि छूटी फुलझरीं॥
चमकि बीज जस भादौं रैनी। जगत दिस्टि भरि रही उड़ैनी॥
काम कटाख दिस्टि बिख बसा। नागिनि अलक पलक महँ डसा॥
भौहँ धनुक, तिल काजर टोड़ी। वह भै धानुक, हौं हियँ ओड़ी॥
मारि चली, मरतहि मैं हँसा। पाछें नाग अहा, ओइँ डसा॥
पाछें घालि काल सो राखा, मंत्र न गारुरि कोइ।
जहाँ मँजूर पीठि ओइँ दीन्हे, कासुँ पुकारौं रोइ॥ ४६६॥

शब्दार्थ—उड़ैनी = जुगनू। टोड़ी = चिबुक, ठुड्डी। ओड़ी = रोका। घालि = डाल। गारुरि = गारुड़ी-सर्प का मंत्र जानने वाला। मँजूर = मयूर।

अर्थ—राघवचेतन कहता है कि मैं क्यों मौत के लिए निकाला गया था, जो जाकर उसके महल के पास खड़ा हुआ; और वह क्यों आकर झरोखे से झाँकने लगी। उसकी आँखें हिरनी की भान्ति थी और उसकी चितवनी बड़ी टेढ़ी थी। वह मुस्करा पड़ी, उसके मुख में दाँत ऐसे लगे, जैसे चन्द्रमा के भीतर तारे पड़े हों या जैसे रात में फुलझड़ी छूट रही हो, या जैसे भादों की रात में बिजली चमके, या संसार भर में जुगनू भर गये हों। उसकी काम की

कटाक्ष दृष्टि में विष भरा था। उसके बाल रूपी नागिनि ने क्षण भर में डस लिया। उसकी भौंहें धनुष और ठुड्डी पर का काजल का तिल प्रत्यंचा पर बाण रखने का स्थान तथा वह बाण चलाने वाली थी, मैंने उसके बाण को अपने हृदय पर रोक लिया। वह मार कर चल पड़ी, मरते हुए मैं हँस पड़ा, कि उसका साँप (चोटी) था, तो उसके पीछे पर वह डस गया। जो काल रूपी साँप उसने अपने पीछे रख छोड़ा था, न तो उसका कोई मंत्र है और न उस मंत्र का जानने वाला कोई गारुड़ी है। जहाँ इस साँप को खाने वाला मोर है, उसने भी पीठ दे रखी है, अर्थात् वह भी दूर है, तो किससे रो कर पुकारूँ।

अलंकार—उपमा, रूपक।

[ ४७० ]

बेनी छोरि झारु जौं केसा। रैनि होइ जग दीपक लेसा॥
सिर हुति सोहरि परहिं भुइँ बारा। सगरे देश होइ अँधियारा॥
जानहुँ लोटहिं चढ़े भुवंगा। बेधे बास मलैगिरि संगा॥
सगबगाहिं बिख भरे बिसारे। लहरिआहिं लहकहिं अति कारे॥
लुरहिं मुरहिं मानहिं जनु केली। नाग चढ़ा मालति की बेली॥
लहरैं देइ जानहुँ कालिंदी। फिरि फिरि भँवर भए चित फंदी॥
चवँर ढरत आछहिं चहुं पासा। भवँर न उड़हिं जो लुबुधे बासा॥
होइ अंधियार बीजु खन लौकै, जबहिं चीर गहि झाँपु॥
केस काल ओइ कत मैं देखे, सँवरि सँवरि जिय काँपु॥ ४७०॥

शब्दार्थ—लेसा = जलाना। हुति = से। सोहरि = खुल कर। सगरे = सारे। सगबगाहिं = हिलते-डुलते हैं। बिसारे = विषैले। लहकहिं = लहराते हैं। लुरहिं = झुकते हैं। लौकै = चमकै।

अर्थ—जब वह अपनी चोटी को खोल कर बालों को झाड़ने लगती है, तो सारे संसार में रात हो जाती है और संसार के लोग दीपक जला लेते हैं। सीधे होकर बाल सिर से भूमि तक पड़ जाते हैं, इससे सारे देश में अँधेरा छा जाता है। अथवा मानो साँप चढ़े हुए लोट रहे हैं, चन्दन की महक के कारण उससे लिपटे हुए हैं। उसके बाल हवा को पाकर हिलते हैं, तो मालूम होता

है कि वे विषैले साँप हिल-डुल रहे हैं, काले-काले लहरे ले रहे हैं। झुकते हैं, मुड़ते हैं, मानो खेल कर रहे हैं। मालती के ऊपर मानो साँप चढ़ा है। वे ऐसी लहरें दे रहे हैं, जैसे यमुना की लहरें हों, चित उन्हें देख कर इस प्रकार बन्धन में पड़ रहा है, जैसे नदी की लहरों में भँवर। उसके चारों ओर चँवर डोलाए जाते हैं, फिर भी जो भौंरे लुबधे हुए लगे हैं, वे उड़ते नहीं। जब वह सफेद ओढ़नी से अपने बालों को ढकती है, तो मालूम होता है अँधेर में बिजली चमकी। मैंने इन काल के समान केशों को क्यों देख लिया, उन्हें याद कर-कर के मेरा हृदय काँप उठता है।

अलंकार—भ्रम—रैनि होइ जग दीपक लेसा,

उत्प्रेक्षा—जानहुँ लोटहि चढ़े भुवंगा।

[ ४७१ ]

कनक माँग जो सेंदूर रेखा। जनु बसंत राता जग देखा॥
कै पत्रावलि पाटी पारी। औ रचि चित्र विचित्र सँभारी॥
भएउ उरेह पुहुप सब नामा। जनु बग बगरि रहे घन स्यामा॥
जमुँना माँझ सुरसती माँगा। दुहुँ दिसि चित्र तरंगहि गाँगा॥
सेंदुर रेख सो ऊपर राती। बीर बहूटिन्ह की जनु पाँती॥
बलि देवता भए देखि सेंदूरू। पूजै माँग भोर उठि सूरू॥
भोर साँझ रवि होइ जो राता। ओही सो सेंदुर राता गाता॥
बेनी कारी पुहुप लै, निकसी जमुना आइ।
पूजा इन्द्र अनन्द सो, सेंदुर सीस चढ़ाइ॥ ४७१॥

शब्दार्थ पत्रावलि = पत्र-भंग-रचना—जैसे पत्ते के बीच में एक लकीर होती है, इसी प्रकार सिर के बाल काढ़े जाते हैं। पाटी = माँग के दोनों ओर बैठाए हुए बाल। उरेह = सजाना।

अर्थ—सिर के माँग की जो सुनहली सिन्दूर की रेखा है, ऐसा मालूम होता है, मानो सारे संसार में वसन्त खिला है। पत्र-भंग-रचना करके उसने सिर के बालों की पाटी रचाई और खूब अच्छी प्रकार उन्हें सँवारा। सभी प्रकार के फूलों से उसे सजाया, मानो काले बादलों में बगुलों की पंक्ति फैल रही है। काले बालों में लाल सिन्दूर की रेखा ऐसी लगती है, जैसे यमुना

में सरस्वती की धारा है और श्वेत फूलों की पंक्तियाँ ऐसी हैं, जैसे दोनों दिशाओं में गंगा की तरंगें चमक रही हैं। सिन्दूर की लाल रेखा ऐसी भी है, जैसे बीर बहूटियों की पंक्ति हो। सिन्दूर को देख कर देवता लोग निछावर हो गए। सूर्य तो प्रति दिन प्रातःकाल उठ कर उसी माँग की पूजा करता है। प्रातः और सायं यह सूर्य जो लाल होता है, यह उसी सिन्दूर की ललायी को लेकर। उसकी काली चोटी जो फूलों से युक्त है, मानो यमुना निकली है और उसमें सिन्दूर जो है, मानो इन्द्र ने आनन्द के साथ इसकी पूजा की है और इसीलिए उसने पूजा में सिन्दूर चढ़ाया है।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

[ ४७२ ]

दुइज लिलाट अधिक मनि करा। संकर देखि माँथ भुइँ धरा॥
एहि निति दुइज जगत महँ दीसा। जगत जोहारैं देइ असीसा॥
ससि होइ छपी न सरबरि छाजै। होइ जो अमावस छपि मन लाजै॥
तिलक सँवारि जो चूनी रची। दुइज माहँ जानहुँ कचपची॥
ससि पर करवत सारा राहू। नखतन्ह भरा दीन्ह पर दाहू॥
पारस जोति लिलाटहि ओती। दिस्टि जो करै होइ तेहि जोती॥
सिरी जो रतन माँग बैसारा। जानहुँ गँगन टूट निसि तारा॥
ससि औ सूर जो निरमल, तेहि लिलाट की ओप।
निसि दिन चलहिं न सरबरि पावहिं, तपि तपि होहिं अलोप॥ ४७२॥

शब्दार्थ—मनिकरा = सुन्दर-देदीप्यमान। चूनी = चमकी, बिन्दी पर लगाये जाने वाले सितारे। कचपची = कृत्तिका नक्षत्र, झलमलाते हुए तारों का एक गुच्छा। करवत = आरा। सारा = चलाया। ओती = उतनी। सिरी= श्री नाम का आभूषण।

अर्थ—पद्मावती का मस्था द्वितीया के चन्द्रमा से भी अधिक सुन्दर है, उसे देख कर शंकर ने अपना मस्तक भूमि पर रख लिया, क्योंकि उसके मस्तक का चन्द्र इतना सुन्दर नहीं है। फिर इस दूज के चन्द्रमा को तो संसार प्रति-दिन देखता है और सारा संसार उसके सम्मुख नतमस्तक होता है और आशीष देता है। चन्द्रमा उसकी बराबरी नहीं कर सकता, अतएव छिप

गया और अमावस्या के दिन छिप कर लजा जाता है। मस्तक पर टीका लगा कर उसने उस पर चमकी लगा ली तो ऐसी प्रतीत हुई, मानो द्वितीया के चन्द्रमा के भीतर कृत्तिका नक्षत्र झलमला रहे हैं। उसकी माँग ऐसी लगती है, जैसे चन्द्रमा के ऊपर राहु ने आरा चलाया है, यहाँ शशि मुख है और काले बालों के बीच लाल माँग राहु के द्वारा चलाया हुआ आरा है, जो रक्त से लाल है। चन्द्रमा नक्षत्रों से युक्त है पर उसे कष्ट है—चमकी आभूषण आदि तारे हैं–पर ये सब तारे चन्द्रमा (मुख) की रक्षा नहीं कर पाते। उसके मत्थे में पारस की जैसी ज्योति है, क्योंकि जैसे पारस के संसर्ग से लोहा सोना हो जाता है, उसी प्रकार जहाँ ही दृष्टि जाती है, उतना ही प्रकाश हो जाता है। माँग में उसने जो श्री नामक आभूषण रत्नों से युक्त बिठा रखा है, वह ऐसा प्रतीत होता है, मानो रात में आकाश से तारा टूट रहा है। चन्द्रमा और सूर्य जो निर्मल है, वह सब उसके ही मत्थे की द्युति है, ये दोनों रात दिन चलते हैं पर उसकी बराबरी नहीं कर पाते, इसीलिए जल-जल कर छिप जाया करते हैं।

अलंकार—व्यतिरेक—दुइज लिलाट··· ······
हेतूत्प्रेक्षा—ससि होइ छपी··· ······
वस्तूत्प्रेक्षा—तिलक सँवारि ······
हेतूत्प्रेक्षा— निसिदिन चलहिं··· ·········अलोप।

[ ४७३ ]

भौहैं स्याम धनुक जनु चढ़ा। बेझ करै मानुस कहँ गढ़ा॥
चाँद कि मूँठि धनुक तहँ ताना। काजर पनच, बरुनि बिख बाना॥
जासहुँ फेर छोहाइ न मारे। गिरिवर टरहिं सो भौहँन्ह टारे॥
सेत बँध जेइ धनुक बिडारा। उहौ धनुक भौहँन्ह सौं हारा॥
हारा धनुक जो बेधा राहू। औरु धनुक कोइ गनै न काहू॥
कत सो धनुक मैं भौहँन्हि देखा। लाग बान तेत आव न लेखा॥
तेत बानन्ह झाँझर भा हिया। जेहि अस मार सो कैसें जिया॥
सोत सोत तन बेधा, रोवँ रोवँ सब देह।
नस नस महँ भै सालहिं, हाड़ हाड़ भए बेह॥ ४७३॥

शब्दार्थ —बेझ करै = बेधने के लिए। पनच = प्रत्यंचा, डोरी। बेह = वेध, छेद।

अर्थ—इस पद में पद्मावती की भौंहों का वर्णन है—

उसकी काली भौंहें ऐसी हैं, मानो धनुष चढ़ा हुआ है और वह मनुष्यों को बेधने के निमित्त ही तैयार किया गया है। चाँद की मूठों वाला धनुष तना हुआ है। काजल उसकी प्रत्यंचा है और बरौनियाँ विष से बुझे हुए बाण हैं। जिसकी ओर देखती है मारने में दया नहीं करती। उन भौंह रूपी धनुषों के टालने से पहाड़ भी टल जाते हैं। जिस धनुष ने सेतु बन्ध को भी नष्ट कर दिया था, वह धनुष भी इन भौंहों से हार गया। अर्जुन का धनुष गांडीव जिसने मछली को बेध डाला था वह भी इससे हार गया, तो फिर और धनुष की क्या गिनती? मैंने उन धनुषों रूपी भौंहों को क्यों देखा, उसके बाण मुझे इतने लगे कि उसका कोई हिसाब नहीं है। उन बाणों से छिदकर मेरे हृदय में अनेक छेद हो गये हैं। जिसको इस प्रकार मारा जाय वह भला कैसे जियेगा। सारे शरीर के प्रत्येक रोम की जड़ में छेद हो गये हैं और नस-नस में बाणों की जड़ें रह गयी हैं, वे दर्द कर रहे हैं, प्रत्येक हड्डी छिद गयी है।

[ ४७४ ]

नैन चतुर वै रूप चितेरे। कँवल पत्र पर मधुकर घेरे॥
समुँद तरंग उठहि जनु राते। डोलहिं तस घूमहिं जनु माँते॥
सरद चँद महँ खँजन जोरी। फिरि फिरि लरहि अहोरि बहोरी॥
चपल बिलोल डोल रह लागी। थिर न रहहिं चंचल बैरागी॥
निरखि अघाहिं न हत्या हतें। फिरि फिरि स्रवनन्हि लगिहिं मतें॥
अंग सेत मुख स्याम जो ओहीं। तिरिछ चलहिं खिन सूध न होहीं॥
सुर, नर, गंध्रप लालि कराहीं। उलटे चलहिं सरग कहँ जाहीं॥
असं वै नैन चक्र दुइ, भवँर समुँद उलथाहिं।
जनु जिउ घालि हिंडोरैं, लै आवहिं लै जाहिं॥ ४७९॥

शब्दार्थ - चितेरे = चित्रकार (विधाता)। माँते = मतवाले। अहोरि-बहोरी = घूम घूम कर। लालि = लालसा।

अर्थ—इस पद में राघवचेतन पद्मावती के नेत्रों का वर्णन करता है—

उसकी आँखें चतुर चितेरे ब्रह्मा के द्वारा इस प्रकार बनाई गयी हैं मानों कमल पत्तों को भौंरे घेरे हुए हैं। आँखों के लाल डोरे ऐसे लगते हैं जैसे समुद्र में लाल लहरें उठ रही हों, आँख इस प्रकार डोलती हैं मानो मस्ती में हों। ये दोनों आँखें मुख में ऐसे लगती हैं जैसे शरद के चन्द्र में दो खंजन हों जो घूम-घूम कर लड़ रहे हों। आँखें चंचल हैं, डोलती रहती हैं, स्थिर नहीं रहतीं, जैसे बैरागी एक जगह पर नहीं रहता। ये आँखें देखकर हत्या करने में तृप्त नहीं होती, लौट-लौट कर कानों के पास जाती हैं कि उनसे राय ले। भाव यह कि आँखें कानों की ओर लम्बी हो गई हैं, मानो उनकी राय लें रही हैं। उनके अंग सफेद और मुख काले हैं, तिरछी होकर चलती हैं, एक क्षण के लिए भी सीधे नहीं चलतीं। देवता, मनुष्य और गन्धर्व सभी इन आँखों की लालसा करते हैं, उलटे चलकर स्वर्ग चले जाते हैं। वे दोनों नेत्र दो चक्र की भाँति समुद्र के भंवर से उतराती रहती हैं और मनुष्य के जीव को हिंडोले में डालकर कभी ले आती हैं और कभी ले जाती हैं।

[ ४७५ ]

नासिक खरग हरे धनि कीरू। जोग सिंगार जिते औ बीरू॥
ससि मुख सौहँ खरग गहि राभा। रावन सौं चाहै संग्रामा॥
दुहूँ समुँद्र रचा जेन्हँ बीरू। सेत बंध बाँधेउ नल नीरू॥
तिलक पुहुप अस नासिक तासू। औ सुगंध दीन्हेउ बिधि बासू॥
कनक फूल पहिरें उजियारा। जानु सरद ससि सोहिल तारा।
सोहिल चाहि फूल वह ऊँचा। धावहिं नखत न जाइ पहूँचा॥
न जनैं केइँ फूल वह गढ़ा। बिगसि फूल सब चाहहिं चढ़ा॥

अस वह फूल बास कर आकर, भा नासिक सनमंध।
जेत फूल ओहि फूलहिं हिरगे, ते सब भए सुगंध॥ ४७५॥

शब्दार्थ—खरग = तलवार। सोहिल = सुहेल तारा जो जन्द्रमा के पास रहता है। चाहि = से, अपेक्षा। आकर = खज़ाना। सनमंध = सम्बन्ध। हिरगे = निकट आये।

अर्थ—इस पद में राघवचेतन पद्मावती की नासिका का वर्णन कर रहा है—

उस स्त्री (पद्मावती) की नासिका ने तलवार और तोते को हर लिया। उसने योग, शृङ्गार और वीर रस को जीत लिया। राम रूपी शशि-मुख नासिका रूपी तलवार को सामने लेकर रावण से संग्राम चाहता है। भाव यह कि प्रणय के युद्ध में मुख के पास नासिका रूपी तलवार है। अथवा दोनों आँखों रूपी दो समुद्रों के बीच में, मानो यह नासिका नल नील के द्वारा बनाया हुआ सेतुबन्ध है। उसकी नासिका तिल के फूल के समान है, उसमें ब्रह्मा ने अनुपम सुगन्ध दे रखी है। पद्मावती अपनी नाक में एक सोने का फूल (लौंग) पहने हुए है, मानो शरद् ऋतु के चन्द्रमा के सामने सुहेल तारा लग रहा हो। पर यह लौंग सुहेल से अधिक सुन्दर है, नक्षत्र इसके पाने का प्रयत्न करते हैं, पर पहुँच नहीं पाते। पता नहीं किसने इस फूल को बनाया है कि संसार के अन्य सभी फूल उस पर निछावर होना चाहते हैं। उस नासिका के सम्बन्ध से वह फूल इतनी सुगन्ध का कोष हो गया है कि जितने फूल उस फूल के निकट आते हैं, सभी सुगन्धित हो जाते हैं।

अलङ्कार—उपमा, उत्प्रेक्षा।

[ ४७६ ]

अधर सुरंग, पान अस खीने। राते रंग अमिअ रस भीने॥
आछहिं भीज तँबोर सों राते। जनु गुलाल दीसहिं बिहँसाते॥
मानिक अधर, दसन नग हेरा। बैन रसाल, खाँड मकु मेरा॥
काढ़े अधर डाभ सों चीरी। रुहिर चुवै जौं खंडहि बीरी॥
धारे रसहिं रसहिं रस गीले। रकत भरे वे सुरङ्ग रँगीले॥
जनु परभात रात रबि रेखा। बिगसे बदन कवँल जनु देखा॥
अलक भुवंगिनि अधरन्ह राखा। गहै जो नागिनि सो रस चाखा॥
अधर धरहिं रस पेम का, अलक भुअंगिनि बीच।
तब अंब्रत रस पिउ, ओहि नागिनि गहि खींचु॥ ४७६॥

शब्दार्थ—आछहिं = शोभित हैं। तँबोर = पान। मकु = मानो। मेरा = मिलाया हुआ। डाभ = कुश। बीरी = पान का बीड़ा।

अर्थ—इस छन्द में पद्मावती के होठों का वर्णन है।

रंगीन होंठ पान की भान्ति पतले हैं, रंग में लाल और अमृत रस से भीगे हुए हैं। भीगे हुए पान के खाने से लाल-लाल शोभित हैं, हँसने पर गुलाल की भान्ति दिखाई पड़ते हैं। होठों पर दाँत ऐसे लगते हैं, जैसे माणिक्य और हीरा। उसकी वाणी ऐसी मीठी है, जैसे उसमें शक्कर मिलाई हुई है। पतले-पतले होठ इस प्रकार हैं, जैसे कुश से चीरे गये हैं, जब वह पान खाती है तो ऐसा मालूम होता है, जैसे खून चू रहा है। भाव यह कि कुश से चिरने के कारण खून टपक रहा है), लाल होठों की रेखा ऐसी लगती है, जैसे प्रभात काल में सूर्य की ललायी की रेखा हो। जैसे खिले हुए कमल होते हैं, उसी प्रकार ये होठ लग रहे हैं। सिर के बाल लटक कर अधरों पर आ रहे हैं, मानो सर्पिणी अधरों पर आ रही हैं, इसलिए जो सर्पिणी को पकड़ने का साहस रक्खे वही उन अधरों के रस को चख सकता है। बाल रूपी सर्पिणियों के बीच होठ प्रेम का रस रखते हैं, अतएव तभी पति उस अमृत रस का पान कर सकता है, जब वह उस सर्पिणी को पकड़ कर खींच सके।

[ ४७७ ]

दसन स्याम पानन्ह रँग पाके। बिहँसत कवँल भँवर अस ताके॥
चमतकार मुख भीतर होई। जस दारिवँ औ स्याम मकोई॥
चमकै चौक बिहँसु जौं नारी। बीज चमक जस निसि अँधियारी॥
सेत स्याम अस चमकै डीठी। स्याम हीर दुहुँ पाँत बईठी॥
केइँ सो गढ़े अस दसन अमोला। मारैं बीज बिहँसि जौं बोला॥
रतन भीज रँग मसि भै स्यामा। ओही छाज पदारथ नामा॥
कत वह दरस देखि रँग भीने। लै गो जोति, नैन भौ खीने॥
दसन जोति होइ नैन पँथ, हिरदै माँझ बईठि।
परगट जग अँधियार जनु, गुपुत ओहि पै डीठि॥ ४७७॥

शब्दार्थ—दसन = दाँत। चमतकार = चमक। दारिवँ = दाड़िम-अनार। मकोई = जङ्गली मकोइ, जिसका रंग काला होता है। चौक = सामने के दांत। दहुँ = मानों। छाज = शोभा पाना। पदारथ = पद्मावती।

अर्थ—इस छंद में राघवचेतन पद्मावती के दाँतों का वर्णन करता है—

पद्मावती के काले दाँत हैं, जो पान के रंग में पके हुए हैं, जब वह हँसती है तो दाँत भौंरों के समान दिखाई पड़ते हैं। मुख के भीतर ऐसी चमक होती है, जैसे अनार और काली मकोइ मिली हों। जब वह जोर से हँसती है तो सामने के दांत चमकते हैं तो ऐसा मालूम होता है, जैसे अँधेरी रात में बिजली चमके। सफेद और काले दाँतों की पंक्तियाँ ऐसी शोभा दे रही हैं, जैसे नीलम और हीरे की पंक्तियाँ बैठाई गयी हैं। किसने ऐसे अमूल्य दाँतों को गढ़ रखा है! जब वह विहँस कर बोलती है तो मालूम होता है बिजली चमक रही है। काले रंग के लिए कवि कल्पना करता है, मानो रत्नसेन के प्रेम रङ्ग में भीजने से दाँत काले हो गये हैं, इसलिए इसका पदार्थ--अर्थात् पद्मावती नाम शोभा देता है। राघवचेतन कहता है कि मैंने क्यों उन रंगीले दाँतों को देखा, वे दाँत मेरे नेत्रों की ज्योति हर ले गये।

उसके दाँतों की ज्योति मेरे नेत्रों के रास्ते हृदय में प्रविष्ट कर गयी है, इसीलिए प्रकट जगत मुझे अँधेरा सा लगता है, क्योंकि मैंने तो उसकी गुप्त ज्योति देख ली है।

नोट—इस अन्तिम दोहे में जायसी पद्मावती में अव्यक्त ब्रह्म का संकेत करते हैं। उसकी ज्योति गुप्त है, पर इसके प्राप्त हो जाने पर ज्ञानी को सारा संसार अंधकारमय ही लगता है।

अलंकार—चौपाइयों में—उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा।
दोहे में—समासोक्ति।

[ ४७८ ]

रसना सुनहु जो कह रस बाता। कोकिल बैन सुनत मन राता॥
अंब्रित कोंप जीभ जनु लाई। पान फूल असि बात मिठाई॥
चात्रिक बैन सुनत होइ साँती। सुनै सो परै पेम मद माँती॥
बीरौ सूख पाव जस नीरू। सुनत बैन तस पलुह सरीरू॥
बोल सेवाति बुंद जेंउ परहीं। स्रवन सीप मुख मोंती भरहीं॥
धनि वह बैन जो प्रान अधारू। भूखे स्रवननि देहिं अहारू॥
ओन्ह बैनन्ह कै काहि न आसा। मोहहिं मिरिग बिहँसि भरि स्वाँसा॥

कंठ सारदा मोहहिं, जीभ सुरसती काह।
इंद्र, चंद्र रबि देवता, सबै जगत मुख चाह ॥ ४७८ ॥

शब्दार्थ—कोंप = कोंपल। सॉंती = शान्त। बीरौ = पौदा। पलुह = पल्लवित हो।

अर्थ—राघवचेतन कहता है कि उसकी जिह्वा की बात सुनो—वह ऐसी मीठी रसीली बातें करती है कि कोयल भी उसकी बातें सुन उस पर अनुरक्त हो जाय। मानो उसने अपनी जीभ पर अमृत की कोंपल लगा रखी हैं, इसी लिए उसमें पान-फूल की मिठास है। उसके वचनों को सुन कर चातक को भी शान्ति मिल जाती है, जो उसे सुनता है, वह प्रेम के मद में मतवाला हो जाता है। जैसे सूखा पौदा पानी पाकर पल्लवित हो जाता है, इसी प्रकार उसके वचनों को सुनमन प्रफुल्लित हो जाता है। जब उसकी बोली रूपी स्वाति बूँद गिरती है तो कान रूपी सीपी में मोती भर जाते हैं। वह बोली धन्य है, जो प्राणों का आधार बनती है—वह भूखे कानों को भोजन देती है। उन बोलियों की किसे आशा नहीं है, उन्हें सुन कर प्रसन्न होकर साँस भर कर हिरण मोहित हो जाते हैं।

उस कंठ पर शारदा मोहित हो जाती है, सरस्वती की जीभ भला उसकी समता में क्या है? इंद्र, चन्द्र, सूर्य आदि सभी देवता उसकी वाणी की लालसा से उसका मुख देखा करते हैं।

अलंकार—उत्प्रेक्षा—उपमा, रूपक, संबन्धातिशयोक्ति।

[ ४७९ ]

स्रवन सुनहु जो कुंदन सीपी। पहिर कुंडल सिंघल दीपी ॥
चाँद सुरुज दुहुँ दिखि चमकाहीं। नखतन्ह भरे निरखि नहिं जाहीं ॥
खिन खिन करहिं बिज्जु अस काँपे। अंबर मेघ महँ रहहिं नहिं झाँपे ॥
सूक सनीचर दुहुँ दिसि मते। होहिं निरार न स्रवनन्हि हुते ॥
काँपत रहहिं बोल जौं बैना। स्रवनन्हि जनु लागहिं फिरि नैना ॥
जो जो बात सखिन्ह सौं सुना। दुहुँ दिसि करहिं सीस वै धुना ॥
खूँट दुहूं धुव तरईं खूँटीं। जानहुँ परहिं कचपचीं टूटीं ॥

बेद पुरान ग्रन्थ जत, सबै सुनै सिखि लीन्ह ।
नाद बिनोद राग रस बिंदक, स्रवन ओहि विधि दीन्ह ॥ ४७९ ॥

शब्दार्थ—कुन्दन सीपी = ताल के सीपों का आधा संपुट । निरखि = देख । निरार = अलग । हुतें = से । खूँट = कोना । खूँटी = खूट नाम का एक गहना । कचपची = कृत्तिका नक्षत्र । बिन्दक = जानने वाले ।

अर्थ—राघवचेतन कहता है कि अब कानों का वर्णन सुनो जो कि सुनहली सीप के आधे संपुट की भांति हैं और उसमें सिंहल दीप के बने हुए कुंडल पहने हैं । ये कुंडल ऐसे चमक रहे हैं जैसे सूर्य और चन्द्र हों, कुंडल जड़ाऊ हैं जैसे नक्षत्रों से भरे हों । वे ऐसे झलमलाते हैं जैसे क्षण-क्षण बिजली कौंध रही हो । आकाश के बादलों में छिपाए छिपते नहीं । मानो शुक्र और शनैश्चर दोनों ओर से लगे हैं और कानों से अलग नहीं होते । जब वह बोलती है तो कान हिलते रहते हैं, आँखें कानों की ओर लग जाती हैं (बोलने के साथ जब उसकी लम्बी आँखें घूमती हैं मानो वे कानों के पास दौड़ जाती हैं) । जब वह सखियों से कोई बात सुनती है तो दोनों ओर सिर हिलाती है, उन्हें सुनने पर कान हिलते हैं । कवि कल्पना करता है कि ये कान उन बातों को सुन सुनकर अपने सिर धुनते हैं । दोनों कानों में वह खूँट पहने है मानो ध्रुव तारा है और उसमें जड़ाऊ नग ऐसे झलमलाते हैं जैसे कृत्तिका नक्षत्र । वेद पुराण आदि जितने ग्रन्थ हैं उन सब को कानों ने सुनकर उन्हें सीख लिया है । साथ ही संगीत, नाद, मनोरंजन के अन्य साधन बाजे आदि, राग रागिनियाँ, रस आदि सब के जानने वाले ये कान हैं । ऐसे कान ब्रह्मा ने पद्मावती को दे रखे हैं ।

[ ४८० ]

कँवल कपोल ओहि अस छाजे । और न काहु दैयँ अस साजे ॥
पुहुप पंक रस अमिअ सँवारे । सुरंग गेंदु नारँग रतनारे ॥
पुनि कपोल बाएँ तिल परा । सो तिल बिरह चिनिगि कै करा ॥
जो तिल देख जाइ डहि सोई । बाईं दिस्टि काहु जनि होई ॥
जानहुँ भँवर पदुम पर टूटा । जीउ दीन्ह औ दिएहुँ न छूटा ॥
देखत तिल नैनन्ह गा गाड़ी । औरु न सूझै सो तिल छाँड़ी ॥

तेहि पर अलक मंजरी डोला। छुऔ सो नागिनि सुरँग कपोला॥
रख्या करै मँजूर ओहि, हिरदैं ऊपर लोट।
केहि जुगुति कोइ छुइ सकैं, दुइ परबत की ओट॥ ४८०॥

शब्दार्थ—पुहुप-पंक = फूल का कीचड़, पराग। रतनारे = लाल। चिनगि = चिनगारी। डहि = जल कर। मंजरी = मणि युक्त। मँजूर = मोर (गर्दन)। परवंत = कुच।

अर्थ—अब राघवचेतन पद्मावती के कपोलों का वर्णन करता है—

कमल के समान उसके कपोल ऐसे शोभा पा रहे हैं कि ईश्वर ने ऐसे सुन्दर कपोल और कहीं नहीं सजाये। फूलों के पराग और अमृत रस से उसने इन्हें सँवारा है, ये सुन्दर गेंद या लाल नारंगी के समान हैं। फिर बायें कपोल पर एक तिल है वह तिल तो विरह की चिनगारी की एक किरण है। जो कोई उस तिल को देखता है वह जल जाता है, इसलिए अच्छा है जो किसी की दृष्टि बायीं ओर (बायें कपोल वाले तिल की ओर) न हो। यह तिल ऐसा लगता है मानो भौंरा कमल पर टूटा है, जिसने कमल पर अपनी जान तो दे दी फिर भी उसे छोड़ा नहीं, उसी पर चिपटा है। उस तिल को देखते ही उसी में आँखें गड़ जाती हैं, उस तिल को छोड़कर और कुछ नहीं सूझता। उस कपोल पर ही मणियुक्त बाल की एक लट लटकती है मानो सर्पिणी उन रंगीन कपोलों को छूने आ रही है। इस नागिनि से बचाने के लिए गर्दन रूपी मोर हृदय के ऊपर खड़ा है, उस हृदय को भला कोई कैसे छू सकता है क्योंकि वह तो दो पर्वतों (कुचों) की ओट में है।

अलंकार—रूपक।

[ ४८१ ]

गीवँ मँजूर केरि जनु ठाढ़ी। कुंदै फेरि कुँदेरै काढ़ी॥
धन्य गीवँ का बरनौं करा। बाँक तुरंग जानु गहि धरा॥
घुरत परेवा गीवँ उँचावा। चहै बोल तवँचूर सुनावा॥
गीवँ सुराही कै असि भई। अमिय पियाला कारन नई॥
पुनि तिहि ठाउँ परी तिरि रेखा। नैन ठाँव जिउ होइ सो देखा॥
सूरुज क्रांति करा निरमली। दीसै पीकि जाति हिय चली॥

कंज नार सोहै गियँ हारा। साजि कँवल तेहि ऊपर धारा॥
नागिनि चढ़ी कवँल पर, चढ़ि कै बैठ कमंठ।
जो ओहि काल गहि हाथ पसारै, सो लागै ओहि कंठ॥ ४८१॥

शब्दार्थ—कुंदै = खराद। कुंदेरे = खरादने वाला। तिर = तीन। कमंठ = कमठ-कछुआ।

अर्थ—पद्मावती की गर्दन मोर जैसी है, ऐसी सँवारी है जैसे खराद करने वाले ने खराद पर ढाल रखा है। वह गर्दन धन्य है, उसकी शोभा का क्या वर्णन करूँ जैसे कोई बाँका घोड़ा ही पकड़ा गया है, या कोई गिरहबाज कबूतर ने अपनी गर्दन ऊँची कर ली है, या जैसे मुर्गे ने अपनी बोली सुनाने के लिए गर्दन उठा रखी है। उसकी गर्दन सुराही की गर्दन जैसी है और अमृत के प्याले के लिए झुकी है। फिर उसी जगह तीन रेखाएँ पड़ी हैं जो कोई उसे देखता है उसकी दृष्टि वहीं रह जाती है। उस गर्दन में सूर्य की कान्ति की चमक है। ऐसी निर्मलता है कि जब वह पान खाती है तो पान की पीक गर्दन से उतरती हुई झलकती है। उसने गले में कमल की नाल के समान हार पहना है और उसके ऊपर कमल मुख) सजा रखा है।

कमल रूपी मुख के ऊपर नागिनी रूपी अलक है जो चढ़कर कछुए रूपी खोपड़ी पर बैठी है, जो उस काल रूपी नागिनी को हाथ से पकड़े वही उसके कंठ लग सकता है।

[ ४८२ ]

कनक डंड भुज बनीं कलाई। डाँड़ी कँवल फेरि जनु लाई॥
चँदन गाभ की भुजा सँवारी। जनु सुमेल कांवलि पोनारी॥
तिन्ह डाँड़िन्ह वह कँवल हथोरी। एक कँवल कै दूनौं जोरी॥
सहजहिं जानहुँ मेंहदी रचा। मुकुता लै जनु घुँघुची पचा॥
कर पल्लौ जो हथोरिन्ह साथाँ। वै सुठि रकत भरे दुहुं हाथाँ॥
देखत हिए काढ़ि जिउ लेहीं। हिया काढ़ि लै जाहिं न देहीं॥
कनक अँगूठी औ नग जरी। वह हत्यारिनि नखतन्ह भरी॥
जैसनि भुजा कलाई, तेहि बिधि जाइ न भाखि।
कंगन हाथ होइ जहँ, तहँ दरपन का साखि॥ ४८२॥

शब्दार्थ—डांडी = कमल नाल। गाभ = डाली। पौनारी = कमल नाल।

अर्थ—स्वर्ण दण्ड की भुजायें और कलाइयाँ बनी हैं जैसे कमल की नाल ही उलट कर डाल दी गयी है। चंदन की डालियों से कमल नाल को मिला कर भुजा सँवारी गयी है—भाव यह कि उसमें चन्दन की सुगन्ध और कमल नाल की कोमलता है। इन भुजाओं में कमल के समान हथेलियाँ हैं, मानो एक ही कमल की दो जोड़ियाँ हैं। हथेलियों में ऐसी ललाई है मानो स्वभावतया उसमें मेंहदी रची है अथवा मानो मोती घुंघची को अपने में पचाये हुए चमक रही है। हाथ की उंगलियाँ जो हथेलियों के साथ हैं, ऐसा मालूम होता है उनमें खून चू रहा है। उनके देखते ही हृदय से जीव निकल जाता है और जब वह हृदय निकाल लेती है तो लौटाती नहीं। उंगलियों में हीरे की जड़ाऊ सोने की अँगूठी पहने है, वह अँगूठी नगों से जड़ी है मानो तारे जड़े हैं। उसे देखकर लोगों के प्राण जाते हैं, इससे वह अँगूठी भी हत्यारिन है।

जिस प्रकार उसकी भुजायें और कलाइयाँ हैं, उस प्रकार वर्णन नहीं किया जासकता है। जहाँ हाथ में ही कंगन है उसे दर्पण की क्या आवश्यकता, हाथ कंगन को आरसी क्या।

अलंकार—लोकोक्ति।

[ ४८३ ]

हिया थार, कुच कनक कचोरा। साजे जनहुँ सिरीफल जोरा॥
एक पाट जनु दूनौं राजा। स्याम छत्र दूनहूं सिर साजा॥
जानहुँ लटू दुऔ एक साथाँ। जग भा लटू, चढ़ै नहिं हाथाँ॥
पातर पेट आहि जनु पूरी। पान अधार, फूल असि कोवँरी॥
रोमावलि ऊपर लट झूमा। जानहुं दुऔ स्याम औं रूमा॥
अलक भुवंगिनि तेहि पर लोटा। हेंगुरि एक खेल दुइ गोटा॥
बाँह पगार उठे कुच दोऊ। नाग सरन उन्ह नाव न कोऊ॥
कैसेहुँ नवहिं न नाएँ, जोबन गरब उठान।
जो पहिलैं कर लावै, सो पाछें रति मान॥ ४८३॥

शब्दार्थ—कचोरा = कटोरा। सिरीफल = श्रीफल-बेल। पाट = सिंहासन। लट्टू = लट्टू। कांवरी = कोमल। स्याम औ रूमा = सीरिया और रूम देश जो एशियाई कोचक में पास-पास ही हैं। हंगुरी = उंगली। कर = हाथ, टैक्स। रति = सुख।

अर्थ—पद्मावती की छाती थाल के समान है और दो कुच कटोरे हैं। अथवा श्रीफलों के जोड़े एक ही सिंहासन पर सजाये गये हैं। कुचों के ऊपर की कालिमा ऐसी मालूम होती है कि उनके ऊपर काला छत्र शोभित हो रहा है। मानो दो लट्टू एक साथ ही रखे हैं और सारा संसार उन पर लट्टू तो है पर वे किसी के हाथ नहीं चढ़ते। उसका पेट ऐसा पतला है जैसे पूड़ी। वह तो पान-फूल के ही सहारे रहती है। इसीलिए इतनी कोमल है। पेट के ऊपर रोमावली है और उसके ऊपर सिर की चोटियां झूम रही हैं, मानो सीरिया और रूम दोनों पास ही पास हैं। चोटी रूपी सर्पिणी कुचों पर लोट रही है, मानो दोनों कुच तो खेल के दो गोटें और चोटी उनके साथ खेल रही है। बाहों के परकोटे पर दोनों कुच उठे हैं वे साँप (चोटी) के द्वारा रक्षित हैं। अतः कोई उन्हें झुका नहीं सकता। किसी प्रकार वे झुकाए नहीं झुकते, क्योंकि जवानी के गर्व से उठे हैं। जो पहले हाथ डालेगा और जीवन के खतरे का टैक्स भरेगा वही पीछे रति-सुख प्राप्त करेगा।

[ ४८४ ]

भ्रिंगि लंक जनु माँझ न लागा। दुइ खँड नलिनि माँझ जस तागा॥
जब फिरि चली देख मैं पाछें। आछरि इन्द्र केरि जस काछें॥
उजहि चली जनु भा पछिताऊ। अबहूँ दिस्टि लागि ओहि भाऊ॥
ओहि के गवन छपि अछरीं गई। भईं अलोप, नहिं परगट भईं॥
हँस लजाइ समुँद कहँ खेले। लाज गयंद धूरि सिर मेले॥
जगत इस्त्री देखी महूँ। उदै अस्त असि नारि न कहूँ॥
महि मंडल तौ अैस न कोई। ब्रह्मामँडल जौं होइ तो होई॥
बरनी नारि तहाँ लगि, दिस्टि झरोखें आइ।
औरु जो रही अदिस्टि भै, सो कछु बरनि न जाइ॥ ४८४॥

शब्दार्थ—भ्रिंगि = भृङ्गी, भौंरा । लंक = कमर । माँझ = बीच में । काछे = सजी हुई । उजहि चली = उजाड़ कर चली गई ।

अर्थ—उसकी कमर इतनी पतली है जैसे भौंरे की, जो कि मालूम होती है कि बीच में जुड़ी ही नहीं है, या जैसे कमल की नाल तोड़ देने पर एक रेशे से जुड़ी रहती है इसी प्राकर उसकी पतली कमर जुड़ी हुई सी है। जब वह मुझे देख कर पीछे होकर चली गयी तो मैंने समझा कि यह तो इन्द्र की कोई सजी हुई अप्सरा है। मुझे तो उजाड़ कर चली गई, मुझे पछतावा मात्र रह गया, अब भी मेरी दृष्टि उस पर उसी भाव से लगी हुई है। उसकी चाल पर अप्सराएँ छिप गयीं। इसीलिए वे लुप्त हो गयीं और प्रकट नहीं होतीं। हंस उसकी चाल देख कर लजा गया और समुद्र के पानी में मुँह छिपाने लगा। हाथी उसकी चाल से लजा कर अपने सिर पर धूलि डालने लगा। मैंने भी संसार में स्त्रियाँ देखी हैं, पर उदयाचल से अस्ताचल तक ऐसी नारी कहीं नहीं है। इस पृथ्वी में तो ऐसी कोई नहीं है, स्वर्ग में यदि कोई हो तो हो। झरोखे में से जितने अंग उसके मुझे दिखाई पड़े हैं उतने ही का वर्णन मैंने किया है और जो भाग मुझे नहीं दिखलाई पड़ सके उनका मैं कुछ वर्णन नहीं कर सकता। ( भाव यह कि झरोखे में खड़ी होने से कमर से ऊपर के भाग ही दिखाई पड़े हैं, नीचे के भाग वह न देख सका। अतः उनका वर्णन नहीं किया। )

[ ४८५ ]

का धनि कहौं जैसि सुकुवारा। फूल के छुएँ जाइ बिकरारा ॥
पँखुरी लीजहि फूलन्ह सेंती। सो नित डासिअ सेज सुपेती ॥
फूल समूच रहै जो पावा। व्याकुलि होइ नींद नहिं आवा ॥
सहै न खीर, खाँड और घीऊ। पान अधार रहै तन जीऊ ॥
नसि पानन्ह कै काढ़िअ हेरी। अधरन्ह गड़ै फाँस ओहि केरी ॥
मकरी क तार ताहि कर चीरू। सो पहिरें छिलि जाइ सरीरू ॥
पालक पाँव, कि आछहिं पाटा। नेत बिछाइअ जौं चल बाटा ॥
घालि नयन जनु राखिअ, पलक न कीजै ओट।
पेम क लुबुधा पावै, काह सो बड़ का छोट ॥ ४८५ ॥

शब्दार्थ—विकरारा = बेचैन। सेंतो = से। सुपेती = सफेदी। समूच = पूरा। नसि = पान के बीच के रेशे। हेरी = खोज कर। पालक = पालकी या पलंग। आछहिं = रहते हैं। पाटा = सिंहासन। नेत = रेशमी कपड़े की चादर।

अर्थ—राघवचेतन कहता है कि वह स्त्री कितनी कोमल है, कैसे बताऊँ, फूल को स्पर्श कर वह बेचैन हो जाती है। फूलों की पंखुड़ियों को निकाल कर तब नित्य उसकी सेज बिछाई जाती थी। यदि उसमें कोई फूल पूरा रह जाता था, तो वह व्याकुल हो जाती थी और रात भर उसे नींद नहीं आती थी। वह दूध, शक्कर और घी आदि को बरदाश्त नहीं कर पाती, इसलिए पान-फूल के आधार पर ही उसका शरीर जी रहा है। खोज-खोज कर पान के रेशे निकाल लिए जाते हैं, फिर भी उसकी फाँस उसके होठों में गड़ जाती हैं। मकड़ी के तारों के समान महीन उसके वस्त्र होते हैं, फिर भी उनके पहिनने पर उसका शरीर छिल जाता है। उसके पैर या तो पलंग पर रहते हैं या सिंहासन पर। जब वह ज़मीन पर चलती है तो मखमल की चादर बिछाई जाती है।

एक बार उसको आँखों में डालने पर इच्छा होती है कि कभी पलकों से ओट न करें। प्रेम का लोभी ही उसे पा सकता है। क्या बड़ा हो, क्या छोटा। (अन्तिम पंक्ति में वह अलाउद्दीन में आशा की लौ भी जगाता है।)

[ ४८६ ]

राघौ जौं धनि बरनि सुनाई। सुना साह, मुरुछा गति आई॥
जनु मूरति वह परगट भई। दरस देखाइ तबहिं छपि गई॥
जो जो मँदिल पदुमिनी लेखी। सुनत सो कवँल कुमुद जेउँ देखी॥
मालति होइ असि चित्त पईठी। औरु पुहुप कोइ आव न डीठी॥
मन है भवँर, भँवै बैरागा। कँवल छाँड़ि चित्त औरु न लागा॥
चाँद के रँग सुरुज जस राता। अब नखतन्ह सौं पूँछ न बाता॥
तब अलि अलाउदीन जग सूरू। लेउँ नारि चितउर कै चूरू॥
जौं वह मालति मानसर, अलि न बेलंबै जात।
चितउर महँ जो पदुमिनी, फेरि वहै कहु बात॥ ४८६॥

शब्दार्थ—मंदिल = महल। लेखी = समझ रखी थी। कै चूरू = चूर कर, नष्ट कर। बेलंबै = विलम्ब, देर। वहै = वही।

अर्थ—राघवचेतन ने जब पद्मावती का इस प्रकार वर्णन सुनाया, तो शाह अलाउद्दीन को उसे सुन कर मूर्छा आगयी। उसको ऐसा प्रतीत हुआ कि पद्मावती की मूर्ति एक बार प्रगट हुई और दर्शन दिखा कर लुप्त हो गयी। अब तक अलाउद्दीन ने अपने महल में जिन नारियों को पद्मिनी समझ रखा था, पद्मावती के वर्णन को सुन कर वे सब कुमुदिनी प्रतीत होने लगीं। पद्मावती मालती के समान अलाउद्दीन के चित्त में बैठ गयी और कोई फूल अब उसे नहीं दिखाई पड़ता। उसका मन भौंरा बन कर बैरागी सा घूमने लगा, उस कमल रूपी पद्मावती को छोड़ कर और कहीं उसका चित्त नहीं लगता। जैसे सूर्य चाँद के रंग पर अनुरक्त हो जाता है और अन्य ताराओं से बात नहीं करता उसी प्रकार अलाउद्दीन की दृष्टि पद्मावती पर एकनिष्ठ हो गयी। तब अलाउद्दीन रूपी सूर्य ने विचार किया, अब मैं चित्तौड़ को चूर करके पद्मावती को लूँगा। जब मालती मानसरोवर में होती है तो भौंरे को जाने में देर नहीं लगती, इसी प्रकार अब मुझे भी देर नहीं है। अतः यदि पद्मावती चित्तौड़ में है तो तुम फिर उसी की बात करो।

[ ४८७ ]

ऐ जग सूर कहौं तुम्ह पाहाँ। औरु पाँच नग चितउर माहाँ॥
एक हंस है पंखि अमोला। मोती चुनै, पदारथ बोला॥
दोसर नग जेहि अँब्रित बसा। सब बिख हरै जहाँ लगि डसा॥
तीसर पाहन परस पखाना। लोह छुवत होइ कंचन बाना॥
चौथ अहै सादूर अहेरी। जेहिं बन हस्ति धरै सब घेरी॥
पाँचौ है सोनहा लागना। राज पंखि पंखी कर जना॥
हरिन रोझ कोइ बाँच न भागा। जस सैचान तैस उड़ि लागा॥
नग अमोल अस पाँचौं, मान समुँद ओहि दीन्ह।
इसकंदर नहिं पाएउ, जौं रे समुँद धँसि लीन्ह॥ ४८७॥

शब्दार्थ—पदारथ = रत्न, उत्तम बोली। परस पखाना = पारस पत्थर। सादूर = शार्दूल, सिंह। सोनहा = एक पक्षी। लागना = शिकार की ताक में

रहने वाला । जना = पैदा किया हुआ । रोझ = नील गाय । बाँच = बचना । सैचान = बाज । इसकंदर = सिकन्दर ।

अर्थ—राघवचेतन कहता है कि हे संसार के सूर्य ! मैं तुमसे कहता हूँ कि पद्मावती के अतिरिक्त चित्तौड़ में पाँच और रत्न हैं। पहला रत्न तो अनमोल हंस पक्षी है जो उत्तम बोली के रूप में मोती चुगता है। दूसरा रत्न अमृत है जो जहाँ रहता है, सभी प्रकार के विषों को हरता है। तीसरा रत्न पारस पत्थर है जो लोहे को छूकर सोना कर देता है। चौथा रत्न शिकारी सिंह है जो वन के सभी हाथियों को घेर कर पकड़ लेता है। पाँचवाँ रत्न शिकारी की ताक में रहने वाला सोनहा पक्षी है जो राज-पक्षी की संतान है। उससे हिरन और नील गाय आदि भग कर बच नहीं पातीं। जैसे बाज पक्षियों को पकड़ता है, इसी प्रकार वह इन सबको पकड़ लेता है। ऐसे अनमोल पाँचों रत्न समुद्र ने रतनसेन को भेंट में दिये गये थे। जो उसने समुद्र में प्रवेश कर के प्राप्त कर लिया है उसे सिकन्दर महान् ने भी नहीं प्राप्त किया।

[ ४८८ ]

पान दीन्ह राघौ पहिरावा। दस गज हस्ति घोर सो पावा॥
औ दोसर कंगन कर जोरी। रतन लागि तेहि तीस करोरी॥
लाख दिनार देवाई जेंवा। दारिद हरा समुद के सेवा॥
हौं जेहि देवस पदुमिनी पावौं। तोहि राघौ चितउर बैसावौं॥
पहिलें कै पाँचौं नग मूँठी। सो नग लेउँ जो कनक अँगूठी॥
सरजा सेर पुरुख बरियारू। ताजन नाग, सिंघ असवारू॥
दीन्ह पत्र लिखि बेगि चलावा। चितउर गढ़ राजा पहँ आवा॥
पत्र दीन्ह लै राजहि, किरिपा लिखी अनेग।
सिंघल की जो पदुमिनी, सो चाहौं यहि बेगि॥ ४८८॥

शब्दार्थ—देवाई = दिलाया। जेंवा = दक्षिणा। मूँठी = मूठी, हस्तगत। ताजन = कोड़ा।

अर्थ—अलाउद्दीन ने राघवचेतन को पान का बीड़ा दिया, साथ ही उ

दस हाथी और सौ घोड़े दिलवाए। फिर उस कंगन की दूसरी जोड़ी भी दी, जिसमें तीस करोड़ नग लगे थे। एक लाख दीनारें उसने दक्षिणा में दिलवाईं। इस सागर रूपी अलाउद्दीन की सेवा करने से राघवचेतन की दरिद्रता दूर हो गयी : अलाउद्दीन ने कहा कि जिस दिन मैं पद्मावती को पा जाऊँगा, तुझे चित्तौड़ का राजा बना दूँगा। पहले उन पाँचों रत्नों को हस्तगत कर के उस स्वर्ण अंगूठी रूप श्रेष्ठ रत्न पद्मावती को प्राप्त करूँगा।

फिर उसने सरजा नाम के शेर सरीखे बली आदमी को बुलाया जिसके पास नाग का कोड़ा था और जो सिंह पर सवारी करता था। तुरन्त ही एक पत्र लिख कर उसे दे दिया और चित्तौड़ के लिए उसे रवाना कर दिया। सरजा चित्तौड़ में राजा रत्नसेन के पास आया। उसने राजा को अलाउद्दीन का पत्र दिया जिसमें पहले तो अनेक कृपायें लिखी थीं, फिर लिखा था कि जो सिंहल द्वीप की पद्मिनी तुम्हारे पास है, उसे मैं शीघ्र ही चाहता हूँ।

————

# ४२. बादशाह-चढ़ाई-खण्ड

[ ४८६ ]

सुनि अस लिखा उठा जरि राजा । जानहुँ देव तरपि घन गाजा ॥
का मोहि सिंघ देखावसि आई । कहौं तो सारदूर लै खाई ॥
भलेहँ सो साहि पुहमिपति भारी । माँग न कोइ पुरुख कै नारी ॥
जौं सो चक्कवै ता कहँ राजू । मँदिर एक कहँ आपन साजू ॥
आछरि जहाँ इंद्र पै रावा । औरु जो सुनै न देखै पावा ॥
कंस क राज जिता जौं कोपी । कान्हहि दीन्ह काहुँ कहुँ गोपी ॥
का मोहि तें अस सूर अगाराँ । चढ़ौं सरग, औ परौं पताराँ ॥

का तोहि जीव मरावौं, सकति आन के दोस ।
जो तिस बुझै न समुँद जल, सो बुझाइ कत ओस ॥ ४८६ ॥

शब्दार्थ—देव = आकाश । तरपि = तड़प कर । गाजा = गर्जा । सारदूर = शार्दूल, शेर । पै = ही । अगाराँ = बढ़ कर ।

अर्थ—अलाउद्दीन के लेख को सुनकर राजा रत्नसेन जल उठा और क्रोध के आवेश में इस प्रकार तड़प उठा जैसे आकाश में बादल गर्जा हो । उसने सरजा से कहा कि क्या तुम मुझे अपने वाहन सिंह को दिखा रहे हो ? यदि मैं आज्ञा दूँ तो मेरा शार्दूल इसे पकड़ कर खा जाय । भले ही अला-उद्दीन भारी बादशाह हो पर कोई बड़ा से बड़ा आदमी भी किसी पुरुष की स्त्री को नहीं माँगता । यदि वह एक चक्रवर्ती बादशाह है तो यहाँ अपने महल भर के लिए अपना भी साज है । जहाँ पर अप्सरा है वहाँ पर इन्द्र ही राजा होता है और उसके अतिरिक्त और कोई उस अप्सरा को देख-सुन नहीं सकता । कृष्ण ने कंस के राज्य को अवश्य ही जीत लिया था । पर श्री कृष्ण को किसी ने मथुरा की गोपियाँ दीं ? फिर क्या वह अलाउद्दीन मुझसे बढ़ कर शूरवीर है । आयेगा तो पद्मावती के लिए मैं तो स्वर्ग और पाताल सभी चढ़ लूँगा ।

पर तेरे जीव को क्यों मरवाऊँ क्योंकि इसमें तो दूसरे का दोष है। जो प्यास समुद्र के जल से नहीं बुझी, वह ओस से कैसे बुझ सकती है ?

[ ४६० ]

राजा रिसि न होहि अस राता। सुनि होइ जूड़, न जरि कहु बाता॥
आवा हौं सो मरै कहँ आवा। पातसाहि अस जानि पठावा॥
जौं तोहि भार, न औरहि लेना। पूँछिहि काल उतर है देना॥
पातसाहि कहँ ऐस न बोलू। चढ़ै तौ परै जगत महँ दोलू॥
सूरहि चढ़त न लागै बारा। धिकै आगि तेहि सरग पतारा॥
परबत उड़हिं सूर के फूँके। यह गढ़ छार होइ एक झूँके॥
धँसै सुमेरु समुँद का पाटा। भुइँ सम होइ धरै जौं बाटा॥
तासौं का बड़ बोलसि, बैठि न चितउर खासि।
उपर लेहि चँदेरी, का पदुमिनि एक दासि॥ ४६०॥

शब्दार्थ—रिसि = क्रोध। राता = लाल। जूड़ = ठंडा। दोलू = हलचल। बारा = देर।

अर्थ—सरजा ने उत्तर दिया कि हे राजा ! इस प्रकार क्रोध से लाल न हो, ठंडे दिल से बात सुनो, जलकर कोई बात न करो। मैं तो यहां आया हूं तो मरने के लिए ही आया हूं और यही समझ कर बादशाह ने मुझे भेजा है। पर तेरा भार ( उत्तरदायित्व ) तो और किसी को लेना नहीं है, जब मृत्यु के समान अलाउद्दीन कुछ पूछ रहा है तो उसका उत्तर देना ही है। बादशाह को इस प्रकार उत्तर नहीं देना चाहिए क्योंकि वहबड़ा प्रतापी है। जब वह चढ़ाई करता है तो सारे संसार में हलचल मच जाती है। सूर्य के चढ़ने में कोई देर नहीं लगती और उसकी आग से स्वर्ग और पाताल सभी जलने लगते हैं। शूरवीर के फूँकने पर तो पहाड़ तक उड़ जाते हैं, यह तुम्हारा चित्तौड़ गढ़ तो एक झोंके में ही मिट्टी में मिल जायगा। सुमेरु पर्वत भी भूमि में धँस जाता है, समुद्र पट जाता है, पृथ्वी समतल हो जाती है जब वह रास्ते में चलता है।

ऐसे बादशाह से बड़ी बातें क्या करते हो ? मेरी सम्मति तो यह है कि तुम आराम से अपने दरबार खास में क्यों न बैठ कर आनन्द करो और ऊपर

से चंदेरी राज्य उपहार में लो, एक पद्मिनी दासी क्या है ? भाव यह कि एक पद्मिनी के देने से तुम्हें यह सब मिल जायगा। एक पद्मिनी के लिए क्यों इतना खतरा मोल लेते हो।

[ ४६१ ]

जौं पै घ्रिहिनि जाइ घर केरी। का चितउर, केहि काज चँदेरी॥
जिऔं लेइ घर कारन कोई। सो घर देइ जो जोगी होई॥
हौं रनथँभर नाँह हमीरू। कलपि माँथ जेइ दीन्ह सरीरू॥
हौं तौ रतनसेन सकबंधी। राहु बेधि जीती सैरिंधी॥
हनिवँत सरिस भारु मैं काँधा। राघौ सरिस समुँद हठि बाँधा॥
बिक्रम सरिस कीन्ह जेइँ साका। सिंघल दीप लीन्ह जौं ताका॥
ताहि सिंघ कै गहै को मोंछा। जौं अस लिखा होइ नहिं ओछा॥
दरब लेइ तौ मानौं, सेव करौं गहि पाउ।
चाहै नारि पदुमिनी, तौं सिंघल दीपहि जाउ॥ ४६१॥

शब्दार्थ—घ्रिहिनि = गृहिणी, स्त्री। नाँह = नाथ, राजा। कलपि = रूठ कर। सकबँधी = यशस्वी। सैरिंधी = द्रौपदी। साका = संवत्। मोंछा = मूँछ।

अर्थ—रत्नसेन ने उत्तर दिया कि यदि घर की गृहणी ही चली जायेगी तो चित्तौड़ में क्या रक्खा है और चंदेरी किस काम की। घर के कारण तो चाहे कोई मेरा जीव ही ले ले। इस घर को वही दे सकता है जो जोगी होता है। मैं तो रणथम्भौर के राजा हम्मीरदेव के समान हूँ जिसने अपने हठ पर अपने मत्थे को काट कर अपने शरीर को छोड़ दिया। मैं तो यशस्वी रत्नसेन हूँ जिसने अर्जुन की भाँति मछली को वेध कर द्रौपदी को जीत लिया है। ( भाव यह कि अनेक परीक्षाओं के बाद मैंने पद्मावती को प्राप्त किया है ) इस पद्मावती के प्राप्त करने में मैंने हनूमान् के समान पहाड़ के भार को अपने कंधे पर वहन किया है और रामचन्द्र जी के समान हठपूर्वक समुद्र पर पुल बाँधा है। मैं विक्रमादित्य के समान हूँ जिसने अपने नाम का संवत् चलाया। मैंने दृष्टि लगाई तो सिंहल द्वीप पहुँच ही गया। ऐसे सिंह की मूँछें कौन पकड़ सकता है ? जैसा अलाउद्दीन ने मुझे लिखा है वैसा ओछा

मैं नहीं हो सकता। तुम उससे जा कर कह दो कि यदि तुम धन लेना चाहते हो तो मान जाओ, मैं द्रव्य के द्वारा तुम्हारे चरणों की सेवा कर दूँगा, पर यदि वह पद्मिनी नारी ही चाहता है तो उसको कह दो कि वह सिंहल द्वीप ही जावे।

[ ४६२ ]

बोलु न, राजा आपु जनाई। लीन्ह उदैगिरि लीन्ह छिताई॥
सप्त दीप राजा सिर नावहिं। औ सँ चलीं पदुमिनी आवहिं॥
जाकरि सेवा करै सँसारा। सिंघल दीप लेत का बारा॥
जनि जानसि तूँ गढ़ उपराहीं। ताकर सबै, तोर कछु नाहीं॥
जेहि दिन आइ गाढ़ कै छेंकै। सरबस लेइ, हाथ का टेकै॥
सीस न झारु खेह के लागें। सिर पुनि छार होइ देखु आगें॥
सेवा करु जो जियनि तोहि फाबी। नाहिं तौ फेरि भाँग होइ जाबी॥
जाकरि लीन्हि जियनि पै, अगुमन सीस जोहारि।
ताकर कै सब जानै, काह पुरुख का नारि॥ ४६२॥

शब्दार्थ—जनाई = मालूम पड़ जायेगा। छेंकै = घेर लिया। खेह। फाबी = शोभा देना। भाँग = भंग, टुकड़े। जाबी = जाओगे।

अर्थ—सरजा ने उत्तर दिया कि राजा ऐसी बात न कहो, तुम्हें स्वयं मालूम हो जायगा। उस अलाउद्दीन ने उदयगिरि और छिताई को जीत लिया है। सातों द्वीपों के राजा उसे सिर नवाते हैं और सभी जगहों से पद्मिनियाँ चली आती हैं। जिसकी सेवा संसार करता है उसे सिंहलद्वीप लेते कितनी देर लगेगी। तू अपने किले को सब से बढ़कर मत समझ, यह सब कुछ उसी का है तेरा कुछ नहीं है। जिस दिन आकर तुम्हारे किले को घेर लेगा, सब कुछ ले लेगा। उसके हाथ को कौन रोक सकता है। मिट्टी के लगने पर सिर मत झाड़ो, तुम देखोगे कि सिर ही मिट्टी हो जायगा। यदि तुम्हें जीवित रह कर शोभित रहना है तो उसकी सेवा करो, नहीं तो फिर नष्ट हो जाओगे। जिससे जीवन लेना है उसे आगे से ही सिर से प्रणाम करना चाहिए। उसकी शक्ति तो करने के पश्चात् क्या पुरुष, क्या स्त्री सभी को मालूम हो जाती है।

[ ४६३ ]

तुरुक जाइ कहु मरै न धाई। होइहि इसकंदर कै नाई ॥
सुनि अंम्रित केदली बन धावा। हाथ न चढ़ा, रहा पछितावा ॥
उड़ि तेहि दीप पतँग होइ परा। अगिनि पहार पाउ दै जरा ॥
धरती सरग लोह भा तावैं। जीउ दीन्ह, पहुँचत गा लावैं ॥
यह चितउर गढ़ सोइ पहारू। सूर उठै धिकि होइ अँगारू ॥
जौं पै इसकँदर सरि कीन्ही। समुँद लेउ धँसि जस वै लीन्ही ॥
जौं छरि आने जाइ छिताई। तब का भएउ जो मुक्ख जताई ॥
महूँ समुझि अस अगुमन, संचि राखा गढ़ साजु।
कालिह होइ जेहि अवना, सो चढ़ि आवो आजु ॥ ४६३ ॥

शब्दार्थ—नाई = समान। अंम्रित = अमृत। धिकि = गर्म। सरि = बराबरी। छरि = छल करके। मुक्ख = मुख से। जताई = प्रकट करना कहना। महूँ = मैंने भी।

अर्थ—रत्नसेन ने कहा कि हे तुर्क ! जा कर कह दो कि दौड़ कर वह (अलाउद्दीन) न मरे, सिकन्दर की सी दशा होगी। अमृत का नाम सुन कर वह कदली वन को दौड़ गया था, पर उसके हाथ अमृत तो लगा नहीं, उसे पछतावा ही हुआ। उस दीपक में उड़ कर वह पतंगा हो गया, अग्नि के पहाड़ में पाँव देकर वह जल गया। उस पहाड़ की पृथ्वी ही स्वर्ग पर है। (बहुत ऊँची है), उसका लोहा भी अग्नि के कारण तांबा के समान लाल दिखाई पड़ता है, इसलिए उसने अपने प्राण दे दिये, क्योंकि वह बहुत ऊंचे पहुँच गया था, उसका उतरना सम्भव न था। यह चित्तौड़गढ़ भी वही पहाड़ है, सूर्य (रत्नसेन) के उठने पर यह भी गर्म होकर अंगारा ही हो जाता है। यदि अलाउद्दीन सिकन्दर की बराबरी करना चाहता है तो जैसे उसने लिया था, उसी प्रकार समुद्र में धँस करके ले। जो छिताई में जाकर उसने छल से वहाँ की रानी को ले लिया, तो कौन सी बड़ी बात हुई, जो मुख से तुम उसे प्रकट कर रहे हो। मैंने भी आगे से ही समझ रखा है और अपने किले की तैयारी कर रखी है, तुम जाकर अलाउद्दीन से कहो कि यदि उसे कल आक्रमण करना हो तो आज ही कर दे।

नोट—जायसी ने सिकन्दर का उल्लेख कई बार किया है, पर यह सिकन्दर इतिहास प्रसिद्ध यूनान का जगद्विजयी सम्राट् सिकन्दर महान् नहीं है—सूफियों की किस्से-कहानियों का कोई कल्पित सिकन्दर है।

[ ४६४ ]

सरजा पलटि साहि पहँ आवा। देव न मानै बहुत मनावा॥
आगि जो जरा आगि पै सूझा। जरत रहै न बुझाएँ बूझा॥
औसें पंथ न आवै देऊ। चढ़ै सुलेमा मानै सेऊ॥
सुनि कै रिसि राता सुलतानू। जैसे धिकै जेठ कर भानू॥
सहसौं करा रोस तस भरा। जेहि दिसि देखै सो दिसि जरा॥
हिंदू देव काह बर खाँचा। सरगहुँ अब न आगि सौं बाँचा॥
एहि जग आगि जो भरि मुँह लीन्हा। सो सँग आगि दुहूँ जग कीन्हा॥
जस रनथँभउर जरि बुझा, चितउर परी सो आगि।
एहि रे बुझाएँ न बुझै, जरे दोस की लागि॥ ४६४॥

शब्दार्थ—देऊ = देव। सुलेमा = यहूदियों का बादशाह, जिसने देवों और परियों को जीत कर वश में किया था। धिकै = गर्म। करा = कला। बर = बल, हठ। खाँचा = दिखाता है।

अर्थ—सरजा लौट कर बादशाह अलाउद्दीन के पास आया और कहा कि मैंने बहुत समझाया, पर वह राजा नहीं मानता। जो आग का जला है, उसे आग ही सूझती है, जलता ही रहता है, बुझाए से बुझता नहीं। इस प्रकार वह देव रास्ते पर नहीं आ सकता। जब सुलेमान चढ़ेगा, तभी वह सेवा मानेगा। यह बात सुन कर वह सुलतान अलाउद्दीन क्रोध के मारे लाल हो गया, जैसे कि जेठ मास का सूर्य गर्म हो जाता है। हजारों कलाओं से युक्त सूर्य की भान्ति वह क्रोध में भर गया, जिधर ही वह देखता था, उधर ही जलन हो जाती थी। सुलतान ने कहा कि यह हिन्दू राजा किस बल पर हठ कर रहा है, स्वर्ग भी अब मेरी क्रोधाग्नि से नहीं बच सकता। इस संसार में जो आग यह अपने मुँह में भरेगा, वह उसके साथ दोनों संसारों में जायेगी।

जिस प्रकार रणथम्भौर जल कर बुझा है, वही आग अब चित्तौड़ में भी

[ ४६३ ]

तुरुक जाइ कहु मरै न धाई। होइहि इसकंदर कै नाई॥
सुनि अंब्रित कदली बन धावा। हाथ न चढ़ा, रहा पछितावा॥
उड़ि तेहि दीप पतँग होइ परा। अगिनि पहार पाउ दै जरा॥
धरती सरग लोह भा ताँबै। जीउ दीन्ह, पहुँचत गा लाँबै॥
यह चितउर गढ़ सोइ पहारू। सूर उठै धिकि होइ अँगारू॥
जौं पै इसकँदर सरि कीन्ही। समुँद लेउ धँसि जस वै लीन्ही॥
जौं छरि आने जाइ छिताई। तब का भएउ जो मुक्ख जताई॥
महूँ समुझि अस अगुमन, संचि राखा गढ़ साजु।
काल्हि होइ जेहि अवना, सो चढ़ि आवौ आजु॥ ४६३॥

शब्दार्थ—नाई = समान। अंब्रित = अमृत। धिकि = गर्म। सरि = बराबरी। छरि = छल करके। मुक्ख = मुख से। जताई = प्रकट करना कहना। महूँ = मैंने भी।

अर्थ—रत्नसेन ने कहा कि हे तुर्क! जा कर कह दो कि दौड़ कर वह (अलाउद्दीन) न मरे, सिकन्दर की सी दशा होगी। अमृत का नाम सुन कर वह कदली वन को दौड़ गया था, पर उसके हाथ अमृत तो लगा नहीं, उसे पछतावा ही हुआ। उस दीपक में उड़ कर वह पतंगा हो गया, अग्नि के पहाड़ में पांव देकर वह जल गया। उस पहाड़ की पृथ्वी ही स्वर्ग पर है। (बहुत ऊँची है), उसका लोहा भी अग्नि के कारण तांबा के समान लाल दिखाई पड़ता है, इसलिए उसने अपने प्राण दे दिये, क्योंकि वह बहुत ऊंचे पहुँच गया था, उसका उतरना सम्भव न था। यह चित्तौड़गढ़ भी वही पहाड़ है, सूर्य (रत्नसेन) के उठने पर यह भी गर्म होकर अंगारा ही हो जाता है। यदि अलाउद्दीन सिकन्दर की बराबरी करना चाहता है तो जैसे उसने लिया था, उसी प्रकार समुद्र में धँस करके ले। जो छिताई में जाकर उसने छल से वहाँ की रानी को ले लिया, तो कौन सी बड़ी बात हुई, जो मुख से तुम उसे प्रकट कर रहे हो। मैंने भी आगे से ही समझ रखा है और अपने किले की तैयारी कर रखी है, तुम जाकर अलाउद्दीन से कहो कि यदि उसे कल आक्रमण करना हो तो आज ही कर दे।

नोट—जायसी ने सिकन्दर का उल्लेख कई बार किया है, पर यह सिकन्दर इतिहास प्रसिद्ध यूनान का जगद्विजयी सम्राट् सिकन्दर महान् नहीं है—सूफियों की किस्से-कहानियों का कोई कल्पित सिकन्दर है।

[ ४६४ ]

सरजा पलटि साहि पहँ आवा। देव न मानै बहुत मनावा॥
आगि जो जरा आगि पै सूझा। जरत रहै न बुझाएँ बूझा॥
औसें पंथ न आवै देऊ। चढ़ै सुलेमा मानै सेऊ॥
सुनि कै रिसि राता सुलतानू। जैसे धिकै जेठ कर भानू॥
सहसौं करा रोस तस भरा। जेहि दिसि देखै सो दिसि जरा॥
हिंदू देव काह बर खाँचा। सरगहुँ अब न आगि सौं बाँचा॥
एहि जग आगि जो भरि मुँह लीन्हा। सो सँग आगि दुहूँ जग कीन्हा॥
जस रनथँभउर जरि बुझा, चितउर परी सो आगि।
एहि रे बुझाएँ न बुझै, जरे दोस की लागि॥ ४६४॥

शब्दार्थ—देऊ = देव। सुलेमा = यहूदियों का बादशाह, जिसने देवों और परियों को जीत कर वश में किया था। धिकै = गर्म। करा = कला। बर = बल, हठ। खाँचा = दिखाता है।

अर्थ—सरजा लौट कर बादशाह अलाउद्दीन के पास आया और कहा कि मैंने बहुत समझाया, पर वह राजा नहीं मानता। जो आग का जला है, उसे आग ही सूझती है, जलता ही रहता है, बुझाए से बुझता नहीं। इस प्रकार वह देव रास्ते पर नहीं आ सकता। जब सुलेमान चढ़ेगा, तभी वह सेवा मानेगा। यह बात सुन कर वह सुलतान अलाउद्दीन क्रोध के मारे लाल हो गया, जैसे कि जेठ मास का सूर्य गर्म हो जाता है। हजारों कलाओं से युक्त सूर्य की भान्ति वह क्रोध में भर गया, जिधर ही वह देखता था, उधर ही जलन हो जाती थी। सुलतान ने कहा कि यह हिन्दू राजा किस बल पर हठ कर रहा है, स्वर्ग भी अब मेरी क्रोधाग्नि से नहीं बच सकता। इस संसार में जो आग यह अपने मुँह में भरेगा, वह उसके साथ दोनों संसारों में जायेगी।

जिस प्रकार रणथम्भौर जल कर बुझा है, वही आग अब चित्तौड़ में भी

पड़ेगी, इसके बुझाने से यह नहीं बुझ सकती, इसके दीप में लगी हुई जलती रहेगी।

पाठान्तर—दीप—दिवस।

[ ४६५ ]

लिखे पत्र चारिहु दिसि धाए। जावँत उमरा बेगि बोलाए॥
डंड घाउ भा, इंद्र सँकाना। डोला मेरु, सेस अँगिराना॥
धरती डोली, कुरुँम खरभरा। महनारंभ समुँद महँ परा॥
साहि बजाइ चढ़ा, जग जाना। तीस कोस भा पहिल पयाना॥
चितउर सौहँ बारिगह तानी। जहँ लगि कूच सुना सुलतानी॥
उठि सरवान गँगन लहि छाए। जानहुँ राते मेघ देखाए॥
जो जहँ तहाँ सूति अस जागा। आइ जोहारि कटक सब लागा॥
हस्ति घोर दर परिगह, जावँत बेसरा ऊँट।
जहँ तहँ लीन्ह पलानी, कटक सरह घटि छूट॥ ४६५॥

शब्दार्थ—जावँत = जितने। डंड-पाठान्तर-दुंद = डंका। सँकान = शंकित, डरा। अँगिराना-पाठान्तर-अकुलाना = घबराया। कुरुम-पाठान्तर कमठ = कच्छप भगवान्। खरभरा = खलभलाया। महनारंभ-पाठान्तर मथन आरम्भ = समुद्र मंथन। चढ़ा-पाठान्तर-कढ़ा = चला। बारिगह = बारगाह, दरबार। तानी = बढ़ा। सरवान = झंडा। सूति = सो कर। जोहारि = प्रणाम करके। लागा = भरती हुआ। परिगह = झुंड-पाठान्तर-पुरुष। बेसरा = खच्चर। पलानी = प्रस्थान किया। सरह = शलभ-टिड्डी। घटि-पाठान्तर-अस = ऐसा।

अर्थ—सुलतान ने चारों ओर पत्र लिख कर दूत दौड़ा दिये और जितने भी उमराव उसके थे, उन सबको बुलवाया। डंके पर चोट पड़ी, इन्द्र भी डर उठा, सुमेरु पर्वत डोल गया, शेषनाग अकुला उठा। पृथ्वी डोल उठी, कच्छप भगवान् खलभला उठे, समुद्र में समुद्र मंथन सा आरम्भ हो गया। शाह अलाउद्दीन बाजे बजवा कर चढ़ाई पर चल पड़ा, सारे संसार में इस बात का शोर हो गया। पहला पड़ाव तीस कोस पर हुआ। जहाँ तक दरबारों ने सुना कि सुलतान ने कूच किया है, सभी चित्तौड़ की ओर बढ़ चले।

झंडे उठ कर आकाश में छा गये, मानो लाल रंग के बादल छा गये हों। जो जहाँ था, वही ऐसा तैयार हो गया, जैसे सोते से जगा हो और आकर सुलतान को प्रणाम करके उसकी सेना में भरती हो गया।

हाथी, घोड़ा, खच्चर, ऊंट आदि के दल सभी इस प्रकार चल पड़े, जैसे टिड्डी दल छूट पड़े हों।

[ ४९६ ]

चली पंथ परिगह सुरितानी। तीख तुरग बाँक कैकानी।
पखरैं चली सो पाँतिन्ह पाँती। बरन बरन औ भाँतिन्ह भाँती॥
काले कुमँइत लील सनेबी। खंग कुरंग बोरदुर केबी॥
अबलक अबसर अगज सिराजी। चौधर चाल समुँद सब ताजी॥
खुरुमुज नोकिरा जरदा भले। औ अगरान बोलसिर चले॥
पँच कल्यान सँजाब बखाने। मांह सायर सब चुनि चुनि आने॥
मुसुकी औ हिरमिजी इराकी। तुरकी कहे भोथार बुलाकी॥
सिर औ पोंछि उठाए, चहु दिसि साँस ओनाहिं।
रोस भरे जस वांउर, पवन तरास उड़ाहि॥ ४९६॥

शब्दार्थ—परिगह, पाठान्तर वेसर = सेना। कैकानी = एक प्रकार के छोटे-छोटे घोड़े जो बड़े तेज होते हैं। पखरैं पाठान्तर, विखरीं = सेना की पंक्तियाँ। बरन-वरन = रंग-रंग। (नोट—पं० शुक्ल सम्पादित ग्रन्थावली में यह पंक्ति पद की अन्तिम पंक्ति है।) सनेवी पाठान्तर सुपेते = सफेद। खंग, पाठान्तर खिंग = सफेद घोड़ा जिसके मुँह पर का पट्टा और चारों सुम गुलाबीपन लिए हों। कुरंग = कुलंग। बोरदुर, पाठान्तर = वोजदुर। केबी, पाठान्तर = केत्ते। खुरमुज, पाठान्तर = किरमिज। तरास = बेग।

अर्थ—इस पद में सुलतान की सेना का वर्णन है, जिसमें भिन्न-भिन्न जाति के घोड़ों के नाम गिनाए गये हैं।

सुलतान की सेना रास्ते पर चली। उसमें बड़े तेज़ बाँके कैकानी घोड़े थे। इनकी पंक्ति की पंक्ति बिखरी हुई चल रही थी, उनके भाँति-भाँति के रंग थे। उसमें कोई काला था, कोई मटमैला, कोई नीला कोई सफेद।

पड़ेगी, इसके बुझाने से यह नहीं बुझ सकती, इसके दीप में लगी हुई जलती रहेगी।

पाठान्तर—दीस—दिवस।

[ ४९५ ]

लिखे पत्र चारिहु दिसि धाए। जावँत उमरा बेगि बोलाए॥
डंड घाउ भा, इंद्र सँकाना। डोला मेरु, सेस अँगिराना॥
धरती डोली, कुरुँम खरभरा। महनारंभ समुँद महँ परा॥
साहि बजाइ चढ़ा, जग जाना। तीस कोस भा पहिल पयाना॥
चितउर सौहँ बारिगह तानी। जहँ लगि कूच सुना सुलतानी॥
उठि सरवान गँगन लहि छाए। जानहुँ राते मेघ देखाए॥
जो जहँ तहाँ सूति अस जागा। आइ जोहारि कटक सब लागा॥
हस्ति घोर दर परिगह, जावँत बेसरा ऊँट।
जहँ तहँ लीन्ह पलानी, कटक सरह घटि छूट॥ ४९५॥

शब्दार्थ—जावँत = जितने। डंड-पाठान्तर-दुंद = डंका। सँकान = शंकित, डरा। अँगिराना-पाठान्तर-अकुलाना = घबराया। कुरुम-पाठान्तर कमठ = कच्छप भगवान्। खरभरा = खलभलाया। महनारंभ-पाठान्तर मथन आरम्भ = समुद्र मंथन। चढ़ा-पाठान्तर-कढ़ा = चला। बारिगह = बारगाह, दरबार। तानी = बढ़ा। सरवान = झंडा। सूति = सो कर। जोहारि = प्रणाम करके। लागा = भरती हुआ। परिगह = झुंड-पाठान्तर-पुरुष। बेसरा = खच्चर। पलानी = प्रस्थान किया। सरह = शलभ-टिड्डी। घटि-पाठान्तर-अस = ऐसा।

अर्थ—सुलतान ने चारों ओर पत्र लिख कर दूत दौड़ा दिये और जितने भी उमराव उसके थे, उन सबको बुलवाया। डंके पर चोट पड़ी, इन्द्र भी डर उठा, सुमेरु पर्वत डोल गया, शेषनाग अकुला उठा। पृथ्वी डोल उठी, कच्छप भगवान् खलभला उठे, समुद्र में समुद्र मंथन सा आरम्भ हो गया। शाह अलाउद्दीन बाजे बजवा कर चढ़ाई पर चल पड़ा, सारे संसार में इस बात का शोर हो गया। पहला पड़ाव तीस कोस पर हुआ। जहाँ तक दरबारों ने सुना कि सुलतान ने कूच किया है, सभी चित्तौड़ की ओर बढ़ चले।

झंडे उठ कर आकाश में छा गये, मानो लाल रंग के बादल छा गये हों। जो जहाँ था, वही ऐसा तैयार हो गया, जैसे सोते से जगा हो और आकर सुलतान को प्रणाम करके उसकी सेना में भरती हो गया।

हाथी, घोड़ा, खच्चर, ऊंट आदि के दल सभी इस प्रकार चल पड़े, जैसे टिड्डी दल छूट पड़े हों।

[ ४९६ ]

चली पंथ परिगह सुरितानी। तीख तुरग बाँक कैकानी।
पखरैं चली सो पाँतिन्ह पाँती। बरन बरन औ भाँतिन्ह भाँती॥
काले कुमँइत लील सनेबी। खंग कुरंग बोरदुर केबी॥
अबलक अबसर अगज सिराजी। चौधर चाल समुँद सब ताजी॥
खुरुमुज नोकिरा जरदा भले। औ अगरान बोलसिर चले॥
पँच कल्यान सँजाब बखाने। मांह सायर सब चुनि चुनि आने॥
मुसुकी औ हिरमिजी इराकी। तुरकी कहे भोथार बुलाकी॥
सिर औ पोंछि उठाए, चहु दिसि साँस ओनाहिं।
रोस भरे जस वांउर, पवन तरास उड़ाहिं॥ ४९६॥

शब्दार्थ—परिगह, पाठान्तर वेसर = सेना। कैकानी = एक प्रकार के छोटे-छोटे घोड़े जो बड़े तेज होते हैं। पखरैं पाठान्तर, बिखरीं = सेना की पंक्तियाँ। बरन-बरन = रंग-रंग। (नोट—पं० शुक्ल सम्पादित ग्रन्थावली में यह पंक्ति पद की अन्तिम पंक्ति है।) सनेबी पाठान्तर सुपेते = सफेद। खंग, पाठान्तर खिंग = सफेद घोड़ा जिसके मुँह पर का पट्टा और चारों सुम गुलाबीपन लिए हों। कुरंग = कुलंग। बोरदुर, पाठान्तर = वोजदुर। केबी, पाठान्तर = केत्ते। खुरमुज, पाठान्तर = किरमिज। तरास = बेग।

अर्थ—इस पद में सुलतान की सेना का वर्णन है, जिसमें भिन्न-भिन्न जाति के घोड़ों के नाम गिनाए गये हैं।

सुलतान की सेना रास्ते पर चली। उसमें बड़े तेज़ बाँके कैकानी घोड़े थे। इनकी पंक्ति की पंक्ति बिखरी हुई चल रही थी, उनके भाँति-भाँति के रंग थे। उसमें कोई काला था, कोई मटमैला, कोई नीला कोई सफेद।

उनमें खिंग, कुलंग, बोरदुर, केबी, अबलक, अबसर, सीराजी आदि अनेक जातियों के घोड़े थे, जो चलने में अच्छे मस्त और चुस्त थे उन्हीं में किरमीजी रंग वाले, नोकिरा, जरदा, अगरान, बोलसिरा, पचकल्यान, सँजाब आदि घोड़े थे जो सारी पृथ्वी को खोज कर लाये गये थे। उन्हीं में मुश्की, हिरभिजी, ईराकी, तुरकी भोथार, बुलाकी आदि थे। सिर और दुम उठाये हुए ये घोड़े चारों ओर साँस लेते हुए दौड़ रहे थे, क्रोध से भरे हुए ये घोड़े मानो पागल हो गये हों, हवा की तेजी से उड़ रहे हैं।

[ ४६७ ]

लोहँ सारि हस्ति पहिराए। मेघ घटा जस गरजत आए॥
मेघन्ह चाहि अधिक वै कारे। भएउ असूझ देखि अँधियारे॥
जनु भादौं निसि आई डीठी। सरग जाइ हिरगैं तिन्ह पीठी॥
सवा लाख हस्ती जब चला। परवत सरिस चलत जग हला॥
कलित गयँद माँते मद आवहिं। भागहिं हस्ति गंध जहँ पावहिं॥
ऊपर जाइ गँगन सब खसा। औ धरती तर गहि धसमसा॥
भा भुइँचाल चलत गज गानी। जहँ पौ धरहिं उठै तहँ पानी॥
चलत हस्ति जग काँपा, चाँपा सेस पतार।
कुरुँम लिहें होत धरती, बैठि गएउ गज भार॥ ४६७॥

शब्दार्थ—लोहँ सारि = फौलाद। चाहि = से अधिक। हिरगैं = निकट पहुँचे। हला = हिल उठा। कलित-पाठान्तर चले। सब खसा, पाठान्तर सिर धँसा।

अर्थ—हाथियों को फौलाद पहनाये गये थे, ये हाथी इस प्रकार प्रतीत होते थे, जैसे बादल की घटायें गरजती आ रही हों। बादलों से भी अधिक वे काले थे, उन्हें देख कर अँधेरा हो गया, दिखाई नहीं पड़ता। मानो भादों की रात दिखाई पड़ती हो। वे इतने ऊँचे थे कि उनकी पीठ स्वर्ग के निकट पहुँच रही थी। जब सवा लाख हाथी चले और पहाड़ के समान सारा कटक चला तो सारा संसार हिल उठा। मतवाले हाथी मद में झूमते हुए आ रहे हैं, जब हाथी अपने ही मद की गंध पाते थे तो भाग पड़ते थे। ऊपर उनके सिर आकाश में धँस गये और पृथ्वी तल तो उनके पैरों के नीचे दबी

डाला गया। हाथियों के चलने से भूचाल आ गया, जहाँ ही वे पैर धरते थे वहाँ पृथ्वी में से पानी निकलने लगता था। हाथियों के चलने से संसार काँप उठा, शेषनाग पाताल में दब गये। कच्छप पृथ्वी को लिये हुए हाथियों के भार से नीचे दबते जा रहे थे।

अलंकार—असंबन्धातिशयोक्ति।

[ ४६८ ]

चले सो उमरा मीर बखाने। का बरनौं जस उन्हके थाने ॥
खुरासान औ चला हरेऊ। गौर बंगाले रहा न केऊ ॥
रहा न रूम साम सुलतानू। कासमीर ठट्ठा मुलतानू ॥
जावँत बीदर तुरुक कि जाती। माँडौ वाले औ गुजराती ॥
पाटि ओडैसा के सब चले। लै गज हस्ति जहाँ लगि भले ॥
काँवरू कामता औ पँडुआई। देवगिरि लेत उदैगिरि आई ॥
चला सो परबत लेत कुमाऊँ। खसिया मगर जहाँ लगि नाऊँ ॥
हेम सेत औ गौर गाजना, बंग तिलंग सब लेत।
सातौ दीप नवौ खँड, जुरे आइ एक खेत ॥४६८॥

शब्दार्थ—हरेऊ = हिन्दूकुश के आसपास का प्रदेश। गौर = गौड़, बंग देश की राजधानी। पाटि = पटना। ओडैसा = उड़ीसा। काँवरू = कामरूप, आसाम। कामता, पँडुआई = कोई प्रदेश। मगर = अराकान देश जहाँ मग नाम की एक जाति के लोग रहते हैं। हेम, सेत = कोई प्रदेश। गौर = गोर देश जहाँ का मुहम्मद गोरी था। गाजना = गज़नी। बंग = बंगाल। तिलंग = तेलंगाना। पाठान्तर-उदै अस्त लहित देस जो, जानै तिन्ह नावँ।
सातौ दीप नवौ खंड, जुरे आइ एक ठाँव ॥

अर्थ—अलाउद्दीन की सेना में ऐसे ऐसे मीर और उमरा चले कि उनके स्थानों का क्या वर्णन करूँ। उत्तर पश्चिम में खुरासान और हरेव के मीर आ गये, और पूर्व में गौड़ और बंगाल का कोई उमरा न बचा। रूम, शाम (सीरिया) का कोई सुलतान न रहा जो नहीं आया। काश्मीर, ठट्टा (सिंध), मुलतान, बीदर के सभी जाति वाले मुसलमान, माँडव, गुजरात, पटना, उड़ीसा सब जगह के सुलतान अपने सुन्दर हाथियों के साथ चले। कामरूप,

कामत, पंडव, देवगिरि, उदयगिरि सभी जगह के मीर आये। कुमाऊँ की पहाड़ियों के, तथा आसाम की खसिया के लोग तथा अराकान ( ब्रह्मा ) के सभी मीर उसमें सम्मिलित थे। हेमन्त गौर, गज़नी बंगाल, तलंगाना, सातों द्वीप और नव खंडों के सभी लोग इस युद्ध में सम्मिलित हुए।

[ ४६६ ]

धनि सुलतान जेहिक संसारू। उहै कटक अस जोरै पारू॥
सबै तुरुक सिरताज बखाने। तबल बाज औ बाँधे बाने॥
लाखन्ह मीर बहादुर जंगी। जंत्र कमानैं तीर खडंगी॥
जेवा खोलि राग सों मढ़े। लेजिम घालि इराकिन्ह चढ़े॥
चमकैं पखरैं सारि सँवारी। दरपन चाहि अधिक उजियारी॥
बरन बरन औ पाँतिहि पाँती। चली सो सेना भाँतिहि भाँती॥
बेहर बेहर सब कै बोली। बिधि यह खानि कहाँ सों खोली॥

सात सात जोजन कर, एक एक होइ पयान।
आगिल जहाँ पयान होइ, पाछिल तहाँ मेलान॥४६६॥

शब्दार्थ—पारू=सका। जंत्र=हथियार, पाठान्तर जंबुर=एक प्रकार की तोप जो ऊँटों पर चलती थी। जेवा=पाकेट-पाठान्तर-जीभा=जिह्वा। घालि=डाल कर। इराकिन्ह=इराक देश के घोड़े। पखरैं=लड़ाई की झूल। सारि=तलवार। चाहि=से अधिक। बेहर=अलग।

अर्थ—जायसी कहता है कि वह सुलतान धन्य है, जिसके अधीन सारा संसार है। वही ऐसी बड़ी सेना एकत्रित कर सकता था। सभी तुर्कों सिरताजों का वर्णन मैंने किया, उनके साथ नगाड़े, आदि सामान बँधे थे। लाखों मीर और युद्ध करने वाले वीर थे, जिनके पास हथियार, तीर, कमान और तलवारें थीं। उन्होंने रण के बाजों की खोलें खोल कर बजाना आरम्भ किया, लेजिमों को एराकी घोड़ों पर रख कर चले। उनकी झूलें और तलवारें चमक रही थीं, उनमें दर्पण से भी अधिक चमक थी। रंग-रंग की और पंक्ति-पंक्ति में भाँति-भाँति की सेनाएँ चल पड़ीं। सब की बोली अलग-अलग प्रकार की थी। कवि कहता है कि ब्रह्मा ने यह खान कहाँ से खोल रखी है।

इन सेना के एक-एक पयान सात-सात योजन के होते थे पर सेना इतनी बड़ी थी कि जहाँ एक का पड़ाव होता था, वहाँ पिछली का मिलान होता था।

[ ५०० ]

डोले गढ़, गढ़पति सब काँपे। जीउ न पेट, हाथ हिय चाँपे॥
काँपा रनथँभउर डरि डोला। नरवर गएउ झुराइ न बोला॥
जूनागढ़ औ चंपानेरी। काँपा माँडौ लेत चंदेरी॥
गढ़ गवालियर परी मथानी। औ खंधार मठा होइ पानी॥
कालिंजर महँ परा भगाना। भाजि अजैगिर, रहा न थाना॥
काँपा बाँधौ, नर औ प्रानी। डर रोहितास बिजैगिरि मानी॥
काँप उदैगिरि देवगिरि डरा। तब सो छिताई अब केहि धरा॥
जावँत गढ़ गढ़पति सब काँपे, औ डोले जस पात।
का कहँ बोलि सौहँ भा, पातसाहि कर छात॥ ५००॥

शब्दार्थ—चाँपे = दबा लिया। मथानी = मंथान, हलचल। खंधार, पाठान्तर खीडार, या अँधियार = दक्षिण का कोई देश। अजैगिर-पाठान्तर-अजैगढ़। बाँधौ = पाठान्तर बाँधक। नर औ प्रानी=पाठान्तर, नरवर राना। छिताई = पाठान्तर, छपाउ। छात = छत्र।

अर्थ—जब अलाउद्दीन की सेना दिल्ली से चित्तौड़ की ओर जा रही थी तो बीच के जितने राज्य थे। सभी बड़े भयभीत हुए। जायसी कहते हैं कि—सारे गढ़ हिल उठे और गढ़पति काँप उठे, उनके जीव उनके पेट में न रहे, उन्होंने अपने हाथ से अपना हृदय दबा लिया। रणथंभौर फिर काँप उठा, नरवरगढ़ का राजा तो सूख गया उससे बोला नहीं जाता था। जूनागढ़, चंपानेर, मांडवगढ़, चंदेरी, ग्वालियर, अंधियार सब में हलचल मच गई। कालिंजर के लोग तो भाग चले, आजमगढ़ भी भाग चला, अपने स्थान पर न रहा। बाँधवगढ़ के सारे जीव और मनुष्य काँपने लगे। रोहतास और विजयगढ़ में भी लोग बहुत डरे। उदयगिरि और देवगिरि डरने लगा, वे सब सोचने लगे कि पिछली चढ़ाई में इसने छिताई को लिया था, इस बार किसे पकड़ना चाहता है? जितने भी गढ़ और गढ़पति थे सब पत्ते के समान काँपने लगे पर कौन था जो बादशाह अलाउद्दीन के छत्र के सामने आकर बोल सकता?

[ ५०१ ]

चितउर गढ़ा औ कुंभलनेरै। साजे दूनौ जैस सुमेरै ॥
दूतन्ह आइ कहा जहँ राजा। चढ़ा तुरुक आवै दर साजा ॥
सुनि राजैं दौराई पाती। हिंदू नाँव जहाँ लगि जाती ॥
चितउर हिंदुन्ह कर अस्थानू। सतुरु तुरुक हठि कीन्ह पयानू ॥
आवा समुँद रहै नहिं बाँधा। मैं होइ मेंड़ भारु सिर काँधा ॥
पुरवहु आइ तुम्हार बड़ाई। नाहिं त सत गौ छाँड़ि पराई ॥
जौ लगि मेंड़ रहै सुख साखा। टूटे बार जाइ नहिं राखा ॥
सती जो जिय महँ सतु करै, मरत न छाड़ै साथ।
जहँ बीँरा तहँ चून है, पान सुपारी काथ ॥ ५०१ ॥

शब्दार्थ—दर = दल। सतुरु = शत्रु। पराई = भगना। बार = द्वार। काथ = कत्था।

अर्थ—सुलतान अलाउद्दीन को आता देख कर चित्तौड़ और कुंभलनेर के किले भी ऐसे सजे जैसे सुमेरु पर्वत। दूतों ने आकर राजा से कहा कि तुर्क अलाउद्दीन सेना साज कर आ रहा है। यह बात सुनकर राजा ने अपनी चिट्ठियाँ दौड़ाईं। जितने भी हिन्दू नाम के राजा थे सब के पास पत्र भेजा और लिखा कि चित्तौड़ हिन्दुओं का स्थान है, शत्रु तुर्क उस पर चढ़ाई कर रहा है। अब तो समुद्र ही चढ़ रहा है उसमें बाँध नहीं लगाया जा सकता फिर भी मैं बाँध बन कर उसका सामना करूँगा। तुम लोग आ कर मेरा उद्देश्य पूरा करो, इसमें तुम्हारी ही बड़ाई है नहीं तो सत चला जायगा। जब तक बाँध है तभी तक सभी को सुख है और एक बार इसके टूट जाने पर कोई रक्षा नहीं कर सकता अर्थात् चित्तौड़ के टूटने पर फिर कोई राज्य अलाउद्दीन को नहीं रोक सकता।

सती अपने हृदय में सत की प्रतिज्ञा करती है, मर जाती है पर प्रण नहीं छोड़ती, जहाँ बीड़ा है वहाँ पान, सुपारी, कत्था सभी हैं। भाव यह है कि मैंने व्रत ले लिया है। अपनी प्रतिज्ञा जीते जी अवश्य पूरी करूँगा। चाहे प्राण रहें चाहे जायें पर हिन्दुओं को चाहिए कि वे भी मेरे ही साथ रहें क्योंकि पान के बीड़े के साथ जैसे सुपारी, कत्था आदि का होना अनिवार्य है उसी प्रकार मेरे साथ सब को हो जाना चाहिए।

[ ५०२ ]

करत जो राय साहि कै सेवा। तिन्ह कहँ पुनि अस आउ परेवा ॥
सब होइ एकहि मतें सिधारै। पातसाहि कहँ आइ जोहारै ॥
चितउर है हिंदुन्ह कै माता। गाढ़ परैं तजि जाइ न नाता ॥
रतनसेनि है जौहर साजा। हिंदुन्ह माँह अहै बड़ राजा ॥
हिंदुन्ह केर पनिग कर लेखा। दौर परहिं आगि जहँ देखा ॥
किरिपा करसि त करसि समीरा। नाहिं त हमहिं देहि हँसि बीरा ॥
हम पुनि जाइ मरहिं ओहि ठाऊँ। मेटि न जाइ लाज कर नाऊँ ॥
दीन्ह साहि हँसि बीरा, आवहिं तीन दिन बीच।
तिन्ह सीतल को राखे, जिन्हैं आग महँ मीच ॥ ५०२ ॥

शब्दार्थ—राय = राजा। परेवा = पक्षी, यहाँ पर दूत। जौहर = जन्म-भूमि पर महा बलिदान। पनिग, पाठान्तर पतंग = पतिंगा। समीरा = हवा, पाठान्तर–चित बाँधहु धीर। मीच = मृत्यु।

अर्थ—जो हिन्दू राजा शाह अलाउद्दीन की सेवा करते थे उनके पास भी रत्नसेन का दूत पहुँचा। ये सब एक मत होकर चले और शाह को नत-मस्तक हुए इन लोगों ने अलाउद्दीन से कहा कि चित्तौड़ हिन्दुओं की मातृ-भूमि है, कठिनाई पड़ने पर भी अपना सम्बन्ध नहीं तोड़ा जा सकता। रत्नसेन जन्म-भूमि की रक्षा के लिए महा बलिदान की तैयारी कर रहा है, वह हिन्दुओं में सब से बड़ा राजा है। हिन्दू तो पतिंगों के समान हैं, जहाँ बलिदान की आग देखते हैं वहीं पर दौड़ कर पड़ते हैं। अब यदि आप कृपा की वायु बहावें अर्थात् रत्नसेन पर चढ़ाई न करें तो अत्युत्तम। नहीं तो हमें प्रसन्नतापूर्वक हिन्दुओं की ओर से लड़ने के लिए पान का बीड़ा दीजिए। हम वहाँ जा कर मर जायेंगे क्योंकि लज्जा का नाम तो नहीं मिटाया जा सकता।

बादशाह ने प्रसन्नता पूर्वक उन्हें पान का बीड़ा दिया और बीच में तीन दिन का समय दिया। उसने कहा कि जिन की आग में जलकर मृत्यु किस्मत में है उन्हें ठंडा कौन रख सकता है ?

अलङ्कार—दृष्टान्त।

[ ५०३ ]

रतनसेनि चितउर महँ साजा। आइ बजाइ पैठ सब राजा ॥
तोंवर बैस पवाँर जो आए। औ गहिलोत आइ सिर नाए ॥
खत्री औ पँचवान बघेले। अगरवार चौहान चँदेले ॥
गहरवार परिहार सो कुरी। मिलन हंस ठकुराई जुरी ॥
आगे ठाढ़ बजावहिं हाड़ी। पाछें धजा मरन कै काढ़ी ॥
बाजहि सींग, संख औ तूरा। चंदन खेवरें, भरें सेंदूरा ॥
सँचि संग्राम बाँधि सत साका। तजि कै जियन मरन सब ताका ॥
गँगन धरति जेइँ टेका, का तेहि गरुअ पहार।
जब लगि जीव कया महँ, परै सो अँगवै भार ॥ ५०३ ॥

शब्दार्थ—कुरी = कुल। मिलन हंस-पाठान्तर कल हंस, उच्च जाति के। हाड़ी = बूँदी के, पाठान्तर ढाढ़ी = भाट। काढ़ी = निकली हुई। खेवरे-पाठान्तर खेवरे = खौर लगाए हुए। अंगवै = सहता है।

अर्थ—रत्नसेन ने चित्तौड़ में तैयारी की। सभी राजा लोग रण के बाजे बजवाते हुए आये और सेना में प्रविष्ट हुए। उसमें सभी वंश के क्षत्रिय थे—तोमर, वैश्य, पँवार, गुहिलौत, खत्री, पंचबान, बघेले, अगरवार, चौहान, चन्देले, गहरवार, परिहार आदि सभी कुल के राजा लोग थे। अपने जाति के हंस से मिलने के लिए सारी ठकुराई (सारे क्षत्रिय) इकट्ठी हुई। आगे खड़े हुए भाट लोग बाजा बजारहे थे और पीछे मृत्यु की ध्वजा भी निकली हुई थी। सींग, शंख और तुरहियाँ बज रही हैं। सभी लोग मस्तक पर चन्दन, खौर और सिंदूर लगा रहे हैं। इस प्रकार तैयारी करके सत्य की दुहाई दे कर और जीवन की आशा छोड़ कर सब ने मृत्यु पर ही दृष्टि बाँध ली।

जिसने आकाश और पृथ्वी को ही उठा लिया, उसको भला पहाड़ कितना भारी लगेगा। जीव तो जब तक शरीर के भीतर रहता है वह शरीर पर पड़ने वाले सभी कष्टों को सह लेता है।

[ ५०४ ]

गढ़ तस सँचा जो चाहिअ सोई। बरिस बीस लहि खाँग न होई ॥

बाँके चाहि बाँक सुठि कीन्हा। औ सब कोट चित्र कै लीन्हा ॥
खंड खंड चौखंडी सँवारीं। धरी बिखम गोलन्ह की नारीं ॥
ठाँवहि ठाँव लीन्ह गढ़ बाँटी। बीच न रहा जो सँचरै चाँटी ॥
बैठे धानुक कँगुरहि कँगुरा। पुहुमि न आँटी अँगुरहि अँगुरा ॥
औ बाँधे गढ़ि गढ़ि मँतवारे। फाटै छाति होहिं जिवधारे ॥
बिच बिच बुरुज बने चहुँ फेरी। बाजैं तबल, ढोल औ भेरी ॥

भा गढ़ गरजि सुमेरु जेंउ, सरग छुवै पै चाह।
समुँद न लेखे लावे, गाँग सहस भकु बाह ॥ ५०४ ॥

शब्दार्थ—सँचा = संचित किया गया। खाँगा = कमी। धानुक = धनुर्धर। आँटी = पूरी पड़ी। फाटै छाति होहि जिवधारें-पाठान्तर फाटै भूमि होहिं जो ठारे।

अर्थ—रत्नसेन ने चित्तौड़ गढ़ में सामान इस प्रकार इकट्ठा किया कि यदि बीस वर्ष तक भी लड़ाई चले तो किसी वस्तु की कमी न पड़े। उसे विकट से विकट बना दिया और सारे किले का चित्र बनवा डाला। जगह-जगह पर किले को बाँट लिया। एक चींटी भर के चलने को जगह भी न बची। कँगूरे-कंगूर पर धनुषधारी लोग बैठे। किले में एक अंगुली भर की जमीन भी नहीं बच रही है। किले में मतवाले हाथी बाँधे गए। उन्हें देख-कर जीवनधारियों की छाती फट जाती थी। बीच-बीच में चारों ओर बुर्ज बनाए गए। रण भेरी और नगाड़े जहाँ पर बजा करते थे। गढ़ गरज कर सुमेरु पर्वत के समान हो गया, ऊँचाई में तो वह स्वर्ग छूना चाहता था। जैसे समुद्र कोई परवाह नहीं करता चाहे हजार गंगा भी उसमें बह जायें, उसी प्रकार किला इस प्रकार सज गया कि कितनी हो शक्ति शत्रु की हो तो भी उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकता।

[ ५०५ ]

पातसाहि हठि कीन्ह पयाना। इंद्र फनिंद्र डोलि डर माना ॥
नवे लाख असवार सो चढ़ा। जो देखिअ सो लोहें मढ़ा ॥
चढहिं पहारन्ह भै गढ़ लागू। बनखँड खोह न देखहिं आगू ॥

बीस सहस घुम्मरहिं निसाना। गल गाजहिं बिहरैं असमाना॥
बैरख ढाल गँगन गा छाई। चला कटक धरती न समाई॥
सहस पाँति गज हस्ति चलावा। खसत अकास धँसत भुइँ आवा॥
बिरिख उपारि पेड़ि सौं लेहीं। मस्तिक झारि डारि मुँह देहीं॥
कोउ काहू न सँभारैं, होत आव तस चाँप।
धरति आपु कहँ काँपै, सरग आपु कहँ काँप॥ ५०५॥

शब्दार्थ—फनिन्द्र = शेष नाग-पाठान्तर-भंडार। चढ़हिं पहान्ह पर गढ़ लागू—यह पंक्ति पंडित शुक्ल की ग्रन्थावली में पद की अन्तिम अर्द्धाली है। बिहरैं = फैलें-पाठान्तर-भेरी = रणबाजा। बैरख = झंडा।

अर्थ- शाह अलाउद्दीन ने भी हठ पूर्वक प्रस्थान किया, उसके डर से इन्द्र और शेष नाग भयभीत हो गये। नव लाख घुड़ सवार चढ़ रहे थे, जो सब के सब लोहे के कवचों से सुसज्जित थे। किले पर वे इस प्रकार चढ़ते आ रहे थे जैसे पहाड़ पर चढ़ रहे हों और जंगल और खोह आदि की कोई परवाह नहीं करते। बीस हजार दुंदुभियाँ बज रही थीं। उनकी गूँज आकाश में फैल रही थी। झंडे तथा ढालों से आकाश छा गया, सेना चली तो पृथ्वी में समाती न थी। हाथियों की तो एक हजार पंक्तियाँ चलीं, उनके चलने पर आकाश नीचे खिसकने लगा और पृथ्वी नीचे धँसने लगी। वृक्षों को उखाड़ कर टुकड़े टुकड़े कर डालते थे, उसी से अपने मस्तक को झाड़ते और अपने मुँह में डालकर चबा जाते थे। कोई किसी को सँभाल नहीं पाता। इस प्रकार सेना दबाती आती थी कि पृथ्वी काँप रही थी और स्वर्ग अपने आप काँप रहा था।

[ ५०६ ]

चलीं कमानैं जिन्ह मुख गोला। आवहिं चलीं धरति सब डोला॥
लागे चक्र वज्र के गढ़े। चमकहिं रथ सब सोने मढ़े॥
तिन्ह पर बिखम कमानैं धरीं। गाजहिं अस्ट धातु की भरीं॥
सौ सौ मन पीअहिं वै दारू। हेरहिं जहाँ सो टूट पहारू॥
माँती रहहिं रथन्ह पर परी। सतुरुन्ह कहँ सो होहिं उठि खरी॥

लागहि जौं संसार न डोलहिं। होइ भौकंप जीभ जौं खोलहिं॥
सहस सहस हस्तिन्ह कै पाँती। खाँचहिं रथ, डोलहिं नहिं माँती॥
नदी नगर सब पानी, जहाँ धरहिं वै पाउ।
ऊँच खाल वन बेहड़, होत बराबरि आउ॥ ५०६॥

शब्दार्थ—कमानें = तोपें। बिखम = विषम, कठिन। दारू = बारूद रूपी शराब। माँती = मतवाली। सतुरुन्ह = शत्रुओं। खाल = नीचा। बेहड़ = भयंकर। बराबरि = समतल।

अर्थ—तोपें चलने लगीं जिनके मुख में गोले भरे जाते थे, वे आ रही थीं तो पृथ्वी डोल रही थी। इन तोपों के पहिए वज्र के बने हुए थे। सारे रथ सोने से मढ़े हुए चमक रहे थे, उन पर कठिन तोपें रखी हुई थीं। ये अष्ट धातुओं के मिश्रण से बनाई गयी थीं। सौ-सौ मन की बारूद रूपी शराब ये तोपें पीती थीं। जहाँ पर इनकी दृष्टि पड़ती थी वहाँ यदि पहाड़ हो तो वह भी टूट जाता था। ये उस बारूद रूपी शराब के नशे में मस्त रहती थीं और रथों पर पड़ी थीं, पर शत्रुओं के बीच उठ खड़ी होती थीं। जब वे तोपें लगा दी जाती थीं तो संसार नहीं डोल सकता था, पर जब वे अपनी जीभ खोलती थीं तो संसार में भूकम्प आ जाता था। हजारों-हजारों हाथियों की पंक्तियाँ इनके रथ खींच रही थीं, पर ये मदमस्त तोपें नहीं डोलती थीं। जहाँ वे हाथी पैर रख देते थे वहाँ ज़मीन में से पानी निकल आता था और नगर और नदियां पानी से भर जाती थीं। ऊँचा-नीचा, वन, पहाड़ सब गिर कर समतल हो जाते थे।

[ ५०७ ]

कहौं सिंगार सो जैसी नारीं। दारू पिअहिं सहज मँतवारी॥
उठै आगि जौं छाँड़हिं स्वाँसा। तेहिं डर कोउ रहै नहिं पासा॥
सेंदुर आगि सीस उपराहीं। पहिया तरिवन झमकत जाहीं॥
कुच गोला दुइ हिरदैं लाए। अंचल धुजा रहहिं छिटकाए॥
रसना गूँगि रहहिं मुख खोले। लंका जरी सो उन्हके बोले॥
अलकैं साँकरि हस्तिन्ह गीवाँ। खाँचत डरहिं मरहिं सुठि जीवा॥
बीर सिंगार दुवौ एक ठाऊँ। सुतुरु साल गढ़ भंजन नाऊँ॥

तिलक पलीता तुपक तन, दुहु दिसि ब्रज्र के बान।
जहँ हेरहिं तहँ परै भगाना, हँसहिं न केहि के मान ॥ ५०७ ॥

शब्दार्थ—तरिवन = ताटंक (कान का गहना)। सतुर = शत्रु।

दोहे में पाठान्तर है—

तिलक पलीता माथे, दसन बज्र के बान।
जेहि हेरहि ते हिमारहिं, चुरकुस करहि निदान ॥

अर्थ—जायसी कहते हैं कि तोपें नारियों की भांति थीं। मैं अब उनका शृङ्गार-वर्णन करता हूँ। वे शराब पीती हैं और मतवाली हैं। जब वे स्वांस छोड़ती हैं, तो आग निकल उठती है, इसी डर से कोई उनके पास नहीं जाता। उनके सिर पर जो आग जलता है, वही मानो इनका सिंदूर है। उनकी पहियाँ जो झलक रही हैं वही उनके ताटंक झलक रहे हैं। उन्होंने अपने हृदयों में दो गोले रखे हैं, वे हो जैसे उनके कुच हों। उनके ऊपर जो ध्वजा है वही उनका अंचल है। ज़बान से वे चुप रहती हैं, पर जब मुख से बोलती हैं तो उनकी आवाज पर लंका जल उठती है। हाथियों के गले में जो लोहे की सांकलें हैं और जिनके द्वारा हाथी इन्हें खींचते हैं वे ही इनकी अलकें (बाल की लटें) हैं। इस प्रकार ये तोपें वीर और शृङ्गार दोनों रसों का रूप धारण किये खड़ी हैं। ये शत्रु को कष्ट देने वाली और किले को नष्ट करने वाली हैं। पलीता इनका टीका, तोप शरीर है। दोनों ओर वज्र के बाण फेंकती हैं। जिस ओर ये देखती हैं उधर भगदड़ पड़ जाती है, जब हँस पड़ती हैं तब भला इन्हें कौन रोक सकता है?

[ ५०८ ]

जेहि जेहि पंथ चली वै आवहिं। आवै जरत आगि तसि लावहिं ॥
जरहिं सो परबत लागि अकासा। बन खँड ढंख परास को पासा ॥
गैंड गयंद जरे भए कारे। औ बन मिरिग रोझ झौंकारे ॥
कोकिल काग नाग औ भँवरा। औरु जो जरहिं तिन्हैं को सँवरा ॥
जरा समुद्र पानि भा खारा। जमुना स्याम भई तेहिं झारा ॥
धुआँ जामि अंतरिख भै मेघा। गँगन स्यामु भै भार न थेंघा ॥
सूरुज जरा चाँद औ राहू। धरती जरी लंक भा डाहू ॥

धरती सरग असूझ भा, तबहु न आगि बुझाइ ।
अहुठौ बज्र दिन कोई, मारा चहै जुझाइ ॥ ५०८ ॥

शब्दार्थ—ढंख-पाठान्तर-धिकहिं = गर्म हो जाते हैं। झौंकारे = जल कर काले हुए। सँवरा = काला। जामि = निकल कर। थेंबा-पाठान्तर-ठेंबा = संभाल सके। अहुठौ = साढ़े तीन—१ इन्द्र का बज्र, २ शंकर का त्रिशूल, ३ विष्णु का चक्र, ४ भीम का वज्र शरीर। जुझाइ = लड़ा कर-पाठान्तर-उठे बज्र जरि डुंगवै, धूम रहा जग छाइ = बज्र के मारे जाने से पहाड़ जल उटे और धुँआ संसार में छा गया। डुंगवै = पहाड़।

अर्थ—वे तोपें जिस रास्ते से चली आती हैं, आग लगती जाती है, चारों ओर आग जलती जाती है। जो पहाड़ थे वे जलने लगे और आकाश तक आग पहुँच गई। जंगल के जो पलाश के लाल फूल हैं उसी आग के भग्नावशेष हैं। गैंडा और हाथी जो काले दिखाई देते हैं इनका कारण यही है कि वे उस आग में जल कर सदा के लिए काले हो गये। वन के हिरण और नील गायें भी उसी से जल कर काले हो गये हैं। कोकिल, कौआ, साँप और भौंरे ये भी उसी आग में जल कर काले हुए। समुद्र जल गया इसी से उसका पानी खारा हो गया। जमुना भी उसी आग की झार से काली हो गयी। उसका जो धुँआ निकला और आकाश में गया तो बादल भी काले हो गये। आकाश जल कर काला हो गया, उसमें भार वहन करने की शक्ति न रह गयी। सूर्य, चाँद और राहु जल गये, पृथ्वी जली और लंका भी जल उठी। धुँए से पृथ्वी और आकाश सब जगह अंधेरा हो गया। सूझ नहीं पड़ता, किसी प्रकार आग बुझती नहीं, मालूम होता है कोई अदृश्य शक्ति साढ़े तीनों वज्रों को एक करना चाहती है और सारे विश्व को लड़ा कर प्रलय करना चाहती है।

अलंकार—हेतूत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति।

[ ५०९ ]

आवै डोलत सरग पतारू। काँपै धरति न अँगवै भारू ॥
टूटहिं परबत मेरु पहारा। होइ होइ चूर उड़हिं होइ छारा ॥
सत खँड धरति भई खट खंडा। ऊपर अस्ट भए ब्रह्मंडा ॥

इंद्र आइ तेहि खंड होइ छावा। औ सब कटक घोर दौरावा॥
जेहि पँथ चला एरापति हाथी। अबहूँ सो डगर गँगन महँ आथी॥
औ जहँ जामि रही वह धूरी। अबहु बसी सो हरिचँद पूरी॥
गँगन छपान खेह तासि छाई। सूरुज छपा रैनि होइ आई॥
इसिकंदर कँदली बन गवने, अस होइ गा अँधियार।
हाथ पसार न सूझै, बरै लागु मसियार॥५०९॥

शब्दार्थ—आँगवै = सहैं। चूर-पाठान्तर-चकचून = चूर। छारा = मिट्टी-पाठान्तर-तेहि झारा = उसकी जलन से। आथी = है। पूरी = पुरी, लोक। मसियार = मशाल।

अर्थ—स्वर्ग और पाताल डोलने लगे, पृथ्वी काँपने लगी। वह सेना का भार वहन करने में असमर्थ हो गयी। सुमेरु आदि सभी पर्वत टूटने लगे, चूर-चूर होकर उनकी धूल उड़ने लगी। सात खंड की पृथ्वी के छः टुकड़े हो गये और ब्रह्माण्ड के आठ टुकड़े हो गये। इन्द्र ब्रह्माण्ड की रक्षा करने के लिए आकर उन खंडों पर छा गया और अपनी सारी सेना के घोड़ों को दौड़ा दिया। जिस रास्ते से वह अपने ऐरावत हाथी पर भागा फिरा वह रास्ता आज तक आकाश में (आकाश गंगा) दिखाई पड़ता है। इस उपद्रव के कारण इतनी धूल उड़ी कि उससे एक लोक बस गया जिसे हरिश्चन्द्रपुरी कहते हैं। इतनी धूलि छा गई कि आकाश छिप गया, सूर्य छिप गया और रात हो गयी। जैसा कि सिकन्दर के कदलीवन में पहुँचने पर अंधेरा हुआ था वैसा ही अंधेरा संसार में हो गया। हाथ फैलाने पर दिखाई नहीं पड़ता था, लोगों ने मशालें जला लीं।

अलंकार—अत्युक्ति, उत्प्रेक्षा।

[ ५१० ]

दिनहिं राति अस परी अचाका। भा रवि अस्त, चंद रथ हाँका॥
दिन के पङ्खि चरत उठि भागे। निसि के निसरि चरै सब लागे॥
मँदिलन्ह दीप जगत परगसे। पंथिक चलत बसेरै बसे॥
कवँल सँकेता, कुमुदनि फूली। चकई बिछुरि, अचक मन भूली॥
तैस चलावा कटक अपूरी। अगिलहि पानी, पछिलहि धूरी॥

महि उजरी, सायर सब सूखा। बनखँड रहा न एकौ रूखा॥
गिरि पहार पब्बै भे माँटी। हस्ति हेरान तहाँ को चाँटी॥
जिन्ह जिन्ह के घर खेह हेराने, हेरत फिरहिं ते खेह।
अब तौ दिस्टि तबहिं पै आवहिं, उपजहिं नए उरेह॥ ५१०॥

शब्दार्थ-- अचाका = अचानक। मँदिलन्ह = घरों में। सँकेता = संकुचित हो गया। अपूरी = भरा हुआ। हेरान = खो गया। चाँटी = चींटी। उरेह = बनाये जाने पर।

अर्थ—दिन में ही एकाएक रात हो गयी। सूर्य अस्त हो गया, चन्द्रमा का रथ चल पड़ा। दिन के चरते हुए पक्षी रात समझ कर उठकर भाग चले और रात के पक्षी रात समझ कर निकले और चरने लगे। मकानों में दीपक जल उठे, राही लोगों ने रात समझ कर पड़ाव ले लिया। कमल संकुचित हो गया और कुमुदिनी फूल उठी, चकई एकाएक चकवे से बिछुड़ कर दुखी हो गयी। सेना इतनी बड़ी थी और इस प्रकार भरी हुई चली कि प्यास लगने पर सेना के अगले भाग के लोग सारे जलाशय-नदी, तालाब और कुएँ का पानी पी गये। पीछे की पंक्तियों के मनुष्यों को पानी न मिला, धूल ही मिली। सारी पृथ्वी उजड़ गयी, सागर सूख गये, जंगल में एक भी पेड़ न रहा। पहाड़ आदि सब चूर होकर मिट्टी हो गये, हाथी तक खो गया तो चींटी की कौन बात पूछे। सेना की उड़ी धूल में जिन लोगों के घर खो गये वे उस धूल में अपने घर खोज रहे हैं, अब तो वे तभी दिखाई पड़ेंगे जब नये बनाये जायें।

अलंकार – भ्रान्तिमान् और अत्युक्ति।

अंतिम दोहे में समासोक्ति—क्योंकि इसमें आध्यात्मिक संकेत यह है कि संसार के माया-मोह में परलोक लुप्त हो जाता है, यह तभी दिखाई पड़ता है जब ज्ञान प्राप्त हो।

[ ५११ ]

एहि बिधि होत पयान सो आवा। आइ साहि चितउर नियरावा॥
राजा राउ देखि सब चढ़ा। आउ कटक सब लोहैं मढ़ा॥

चहुँ दिस दिस्टि परी गज जूहा। स्याम घटा मेघन्ह अस रूहा॥
अरध उरध कछु सूझ न आना। सरग लोग घुम्मरहिं निसाना॥
बैरख ढाल गँगन गै छाहाँ। रैनि होत आवै दिन माहाँ॥
चढ़ि धौराहर देखहिं रानी। धनि तूँ अस्सि जाकर सुलतानी॥
कै धनि रतनसेनि तूँ राजा। जाकहँ बोलि कटकु अस साजा॥

अंध कूप सा आवै, उड़त आव तसि छार।
ताल तलाव अपूरि गइ, धूरि भरी जेंवनार॥ ५११॥

शब्दार्थ—रूहा = चढ़ा। सुलतानी = बादशाहत। अपूरि = भर गये।

अर्थ—इस प्रकार का कूच होता आया और शाह अलाउद्दीन चित्तौड़ के निकट आ गया। राजा और राव सब किले पर चढ़ कर देखने लगे। अला-उद्दीन की सारी सेना कवचों से सुसज्जित चली आ रही है। चारों ओर उसके हाथियों के झुंड पर दृष्टि पड़ी—जैसे बादलों की काली घटा संसार पर चढ़ी आ रही है। ऊपर नीचे कुछ दिखाई नहीं पड़ता, तलवारें चमक रही हैं और डंके घूम रहे हैं। झंडे और ढालों से आसमान में छाया हो गया, दिन में ही रात होना चाहती है। रानियाँ महलों के ऊपर चढ़कर देखती हैं और कहती हैं कि हे अलाउद्दीन तू धन्य है जिसकी बादशाहत ऐसी है। अथवा हे रत्न-सेन तू धन्य है जिसके लिए अलाउद्दीन ने ऐसी सेना सजाई है। इतनी धूल उड़ रही है कि अन्धकूप सा होता जा रहा है, ताल-तालाब किला-रसोई सब जगह धूलि ही धूलि भर गयी।

[ ५१२ ]

राजैं कहा कीन्ह सो करना। भएउ असूझ सूझ जस मरना॥
जहँ लगि राज साज सब होऊ। तेहखन भएउ सँजोउ सँजोऊ॥
बाजे तबल अकूत जुझाऊ। चढ़ा कोपि सब राजा राऊ॥
राग सनाहा पहुँची टोपा। लोहें सार पहिरि सब कोपा॥
करहिं तोखार पवन सों रीसा। कंध ऊँच असवार न दीसा॥
का बरनौं जस ऊँच तोखारा। दुइ पैरीं पहुँचे असवारा॥
बाँधे मौर छाँह सिर सारहिं। भाँजहिं पूँछि चँवर जनु ढारहिं॥

टैआ चँवर बनाऊँ, औ घाले गल झाँप।
औ गज गाह सेत तिन्ह बाँधे, जो देखै सो काँप ॥ ५१२ ॥

शब्दार्थ—संजोऊ = तैयारी। अकूत = बहुत से। सनाहा = कवच। तोखार = घोड़े। रीसा = ईर्ष्या। पैरि = सीढ़ी। टैआ = खड़े किए हुए-पाठान्तर-तैसे। गलझाँप = गले की झूल। गजगाह = हाथी की झूल।

अर्थ—राजा रत्नसेन ने कहा कि अब जो कुछ करना हो करो, अब तो मुझे और कुछ उतना नहीं दिखाई पड़ता जितनी कि मृत्यु। जहाँ तक राज-साज हो तुरन्त ही सारी तैयारी कर डालो। राजा की आज्ञा होते ही अगणित युद्ध के बाजे बज उठे, सभी राजा राव कोप कर चढ़ चले। कवच, पहुँची, टोप, तलवारें आदि सभी रण के हथियार साजकर सभी कुपित हो गये। उनके घोड़े हवा से ईर्ष्या करने लगे, उनके कन्धे इतने ऊँचे थे कि पीठ पर बैठा हुआ सवार नहीं दिखाई पड़ता। ये घोड़े कितने ऊँचे थे उनका क्या वर्णन करूँ, दो-दो सीढ़ियों को जोड़कर तब सवार उन पर चढ़ पाते थे। उन घोड़ों के सिर पर मोरछल बँधे हुए थे, तथा लोहे की पट्टियाँ लगी थीं। जब भागते थे तो पूँछ उठा लेते थे मानो चँवर डोल रहे हैं। हाथियों की चमकीली चँवर बनाई गयी थी और सफेद झूलें पड़ी थीं, उन्हें देखकर लोग काँप उठते थे।

[ ५१३ ]

राज तुरंगम बरनौं काहा। आने छोरि इन्द्र रथ बाहा ॥
ऐस तुरंगम परे न डीठी। धनि असवार रहहिं तिन्ह पीठी ॥
जाति बालका समुँद थहाए। माँथे पूँछि गँगन सिर लाए ॥
बरन बरन पखरे अति लोने। सार सँवारि लिखे सब सोने ॥
मानिक जरे सिरी औ काँधे। चँवर मेलि चौरासी बाँधे ॥
लागे रतन पदारथ हीरा। पहिरन देहिं देहिं तिन्ह बीरा ॥
चढ़े कुवँर मन करहिं उछाहू। आगें घालि गनहिं नहिं काहू ॥
सेंदुर सीस चढ़ाएँ, चन्दन खेवरें देह।
सो तन काह लगाइअ, अंत भरै जो खेह ॥ ५१३ ॥

शब्दार्थ—इन्द्ररथवाहा = इंद्र के रथ को चलाने वाले। यानका = टाँगन घोड़े। पखरे = झूलें। लोने = सुन्दर। घेवरे = पाठान्तर खेवरे = खौर-रोली।

अर्थ—जायसी कहते हैं कि राज्य के घोड़ों का क्या वर्णन करूँ, मानो इन्द्र के रथ वाले घोड़े ही लाये गये हैं। इन घोड़ों पर दृष्टि नहीं पड़ती, वे सवार धन्य हैं जो उनकी पीठ पर चढ़े रहते हैं। ये टांगन जाति के घोड़े समुद्र की थाह लेने वाले हैं। इनकी पूँछ आकाश में सिर तक आ जाती है। रंग-रंग की सुन्दर झूलें थीं, उनमें लोहे के ऊपर सोने का पानी चढ़ा हुआ था। उनके सिर और कंधों पर माणिक्य से जड़े हुए आभूषण थे। चँवरों में चौरासी घूँघर बंधे थे, उनमें रत्न, मोती और हीरे लगे हुए थे। ऐसे पहिनाए और सजाए हुए घोड़ों को दे कर राजा ने सवारों को बीड़ा दिया। राजकुमार लोग बड़े उत्साह के साथ घोड़ों पर चढ़े, अपने जोश में वे अपने आगे किसी को नहीं गिनते। सिर में रोली और शरीर में चन्दन लगाये हुए वे राजकुमार रण के लिए प्रस्तुत हुए। कवि जायसी कहता है कि भला उस शरीर पर चन्दन आदि के लगाने से क्या, जो अन्त में मिट्टी ही होगा।

[ ५१४ ]

गज मैमँत पखरे रजबारा। देखिअ जानहुँ मेघ अकारा॥
सेत गयंद पीत औ राते। हरे स्याम घूमहिं मद माँते॥
चमकहिं दरपन लोहैं सारी। जनु परबत पर परी अँधारी॥
सिरी मेलि पहिराई सूँडै। कटक न भाय पाय तर रूँदै॥
सोन मेलि सो दाँत सवाँरे। गिरिवर टरहिं सो उन्हकें टारे॥
परबत उलटि पुहुमि सब मारहिं। परें ज्यो भीर तीर जेउँ टारहिं॥
अस गयंद साजे सिंघली। गवनत कुरुँम पीठि कलमली॥
ऊपर कनक मँजूसा, लाग चँवर औ ढार।
भलइत बैठ भाल लै, औ बैठे धनुकार॥ ५१४॥

शब्दार्थ—पखरे-पाठान्तर-बिखरे। रजबारा = राजद्वार। अकारा-पाठान्तर-अतिकारा। सिरी = मत्थे का गहना। कुरुँम = कच्छप भगवान्।

कलमली = खलबलाई । मँजूसा = हौदा । ढार = ढाल । भलइत = भाला चलाने वाले । धनुकार = धनुर्धारी ।

अर्थ—मतवाले हाथी राजद्वार पर फैले हुए थे, ऐसे दिखाई पड़ते थे जैसे काले बादल हों। हाथी सफेद, पीले, लाल, हरे और काले थे तथा मस्ती से घूम रहे थे। उनके लोहे के बने हुए गहने ऐसे चमकते थे जैसे शीशा। उनकी अंबारी ऐसी लगती थी मानो पहाड़ पर लगी हुई हों। उनका सिरी नाम का गहना उनकी सूँडों के ऊपर पहनाया गया, वे हाथी इतने मस्त थे कि उन्हें सेना में खड़ा होना अच्छा नहीं लगता अतः वे अपने पैरों नीचे की जमीन को ही रौंदने लगे। उनके दाँत सोने से मढ़े हुए थे, दाँत इतने मज़बूत थे कि पहाड़ भी उनके हटाने से हट जाता। वे पर्वतों को उलट कर पृथ्वी पर दे मारते थे, जो भीड़ उनके सामने पड़ती थी उसे वे तिनके के समान रौंद देते थे। ऐसे सिंहल द्वीप के हाथी सजाये गये, उनके चलने पर बोझ के कारण कच्छप भगवान् की पीठ दुखने लगी। इन हाथियों के ऊपर सोने के बने हुए हीरे, चँवर और ढालें थीं, साथ भाला चलाने वाले भाला लेकर और धनुष चलाने वाले तीर कमान लेकर ऊपर बैठे थे।

[ ५१५ ]

असु दल गज दल दूनौ साजे। औ घन तबल जूझ कहँ बाजे ॥
माँथें मटुक, छत्र सिर साजा। चढ़ा बजाइ इंद्र होइ राजा ॥
आगें रथ सैना भइ ठाढ़ी। पाछें धजा अचल सो काढ़ी ॥
चढ़ा बजाइ चढ़ै जस इंदू। देव लोक गोहन सब हिंदू ॥
जानहुँ चाँद नखत लै चढ़ा। सुरुज कि कटक रैनि मसि मढ़ा ॥
जौ लहि सुरुज चाह देखरावा। निकसि चाँद घर बाहेर आवा ॥
गँगन नखत जस गने न जाहीं। निकसि आइ तस भुइँ न समाहीं ॥
देखि अनी राजा कै जग, होइ गएउ असूझ ॥
दहुँ कस होइ चलत ही, चाँद सुरुज कै जूझ ॥ ५१५ ॥

शब्दार्थ – असुदल = अश्वदल । इंदू = इन्द्र । ठाढ़ी = खड़ी हुई ।

अर्थ—राजा रत्नसेन ने अपने घोड़ों के दल और हाथियों के दोनों

दलों को सजाया। फिर युद्ध के डंके बजे। मस्तक पर मुकुट और सिर पर राज-छत्र धारण किया। इस प्रकार बाजा बजवा कर इन्द्र के समान राजा सवार हुआ। उसके आगे रथ की सेना खड़ी हुई, पीछे अचल ध्वजायें उड़ रही थीं। राजा बाजा बजवा कर इस प्रकार चढ़ा कि जैसे इन्द्र चढ़ा हो और सभी हिन्दू राजा उनके साथ इस प्रकार चले जैसे इन्द्र के साथ देवतागण चलते हैं। उस सेना को देखकर प्रतीत होता था मानो चन्द्रमा नक्षत्रों को लेकर चढ़ रहा है और सूर्य रूपी अलाउद्दीन की सेना पर अंधेरा छा गया। जब तक कि सूर्य रूपी अलाउद्दीन चित्तौड़ में दिखाई दे, चन्द्रमा रूपी रत्न-सेन अपने किले से निकल कर बाहर आ गया और उसके साथ अगणित हिन्दू राजे इस प्रकार निकले जैसे आकाश में नक्षत्रों की कोई गिनती नहीं है। इतने हिन्दू राजा निकलते आ रहे हैं कि भूमि में स्थान नहीं है। राजा की सेना को देखकर संसार को कुछ समझ नहीं पड़ता। कवि कहता है कि पता नहीं यह चन्द्र और सूर्य का युद्ध कैसा होगा।

---

# ४३. राजा-बादशाह-युद्ध-खण्ड

[ ५१६ ]

इहाँ राजा असि साज बनाई। उहाँ साहि की भई अवाई॥
अगिलै धौरी आगें आई। पाछिल बाछु कोस दस ताँई॥
आइ साहि मंडल गढ़ बाजा। हस्ती सहस बीस सँग साजा॥
औनै आइ दूनौ दर गाजे। हिन्दू तुरुक दुऔ सम बाजे॥
दुऔ समुँद दधि उदधि अपारा। दूऔ मेरु खिखिंद पहारा॥
कोपि जुझार दुहूँ दिसि मेले। औ हस्ती हस्तिन्ह कहँ पेले॥
आँकुस चमकि बीज अस जाहीं। गरजहिं हस्ति मेघ घहराहीं॥
धरती सरग दुऔ दर, जूहहिं ऊपर जूह।
कोऊ टरै न टारें, दूओ बज्र समूह॥ ५१६॥

शब्दार्थ—धौरी-पाठान्तर दौरे = पंक्ति। बाछु-पाठान्तर-पाछु = सबसे पीछे की पंक्ति। ताईं = तक। औने = उमड़ते हुए। दर = दल, सेना। खिखिंद = किष्किन्धा।

अर्थ—चित्तौड़ में राजा रत्नसेन ने अपनी सेना की तैयारी की, उधर से शाह अलाउद्दीन भी आ गया। उसकी सेना इतनी बड़ी थी कि अगली पंक्ति तो राजपूतों की सेना से मिल गयी और पिछली पंक्ति दस कोस तक की दूरी तक थी। अलाउद्दीन आकर चित्तौड़गढ़ में पहुँच गया, उसके साथ बीस हजार हाथी सजे थे। दोनों ओर की सेनाएँ उमड़ती हुई गरज रही थीं, हिन्दू और मुसलमान दोनों ही रणस्थल में समान प्रतीत हो रहे थे। दोनों ही की सेनाएँ विशाल दधि और उदधि समुद्र के समान थीं, दोनों सुमेरु और किष्किन्धा पर्वतों के समान थे। क्रोध करके दोनों ओर के योद्धा मिल गये, हाथी हाथियों से लड़ गये। अंकुश बिजली की भान्ति चमकने लगे, हाथी बादलों की भान्ति गरजने लगे। आकाश और पृथ्वी दोनों में दोनों दलों के

समूह के समूह दिखाई पड़ते थे, कोई टालने से नहीं टलता, दोनों दल वज्र के समूहों की भान्ति थे।

[ ५१७ ]

हस्तिन्ह सौं हस्ती गठि गाजहिं। जनु परबत परबत सौं बाजहिं ॥
गरुअ गयंद न टारे टरहीं। टूटहिं दंत सुंड भुइँ परहीं ॥
परबत आइ जो परहिं तराहीं। दर महँ चाँपि खेह मिलि जाहीं ॥
काइ हस्ती असवारन्ह लेहीं। सुंड समेटि पाय तर देहीं ॥
कोइ असवार सिंघ होइ मारहिं। हनि मस्तक सिउँ मुँड उतारहिं ॥
गरब गयंदन्ह गँगन पसीजा। रुहिर जो चुवै धरति सब भीजा ॥
कोइ मैमंत सँभारहिं नाहीं। तब जानहिं जब सिर गड़ खाँहीं ॥
गँगन रुहिर जस बरिसै, धरती भीजि बिलाइ।
सिर धर टूटि बिलाहिं तस, पानी पंक बिलाइ ॥ ५१७ ॥

शब्दार्थ—बाजहिं = लड़ते हैं। गरुअ = भारी। तराहीं = नीचे। रुहिर = रुधिर, खून। बिलाई = विलीन हो।

अर्थ—हाथियों से हाथी गर्ज रहे हैं मानो एक पर्वत दूसरे से लड़ रहा है। भारी-भारी हाथी हटाने से हटते नहीं, उनके दाँत टूटते हैं और सूँड कट कर भूमि पर गिर पड़ती हैं। बड़े-बड़े पर्वत जब उनके पैरों के नीचे पड़ते है तो उनके पैरों तले दब कर धूल हो जाते हैं। कोई हाथी घुड़सवारों को लेकर अपनी सूंड में लपेट कर पांव तले रौंद डालता है। कोई घुड़सवार सिंह के समान हाथी पर वार करता है और उसके मस्तक पर तलवार मार कर उसकी सूँड काट डालता है। हाथियों के मद-जल से आकाश पसीज गया, जो खून उनके शरीर से निकलता है उससे सारी धरती भीज गई। कोई उन मतवाले हाथियों को नहीं सँभाल पाता, लोग तब इन हाथियों को समझते जब उनके सिर हाथियों के पैरों तले कुचल कर जमीन में गड़ जाते थे। आकाश से जैसे खून की वर्षा हो रही हो पर पृथ्वी में सारा खून विलीन हो जाता था। सिर धड़ टूट कर नष्ट होते थे जैसे पानी में कीचड़ विलीन हो जाता है।

[ ५१८ ]

अहुठौं बज्र जूझि जस सुना। तेहि तें अधिक होइ चौगुना ॥
बाजहिं खरग उठै दर आगी। भुइँ जरि चहै सरग कहँ लागी ॥
चमकै बीज होइ उजियारा। जेहि सिर परै होइ दुइ फारा ॥
सैन मेघ असँ दुहुँ दिसि गाजै। खरग जो बीच बीज अस बाजै ॥
बरिसै सेल आँसु होइ काँदौ। जस बरिसै सावन औ भादौं ॥
टूटहिं कुंत परहिं तरवारी। औ गोला ओला जस भारी ॥
जूझे बीर लिखौं कहँ ताईं। लै आछरि कबिलास सिधाईं ॥
स्यामी काज जे जूझे, सोइ गए मुख रात।
जो भागे सत छाँड़ि कै, मसि मुख चढ़ी परात ॥ ५१८ ॥

शब्दार्थ अहुठौ=साढ़े तीन वज्र-१-इंद्र का वज्र-२-शंकर का त्रिशूल ३- विष्णु का चक्र और भीम का आधा अंग जो वज्र था। काँदौ=कीचड़। कुंत = कुंतल - हाथी - पाठान्तर कोपि । मसि=स्याही। परात= भागते हुए।

अर्थ यह लड़ाई ऐसी भयंकर हुई जैसे साढ़े तीनों वज्रों की लड़ाई सुनी गयी है, बल्कि उससे चौगुनी भयंकरता इसमें आ गयी थी। तलवारें बजती थीं, सेना में आग सी उठ जाती थी। पृथ्वी जलकर स्वर्ग में आग लगाना चाहती थी। बिजलियों के समान तलवारें चमकतीं तो उजेला हो जाता था और जिसके सिर पर पड़तीं उसको दो टुकड़ों में फाड़ डालती थीं। दोनों दिशाओं में सेनायें बादलों के समान गरज रही थीं, बीच में तलवारें बिजली के समान चमकती थीं। बरछे बरस रहे थे। आँसू कीचड़ बन रहे थे, ऐसा मालूम होता था मानो सावन भादों की वर्षा हो रही है। तलवारों के पड़ने से हाथी टूट-टूट कर गिरते थे। गोले इस प्रकार पड़ रहे थे जैसे बरसात के साथ ओले पड़ रहे हों। इतने वीर युद्ध में मरे कि उन्हें कहाँ तक लिखूं, अप्सराएँ उन्हें लेकर स्वर्ग को गईं। जो वीर अपने स्वामी के काम में मारे गये वे ही उज्ज्वल मुख से गये पर जो लोग अपने सत को छोड़ कर भागे, भागते हुए उनके मुख पर कालिख लग गयी।

[ ५१६ ]

भा संग्राम न आस भा काऊ। लोहैं दुहूँ दिस भाएउ अगाऊ ॥
कंध कबंध पूरि भुइँ परे। रुहिर सलिल होइ सायर भरे ॥
अनँद बियाह करहिं मँसुखाए। अब भख जरम जरम कहँ पाए ॥
चौसँठि जोगिनि खप्पर पूरा। बिग जँबुकन्ह घर बाजहिं तूरा ॥
गीध चील्ह सब माँड़ो छावहिं। काग कलोल करहिं औ गावहिं ॥
आजु साहि हठि अनी बियाही। पाई भुगुति जैस जियँ चाही ॥
जेन्ह जस माँसू भखा परावा। तस तेन्ह कर लै औरन्ह खावा ॥

काहू साथ न तनु गा, सकति मुऐ पै पोखि।
ओछ पूर तब जानब, जब भरि आउब जोखि ॥ ५१६ ॥

शब्दार्थ—लोहैं = तलवारें। अगाऊ = सामने। कबंध = धड़। बियाह-पाठान्तर-बधाव = हर्ष। मँसुखाए = मांसभक्षी। भुगुति = भोजन। सकति = शक्ति भर। पूर = पूरा। जोखि = तौल करना—पाठान्तर—जो थिर आउब जोखि = जो इस शरीर को स्थिर समझता है।

अर्थ—ऐसा युद्ध हुआ जैसा कभी न हुआ था। दोनों ओर तलवारें सामने ही थीं। कँधे और धड़ों से सारी पृथ्वी पट गई, खून पानी होकर सागर में भर गया। मांस खाने वाले आनन्द और खुशी में मस्त हो रहे हैं क्योंकि जन्म-जन्म का खाना उन्हें अब मिला है। चौंसठ जोगिनियाँ खप्पर को भरे हुए हैं, भेड़िया, गीदड़ आदि के घर तुरहियाँ बज रही हैं अर्थात् आनन्द हो रहे हैं। गीध और चीलें मंडप छा रही हैं, कौवे किलोल कर रहे और गा रहे हैं। आपस में सोचते हैं कि आज शाह ने हठ पूर्वक सेना का विवाह किया है, जैसा हम चाहते थे वैसा भोजन हमने पाया है।

इस पर कवि अपना मन्तव्य प्रकट करता है कि जिन मांसभक्षी पुरुषों ने औरों का मांस खाया था उसी प्रकार आज उनका मांस भी और लोग खा रहे हैं। शरीर किसी के साथ नहीं जाता, अपनी शक्ति भर प्रत्येक अपने शरीर का पालन-पोषण करता है, पर यह तो ओछा (घटिया) शरीर है इसे पूरा तो हम तब समझें जब तौलने पर यह पूरा उतरे। भाव यह कि मनुष्य को

नासमझी है कि वह इस शरीर को ही पालता पोषता है। शरीर का कोई महत्व नहीं है ।

[ ५२० ]

चंद न टरै सूर सौं रोपा। दोसर छत्र सौहँ कै कोपा ॥
सुना साहि अस भएउ समूहा। पेले सब हस्तिन्ह के जूहा ॥
आजु चंद तोहि करौं निपातू। रहै न जग महँ दोसर छातू ॥
सहस कराँ होइ किरिन पसारा। छपि गा चाँद जहाँ लगि तारा ॥
दर लोहें दरपन भा आवा। घट घट जानहुँ भानु देखावा ॥
बहु किरोध कुंताहल धावै। अगिनि पहार जरत जनु आवै ॥
खरग बीज जस तुरुक उठाएँ। ओड़ न चंद कँवल कर पाएँ ॥

चकमक अनी देखि कै, धाइ दिस्टि तसि लागि।
छुई होइ जौं लोहें, रुई माँझ उठ आगि ॥ ५२० ॥

शब्दार्थ—रोपा = लड़ाई ले ली - पाठान्तर - कोपा। कुंताहल-पाठान्तर-कुठार। कँवल = शाह-पाठान्तर-काल। ओड़ = ढाल। चकमक = एक पत्थर जिस पर चोट करने से आग पैदा की जाती थी।

अर्थ—चन्द्रमा (रत्नसेन) नहीं हटता क्योंकि उसने सूर्य (अलाउद्दीन) से लड़ाई ले ली है। अपने दूसरे छत्र को सामने करके वह क्रुद्ध हुआ। जब शाह ने राजा के सैन्य समूह की बात सुनी तो उसने हाथियों के झुण्ड को आगे बढ़ा दिया। उसने कहा कि चन्द (रत्नसेन) आज मैं तेरा नाश करूंगा। जिससे संसार में दूसरा राज-छत्र न रह जाय। उसने अपनी हज़ारों किरणों को फैला दिया अर्थात् अपनी रिजर्व सेना को भी बढ़ा दिया। उससे चन्द्र ताराओं समेत छिप गया-अर्थात् अलाउद्दीन की सेना से रत्नसेन की सेना घिर गयी। सेना की तलवारें दर्पण के समान चमक रही थीं मानो घट-घट में सूर्य चमक रहा है। बड़े क्रोध के साथ कुठार उठाये वह दौड़ रहा है मानो अग्नि का पहाड़ ही जलता हुआ आ रहा है। मुसलमान तलवारें इस प्रकार उठाए हुए हैं जैसे बिजली चमक रही है। रत्नसेन की ढाल के कारण अलाउद्दीन उसे पकड़ नहीं पाता। तब बादशाह अला-

उद्दीन की अग्नि दृष्टि रत्नसेन की सेना पर पड़ी तो उसमें इस प्रकार अग्नि-काण्ड हो गया जैसे चकमक पत्थर के साथ ही जब रुई लगी होती है तो चकमक पर लोहे की चोट लगते ही रुई में आग लग जाती है। भाव यह कि जब अलाउद्दीन रत्नसेन को न पकड़ सका तो उसने रत्नसेन की सेना में अग्निकांड करवा दिया।

[ ५२१ ]

सूरुज देखि चाँद मन लाजा। बिगसत बदन, कुमुद भा राजा ॥
चंद बड़ाई भलेहूँ निसि पाई। दिन दिनियर सौं कौनु बड़ाई ॥
अहे जो नखत चंद सँग तपे। सूर की दिस्टि गँगन महँ छपे ॥
कै चिंता राजा मन बूझा। जेहि सों सरग न धरती जूझा ॥
गढ़पति उनरि लरै नहिं धाए। हाथ परै गढ़ हाथ पराएँ ॥
गढ़पति इंद्र गँगन गढ़ राजा। देवस न निसर रैनि को राजा ॥
चंद रैनि रह नखतन्ह माँझा। सुरुज न सौंह होइ चह साँझा ॥
देखा चंद भोर भा, सूरुज के बड़ भाग।
चाँद फिरा भा गढ़पति, सुरुज गँगन गढ़ लाग ॥ ५२१ ॥

शब्दार्थ—दिनियर = दिनकर, सूर्य। अहे = थे। तपे = प्रकाशमान। जूझा = युद्ध करना चाहिए।

अर्थ—सूर्य (अलाउद्दीन) को देख कर चाँद (रत्नसेन) का मन लज्जित हुआ। उसका खिला हुआ चेहरा इस प्रकार मलिन हो गया, जैसे कुमुद सूर्य को देख कर मलिन हो जाता है। कवि कहता है कि चन्द्रमा की बड़ाई भले ही रात्रि में हो, पर दिन में सूर्य के सामने उसकी क्या बड़ाई होगी। जो नक्षत्र रूपी उसकी सेना थी और जो रत्नसेन के साथ तेजस्वी थे वे सब सूर्य रूपी अलाउद्दीन के सामने छिप गये। राजा ने मन में सोच-विचार कर समझा कि जिसके पास स्वर्ग रूपी किला है, उसे पृथ्वी पर युद्ध न करना चाहिए। जो गढ़पति है वह नीचे उतर कर दौड़ कर नहीं लड़ता, ऐसा करने पर हाथ का किला भी दूसरे के हाथ पड़ सकता है। गढ़पति तो इन्द्र के समान और किला आकाश के समान है—जो रात का राजा (चन्द्रमा) है वह

मनुष्य आ जाते हैं मरते हैं और नये खड़े होते हैं। जो आता है वही गढ़ के समीप अपना स्थान पाता है, पर स्थिर होकर कोई रहने नहीं पाता। जितने मीर और उमराव थे सभी सेना के एक पक्ष में हुए। सारी सेना गढ़ के चारों ओर लग गयी और भयंकर अग्निदाह होने लगा। सूर्य (अलाउद्दीन) चन्द्रमा (रत्नसेन) पर ग्रहण लगाना चाहता है और चन्द्रमा ( राजा ) राहु जैसा हो गया है। अर्थात् अलाउद्दीन तो राजा को बन्दी करना चाहता है, पर राजा गढ़ के भीतर होने से अदृश्य है।

नोट—इस पद में भी जायसी को रहस्यात्मक संकेत रखने का अवसर मिलता है। जैसे शाह की सेना अपार है, गढ़ पर असंख्य आदमी और साज-बाज भेजता है उसी प्रकार ईश्वर की प्रसन्नता महान् है, इस जगत् में असंख्य जीवों को उत्पन्न करता है। उसकी शक्ति और साज अपार है—जीव इस लोक में आते हैं, पर स्थिर नहीं रहते, मरते और जन्म पाते चले जाते हैं।

अलंकार—समासोक्ति।

[ ५२३ ]

अँथवा देवस सुरुज भा बासाँ। पर। रैनि ससि उवा अकासाँ॥
चाँद छत्र दै बैठेउ आई। चहुँ दिसि नखत दीन्ह छिटकाई॥
नखत अकासहुँ चढ़े दिपाहीं। टूटहिं लूक परहिं न बुझाहीं॥
परहिं सिला जस परै बजागी। पाहनहि पाहन बाजि उठ आगी॥
गोला परहिं, कोल्हु ढुरुकावहिं। चून करत चारिहुँ दिसि आवहिं॥
अवनि अँगार दिस्टि भरि लाई। ओला टपकै, परै न बुझाई॥
तुरुक न मुँह फेरहिं गढ लागें। एक मरें, दोसर होइ आगें॥
परहिं बान राजा कै, सुख न सकै कोइ काढ़ि।
अनी साहि कै सब निसि, रही भोर लहि ठाढ़ि॥ ५२३॥

शब्दार्थ—अँथवा = अस्त हुआ। भा बासाँ = डेरे में ठहरे। ढुरुकावहिं = गिराते हैं। चून = चूर। लहि = तक।

अर्थ—सूर्य अस्त हुआ, अलाउद्दीन (सूरज) अपने डेरे में चला गया। रात होने से आकाश में चन्द्रमा उदय हुआ। छत्र धारण कर राजा

रत्नसेन (चाँद) बैठा। चारों ओर उसके सामन्त (नक्षत्र) बिखर गये। आकाश (गढ़) पर चढ़े हुए नक्षत्र (सामन्त) चमकने लगे और तीर और गोले रूपी लूक फेंकने लगे जो बुझाने से नहीं बुझते थे। ऊपर से शिलाएँ इस प्रकार गिरती थीं जैसे वज्राग्नि पड़ रही हो। पत्थर पर पत्थर लड़ने से अग्नि निकल पड़ती थी। गोला गिराते थे और बड़े-बड़े कोल्हू ऊपर से लुढ़का देते थे, ये चारों ओर चूर करते चले जाते थे। पृथ्वी पर अंगारों की वृष्टि हो रही थी, ऐसे ओले टपक रहे थे जो किसी प्रकार नहीं बुझते। फिर भी मुसलमान सैनिक अपना मुँह नहीं मोड़ते, एक मरता था तो दूसरा उसके स्थान पर आ जाता था। राजा के बाण इस प्रकार चलते थे कि उनके भय से कोई मुँह नहीं निकाल पाता था, इस प्रकार शाह की बहुत सी सेना रात में काम आयी। फिर भी प्रातःकाल तक किले से लगी खड़ी ही रही।

[ ५२४ ]

भएउ बिहान, भान पुनि चढ़ा। सहसहु करा जैस बिधि गढ़ा ॥
भा ढोवा गढ़ लीन्ह गरेरी। कोपा कटक लाग चहुँ फेरी ॥
बान करोरि एक मुख छूटहिं। बाजहिं जहाँ फोंक लगि फूटहिं ॥
नखत गँगन जस देखिअ घने। तस गढ़ फाटहिं बानन्ह हने ॥
जानहुँ बेधि साहि कै राखा। गढ़ भा गरुर फुलाएँ पाँखा ॥
ओरँगा केरि कठिन है जाता। तौ पै लहै होइ मुख राता ॥
पीठि देहिं नहिं बानन्हि लागे। चाँपत जाहिं पगहिं पग आगे ॥
चारि पहर दिन बीता, गढ़ न टूट तस बाँक।
गरुव होत पै आवै, दिन दिन टाँकहि टाँक ॥ ५२४ ॥

शब्दार्थ—ढोवा-पाठान्तर-धावा = चढ़ाई। गरेरी = घेरा। फोंक = तीर का पिछला भाग जिसमें पंख लगे होते हैं। साहि = साही नाम का एक जानवर जिसके शरीर में लम्बे कांटे होते हैं। गरुर = गरुड़ पक्षी। ओरँगा-पाठान्तर ओहि रंग = उस रण रंग का। चाँपत = बढ़ते जाते हैं। टाँकहि-टाँक = धीरे-धीरे-पाठान्तर-नाकहिं नाक = नाके-नाके, मुख्य-मुख्य स्थान।

अर्थ—प्रातःकाल हुआ, सूर्य (अलाउद्दीन) फिर चढ़ आया। अपनी सहस्र कलाओं से अर्थात् पूरी शक्ति से उसने आक्रमण किया। जोर का

उद्दीन की अग्नि दृष्टि रत्नसेन की सेना पर पड़ी तो उसमें इस प्रकार अग्नि-काण्ड हो गया जैसे चकमक पत्थर के साथ ही जब रुई लगी होती है तो चकमक पर लोहे की चोट लगते ही रुई में आग लग जाती है। भाव यह कि जब अलाउद्दीन रत्नसेन को न पकड़ सका तो उसने रत्नसेन की सेना में अग्निकांड करवा दिया।

[ ५२१ ]

सूरज देखि चाँद मन लाजा। बिगसत बदन, कुमुद भा राजा ॥
चंद बड़ाई भलेहँ निसि पाई। दिन दिनियर सौं कौनु बड़ाई ॥
अहे जो नखत चंद सँग तपे। सूर की दिस्टि गँगन महँ छपे ॥
कै चिंता राजा मन बूझा। जेहि सों सरग न धरती जूझा ॥
गढ़पति उतरि लरै नहिं धाए। हाथ परै गढ़ हाथ पराएँ ॥
गढ़पति इंद्र गँगन गढ़ राजा। देवस न निसर रैनि को राजा ॥
चंद रैनि रह नखतन्ह माँझा। सुरुज न सौंह होइ चह साँझा ॥
देखा चंद भोर भा, सूरुज के बड़ भाग।
चाँद फिरा भा गढ़पति, सुरुज गँगन गढ़ लाग ॥ ५२१ ॥

शब्दार्थ—दिनियर = दिनकर, सूर्य। अहे = थे। तपे = प्रकाशमान। जूझा = युद्ध करना चाहिए।

अर्थ—सूर्य (अलाउद्दीन) को देख कर चाँद (रत्नसेन) का मन लज्जित हुआ। उसका खिला हुआ चेहरा इस प्रकार मलिन हो गया, जैसे कुमुद सूर्य को देख कर मलिन हो जाता है। कवि कहता है कि चन्द्रमा की बड़ाई भले ही रात्रि में हो, पर दिन में सूर्य के सामने उसकी क्या बड़ाई होगी। जो नक्षत्र रूपी उसकी सेना थी और जो रत्नसेन के साथ तेजस्वी थे वे सब सूर्य रूपी अलाउद्दीन के सामने छिप गये। राजा ने मन में सोच-विचार कर समझा कि जिसके पास स्वर्ग रूपी किला है, उसे पृथ्वी पर युद्ध न करना चाहिए। जो गढ़पति है वह नीचे उतर कर दौड़ कर नहीं लड़ता, ऐसा करने पर हाथ का किला भी दूसरे के हाथ पड़ सकता है। गढ़पति तो इन्द्र के समान और किला आकाश के समान है—जो रात का राजा (चन्द्रमा) है वह

दिन को नहीं निकलता। अर्थात् जिसके पास किला है वह बाहर निकल कर नहीं लड़ता। चन्द्रमा तो रात में नक्षत्रों के बीच रहता है, वह तो सूर्य के सामने नहीं आता, संध्याकाल की कल्पना करता है अर्थात् गढ़पति तो किले में अपने सामन्तों के बीच रहता है—बाहर वाले आक्रमणकारी के सामने नहीं आता। चन्द्रमा ( रत्नसेन ) ने देखा कि प्रातःकाल ( युद्ध का आरम्भ ) हुआ है और सूर्य ( अलाउद्दीन ) के भाग्य हैं अर्थात् मैदान की लड़ाई में अलाउद्दीन का पाँसा ऊपर है। अतः वह लौट कर अपने किले के भीतर हो गया और अलाउद्दीन किले के समीप आ गया, उसने घेरा डाल दिया।

[ ५२२ ]

कटक असूझ अलावल साही। आवत कोइ न सँभारै ताही॥
उदधि समुँद जेउँ लहरैं देखें। नैन देखि मुँह जाहिं न लेखे॥
केत बजावत उतरे घाटी। केत बजाइ गए मिलि माँटी॥
केतन्ह नितिहि देइ नव साजा। कबहु न साज घटै तस राजा॥
लाख जाहिं आवहिं दुइ लाखा। फरहिं झरहिं उपनहिं नौ साखा॥
जो आवै गढ़ लागै सोइ। थिर होइ रहै न पावै कोई॥
उमरा मीर अहे जहँ ताईं। सबहूं बाँटि अलंगै पाई॥
लागि कटक चारिहुँ दिसि, गढ़ सो परा अगिडाहु।
सुरुज गहन भा चाँदहि, चाँद भएउ जस राहु॥ ५२२॥

शब्दार्थ—अलावल-पाठान्तर-अलाउदि = अलाउद्दीन। केत = कितने। अलंगै = सेना का एक पक्ष। अगिडाहु = अग्निदाह।

अर्थ—अलाउद्दीन की सेना इतनी बड़ी है, उसका ज्ञान नहीं किया जा सकता, उसके आने पर कोई उसे सँभाल नहीं सकता। समुद्र की लहरों को जैसे कोई आँखों से तो देख सकता है, पर उसका हिसाब कोई नहीं लगा सकता, उसी प्रकार बादशाह की असंख्य सेना है। उस सेना में से कितने तो लड़ते हुए पार उतर गये और कितने मिट्टी में मिल गये। कितने ऐसे हैं जिन्हें बादशाह नित्य नया साज देता है, ऐसा राजा है कि उसका सम्मान कभी नहीं घटता। लाख मनुष्य मरते हैं तो उनके स्थान पर दो लाख

मनुष्य आ जाते हैं मरते हैं और नये खड़े होते हैं। जो आता है वही गढ़ के समीप अपना स्थान पाता है, पर स्थिर होकर कोई रहने नहीं पाता। जितने मोर और उमरान थे सभी सेना के एक पक्ष में हुए। सारी सेना गढ़ के चारों ओर लग गयी और भयंकर अग्निदाह होने लगा। सूर्य (अलाउद्दीन) चन्द्रमा (रत्नसेन) पर ग्रहण लगाना चाहता है और चन्द्रमा (राजा) राहु जैसा हो गया है। अर्थात् अलाउद्दीन तो राजा को बन्दी करना चाहता है, पर राजा गढ़ के भीतर होने से अदृश्य है।

नोट—इस पद्य में भी जायसी को रहस्यात्मक संकेत रखने का अवसर मिलता है। जैसे शाह की सेना अपार है, गढ़ पर असंख्य आदमी और साज-बाज भेजता है उसी प्रकार ईश्वर की प्रभुता महान् है, इस जगत् में असंख्य जीवों को उत्पन्न करता है। उसकी शक्ति और साज अपार है—जीव इस लोक में आते हैं, पर स्थिर नहीं रहते, मरते और जन्म पाते चले जाते हैं।

अलंकार—समासोक्ति।

[ ५२३ ]

अँथवा देवस सुरुज भा बासाँ। पर। रैनि ससि उवा अकासाँ॥
चाँद छत्र दै बैठउ आई। चहुँ दिसि नखत दीह छिटकाई॥
नखत अकासहु चढ़े दिपाहीं। टूटहिं लूक परहिं न बुझाहीं॥
परहिं सिला जस परै बजागी। पाहनहि पाहन बाजि उठ आगी॥
गोला परहिं, कोल्हु ढुरकावहिं। चून करत चारिहुँ दिसि आवहिं॥
अवनि अँगार दिस्टि झरि लाई। ओला टपकै, परै न बुझाई॥
तुरुक न मुँह फेरहिं गढ लागें। एक मरें, दोसर होइ आगें॥
परहिं बान राजा कै, मुख न सकै कोइ काढ़ि।
अनी साहि कै सब निसि, रही भोर लहि ठाढ़ि॥ ५२३॥

शब्दार्थ—अँथवा = अस्त हुआ। भा बासाँ = डेरे में ठहरे। ढरकावहिं = गिराते हैं। चून = चूर। लहि = तक।

अर्थ—सूर्य अस्त हुआ, अलाउद्दीन (सूरज) अपने डेरे में चला गया। रात होने से आकाश में चन्द्रमा उदय हुआ। छत्र धारण कर राजा

रत्नसेन (चांद) बैठा। चारों ओर उसके सामन्त (नक्षत्र) बिखर गये। आकाश (गढ़) पर चढ़े हुए नक्षत्र (सामन्त) चमकने लगे और तीर और गोले रूपी लूक फेंकने लगे जो बुझाने से नहीं बुझते थे। ऊपर से शिलाएँ इस प्रकार गिरती थीं जैसे वज्राग्नि पड़ रही हो। पत्थर पर पत्थर लड़ने से अग्नि निकल पड़ती थी। गोला गिराते थे और बड़े-बड़े कोल्हू ऊपर से लुढ़का देते थे, ये चारों ओर चूर करते चले जाते थे। पृथ्वी पर अंगारों की वृष्टि हो रही थी, ऐसे ओले टपक रहे थे जो किसी प्रकार नहीं बुझते। फिर भी मुसलमान सैनिक अपना मुँह नहीं मोड़ते, एक मरता था तो दूसरा उसके स्थान पर आ जाता था। राजा के बाण इस प्रकार चलते थे कि उनके भय से कोई मुँह नहीं निकाल पाता था, इस प्रकार शाह की बहुत सी सेना रात में काम आयी। फिर भी प्रातःकाल तक किले से लगी खड़ी ही रही।

[ ५२४ ]

भएउ बिहान, भान पुनि चढ़ा। सहसहु करा जैस बिधि गढ़ा॥
भा ढोवा गढ़ लीन्ह गरेरी। कोपा कटक लाग चहुँ फेरी॥
बान करोरि एक मुख छूटहिं। बाजहिं जहाँ फोंक लगि फूटहिं॥
नखत गँगन जस देखिअ घने। तस गढ़ फाटहिं बानन्ह हने॥
जानहुँ बेधि साहि कै राखा। गढ़ भा गरुर फूलाएँ पाँखा॥
ओरँगा केरि कठिन है जाता। तौ पै लहै होइ मुख राता॥
पीठि देहिं नहिं बानन्हि लागे। चाँपत जाहिं पगहिं पग आगे॥
चारि पहर दिन बीता, गढ़ न टूट तस बाँक।
गरुव होत पै आवै, दिन दिन टाँकहि टाँक॥ ५२४॥

शब्दार्थ—ढोवा-पाठान्तर-धावा = चढ़ाई। गरेरी = घेरा। फोंक = तीर का पिछला भाग जिसमें पंख लगे होते हैं। साहि = साही नाम का एक जानवर जिसके शरीर में लम्बे कांटे होते हैं। गरुर = गरुड़ पक्षी। ओरँगा-पाठान्तर ओहि रंग = उस रण रंग का। चाँपत = बढ़ते जाते हैं। टाँकहि-टाँक = धीरे-धीरे-पाठान्तर-नाकहिं नाक = नाके-नाके, मुख्य-मुख्य स्थान।

अर्थ—प्रातःकाल हुआ, सूर्य (अलाउद्दीन) फिर चढ़ आया। अपनी सहस्र कलाओं से अर्थात् पूरी शक्ति से उसने आक्रमण किया। जोर का

धावा हुआ और गढ़ पर घेरा डाल दिया। क्रुद्ध होकर सारी सेना चारों ओर लग गयी। एक-एक बार में करोड़ बाण छूट रहे थे, इतनी शक्ति से चलाये जाते हैं कि जहाँ लगते हैं वहाँ पर टक्कर खाकर पिछले छोर तक फट जाते हैं। जैसे घने चित्तौड़ के सैनिकों को किले पर ये दिखते हैं वैसे ही किला बाणों से बिंध कर टूटा हुआ दिखाई पड़ने लगा। बाणों से बिंध कर किला ऐसा लगने लगा जैसे साही नाम का जानवर हो। या यह गरुड़ पक्षी है जिसने पंख फुला रक्खे हैं। उस रण-रंग में प्रवेश करना अत्यन्त कठिन है। पर जो उसे प्राप्त करता है, उसका मुख यश से लाल होता है। बाण के लगने पर भी वीर लोग पीठ नहीं दिखाते। कदम पर कदम बढ़ाते हुए आगे बढ़ते जाते हैं। चार पहर दिन बीत गया पर किला ऐसा विकट था कि टूट न सका, बल्कि वह तो दिन पर दिन और भी गम्भीर होता गया।

[ ५२५ ]

छेंका गढ़ जोरा अस कीन्हा। खसिया मगर सुरँग तेइँ दीन्हा ॥
गरगज बाँधि कमानै धरीं। चलहिं एक मुख दारू भरीं ॥
हबसी रूमी औ जो फिरंगी। बड़ बड़ गुनी औ तिन्ह के संगी ॥
जिन्ह के गोट जाहिं उपराहीं। जेहि ताकहिं तेहि चूकहिं नाहीं ॥
अस्ट धातु के गोला छूटहिं। गिरि पहार पब्बै सब फूटहिं ॥
एक बार सब छूटहिं गोला। गरजै गँगन धरति सब डोला ॥
फूटै कोट फूट जस सीसा। ओदरहिं बुरुज परहिं कौसीसा ॥
लंका रावट जसि भई, डाह परा गढ़ सोइ।
रावन लिखा जो जरैं कहँ, किमि अजरावर होइ ॥५२५॥

शब्दार्थ—खसिया मगर-पाठान्तर-घुसि कै सरग। गरगज = परकोटे का वह बुर्ज जिस पर तोप चढ़ाई जाती थी। हबसी = हब्शी। फिरंगी = पुर्तगाली। गोट = गोले। ओदरहिं = ढह जाते हैं। कौसीसा-पाठान्तर-जाहिं सब पीसा। अजरावर = अजरामर = नाश न होने वाला।

अर्थ—अलाउद्दीन ने गढ़ को बड़े जोर से घेरा और उसने मगर की भाँति खिसक करके किले में एक सुरंग कर डाली। परकोटे के बुर्ज बना कर

उस पर तोपें रखीं। उसके साथ हब्शी, रूमी और पुर्तगाल के बड़े-बड़े गुणी लोग थे। जिनके गोले ऊपर किले पर जाते हैं। वे गोले अचूक हैं, जहाँ निशाना लगाते हैं वह कभी नहीं चूकता। वे गोले अष्ट धातु के बने थे। पहाड़ और वज्र सभी उनके लगने पर टूट जाते हैं। एक बार सारे गोले छूट रहे हैं, आकाश में गर्ज होती है और सारी पृथ्वी डोल जाती है। किला इस प्रकार टूटता है जैसे शीशा टूटे, किले के बुर्ज ढह कर टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं। जैसे लंका जल कर काली हो गयी, उसी प्रकार चित्तौड़गढ़ में भी आग लगी है। जब रावण को जलना ही लिखा था तो वह अजर-अमर कैसे हो सकता है।

[ ५२६ ]

राजा केरि लागि रहै ढोई। फूटै जहाँ सँवारहिं सोई॥
बाँके पर सुठि बाँक करेई। रातिहि कोट चित्र कै लेई॥
गाजै गँगन चढ़े जस मेघा। बरिसहिं बज्र सिला को थेघा॥
सौ सौ मन के बरिसहिं गोला। बरिसहिं तुपक तीर जस ओला॥
जानहुँ परी सरग हुति गाजा। फाटै धरति आइ जहँ बाजा॥
गरगज चूर चूर होइ परहीं। हस्ति घोर मानुस संघरहिं॥
सबहिं कहा अब परलौ आवा। धरती सरग जूझ दुहुँ लावा॥
अहुठौ बज्र जुरे सनमुख होइ, एक दिन कोई लागि।
जगत जरै चारिहुँ दिसि, को रे बुझावै आगि॥५२६॥

शब्दार्थ—ढोई = मजदूरों के द्वारा चूना गारा आदि का ढोया जाना, पाठान्तर, राजभीर लागे गढ़ थवई। थेघा = टेक लेकर — पाठान्तर-सीस को ठेला।

अर्थ—राजा ने अपने यहाँ काम लगा रखा है, मजदूर लोग ईंट, पत्थर, चूना, गारा आदि ढोते फिरते हैं और जहाँ-जहाँ किला टूटता है उसे ठीक करते जाते हैं। एक तो किला वैसे ही विकट था, उसे और विकट बनाते जाते हैं। रात्रि में सारे किले का चित्र बना लेते हैं। किले पर चढ़े हुए वीर ऐसे गरजते हैं जैसे आकाश में बादल गरज रहे हों। ऊपर से शिला के रूप

में वज्र बरसाते जाते हैं। सौ-सौ मन के गोले गिराते हैं, तोप और तीर इस प्रकार बरसते हैं, जैसे ओले पड़ रहे हों। मानो स्वर्ग से बिजली गिर रही हो, जहाँ गोले गिरते हैं पृथ्वी फट जाती है। तुर्कों के बनाये हुए परकोटे पर के बुर्ज टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं, हाथी घोड़े और मनुष्य सब मारे जाते हैं। सब ने कहा कि अब तो प्रलय होगी, क्योंकि पृथ्वी और आकाश दोनों युद्ध कर रहे हैं। अब तो मालूम होता है कि सारे मानो वज्र इकट्ठे हो गये हैं और प्रलय का दिन लग गया है, अब तो सारा संसार चारों ओर से जलेगा, इस आग को अब कौन बुझाएगा ?

[ ५२७ ]

तबहूँ राजा हिएँ न हारा। राज पँवरि पर रचा अखारा॥
सौंह साहि जहँ उतरा आछा। ऊपर नाच अखारा काछा॥
जंत्र पखाउझ आउझ बाजा। सुरमंडल रबाब भल साजा॥
बीन पिनाक कुमाइच कहे। बाजि अँबिरती अति गहगहे॥
चंग उपंग नाग सुर तूरा। महुवरि बाज बाँसि भल पूरा॥
हुरुक बाज डफ बाज गँभीरा। औ तेहि गोहन झाँझ मँजीरा॥
तंत बितंत सुभर घनतारा। बाजहिं सबद होइ झनकारा॥
जस सिंगार मन मोहन, पातर नाँचहिं पाँच।
पातसाहि गढ़ छेंका, राजा भूला नाँच॥५२७॥

शब्दार्थ—पखाउझ = पखावज, मृदंग। सुर मंडल, रबाब = बाजों के नाम हैं। कुमाइच = सारंगी बजाने की कमान। अँबिरती = अमृत के समान। चंग = डोरी। उपंग = एक बाजा। तूरा = तुरही। महुअर = तुमड़ी। बंसि = वंशी। हुरुक = हुडुक, डमरू की शकल का बाजा। डफ = ढोल। गोहन = साथ। पातर = नर्तकियाँ।

अर्थ—इतने पर भी राजा रत्नसेन हृदय से हारा नहीं, उसने तो राज-द्वार पर गाने-बजाने वालों का एक अखाड़ा खड़ा कर दिया। सामने ही जहाँ शाह अलाउद्दीन डेरा डाले था, ठीक उसी के ऊपर नाच का अखाड़ा जम गया। तरह-तरह के वाद्य-यन्त्र पखावज, सुरमंडल, रबाब, बीन, सारंगी बजाने की कमान तथा अन्य अमृत रस बरसाने वाले गहगहे बाजे, चंग,

उपङ्ग, नागसुर, तुरही, तुमड़ी, वंशी, हुडुक, ढोल और उसी के साथ झाँझ और मंजीरा आदि अनेक ताँत वाले और बिना ताँत वाले बाजे बज उठे। घन-घोर झनकार उनकी हुई। साथ ही अत्यन्त लुभावने वस्त्रों को पहन कर पाँच नर्तकियाँ भी नाचने लगीं। उधर बादशाह ने गढ़ को घेर रखा था, इधर राजा नाच में भूला हुआ है।

[ ५२८ ]

बीजानगर केर सब गुनी। करहिं अलाप बुद्धि चौगुनी ॥
प्रथम राग भैरौ तेन्ह कीन्हा। दोसरें माल कौस पुनि लीन्हा ॥
पुनि हिंडोल राग तिन्ह गाए। चौथे मेघ मलार सोहाए ॥
पुनि उन्ह सिरी राग भल किया। दीपक कीन्ह उठा बरि दिया ॥
छवउ राग गाएनि भल गुनी। औ गाएनि छत्तीस रागिनी ॥
ऊपर भई सो पातर नाँचहिं। तर भै तुरुक कमानै खाँचहिं ॥
सुरस कंठ भल राग सुनावहिं। सबद देहिं मानहुँ सर लागहिं ॥
सुनि सुनि सीस धुनहिं सब, कर मलि मलि पछिताहिं।
कब हम हाथ चढहिं ये पातरि, नैनन्ह के दुख जाहिं ॥ ५२८ ॥

शब्दार्थ—भैरौ = भैरव राग। मालकौस = मालकोस राग। सिरी = श्रीराग।

अर्थ—बीजानगर के गुणी गवैये चौगुने अलाप ले रहे थे। सबसे पहले उन्होंने भैरव राग गाया, दूसरा राग मालकोस गाया। तीसरा राग हिंडोल और चौथा मेघमलार, पाँचवें उन्होंने श्रीराग किया और फिर दीपक राग के गाने से दीपक जल जल उठा। इस प्रकार छहों राग और छत्तीसों रागिनी उन गुणियों ने गाये। ऊपर होकर नर्तकियाँ नाच रही हैं और तुर्क लोक धनुष चला रहे हैं। वे सुरीले कंठ से सुन्दर राग गा रही हैं, मानो बाण चला रही हैं। उनके शब्दों को सुनकर सभी शिर धुनते हैं और हाथ मल-मल कर पछताते हैं कि कब हमारे हाथ ये नर्तकियाँ चढ़ेंगी और हमारे नेत्रों के दुःख दूर होंगे।

इस पद के अनन्तर पं० रामचन्द्र शुक्ल ग्रन्थावली में एक पद यह है, जिसे माताप्रसाद जी गुप्त प्रक्षिप्त मानते हैं। पद यह है—

छवौं राग गावहिं पातुरनी । औ पुनि छत्तिसौं रागिनी ॥
औ कल्यान कान्हरा होई । राग बिहाग केदारा सोई ॥
परभाती होइ उठै बंगाला । आसावरी राग गुनमाला ॥
धनासिरी औ सूहा कीन्हा । भएउ बिलावल, मारू लीन्हा ॥
रामकली नट गौरी गाई । धुनि खंभाच सो राग सुनाई ॥
साम गूजरी, पुनि भल भाई । सारंग औ बिभास मुँह आई ॥
पुरबी, सिंधी, देस, बरारी । टोडी, गोंड सौं भई निरारी ॥
सबै राग औ रागिनी, सुरैं अलापहिं ऊँच ।
तहाँ तीर कहँ पहुँचै, दिस्टि जहाँ न पहूँच ॥

[ ५२६ ]

पतुरिनि नाँचैं दिहें जो पीठी । परिगै सौहँ साहि कै डीठी ॥
देखत साहि सिंघासन गूँजा । कब लगि मिरिग चंद रथ भूँजा ॥
छाँड़हु बान जाहिं उपराहीं । गरब केर सिर सदा तराहीं ॥
बोलत बान लाख भा ऊँचा । कोइ सो कोट कोइ पँवरि पहूँचा ॥
मलिक जहाँगिर कनउज राजा । ओहि क बान पातरि कहँ बाजा ॥
बाजा बान, जंघ जस नाँचा । जिउ गा सरग, परा भुइँ साँचा ॥
उदसा नाँच, नचनिया मारा । रहसे तुरुक बाजि गए तारा ॥
जो गढ़ साजा लाख दस, कोटि सँवारहिं कोट ।
पातसाहि अब चाहै, बचहि न कौनिहु ओट ॥ ५२६ ॥

शब्दार्थ—भूँजा = भोग करेगा । बाजा = लगा । उदसा = भंग हो गया । रहसे = हँसे । तारा = ताली ।

अर्थ—नर्तकियाँ पीठ दिये हुए नाच रही थीं । शाह अलाउद्दीन की दृष्टि उन तक पहुँच गई । उन्हें देखते ही शाह अपने सिंहासन पर गरज उठा और कहा कि देखता हूँ कि कब तक मृग (नर्तकी) चन्द्र (रत्नसेन) रथ का भोग करता है । उसने कहा कि बाण छोड़ो जो ऊपर जायँ और घमंडी का सिर नीचा हो जाय । बोलते ही लाख बाण ऊपर चले, उनमें से कोई तो कोट तक पहुँचे और कुछ पौड़ी तक ही रह गये । कन्नौज का बादशाह मलिक जहाँगीर था, उसका बाण नर्तकी को लग गया । बाण के लगने से नर्तकी की

जाँघ कट गई और नाच उठी। उसका जीव तो स्वर्ग लोक को गया, पर उसकी टाँग जमीन पर गिरी। नाच भंग हो गया और नर्तकी मारी गयी। यह देख कर मुसलमान हँस पड़े और तालियाँ बज उठीं। जिस गढ़ को दस लाख लोगों से सजाया था और करोड़ों तरह से सजाया था, वह भी जब बादशाह चाहेगा तो किसी प्रकार बच नहीं सकता।

[ ५३० ]

राजैं पँवरि अकास चलाई। परा बाँध चहुँ फेर अलाई॥
सेतबंध जस राघौ बाँधा। परा फेरु, भुइँ भारु न काँधा॥
हनिवँत होइ सब लाग गुहारा। आवहिं चहुँ दिसि केर पहारा॥
सेत फटिक सब लागै गढ़ा। बाँध उठाइ चहूँ गढ़ मढ़ा॥
खँड ऊपर खँड होहिं पटाऊ। चित्र अनेग, अनेग कटाऊ॥
सीढ़ी होति जाहिं बहु भाँती। जहाँ चढ़हि हस्तिन्ह कै पाँती॥
भा गरगज अस कहत न आवा। जनु उठाइ गँगन कहँ लावा॥
राहु लाग जस चाँदहि, गढ़हि लाग तस बाँध।
सब दर लीलि ठाढ़ भा, रहा जाइ गढ़ काँध॥ ५३०॥

शब्दार्थ—चलाई-पाठान्तर-चढ़ई। अलाई-पाठान्तर-लगाई। गुहारा = बुलाया। सबदर लीलि ठाढ़ भा, रहा जाइ गढ़ काँध = पाठान्तर-सरब आगि अस बरि रहा, ठाँव जाइ को काँध।

अर्थ—राजा ने अपनी पौड़ी का आकाश तक ऊँची कर दी और उसके चारों ओर बाँध बनवा दिया। जैसे रामचन्द्र जी ने सेतुबन्ध बाँधा था उसी प्रकार का बाँध बनाया। उसके भार को पृथ्वी न सहन कर सकती थी। हनूमान् ने जैसे सभी वानरों को बुलाया तो सब चारों ओर के पहाड़ों को लाने लगे थे, उसी प्रकार यहाँ भी चारों ओर से पत्थर लाये गये। बन जाने पर संगमरमर जैसा दिखाई लगने लगा। यह बाँध उठवा कर चारों ओर से मढ़वा दिया। खंड के ऊपर खंड पटने लगे और उनके बीच में अनेक प्रकार के चित्र भी बनाए गये। अनेक प्रकार की सीढ़ियाँ थीं, जिन पर हाथियों की पंक्तियों के चित्र बने हुए थे। ऐसा बुर्ज बनवाया कि उसका वर्णन नहीं हो

छत्तीसौ राग गावहिं पातुरनी । औ पुनि छत्तीसौं रागिनी ॥
औ कल्यान कान्हरा होई । राग बिहाग केदारा सोई ॥
परभाती होइ उठै बंगाला । आसावरी राग गुनमाला ॥
धनासिरी औ सूहा कीन्हा । भएउ बिलावल, मारू लीन्हा ॥
रामकली नट गौरी गाई । धुनि खंमाच सो राग सुनाई ॥
साम गूजरी, पुनि भल भाई । सारंग औ बिभास मुँह आई ॥
पुरबी, सिंधी, देस, बरारी । टोड़ी, गोंड सौं भई निरारी ॥
सबै राग औ रागिनी, सुरै अलापहिं ऊँच ।
तहाँ तीर कहँ पहुँचै, दिस्टि जहाँ न पहूँच ॥

[ ५२६ ]

पतुरिनि नाँचैं दिहें जो पीठी । परिगैं सौहँ साहि कै डीठी ॥
देखत साहि सिंघासन गूँजा । कब लगि मिरिग चंद रथ भूँजा ॥
छाँड़हु बान जाहिं उपराहीं । गरब केर सिर सदा तराहीं ॥
बोलत बान लाख भा ऊँचा । कोइ सो कोट, कोइ पँवरि पहूँचा ॥
मलिक जहाँगिर कनउज राजा । ओहि क बान पातरि कहँ बाजा ॥
बाजा बान, जंघ जस नाँचा । जिउ गा सरग, परा भुइँ साँचा ॥
उदसा नाँच, नचनिया मारा । रहसे तुरुक बाजि गए तारा ॥
जो गढ़ साजा लाख दस, कोटि सँवारहिं कोट ।
पातसाहि अब चाहै, बचहि न कौनिहु ओट ॥ ५२६ ॥

शब्दार्थ—भूँजा = भोग करेगा । बाजा = लगा । उदसा = भंग हो गया । रहसे = हँसे । तारा = ताली ।

अर्थ—नर्तकियाँ पीठ दिये हुए नाच रही थीं । शाह अलाउद्दीन की दृष्टि उन तक पहुँच गई । उन्हें देखते ही शाह अपने सिंहासन पर गरज उठा और कहा कि देखता हूँ कि कब तक मृग (नर्तकी) चन्द्र (रत्नसेन) रथ का भोग करता है । उसने कहा कि बाण छोड़ो जो ऊपर जायँ और घमंडी का सिर नीचा हो जाय । बोलते ही लाख बाण ऊपर चले, उनमें से कोई तो कोट तक पहुँचे और कुछ पौड़ी तक ही रह गये । कन्नौज का बादशाह मलिक जहाँगीर था, उसका बाण नर्तकी को लग गया । बाण के लगने से नर्तकी की

जाँघ कट गई और नाच उठी। उसका जीव तो स्वर्ग लोक को गया, पर उसकी टाँग जमीन पर गिरी। नाच भंग हो गया और नर्तकी मारी गयी। यह देख कर मुसलमान हँस पड़े और तालियाँ बज उठीं। जिस गढ़ को दस लाख लोगों से सजाया था और करोड़ों तरह से सजाया था, वह भी जब बादशाह चाहेगा तो किसी प्रकार बच नहीं सकता।

[ ५३० ]

राजैं पँवरि अकास चलाई। परा बाँध चहुँ फेर अलाई॥
सेतबंध जस राघौ बाँधा। परा फेरु, भुइँ भारु न काँधा॥
हनिवँत होइ सब लाग गुहारा। आवहिं चहुँ दिसि केर पहारा॥
सेत फटिक सब लागै गढ़ा। बाँध उठाइ चहूँ गढ़ मढ़ा॥
खँड ऊपर खँड होहिं पटाऊ। चित्र अनेग, अनेग कटाऊ॥
सीढ़ी होति जाहिं बहु भाँती। जहाँ चढ़हि हस्तिन्ह कै पाँती॥
भा गरगज अस कहत न आवा। जनहुँ उठाइ गँगन कहँ लावा॥
राहु लाग जस चाँदहि, गढ़हि लाग तस बाँध।
सब दर लीलि ठाढ़ भा, रहा जाइ गढ़ काँध॥ ५३०॥

शब्दार्थ—चलाई-पाठान्तर-चढ़ई। अलाई-पाठान्तर-लगाई। गुहारा = बुलाया। सबदर लीलि ठाढ़ भा, रहा जाइ गढ़ काँध = पाठान्तर-सरब आगि अस बरि रहा, ठाँव जाइ को काँध।

अर्थ—राजा ने अपनी पौड़ी का आकाश तक ऊँची कर दी और उसके चारों ओर बाँध बनवा दिया। जैसे रामचन्द्र जी ने सेतुबन्ध बाँधा था उसी प्रकार का बाँध बनाया। उसके भार को पृथ्वी न सहन कर सकती थी। हनूमान् ने जैसे सभी वानरों को बुलाया तो सब चारों ओर के पहाड़ों को लाने लगे थे, उसी प्रकार यहाँ भी चारों ओर से पत्थर लाये गये। बन जाने पर संगमरमर जैसा दिखाई लगने लगा। यह बाँध उठवा कर चारों ओर से मढ़वा दिया। खंड के ऊपर खंड पटने लगे और उनके बीच में अनेक प्रकार के चित्र भी बनाए गये। अनेक प्रकार की सीढ़ियाँ थीं, जिन पर हाथियों की पंक्तियों के चित्र बने हुए थे। ऐसा बुर्ज बनवाया कि उसका वर्णन नहीं हो

सकता, मानो आकाश ही को उठा कर लाया गया है। जैसे चन्द्रमा को राहु छिपा लेता है उसी प्रकार बाँध ने किले को छिपा लिया। सभी दरवाजों को निकाल कर (छिपा कर) बाँध खड़ा हो गया, इस प्रकार गढ़ का सहारा बाँध बन गया।

[ ५३१ ]

राजसभा सब मतें बईठी। देखि न जाइ, मंदि भै डीठी ॥
उठा बाँध, तस सब गढ़ बाँधा। कीजै बेगि भार जस काँधा॥
उपजै आगि आगि जौं बोई। अब मत किएँ आन नहि होई ॥
भा तेवहार जो चाँचरि जोरी। खेलि फागु अब लाइअ होरी ॥
समदहु फागु मेलि सिर धूरी। कीन्ह जो साका चाहिअ पूरी ॥
चंदन अगर मलैगिरि काढ़ा। घर घर कीन्ह सरा रचि ठाढ़ा ॥
जौहर कहँ साजा रनिवासू। जेहि सत हिएँ कहाँ तेहि आँसू ॥
पुरुखन्ह खरग सँभारे, चंदन खेवरे देह।
मेहरिन्ह सेंदुर मेला, चहहिं भई जरि खेह ॥ ५३१ ॥

शब्दार्थ साका = कीर्ति। सरा = चिता। खेवरे = खौरि। मेहरिन्ह = पत्नियों ने।

अर्थ—सारी राज सभा सलाह के लिए इकट्ठी हुई। किसी को आगे की दृष्टि सूझती नहीं, सबकी मति मन्द हो गयी थी। बाँध उस प्रकार उठ गया कि सारा किला बंध गया। उन्होंने कहा कि अब तुरन्त वैसा करना चाहिए जैसा कि भार ले रखा है। जब अग्नि बोयेंगे तो अग्नि अवश्य उत्पन्न होगी, अब अनेक मत करने से बात और हो जायगी। पर्व आने पर चाँचरि जोड़ कर जो स्वाँग किया है तो अब होली जला कर फाग भी खेलना चाहिए— भाव यह कि जब अलाउद्दीन से युद्ध ठाना है तो अब जौहर के रूप में सबको भस्म भी होना पड़ेगा। अब आनन्द के साथ सिर में धूलि डाल कर मृत्यु का फाग खेलो। जो कीर्ति स्थापित की है, उसे पूरा भी करना चाहिए। चन्दन, अगर और मलयगिरि को निकलवाया और घर-घर में चिताएँ बनवाईं। जौहर के लिए रनिवास को तैयार किया, जिस स्त्री के हृदय में सतीत्व है उसे जौहर की तैयारी में आँसू कहाँ आ सकते हैं। पुरुषों ने तलवारें सम्भालीं,

चन्दन और रोली शरीर में मली । पत्नियों ने सिन्दूर लगाये और जल कर राख होने की अभिलाषा से युक्त हो गईं ।

[ ५३२ ]

आठ बरिस गढ़ छेंका अहा। धनि सुलतान कि राजा महा ॥
आइ साहि अँबराँउ जो लाए। फरे झरे पै गढ़ नहिं पाए ॥
हठि चूरौं तौ जौहर होई। पदुमिनि पाव हएँ मति सोई ॥
एहि बिधि ढीलि दीन्ह तब ताँई। ढीली की अरदासैं आई ॥
पछिउँ हरेव दीन्ह जौ पीठी। सो अब चढा सौहँ कै डीठी ॥
जिन्ह भुइँ माँथ गँगन तिन्ह लागा। थाने उठे, आउ सब भागा ॥
उहाँ साह चितउर गढ छावा। इहाँ देस सब होइ परावा ॥
जेहि जेहि पंथ न तिनु परत, बाढ़े बैरि बबूर ।
निसि अँधियारि बिहाइ तब, बेगि उठै जब सूर ॥ ५३२ ॥

शब्दार्थ—अँबराउ = अमराइयाँ, आम के पौधे । ढील = ढीलाई । ढीली = दिल्ली । अरदासै = अर्जियाँ । हरेव = हिरात देश के रहने वाले ।

अर्थ—आठ वर्ष तक किले का घेरा पड़ा रहा । कवि कहता है कि सुलतान को धन्य कहूं कि राजा को । शाह के आने पर जो आम के पौधे लगाये गये थे वे फले और झरे पर गढ़ पर कब्जा न हो सका । सुलतान ने सोचा कि यदि मैं हठ करके किले को नष्ट करूँगा तो स्त्रियाँ जौहर कर लेंगी और पद्मावती का पाना हृदय में ही रह जायगा । इस प्रकार उसने युद्ध में ढिलाई कर दी । इतने में दिल्ली से अनेक अर्जियाँ आईं कि हिरात देश के जिन बादशाहों ने पीछे हार मान ली थी, अब वे सामने दृष्टि कर चढ़ रहे हैं । जिनका मस्तक जमीन पर था, अब उनका मस्तक आसमान पर है । स्थान-स्थान पर जो शाह की चौकियाँ थीं, वे अब उठ कर भाग रही हैं । वहां शाह चित्तौड़ गढ़ पर छाया है, यहां देश में भगदड़ पड़ रही है । जिस-जिस रास्ते में तिनका भी न था, वहां अब बेर और बबूल बढ़ रहे हैं—अर्थात् जहां पूर्ण शान्ति थी, वहां शत्रु खड़े हो रहे हैं । यह अन्धेरी रात्रि तभी दूर होगी जब सूर्य उदय होगा—अर्थात् जब हे अलाउद्दीन ! तू आयेगा, तभी दिल्ली राज्य की अशान्तियां दूर होंगी ।

# ४४. राजा-बादशाह-मेल-खण्ड

[ ५३३ ]

सुना साहि अरदासि जो पढ़ी । चिंता आनि आन कछु चढ़ी ॥
तब अगुमन मन चिंते कोई । जो आपन चिंता कछु होई ॥
मन झूठा, जिउ हाथ हराएँ । चिंता एक भए दुइ ठाएँ ॥
गढ़ सौं अरुझि जाइ तब छूटा । होइ मेराउ, कि सो गढ़ टूटा ॥
पाहन कर रिपु पाहन हीरा । बेधौं रतन पान दै बीरा ॥
सरजा सेंती कहा यह भेऊ । पलटि जाहि अब मानै सेऊ ॥
कहु तोसौं न पदुमिनी लेऊँ । चूरा कीन्ह छाँड़ि गढ़ देऊँ ॥
आपन देस खाहि भा निस्चल, औरु चँदेरी लेहि ॥
समदन समुँद जो कीन्ह तोहि, ते पाँचौं नग देहि ॥ ५३३ ॥

शब्दार्थ—हराए-पाठान्तर-पराए । ठाएँ = जगह । सेंती = से । सेऊ = सेवा । चूरा = तोड़ा हुआ । खाहि = खाए । निस्चल = निश्चिन्त-पाठान्तर-सब । समदन = भेंट ।

अर्थ—जब शाह अलाउद्दीन ने अर्जियों को सुना तो उसे और चिन्ता चढ़ गयी । कवि कहता है कि आदमी आगे की चिन्ता तब करता है, जब उसे अपनी कोई चिन्ता नहीं होती । मन की इच्छाएँ झूठी हो जाती हैं, क्योंकि जीव तो हार जाता है । एक चिन्ता हुई कि चित्त दो जगह हो गया । सोचने लगा कि गढ़ से उलझ गया हूँ इससे छूट तभी हो सकती है, जब कि या तो गढ़ टूट जाय या राजा से मेल हो जाय । पत्थर का शत्रु तो हीरा पत्थर ही होता है—अर्थात् हीरा हीरे से ही कटता है, अतः रत्नसेन को पान का बीड़ा देकर रत्नसेन को फँसाऊँगा । उसने सरजा से यह भेद कहा और कहा कि तुम लौट कर रत्नसेन के पास जाओ और उसकी सेवा स्वीकार कर लो । उसे कह दो कि हम तुम से पद्मिनी नहीं माँगते, तोड़े हुए तुम्हारे गढ़ को भी हम छोड़ देंगे । तुम अपने देश में निश्चिन्त खाओ और चन्देरी को भी लो, समुद्र ने जो तुम्हें भेंट में पाँच रत्न दिये हैं, उन्हीं को मुझे दे दो ।

[ ५३४ ]

सरजा पलटि सिंघ चढ़ि गाजा। अग्याँ जाइ कही जहँ राजा॥
अबहूँ हिएँ समुझु रे राजा। पातसाहि सौं जूझ न छाजा॥
जाकरि धरी पिरिथिमी सोई। चहै त मारै औ जिउ देई॥
पींजर महँ तूँ कीन्ह परेवा। गढ़पति सो बाँचै कै सेवा॥
जब लगि जीभि अहै मुख तोरें। पँवरि उघेलु बिनौ कर जोरें॥
पुनि जौं जीभ पकरि जिउ लेई। को खोलै, को बोलै देई॥
आगें जस हमीर मत मंता। जौं तस करसि तोर भावंता॥
देखु कालिह गढ़ टूटिहि, राजा ओही कर होइ॥
करु सेवा सिर नाइ कै, घर न घालु बुधि खोइ॥ ५३४॥

शब्दार्थ—बिनौ = विनय। भावँता = इच्छा। कालिह = कल। घर न-घालु = घर को नष्ट न करो।

अर्थ – सरजा लौट कर सिंह पर चढ़ा और गर्जा, उसने जाकर अलाउद्दीन की आज्ञा राजा से कही। हे राजा! अब भी तू अपने हृदय में समझ ले, बादशाह से युद्ध करना तुम्हें शोभा नहीं देता। जिसने सारी पृथ्वी को पकड़ रक्खा है, वह चाहे तो मार दे और चाहे तो जान छोड़ दे। उसने तुझे पिंजड़े का पक्षी बना रक्खा है, हे गढ़पति! तू तो सेवा करके ही बच सकता है। जब तक तेरे मुख में जीभ है, तो पौड़ियों को खोलो और हाथ जोड़ कर बादशाह से विनती करो। फिर जब जीभ पकड़ कर तेरी जान ही ले लेगा, तब कौन तुझे बोलने देगा। जैसा पहले हम्मीरदेव ने किया, वैसा यदि तू करना चाहता है, तो तेरी इच्छा है। देखो कल ही किला टूट जायगा और तब उसी का राज्य होगा। इसलिए तुम सिर नवा कर उसकी सेवा करो, अपनी बुद्धि को खोकर अपने घर को न नष्ट करो।

[ ५३५ ]

सरजा जस हमीर मन थाका। और निबाहसि आपन साका॥
ओहि अस हौं सकबंधी नाहीं। हौं सो भोज बिक्रम उपराहीं॥
बरिस साठि लहि अन्न न खाँगा। पानि पहार चुवै बिनु माँगा॥

ह ऊपर जौं पै गढ़ टूटा । मन सकबंधी केर न टूटा ॥
रह लाख कुँवर हहिं मोरे । परहिं पतिंग जस दीपक अँजोरे ॥
हि दिन चाँचरि चाहौं जोरी । समदौं फागु लाइ कै होरी ।
ा है गिरिहिनि राखा जीऊ । सो कस आहि निपुंसिक पीऊ ।

अब हौं जौहर साजि कै, कीन्ह चहौं उजियार ।
फागु गएँ होरी बुझै, कोउ समेटहु छार ॥ ५२५ ॥

शब्दार्थ—थाका = निश्चय किया-पाठान्तर-अस ताका । सकबन्धी = कीर्ति बाँधने वाला । खाँगा = कम होना । गिरिहिनि = गृहिणी, पत्नी ।

अर्थ राजा ने उत्तर दिया कि हे सरजा ! जैसा हमीर ने मन में निश्चय किया, उसे उसने निर्वाह किया और अपना यश स्थापित कर गये। मैं उसके समान तो यशस्वी नहीं हूँ, पर भोज और विक्रम से बढ़ कर हूँ। मेरे किले में साठ वर्ष तक तो अन्न कम न होगा, पहाड़ से पानी बिना माँगे चूता रहता है, इस पर भी यदि हमारा किला टूट गया, तो भी मुझ जैसे यश की रक्षा करने वाले का सत नहीं टूट सकता। हमारे यहाँ सोलह लाख राज-कुमार हैं, वे दीपक के पतंगे की भान्ति बलिदान हो जायेंगे। उस दिन चाँचरि जोड़ना चाहता हूँ, प्रसन्नता से फाग के साथ मृत्यु की होली जलाना चाहता हूँ। जो व्यक्ति अपनी पत्नी को देकर अपनी जान बचाता है, वह पति नपुंसक है और पति होने के योग्य नहीं है। अब मैं जौहर साज कर उसमें चिता जला कर उजेला करना चाहता हूँ, फाग के हो जाने पर होली बुझ जायेगी, फिर जो चाहे उसकी राख समेट ले। भाव यह कि जौहर में पद्मावती जब भस्म हो जायगी, तब अलाउद्दीन चाहे तो उसकी राख ले ले।

[ ५२६ ]

अनु राजा सो जरै निआना । पातसाहि कै सेव न माना ॥
बहुतन्ह अस गढ़ कीन्ह सजौना । अंत भए लंका के रवना ॥
जेहि दिन ओइँ छेंकी गढ़ घाटी । भएउ अन्न तेहि दिन सब माँटी ॥
तूँ जानहि जल चुवै पहारू । सो रोवै मन सँवरि सँघारू ॥
सोतहि सोत अैस गढ़ रोवा । कस होइहि जौं होइहि ढोवा ॥
सँवरि पहार सो ढारै आँसू । पै तोहि सूझ न आपन नासू ॥

अर्थ—राजा हंस को सोने के पिंजड़े से ले आया। फिर अमृत, पारस पत्थर, सोनहा पक्षी जो पिंजरे में सोने के अड्डे पर बैठा था, शार्दूल जो रूपे के पिंजरे में था, ये सभी लाये गये। एक दूत दिया जो सरजा के साथ ये पाँचों रत्न ले आया और इस सरजा ने बादशाह से मिला दिया। राजा के दूत ने शाह से कहा कि हे संसार में सूर्य के समान काले कौए भी तुमसे विनती करते हैं। तेरा प्रभाव संसार में प्रकाशित है- नवों खण्ड भूमंडल तुमसे छिपा नहीं है। तेरे पास क्रोध और दया दोनों हैं, धूप से मार सकते हो और छाया देकर जिला भी सकते हो। जब सूर्य ( अलाउद्दीन ) चन्द्रमा ( रत्नसेन ) से रूठ गया तो उसके ऊपर ग्रहण लग गया और उसे इस प्रकार घेरे के भीतर बन्द कर दिया जैसे किसी को झाबे में बन्द कर दें।

प्रातः काल होते समय कौए चिल्ला उठते हैं, कवि कल्पना करता है कि वे इस लिए चिल्लाते हैं कि रात की तो सारी कालिमा छूट रही है, कौए ही इतने अभागे हैं कि इनकी कालिमा नहीं छूट पाती। भाव यह कि तू रत्नसेन पर दया कर सकता है पर चाहे तो दया कर दे पर दुखः है कि तू उस पर कृपा नहीं करता।

[ ५३६ ]

कै बिनती अग्याँ असि पाई। कागहु सैं आपुहि मसि लाई॥
पहिलें धनुक नवै जब लागे। काग न नए, देखि सर भागे॥
अबहूँ तेहिं सर सौहँ न होहीं। देखहिं धनुक चलहिं फिरि ओहीं॥
तिन्ह कागन्ह कै कौनु बसीठी। जो मुख फेरि चलहिं दै पीठी॥
जौं ओहि सर सौं होत संग्रामा। कत बग सेत होत ओइ स्यामा॥
करहिं न आपन उज्जर केसा। फिरि फिरि कहहिं पराव सँदेसा॥
काग नाग एइ दूनौ बाँक। अपने चलत स्याम भै आँके॥
अब कैसेहुँ मसि जाइ न मेंटी, भेजो स्याम ओइ अंक।
सहस बार जौं धोवहु, तबहुँ गयंदहि पंक॥ ५३६॥

शब्दार्थ—नए-पाठान्तर—टिकै। सर=शर, बाण। ओही--पाठान्तर त्योंहीं। बसीठी=दूत। अपने चलन=अपने सामर्थ्य भर। आँके=

# ४४. राजा-बदशाह-मेल-खण्ड

[ ५३३ ]

सुना साहि अरदासि जो पढ़ी। चिंता आनि आन कछु चढ़ी॥
तब अगुमन मन चिंतै कोई। जो आपन चिता कछु होई॥
मन झूठा, जिउ हाथ हराएँ। चिंता एक भए दुइ ठाएँ॥
गढ़ सौं अरुझि जाइ तब छूटा। होइ मेराउ, कि सो गढ़ टूटा॥
पाहन कर रिपु पाहन हीरा। बेधौं रतन पान दै बीरा॥
सरजा संती कहा यह भेऊ। पलटि जाहि अब मानै सेऊ॥
कहु तोसौं न पदुमिनी लेऊँ। चूरा कीन्ह छाँड़ि गढ़ देऊँ॥
आपन देस खाहि भा निस्चल, औरु चँदेरी लेहि॥
समदन समुँद जो कीन्ह तोहि, ते पाँचौं नग देहि॥ ५३३॥

शब्दार्थ—हराए-पाठान्तर-पराए। ठाएँ = जगह। संती = से। सेऊ= सेवा। चूरा = तोड़ा हुआ। खाहि = खाए। निस्चल = निश्चिन्त-पाठान्तर-सब। समदन = भेंट।

अर्थ—जब शाह अलाउद्दीन ने अर्जियों को सुना तो उसे और चिन्ता चढ़ गयी। कवि कहता है कि आदमी आगे की चिन्ता तब करता है, जब उसे अपनी कोई चिन्ता नहीं होती। मन की इच्छाएँ झूठी हो जाती हैं, क्योंकि जीव तो हार जाता है। एक चिन्ता हुई कि चित्त दो जगह हो गया। सोचने लगा कि गढ़ से उलझ गया हूँ इससे छूट तभी हो सकती है, जब कि या तो गढ़ टूट जाय या राजा से मेल हो जाय। पत्थर का शत्रु तो हीरा पत्थर ही होता है—अर्थात् हीरा हीरे से ही कटता है, अतः रत्नसेन को पान का बीड़ा देकर रत्नसेन को फँसाऊँगा। उसने सरजा से यह भेद कहा और कहा कि तुम लौट कर रत्नसेन के पास जाओ और उसकी सेवा स्वीकार कर लो। उसे कह दो कि हम तुम से पद्मिनी नहीं माँगते, तोड़े हुए तुम्हारे गढ़ को भी हम छोड़ देंगे। तुम अपने देश में निश्चिन्त खाओ और चन्देरी को भी लो, समुद्र ने जो तुम्हें भेंट में पाँच रत्न दिये हैं, उन्हीं को मुझे दे दो।

[ ५३४ ]

सरजा पलटि सिंघ चढ़ि गाजा। अग्याँ जाइ कही जहँ राजा॥
अबहूँ हिएँ समुझु रे राजा। पातसाहि सौं जूझ न छाजा॥
जाकरि धरी पिरिथिमी सोई। चहै त मारै औ जिउ देई॥
पींजर महँ तूँ कीन्ह परेवा। गढ़पति सो बाँचै कै सेवा॥
जब लगि जीभि अहै मुख तोरें। पँवरि उघेलु बिनौ कर जोरें॥
पुनि जौं जीभ पकरि जिउ लेई। को खोलै, को बोलै देई॥
आगें जस हमीर मत मंता। जौं तस करसि तोर भावंता॥
देखु काल्हि गढ़ टूटिहि, राजा ओही कर होइ॥
करु सेवा सिर नाइ कै, घर न घालु बुधि खोइ॥ ५३४॥

शब्दार्थ—बिनौ = विनय। भावँता = इच्छा। काल्हि = कल। घर न-घालु = घर को नष्ट न करो।

अर्थ – सरजा लौट कर सिंह पर चढ़ा और गर्जा, उसने जाकर अलाउद्दीन की आज्ञा राजा से कही। हे राजा! अब भी तू अपने हृदय में समझ ले, बादशाह से युद्ध करना तुम्हें शोभा नहीं देता। जिसने सारी पृथ्वी को पकड़ रक्खा है, वह चाहे तो मार दे और चाहे तो जान छोड़ दे। उसने तुझे पिंजड़े का पक्षी बना रक्खा है, हे गढ़पति! तू तो सेवा करके ही बच सकता है। जब तक तेरे मुख में जीभ है, तो पौड़ियों को खोलो और हाथ जोड़ कर बादशाह से विनती करो। फिर जब जीभ पकड़ कर तेरी जान ही ले लेगा, तब कौन तुझे बोलने देगा। जैसा पहले हम्मीरदेव ने किया, वैसा यदि तू करना चाहता है, तो तेरी इच्छा है। देखो कल ही किला टूट जायगा और तब उसी का राज्य होगा। इसलिए तुम सिर नवा कर उसकी सेवा करो, अपनी बुद्धि को खोकर अपने घर को न नष्ट करो।

[ ५३५ ]

सरजा जस हमीर मन थाका। और निबाहसि आपन साका॥
ओहि अस हौं सकबंधी नाहीं। हौं सो भोज बिक्रम उपराहीं॥
बरिस साठि लहि अन्न न खाँगा। पानि पहार चुवै बिनु माँगा॥

: ऊपर जौं पै गढ़ टूटा। मन सकबंधी केर न टूटा॥
रह लाख कुँवर हहिं मोरें। परहिं पतिंग जस दीपक ओरे॥
हि दिन चाँचरि चाहौं जोरी। समदौं फागु लाइ कै होरी॥
ा दै गिरिहिनि राखा जीऊ। सो कस आहि नपुंसिक पीऊ॥

अब हौं जौहर साजि कै, कीन्ह चहौं उजियार।
फागु गएँ होरी बुझै, कोउ समेटहु छार॥ ५२५॥

शब्दार्थ—थाका = निश्चय किया-पाठान्तर-अस ताका। सकबन्धी = ीति बाँधने वाला। खाँगा = कम होना। गिरिहिनि = गृहिणी, पत्नी।

अर्थ राजा ने उत्तर दिया कि हे सरजा! जैसा हमीर ने मन में निश्चय किया, उसे उसने निर्वाह किया और अपना यश स्थापित कर गया। मैं उसके समान तो यशस्वी नहीं हूँ, पर भोज और विक्रम से बढ़ कर हूँ। मेरे किले में साठ वर्ष तक तो अन्न कम न होगा, पहाड़ से पानी बिना माँगे चूता रहता है, इस पर भी यदि हमारा किला टूट गया, तो भी मुझ जैसे यश की रक्षा करने वाले का सत नहीं टूट सकता। हमारे यहाँ सोलह लाख राजकुमार हैं, वे दीपक के पतंगे की भान्ति बलिदान हो जायेंगे। उस दिन चाँचरि जोड़ना चाहता हूँ, प्रसन्नता से फाग के साथ मृत्यु की होली जलाना चाहता हूँ। जो व्यक्ति अपनी पत्नी को देकर अपनी जान बचाता है, वह पति नपुंसक है और पति होने के योग्य नहीं है। अब मैं जौहर साज कर उसमें चिता जला कर उजेला करना चाहता हूँ, फाग के हो जाने पर होली बुझ जायेगी, फिर जो चाहे उसकी राख समेट ले। भाव यह कि जौहर में पद्मावती जब भस्म हो जायगी, तब अलाउद्दीन चाहे तो उसकी राख ले ले।

[ ५२६ ]

अनु राजा सो जरै निआना। पातसाहि कै सेव न माना॥
बहुतन्ह अस गढ़ कीन्ह सजौना। अंत भए लंका के रवना॥
जेहि दिन ओइँ छेंकी गढ़ घाटी। भएउ अन्न तेहि दिन सब माँटी॥
तूँ जानहि जल चुवै पहारू। सो रोवै मन सँवरि सँघारू॥
सोतहि सोत अैस गढ़ रोवा। कस होइहि जौं होइहि ढोवा॥
सँवरि पहार सो ढारै आँसू। पै तोहि सूझ न आपन नासू॥

आजु कालिह चाहै गढ़ टूटा। अबहूँ मानु जौं चाहसि छूटा॥
हहिं जो पाँच नग तो सिउँ, लै पाँचौं करु भेंट।
मकु सो एक गुन मानै, सब औगुन धरि मेंट॥ ५३६॥

शब्दार्थ—अनु = फिर। निआना = निदाना-अन्त। सँवारू = संहार, नाश। ढोवा = लूट। सिउं = साथ, से। मकु = शायद।

अर्थ—सरजा ने उत्तर दिया कि हे राजा! यदि तू शाह की सेवा नहीं मानेगा तो अन्त में तू नष्ट हो जायगा। बहुत से राजाओं ने इसी प्रकार गढ़ को सजाया था, पर अन्त में उनका वही हाल हुआ, जो लंका के रावण का हुआ था। जिस दिन वह गढ़ की घाटियों को घेरेगा, उस दिन सारा खाना-पीना मिट्टी हो जायगा। तू समझता है कि पहाड़ जल गिराता है पर वह पहाड़ तो संहार का स्मरण कर रो रहा है। सोते-सोते से गढ़ रो रहा है कि जिस दिन लूट होगी, उस दिन क्या होगा? पहाड़ भी दुर्दिन की याद करके आँसू गिरा रहा है, पर तुझे अपना नाश भी नहीं दिखाई पड़ रहा है। आज-कल में ही किला टूटना चाहता है, अब भी मान जाओ, यदि छूटना चाहते हो। तेरे पास जो पाँच रत्न हैं, उनके साथ राजा से मिलो, शायद एक ही गुण पर मान जाय और सब अवगुणों को भुला दे।

[ ५३७ ]

अनु सरजा को मेंटै पारा। पातसाहि बड़ आहि हमारा॥
औगुन मेंटि सकै पुनि सोई। औरु जो कीन्ह चहै, सो होई॥
नग पाँचौं औ देउँ भँडारा। इसकंदर सौं बाँचै दारा॥
जौं यह बचन तौ माँथें मोरें। सेवा करौ ठाढ़ कर जोरें॥
पै बिनु सपत न अस मन माना। सपत क बोल बचा परवाना॥
नाइत माँझ भँवर हति गीवाँ। सरजैं कहा मंद यहु जीवाँ॥
खंभ जो गरुव लेहिं जग भारू। ताकर बोल न टरै पहारू॥
सरजैं सपत कीन्ह छर, बैनन्हि मीठै मीठ।
राजा कर मन माना, मानी तुरित बसीठि॥ ५३७॥

शब्दार्थ—पारा = सकता है। भंडारा = भोज। सपत = शपथ।

वचन । परवाना = प्रामाणिक । तुरित = तुरंत । बसीठ = सुलह का
।

र्थ – राजा ने कहा कि हे सरजा ! बादशाह बहुत बड़ा है, उसकी आज्ञा न मेंट सकना है । वह तो सभी अवगुणों को मेंट सकता है और जो र सकता है । मैं पाँचों रत्नों को दे दूंगा और प्रतिभोज दूंगा नकंदर ( अलाउद्दीन ) से द्वारा ( मैं ) बच जाऊं । यदि यह बात ई तो यह मुझे सिर माथे पर स्वीकृत होगी । हाथ जोड़ कर खड़े-खड़े ा करूंगा । पर बिना शपथ के मेरा मन नहीं मानता, शपथ की बात णक होती है । सरजा ने कहा कि जो व्यक्ति एक बार डाल कर बीच िन निकाल ले वह तो बहुत नीच जीव है । अलाउद्दीन तो संसार का । है, गम्भीरता के कारण उसने सारे संसार का भार उठाया है उसकी पहाड़ के समान हट नहीं सकती ।

सरजा ने छल से शपथ कर ली, मीठे-मीठे वचन कहे, इससे राजा का मान गया और उसने तुरन्त ही सुलह का संदेशा मान लिया ।

[ ५३८ ]

कनक पिंजर हुति आना । औ अंब्रित नग परस परवाना ॥
सोनहा सोने की डाँड़ी । सारदूर रूपे की काँड़ी ॥
ाठि दीन्ह सरजा लै आए । पातसाहि पहँ आनि मिलाए ॥
जग सूर पुहुमि उजियारे । बिनती करहिं काग मसि कारे ॥
परताप तोर जग तपा । नवौ खंड तोहिं न छपा ॥
ः छोह दूनौ तोहि पाहाँ । मारसि धूप, जिआवसि छाहाँ ॥
मन सुरुज चाँद सौं रूसा । गहन गरासा, परा मँजूसा ॥
भोर होइ जौं लागै, उठहिं रोर कै काग ।
मसि छूटै सब रैनि कै, कागा काँय अभाग ॥ ५३८ ॥

शब्दार्थ—हुति = से । आना = लाया । परस परवाना = पारस पत्थर । ड़ी = अड्डा । काँड़ी = पिंजरा । बसीठ=दूत । गहन गरासा = ग्रहण लग ा । मंजूसा = झाबा ।

अर्थ—राजा हंस को सोने के पिंजड़े से ले आया। फिर अमृत, पारस पत्थर, सोनहा पक्षी जो पिंजरे में सोने के अड्डे पर बैठा था, शार्दूल जो रूपे के पिंजरे में था, ये सभी लाये गये। एक दूत दिया जो सरजा के साथ ये पाँचों रत्न ले आया और इस सरजा ने बादशाह से मिला दिया। राजा के दूत ने शाह से कहा कि हे संसार में सूर्य के समान काले कौए भी तुमसे विनती करते हैं। तेरा प्रभाव संसार में प्रकाशित है- नवों खण्ड भूमंडल तुमसे छिपा नहीं है। तेरे पास क्रोध और दया दोनों हैं, धूप से मार सकते हो और छाया देकर जिला भी सकते हो। जब सूर्य ( अलाउद्दीन ) चन्द्रमा ( रत्नसेन ) से रूठ गया तो उसके ऊपर ग्रहण लग गया और उसे इस प्रकार घेरे के भीतर बन्द कर दिया जैसे किसी को झाबे में बन्द कर दें।

प्रात: काल होते समय कौए चिल्ला उठते हैं, कवि कल्पना करता है कि वे इस लिए चिल्लाते हैं कि रात की तो सारी कालिमा छूट रही है, कौए ही इतने अभागे हैं कि इनकी कालिमा नहीं छूट पाती। भाव यह कि तू रत्नसेन पर दया कर सकता है पर चाहे तो दया कर दे पर दुखः है कि तू उस पर कृपा नहीं करता।

[ ५३६ ]

कै बिनती अग्याँ असि पाई। कागहु सैं आपुहि मसि लाई ॥
पहिलें धनुक नवै जब लागे। काग न नए, देखि सर भागे ॥
अबहूँ तेहिं सर सौंहँ न होहीं। देखहिं धनुक चलहिं फिरि ओहीं ॥
तिन्ह कागन्ह कै कौनु बसीठी। जो मुख फेरि चलहिं दै पीठी ॥
जौं ओहि सर सौं होत संग्रामा। कत बग सेत होत ओइ स्यामा ॥
करहिं न आपन उज्जर केसा। फिरि फिरि कहहिं पराव सँदेसा ॥
काग नाग एइ दूनौ बाँके। अपने चलत स्याम भै आँके ॥
अब कैसेहुँ मसि जाइ न मेंटी, भेजो स्याम ओइ अंक।
सहस बार जौं धोवहु, तबहुँ गयंदहि पंक ॥ ५३६ ॥

शब्दार्थ —नए-पाठान्तर–टिकै। सर = शर, बाण। ओही--पाठान्तर त्योंहीं। बसीठी = दूत। अपने चलन = अपने सामर्थ्य भर। आँके =

ंग के। भैंजो श्याम श्रोइ श्रंक – पाठान्तर-भएहु साम तिन्ह श्रङ्ग।

अर्थ—इनके विनती करने के पश्चात् शाह अलाउद्दीन की आज्ञा इस प्रकार हुई कि तुमने तो कौओं से भी स्याही लेकर अपने लगा ली। पहले जब कोई धनुष उठाने लगता था कौआ पहले से ही बाण को देखते ही भाग निकलता था, अब भी उस बाण के सामने कौआ नहीं होता, धनुष के देखते ही वह लौट कर चल निकलता है। ऐसे कौओं का दूत होना किस काम का जो मुँह मोड़ कर पीठ देकर चल देते हैं। जो उस बाण से संग्राम करता तो वह बगले के समान श्वेत होता। काला भला क्यों होता? कौआ स्वयं अपने केशों को तो सफेद कर नहीं सकता, बार-बार दूसरों के सन्देश कहता फिरता है। कौआ और साँप दोनों टेढ़े हैं, अपने वश भर में अपने काले रंग को ही धारण किए रहते हैं। अब उनकी कालिमा नहीं मेटी जा सकती, हजार बार भी धोएँ फिर भी हाथी कीचड़ ही अपने शरीर पर लगाएगा।

नोट—यहाँ पर कौए में जयन्त की व्यंजना है—रामचन्द्र जी ने जयन्त (कौए) पर बाण छोड़ा था, वह छली था इसी लिए मारा गया था, पर वह भाग चला था और सारी दुनिया में भागता रहा। यहाँ कौए की कालिमा से छल का ही अर्थ है। अलाउद्दीन का तात्पर्य यह है कि छलों का स्वभाव कभी नहीं जाता।

[ ५४० ]

अब सेवाँ जौं आइ जोहारे। अबहूँ देखौं सेत कि कारे॥
कहहु जाइ जौं साँच, न डरना। जहवाँ सरन नाहिं तहँ मरना॥
काल्हि आव गढ़ ऊपर भानू। जौं रे धनुक, सौंहैं हिय बानू॥
बसिठन्ह पान मया के पाए। लीन्ह पान, राजा पहँ आए॥
जस हम भेंट कीन्ह गा काहू। सेवा महँ पिरीति औ छोहू॥
काल्हि साहि गढ़ देखै आवा। सेवा करहु जैस मन भावा॥
गुन सों चलै सो बोहित बोझा। जहँवाँ धनुक बान तहँ सोझा॥
भा आयसु राजा कर, बेगिहि करहु रसोइ।
तस सुसार रस मेरवहु, जेहिं रे प्रीति रस होइ॥ ५४०॥

शब्दार्थ—जहवाँ = जहाँ। धनुक = टेढ़ापन, छल। पान = विदाई सूचक पान। कोहू = क्रोध। गुन = गुण, रस्सी। सोझा = सीधा। सुसार-पाठान्तर सुरस। मेरवहु = मिलाओ।

अर्थ—अलाउद्दीन दूत से कहता गया कि अब जो वह आकर आधीनता स्वीकार करता है, तो अब भी मैं देखता हूँ कि वह सफेद है या काला, अर्थात् वह सच्चा है या छली। उससे जाकर तुम कहो कि यदि उसमें सचाई है, तो डरने की कोई बात नहीं—जहाँ आदमी शरण लेता है, वहाँ उसको मरण नहीं होता। कल किले पर सूर्य (मैं, अलाउद्दीन) आएगा, पर याद रखे कि यदि उसमें किसी प्रकार का छल (टेढ़ापन) होगा, तो छाती के सामने ही मेरा बाण चल जायगा। इसके बाद दूतों को विदाई के हेतु कृपा के पान दिये, उन लोगों ने पान लिया और राजा रत्नसेन के पास आ गये। इन लोगों ने राजा से कहा कि जैसे ही हमने शाह से भेंट की, उसका क्रोध दूर हो गया। सेवा में प्रीति और दया दोनों प्राप्त करने की शक्ति होती है। कल शाह गढ़ देखने आएगा, जैसी आपकी इच्छा हो, उसकी सेवा कर सकते हो। रस्सी से बोझ से भरी नाव भी खींची जाती है, इसी प्रकार गुण से कठिन काम भी पूरा किया जा सकता है। पर यदि छल है तो साथ ही उसका सीधा बाण भी है। इस बात को सुन कर राजा की आज्ञा हुई कि शीघ्र ही रसोई तैयार करायी जाय। ऐसा सरस रस उस भोजन में मिलाया जाय कि जिससे प्रीति का रस उसमें से उत्पन्न हो।

---

# ४५. बादशाह-भोज-खण्ड

[ ५४१ ]

: मेंढा बड़ औ छोटे। धरि धरि आने जहँ लगि मोटे ॥
रोझ लगुना बन बसे। चीतर गोन झाँख औ ससे ॥
बटई लवा न बाँचे। सारस कूँज पुछारि जो नाँचे ॥
परेवा पंडुक हेरी। खीहा गडुरू उसर बगेरी ॥
। चरज आइ बँदि परे। बन कुकुटी जल कुकुटी धरे ॥
। चकई कँव पिदारे। नकटा लेदी सोन सिलारे ॥
बड़े सब टोइ टाइ धरे। उबरे दुबरे खुरुक न चरे ॥

कंठ परी जब छूरी, रकत ढराहोइ आँसु।
कै आपन तन पोखा, भा सो परावा माँसु ॥ ५४१ ॥

शब्दार्थ—छागर = बकरा। मेंढा = भेड़ा। रोझ = नील गाय। लगुना= जङ्गली जानवर। चीतर = चित्र मृग। गोन, झाँख = हिरणों की किस्म। =खरगोश। बटई = बटेर। कूँज = क्रौंच पक्षी। पुछारि = मोर। बाँचे= । टोइ-टोइ = खोज-खोज कर। खुरुक = चिंता।

अर्थ—बकरे, भेड़े, छोटे और बड़े जहाँ जैसे मिले, पकड़ कर मँगवाए। हिरन, नीलगाय, लगुना, चित्र मृग, गौना, झाँख, खरगोश, तीतर, , लवा, सारस, क्रौंच, मोर, कबूतर, पंडुक, खाहा, कडुरू, उसर, कगेरी, ल, चरज, वन की मुर्गाबियाँ, जल की मुर्गाबियाँ, चकवा, चकई, कँव, रे, नकटा, लेदी, सोन, सिलार आदि सभी पशु-पक्षी पकड़वाए गए। मोटे पशु-पक्षी पकड़े गये, पर जो दुबले-पतले थे, उन्हें कोई चिन्ता थी, वे निश्चिन्त चर रहे थे। जब इन पकड़े हुए जीवों के कंठ पर छुरी ती तो खून के आँसू बह निकले, कवि कहता है कि पराए माँस से अपने रि के पालने से भला क्या लाभ ?

[ ५४२ ]

धरे मंछ पढ़िना औ रोहू। धीमर मारत करै न छोहू ॥
संध सुगंध धरे जल बाढ़े। टेंगनि मोइ टोइ सब काढ़े ॥
सिंगी मँगुरी बीनि सब धरे। नरिया भोथ बाँब बंगरे ॥
मारे चरक चाल्ह परहाँसी। जल तजि कहाँ जाइ जल बासी ॥
मन होइ मीन चरा मुख चारा। परा जाल दुख को निरुवारा ॥
माँटी खाइ मंछ नहिं बाँचे। बाँचहि का जो भोग सुख राँचे ॥
मारै कहँ सब अस कै पाले। को उबरा एहि सरवर घाले ॥
एहि दुख कंठ सारि कै अगुमन, रकत न राखा देह।
पंथ भुलाइ आई जल बाझे, झूठे जगत सनेह ॥ ५४२ ॥

शब्दार्थ—माछ = मछली-पढ़िना, रोहू, टेंगन, सिंगी, मंगुरी आदि मछलियाँ। धीमर = मछुआ। बाझे = फँसे।

अर्थ—जल में से अनेक प्रकार की मछलियाँ लायी गयीं, इनके पकड़ते हुए मछुओं को कोई दया नहीं आती। इन मछलियों में थी पाठीन, रोहू, सिधरी, सौरं, टेकाना, सींगी, मँगुरी, नरिया, भोथ, बाँब, बंगरे, चरका, चारह, परहाँसी आदि। ये मछलियाँ जल को छोड़ कर कहाँ जा सकती हैं। मन के वशीभूत हो कर मछलियों ने चारा खा लिया, जिससे जाल में पड़ गयीं और कठोर दुःख में पड़ गयीं। मिट्टी खाने वाली मछलियाँ जब नहीं बचतीं, तो वे लोग भला कैसे बचेंगे जो भोग-विलास में अनुरक्त हैं। मारने के लिए ही इस सरोवर रूपी संसार में सब को उस परमेश्वर ने पाल रक्खा है, इस तालाब में पड़ कर भला कौन बचा है ? इसी दुःख को समझ कर के पहले से ही मछलियों ने अपने शरीर में खून नहीं रखा था, पर रास्ता भूल कर जल में आकर फैल गईं, सचमुच संसार के सभी स्नेह झूठे हैं।

[ ५४३ ]

देखत गोहूँ कर हिय फाटा। आने तहाँ होब जहँ आटा ॥
तब पीसे जब पहिलेहिं धोए। कापर छाडि माँडि भल पोए ॥
करिल चढ़े तहँ पाकहिं पूरीं। मूँठिहि माँह रहहिं सौ चूरीं ॥
जानहुँ सेत पीत ऊजरी। लैनू चाहि अधिक कोंवरी ॥

। मेलत खिन जाहिं बिलाई । सहस सवाद पाव जो खाई ॥
ई पोइ घीय सों भेई । पाछें चहीं खाँड सों जेईं ॥
सोहारी करी निरु चुवा । छुवत बिलाहिं डरन्ह को छुवा ॥

कही न जाइ मिठाई, कहति मीठि मुठि बान ।
जेंवन नाहिं अघाइ कोइ, हिय बरु जाइ सिरान ॥४४३॥

शब्दार्थ—कापर = कपड़ा । लैनू = नवनीत, मक्खन । चाहि = से
ेक । कांवरी = कोमल । मेलत = डालते ही । लुचुई = मुलायम पूड़ी ।
ई = खाया । पूरि = पूड़ी । सोहारी = पूड़ी । सिरात = ठंडा होना ।

अर्थ—गेहूँ का हृदय पहले से ही इसलिए फटा होता है कि वह यह
ानता है कि आगे पिस कर मुझे आटा होना होगा । पहले उसे धोया जाता
फिर पिसवाया जाता है । आटा बनने के बाद कपड़े से छान कर मैदा
ाया गया और फिर उसे गूँथ कर उसकी पूरियाँ तैयार की गईं । कड़ाहे
े जिनमें पूरियाँ पकीं । ये पूरियाँ इतनी पतली और करारी थीं कि एक
ट्ठी में सौ चूर हो जाती थीं । रंग में सफेद, पीली और उज्ज्वल थीं और
क्खन से भी अधिक कोमल थीं । मुख में डालने पर क्षण भर में घुल
ाती थीं जो उन्हें खाता उसे हजार स्वाद मिलता था । घी से भीगी हुई
ुलायम पूड़ी पीछे शक्कर से खाई जा सकती थीं, उनमें से घी टपक रहा है
ूते ही चूर-चूर हो जातीं, इससे उन्हें छूने को सभी डरते थे । मिठाई के
िषय में तो कुछ कहा ही नहीं जा सकता, उनके नाम लेते ही मुख मीठा
हो जाता, खाने पर कोई तृप्त नहीं होता, बल्कि हृदय ठण्डा हो जाता है ।

[ ४४४ ]

सीझहिं चाउर बरनि न जाहीं । बरन बरन सब सुगँध बसाहीं ॥
रायभोग औ काजर रानी । झिनवा रौदा दाउद खानी ॥
कपुरकांत लैजुरि रितुसारी । मधुकर ढेला जीरा सारी ॥
घिरतकाँदौ औ कुँवर बेरासू । रामरासि आवै अति बासू ॥
कहिअ सो सोंधे लाँब बाँके । सगुनी बेगरी पढ़िनी पाके ॥
गड़हन जड़हन बड़हन मिला । औ संसार तिलक खँडचिला ॥

रायहंस औ हंसा भौंरी। रूपमाँजरि केतुकी बिंकौरी॥
सोरह सहस बरन अस, सुगँध बासना छूटि।
मधुकर पुहप सो परिहरे, आइ परे सब टूटि ॥५४४॥

शब्दार्थ—सीझहिं = पक रहे हैं। बसाहीं = महकते हैं।

अर्थ—चावल इतने प्रकार के पक रहे हैं कि उनका तो वर्णन हीं नहीं किया जा सकता। रंग-रंग की इनकी सुगन्धि आ रही है। इनमें से मुख्य चावलों के नाम इस प्रकार हैं—रायभोग, रानी काजल, झिनवा, रौंदा, दाउदखानी, कपूरकांत, लेजुरी, रितुसारी, मधुकर, ढेला, जीरासारी, घृतकांदौ, कुंवर बिलास, रामरासि, सगुनी, विगरी, पढिनी, गड़हन, जड़हन, बढ़हन, संसार तिलक, खंडचिला, राजहंस, हंसा, भौंरी, रूपमंजरी, केतकी और विकौरी। सभी लम्बे, सुन्दर और सुगन्धित थे। इस प्रकार सोलह किस्म के चावल थे, उनकी इतनी सुगन्धि पकने पर उड़ी कि भौंरे फूलों को छोड़ कर इन पर टूट पड़े।

[ ५४५ ]

निरमल माँसु अनूप पखारा। तिन्ह के अब बरनौ परकारा।
कटवाँ बटवाँ मिला सुबासू। सीझा अनबन भाँति गरासू॥
बहुते सोंधै विरित बघारा। औ तहँ कुकुहँ पीसि उतारा॥
सेंधा लोन परा सब हाँड़ी। काटे कंद मूर कै आँड़ी॥
सोवा सौंफ उतारी धना। तेहि ते अधिक आव बासना॥
पानि उतारा टाँकहिं टाँका। विरित परेह रहा तस पाका॥
औरु कीन्ह माँसन्ह के खंडा। लाग चुरै सो बड़ बड़ हंडा॥
छागर बहुत समूँचे, धरे सरागन्हि भूँजि।
जो अस जेंवन जंवै, उठै सिंघ अस गूँजि ॥५४५॥

शब्दार्थ—परकारा = प्रकार-भेद। कटवाँ = खंड-खंड, कटा हुआ। बटवाँ = सिल पर पिसा हुआ। अनबन = अनेक। गरासू = ग्रास-कौर। आँडी = गाँठ। परेह = शोरवा। छागर = बकरे। सरागन्हि = शलाकाओं पर। गूँजि = गर्ज।

अर्थ—निर्मल माँस अत्यन्त सुन्दरता से धोए गए। अब मैं उनकी

किस्मों का वर्णन करता हूं। कटे हुए अलग थे, पिसे हुए अलग थे, उनमें सुगन्धि मिली थी। अनेक प्रकार के मासों में पकाया हुआ तैयार था। बहुत सा तो सौंधे घी में बघारा गया था और साथ ही केसर कस्तूरी भी पिसी हुई थी। सब हाडियों में सेंधा नमक पड़ा था और उनमें कंदमूल की गाँठें भी काट कर डाली गयी थीं। साथ ही सोवा, सौंफ और धनिया भी डाल दिये गये थे, जिससे उनकी सुगन्ध और अधिक हो गयी थी। उनमें अच्छी तरह पानी देखभाल कर तब उतारा गया जिससे घी का शोरबा अच्छा पका हुआ रहे। मांसों के टुकड़े किये गये और बड़े-बड़े देगों में पकने लगे। बहुत से समूचे बकरे शलाकाओं पर रख कर भूने जाने लगे। जो इस प्रकार के भोजन को खाएगा वह सिंह के समान गर्ज उठेगा।

[ ५४६ ]

भूँजि समोसा घिय महँ काढ़े। लौंग मिरिचि तिन्ह महँ सब डाढ़े॥
औरु जो माँसु अनूप सो बाँटा। भै फर फूल आँब औ भाँटा॥
नारँग दारिवँ तुरुँज जँभीरा। औ हिंदुआना बालवाँ खीरा॥
कटहर बड़हर तेउ सँवारे। नरियर दाख खजूर छोहारे॥
औ जावँत खजेहजा होहीं। जो जेहि बरन सवाद सो ओहीं॥
सिरिका भेइ काढ़ि ते आने। कँवल जो कीन्ह रहहिं बिगसाने॥
कीन्ह मसौरा धनि सो रसोई। जो किछु सबहि माँसु हुते होई॥
बारी आइ पुकारै, लिहँ सबै फर फूँछ।
सब रस लीन्ह रसोई, अब मो कहँ को छूँछ॥ ५४६॥

शब्दार्थ—आँब = आम। भाँटा = बैंगन। हिन्दुवाना = तरबूज। बालवाँ = बालम नामक एक खीरा। जावँत = जितने। खजहजा = खाने के फल। भेइ = भिगो कर। मसौरा = माँस की बनी वस्तुएँ। बारी = माली।

अर्थ—समोसे घी में तले गये और उनमें लौंग, मिर्च आदि सब डाले गये और जो सुन्दर माँस पीस कर तैयार किया गया। उससे फल, फूल, आम और बैंगन, नारंगी, अनार, जंभीरी, नीबू, तरबूज, बालम खीरा, कटहल, बड़हल, नारियल, दाख, खजूर, छोहारा, तथा अन्य जितने प्रकार के खाने वाले फल हैं और जिन रंगों तथा स्वाद के हैं। उन्हीं-उन्हीं प्रकार के तैयार

कर दिए गये। सिरके में भिगो कर इस प्रकार रखे गये कि उनका असली रूप ज्यों का त्यों रहा। कमल जो बनाये गये वे भी अपने असली रूप में विकसित रहे। माँस की ऐसी रसोई तैयार की गई कि सभी प्रकार के फल मांस से ही प्रस्तुत किये गये। यह देख कर माली आकर कहने लगा कि जितने फल-फूल मेरे पास थे सब को रसोइयों ने ले लिया—हमें कौन पूछेगा ?

काटे मंछ मेलि दधि धोए। औ पखारि चहुं बार निचोए॥
करुए तेल कीन्ह बसिवारू। मेंथी कर तेहि दीन्ह धुँगारू॥
जुगुति जुगति सब मंछ बघारे। आँब चीरि तेहि माहँ उतारे॥
ऊपर तेहिं तहँ चटपट राखा। सो रस परस पाव जो चाखा॥
भाँति भाँति तिन्ह खँडरा तरे। अंडा तरि तरि बेहर धरे॥
घिउ टाटक महँ सोधि सेरावा। पँखि बघारि कीन्ह अरदावा॥
कुंकुहँ परा कपूर बसाई। लौंग मिरिचि तेहि ऊपर लाई॥
घिरित परेह रहा तस, हाथ पहुँच लहि बूड़।
बूढ़ खाइ तौ होइ नवजोबन, सो मेहरी लै ऊड़॥ ५४७॥

शब्दार्थ—बसिवारू = छौंक। खँडरा = कतले। टाटक = ताजा। सेरावा = ठण्डा किया। अरदावा = कुचला या भुरता। ऊड़ = विवाह करे।

अर्थ—मछलियों को काटा गया और दही में मिला कर धोया गया और फिर कई बार धो-धोकर निचोड़ा गया। सरसों के तेल में उन्हें छौंका गया और मेथी का बघार दिया गया। अनेक प्रकार से मछलियाँ बघारी गईं, आम चीर कर भी उनमें डाला गया और उनके ऊपर मिर्च आदि डाल कर उन्हें चटपटा बनाया गया, उसके रस को तो वही पायेगा जो इन्हें खाएगा। तरह-तरह के कतले भी काटे गए और अंडे तल-तल कर अलग रखे गए। ताजे घी को गर्म करके ठण्डा किया गया, मछलियों का भुरता बनाया गया, कस्तूरी और कपूर की सुगन्ध आ रही थी और उनके ऊपर से लौंग और मिर्च भी पड़ी थी। घी का शोरबा इतना था कि हाथ डालो तो पहुँचे तक भीग जाय। ऐसा मांस तैयार है कि यदि कोई बूढ़ा भी उसे खा ले तो उस पर ऐसी जवानी चढ़े कि सौ स्त्रियों से विवाह करे।

भाँति भाँति सीझी तरकारी। कइउ भाँति कुम्हड़ा कै फारी॥

भूँजी लौआ परवती । रैता कहँ काटे कै रती ॥
क लाइ कै रींधे भाँटा । अरुई कहँ भल अरिहन बाँटा ॥
ई चिचिंडा डिंडसी तरे । जीर भुँगारि कलै सब धरे ॥
वर कुँदुरू भूँजे ठाढ़े । बहुतै घियँ चुरचुर कै काढ़े ॥
ई काढ़ि करैला काटे । आदी मेलि तरे किए खाटे ॥
ये ठाढ़ सेंब के फारा । छौंकि साग पुनि सोंधि उतारा ॥
सीझी सब तरकारी, भा जेंवन सब ऊँच ।
दहुँ जेंवत का रुचै, केहि पर दिस्टि पहूँच ॥ ५४८ ॥

शब्दार्थ—लौआ = लौकी । रैता = रायता । चुक = खटाई । रींधे = काया । अरिहन = आलन । डिंडसी = टिंडा । चुरचुर = करारा ।

अर्थ—अनेक प्रकार की तरकारियाँ भी तैयार की गईं । कई प्रकार के लो ताफल के टुकड़े थे । पहाड़ी लौकी की भूँजी बनाई गई और रायता के ए वे महीन-महीन काटे गये । खटाई डाल कर बैंगन पकाया गया । अरवी चने की दाल का आलन डाला गया, तोरी, चिचिंडा और टिंडे तले गये, रे की बघार देकर सब तल कर रक्खे गये । परवल, कुंदुरू समुचे ही भूने ये, बहुत घी डाल कर उन्हें करारा बनाया गया । करेला की कड़वाहट काल कर उसे काटा गया, अदरक मिला कर उसे खट्टा किया गया । सेम ी फलियों को समूची ही पकाया, फिर सागों को छौंक करके सुवासित केया । सभी तरकारियाँ तैयार हुईं, खाना बहुत सुन्दर बना, पर पता नहीं ादशाह को कौन सी वस्तु रुचे, किस वस्तु पर उसकी दृष्टि पड़े ।

घेरित कराहन्हि बेहर धरा । भाँति भाँति सब पाकहिं बरा ॥
एकहि आदि मिरिच सिउँ पीठे । औरु जो दूध खाँड सो मीठे ॥
नई मुँगौछी मिरिचैं परीं । कीन्ह मुंगौरा औ गुरबरीं ॥
मई मेंथौरी सिरिका परा । सोंठि लाइ कै खिरिसा धरा ॥
नीठ महिउ औ जीरा लावा । भीजि बरी जनु लैनू खावा ॥
खँडुई कीन्ह अँबचुर तेहिं परा । लौंग लाइची सिउँ खंडि धरा ॥
कढ़ी सँवारी औ डुभुकौरी । औ खँडवानी लाइ बरौरी ॥
पान लाइ कै रिकवछ छौंके, हींगु मिरिच औ आद ।

एक कठहँडी जेंवत, सत्तरि सहस सवाद ॥ ५४९ ॥

शब्दार्थ—पीठे = पीसे गये । मुंगौछी = मूंग का पकवान । गुरबरी = मीठी बड़ी । मेंथौरी = मेथी की बड़ी । खिरिसा = एक मिठाई । रिंकबछ=पतौड़े ।

अर्थ—कड़ाहों में घी अलग ही भर कर रखा गया । उनमें तरह-तरह के बड़े पकाये गये । एक तो अदरक, मिर्च और पिट्ठी से और दूसरे दूध और शक्कर डाल कर मीठे तैयार हुए । मिर्च पड़ी हुई मूँग की मिठाई और मूँग-बड़ा, गुड़बड़ी, सिरका पड़ा हुआ मेंथौरी, सोंठ डाला हुआ खिरिसा बने । मीठा मट्टा, जीरा पड़ा हुआ था—बड़े भीग कर इतने मुलायम हो गये थे जैसे मक्खन खा लिया । टुकड़े-टुकड़े किये गये, उन पर अमचूर, लौंग, इलाइची आदि बुरके गये । सुन्दर बड़ी और डुभकौरी, खंडवानी, बरौरी आदि बनी थीं । अरुई के पत्ते लाकर बड़े बनाये गये, उसमें हींग, मिर्च और अदरक डाले गये । उसका एक टुकड़ा भी यदि कोई खाले तो सत्तर स्वाद पा जाय ।

तहरी पाकि लोनि औ गरी । परी चिरौंजी औ खुरुहुरी ॥
घिरित भूँजि कै पाका पेठा । औ भा अंब्रित गुरँब मरेठा ॥
चुंबक लोहड़ा औटा खोवा । भा हलुवा घिउ करै निचोवा ॥
सिखरन सोंधि छनाई गाढ़ी । जामा दूध दहिउ सिउँ साढ़ी ॥
और दहिउ के मोरँड बाँधे । औ संधान बहुत तिन्ह साँधे ॥
भै जो मिठाई कही न जाई । मुख मेलत खिनु जाइ बिलाई ॥
मोंतिलडु छाल और मुरकुरी । माँठ पेराक बुँद ढुरहुरी ॥
फेनी पापर भूँजे, भए अनेग परकार ।
भै जाउरि पछियाउरि, सीझा सब जेंवनार ॥ ५५० ॥

शब्दार्थ—तहरी = बड़ी, हरी मटर और चावल की खिचड़ी । खुरुहुरी= छुहारा । गुरँव=शीरे में रखे हुए आम । लोहड़ा = लोहे का तसला । मोरँड = छेना । संधान = अचार । जाउरि = खीर ।

अर्थ—नमकीन खिचड़ी पकी जिसमें गरी, चिरोंजी, छुहारा डाले गए । घी में भून कर पेठे पकाये गये । शीरे में रखे हुए आम थे । चुंबक वाले लोहे के तसले में खोया तैयार हुआ । हलवा बना जिसमें से घी टपक रहा था । सुगन्धित और गाढ़ी सिखरन बनी, मलाई से युक्त दूध का दही था । फिर

ही से छेना तैयार किया गया, तरह-तरह के अचार बने। ऐसी मिठाई थी कि उसका वर्णन नहीं हो सकता, मुख में डालते ही गल जाती थी। मोती-चूर, छाल, मुरकुरी, मांठ, गुझिया, कुरहुरी, फेनी, पापड़, आदि अनेक प्रकार की वस्तुयें थीं और अन्त में खीर के साथ सारा भोजन तैयार हुआ।

जति परकार रसोईं बखानी। तब भइ जब पानी सौं सानी ॥
पानी मूल परेखौ कोई। पानी बिना सवाद न होई ॥
अंब्रित पानि न अंब्रित आना। पानी सों घट रहै पराना ॥
पानि दूध महँ पानी घीऊ। पानि घटें, घट रहै न जीऊ ॥
पानी माहँ समानी जोता। पानिहि उपजै मानिक मोती ॥
पानी सब महँ निरमनि करा। पानि जो छुवै होइ निरमरा ॥
सो पानी मन गरब न करई। सीस नाइ खाले कहँ ढरई ॥
मुहमद नीर गँभीर जो, सोनै मिलै समुँद।
भरे ते भारी होइ रहे, छूछे बाजहिं दुंद ॥ ५५१ ॥

शब्दार्थ—जति = जितनी। परेखौ = परीक्षा करो। खाले = नीचे। ढरई = ढुलकता है।

अर्थ—जितनी भांति की रसोई हो सकती है वह सभी तभी बनेगी जब उसमें पानी मिलाया जायेगा। कोई भी परीक्षा करे तो प्रतीत होगा कि पानी ही सबका मूल है, बिना पानी के भोजन में कोई स्वाद नहीं। अमृत तो पानी ही है और कुछ नहीं, पानी ही से शरीर में प्राण रहता है। दूध में भी पानी ही है और घी भी पानी ही है। पानी के घट जाने पर शरीर में जीव नहीं रह सकता। पानी में ही सारी ज्योति समाई है, पानी ही में माणिक्य और मोती उत्पन्न होता है। पानी की चमक ही सबसे निर्मल है, जो पानी को स्पर्श करता है, निर्मल हो जाता है। इस प्रकार का महत्वपूर्ण जल भी गर्व नहीं करता, अपना सिर नीचे करके सदा नीचे की ओर ही ढुलकता रहता है। जायसी कहते हैं कि समुद्र में जहाँ गहरा जल होता है वहीं पर मोती मिलता है। जो भरा होता वही बोझिल होकर नीचे रहता है, शान्त और गम्भीर रहता है पर जो खाली होता है वही ठक ठक की आवाजें करता है।

अलंकार—पर्यस्तापह्नुति—अंब्रित पानि न अंब्रित आना।

# ४६. चित्तौड़गढ़-वर्णन-खण्ड

[ ५५२ ]

सीझि रसोई भएउ बिहानू। गढ़ देखै गवनै सुलतानू॥
कवँल सहाइ सूर सँग लीन्हा। राघौ चेतनि आगें कीन्हा॥
तेतखन आइ बेवान पहूँचा। मन सों अधिक, गँगन सौं ऊँचा॥
उघरी पँवरि, चला सुलतानू। जानहुँ चला गँगन कहँ भानू॥
पँवरि सात, सातौ खँड बाँकी। सातौ गढ़ि काढ़ी दै टाँकी॥
जानु उरेह काटि सब काढ़ीं। चित्र मूरति जनु बिनवहिं ठाढ़ीं॥
आजु पँवरि मुख भा निरमरा। जौं सुलतान आइ पगु धरा॥
लख लख बैठ पँवरिया, जिन्ह सों नवहिं करोरि।
तिन्ह सब पँवरि उघारी, ठाढ भए कर जोरि॥ ५५२॥

शब्दार्थ—सीझि = तैयार हुई-पाठान्तर-जेवाँ साह = शाह ने भोजन किया। बिहानू = प्रातः। गवनै = चला। तेतखन = तत्क्षण, तुरंत। बेवान = विमान। पँविरि = द्वार। काढ़ी = चित्रकारी की हुई। उरेह = चित्रित किये गये।

अर्थ—जब तक भोजन तैयार हुआ प्रातःकाल हो गया। सुलतान अलाउद्दीन गढ़ देखने के लिए चल पड़ा। उसने अपनी सहायता के लिए अंग रक्षक लिये और राघवचेतन को आगे-आगे कर लिया। शीघ्र ही उसका विमान चित्तौड़-गढ़ में पहुँच गया। क्योंकि उसका विमान मन से भी अधिक तेज चलने वाला और आकाश से भी ऊपर उड़ने वाला था। ड्योढ़ी खुल गयी और सुल्तान ने प्रवेश किया मानो सूर्य आकाश की ओर बढ़ रहा है। उस गढ़ में सात ड्योढ़ियाँ थीं और सात बांके खंड थे और सातों खंडों में टाँकी से काट-काट कर चित्रकारी की हुई थी। पत्थर काट-काट कर ऐसे चित्र बनाये गये थे मानो साक्षात् सजीव मूर्तियाँ पौड़ियों पर खड़ी हुई विनय कर रही हैं। कवि कहता है कि आज ड्योढ़ी प्रकाशित हो गयी क्योंकि सुलतान ने यहाँ पर पदार्पण किया है। ड्योढ़ियों पर ऐसे-ऐसे दरबान बैठे हैं जिनके सामने करोड़ों वीर भी डर कर झुक जाते हैं, उन सब द्वारपालों ने

ड्योढ़ियों को खोल दिया और हाथ जोड़ कर खड़े रहे।

अलंकार—उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति।

[ ५५३ ]

सातहुँ पँवरिन्ह कनक केवारा। सातहुँ पर बाजहिं घरियारा॥
सातहुँ रंग सो सातहुँ पँवरी। तब तहँ चढ़ै फिरै सत भँवरी॥
खँड खँड साजी पालक पीढ़ी। जानहुँ इंद्र लोक का सीढ़ी॥
चंदन बिरिख सुहाई छाँहाँ। अंब्रित कुंड भरे तहि माहाँ॥
फरे खजेहजा दारिवँ दाखा। जो ओहि पंथ जाइ सो चाखा॥
सोने क छात सिंघासन साजा। पैठत पंवरि मिला लै राजा॥
चढ़ा साहि चितउर गढ़ देखा। सब संसार पाँव तर लेखा॥
साहि जबहि गढ़ देखा, कहा देखि कै साजु।
कहिअ राज फुर ताकर, सरग करै जो राजु॥ ५५३॥

शब्दार्थ केवारा = किवाड़ें। घरियारा = घंटे। पालक = पलंग। पीढ़ी = सिंहासन। खजेहजा = मधुर फल। फुर = सचमुच।

अर्थ—सातों ड्योढ़ियों में सोने के बने हुए किवाड़ें लगी थीं और उन पर घंटे बजा करते थे। सातों ड्योढ़ियाँ सात रंग की थीं, उस पर चढ़ने के लिए सात चक्कर करने पड़ते थे। प्रत्येक खंड पर पलंग और सिंहासन सजे थे मानो ये सीढ़ियाँ इन्द्रलोक की सीढ़ियाँ हैं। उन पर चन्दन वृक्ष की छाया शोभा पाती थी, उनके नीचे अमृत के कुंड भी शोभायमान थे। अनार और किशमिश जैसे मधुर मेवे भी फले थे जो कोई उस रास्ते से जाता वही उन्हें खा सकता था। अन्तिम पौढ़ी पर सोने का छत्र और सिंहासन शोभित था, उस ड्योढ़ी पर घुसते ही राजा आ मिला। चढ़ कर शाह अलाउद्दीन ने चित्तौड़ गढ़ को देखा और समझ लिया कि सारा संसार इसके पाँव के नीचे ही है। जब शाह ने सारे गढ़ को देखा और साज-बाज देखा तो कहा कि राजा तो सचमुच वही है जो इस प्रकार के स्वर्ग में राज्य करता है।

[ ५५४ ]

चढ़ि गढ़ ऊपर बसगति देखी। इंद्रपुरी सो जानु बिसेखी॥
ताल तलाव सरोवर भरे। औ अँबराउँ चहूँ दिसि फरे॥

कुँवा बावरी भाँतिन्ह भाँती। मढ़ मंडप तहँ भे चहुँ पाँती ॥
राय राँक घर घर सुख चाऊ। कनक मँदिल नग कीन्ह जराऊ ॥
निसि दिन बाजहिं मंदिर तूरा। रहस कोड सब लोग सेदूरा ॥
रतन पदारथ नग जो बखाने। खोरिन्ह महँ देखिअ छिरिआने ॥
मँदिल मँदिल फुलवारी बारी। बार बार तहँ चित्तरसारी ॥
पाँसा सारि कुँवर सब खेलहिं, स्रवनन्ह गीत ओनाहिं।
चैन चाउ तस देखा, जनु गढ़ छेंका नाहिं ॥ ५५४ ॥

शब्दार्थ—बसगति = रहन सहन-पाठान्तर-संगति। तूरा = तुरही। रहस = रास। सेदूरा = सिंदूर। खोरिन्ह = गलियों। छिरिआने = बिखरे हुए। बार बार = द्वार द्वार। सारि = ढाल कर। ओनाहिं = झूमते हैं।

अर्थ शाह अलाउद्दीन ने गढ़ के ऊपर चढ़ कर वहाँ का रहन-सहन देखा। ऐसा प्रतीत हुआ मानो इन्द्रपुरी से भी यह बढ़ कर है। वहाँ पर ताल, तालाब आदि भरे हुए थे और चारों ओर फले हुए आम की पंक्तियाँ थीं। भांति-भांति के कुएँ और चारों ओर गढ़ और मंडप पंक्तियों में बने थे। राजा और भिखारी सब के घर में सुख और आनन्द था। उनके सोने के महलों में नग जड़े हुए थे। महलों में रात-दिन शहनाइयाँ बजा करती थीं। सभी स्त्रियाँ सिंदूर आदि से अलंकृत होकर रास और क्रीड़ा के आमोद-प्रमोद में मग्न थीं। जितने भी रत्न, मोती आदि कहे गये हैं वे सब वहां की गलियों में बिखरे मिलते थे। महल-महल में फुलवाड़ियाँ और वाटिकायें थीं और द्वार-द्वार पर चित्रशालाएँ बनी थीं। सारे राजकुमार पाँसा डाल-डाल कर खेलते हैं और कान का आनन्द लेते हुए झूमते जाते हैं। शाह ने उस गढ़ को ऐसे चाव और आनन्द से देखा कि उसे भूल गया कि वह गढ़ का शत्रु-भाव से घेरा डालने आया है।

अलंकार—अतिशयोक्ति।

[ ५५५ ]

देखत साहि कीन्ह तहँ फेरा। जहाँ मँदिल पदुमावति केरा ॥
आस पास सरवर चहुँ पासाँ। माँझ मँदिल जनु लाग अकासाँ ॥
कनक सँवारि नगन्हि सब जरा। गँगन चाँद जनु नखतन्ह भरा ॥

ख़र चहुँ दिसि पुरइनि फूली। देखा बारि रहा मन भूली ॥
'वर लाख दुइ बार अगोरे। दुहुँ दिसि पँवरि ठाढ़ कर जोरे ॥
ारदूर दुहुँ दिसि गढ़ि काढ़े। गल गाजहिं जानहुँ रिसि बाढ़े ॥
ावँत कहिश्रै चित्र कटाऊ। तावँत पँवरिन्ह लाग जराऊ ॥

साहि मँदिल अस देखा, जनु कबिलास अनूप।
जाकर अस धौराहर, सो रानी केहि रूप ॥ ५५५ ॥

शब्दार्थ—सँवारि = सजा कर। जरा = जड़ा हुआ। अगोरे = रक्षा करते ़ुए। सारदूर = शार्दूल–शेर। गल गाजहिं = गरज रहे हैं।

अर्थ—गढ़ को देखते हुए शाह घूमता हुआ वहाँ आया जहाँ ।द्मावती का महल था। उसके चारों ओर तालाब थे और उन तालाबों ़े बीच ऐसा ऊँचा महल था मानो आकाश को छू रहा है। सोने में सजा-सजा ़र नग जड़े थे। मानो आकाश में तारे भरे हों। तालाब में चारों ओर कमल के पत्ते फूले हुए हैं, उस तालाब का पानी इतना निर्मल था कि उसे देख कर मन भूल जाता था। दो लाख राजकुमार उसके द्वार पर रक्षा करते थे। और डेवढ़ी के दोनों ओर हाथ जोड़े खड़े थे। दोनों ओर शेर गढ़कर दीवाल में इस प्रकार निकाला गया था मानों क्रुद्ध होकर गर्ज रहा है। जितने प्रकार भी दीवाल की कटाई की चित्रकारी हो सकती है सभी उस डेवढ़ी में बनी हुई थीं। शाह ने देखा कि यह महल तो अनुपम स्वर्ग सरीखा ही है तो फिर जिसका महल ही ऐसा सुन्दर है वह रानी भला किस प्रकार की होगी।

[ ५५६ ]

नाँघत पँवरि गए खँड साता। सोनें पुहुमि बिछावन राता ॥
आँगन साहि ठाढ़ भा आई। मँदिल छाँह अति सीतलि पाई ॥
चहूँ पास फुलवारी बारी। माँझ सिंघासन धरा सँवारी ॥
जनु बसँत फूला सब सोने। हँसहि फूल बिगसहिं फर लोने ॥
जहाँ सो ठाँउ दिस्टि महँ आवा। दरपन भा दरसन देखरावा ॥
तहाँ पाट राखा सुलतानी। बैठ साहि मन जहाँ सो रानी ॥
कँवल सुभाइ सूर सौं हँसा। सूर क मन सो चाँद पहँ बसा ॥

सो पै जान पेम रस, हिरदैं पेम अँकूर।
चंद जो बसै चकोर चित, नैनन्ह आव न सूर ॥ ५५६ ॥

शब्दार्थ—नाँघत = पार करके। पुहुमि = पृथ्वी। बिछावन = कालीन। राता = लाल। चहूँ पास = चारों ओर। बारी = वाटिका। फर = फल। लोने = सुन्दर। ठाउँ = जगह। अंकूर = अंकुर। सो पै = वह ही।

अर्थ—शाह अलाउद्दीन सातों डेवढ़ियों को पार करता हुआ चला गया, सारी पृथ्वी सोने की बनी थी और उसपर कालीन बिछा था। अन्त में शाह आँगन में आकर खड़ा होगया। महल की शीतल छाया उसे लगी। चारों ओर फुलवाड़ियाँ और वाटिकाएँ थीं। उन सब के बीचोबीच एक सिंहासन रखा हुआ था। ऐसा प्रतीत होता था कि वसन्त सुनहलापन लिये हुए खिल रहा है, फूल हँस रहे हैं। और सुन्दर-सुन्दर फल फले हैं। जितनी भी जगह दिखाई पड़ती थी दर्पण के समान निर्मल थी और उसमें मनुष्य की छाया दिखाई पड़ती थी। ऐसी जगह सुल्तान का सिंहासन रखा गया, शाह बैठ गया पर उसका मन तो वहाँ था जहाँ रानी पद्मावती थी। कमल रूपी राजा रत्नसेन स्वाभाविक रीति से अलाउद्दीन (सूर) से हँसने लगा पर सूर्य रूपी अलाउद्दीन का मन तो चन्द्रमा रूपी पद्मावती में लगा हुआ था। जायसी कहते हैं कि प्रेम के रस को तो वही जान सकता है जिसके हृदय में प्रेम का अंकुर है। जिस चकोर के चित्त में चन्द्रमा बसा है उसकी दृष्टि में सूर्य कभी नहीं आता।

अलंकार—अर्थान्तरन्यास।

[ ५५७ ]

रानी धौराहर उपराहीं। गरबन्ह दिस्टि न करहि तराहीं॥
सखीं सहेलीं साथ बईठी। तपै सूर ससि आव न डीठी॥
राजा सेव करै कर जोरें। आजु साहि घर आवा मोरें॥
नट नाटक पतुरिनि औ बाजा। आनि अखार सबै तहँ साजा॥
पेम क लुबुध बहिर औ अंधा। नाच कोड जानहुँ सब धंधा॥
जानहुँ काठ नचावै कोई। जो जियँ नाँच न परगट होई॥
परगट कह राजा सौं बाता। गुपुत पेम पदुमावति राता॥

गीत नाद अस धंधा, धिकै बिरह कै आँच ।
मन की डोरि लागि तेहि ठाँई, जहाँ सो गहि गुन खाँच ॥ ५५७ ॥

शब्दार्थ—गरबन्ह = गर्व से । तराहीं = नीचे । डीठी=दृष्टि । पतुरिनि = नर्तकियाँ । अखार = गाने-बजाने वालों का दल । पेमक = प्रेम का । धंधा = कार्य-व्यापार । धिकै = गर्म हो । गुन = डोरी । खाँच = खींचती है ।

अर्थ—रानी पद्मावती तो महल के ऊपर है, गर्व में भरी हुई वह नीचे दृष्टि नहीं करती । सखी सहेलियाँ साथ बैठी हैं । सूर्य रूपी अलाउद्दीन उसके विरह में तप रहा है । पर चन्द्रमा रूपी पद्मावती उसे दिखाई नहीं पड़ती । राजा रत्नसेन हाथ जोड़ कर शाह अलाउद्दीन की सेवा में प्रस्तुत है । वह कहता है कि आज शाह अलाउद्दीन मेरे घर पर आया है । उसने नट, नाटक करनेवालों और नर्तकियों को बुलवाया, सभी अपने साज-बाज के साथ उपस्थित हुए । पर प्रेम का लोभी तो बहरा और अन्धा होता है । वह नाच और स्वाँग आदि को संसार का कार्य-व्यापार मानता है—अर्थात् प्रेम में मस्त होने के कारण अलाउद्दीन को यह नाच रंग न रुचा । मानों कोई काठ नचा रहा है जिसमें नाचने वाला व्यक्ति नहीं दिखाई पड़ता, काठ नाचता दिखाई पड़ता है इसी प्रकार जो दिल प्रेम में नाच रहा है वह तो दिखाई नहीं पड़ता । प्रकट रूप में तो अलाउद्दीन राजा से बातें करता रहा पर गुप्त रीति से उसका मन पद्मावती में ही अनुरक्त था । उसके लिए गीत और बाजे आदि सांसारिक कार्य-व्यापार की भांति नीरस लगे, उसे तो विरह की आँच जला रही थी । उसके मन की डोर तो पद्मावती में ही लगी थी । जहाँ वह डोर खिंच रही थी वहीं उसका जी था ।

[ ५५८ ]

गोरा बादिल राजा पाहाँ । राउत दुवौ दुवौ जनु बाहाँ ॥
आइ स्रवन राजा के लागे । मूँसि न जाहि पुरुख जौं जागे ॥
बाचा परखि तुरुक हम बूझा । परगट मेरु, गुपुत दर सूझा ॥
तुम्ह न करहु तुरुकन्ह सौं मेरू । छर पै करहिं अंत के फेरू ॥
बैरी कठिन कुटिल जस काँटा । ओहि मकोइ रहि चूरिहि आँटा ॥
सतुरु कोटि जौं पाइअ गोटी । मीठे खाँड जेंवाइअ रोटी ॥

हम सो ओछ कै पावा छातू। मूल गए सँग रहै न पातू॥
इहौ किस्न बलि बार जस, कीन्ह चाह छर बाँध।
हम बिचार अस आवै, मेरहि दीज न काँध॥ ५५८॥

शब्दार्थ—राउत = सामंत। स्रवन = कान। मूँसि = लुट जाना। बाचा = बात। परखि = परीक्षा करके। मेरू = मेल। पै = ही। फेरू = चक्कर। आँटा = दाँव। चूरिहि = नष्ट करके। गोटी = दाँव। ओछ = नीच। छातू = छत्र। बलिबार = बलि के द्वार पर। मेरहि दीज = मिलाने दीजिए।

अर्थ—गोरा और बादल राजा के पास इस प्रकार के सामन्त थे मानो दोनों भुजाएं हों। ये लोग आकर राजा के कान में कहने लगे कि यदि पुरुष जाग जाय तो उसकी लूट नहीं हो सकती। हमने सुलतान की बातों की परीक्षा करके ठीक-ठीक समझ लिया है। प्रकट रूप से तो सुमेरु पर्वत है पर गुप्त रूप से उसमें सेना छिपी है। इसलिए आप मुसलमानों से सन्धि न कीजिए। ये अवश्य ही अन्त में छल करेंगे। शत्रु इस प्रकार कठिन है जैसे काँटा, मकोइ में छिपा रह कर यह दाँव लेता है। ( मकोइ के फल के नीचे ही काँटा छिपा होता है ) भाव यह कि छिप कर यह अवश्य दाँव लेंगे। शत्रु को आप करोड़ों प्रकार रखें और मीठा से मीठा भोजन दें पर जब वह अपना दाँव पायेगा, बदला लेगा। यह भी उसी प्रकार छल करना चाहता है जैसे विष्णु ने राजा बलि के द्वार पर किया था, इसलिए हमारे विचार में तो यही आता है कि इसको कंधा न मिलाने दीजिए, अर्थात् इससे सन्धि न कीजिए।

[ ५५९ ]

सुनि राजा हियँ बात न भाई। जहाँ मेरु तहँ अस नहिं भाई॥
मंदहि भल जो करै भलु सोई। अंतहु भला भले कर होई॥
सतुरु जौं बिख दै चहै मारा। दीजै लोन जानु बिख सारा॥
बिख दीन्हे बिखधर होइ खाई। लोन देखि होइ लोन बिलाई॥
मारें खरग खरग कर लेई। मारै लोन नाइ सिर देई॥
कौरवँ बिख जौं पंडवन्ह दीन्हा। अंतहुँ दाँउ पंडवन्ह लीन्हा॥
जो छर करै ओहि छर बाजा। जैसें सिंघ मँजूसा साजा॥

राजैं लोनु सुनावा, लाग दुहुँ जस लोन।
आए कोंहाइ मंदिल कहँ, सिंघ जानु औगौन ॥ ५५९ ॥

शब्दार्थ—भाई = अच्छी लगी। मंदहि = बुरे के साथ। लोन = नमक।
ाई = गल जायगा। छर = छल। बाजा = सिर पड़ेगा। गंजूसा = बक्स,
रा। कोंहाइ = नाराज होकर। औगौन = रस्सी के भीतर।

अर्थ—गोरा-बादल की बात राजा को अच्छी न लगी। उसने कहा कि
ाई, जहाँ मेल होता है वहाँ ऐसा नहीं होता। बुरे के साथ यदि भला
वहार किया जाय तो अन्त में भले का भला ही होगा। यदि शत्रु को
। देकर मारना चाहते हो तो उसे नमक को विष समझ कर दो। विष
पर तो शत्रु विषधर सर्प बन कर खाने दौड़ेगा पर नमक देखकर गल
यगा। तलवार मारने पर तो वह भी हाथ में तलवार लेकर खड़ा हो
यगा, पर नमक से मारने पर वह सिर नवा देगा। कौरवों ने पांडवों को
प दिया था इसलिए अन्त में पांडवों ने कौरवों से दाँव लिया ही। जो छल
ता है उसका छल उसी को मारता है जैसे ब्राह्मण और सिंह की कहानी
अन्त में सिंह ही कठघरे में रह गया। जब राजा ने नमक की बात सुनाई
उन दोनों गोरा-बादल को यह नमक सी तीखी बात लगी। ये दोनों
ाराज होकर अपने घर चले आये और जान लिया कि अब सिंह रूपी राजा
नसेन अलाउद्दीन की रस्सी में बँधना ही चाहता है।

[ ५६० ]

ाजा कें सोरह सै दासीं। तिन्ह महँ चुनि काढ़ीं चौरासीं ॥
ारन बरन सारीं पहिराईं। निकसि मँदिल हुतें सेवाँ आईं ॥
नु निसरीं सब बीर बहूटीं। रायमुनी पिंजर हुति छूटीं ॥
बै प्रथम जोबन सौं सोहीं। नैंन बान औ सारँग भौंहीं ॥
ारहिं धनुक फेरि सर ओहीं। पनघट घाट ढंग जित होहीं ॥
काम कटाख रहैं चित हरनी। एक एक तें आगरि बरनी ॥
जानहुँ इंद्र लोक तें काढ़ीं। पाँतिन्ह पाँति भईं सब ठाढ़ीं ॥
साहि पूँछ राघौ कहँ, सर तोखं नैनाहँ।
तैं जो पदुमिनी बरनी, कहु सो कवन इन्ह माहँ ॥ ५६० ॥

शब्दार्थ—बरन-बरन = रङ्ग-रङ्ग की। हुँते = से। सारङ्ग = धनुष। धनुक = धनुष। फेरि = घुमा कर। आगरि = बढ़ कर।

अर्थ—राजा के पास सोलह सौ दासियाँ थीं, उनमें से चुन कर चौरासी निकाली गईं। उन्हें रङ्ग-रङ्ग की साड़ियाँ पहनाई गईं, वे सब महल से निकल कर सेवा में उपस्थित हुईं। मानो वीर बहूटियाँ निकली हैं या पिंजरे से रायमुनियाँ छूटी हुई हैं। सभी जवानी की प्रथमावस्था में सुशोभित हैं, उनके नयन बाणों की भान्ति चलते हैं और भौंहें धनुषाकार हैं। भौंहें घुमा-घुमा कर वे नयन बाण चलाती थीं। पनघट घाट पर के जितने रङ्ग थे, सब दिखा रही थीं। कामोद्दीपक कटाक्ष चला-चला कर चित्त हर रही थीं, वे सब एक-एक से बढ़ कर सुन्दरी थीं। मानो वे इन्द्रलोक से निकाली गयी हैं, पंक्ति-पंक्ति में खड़ी थीं। शाह ने राघवचेतन से तिरछे नैनों के संकेत से पूछा कि तुमने जिस पद्मिनी नारी का वर्णन किया था, वह इन सब में से कौनसी है?

[ ५६१ ]

दीरघ आउ पुहुमिपति भारी। इन्ह महँ नाहिं पदुमिनी नारी॥
यह फुलवारि सो ओहि की दासी। कहँ वह केत भँवर सँग बासी॥
वह सो पदारथ, एइ सब मोंती। कहँ वह दीप पतँग जेहि जोती॥
ये सब तरईं सेव कराहीं। कहँ वह ससि देखत छपि जाहीं॥
जौ लहि सूर कि दिस्टि अकासू। तब लगि ससि न करै परगासू॥
सुनि कै साह दिस्टि तर नावा। हम पाहुन, एक मँदिल परावा॥
पाहुन ऊपर हेरै नाहीं। हना राहु अरजुन परिछाहीं॥
तपै बीज जस धरती, सूख बिरह कै घाय।
कब सुदिस्टि कै बरिसै, तन तरिवर होइ जाय॥ ५६१॥

शब्दार्थ—आउ = आयु। ओहि की = उसकी। केत = केतकी। बासी = रहने वाली। तर = नीचे। नावा = झुकाया। पाहुन = मेहमान। हेरै = देखें।

अर्थ—राघवचेतन ने आशीर्वाद दिया कि हे राजा तेरी आयु बड़ी हो, इन सब स्त्रियों में पद्मिनी नहीं है। यह फुलवाड़ी तो उसकी दासी हैं, वह भौंरे (रत्नसेन) के साथ रहने वाली केतकी यहाँ कहाँ है। वह रत्न है तो ये सब मोती हैं। वह दीपक कहाँ है, जिसकी ज्योति की ये सब पतिंगे

े सब तो सेवा करने वाली ताराएँ हैं, वह चन्द्रमा ( पद्मावती ) कहाँ जिसे देख कर ये सब छिप जाती हैं। जब तक सूर्य ( अलाउद्दीन ) की आकाश (महल) पर रहेगी, तब तक चन्द्रमा (पद्मावती) प्रकाशित गा। उसकी इस बात को सुन कर शाह ने अपनी दृष्टि नीची कर ली कहा कि हम तो दूसरे के महल में अतिथि हैं। मेहमान कभी ऊपर देखता। अर्जुन ने भी तो नीचे की ओर देख कर ही ऊपर की मछली वेधा था। जैसे पृथ्वी के भीतर पड़ा हुआ बीज सूखी धरती में जलता पड़ा ा है, उसी प्रकार विरह की चोट सहता हुआ अलाउद्दीन पड़ा रहा। वह आशा में रहा कि कब पद्मावती की सुदृष्टि की वर्षा हो और उसका शरीर ल्लित होकर एक हरा पेड़ हो जाय।

अलंकार—सांगरूपक।

[ ५६२ ]

य करहिं दासी चहुँ पासाँ। अछरीं जानु इंद्र कबिलासाँ॥
इ लोटा कोंपर लै आई। साहि सभा सब हाथ धोवाई॥
इ आगें पनवार बिछावहिं। कोइ जेंवन सब लै लै आवहिं॥
ई माँडि जाहिं धरि जोरी। कोई भात परोसहिं पूरी॥
ई लै लै आवहिं थारा। कोइ परसहिं बावन परकारा॥
हिरि जो चीर परोसै आवहिं। दोसरैं ओरु बरन देखरावहिं॥
रन बरन पहिरहिं हर फेरा। आव झुंड जस अछरिन्ह केरा॥
पुनि सँधान बहु आनहिं, परसहिं बूकहिं बूक।
करै सँवार गोसाईं, जहाँ परै किछु चूक॥ ५६२॥

शब्दार्थ—कोंपर-पाठान्तर-परात। पनवार = पत्तल। जेंवन = भोजन। माँडि = एक प्रकार की चपाती। बावन परकारा = बावन प्रकार के भोजन। फेरा = चक्कर, बार। बूक = मुट्ठी चंगुल। सँवार = स्मरण। गोसाईं = ईश्वर।

अर्थ—चारों ओर दासियाँ सेवा में तत्पर हैं, मानो इन्द्रपुरी की अप्सरायें हैं। कोई लोटा और परात ले कर आई और अलाउद्दीन की सभा के सभी आदमियों का हाथ धुला रही हैं। कोई सब के आगे पत्तल बिछा रही है। कोई रोटियों को जोड़ कर रख जाती है, कोई चावल परसती है, कोई पूड़ी

परसती है। कोई थाल ले आती है और कोई बावन प्रकार के भोजनों को थाल में से निकाल-निकाल कर रखती जाती हैं। वे साड़ियाँ बदल-बदल करके आती हैं, तो दूसरे प्रकार की दिखाई पड़ती हैं। हर चक्कर में वे नयी रंग की साड़ी पहनती हैं, मानो अप्सरियों का झुंड है। फिर अनेक प्रकार के अचार लाती हैं और चंगुलों से परसती हैं। जब परसने में कुछ भूल हो जाती है तो ईश्वर का नाम स्मरण करती हैं।

[ ५६३ ]

जानहुँ नखत रहहिं रवि सेवाँ। बिनु ससि सूरहि भाव न जेंवाँ।।
सब परकार फिरा हर फेरें। हेरा बहुत न पावा हेरें।।
परी असूझ सबै तरकारी। लोनी बिना लोन सब खारी।।
मंछ छुऔ आवहिं कर काँटे। जहाँ कँवल तहँ हाथ न आँटे।।
मन लागेउ तेहि कँवल की डंडी। भावै नहिं एकौ कठहंडी।।
सो जेंवन नहिं जाकर भूखा। तेइ बिनु लाग जानु सब रूखा।।
अनभावत चाखै बैरागा। पंच अंब्रित जानहुँ बिख लागा।।
बैठि सिंघासन गूँजै, सिंघ चरै नहिं घास।
जौं लहि मिरिग न पावै, भोजन गनै उपास।। ५६३ ।।

शब्दार्थ—जेंवाँ = भोजन। भाव न = अच्छा नहीं लगता। हेरा = खोजा। आँटे = पहुँचता। कठहंडी-पाठान्तर-कनडंडी = दासी। गूँजै = गरजता है। मिरिग = जानवर। उपास = उपवास

अर्थ—दासियाँ तारों की भाँति सूर्य ( अलाउद्दीन ) की सेवा में हैं। पर चन्द्रमा ( पद्मावती ) के बिना अलाउद्दीन को भोजन नहीं रुचता। हर बार सब प्रकार के भोजन लौट गये। अनेक बार उसने पद्मावती को खोजा, पर खोजने से पा न सका। उसे सभी प्रकार की तरकारियाँ अप्रिय हो गयीं, उस सुन्दरी के बिना नमक के समान सब खारी लगीं। जब वह मछली छूता तो उसके हाथ में काँटे ही लगते पर जहाँ कमल (पद्मावती) है, उसका हाथ ही नहीं पहुँचता। उसका मन तो उसी कमल की डंडी पर लगा हुआ है, उसको एक भी दासी अच्छी नहीं लगती। जिस चीज की भूख है यदि वही न मिले तो भोजन अच्छा नहीं लगता, उसके बिना सब कुछ नीरस लगता है।

ये सब तो सेवा करने वाली ताराएँ हैं, वह चन्द्रमा ( पद्मावती ) कहाँ जिसे देख कर ये सब छिप जाती हैं। जब तक सूर्य ( अलाउद्दीन ) की आकाश (महल) पर रहेगी, तब तक चन्द्रमा (पद्मावती) प्रकाशित गा। उसकी इस बात को सुन कर शाह ने अपनी दृष्टि नीची कर ली कहा कि हम तो दूसरे के महल में अतिथि हैं। मेहमान कभी ऊपर देखता। अर्जुन ने भी तो नीचे की ओर देख कर ही ऊपर की मछली बेधा था। जैसे पृथ्वी के भीतर पड़ा हुआ बीज सूखी धरती में जलता पड़ा है, उसी प्रकार विरह की चोट सहता हुआ अलाउद्दीन पड़ा रहा। वह आशा में रहा कि कब पद्मावती की सुदृष्टि की वर्षा हो और उसका शरीर लित होकर एक हरा पेड़ हो जाय।

अलंकार—सांगरूपक।

[ ५६२ ]

म करहिं दासी चहुँ पासाँ। अछरीं जानु इंद्र कबिलासाँ॥
इ लोटा कोंपर लै आईं। माहिं सभा सब हाथ धोवाईं॥
इ आगें पनवार बिछावहिं। कोइ जेंवन सब लै लै आवहिं॥
ई माँडि जाहिं धरि जोरी। कोई भात परोसहिं पूरी॥
ई लै लै आवहिं थारा। कोइ परसहिं बावन परकारा॥
हिरि जो चौर परोसे आवहिं। दोसरैं ओरु बरन देखरावहिं॥
रन बरन पहिरहिं हर फेरा। आव झुंड जस अछरिन्ह केरा॥
पुनि सँधान बहु आनहिं, परसहिं बूकहिं बूक।
करै सँवार गोसाईं, जहाँ परै किछु चूक॥ ५६२॥

शब्दार्थ—कोंपर-पाठान्तर-परात। पनवार = पत्तल। जेंवन = भोजन। माँडि = एक प्रकार की चपाती। बावन परकारा = बावन प्रकार के भोजन। फेरा = चक्कर, बार। बूक = मुट्ठी चंगुल। सँवार = स्मरण। गोसाईं = ईश्वर।

अर्थ—चारों ओर दासियाँ सेवा में तत्पर हैं, मानो इन्द्रपुरी की अप्सरायें हैं। कोई लोटा और परात ले कर आई और अलाउद्दीन की सभा के सभी आदमियों का हाथ धुला रही हैं। कोई सब के आगे पत्तल बिछा रही है। कोई रोटियों को जोड़ कर रख जाती है, कोई चावल परसती है, कोई पूड़ी

परसती है। कोई थाल ले आती है और कोई बावन प्रकार के भोजनों को थाल में से निकाल-निकाल कर रखती जाती हैं। वे साड़ियाँ बदल-बदल करके आती हैं, तो दूसरे प्रकार की दिखाई पड़ती हैं। हर चक्कर में वे नयी रंग की साड़ी पहनती हैं, मानो अप्सरियों का झुंड है। फिर अनेक प्रकार के अचार लाती हैं और चंगुलों से परसती हैं। जब परसने में कुछ भूल हो जाती है तो ईश्वर का नाम स्मरण करती हैं।

[ ५६३ ]

जानहुँ नखत रहहिं रबि सेवाँ। बिनु ससि सूरहि भाव न जेंवाँ॥
सब परकार फिरा हर फेरें। हेरा बहुत न पावा हेरें॥
परी असूझ सबै तरकारी। लोनी बिना लोन सब खारी॥
मंछ छुऐ आवहिं कर काँटे। जहाँ कँवल तहँ हाथ न आँटे॥
मन लागेउ तेहि कँवल की डंडी। भावै नहिं एकौ कठहंडी॥
सो जेंवन नहिं जाकर भूखा। तेइ बिनु लाग जानु सब रूखा॥
अनभावत चाखै बैरागा। पंच अंब्रित जानहुँ बिख लागा॥
बैठि सिंघासन गूँजै, सिंघ चरे नहिं घास।
जौं लहि मिरिग न पावै, भोजन गनै उपास॥ ५६३॥

शब्दार्थ—जेंवाँ = भोजन। भाव न = अच्छा नहीं लगता। हेरा = खोजा। आँटे = पहुँचता। कठहंडी-पाठान्तर-कनडंडी = दासी। गूँजै = गरजता है। मिरिग = जानवर। उपास = उपवास

अर्थ—दासियाँ तारों की भाँति सूर्य ( अलाउद्दीन ) की सेवा में हैं। पर चन्द्रमा ( पद्मावती ) के बिना अलाउद्दीन को भोजन नहीं रुचता। हर बार सब प्रकार के भोजन लौट गये। अनेक बार उसने पद्मावती को खोजा, पर खोजने से पा न सका। उसे सभी प्रकार की तरकारियाँ अप्रिय हो गयीं, उस सुन्दरी के बिना नमक के समान सब खारी लगीं। जब वह मछली छूता तो उसके हाथ में काँटे ही लगते पर जहाँ कमल (पद्मावती) है, उसका हाथ ही नहीं पहुँचता। उसका मन तो उसी कमल की डंडी पर लगा हुआ है, उसको एक भी दासी अच्छी नहीं लगती। जिस चीज की भूख है यदि वही न मिले तो भोजन अच्छा नहीं लगता, उसके बिना सब कुछ नीरस लगता है।

विरक्त होकर बिना मन के खा रहा था। पाँचों अमृत उसे विष के समान लग रहे थे। सिंह अपने आसन पर बैठा भूख के मारे गर्जा करता है पर घास कभी नहीं खाता, जब तक उसे हिरन आदि कोई जीव नहीं मिलता वह भोजन को उपवास समझता है। अलंकार—दृष्टान्त।

[ ५६४ ]

पानि लिहें दासीं चहुँ ओरा। अंब्रित बानी भरें कचोरा॥
पानी देहिं कपूर क बासा। पियै न पानी दरस पियासा॥
दरसन पानि देइ तौ जीयौं। बिनु रसना नैनन्ह सौं पीयौं॥
पीउ सेवाती बुंदहि अघा। कौनु काज जौं बरिसैं मघा॥
पुनि लोटा कोंपर लै आईं। कै निरास अब हाथ धोवाईं॥
हाथ जो धोवै बिरह करोरा। सँवरि सँवरि मन हाथ मरोरा॥
बिधि मिलाउ जासौं मन लागा। जोरि न तोरु पेम कर तागा॥
हाथ धोइ जस बैठेउ, ऊभि लीन्ह तस साँस।
सँवरा साईं गोसाईं, देहि निरासहि आस॥ ५६४॥

शब्दार्थ—कचोरा=कटोरा। अघा=अघाता है। मघा=एक नक्षत्र। कोंपर=परात। करोरा=खरोंच रहा है। मरोरा=मरोड़ता है, मलता है।

अर्थ—भोजन के उपरान्त दासियाँ पानी लेकर चारों ओर घूमने लगीं। अमृत के रंग का पानी कटोरों में भरा है। पानी ऐसा दे रही हैं जिनमें कपूर की सुगन्ध है। पर अलाउद्दीन तो दर्शन का प्यासा है अतः पानी नहीं पीता। कहता है दर्शन रूपी पानी दो तो पिऊँ और उस दर्शन रूपी पानी को बिना जीभ के आँखों से पी लूँगा। पपीहा तो स्वाति की एक बूँद को ही पीकर तृप्त हो जाता है, मघा यदि मूसलधार बरसे तो क्या? फिर दासियाँ लोटा और परात लेकर आईं और उसे निराश करके हाथ धुलाने लगीं। जब वह हाथ धोने लगा तो हाथ को मसल रहा है, मानो विरह को वह खरोंच रहा है। मन में पद्मावती का स्मरण करके वह हाथ को मरोड़ता जाता है। वह सोचता है कि हे ईश्वर उससे मिलाओ जिससे मेरा मन लगा है, एक बार जोड़कर फिर प्रेम के तागे को मत तोड़ो। हाथ धोकर बैठते ही उसने ऊँची साँस ली, उस ईश्वर का स्मरण किया जो निराशा की आशा है।

[ ५६५ ]

भै जेवनार फिरा खँडवानी। फिरा अरगजा कुंकुहँ बानी॥
नग अमोल सौं थारा भरे। राजैं सेवा आनि कै धरे॥
बिनती कीन्ह घालि गियँ पागा। ऐ जग सूर सीउ मोहि लागा॥
औगुन भरा काँप यह जीऊ। जहाँ भान तहँ रहै न सीऊ॥
चारिहुँ खंड भान अस तपा। जेहि की दिस्टि रैनि मसि छपा॥
कँवल भान देखे पै हँसा। औ भानहि चाहै परगसा॥
औ भानहि असि निरमरि करा। दरस जो पाव सोइ निरमरा॥
रतन स्यामि तहँ रैनि मसि, ऐ रबि तिमिर संघार।
करु सुदिस्टि औ किरिपा, देवस देहि उजियार॥ ५६५॥

शब्दार्थ - खँडवानी = शरबत। घालि = डाल कर। सीउ = शीत।

अर्थ—भोजन समाप्त हुआ, इसके बाद शरबत चला उसमें अरगजा, केसर और कस्तूरी आदि की सुगन्ध थी। अमूल्य रत्नों समेत थाल को राजा ने अलाउद्दीन की सेवा में प्रस्तुत किया। फिर गर्दन को झुका कर उसने विनय किया कि हे संसार के सूर्य मुझे तो शीत लग रहा है। मैं अवगुणों से भरा हूँ। इसलिए काँप रहा हूँ, जहाँ सूर्य होता है वहाँ शीत नहीं रह सकता। तू सारे विश्व में सूर्य की भाँति तप रहा है, जिसकी दृष्टि से रात की अँधियारी छिप जाती है। कमल सूर्य के दर्शन को पाकर ही प्रफुल्लित हो जाता है और चाहता है कि सूर्य प्रकाशित हो। भाव यह है कि मैं चाहता हूँ कि आपके सहारे मेरा भी प्रकाश हो। मैं रात के अँधेरे के समान रत्नसेन हूँ और तू अँधेरे को नष्ट करने वाला सूर्य है, अतः तू दृष्टि और कृपा कर जिससे मैं भी दिन में प्रकाशित हो सकूँ।

[ ५६६ ]

सुनि बिनती बिहँसा सुलतानू। सहसहुँ करा दिपै जस भानू॥
अनु राजा तूँ साँच जड़ावा। भै सुदिस्टि सो सीउ छड़ावा॥
भान की सेवा जाकर जीऊ। तेहि मसि कहाँ कहाँ तेहि सीऊ॥
खाहि देस आपन करु सेवा। औरु देउँ माँडौ तोहिं देवा॥
लीक ~~पखान~~ पुरुख कर बोला। ध्रुव सुमेरु तेहि उपरै डोला॥

रि पसाउ दीन्ह जग सूरू। लाभ देखाइ लीन्ह चह मूरू ॥
र हँसि बोलै, टेकै काँधा। प्रीति भुलाइ चहै छरि बाँधा ॥
माया बोलि बहुत कै, पान साहि हँसि दीन्ह।
पहिलें रतन हाथ कै, चहै पदारथ लीन्ह ॥ ५६६ ॥

शब्दार्थ — जड़ाता = ठंडक पा रहा है। माढ़ौ = मांडौगढ़। लीक पखान = थर की रेखा के समान प्रामाणिक। पसाउ = प्रसाद। मूरू = मूलधन। तन = रत्नसेन। पदारथ = पद्मावती।

अर्थ — राजा की विनती को सुन कर सुलतान हँस पड़ा, हजारों किरणों ; साथ जैसे सूर्य प्रकाशित होता है, उसी प्रकार वह प्रफुल्लित हो गया। उसने कहा कि सचमुच राजा तू ठंडक पा रहा है, अब मेरी सुदृष्टि तेरे ऊपर हो गई। अब तेरा शीत छूट गया। जिसका चित्त सूर्य की सेवा में है उसे कहाँ अँधेरा रह सकता है और कहाँ शीत रह सकता है? तू अपने देश का उपभोग कर और हमारी सेवा में रह और साथ में मैं तुम्हें मांडौगढ़ भी दे रहा हूँ। पत्थर की लीक के समान पुरुष की बात प्रामाणिक होती है, ध्रुव और सुमेरु उसके वचनों के सम्मुख चलायमान हैं। फिर उस जग सूर्य अलाउद्दीन ने राजा को प्रसाद दिया। कवि कहता है इस प्रकार लाभ दिखा कर वह मूलधन ही हड़प कर जाना चाहता है। हँस-हँस कर बोलता है और कंधे पर हाथ रखता है, प्रीति में भुला कर छल से बाँधना चाहता है। झूठी माया की बोलियों से बोल कर शाह ने राजा को हँस कर पान दिया। इस प्रकार पहले वह रत्नसेन रूपी रत्न को हाथ में करके फिर हीरा रूपी पद्मावती को लेना चाहता है।

अलंकार — रूपक।

[ ५६७ ]

मया सूर परसन भा राजा। साहि खेल सतरँज कर साजा ॥
राजा है जौ लहि सिर घामू। हम तुम्ह घरिक करहिं निसरामू ॥
दरपन साहिं पैत तहँ लावा। देखौं जबहिं झरोखें आवा ॥
खेलहिं दुवौ साहि औ राजा। साहि क रुख दरपन रह साजा ॥
पेम क लुबुध पयादें पाऊँ। चलै सौहँ ताकै कोनहाऊँ ॥

घारा दै फरजी बँदि लावा । जेहि मोहरा रुख चहै सो पावा ॥
राजा फील देइ सह माँगा । सह दै साहि फरजी दिग खाँगा ॥
फीलहि फील ढुकावा, भए दुवौ चौ दंत ।
राजा चहै बुरुद भा, साहि चहै सह मंत ॥ ५६७ ॥

शब्दार्थ—परसन भा = प्रसन्न हुआ । पाठान्तर-माया-मोह विबस भा राजा । घरिक = एक घड़ी । पैंत-पाठान्तर = भीति । फील = हाथी । सह = शह, मात । ढुकावा = गिराया । बुरुद = खेल की वह अवस्था जब किसी पक्ष के सब मोहरें मर जाती हैं और केवल बादशाह बच रहता है, यह आधी हार मानी जाती है । सहमंत = पूरी हार ।

अर्थ—अलाउद्दीन ( सूर ) की माया से राजा रत्नसेन प्रसन्न हो गया । शाह ने तब शतरंज का खेल का सामान तैयार किया और कहा कि हे राजा जब तक सिर पर सूर्य है हम तुम दोनों थोड़ा मनोविनोद करें । शाह ने अपने बगल में एक दर्पण लगा लिया ताकि जब पद्मावती झरोखे पर आये तो वह उसका दर्शन कर ले । फिर दोनों शाह और राजा खेलने लग गये । शाह का रुख सदा ही दर्पण पर रहा । प्रेम का लोभी शाह अपने पैदल की गोटों को चलता है—सामने गोट चलता है और दर्पण पर देखता है कि वह किस जगह पर है ? अपने घोड़े को देकर उसने राजा को फरजी बंद दिया । अर्थात् प्यादे से बादशाह को राह दे दी । इतने में राजा भी जो मोहरा चाहता था पा गया । उसने हाथी को बढ़ा कर शह माँगी । इधर शाह ने भी शह देकर फरजी की हानि कर ली । हाथी से हाथी मारा गया, दोनों बड़े प्रसन्न हुए । राजा तो बुर्द की स्थिति चाहता है जिसमें केवल बादशाह बचता है और विपक्षी के आधीन हार होती है और शाह पूरी हार देना चाहता है ।

[ ५६८ ]

सूर देखि ओइ तरईं दासीं । जहँ ससि तहाँ जाइ परगासीं ॥
सुना जो हम ढीली सुलतानू । देखा आजु तपै जस भानू ॥
ऊँच छत्र ताकर जग माँहाँ । जग जो छाँह सब ओहि की छाँहाँ ॥

...ठि सिंघासन गरबन्ह गूँजा। एक छत्र चारिहुँ खंड भूँजा॥
...हिं न निरखि जाइ ओहि पाहीं। सबै नवहिं कै दिस्टि नराहीं॥
...नि माँथें, ओहि रूप न दूजा। सब रूपवंत करहिं ओहि पूजा॥
...म अस कसा कसौटी आरसि। तहूँ देखु। कंचन कस पारस॥

पातसाहि ढीली कर, कत चितउर महँ आव।
देखि लेहि पदुमावति, हियँ न रहै पछिताव॥ ५६८॥

शब्दार्थ—परगासीं = प्रकाशित हुईं, प्रसन्नतापूर्वक कहा। तपै = प्रकाशित है। भूँजा = भोग करता है।

अर्थ—सूर्य (अलाउद्दीन) को देख कर तारा रूप दासियाँ प्रसन्नता पूर्वक वहाँ गईं, जहाँ चन्द्रमा (पद्मावती) थी और कहा कि हमने जो दिल्ली का सुलतान सुना है, उसे आज हमने देखा। वह सूर्य के समान तप रहा है। संसार में उसका राज्य छत्र सबसे ऊँचा है, संसार में जो छाया है वह सब उसी के छत्र की छाया है। अपने सिंहासन पर बैठ कर गर्व से गूँजता रहता है। वह एकछत्र राजा होकर सारे संसार का भोग करता है। उसके सामने देखा नहीं जाता। सभी उसके सामने नीची दृष्टि करके झुक जाते हैं। उसके मस्तक पर मणि है और उसके रूप के समान कोई दूसरा नहीं है, सभी रूप वाले उसकी पूजा करते हैं। हमने उसके रूप को दर्पण रूपी कसौटी पर कसा है। अर्थात् दर्पण में उसके रूप को देख कर परीक्षा की है तू भी देख कि यह पारस या सोना कैसा है? दिल्ली का बादशाह क्यों कर चित्तौड़ में आयेगा, हे पद्मावती देख लो जिससे फिर हृदय में पछतावा न रहे।

[ ५६६ ]

बिगसि जो कुमुद कहै ससि ठाँऊ। बिगसा कँवल सुनत रबि नाऊँ॥
भै निसि ससि धौराहर चढ़ी। सोरह करा जैसि बिधि गढ़ी॥
बिहँसि झरोखें आइ सरेखी। निरखि साहि दरपन महँ देखी॥
होतहि दरस परस भा लोना। धरती सरग भएउ सब सोना॥
रुख माँगत रुख तासौं भएऊ। भा सह मात, खेल मिटि गएऊ॥
राजा भेदु न जानै झाँपा। भै बिख नारि, पवन बिनु काँपा॥

राघौ कहा कि लाग सुपारी। लै पौढावहु सेज सँवारी॥
रैनि बिहानी भोर भा, उठा सूर तब जागि।
जौं देखै ससि नाहीं, रही करा चित लागि॥ ५६६॥

शब्दार्थ – सरेखी = चतुर। निरखि = देख कर। लोना = सुन्दर। परस= स्पर्श। सह = शाह। माँत = मतवाला, मूर्छित। झाँपा = छिपा हुआ। पौढ़ावहु = लेट ओ।

अर्थ—कुमुद रूपी दासियों ने जब प्रसन्न होकर पद्मावती ( शशि ) से कहा तो कमल रूपी पद्मावती का मुख सूर्य ( अलाउद्दीन ) का नाम सुन कर खिल उठा। जब रात होने लगी तो वह धौराहर के ऊपर चढ़ गई, वह सोलहों कला से युक्त थी जैसा कि ब्रह्मा ने उसे गढ़ा था। उस चतुरा ने झरोखे में विहंस कर शाह की ओर देख कर दर्पण में शाह को देखा। दर्शन के हं ते ही उसका सुन्दर स्पर्श प्रकृति से हुआ। उस स्पर्श से सारी पृथ्वी और आकाश स्वर्णाभा से भर गया। शाह तो उसका रुख चाहता ही था, उसने उसकी ओर देखा ही था कि मूर्छित हो गया और खेल खतम हो गया। राजा इस छिपे हुए भेद को न जान सका, वह नारी (पद्मावती) उसके लिए विष हो गयी, प्राण वायु के बिना वह काँपने लगा। राघवचेतन ने तो बहाना बनाया कि इसे सुपारी लग गई है, सेज सँवार कर इसे इस पर लेटाओ। रात बीती सबेरा हुआ, तब अलाउद्दीन जग कर उठा पर देखने पर उसे पद्मावती (शशि) नहीं दिखाई पड़ी, उसकी कला ही उसके चित्त में लगी रही।

[ ५७० ]

भोजन पेम सो जान जो जेंवा। भँवर न तजै बास रस केवा॥
दरस देखाइ जाइ ससि छपी। उठा भान जस जोगी तपी॥
राघौ चेतनि साहि पहँ गएऊ। सूरुज देख कँवल बिख भएऊ॥
छत्रपती मन कहाँ पहूँचा। छत्र तुम्हार गँगन पर ऊँचा॥
पाट तुम्हार देवतन्ह पीठी। सरग पतार रैनि दिन डीठी॥
छोह त पलुहै उकठा रूखा। कोह त महि सायर सब सूखा॥
सकल जगत तुम्ह नावै माथा। सब की जियनि तुम्हारे हाथा॥

दिन न नैन तुम्ह लावहु, रैनि बिहावहु जागि।
अब निचिंत अस सोए, काहे बिलँब असि लागि ॥ ५७० ॥

शब्दार्थ—भोजन पेम = प्रेम का भोजन। जो जेवा = जो खाता है। केवा = कमल। छोह = कृपा। पलुहै = पल्लवित होता है। उकठा = सूखा हुआ, सूखा पेड़। छोह = क्रोध। बिहावहु = व्यतीत करते हो।

अर्थ—प्रेम के भोजन को तो वही जानता है जो उसे खाता है। भौंरा कमल के रस और महँक को नहीं छोड़ता। दर्शन दिखा कर पद्मावती शशि छिप गयी और अलाउद्दीन (सूर्य) ऐसे उठा जैसे कोई जोगी तपस्वी हो। राघवचेतन शाह के पास गया। उसने देखा कि अलाउद्दीन (सूरज) पद्मावती (कमल) को देख कर विष का मारा हो गया है। उसने कहा कि हे शाहंशाह तुम्हारा मन कहाँ पहुँच गया है। तुम्हारा राज्य-छत्र तो आकाश पर ऊँचा चढ़ा है। तुम्हारा सिंहासन तो देवताओं की पीठ पर है, स्वर्ग पाताल, रात दिन सर्वत्र ही तेरी प्रभुता है। यदि तू कृपा कर दे तो सूखा हुआ पेड़ भी पल्लवित हो जाता है और यदि तू क्रोध करे तो पृथ्वी सागर सभी सूख जायें। सारा संसार तुम्हें माथा नवाता है, सबका जीना तुम्हारे ही हाथ है।

तुम तो दिन में आँखें लगाने नहीं देते थे और रात को जग कर व्यतीत करते थे पर आज तो तुम निश्चिन्त होकर सो गये और इतनी देर तक क्यों सोते रहे।

[ ५७१ ]

देखि एक कौतुक हौं रहा। अहा अँतरपट, पै नहिं अहा ॥
सरवर एक देख मैं सोई। अहा पानि, पै पानि न होई ॥
सरग आइ धरती महँ छावा। अहा धरति, पै धरति न आवा ॥
तेहि महँ है पुनि मंडप ऊँचा। करहि अहा, पै कर न पहूँचा ॥
तेहि मंदिल मूरति मैं देखी। बिनु तन, बिनु जिय जियै बिसेखी ॥
चाँद सँपूरन जन होइ तपी। पारस रूप दरस दै छपी ॥
अब जहँ छत्र दिसै जिउ तहाँ। भान अमावस पावै कहाँ ॥
बिगसा कँवल सरग निसि, जनहुँ लौकि गा बीजु।
यहौ राहु भा भानहिं, राघो मनहि पतीजु ॥ ५७१ ॥

शब्दार्थ—कौकुत=कौतुक। तरपट=अँपरदा। अहा=था। लौकिगा= चमक उठा। बीजु=बिजली। पतीजु=विश्वास करो।

अर्थ—अलाउद्दीन ने राघवचेतन से कहा कि मैं एक कौतुक देख रहा हूँ—पर्दा भी और पर्दा है भी नहीं, अर्थात् मैंने देखा तो उसका प्रतिबिम्ब पर वह वास्तविक रूप था—आध्यात्मिक अर्थ में ब्रह्म और जीव के बीच में माया रूपी पर्दा है पर वास्तव में दोनों अद्वैत हैं। मैंने एक सरोवर देखा उसमें पानी था पर वह पानी न था—मैंने पद्मावती का रूप तो देखा पर वास्तव में वह तो दर्पण में पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब मात्र था—ब्रह्म का प्रतिबिम्ब ही तो माया का रूप है पर वास्तव में वह माया मिथ्या है। स्वर्ग आकर धरती में छा गया, धरती पर आया तो पर सचमुच धरती पर नहीं आया—धौराहर पर की पद्मावती पृथ्वी पर दर्पण के द्वारा आ तो गई पर वास्तव में तो वह ऊपर ही थी—विश्व में उस विश्वात्मा का रूप तो है पर जगत् से परे। उसमें एक ऊँचा मंडप है जो हाथ में ही है पर हाथ वहाँ तक नहीं पहुँचता—उस दर्पण में सारा महल दिखाई पड़ता है—दर्पण हाथ में ही है पर दर्पण में पड़ने वाला प्रतिबिम्ब हाथ से बहुत दूर है—ब्रह्म जगत के अणु-अणु में विद्यमान है पर कोई उसे प्राप्त नहीं कर पाता। उस मंदिर में मैंने एक मूर्ति देखी जो बिना शरीर और बिना जीव के है फिर भी जीती है—दर्पण के महल में पद्मावती थी पर शरीर के होते हुए भी छाया मात्र थी। ब्रह्म का स्वरूप तो निराकार है पर उसका चिरंतन अस्तित्व निश्चित है।

सम्पूर्ण सोलह कलाओं का चन्द्रमा बन कर पद्मावती प्रकाशित हुई पारस के रूप का दर्शन देकर छिप गयी। अब जहाँ उसका छत्र है वहीं मेरा जी है पर अमावस्या के चाँद ( महल के भीतर वाली पद्मावती ) को सूर्य ( अलाउद्दीन, मैं ) कैसे पा सकता है ? कमल रूपी पद्मावती स्वर्ग रूपी धौराहर पर चमकी, चमकी जैसे बिजली चमकती है। यही सूर्य ( अलाउद्दीन ) के लिए राहु हो गया, हे राघव तू मेरा विश्वास कर।

अलंकार—अप्रस्तुत प्रशंसा, रूपक।

[ ५७२ ]

अति विचित्र देखेउँ सो ठाढ़ी। चित कै चित्र, लीन्ह जिय काढ़ी॥

की लंक कुँभस्थल जोरू । अंकुस नाग, महावत मोरू ॥
ऊपर भा कँवल बिगासू । फिरि अलि लीन्ह पुहुप रस बासू ॥
खंजन बिच बैठउ सुवा । दुइज क चाँद धनुक लै उवा ॥
रग देखाइ गवन फिरि किया । ससि भा नाग, सुरुज भा दिया ॥
ऊँचे देखत ओचका । दिस्टि पहुँचि, कर पहुँचि न सका ॥
ा बिहूनि दिस्टि कत भई । गहि न सकै, देखत वह गई ॥

राघौ आघौ होत जौं, कत आछत जियँ साध ।
ओहि बिनु आघ बाघ बर, सकै त लै अपराध ॥ ५७२ ॥

शब्दार्थ—कुंभस्थल जोरु = दो कुच । उवा = उदय हुआ । आघौं = प्त । आछत = रहती । साध = मनोवांछा दोहे का पाठान्तर ।

राघव हेरत जिउ गएउ, कित आछत जो असाध ।
यह तन राख पाँख कै, सकै न केहि अपराध ॥

अर्थ—मैंने वह खड़ी हुई अत्यन्त विचित्र सी देखी । हृदय में अपना त्र बैठा कर उसने मेरे जीव को निकाल लिया । उसकी कमर सिंह की मर की भाँति और उस पर दो कुच हैं । उस गज को गतिवाली का ंकुश नाग रूपिणी चोटी है और महावत मोर रूपी उसकी गर्दन है । सके ऊपर कमल रूपी मुख खिला है, फिर भौंरा रूपी तिल उस पुष्प गाल ) का रस ले रहा है । दो खंजन रूपी आँखों के बीच में तोता रूपी ाक है । दूज की चाँद जैसा मस्था जिस पर धनुष रूपी भौंहें हैं । मृग रूपी ाँखें दिखा कर फिर वह लौट गयी । वह चन्द्रमुखी नाग हुई और मैं (सूर) उसके सामने दीपक हो गया । अर्थात् जैसे साँप के सामने दीपक झिलमिला जाता है । ( ऐसी एक कहावत है ) उसी प्रकार उसे देख कर मैं चकाचौंध हो गया । एकाएक ऊँचे देखा, पर एक बार देखने के बाद भी प्रत्यक्ष दृष्टि न पहुँच सकी । भुजाओं से रहित दृष्टि क्यों हुई, क्योंकि वह पकड़ तो सकती नहीं केवल देख कर रह जाती है । हे राघवचेतन यदि तृप्ति होती तो जी में देखने की इच्छा क्यों रहती । इसके प्रति यदि तृप्ति नहीं तो इससे तो अच्छा शेर है, मुझे शेर के सामने रख देते, अब तो मेरी हत्या का अपराध यदि ले सकते हो तो लो ।

[ ५७३ ]

राघौ सुनत सीस भुइँ धरा। जुग जुग राज भान कै करा॥
आहि करा, औ रूप बिसेखी। निस्चै तुम्ह पदुमावति देखी॥
केहरि लंक कुँभस्थल हिया। गीवँ मंजूर, अलक रवि दिया॥
कँवल बदन औ बास समीरू। खंजन नैन नासिका कीरू॥
भौहँ धनुक, ससि दुइज लिलाटू। सब रानिन्ह ऊपर वह पाटू॥
सोई मिरिग देखाइ जो गएऊ। बेनी नाग, दिया चित भएऊ॥
दरपन महँ देखी परिछाँहीं। सो मूरति, जेहि तन जिय नाहीं॥
सबहि सिंगार बनी धनि, अब सोई मत कीज।
अलक जो लगुने अधर कें, सो गहि कै रस लीज॥ ५७३॥

शब्दार्थ—रबिदिया–पाठान्तर–वेधिया = अंकुश।

अर्थ—राघव चेतन ने इस बात के सुनते ही अपने मस्तक को भूमि पर रख दिया और कहा कि हे बादशाह! तुम्हारा राज्य सूर्य के तेज की भाँति जुग-जुग रहे। उसकी कला और विशेष रूप आपने देखा। निश्चय ही वह पद्मावती थी। उसी की कमर सिंह की कमर के समान है और हाथी के कुंभस्थल के समान छाती है, ग्रीवा मोर की भाँति और चोटी अंकुश की भाँति है। कमल के समान मुख और सुगन्धित बास है। खंजन के समान आँखें और तोते के समान नाक है। उसी की भौहें धनुष के समान और ललाट द्वितीया के चन्द्रमा की भाँति है। वही सभी रानियों में पटरानी है। उसी ने नैन मृग दिखाये हैं, उसी की वेणी रूपी नाग के सामने तेरा चित्त दीपक की भाँति झलमला उठा है। तुमने दर्पण में उसकी परछाहीं देखी है। वह तो प्रतिविम्ब था, उसमें जीव नहीं था-- भाव यह कि जब प्रतिविम्ब देख कर तेरी यह हालत हुई तो भला उसका प्रत्यक्ष रूप देख कर तेरा क्या हाल होगा?

वह पद्मावती सभी शृंगारों से युक्त है अतः अब वही मत करना चाहिए जो चोटियाँ अधरों पर लटक रही हैं उन्हें पकड़ कर अधरों का रस ले सको।

———

# ४७. रत्नसेन-बन्धन-खण्ड

[ ५७४ ]

न भा माँगा बेगि बेवानू । चला सूर सँवरा अस्थानू ॥
लन पंथ राखा जो पाऊ । कहाँ रहन थिर कहाँ बटाऊ ॥
थिक कहाँ कहाँ सुस्ताई । पंथ चलें पै पंथ सिराई ॥
र कीजै बर जहाँ न आँटा । लीजै फूल टारि कै काँटा ॥
हुत मया सुनि राजा फूला । चला साथ पहुँचावै भूला ॥
ाहि हेतु राजा सौं बाँधा । बातन्ह लाइ लीन्ह गहि काँधा ॥
घेउ मधु सानि दीन्ह रस सोई । जो मुख मीठ, पेट बिख होई ॥

अमिअ बचन औ माया, को न मुएउ रस भीजि ।
सतुरु मरै जौं अंब्रित, कत ता कहँ बिख दीज ॥ ५७४ ॥

शब्दार्थ—मत-पाठान्तर-मीत । सँवरा = स्मरण किया । बटाऊ = पथिक । सुस्ताई = आलस्य करेगा । सिराई = खतम होगा । छूर = छल । बर = बल । आँटा = पूरा हो । मया = दया-मोह ।

अर्थ— राय हुई शाह ने प्रस्थान के लिए विमान माँगा और अलाउद्दीन (सूर) अपने स्थान को स्मरण करके चल पड़ा। जिसने चलते हुए मार्ग पर पैर रख दिया वह पथिक होने के कारण स्थिर कैसे रह सकता है? राहगीर कहाँ-कहाँ आलस्य करेगा, उसका रास्ता तो चलने पर ही समाप्त होगा। जहाँ बल पूरा नहीं पड़ता वहाँ छल किया जाता है, काँटे को हटा कर फूल निकाला जाता है। शाह की बहुत दया को सुन कर राजा अत्यन्त प्रसन्न हुआ, भूल कर उसे पहुँचाने के लिए उसके साथ चला। शाह ने राजा से बड़ा प्रेम रखा, बातों में लगा कर उसके कन्धे पकड़ लिए। घी में मिलाकर शहद देने से मुख तो मीठा होता है पर वह विष हो जाता है। अमृत के समान मीठे वचन और माया के रस में भीग कर कौन नहीं

मरता, जब शत्रु अमृत के देने से मरे तो उसे विष क्यों दें।

अलंकार— लोकोक्ति।

इस पद के उपरान्त भी पं० रामचन्द्र शुक्ल सम्पादिक ग्रन्थावली में एक पद है जिसे डा० माताप्रसाद गुप्त क्षेपक मानते हैं। पद इस प्रकार है -

चाँद घरहिं जौ सूरुज आवा। होइ सो अलोप अमावस पावा॥
पूछहिं नखत मलीन सो मोती। सोरह कला न एकौ जोती॥
चाँद क गहन अगाह जनावा। राज भूलि गहि साह चलावा॥
पहिलौं पँवरि नाघि जौ आवा। ठाढ़ होहि राजहि पहिरावा॥
सौ तुषार, ते इस गज पावा। दुंदुभि औ चौघड़ा दियावा॥
दूजी पँवरि दीन्ह असवारा। तीजि पँवरि नग दीन्ह अपारा॥
चौथि पँवरि देइ दरब करोरी। पँचईं दुइ हीरा कै जोरी॥
छठईं पँवरि देइ माड़ौ, सतईं दीन्ह चँदेरि।
सात पँवरि नाँघत नृपहिं, लेइगा बाँधि गरेरि॥

भाव यह कि जब से पद्मावती (चंद्र) के घर अलाउद्दीन (सूर्य) आया, पद्मावती लुप्त हो गई जैसे अमावस में चन्द्रमा लुप्त हो जाता है। सखियाँ (नक्षत्र) पूछती हैं पर पद्मावती की मलिनता नहीं जाती। इस चन्द्र-ग्रहण की बात पहले ही (गोरा बादल के द्वारा) बता दी गई थी फिर भी भूल कर राजा शाह को पकड़े हुए आगे चला गया। अलाउद्दीन ने पहली पौड़ी पर राजा को खिलअत पहनाई, और सौ तुखारी घोड़े, तेइस हाथी, दुंदुभी और चौघड़ा बाजा दिया, दूसरी पर सवारी, तीसरी पर अनेक रत्न, चौथी पर करोड़ द्रव्य, पाँचवीं पर दो हीरे, छठवीं पर माड़ौ गढ़ और सातवीं पर चदेरी दिये पर सातवीं डेवढ़ी के पार करते ही उसने राजा को घेर लिया और बाँध लिया।

[ ५७९ ]

एहि जग बहुत नदी जल जूड़ा। कौन पार भा, को नहिं बूड़ा॥
को न अंध भा आँखि न देखा। को न भएउ डिठियार सरेखा॥
राजा कहँ बियाधि भै माया। तजि कबिलास परे भुइँ पाया॥
जेहि कारन गढ़ कीन्ह अगूठी। कत छाँड़ै जौं आवै मूँठी॥
सतुरुहि कोउ पाव जौं बाँधी। छाँड़ि आपु कहँ करै बियाधी॥

गंलि धरा जस माछू । जल हुति निकसि मरत मुख काछू ॥
नाग पेटारें मूँदा । बाँधा मिरिग पैग नहिं खूँदा ॥
राजा धरा आनि कै, औ पहिरावा लोह ।
ऐस लोह सो पहिरै, जो चेत स्यामि कहँ दोह ॥ ५७५ ॥

शब्दार्थ—डिठियार = देखने वाला । सयान = चतुर । अंगूठी = घेरा । से । काछू = कछुआ । मूँदा = बन्द किया । खूँदा = उछलना । सोचता है । स्यामि = स्वामी । दोह = द्रोह ।

अर्थ—इस संसार-सागर में बहुत सी नदियों का जल एकत्रित है, कौन पार हो गया और कभी डूबा नहीं—अर्थात् सभी कभी न कभी भूल ते हैं और धोखा खाते हैं । कौन सा आँख वाला और चतुर व्यक्ति न कभी अन्धा नहीं होजाता और उसे सत् असत् का विवेक नष्ट हो जाता । राजा को अलाउद्दीन की माया ही दुःख का कारण बनी । स्वर्ग के सहारे अपने गढ़ को छोड़ कर जमीन पर पैर रक्खा । मतलब से अलाउद्दीन ने गढ़ पर घेरा डाल रखा था उसे वह कब सकता है, जब वह उसकी मुट्ठी में ही आ गया । शत्रु को यदि कोई कभी पावे और छोड़ दे तो वह अपने को ही दुःख पहुँचाने वाला होगा । चारा डाल कर मछली पकड़ी जाती है, और जल से निकलने पर वा मर सकता है इसी प्रकार राजा का माया में पड़कर किले से बाहर कलना खतरनाक हुआ । मंत्र से सांप को तो पिटारे ही में बन्द कर दिया ता है, हिरन को इस प्रकार बाँध दिया जाता है कि वह एक कदम भी छल न सके-- इसी प्रकार अलाउद्दीन ने राजा को पकड़ लिया और उसे हे की बेड़ियाँ पहना दीं, उसको वे बेड़ियाँ पहनाई गईं जो उस व्यक्ति पहनाई जाती हैं जो स्वामी के द्रोह को सोचता है ।

[ ५७६ ]

यन्ह गाढ़ी बेरी परी । साँकरि गींव, हाथ हथकरी ॥
औ धरि बाँधि मँजूसा मेला । अस सतुरुहु जनि होइ दुहेला ॥
सुनि चितउर महँ परा भगाना । देस देस चारिहु खँड जाना ॥

आजु नराएन फिर जग खूँदा। आजु सिंघ मंजूसा मूँदा ॥
आजु खसे रावन दस माँथा। आजु कान्ह कारी फन नाथा ॥
आजु परान कंससेनि ढीला। आजु मीन संखासुर लीला ॥
आजु परे पंडौ बँदि माहाँ। आजु दुसासन उपरी बाहाँ ॥
आजु धरा बलि राजा, मेला बाँधि पतार।
आजु सूर दिन अँथवा, भा चितउर अँधियार ॥ ५७६ ॥

शब्दार्थ—गाढ़ी = कठिन। गींव = गला। मंजूसा = कठघड़ा। दुहेली = दुःखी। खूँदा = कूदा।

अर्थ—राजा के पैरों में बेड़ी पड़ गई, गले में साँकल और हाथ में हथकड़ी पड़ी और उसे बाँधकर कठघरे में बंद कर दिया, इस प्रकार तो शत्रु भी दुःख में न पड़े। यह सुनकर चित्तौड़ में लोग भाग पड़े और सारे देश और चारों ओर गये। लोगों ने शोर किया कि आज तो फिर भगवान् संसार के बन्धन में कूद गये हैं। आज रावण के दश मस्तक नीचे गिर गये, आज कृष्ण ने कालिय नाग को नाथ लिया है। आज तो कंस के प्राण ढीले हो गये हैं, आज मत्स्यावतार ने शंखासुर को निगल लिया है। आज पांडव लोग बन्दी हो गये, आज दुःशासन की भुजा उखाड़ी गई। आज राजा बलि पकड़ा गया और उसे पाताल में बाँधकर डाल दिया, आज दिन का सूर्य अस्त हो गया और चित्तौड़ में अंधेरा हो गया।

नोट—जायसी की यह प्रकृति है कि अप्रासंगिक घटनाओं को केवल अलंकार के रूप में प्रयोग करते हैं, इन उदाहरणों में प्रस्तुत के साथ अप्रस्तुत के औचित्य को नहीं देखा जा सकता। राजा का बंधन हुआ—अतः बंधन शब्द पर उनकी कल्पना का घोड़ा दौड़ लगाने लगता है और घटनाओं के औचित्य की कोई परवाह नहीं करता।

[ ५७७ ]

देव सुलेमाँ की बँदि परा। जहँ लगि देव सबहि सत हरा ॥
साहि लीन्ह गहि कीन्ह पयाना। जो जहँ सतुरु सो तहाँ बिलाना ॥
खुरासान औ डरा हरेऊ। काँपा बिदर, धरा अस देऊ ॥
बिधि उदैगिरि धवलागिरी। काँपी सिस्टि, दोहाई फिरी ॥

र, भै सामुहँ करा। पाला फूटि, पानि होइ ढरा॥
डाँड़ दीन्ह, जहँ ताईं। आइ सो डंडवत कीन्ह सबाईं॥
छाँड़ि स। सरगहि गई। पुहुमि जो डोली सो अस्थिर भई॥
॥तसाहि ढीली मह, आइ बैठ सुख पाट।
जिन्ह जिन्ह सीस उठाए, धरती धरे लिलाट॥ ५७७॥

दार्थ—बिलाना = विलीन हो गया। सामुहँ = सामने। करा = किरणें।
ह गया। डंडव-पाठान्तर दुंदुहि = दुंदभि। डाँड = डंडा।

ई—जैसे सुलेमान के बन्धन में देव पड़ गये थे उसी प्रकार अला-
; बन्धन में राजा पड़ गया, जितने देव थे सबका सत जाता रहा—
कोई हिन्दू राजा कुछ करने का साहस न कर सका। शाह ने पकड़
थान कर दिया, यह सुनकर उसके जितने शत्रु जहाँ थे वहीं विलीन
। खुरासान और हरेव डर गये, बोदर भी काँप उठा, उसने सोचा कि
ने देव-रत्नसेन को पकड़ लिया तो हमारी कौन गिनती। विन्ध्यप्रदेश,
ारि और धवलगिरि की सारी सृष्टि काँप उठी और अलाउद्दीन की
फिर गई। सूर्य के समान अलाउद्दीन का तेज उदय हुआ, उसकी
ं के सम्मुख होते ही पाला पानी होकर बह गया। जहाँ-तहाँ दुंदु-
पर डंडे चलाए गये, सब लोग आ आकर उसके सामने दंडवत करने
दुंदुभि की आवाज स्वर्ग तक पहुँची, जो पृथ्वी डोल गयी थी वह
हो गयी। बादशाह दिल्ली में अपने सिंहासन पर सुख से आ बैठा।
जिन लोगों ने उसकी अनुपस्थिति में सिर उठाये थे सबने जमीन पर
टेक दिया।

[ ५७८ ]

ली बंदिवान जियबधा। तेहि सौंपा राजा अगिदधा॥
ने पवन कहँ आस करेई। सो जिय बधिक साँस नहिं देई॥
गत पानि आगि लै धावा। मोंगरहूँ एक आइ सिर लावा॥
ने पवन तैं पिया सो पिया। अब को आनि देइ पानिया॥
चितउर जिय अहा न तोरें। पातसाहि है सिर पर मोरें॥
बहिं हँकारहि है उठि चलना। सो कत करौं होइ कर मलना।

करौं सो मीत गाढ़ि बंदि जहाँ। पानि पवन पहुँचावै तहाँ॥
जल अंजुलि महँ सोवा, समुँद न सँवरा जागि।
अब धरि काढ़ा मंछ जेउँ, पानी माँगत आगि॥ ५७८॥

शब्दार्थ—बंदिवान = बंदीगृह का रक्षक। जियबधा = जल्लाद। अगि-दधा = आग से जला हुआ। मोगरुहूँ = मुंगरी = लकड़ी की गदा जिससे ठोक कर जमीन पर खूँटा गाड़ा जाता है। हँकारहि = बुलाएगा।

अर्थ—बंदीगृह का रक्षक एक हबशी जल्लाद था, उसे आग से जलाया हुआ राजा सौंप दिया। पानी और हवा की ही आशा वह कर सकता था, उसके लिए भी यह वधिक सांस लेने भर के लिए भी न देता था। जब राजा पानी मांगता तो जल्लाद आग लेकर दौड़ता था और सिर पर एक मुंगरी मारता था। वह कहता था कि तूने पानी और हवा अब तक जो पी ली सो पी ली, अब हे पापी! तुझे कौन देगा? जब तू चित्तौड़ में था तब तू नहीं सोचता था कि तेरे सिर पर बादशाह है। अब तो जब ही वह बुलाएगा तुझे चल देना पड़ेगा, अब मैं क्या करूँ, तुझे तो बस हाथ मलना है। हे दोस्त, अब तो वही करूँगा कि तू गाढ़े बन्धन में पड़ जाय, और वहाँ ही पानी और हवा मिले। समुद्र में जब भरे हुए जल में सो रहा था तो आगे की याद नहीं करता था, अब तो मच्छ उसमें से पकड़ कर निकाला गया और आग में डाला गया है तब तू पानी मांगता है? अर्थात् जब तू चित्तौड़ में आनन्द से था तब भूला हुआ था, अब जब यहाँ बन्दीखाने में पड़ा तो पानी क्यों मांग रहा है?

[ ५७९ ]

पुनि चलि दुइ जन पूँछै आए। ओहि सुठि दगध आइ देखराए॥
तूँ मरपुरी न कबहुँ देखी। हाड़ जो बिथुरै देखि न लेखी॥
जाने नहिं कि होब अस महूँ। खोजें खोज न पाउब कहूँ॥
अब हम उतर देहि रे देवा। कवने गरब न माने सेवा॥
तोहि अस केत गाड़ि खनि मूँदे। बहुरि न निकसि बार कै खूँदे॥
जो जस हँसै सो तैसै रोवा। खेलि हाँसि एहि भुँइ पै सोवा॥
तस अपने मुँह काढ़े धुवाँ। चाहसि परा नरक के कुँवा॥

जरसि मरसि अब बाँधा, तैस लाग तोहि दोख ।
अबहूँ मानु पदुमिनी, जौं चाहसि भा मोख ॥ ५७९ ॥

ब्दार्थ—सुठि = बहुत । दगध = जलने वाले । मरपुरी = यमपुरी ।
: हड्डियाँ । बिथरैं = बिखरे हुए । लेखा = समझा । महूँ = मैं भी ।
कितने ही । खनि = खोदकर । मूँदे = ढक कर ।

प्रर्थ—फिर दो आदमी राजा रत्नसेन से कुछ बात पूछने के लिए आये ।
ने में ऐसे क्रूर और भयंकर थे मानो अत्यन्त जलते हुए से हों । उन
ने आकर राजा को धमकाया कि तूने अभी तक यमपुरी नहीं देखी है ।
संसार में बिखरी हुई हड्डियों को तो देखा होगा पर उन्हें देखकर भी
नहीं समझा कि मैं भी इसी प्रकार नष्ट हो जाऊँगा और तब खोजने
ती न मिल सकूँगा । हे देव, अब हमें उत्तर दो कि किस घमंड के बल
तूने बादशाह अलाउद्दीन की अधीनता स्वीकार नहीं की थी । तुझ जैसे
नों को ही उसने भूमि खोद कर गड़वा दिया और वह फिर न निकल सके,
अनेक बार मारे गये । जो जैसे हँसता है उसी प्रकार रोता है । हँस-खेल कर
। भूमि पर सदा के लिए सो जाता है । तुमने अपने मुँह से ऐसा धुँआ
काला है कि अब नरक के कुएँ में पड़ना चाहता है । तुझे ऐसा दोष लगा
कि अब तू बँधा हुआ जलेगा, मरेगा, इसलिए यदि अब भी तू अपना
ऽकारा चाहे तो पद्मिनी को देना स्वीकार कर ।

[ ५८० ]

छेन्हि बहुत, न बोला राजा । लीन्हेसि चूपि, मीचु मन साजा ॥
निगड़ ओबरी महँ लै राखा । निति उठि दगध होहिं नौ लाखा ॥
ँउ सो साँकर औ अँधियारा । दोसरि करवट लेइ न पारा ॥
ीछी साँप आनि तहँ मेले । बाँका आनि छुवावहिं हेले ॥
हकहिं सँड़सी, छूटहिं नारी । राति देवस दुख पंजन भारी ॥
जो दुख कठिन सहा पहारू । सो अँगव मानुस सिर भारू ॥
जो सिर परै सरै सो सहैं । कछु न बसाइ, काहु के कहैं ॥
दुख जारै दुख भूँजै, दुख खोवै सब लाज ।
गाजहि चाहि गरुव दुख, दुखी जान जेहि बाज ॥ ५८० ॥

शब्दार्थ – चूपि = चुप्पी । मींचु = मृत्यु । ओवरी = घर के भीतरी भाग का कमरा-पाठान्तर-चरनन । ठाउँ = जगह । साँकर = तंग । दोसरि = दूसरी । पारा = सकता था । मेले = डाल दिये । बाँका = कटार की भांति का एक लोहे का औजार जिससे टोकरी आदि बनाने वाले बाँस छीलते हैं । दहकहिं = जलती है । गंजन-पाठान्तर-पहुंचे । गाजहि चाहि = वज्र से भी बढ़कर । बाज = पड़ता है ।

अर्थ—उन आदमियों ने बहुत पूछा पर राजा न बोला, उसने चुप्पी साध ली और मन में मृत्यु की तैयारी कर ली । गड्ढा खोदकर घर के भीतरी भाग वाले कमरे में रखा, जहाँ रोज उठकर नौ लाख व्यक्ति जला करते थे । वह जगह अत्यन्त सँकरी थी और अंधेरा भी था । संकीर्णता इतनी थी कि कोई व्यक्ति दूसरी करवट भी न ले सकता था । फिर वहाँ बिच्छू और साँपों को लाकर डलवा दिया गया । और बाँके को गर्म कर करके उसके शरीर से छुआते थे । सँडासियाँ आग में तपाई जाती थीं जिससे वे लाल रहती थीं और उन्हें देखते ही नाड़ी की गति बन्द हो जाती थी । इस प्रकार राजा को रात-दिन भारी दुःख था । जिस कठिन दुख को पहाड़ भी बरदाश्त नहीं कर सकता, उसे मनुष्य बेचारा अपने सिर पर सहता है । जो कुछ भी सिर पर पड़ता जाता है वही मनुष्य को सहना पड़ता है, किसी के कहने पर कुछ नहीं होता । दुःख ही मनुष्य को जलाता है और भूनता है । दुःख सारी लोक-लज्जा को नष्ट कर देता है । वज्र से भी बढ़कर दुःख भयंकर होता है, वही दुःखी उसे समझता है जिस पर दुःख पड़ता है ।

— —

# ४८. पद्मावती-नागमती-विलाप-खण्ड

[ ५८१ ]

पदमावति बिनु कंत दुहेली। बिनु जल कँवल सूखि जसि बेली॥
गाढ़ै प्रीति पिय मो सौं लाए। ढीली जाइ निचिंत होइ छाए॥
सो न बहुरा निबहुर देसू। केहि पूछौं, को कहै सँदेसू॥
जो गौने सो तहाँ कर होई। जो आवै, कछु जान न सोई॥
अगम पंथ पिय तहाँ सिधावा। जो रे जाइ, सो बहुरि न आवा॥
कुआँ ढार जल जैस बिछोवा। डोल भरै नैनन्ह तस रोवा॥
लेजुरि भई नाँह बिनु तोही। कुवाँ परी, धरि काढ़हु मोही॥
नैन डोल भरि ढारै, हिएँ न आगि बुझाइ।
घरी घरी जिउ बहुरै, घरी घरी जिउ जाइ॥ ५८१॥

शब्दार्थ—दुहेली = दुर्भाग्यपूर्ण। ढीली = दिल्ली। बहुरा = लौटा। निबहुर = जहाँ से कोई नहीं लौटता। गौने = जाय। ढार = डालना-पाठान्तर ढार। तस-पाठान्तर धनि = स्त्री। लेजुरि = रस्सी जिससे डोल बाँध कर कुएँ में से पानी निकालते हैं। घरी-घरी = थोड़ी-थोड़ी देर बाद।

अर्थ—पद्मावती अपने पति (रत्नसेन) के बिना अत्यन्त दुःखी हुई। उसकी दशा ऐसी हुई जैसे बिना जल के कमल की लता सूख जाय। वह रोकर कहने लगी कि हे प्रियतम, आपने मुझसे गाढ़ी प्रीति की पर अब दिल्ली जा कर निश्चिंत वहाँ छाए हुए हो। वह देश ऐसा है कि वहाँ से कोई नहीं लौटता। अब मैं किससे पूछूँ, जो मुझे तुम्हारा संदेश दे। जो ही वहाँ जाता है वहीं का हो जाता है, जो आता है वह कुछ भी नहीं जानता। उसका मार्ग बड़ा ही अगम है, वहीं मेरा प्रिय गया है, वहाँ जो जाता है वह लौट कर नहीं आता। इन पंक्तियों में जायसी ने परलोक का संकेत कर रक्खा है जहाँ जाने पर कोई वापस नहीं आता है और आता है तो उसे पूर्व जन्म का कुछ स्मरण नहीं रहता।

पद्मावती कहती है कि हे नाथ आज मेरी आँखों से आँसू इस प्रकार निकल रहा है जैसे जब कुएँ में बाल्टी डालते हैं तो बाल्टी द्वारा पानी कुएँ के पानी से अलग होता है और जैसे-जैसे ऊपर खिंचता है बहता रहता है। अब तो हम तुम्हारे बिना रस्सी के समान हो गयी हैं और कुएँ में गिर पड़ी हैं तू ही आकर हमें निकाल। हमारी आँखें बाल्टी भर-भर कर आँसू द्वारा पानी डाल रही हैं फिर भी हृदय की विहराग्नि नहीं बुझ रही है। इस समय हमारा प्राण घड़ी-घड़ी पर जा रहा है और वापस आ रहा है।

अलङ्कार—रूपक = विरोधाभास।

[ ५८२ ]

नीर गँभीर कहाँ हो पिया। तुम बिन फाट सरोवर हिया॥
गएहु हेराइ, बिरह के हाथा। चलत सरोवर लीन्ह न साथा॥
चरत जो पंछि केलि कै नीरा। नीर घटै कोउ आव न तीरा॥
कँवल सूख, पँखुरी बिहरानी। कन कन होइ मिलि छार उड़ानी॥
बिरह रेति कंचन तनु लावा। चून चून कै खेह मिलावा॥
कनक जो कन कन होइ बिहराई। पिय पे छार समेंटैं आई॥
विरह पवन यह छार सरीरू। छारहु आनि मिला बहु नीरू॥
अबहुँ मया कै आइ जियावहु, बिथुरी छार समेंटि।
नव अवतार होइ नइ काया, दरस तुम्हारें भेंटि॥५८२॥

शब्दार्थ—हेराई = खो जाना। बिहरानी = फट गईं। छार = मिट्टी। बिथुरी = बिखरी हुई। रेति = काटकर। लावा = जला दिया। समेटि = एकत्रित करना।

अर्थ—पद्मावती रोती जा रही है कि हे प्रियतम! तुम गम्भीर जल के समान हो, बताओ कि तुम कहाँ हो, तुम्हारे बिना हमारा हृदय इस प्रकार फट रहा है जैसे पानी के सूख जाने पर तालाब की मिट्टी में दरारें पड़ जाती हैं। विरह के हाथ से अब तुम बिल्कुल खो गये हो और चलते हुए तुमने मेरे इस तालाब रूपी हृदय को साथ क्यों नहीं लिया। जो पक्षी तालाब में खेल किया करते थे वे अब पानी के सूख जाने से निकट भी नहीं आते।

। सूख गया, उसकी पंखड़ियाँ बिखर गयीं, कण-कण हो कर मिट्टी में कर उड़ रही हैं। विरह ने काट-काट कर स्वर्ण के सदृश शरीर को जला है। चूर्ण-चूर्ण हो कर यह शरीर मिट्टी में मिल गया है। यह स्वर्ण शरीर जो अब कण कण हो कर बिखर रहा है उसे तो प्रियतम ही आ :कत्रित कर सकता है। वियोग हवा हो रहा है और मेरा शरीर मिट्टी, मेट्टी में भी आँसू रूपी पानी मिल रहा है। अब भी कृपा करके आकर, ी हुई मिट्टी को एकत्रित कर हमें जीवित कर लो जिससे कि तुम्हारे में से हमारा नया अवतार प्राप्त हो और नया शरीर मिले।

[ ५८३ ]

सीप मोंतिन्ह भरि आँसू। टूटि टूटि परहिं करैं तन नासू॥
: पदारथ पदुमिनि नारी। पिय बिनु भै कौड़ी बर बारी॥
लै गएउ रतन सब जोती। कंचन कया काँचु भै पोती॥
हौं दुख उदधि गँभीरा। तुम्ह बिनु कंत लाव को तीरा॥
बिरह होइ चढ़ा पहारू। जल जोबन सहि सकै न भारू॥
हँ अगिनि सो जान बिछूना। पाहन जरै होइ जरि चूना॥
जतन कंत तुम्ह पावौं। आजु आगि हौं जरत बुझावौं॥
कवन खंड हौं हेरौं, कहाँ मिलहु हो नाहँ।
हेरें कतहुँ न पावौं, बसहु तौ हिरदै माहँ॥५८३॥

ब्दार्थ—पोती = मनका, गुरिया। बिछूना = बिछौना। खंड = भाग। खोजूँ।

र्थ—पद्मावती की आँखें सीप के समान हैं और उसमें आँसू ऐसे : हैं मानों मोती भरे हुए हों। ये टूट-टूट कर गिर रहे हैं और का नाश कर रहे हैं। यह पद्मावती अमूल्य रत्न के समान थी पर बिना यह सुन्दर स्त्री कौड़ी के समान हो गयी है। रत्नसेन अपने सकी सारी ज्योति ले गया, उसका सोने का शरीर अब काँच की गुरिया न हो गया है। वह रोकर कह रही है कि अब मैं दुःख के गहरे ं डूब रही हूँ, हे प्रियतम! तुम्हारे बिना कौन हमें किनारे लगा सकता

है। हृदय पर वियोग पहाड़ बन कर चढ़ गया है, जल के समान चंचल यौवन इसके भार को नहीं सह सकता। यह वियोग ऐसा है जैसे जल की अग्नि ( वड़वाग्नि ) होती है, उससे तो पहाड़ भी जल कर चूना हो जाता है। हे पति! किस यत्न से अब मैं तुम्हें प्राप्त करूं जिससे कि आज मैं अपनी इस जलती हुई आग को बुझा सकूँ। अब मैं किस भाग में तुम्हें खोजूँ, हे नाथ! तुम कहाँ मिलोगे। खोजने पर भी कहीं नहीं पाती यद्यपि तुम हृदय में ही बसे हो।

नोट—इन पदों के बाद पं० रामचन्द्र शुक्ल-सम्पादित ग्रन्थावली में तीन पद और हैं जिनमें नागमती का विलाप है, डा० माताप्रसाद गुप्त इन्हें प्रक्षिप्त मानते हैं। पद इस प्रकार हैं :—

नागमतिहि 'पिय पिय' रट लागी। निसि दिन तपै मच्छ जिमि आगी॥
भँवर, भुजंग कहाँ, हो पिया। हम ठेघा तुम कान न किया॥
भूलि न जाहि कँवल के पहाँ। बाँधत बिलँब न लागै नाहा॥
कहाँ सो सूर पास हौं जाऊँ। बाँधा भँवर छोरि कै लाऊँ॥
कहाँ जाउँ को कहै सँदेशा। जाउँ सो तहँ जोगिनि के भेसा॥
फारि पटोरहि, पहिरौं कंथा। जौ मोहिं कोउ देखावै पंथा॥
वह पथ पलकन्ह जाइ बोहारौं। सीस चरन कै तहाँ सिधारौं॥
को गुरु अगुवा होइ, सखि! मोहि लावै पथ माँह।
तन मन धन बलि बलि करौं, जो रे मिलावै नाह॥

अर्थ—नागमती की 'पी पी' की रटन लगी, वह रातदिन इस प्रकार जल रही है जैसे मछली आग में जलती है। ऐ भौंरे के समान रस लेकर उड़ जाने वाले तथा साँप के समान डसकर जान लेने वाले प्रियतम तुम कहाँ हो, हमने तो तुम्हारा सहारा लिया और तुमने मेरी एक न सुनी। भूल करके भी तुम कमल के पास न जाना क्योंकि उसे बाँधते देर नहीं लग सकती। वह सूर्य ( अलाउद्दीन ) कहाँ है कि मैं उसके पास जाऊँ और उसके द्वारा बाँधे हुए भौंरे ( रत्नसेन ) को छुड़ा लाऊँ। कहाँ जाऊँ और कौन उसका संदेशा मुझ से कहेगा कि मैं उसके पास जोगिनी का वेश धर कर जाऊँ। रेशमी वस्त्रों को फाड़ कर कंथा ( गुदड़ी ) पहनूँ, यदि कोई मुझे रास्ता दिखाए।

उस रास्ते को मैं अपनी पलकों से साफ करूँगी और सिर को चरण बना कर वहाँ पर सिधारूँगी। हे सखी कौन गुरु अगुआ होगा, जो मुझे रास्ते पर लावेगा, मैं अपने तन मन को निछावर कर दूँगी यदि कोई प्रिय से मिलावे।

के के कारन रोवै बाला। जनु टूटहिं मोतिन्ह को माला॥
रोवति भई, न साँस सँभारा। नैन चुवहिं जस ओरनि धारा॥
जा कर रतन परै पर हाथा। सो अनाथ किमि जीयै, नाथा।
पाँच रतन ओहि रतनहिं लागे। बेगि आउ, पिय रतन सभागे॥
रही न जोति नैन भए खीने। स्रवन न सुनौ, बैन तुम लीने॥
रसनहिं रस नहिं एकौ भावा। नासिक और बास नहिं आवा॥
तचि तचि तुम्ह बिनु अँग मोहि लागे। पाँचौ दगधि बिरह अब जागे॥

बिरह सो जारि भसम कै, चहै उड़ावा खेह।
आइ जो धनि पिय मेरवै, करि सो देइ नइ देह॥

अर्थ—नागमती अपने पति के गुणों को गा गा कर बड़ा कारुण्यपूर्ण रोने लगी उसके आँसू इस प्रकार गिरने लगे जैसे मोतियों की मालायें टूट रही हैं। वह रो रही थी, साँस भी नहीं सँभाल रही थी। उसके आँसू इस प्रकार चू रहे थे जैसे घर की ओलती बहा करती है। कवि कहता है कि भला जिसके हाथ का रत्न (रत्नसेन) दूसरे के हाथ लग जाय वह अनाथ फिर किस प्रकार जीवेगा। उसकी पाँचों इन्द्रियाँ रूपी रत्न उस रत्नसेन के लिए लगी हैं वह कहती है कि हे सौभाग्यशाली रत्नसेन शीघ्र ही आओ। मेरी आँखों की ज्योति न रह गयी, अब कान सुनते नहीं, मेरी वाणी तो तुम्हीं में लीन है। मेरी रसना को एक भी रस अच्छा नहीं लगता, नासिका और बास नहीं पसन्द करती। तुम्हारे बिना मेरे अंग जल रहे हैं। विरह के जगने से मेरी पाँचों इन्द्रियाँ जल गयी हैं। विरह जला कर और भस्म बना कर धूल में उड़ाना चाहता है, जो अब इस स्त्री (नागमती) से उसके पति को मिलावे वह इसका नया जीवन कर देगा।

पिय बिनु व्याकुल बिलपै नागा। बिरहा तपनि साम भए कागा॥

पवन पानि कहँ सीतल पीऊ ? जेहि देखे पलुहै तन जीऊ ॥
कहँ सो बास मलयगिरि नाहा। जेहिं कल परति देत गल बाहाँ ॥
पद्मिनि ठगिनि भई कित साथा। जेहिं ते रतन परा पर हाथा ॥
होइ वसन्त आवहु पिय केसरि। देखे फिर फूलै नागेसरि ॥
तुम्ह बिनु, नाह ! रहै हिय तचा। अब नाहिं विरह-गरुड़ सौं बचा ॥
अब अँधियार परा, मसि लागी। तुम्ह बिनु कौन बुझावै आगी ॥

नैन स्रवन रस रसना, सबै खीन भए, नाह।
कौन सो दिन जेहि भेटि कै, आइ करै सुख छाँह ॥

अर्थ—अपने पति के बिना व्याकुल हो कर नागमती विलाप कर रही है। उसके विरह की जलन से कौए काले हो गये। पवन और पानी के समान शीतल प्रिय कहाँ हैं जिसे देख कर तन और जीव प्रफुल्लित होता है। उस प्रियतम की मलयगिरि के समान सुगन्ध कहाँ है जिसकी गलबाँही से शरीर को शान्ति मिल जाती है। यह पद्मावती ठगिनी क्यों साथ में आई जिसके कारण मेरा रत्न ( रत्नसेन ) दूसरे के हाथ में पड़ गया। वसन्त हो कर केशर से युक्त हे प्रिय ! फिर आओ जिसे देख कर यह नगेसर (नागमती) फूल उठे। तुम्हारे बिना हे नाथ ! हमारा हृदय जल रहा है, अब मैं विरह रूपी गरुड़ से नहीं बच सकती। गरुड़ नाग का वैरी होता है इसी लिए विरह की उपमा गरुड़ से दी है ) अब अन्धेरा हो गया चारों ओर कालिमा दिखाई पड़ रही है, तुम्हारे बिना कौन इस आग को बुझावेगा ? हे नाथ ! अब तो आँखें, कान, जिह्वा आदि सभी क्षीण हो गये हैं, वह कौन सा दिन होगा जब मुझ से मिल कर तुम सुख उत्पन्न करोगे ?

———

# ४६०. देवपाल-दूती-खंड

[ ५८४ ]

कुंभलनेरि राय देवपालू । राजा केर सतुरु हिय सालू ॥
ओइँ पुनि सुना कि राजा बाँधा । पाछिल बैर सँवारि छर साँधा ॥
सतुरु साल तब नेवरै सोई । जो घर आव सतुरु कै जोई ॥
दूती एक बिरिध ओहि ठाऊँ । बाँभनि जाति, कमोदिनि नाऊँ ॥
ओहि हँकारि कै बीरा दीन्हा । तोरे बर मैं बर जिय कीन्हा ॥
तूँ कुमुदिनी कँवल के नियरे । सरग जो चांद बसै तुव हियरे ॥
चितउर महँ जो पदुमिनि रानी । कर बर छर सो देहि मोहि आनी ॥
रूप जगत मनि मोहनी, औ पदुमावति नाउँ ।
कोटि दरब तोहि देहूँ, आनि करसि एक ठाउँ ॥५८४॥

शब्दार्थ—सतुरु = शत्रु । छर साँधा = छल किया । नेवरै = पूरी होती है । जोई = पत्नी ।

अर्थ—कुंभलनेर का राजा देवपाल था । वह राजा रत्नसेन का शत्रु था और उसके हृदय में वह शत्रुता कष्ट दिया करती थी । उसने सुना कि राजा बन्दी हो कर चला गया । पिछले वैर को स्मरण करके उसने छल किया । शत्रु के मन की कसर तब पूरी होती है जब उसके घर उसके शत्रु की स्त्री आ जाती है । उसके यहाँ एक वृद्धा दूती थी वह जाति की ब्राह्मणी थी और उसका नाम कुमुदिनी था । उसको बुला कर बीड़ा दिया और कहा कि तेरे बल पर मैंने भी बल बाँधा है । तू कुमुदिनी है और कमल ( पद्मावती ) के निकट है, जो चन्द्रमा ( पद्मावती ) स्वर्ग पर है वह तेरे पास ही है; क्योंकि ( कमोदिनी जलहरि बसै; चन्दा बसै अकास, जो जाही को भावता सो ताही के पास – कबीर ) । चित्तौड़ में जो पद्मावती रानी है उसे तू छल-बल से मेरे पास ला दे । वह रूप में संसार को मोहने वाली है । उसका नाम

पद्मावती है। मैं तुझे एक करोड़ द्रव्य दूँगा, जो तू उसे ला कर मुझ से मिला दे।

[ ५८५ ]

कुमुदिनि कहा देखु मैं सो हौं। मानुस काह, देवता मोहौं॥
जस काँवरू चमारी लोना। को न छरा पाढ़ित औ टोना॥
बिसहर नाँचहि पाढ़ित मारें। औ धरि मूँदहिं घालि पेटारें॥
बिरिख चलै पाढ़ित की बोला। नदी उलटि बह, परबत डोला॥
पाढ़ित हरै पँडित मति गहिरे। औरु को अंध, गूँग और बहिरे॥
पाढ़ित औसि देवतन्ह लागा। मानुस का पाढ़ित हुति भागा॥
पाढ़ित कै सुठि काढ़त बानी। कहाँ जाइ पदुमावति रानी।
दूती बहुत पैज कै, बोली पाढ़ित बोल।
जाकर सत्त सुमेरु है, लागै जगत न डोल॥ ५८५॥

शब्दार्थ—काँवरू = कामरूप, आसाम। पाढ़ित = मन्त्र। घालि = डाल कर। पैज = प्रतिज्ञा।

अर्थ—कुमुदिनी ने कहा कि देखिए मैं वह हूँ कि मनुष्य की कौन कहे देवता को भी मोहित कर सकती हूँ। जिस प्रकार कामरूप देशकी लोना नाम की चमारी थी, उसने अपने मन्त्र और जादू-टोने से किसको नहीं छल लिया। मन्त्र के मारने से विषधर साँप नाचने लगता है और मदारी उसे अपनी पेटारी में रख कर ढक लेता है। मन्त्र की बोल पर वृक्ष चलने लगता है, नदी उलट कर पहाड़ पर चलने लगती है। मन्त्र तो गम्भीर पण्डित की मति को हर लेता है, फिर और कोई अन्धा, गूंगा और बहरा अर्थात् संसार का साधारण जन क्या है? जादू का मन्त्र तो देवताओं तक को लग जाता है, तो मनुष्य भला जादू से कहाँ भाग कर जा सकता है। मन्त्र की वाणी निकालते ही पद्मावती रानी, कहाँ जा सकती है?

दूती इसी प्रकार बड़ी प्रतिज्ञा के साथ जादू-टोने का मन्त्र बोलने लगी पर जिसका सत सुमेरु पर्वत के समान अटल है वह तो सारे संसार के लग जाने पर भी हिल नहीं सकता।

[ ५८६ ]

दूती दूत पकवान जो साँधे । मोतिलाडु कीन्ह खिरौरा बाँधे ॥
लाँठ पेराक फेनी औ पापर । भरे बाँझ दूती के कापर ।
लै पूरी भरि डाल अछूती । चितउर चली चली पैज कै दूती ॥
बिरिध बयस जो बाँधै पाऊ । कहाँ सो जोबन कत बेवसाऊ ॥
तन बुढ़ाइ, मन बूढ़ न होई । बल न रहा, लालच जिय सोई ॥
कहाँ सो रूप देखि जग राता । कहाँ सो गरब हस्ती जस माता ॥
कहाँ सो तीख नैन, तन ठाढ़ा । सब मारि जोबन पुनि काढ़ा ॥
मुहम्मद बिरिध जो नै चलै, काह चलै भुइँ टोइ ॥
जोबन रतन हेरान है, मकु धरती महँ होइ ॥ ५८५ ॥

शब्दार्थ—साँधे = तैयार किये । खिरौरा = खाँड का लड्डू ।

अर्थ—दूती ने अनेक प्रकार के पकवान तैयार किये । मोतीचूर लड्डू, खाँड का लड्डू, सांठ, गुझिया, सतफेनी, पापड़ आदि के बोझ दूती के कपड़े में बांध दिए । एक भरी डलिया पूड़ी भर ली और वह दूती बड़ी तेजी से चित्तौड़ को चल पड़ी । वृद्धावस्था में यदि कोई पाँव बाँध ले तो फिर यौवन का व्यवसाय क्या है ? शरीर बूढ़ा होता है मन नहीं बूढ़ा होता । बल तो नहीं रहता पर जी में लालच रहता है । वह रूप कहाँ रह जाता है जिसे देख कर सारा संसार अनुरक्त होता है, और वह घमण्ड कहाँ रह जाता है जिसके बल पर मनुष्य जवानी में मतवाला बना रहता है । आँखों में वह तीखापन कहाँ रह जाता है, सब को मार कर वृद्धावस्था जवानी को निकाल देती है ।

जायसी कहते हैं कि वृद्ध व्यक्ति जो झुक करके चलता है वह जमीन को छू कर क्यों चलता है ? फिर उत्तर देते हैं कि उसका यौवन रूपी रत्न खो गया है, शायद उसी को धरती में समझ कर वह खोज रहा है ।

[ ५८७ ]

आइ कमोदिनि चितउर चढ़ी । जोहन मोहन पाढ़ित पढ़ी ॥
पूँछि लीन्ह रनिवाँस बरोठा । पैठि पँवरि भीतर जहँ कोठा ॥
जहँ पदुमावति ससि उजियारी । लै दूती पकवान उतारी ॥
बाँह पसारि धाइ कै भेंटी । चीन्है नहि राजा कै बेटी ॥

हौं बाँभनि जेहि कुमुदिनि नाँऊ। हम तुम्ह उपनी एकहि ठाँऊ॥
नाँउ पिता कर दूबे बेनी। सदा पुरोहित गंध्रप सेनी॥
तुम्ह बारी तब सिंघल दीपाँ। लीन्हें दूध पिआइउँ छीपाँ॥
ठाउँ कीन्ह मैं दोसर, कुंभलनेरिहि आइ।
सुनि तुम्ह कहँ चितउर महँ, कहिउँ कि भेंटौं जाइ॥ ५८७॥

शब्दार्थ—जोहन मोहन = देखते ही मोहित करने वाला। बरोठा = बैठक।

अर्थ—कुमुदिनी आ कर चित्तौड़ में चढ़ गयी और वह जादू-टोना पढ़ा जिससे देखते ही मनुष्य मोहित हो जाता है। उसने रनिवास की बैठक को पूछ लिया और ड्योढ़ियों से प्रवेश करके वहाँ पहुँची जहाँ पद्मावती की अट्टालिका थी। जहाँ पद्मावती चन्द्रमा के समान प्रकाशित थी वहाँ जा कर उसने पकवानों की गठरी को उतार दिया। बाँहें फैला कर उसने पद्मावती से भेंट की और कहा कि हे राजा की बेटी क्या तुमने मुझे नहीं पहिचाना? मैं ब्राह्मणी हूँ जिसका नाम कुमुदिनी है, हम और तुम दोनों एक ही जगह में उत्पन्न हुई हैं। मेरे पिता का नाम बेनी दूबे है जो राजा गन्धर्वसेन का पुरोहित था। जब तुम सिंघल द्वीप की राजकुमारी थी तब तुमने मेरा दूध पिया है। मैंने दूसरी नगरी कुम्भलनेर में अपना स्थान बनाया है, तुम्हें चित्तौड़ में सुन कर, मैंने सोचा कि जा कर मिल आऊँ।

[ ५८८ ]

सुनि निस्चै नैहर कै कोई। गरें लागि पदुमावति रोई॥
नैन गँगन बिनु रबि अँधियारे। ससि मुख आँसु टूट जनु तारे॥
जग अँधियार गहन दिन परा। कब लगि ससि नखतन्ह निसि भरा॥
माइ बाप कत जनमी बारी। दइउ तुहूँ न जन्मतहि मारी॥
कत बियाहि दुख दीन्ह दुहेला। चितउर पठै कंत बँदि मेला॥
अब एक जीवन बादि जो मरना। भएउ पहार जरम दुख भरना॥
निसरि न जाइ निलज यह जीऊ। देखौं मंदिल सून बँदि पीऊ॥
कुहुँकि जो रोई ससि नखत, नैनन्ह रात चकोर।
अबहूँ बोलहिं तेहि कहुँकि, कोकिल चातिक मोर॥ ५८८॥

शब्दार्थ—निस्चै = निश्चय रूप से। नैहर = पीहर। बारा = लड़की।

अर्थ—निश्चय रूप से उसे अपने पीहर की समझ कर पद्मावती उसके गले लग कर रोने लगी। उसके नेत्र रूपी आकाश में रत्नसेन रूपी सूर्य के बिना अंधेरा छाया था, उसके शशिरूपी मुख से आँसू रूपी तारे टपकने लगे, संसार में अंधेरा हो गया, जैसे दिन में ग्रहण लग गया हो कब तक चन्द्रमा नक्षत्रों ( आँसू ) से भरे। वह कहने लगी कि मैं अपने माँ-बाप की बेटी होकर क्यों जन्मी, तुमने भी मुझे जन्मते ही नहीं मार डाला। क्यों ब्याह करके मुझे दुःखों में डाला, चित्तौड़ भेज कर मेरे कारण मेरे पति को कैदी करवाया। अब तो इस जीवन में व्यर्थ में मरना है। यह जीवन पहाड़ हो गया है, इसमें दुःख ही सहना मात्र है। यह निर्लज्ज जीव निकलता भी नहीं, मैं इस महल को अपने पति के कैदी होने से सूना देख रही हूँ। वह चिल्ला कर रोई, उसके मुख से तो आंसू टपकने लगे और आँखें चकोर की भान्ति पति में अनुरक्त हो गयीं। उसकी चिल्लाहट इस प्रकार थी कि आज भी उसी की कुहुक को गाकर कोयल, चातक और मोर बोलते हैं।

[ ५८६ ]

कुमुदिनि कंठ लागि सुठि रोई। पुनि लै रोग वारि मुख धोई ॥
तूँ ससि रूप जगत उजियारी। मुख न झाँपु निसि होइ अँधियारी ॥
सुनि चकोर कोकिल दुख दुखी। घुँघुची भई नैन करमुखी ॥
केतौ धाइ मरै कोइ बाटा। सो पै पाव, जो लिखा लिलाटा ॥
जो पै लिखा आन नहिं होई। कत धावै, कत रोवै कोई ॥
कत कोइ इंछ कर औ पूजा। जो बिधि लिखा, सो होइ न दूजा ॥
केत कमोदिनि बैन करेई। तस पदुमावति स्रवन न देई ॥

सेंदुर चीर मैल तस, सूखि रहे सब फूल।
जेहिं सिंगार पिउ तजि गा, जरम न बहुरै मूल ॥ ५८६ ॥

शब्दार्थ – सुठि = खूब। रोग-पाठान्तर-रूप-डार = चाँदी की परात। झाँपु = छिपाओ। इंछ = इच्छा। जेत = जितना। स्रवन = कान, ध्यान। सब-पाठान्तर-जस। बहुरै = लौटे-पाठान्तर-पहिरै।

अर्थ—कुमुदिनी भी पद्मावती को कंठ लगा कर रोने लगी। फिर परात लेकर पानी से उसने पद्मावती का मुख धो लिया। फिर उसने कहा—कि तू तो चन्द्रमा के रूप वाली संसार में प्रकाश करने वाली है, रात्रि के अँधेरे में तू अपना मुँह न छिपा—अर्थात् दुर्भाग्य के पड़ने पर भी तू अपने को छिपा कर न रख। तेरे दुःख को सुन कर चकोर और कोयल दुःखी हो रहे हैं—भाव यह कि चकोर का अङ्गार खाना और कोयल का कुहकना इसी का परिणाम है। घुँघची भी तेरे दुःख के कारण काले मुख वाली हो गयी है। कोई कितना ही किसी भी रास्ते से दौड़ लगा कर मरे पर होगा तो वही जो भाग्य में लिखा हुआ है। जो कुछ भी लिखा है उससे विपरीत और कुछ नहीं हो सकता, तो फिर कोई क्यों दौड़े और क्यों रोये। क्यों कोई इच्छा करे और क्यों देवी देवताओं की पूजा करे, जो कुछ ब्रह्मा ने लिख रखा है, उससे दूसरा तो कुछ होगा ही नहीं। इस प्रकार जितना भी कुमुदिनी बातें करती थी उन सब पर पद्मावती कान नहीं देती थी। उसका सिंदूर और वस्त्र आदि सभी मैले थे वे सब इस प्रकार मलिन थे, जैसे सूखा हुआ फूल। वह सोचती है कि जिस शृङ्गार को पति छोड़ कर गया है वह अपने वास्तविक रूप में लौट नहीं सकता।

अलंकार—हेतूत्प्रेक्षा—सुनि चकोर कोकिल······करमुखी।

[ ५६० ]

पुनि पकवान उघारे दूती। पदुमावति नहिं छुवै अछूती॥
मोहिं अपने पिय केर खंभारू। पान फूल कस होइ अहारू॥
मो कहँ फूल भए जस काँटे। बाँटि देहु जेहि चाहहु बाँटे॥
रतन छुए जिन्ह हाथन्ह सेंती। औरु न छुऔं सो हाथ सँकेती॥
ओहि के रँग तस हाथ मँजीठी। मुकुता लेउँ तौ घुँघुची डीठी॥
नैन करमुखे, रात। काया। मोंति होहिं घुँघुची जेहि छाया॥
अस कर ओछ नैन हत्यारे। देखत गा पिउ गहै न पारे॥
का तेहि छुऔं पकवान, गुर करुवा घिउ रूख।
जेहि मिलि होत सवाद रस, लै सो गएउ सब भूख॥ ५६०॥

शब्दार्थ—पुनि = फिर-पाठान्तर-तब। उघारे = खोले। अछूती = बिना

छुए हुए। खँभारू = शोक। मँतो = में। सँकेली = इकट्ठा करके। मँजीठी = लाल रंग का एक फल। डीठी = दिखाई पड़ती है। राती = लाल। गहै न पारे = पकड़ न सके। गुर = गुड़-मीठा।

अर्थ—फिर दूती ने साथ में लाये हुए पकवानों को खोला पर पद्मावती ने उन्हें छुआ तक नहीं, सभी अछूते रह गये। उसने कहा कि मुझे तो अपने प्रियतम का शोक है, फिर पान, फूल और भोजन आदि मेरे लिये क्या वस्तुयें हैं? इस समय मेरे लिए तो फूल काँटे के समान हैं। अतः इनको जिसमें बाँटना चाहो बाँट दो। जिन हाथों से मैंने रत्नसेन को स्पर्श किया है उनसे और किसी वस्तु का संग्रह करके नहीं छू सकती। उसके (रत्नसेन के) प्रेम के रंग के कारण मेरे हाथ मजीठ की भाँति लाल हैं इसलिए जब मैं हाथ में मोती लेती हूँ तो हाथ की ललाई के प्रभाव से मोती घुंघची सा दिखाई पड़ने लगता है, और फिर जब उसकी ओर दृष्टि करती हूँ तो मेरी पुतलियों के प्रतिबिम्ब से वह मोती जो पहले घुंघची सा लाल है। ऊपर काले भाग से युक्त होकर साक्षात् घुंघची बन जाता है। व्यंजना यह है कि मोती जैसा अमूल्य वस्तु भी जब मेरे हाथ में अब आता है तो वह घुंघची के सदृश ही नगण्य मेरी दृष्टि में जँचता है।

वह कहती है कि मेरे नेत्र इस प्रकार नीच और हत्यारे हैं कि इनके देखते-देखते ही प्रियतम चला गया और ये उसे पकड़ न सके। तो अब मैं भला पकवानों को क्या स्पर्श करूँ? मुझे मीठी वस्तु कड़वी और घी रूखा लगता है। जिस रत्नसेन के मिलने पर ही सभी रसों में स्वाद आता है वही मेरी सारी भूख को ले गया है।

अलंकार—तद्गुण—ओंहि के रँग सब ....डीठा।

[ ५६१ ]

कुमुदिनि रही कँवल के पासा। बैरी सुरुज चाँद की आसा।
दिन कुँभिलानि रहै, भै चोरू। रैनि बिगसि बातन्ह कर भोरू
कत तूँ बारि रहसि कुँभिलानी। सूखि बेलि जस पाव न पानी
अबहीं कँवल करी तूँ बारी। कोंवलि बएस, उठत पोनारी
बैरिनि तोरि मेलि औ रूखी। सरवर माँझ रहसि कत सूखी

पान बेलि बिधि कया जमाई। सींचत रहै तबहिं पलुहाई॥
करु सिंगार सुख फूल तँबोरा। बैठु सिंघासन, झूलु हिंडोरा॥
हार चीर तन पहिरहि, सिर कर करहि सँभार।
भोग मानि ले दिन दस, जोबन के पैसार॥ ५६१॥

शब्दार्थ—रहसि = रहती है। कोंवरि = कोमल। बएस = उम्र। पौनारी = मृणाल। बैरिनी = दुश्मन—पाठान्तर-बेनी = चोटी। कस = क्यों। पैसार = प्रवेश।

अर्थ—कुमुदिनी दूती कमल रूपी पद्मावती के पास रही। उसका शत्रु तो सूर्यरूपी रत्नसेन है पर वह चन्द्रमारूपी पद्मावती को अपनी ओर मिलाने की आशा में बनी रही। वह दिन भर तो उदास और चोर बनी रहती थी, अधिक बातें न करती थी, रात आते ही प्रफुल्लित हो कर बातों में भुलाने का प्रयत्न करती थी। वह कहती कि हे सुन्दरी तू क्यों कुम्हलाती रहती है। तू तो इस प्रकार हो गई है जैसे सूखी लता, जिसे पानी ही नहीं मिलता। अभी तो तू कमल की कली ही है। तेरी उम्र तो बड़ी ही कोमल है जैसे उठती हुई मृणाल हो। तेरी दुश्मन मैली और सूखी हो (उर्दू की शैली है कि दुख के लिए दुश्मन का नाम लिया जाता है) तू सरोवर में रह कर क्यों सूखी रहती है अर्थात् भोग के समस्त साधनों के उपलब्ध होते हुए भी तू दुखी क्यों है। ईश्वर ने इस शरीर को पान की लता के समान जमा रखा है। इसको तो जब मनुष्य सींचता रहे तभी वह पल्लवित होती रहती है। तू शृङ्गार कर। पान आदि खा कर सुखी हो, सिंहासन पर बैठो, और हिंडोले में झूलो। हार, सुन्दर वस्त्र आदि शरीर पर पहिनो और अपने सिर पर कंघी-पट्टी करो। जवानी का प्रवेश तो जीवन में थोड़े ही दिनों का है अतः इस अल्प काल में जो भोग कर सको उसे करो।

[ ५६२ ]

बिहँसि जो कुमुदिनि जोबन कहा। कँवल जो बिगसा संपुट गहा॥
कुमुदिनि कहु जोबन तेहि पाहाँ। जो आछहि पिय को सुख छाहाँ॥
जाकर छतिवनु बाहर छावा। सो उजार घर को रे बसावा॥
अहा जो राजा रैनि अँजोरा। केहि क सिंहासन, केहि क हिंडोरा॥

को पालक सोवै, को माढ़ी । सोवनिहार परा बँदि गाढ़ी ॥
जेहि दिन गा घर भा अँधियारा । सब सिंगार लै साथ सिधारा ॥
कया बेलि तब जानौं जामी । सींचनिहार आव घर स्वामी ॥
तब लगि रहौं झूरि असि, जब लहि आव सो कंत ।
यहै फूल यह सेंदुर, नव होइ उठै बसंत ॥ ५९२ ॥

शब्दार्थ—आछहि = है । छुनिचनु-पाठान्तर-छत्र = राज्य । अँजोरा = प्रकाशवाला । पालक = पलंग । माढ़ी = मचिया । बँदि गाढ़ी = कठिन बन्दीखाने में । झूरी = सूखी हुई ।

अर्थ—हँस कर कमुदिनी ने जब यौवन की बात चलाई तब पद्मावती (कमल) जो कुछ खिली हुई भी थी वह बन्द कमल के समान मुरझा गई । उसने कहा कि हे कुमुदिनी ! तू यौवन का वर्णन उसके पास कर जो अपने पति की सुख की छाया में है । जिसका राज्य-छत्र (सुख-भोग) बाहर जा रहा है, भला उसके उजड़े घर को कौन बसा सकता है ? जो हमारा राजा रात्रि में प्रकाश करने वाला था वह अब नहीं है तो फिर किसका सिंहासन और किसका हिंडोला ? कौन पलंग पर सोयेगा और कौन मचिया पर बैठेगा ? जब कि उन पर सोने वाला कठिन बन्दीखाने में पड़ा है । जिस दिन वह मेरे घर से गया है उसी दिन यहाँ अंधेरा हो गया है । वह तो मेरे सारे शृङ्गार को ले कर चला गया । इस शरीर रूपी लता को तो मैं तभी जमी हुई समझूँगी जब उसका सींचने वाला पति घर आयेगा । जब तक मेरा वह पति नहीं आयेगा मैं इसी प्रकार सूखी हुई रहूँगी, जब वह आ जायगा तो मेरा यही मलिन सिंदूर और फूल बसन्त पाकर नया हो कर फूल उठेगा ।

[ ५९३ ]

जनि तूँ बारि करसि अस जीऊ । जौ लहि जोबन तौ लहि पीऊ ॥
पुरुख सिंघ आपन केहि केरा । एक खाइ दोसरेह मुँह हेरा ॥
जोबन जल दिन दिन जस घटा । भँवर छपाइ, हंस परगटा ॥
सुभर सरोवर जौ लहि नीरा । बहु आदर, पंखी बहु तीरा ॥
नीर घटें पुनि पूँछ न कोई । बिरसि जो लीज हाथ रह सोई ॥

जब लगि कालिंदिरी बेरासी। पुनि सुरसरि होइ समुँद गरासी ॥
जोवन भँवर, फूल तन तोरा। बिरिध पोंछ जस हाथ मरोरा ॥
क्रिस्न जो जोबन करत तन, मया गुनत नहिं साथ ।
छरिकै जाइहि बान लै, धनुक छाँड़ि तोहि हाथ ॥ ५६३ ॥

शब्दार्थ—जनि = मत। केहि केरा = किसका। दोसरेहि = दूसरे को। हेर = देखता है। भँवर = भौंरा-काले बाल। हंस = सफेद बाल (वृद्धावस्था)। बेरासि = विलास किया, सुख भोग किया। कालिंदरी = यमुना। गरासी = डूबेगी। बिरिध = वृद्धावस्था। क्रिस्न जो जोबन करत तन, मया गुनत नहि साथ—पाठान्तर-कृस्न जो जोबन कारनै गोपीतन्ह के साथ।

अर्थ- कुमुदिनी कहने लगी कि हे सुन्दरी, तू अपने जी को ऐसा न कर। जब तक जवानी है तभी तक पति का प्रेम है। पुरुष रूपी सिंह भला अपना किसका रहा है, एक को खाकर दूसरे का मुँह देखा करता है। जवानी रूपी जल दिन पर दिन घटता जाता है काले बालों के स्थान पर सफेद बाल हो जाते हैं अर्थात् जवानी छिपती और वृद्धावस्था उदय होती है। जब तक भरे हुए तालाब में जल भरा है तब तक अनेक पक्षी उसके किनारे आकर उसका आदर करते हैं। पर पानी के घटने पर उस तालाब को कोई पक्षी नहीं पूछता अर्थात् जब तक जवानी है पुरुष उसका आदर करता है, जवानी के समाप्त होने पर बात नहीं पूछता। इसलिए जवानी में जो सुख भोग लिया वही बस हाथ रह जाता है। जब तक यमुना यमुना है तब तक उसका आनन्द है नहीं तो गंगा में मिल कर उसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है और वह तो समुद्र में डूब जाती है। अर्थात् जब तक काले बालों वाली जवानी है तभी तक सुख है नहीं तो गङ्गा के समान सफेद बालों वाली बुढ़ाई के आते ही जीवन नष्ट हो जाता है। इस समय जो यौवन रूपी भौंरा अर्थात् काले केश हैं और शरीर फूल के समान तेरे पास है वृद्धावस्था इन्हें हाथ मरोड़ कर छीन लेगी। कृष्ण रूपी यौवन जो शरीर के साथ अनेक आनन्द भोग में रत है वह मोह माया से सर्वथा निर्लिप्त होकर छल करके चला जायगा। बाण रूपी शक्ति और

सौंदर्य को जो इस धनुष रूपी शरीर के पास है, लेकर चला जायगा और शरीर रूपी धनुष अपनी शक्ति बाण रूपी सौंदर्य से हीन होकर पड़ा रह जायगा।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

इस पद के पश्चात् भी पं० रामचन्द्र शुक्ल द्वारा संपादित ग्रन्थावली में एक पद है जिसे डा० माताप्रसाद गुप्त ने प्रक्षिप्त माना है। पद है:—

जौ पिउ रतनसेन मोर राजा। बिनु पिउ जोबन कौनें काजा॥
जौ पै जिउ तौ जोबन कहे। बिनु जिउ जोबन काह सो अहै?
जौ जिउ तौ यह जोबन भला। आपन जैस करै निरमला॥
कुल कर पुरुष सिंघ जेहि खेरा। तेहि थर कैस सियार बसेरा॥
हिया फार कूकुर तेहि केरा। सिंघहिं तजि सियार मुख हेरा॥
जोबन नीर घटे का घटा। सत्त के बर जौं नहिं हिय फटा॥
सघन मेघ होइ साम बरीसहि। जोबन नव तरिवर होइ दीसहिं॥
रावन पाप जो जिउ धरा, दुवौ जगत मुँह कार।
राम सत्त जो मन धरा, ताहि छरै को पार॥

अर्थ—पद्मावती ने उत्तर दिया मेरा तो राजा रत्नसेन ही पति है। बिना उस पति के जवानी किस काम की। जीव है तो जवानी भी है पर यदि जीव ही न हो तो जवानी किस काम की? और जब जीव है तो जवानी अच्छी है और अपने जैसे उसे निर्मल रखेगा। जिसके घर में कुलीन पति रूप सिंह है उसके घर किसी गीदड़ का बसेरा कैसे हो सकता है। उसके हृदय को कुत्ते खायें जिसके हृदय में सिंह को छोड़कर गीदड़ का स्थान हो जाय। यौवन रूपी पानी के घट जाने से ही भला क्या हानि होगी यदि सत का बल नहीं घटा। जब घने बादल काले होकर बरसेंगे तो जवानी रूपी वृक्ष नये होकर दिखाई पड़ेंगे, अर्थात् पति की अनुपस्थिति में घटी हुई जवानी, उसकी उपस्थिति में पुनः प्रफुल्लित हो जायगी। रावण ने अपने हृदय में पाप रखा था तो दोनों लोकों में उसका मुख काला हुआ पर राम ने अपने हृदय में सत रखा था तो उससे कोई छल करके क्या कर सकता था।

[ ५६४ ]

कित पावसि पुनि जोबन राता। मैमंत चढ़ा स्याम सिर छाता॥
जोबन बिना बिरिध होइ नाऊँ। बिनु जोबन थाकसि सब ठाऊँ॥
जोबन हेरत मिलै न हेरा। तेहि बन जाइहि करिहि न फेरा॥
हहिं जो केस नग भँवर जो बसा। पुनि बग होहिं, जगत सब हँसा॥
सेंबर सेइ न चित करु सुवा। पुनि पछितासि अंत होइ भुवा॥
रूप तोर जग ऊपर लोना। यह जोबन पाहुन जग होना॥
भोग बेरास केरि यह बेरा। मानि लेहि, पुनि को केहि केरा॥
उठत कोंप तरिवर जस, तस जोबन तोहि रात।
तौ लहि रंग लेहि रचि, पुनि सो पियर ओइ पात॥ ५६४॥

शब्दार्थ—राता=लाल सुन्दर। मैमंत=मतवाला। हहिं=हैं। बग=बगला। सेंबर=सेमल। भुवा= सेमल की रुई। लोना=सुन्दर। कोंप=कोंपल। रात=लाल। तौ लहिं=तब तक। पियर=पीला।

अर्थ—कुमुदिनी कह रही है कि जवानी के दिन बीत जाने पर फिर सुन्दर जवानी को तुम कहां पा सकती हो। इस समय तो तेरे सिर पर काले बालों का छाता है अतः तू मतवाली है पर जब जवानी के बिना बूढ़ी नाम से पुकारी जाओगी तो जवानी के बिना सब जगह थकी हुई रहोगी। तब जवानी खोजने पर न मिलेगी। यौवन उस वन में चला जायगा जहाँ लौट कर न आयेगा। ये तेरे भौंरे के समान काले बाल हैं ये बगले के समान सफेद होजायेंगे और सारा संसार हँसेगा। जैसे तोता सेमल के फल से चित्त लगाता है पर फल के पकने पर जब वह उसमें चोंच मारता है तो उसमें से रुई निकलती है हाथ कुछ नहीं आता उसी प्रकार यदि तुम बहुत काल तक रत्नसेन की ही प्रतीक्षा में रहोगी तो जवानी के बीत जाने पर तुम्हें कुछ न हाथ लगेगा अतः तू उसकी प्रतीक्षा न कर। तेरा सौंदर्य संसार भर से बढ़कर है पर यह जवानी ऐसे में मेहमान के समान ही रहेगी। यह काल तो भोग-विलास का है। मेरी यह बात मान लो नहीं तो बुढ़ाई आने पर कौन किसका है?

जिस प्रकार पौदे में कोंपल निकलती है उसी प्रकार तेरे पास जवानी

अपनी अरुणिमा के साथ है, तभी तक इसमें रंग को जलाई है फिर तो उसका पत्ता पीला ही हो जायगा। भाव यह कि जवानी के बीत जाने पर बुढ़ाई में कोई आनन्द नहीं आयेगा।

[ ५९५ ]

कुमुदिनि बैन सुनाए जरै । पद्मिनि हिय अँगार जस परै ॥
रँग ताकर हौं जारौं रचा । आपन तजि जो पराएँ लचा ॥
दोसर करै जाइ दुइ बाटा । राजा दुइ न होहिं एक पाटा ॥
जेहि जिय पेम प्रीत दिन होई । सुख सोहाग सौं निबहै सोई ॥
जोबन जाउ, जाउ सो भँवरा । पिय की प्रीति सो जाइ न सँवरा ॥
एहि जग जौं पिय कोरहि न फेरा । ओहि जग मिलिहि सो दिन दिन मेरा ॥
जोबन मोर रतन जहँ पीऊ । बलि सौंपौं यह जोबन जीऊ ॥
भरथ बिछोउ पिंगला, आहि करत जिय दीन्ह ।
हौं बिसारि जौं जियति हौं, यहै दोस बड़ कीन्ह ॥५९५॥

शब्दार्थ—लचा = झुका। पाठान्तर रोंचा = पसन्द किया। जाइ दुइ बाटा = नष्ट हो जाता है। जाउ = चाहे चला जाय। सँवरा = स्मरण।

अर्थ—कुमुदिनी की बातें सुनकर पद्मावती को ऐसा बुरा लगा मानों उसके हृदय पर आग का अङ्गारा ही पड़ गया हो। उसने कहा कि उसके रचे हुए रंग को जला दूं जो अपने पति को छोड़ कर दूसरे की ओर झुकती है। जो दूसरा पति वरती है वह नष्ट हो जाती है, एक सिंहासन पर दो राजा नहीं बैठते। जिसका अपने पति पर दिन पर दिन प्रीति होती जाती है वही सुख और सौभाग्य से अपने दिन व्यतीत करती है। जवानी और ये काले बाल भले ही चले जायँ पर अपने प्रियतम की प्रीत के कारण दूसरा व्यक्ति स्मरण ही नहीं किया जा सकता। यदि इस संसार में मेरा पति लौट कर न आयेगा तो दूसरे लोक में वह अवश्य मिलेगा। मेरी जवानी तो वहीं है जहाँ मेरा प्रियतम रत्नसेन है, मैं उस पर बलिहारी जाती हूँ और अपने जीव और यौवन को उस पर सौंप रही हूँ। राजा भर्तृहरि के वियोग में रानी पिंगला ने आह करके जान दे डाली। उसे भुलाकर जो मैं जी रही हूँ यही मेरा बहुत बड़ा दोष है।

[ ५९६ ]

पदुमावति सो कवनि रसोई। जेहि परकार न दोसर होई ॥
रस दोसर जेहि जीभ बईठा। सो पै जान रस खट्टा मीठा ॥
भँवर बास बहु फूलन्ह लेई। फूल बास बहु भँवरन्ह देई ॥
तैं रस परस न दोसर पावा। तिन्ह जाना, जिन्ह लीन्ह परावा ॥
एक चुरू रस भरै न हिया। जौ लहि नहिं भरि दोसर पिया ॥
तोर जोबन जस समुँद हिलोरा। देखि देखि जिउ बूड़ै मोरा ॥
दिन क ओर नहिं पाइअ बैसे। जरम ओर तुइँ पाउब कैसें ॥
देखि धनुक तोर नैना, मोहि लागहिं बिख बान।
बिहँसि कँवल जौं मानैं, भँवर मिलावौं आनि ॥५९६॥

शब्दार्थ—परकार = प्रकार। चुरू = चुल्लू। जिउ बूड़ै = जी घबराता है। बैसे = बैठे रहने से, उद्योग न करने से। ओर = अन्त। जरम = जीवन। आनि = लाकर-पाठान्तर-आन = दूसरा।

अर्थ—कुमुदिनी ने कहा कि हे पद्मावती वह रसोई किस काम की जिसमें अनेक प्रकार के भोजन न हों। जिसकी जिह्वा में भिन्न-भिन्न प्रकार के रस पहुँच चुके हैं, वही तो खट्टा और मीठा ( भिन्न-भिन्न प्रकार का ) स्वाद जानता है। उदाहरण के लिए भौंरा एक ही फूल पर नहीं बैठता अनेक फूलों के पास जाकर भिन्न-भिन्न रस चखता है और इसी प्रकार फूल भी अन्य-अन्य भौंरों को रस देता है। तूने आज तक दूसरे का रस नहीं पाया है। दूसरे ( उपपति ) का रस तो वही जानता है जो दूसरे का रस लेता है। एक चुल्लू रस से तो हृदय की तृप्ति नहीं होती, जब दूसरा चुल्लू आदमी पीता तभी उसे संतोष होता है। तेरा यौवन समुद्र की लहरों की भाँति उमड़ रहा है, इसे देख-देख कर मेरा जी घबरा जाता है। बैठे-बैठे तो दिन का भी अन्त नहीं मिलता तो फिर भला इतने बड़े जीवन का अन्त तू कैसे पावेगी—भाव यह कि इस प्रकार प्रतीक्षा में तेरा इतना बड़ा जीवन कैसे बीतेगा ?

तेरे धनुष के आकार की भौंहों को देख कर मुझे विष का बाण लगता

है, अर्थात् तेरे रूप और सौन्दर्य को देख कर करुणा-भाव के कारण मुझे बड़ा दुःख लगता है, अतः यदि प्रसन्नता पूर्वक तू मान जाय तो मैं तुमसे दूसरा भौंरा ( उपपति ) लाकर मिला दूँ।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

[ ५६७ ]

कुमुदिनि तूँ बैरिनि, नहिं धाई। मुँह मसि बोलि चढ़ावै आई॥
निरमल जगत नीर कस नामा। जो मसि परै सोउ होइ स्यामा॥
जहँवाँ धरम पाप तहँ दीसा। कनक सोहाग माँझ जस सीसा॥
जो मसि परी भई ससि कारी। सो मसि लाइ देसि मोहि गारी॥
कापर महँ न छूट मसि अंकू। सो मोहि लाग अैस कलंकू॥
स्यामि भँवर मोर सूरज करा। और जो भँवर स्याम मसि भरा॥
कँवल भँवर रवि देखै आँखी। चंदन बास न बैठै माँखी॥
स्यामि समुँद मोर निरमल, रतनसेनि जग सेनि॥
दोसर सरि जो कहावै, तस बिलाइ जस फेनि॥ ५६७॥

शब्दार्थ—धाई = धाय माँ। कस = कैसा-पाठान्तर-कर = का। मसि = स्याही। तहँ = वहां पाठान्तर-नहिं। दीसा = दिखाई पड़ता। सोहागा=जिससे सोना जोड़ा जाता है। सीसा = काली धातु ( Lead )। गारी = गाली, अपयश। कापर = कपड़ा। माँखी = मक्खी। जगसेनि = संसार प्रसिद्ध।

अर्थ—पद्मावती खीझ कर बोली ! हे कुमुदिनी तू तो धाय नहीं मेरी शत्रु है। तू मुझसे कह कर मेरे मुख पर स्याही लगाना चाहती है। संसार में जल का कैसा सुन्दर निर्मल नाम है, पर वह निर्मल जल भी स्याही के पड़ने पर काला हो जाता है। जहाँ धर्म है वहाँ तू पाप देख रही है। अर्थात् पतिव्रत में दोष देख रही है। तेरा यह देखना इस प्रकार है, जैसे सोने और सोहागे में कोई सीसा देखे। स्याही के पड़ने से चन्द्रमा भी काला हो गया है, वही स्याही मेरे मुख पर लगा कर तू मुझे अपयश देना चाह रही है। कपड़े में से स्याही का दाग नहीं छूटता, वही मुझ में लगा कर तू कलङ्कित करेगी। काला भौंरा तो मेरे सूर्य रत्नसेन का ही सौन्दर्य है और कोई भँवर यदि तू कहती है तो वह स्याही से भरा हुआ काला

और निकम्मा है। कमल (पद्मावती) को तो भंवर रूपी सूर्य ( रत्नसेन ) ही देख सकता है। जैसे चन्दन की सुगन्धि पर मक्खो नहीं बैठ सकती, उसी प्रकार मुझ तक कोई और नीच और निकम्मा नहीं पहुँच सकता। मेरा रत्नसेन तो श्याम-सागर की भाँति निर्मल और जगत् प्रसिद्ध है, दूसरा कोई यदि उसकी बराबरी करना चाहता है तो वह उसी प्रकार नष्ट हो जायेगा, जैसे समुद्र का झाग।

अलंकार—शुद्धापह्नुति—कुमुदिनी तू वैरिन नहिं धाई!

रूपक और उपमा तथा रूपकातिशयोक्ति समस्त पद में है।

[ ५९८ ]

पदुमिनी बिनु मसि बोलु न बैना। सो मसि चित्र दुहूँ तोर नैना॥
मसि सिंगार, काजर सब बोला। मसि क बुंद तिल सोह कपोला॥
लोना सोइ जहाँ मसि रेखा। मसि पुतरिन्ह निरमल जग देखा॥
जो मसि घालि नैन दुहुँ लीन्ही। सो मसि बेहर जाइ न कीन्ही॥
मसि मुंद्रा दुहुँ कुच उपराहीं। मसि भँवरा जस कँवल बसाहीं॥
मसि केसन्हि, मसि भौंह उरेही। मसि बिनु दसन सोभ नहिं देही॥
सो कस सेत जहाँ मसि नाहीं। सो कस पिंड न जेहि परिछाहीं॥
अस देवपाल राउ मसि, छत्र धरा सिर फेरि।
चितउर राज बिसरि गा, गइउँ जो कुंभलनेरि॥ ५९८॥

शब्दार्थ—लोना = सुन्दर। घालि = डाल कर। बेहर = अलग। मुंद्रा = मुहर, छाप। उपराहीं = ऊपर। उरेही = चित्रित की हुई। सेत = सफेद। पिंड = साकार वस्तु, शरीर।

अर्थ—कुमुदिनी ने उत्तर दिया कि बिना स्याही वाली बात तू न कर अर्थात् तू स्याही को बुरा कहती है पर उसके बिना तो कुछ होता ही नहीं, अतः ऐसी बात न कर। जिसे तू काला कहती है उसके चित्र तो तेरी दोनों आँखों में पुतली के रूप में हैं। सभी कहते हैं कि काला काजल ही श्रेष्ठ श्रृङ्गार है, काले विन्दु के रूप में कपोलों पर जो तिल है उससे वे सुशोभित होते हैं। जहाँ काली रेखा होती है वहीं सौन्दर्य होता है। काली पुतलियों से ही तो 'सार निर्मल दिखाई पड़ता है। जो स्याही डाल कर दोनों आँखें बनी हैं

वह कालिमा किसी प्रकार अलग नहीं की जा सकती। दोनों कुचों के ऊपर काली छाप होती है, ये सुन्दर उरोजों पर ऐसे सुन्दर लगते हैं, जैसे कमल पर भौंरा बैठा हो। कालिमा बालों में होती है, कालिमा भौंहों में चित्रित होती है। बिना दांतों के बीच बीच की कालिमा के दाँत शोभा नहीं देते। वह सफेद ही क्या है, जिसमें कालिमा न हो, वह साकार वस्तु ही कौन है जिसमें काली परछाहीं न हो।

इस कालिमा के रूप में राजा देवपाल ने फिर से सिर पर छत्र धारण किया है। यदि तू उसके कुंभलनेर में चली जायेगी तो वह चित्तौड़ भूल जायेगा।

[ ५६६ ]

सुनि देवपाल जो कुंभलनेरी। कँवल जो नैन भँवर धनि फेरी॥
मोरे पिय क सतुरु देवपालू। सो कत पूज सिंघ सरि भालू॥
दोख भरा तन चेतनि कैसा। तेहि क संदेश सुनावहि बेसा॥
सोन नदी अस मोर पिय गरुवा। पाहन होइ परै जौं हरुवा॥
जेहि ऊपर अस गरुवा पीऊ। सो कस डोल डोलाएँ जीऊ॥
फेरत नैन चेरि सौ छूटीं। भै कूटनि कुटनी तसि कूटीं॥
कान नाक काटे मसि लाई। यहु रिसि काढ़ि दुआर नवाई॥
मुहमद गरुए जो बिधि गढ़े, का कोई तिन्ह फूँक।
जिन्हके भार जगत थिर, उड़हिं न पवन के झूँक॥ ५६६॥

शब्दार्थ - भँवर = पाठान्तर, भौंह। धनि = स्त्री पद्मावती-पाठान्तर-धनु = धनुष। पूज = पूरा पड़ सकता है। दोख = दोष-पाठान्तर-दुःख। चेतनि कैसा-पाठान्तर-जेतन केसर = जितने बाल (रोंगटे) हैं। बेसा = वेश्या। हरुआ = हलका। [महाभारत में शिला नाम की एक ऐसी नदी का उल्लेख है जिसमें कोई हलकी चीज भी डाल दी जाय तो वह डूब जाती है और पत्थर हो जाती है—मेगस्थनीज ने भी ऐसा ही लिखा है। गढ़वाल के कुछ सोतों के पानी में इतना रेत और चूना रहता है कि पड़ी हुई लकड़ी पर क्रमशः जम कर उसे पत्थर के रूप में कर देता है—पं० रामचन्द्र शुक्ल] चेरि = दासियाँ। कुटनी=स्त्रियों को बहकाने वाली दूती। बहु रिसि काढ़ि

दुवार नंघाई-पाठान्तर-मूँड़ मूड़ि कै गदह चढ़ाई=उसका सिर मुंडवा कर गधे पर चढ़ा कर निकाल दिया। झूँक=झोंक।

अर्थ—ज्यों ही कुंभलनेर के राजा देवपाल का नाम पद्मावती ने सुना उसके कमल के समान नेत्र क्रोध से भौंरे की भाँति घूमने लगे। उसने कहा कि देवपाल तो मेरे पति का शत्रु है वह भालू के समान है, वह सिंह के सदृश हमारे रत्नसेन की बराबरी कैसे कर सकता है। उसके दोषों से भरा हुआ चैतन्य शरीर कैसा है—भाव यह कि ऊपर से भला, पर अन्दर से वह दोषों से पूर्ण है। ऐ वेश्या! तू उस नीच का संदेशा मुझ तक पहुँचाने आई है? मेरे प्रियतम तो सोन नदी के समान गम्भीर हैं। उसमें तो हल्की चीज भी पड़ कर पत्थर के समान भारी हो जाती है। अर्थात् उनके संग में आकर मैं भी अब हल्की नहीं हूँ, तुझ जैसी नीच का प्रभाव मुझ पर नहीं पड़ सकता। जिसके ऊपर रत्नसेन जैसा गम्भीर पति है वह डोलाने से भला कभी अपने हृदय को डोला सकती है? इसके बाद उसके आँख के इशारे के करते ही उसकी सौ दासियाँ छूट पड़ीं और उस नीच कुटनी दूती का खूब कुटाई पिटाई हुई। उसके मुख पर कालिख लगा कर उसके कान और नाक काट लिए और फिर अत्यन्त क्रोध में होकर उसको अपनी ड्योढ़ी से बाहर निकाल दिया।

जायसी कहते हैं कि जिसको ब्रह्मा ने ही गम्भीर बनाया है उसे कोई फूँक कर नहीं उड़ा सकता। जिसके भार से संसार टिका हुआ है वे पवन के झोंके से नहीं उड़ सकते।

———

# ५०. बादशाह-दूती-खण्ड

[ ६०० ]

रानी धरमसार पुनि साजा। बंदि मोख जेहि पावै राजा॥
जाँवत परदेसी चलि आवा। अन्न दान पय पानि पियावा॥
जोगी जती आव जेत कंथी। पूँछै पियहि जान कोइ पंथी॥
देत जो दान बाँह भइ ऊँची। जाइ साहि पहँ बात पहूँची॥
पातर एक हुती जोगि सुवाँगी। साहि अखारे हुति ओहि माँगी॥
जोगिनि भेस बियोगिनि कीन्हा। सिंगी सबद मूल तँनु लीन्हा॥
पदुमिनि कहँ पठई कै जोगिनी। बेगि आनु कै बिरह बियोगिनी॥
चतुर कला मोहनि, परकाया परवेस।
आइ चढी चितउर गढ़, होइ जोगिनि के भेस॥ ६०१॥

शब्दार्थ—धरमसार = धर्मशाला-सदाव्रत, खैरातखाना। मोख = मोक्ष, छुटकारा, रिहाई। जाँवत = जितने भी, सब। पय = दूध। कंथी = गुदड़ी धारण करने वाले साधु। पातर = नर्तकी। जोगि सुवाँगी = जोगिनि की स्वाँग बनाने वाली। अखारे = रंगशाला। हुति = से। माँगी = बुलाई गई। पठई = भेजी।

अर्थ—फिर रानी पद्मावती ने एक धर्मशाला खोली, जिससे दान-पुण्य के प्रभाव से राजा को कैद से छुटकारा मिले। जितने भी परदेशी आते थे सबको अन्न, दान, दूध और जल प्राप्त होता था। जितने भी जोगी, जती और पीर आते थे उन सब से पद्मावती पूछती थी कि क्या कोई राही, उसके पति (रत्नसेन) का कुछ हाल जानता है। दान देने से बाँह ऊँची होती है, अर्थात् प्रसिद्ध होती है, अतः उसके इस प्रकार के दान की बात अलाउद्दीन के कान तक पहुँची। उसके दरबार में एक नर्तकी थी, जो जोगिनी का स्वाँग रचा करती थी, उसे शाह ने रंगशाला से बुला भेजा। उसे जोगिनी के वेशमें बनाया, उसे सींग का बाजा दिया, हठयोगी साधुओंके शब्द और तत्व

(निराकार शब्दावली) आदि से निपुण कर दिया। फिर उसे जोगिनी बना कर पद्मावती के पास भेज दिया और कहा कि उस पद्मावती में मेरे लिए विरह उत्पन्न कर के शीघ्र ले आओ।

वह नर्तकी मन मोहने की कला में बड़ी चतुर थी, उसने दूसरे शरीर में दूसरा वेश बना लिया, अर्थात् नर्तकी से जोगिनी बन गई और जोगिनी के वेश में वह चित्तौड़ में आ पहुँची।

[ ६०१ ]

माँगत राजबार चलि आई। भीतर चेरिन्ह बात जनाई॥
जोगिनि एक बार है कोई। माँगै जैस बियोगिनि होई॥
अबहिं नवल जोबन तप लीन्हे। फारि पटोरा, कंथा कीन्हे॥
बिरह भभूति, जटा बैरागी। छाला काँध, जाप कँठ लागी॥
मुंद्रा स्रवन, डँड न थिर जीऊ। तन तिरसूल, अधारी पीऊ॥
छात न छाँह, धूप जस मरई। पाय न पाँवरि, भूँभुरि जरई॥
सिंगी सबद, धँधारी करा। जरै सो ठाँउ पाँउ जहँ धरा॥
किंगिरी गहें बियोग बजावै, बारहिं बार सुनाव।
नैन चक्र चारिहुं दिसि हेरै, दहुँ दरसन कब पाव॥ ६०१॥

शब्दार्थ—राजबार = राजद्वार। जनाई = सूचित किया। बार = द्वार। पटोरा = रेशमी वस्त्र। कंथा = गुदड़ी। छाला = मृगचर्म। मुद्रा = शीशे का कुंडल। स्रवन = कान। डंड = एक दंड, पल। तिरसूल = शंकरभक्त जोगी त्रिशूल के ढंग का एक सोटा रखते हैं अधारी = कपड़े का लम्बा थैला जो कन्धे के दोनों ओर साधु लोग डाल लेते हैं और जिसमें ही उनकी सारी सामग्रियाँ रहती हैं। छात = छाता। पाँवरि = खड़ाऊँ-जूता। भूँभुरि = सूर्य की गर्मी से गर्म हुई रेत या धूलि। धँधारी = गोरखधन्धा। किंगिरी = एक प्रकार की छोटी सारंगी। दहुँ = पता नहीं।

अर्थ—वह भीख माँगते हुए राजद्वार पर आ गयी। दासियों ने भीतर जाकर इसकी सूचना रानी पद्मावती को दी कि एक जोगिनी द्वार पर आई है और इस प्रकार भीख माँगती है कि मालूम होता है कि वह ईश्वर की सच्ची

वियोगिनी है। अभी नया यौवन उसके पास है और इस अवस्था में ही उसने तपस्या की है, उसने अपने रेशमी वस्त्रों को फाड़ कर गुदड़ी धारण कर रखी है। विरह ही उसकी भभूत (राख) है, उसकी जटायें वैरागियों जैसी हैं, कंधे पर मृगचर्म रखती है और उसकी जप करने की प्रकृति है। कान में मुद्रा पहिने है। उसका जी एक पल के लिए भी स्थिर नहीं रहता, उसका शरीर ही त्रिशूल बना है और प्रिय परमेश्वर की याद ही उसकी अधारी है। वह छाता या छाहँ नहीं ग्रहण करती, यों ही धूप में मरती है। उसके पैरों में जूता नहीं है, वह गर्म भूमि में जलती है। हाथ में सारंगी लेकर उस पर विरह का राग बजाती है और द्वार-द्वार पर वही राग सुनाती फिरती है। उसके नेत्र चक्र की भान्ति चारों ओर अपने प्रियतम को खोजते रहते हैं कि पता नहीं कब दर्शन प्राप्त हो जायँ।

[ ६०२ ]

सुनि पदुमावति मँदिल बोलाई। पूँछी कवन देस सों आई॥
तरुनि वैस तुम्ह छाज न जोगू। केहि कारन अस कीन्ह वियोगू॥
कहेसि विरह दुख जान न कोई। विरहिनि जान विरह जेहि होई॥
कंत हमार गए परदेसा। तेहि कारन हम जोगिनि भेसा॥
काकर जिउ, जोबन औ देहा। जौ पिय गएउ सब खेहा॥
फारि पटोर, कीन्ह मैं कंथा। जहँ पिउ मिलै, लेहु सो पंथा॥
फिरा करौं चहुँ चक्र पुकारा। जटा परीं, को सीस सँभारा॥
हिरदै भीतर पिउ बसै, मिलै न पूँछौं काहि।
सून जगत सब लागै, पिय बिनु किछौ न आहि॥६०२॥

शब्दार्थ—छाज = शोभा देता है। काकर = किसका। खेहा = मिट्टी। चहुँ चक्र = पृथ्वी के चारों कोनों में। किछौ = कुछ भी। आहि = है।

अर्थ—ऐसा समाचार सुन कर पद्मावती ने उस जोगिनी को महल के भीतर बुलवाया। उससे पूछा कि तू किस देश से आई है। जवानी की इस उम्र में तुझे जोग शोभा नहीं देता। किस कारण तुमने ऐसा वियोग का रूप धारण किया है। उसने कहा कि विरह के दुःख को कोई नहीं जान सकता,

विरहिणी को तो वही जान सकता है जिसे विरह हो। मेरा पति परदेश चला गया इसी कारण मैंने जोगिनी का वेश धारण कर रखा है। अब यह जी, यौवन और शरीर किसका है, जब पति चला गया तो सब कुछ मिट्टी ही है। मैंने अपने रेशमी वस्त्रों को फाड़ कर गुदड़ी बना ली और जहाँ मेरा प्रियतम मिलेगा उसी रास्ते को ग्रहण करूँगी। इसीलिए पृथ्वी के चारों कोनों में पुकारती फिरती हूँ, जटायें शीश पर पड़ी हैं इन्हें कौन सँभाले, मेरा प्रियतम मेरे हृदय में बसा है, मिलता नहीं किससे पूछूँ, सारा संसार मुझे सूना लगता है क्योंकि पति के बिना संसार में कुछ नहीं है।

नोट इस जोगिनी की बातों में रहस्यात्मक व्यंजना है—पति लौकिक नहीं—अलौकिक परमेश्वर है।

अलङ्कार— समासोक्ति।

[ ६०३ ]

स्रवन छेदि मुंद्रा मैं मेले। सबद ओनाउँ कहाँ दहुँ खेले ॥
तेहि बियोग सिंगी नित पूरौं। बार बार होइ किंगरी झूरौं ॥
को मोहिं लै पिउ के डँड लावै। परम अधारी बात जनावै ॥
पाँवरि टूटि, चलत गा छाला। मन न मरै, तन जोबन बाला ॥
गइँउ पयाग, मिला नहिं पीऊ। करबत लीन्ह, दीन्ह बलि जीऊ ॥
जाइ बनारसि जारिउँ कया। पारिउँ पिंड निबहुरे गया ॥
जगरनाथ जगरन कै आई। पुनि दुवारिका जाइ अन्हाई ॥
जाइ केदार दाग तन कीन्हेउ, तहँ न मिला तन आँकि।
ढूँढि अजोध्या सब फिरिउँ, सरग दुवारी झाँकि ॥ ६०३ ॥

शब्दार्थ—मेले = डाले। सबद = शब्द। ओनाइँ = झुकती हूँ, झुक कर सुनती हूँ। दहुँ = पता नहीं। झूरौं = सूख रही हूँ। डँड-पाठान्तर-कंठ। अधारी = सहारा देने वाली। जनावै = बतावै। करवत = आरे से शरीर कटवाया। पारिउँ पिंड = श्राद्ध किया। निबहुरे = लौटी-पाठान्तर-नहाइउँ = स्नान किया। जगरन = जागरण। अन्हाई=स्नान किया। दागतन = शरीर पर कृष्ण जी की छाप लगवाना। आँकि = चिन्ह, पता। सरगदुवारी = अयोध्या में एक स्थान।

अर्थ—जोगिनी कह रही है कि मैंने अपने कानों का छेदवा कर उसमें मुद्रा को डलवा लिया। चलते हुए उस शब्द के लिए झुक कर सुनती हूँ कि शायद वहीं खेल रहा हो और उसके खेल का शब्द मेरे कान में पड़ जाय। उसी के वियोग में मैं नित्य शृङ्गी बजाती हूँ, और दरवाजे-दरवाजे सारंगी बजाती सूख रही हूँ। कौन है जो मुझे लेकर प्रियतम से मिला दे और अत्यन्त आधार देने वाली विश्वसनीय बात को बताये। चलते-चलते मेरे पैरों की जूती टूट गई और पैरों में छाले पड़ गये, मेरा मन फिर भी नहीं मरता और शरीर में युवति की जवानी बनी हुई है। मैं प्रयाग गई पर वहाँ भी मेरा प्रियतम नहीं मिला, मैंने वहाँ पर आरे को शरीर पर चलवा कर जीव को बलि दी। बनारस जाकर मैंने अपने शरीर को जलाया, गया में जाकर मैंने श्राद्ध किया। जगन्नाथपुरी में जाकर मैं रात-रात जागरण कर आयी, फिर द्वारिका जाकर समुद्र में गोता लगाया। केदारनाथ जी में जाकर अपने शरीर पर छापे लगवाये पर वहाँ भी उसके शरीर का कोई चिह्न न मिला। अयोध्या में सर्वत्र ढूँढा और स्वर्गद्वारी में झाँका—तात्पर्य यह कि मैंने सारे तीर्थों का भ्रमण कर लिया है।

इस पद के पश्चात् भी पं० शुक्ल संपादित ग्रन्थावली में एक और पद है। डा० माताप्रसाद जी उसे भी प्रक्षिप्तों में रखते हैं। पद है—

गउमुख हरिद्वार फिर कीन्हिउँ। नगरकोट कटि रसना दीन्हिउँ॥
ढूँढिउ बालनाथ कर टीला। मथुरा मथिउँ, न सो पिउ मीला॥
सुरुज कुंड महँ जारिउँ देहा। बद्री मिला न जासौं नेहा॥
रामकुंड, गोमति गुरुद्वारू। दाहिनवरत कीन्ह कै बारू॥
सेतुबन्ध कैलाश सुमेरू। गइउँ अलकपुर जहाँ कुबेरू॥
बरम्हावरत ब्रह्मावति परसी। बेनी-संगम सीझिउँ करसी॥
नीमसार मिसरिख कुरुछेता। गोरखनाथ अस्थान समेता॥
पटना पुरुब सों घर घर, हौंडि फिरिउँ संसार।
हेरत कहूँ न पिउ मिला, ना कोइ मिलवनहार।

अर्थ—मैंने गंगोत्तरी के गोमुख और हरद्वार तीर्थ को किया, नगरकोट में देवी को अपनी जीभ काट कर चढ़ा दी। मैंने बालनाथ का टीला भी

देखा, सारी मथुरा को मैंने मथ डाला पर प्रियतम न मिला। सूर्यकुंड के गर्म जल में स्नान करके मैंने अपने शरीर को जलाया, बद्रीनारायण में भी गई पर जिसमें मेरा प्रेम है वह वहाँ भी न मिला। रामकुंड, गोमती गुरुद्वारा तथा दक्षिणावर्त के मैंने कितने ही चक्कर लगाये। सेतबन्ध रामेश्वर, कैलाश, सुमेरु पर्वत और अलकापुरी में मैं गई जहां कुवेर रहते हैं। ब्रह्मावर्त में मैंने ब्रह्मावती का स्पर्श किया। त्रिवेणी के संगम पर मैंने उपलों को आग में पंचाग्नि तपी। नैमिसारण्य, मिश्रिख, कुरुक्षेत्र तथा गोरखनाथ के स्थानों तक को देखा। पूर्व देश और पटना में घर-घर में मैंने खोजा पर खोजते हुए न तो प्रियतम मिला और न कोई उससे मिलाने वाला ही।

[ ६०४ ]

बन बन सब हेरेउँ बनखंडा। जल जल नदी अठारह गंडा॥
चौंसठि तिर्थ कीन्ह सब ठाँऊ। लेत फिरौं ओहि पिय कर नांऊ॥
ढीली सब हेरेउँ तुरुकानू। औ सुलतान केर बँदिबानू॥
रतनसेनि देखेउँ बँदि माहाँ। जरैं धूप, खिन पाव न छाहाँ॥
का सो भोग जेहि अंत न केऊ। एहि दुख लिहें भई सुखदेऊ॥
सब राजा बाँधे औ दागे। जोगिनि जानि राजा पाँ लागे॥
ढीली नाउँ न जानहि ढीली। सुठि बँदि गाढ़, न निकसै कीली॥
देखि दगध दुख ताकर, अबहूँ कया न जीउ।
सो धनि जियत किमि आछै, जेहिक अैस बँदि पीउ॥६०४॥

शब्दार्थ—हेरेउँ = खोजा। अठारह गंडा = बहत्तर। बंदिबानू = बंदीखाना। सुखदेऊ = सुख देने वाला। कीली = कथा है कि बिक्रमादित्य ने यज्ञ के उपरान्त एक लोहे की कीली गड़वाई। वह इतनी नीचे गड़ गई कि शेषनाग के सिर तक पहुँची। यद्यपि वह ढीली थी पर इतना नीचे होने से निकल नहीं सकती। इसी ढीली कीली के कारण ही शहर का नाम आज तक ढिल्ली या दिल्ली है, वह लोहे की कीली आज तक कुतबमीनार के पास विद्यमान है। आछै = है।

अर्थ—सारे जंगलों में मैंने उसे खोजा! बहत्तर नदियों के जल को

में लेती रही । सारे चौंसठ तीर्थों को मैंने कर लिया और सर्वत्र उस प्रियतम का नाम लेती फिरी । दिल्ली के सारे तुरकाने में खोजा, फिर सुलतान अलाउद्दीन के बन्दीखाने में भी देखा । उसके बन्दीखाने में मैंने रत्नसेन को देखा । बेचारा धूप में जल रहा है, उसे क्षण भर के लिए भी छाया नहीं मिलती । उसके भोग-विलास से क्या जिसके जीवन के अन्तिम काल में कोई नहीं है । इसी दुःख के लिए सारे सुख देने वाले साधन थे । राजा का समस्त शरीर बँधा हुआ और दागा हुआ है । उस राजा ने मुझे जोगिनी समझ कर मेरे पैर छुए । दिल्ली का नाम ढीली है पर उसे ढीला नहीं समझना चाहिए । उसका शासन बड़ा है, कठोर है, वहाँ की कैद बड़ी कठिन है, जैसे कीली नहीं निकलती उसी प्रकार उस कैद में पड़ने पर निकलना अत्यन्त कठिन है । उस बेचारे के दुःख को देख कर अब तक मेरे शरीर में जीव नहीं है । भला वह स्त्री कैसे जी रही होगी जिसका पति इस प्रकार बन्दी है ।

[ ६०४ ]

पदुमावति जौं सुना बँदि पीऊ । परा अगिनि महँ जानहुँ घीऊ ॥
दौरि पायँ जोगिनि के परी । उठी आगि जोगिनि पुनि जरी ॥
पाय देइ, दुइ नैनन्ह लावौं । लै चलु तहाँ कंत जहँ पावौं ॥
जिन्ह नैनन्ह देखा तैं पीऊ । मो कहँ देखाउ, देउँ बलि जीऊ ॥
सत औ धरम देउँ सब तोही । पिय की बात कही जेइ मोही ॥
तूँ मोरि गुरू, तोरि हौं चेली । भूली फिरत पंथ जेइँ मेली ॥
डंड एक माया करु मोरें । जोगिनि होउँ, चलौं सँग तोरें ॥

सखिन्ह कहा पदुमावति रानी, करहु न परगट भेस ।
जोगी सोइ गुपुत मन जोगवै, लै गुरु कर उपदेस ॥६०४॥

शब्दार्थ—घीऊ = घी । डंड = पल । माया = दया । जोगवै = सँभाले ।

अर्थ—जब पद्मावती ने अपने पति को बन्दी सुना तो मानो अग्नि में घी पड़ गया हो । दौड़ कर वह जोगिनी के पैरों पर गिर पड़ी । उसकी विरहाग्नि से ऐसी आग उठी कि जोगिन जल गई । पद्मावती ने कहा कि तू अपने पैरों को दे मैं इन्हें अपनी आँखों में डाल लूँगी । मुझे भी तू वहीं

ले चल जहाँ कि मैं अपने पति को पाऊँ। जिन आँखों से तूने मेरे पति को देखा है, उन्हें मुझे दिखा, मैं अपने जीव की बलि दे सकती हूँ। मैं अपना सारा सत्य और धर्म तुझे देती हूं क्योंकि तूने मेरे पति का समाचार दिया है। तू मेरी गुरु है और मैं तेरी शिष्या हूँ। मैं अब तक भटकी फिर रही थी तूने ही मुझे रास्ता दिया है। एक पल के लिए तू मुझ पर दया कर, मैं जोगिन हूंगी और तेरे साथ चलूंगी। सखियों ने कहा कि ऐ रानी पद्मावती इस प्रकार तुम अपने वेश को न प्रकट करो। जोगी तो वह है जो गुरु के उपदेश को लेकर मन ही मन गुप्त रूप से उसे सँभालता है।

[ ६०६ ]

भीखि लेहि, जोगिनि फिर माँगू। कंत न पाइअ किए सँवागू॥
एइ बिधि जोग बियोग जो सहा। जैसें पिउ राखै तिमि रहा॥
गिरिही महँ भै रहै उदासा। अंचल खप्पर, सिंगी स्वाँसा॥
रहै पेम मन अरुझा लटा। बिरह धँधारि, परहिं सिर जटा॥
नैन चक्र हेरै पिय पंथा। कया जो कापर सोई कंथा॥
छाला पुहुमि गँगन सिर छाता। रंग रकत रह हिरदै राता॥
मन माला फेरत तंत ओहीं। पाँचौं भूत भसम तन होहीं॥
कुंडल सो जो सुनै पिय बैना, पाँवरि पाय परेहु।
डँड एक जाहु गोरा बादिल पहँ, जाइ अधारी लेहु॥ ६०६॥

अर्थ—सखियों ने कहा हे जोगिन तुम भिक्षा लो और अन्यत्र घूम-घूम कर भीख मांगो। स्वांग से प्रियतम नहीं मिलता। वे रानी को समझाती हैं कि इस प्रकार वियोग को जो सहती है और जैसे प्रियतम रखता है उसी प्रकार रहती है वही असली जोगी है। गृहस्थ बनकर भी जो आसक्ति रहित रहती है उसके लिए अंचल ही खप्पर और स्वाँस ही सिंगी है। प्रेम में मन खूब उलझा रहता है। विरह ही गोरखधंधा है और सिर पर जटा है ही। नेत्र चक्र की भाँति चलकर प्रियतम के रास्ते पर लगे रहते हैं, शरीर पर जो कपड़ा है वही गूदड़ी है। पृथ्वी ही मृगचर्म है और आकाश ही छाता है। खून के रंग से हृदय लाल रहता है। मन रूपी माला उसी तत्व को फेरा करती हैं। सारे पंचभूत ही शरीर की भस्म होंगे। प्रिय की वाणी जो कान से सुनती हो वही कुंडल है, पाँव में पड़ना ही खड़ाऊँ हैं, एक पल के लिए गोरा बादल के पास जाओ, और वहीं सहारा लो।

# ५१. पद्मावती-गोरा-बादल-सम्वाद-खण्ड

[ ६०७ ]

सखिन्ह बुझाई दगधि अपारा। गै गोरा बादिल के बारा॥
कँवल चरन भुईं जरम न धरे। जात तहाँ लगि छाला परे॥
निसरि आए सुनि छत्री दोऊ। तस काँपे जस काँप न कोऊ॥
केस छोरि चरनन्ह रज झारे। कहाँ पाँउ पदुमावति धारे॥
राखा आनि पाट सोनवानी। बिरह बियोग न बैठी रानी॥
चँवर धारि होइ चँवर डोलावहिं। माथें छाहँ, रजायसु पावहिं॥
उलटि बहा गंगा कर पानी। सेवक बार न आवै रानी॥
का अस कीन्ह कस्ट जिय, जो तुम्ह करत न छाज।
अग्याँ होइ बेगि कै, जीव तुम्हारे काज॥ ६०७॥

शब्दार्थ—दगधि = जलन। बारा = द्वार। जरम = जीवन भर। निसरि = निकल। आनि = लाकर। पाट = सिंहासन। सोनवानी = सुनहला। छाहँ-पाठान्तर-छात = छत्र। रजायसु = आज्ञा।

अर्थ—सखियों ने समझा-बुझाकर रानी की जलन को शान्त किया, तब रानी गोरा-बादल के द्वार पर गयी। उस महारानी ने कभी अपने कमल के समान चरण भूमि पर नहीं रखे थे इससे गोरा-बादल के घर जाते जाते उसके पैरों में छाले पड़ गये। उसका आगमन सुनते ही दोनों क्षत्रिय निकल आये, रानी के असम्भावित आगमन पर वे ऐसे काँपने लगे कि जैसा कोई न काँपेगा। उन दोनों ने अपने केश को खोल कर केशों से रानी के चरणों को झाड़ा और निवेदन किया कि हे रानी पद्मावती! तुमने कहाँ पर पदार्पण किया है? उन्होंने उसके लिए एक सुनहला सिंहासन रक्खा पर विरह के वियोग के कारण रानी सिंहासन पर न बैठी। तब दोनों वीर चँवर को लेकर रानी के ऊपर डुलाने लगे और कहने लगे कि आपकी छाया के भरोसे रह कर हम आज्ञा करने वाले हैं। आज तो गंगा का पानी उलटा बह रहा है क्योंकि

सेवक के द्वार पर तो रानी कभी नहीं आती। हे रानी, आज आपके जी को क्या कष्ट हो गया जो ऐसा काम किया जो शोभा नहीं देता, आज्ञा हो हम अपने जीव को आपके कार्य के लिए अर्पण करें।

[ ६०८ ]

कहै रोइ पदुमावति बाता। नैनन्ह रकत देखि जग राता॥
उलथि समुँद जस मानिक भरे। राई रुहिर आँसु तस ढरे॥
रतन के रंग नैन पै वारौं। रती रती कै लोहू ढारौं॥
कँवलन्ह ऊपर भँवर उड़ावौं। सूरज जहाँ तहाँ लै लावौं॥
हिय कै हरद, बदन के लोहू। जिउ बलि देउँ सो सँवरि बिछोहू॥
परहिं आँसु सावन जस नीरू। हरियर भुइँ, कुसुंभि तन चीरू॥
चढ़े भुवंग लुरहि लट केसा। भै रोवत जोगिनि के भेसा॥
बीर बहूटी होइ चली, तबहूँ रहहिं न आँसु।
नैनन्हि पंथ न सूझै, लागेउ भादवँ मासु॥ ६०८॥

शब्दार्थ—उलथि = उमड़ कर। मानिक = माणिक्य। ढरे = टपके। पै = अवश्य। रती-रती = रत्ती-रत्ती। लोहू = खून। हरद = हल्दी पीला। बदन = शरीर। सँवरि = स्मरण करके। हरियर = हरी। कुसंभि=कुसुम्भी रंग-पीला। भुवंग = साँप। लुरहि = लहरा रहे हैं। लट = बाल।

शब्दार्थ—पदुमावती रोकर बातें करने लगी। उसकी आँखों से रक्त की धारा बहते देख कर सारा संसार उस ललाई से लाल हो गया। जैसे समुद्र में नीचे से ऊपर आकर माणिक्य भर जाते हैं उसी तरह उसके आँसुओं में खून टपकने लगा। उसने कहा कि मैं रत्नसेन के रंग पर अपने नैनों को अवश्य निछावर करूँगी और धीरे-धीरे अपना सारा खून टपका दूँगी। अपने कमल रूपी नेत्रों के ऊपर भौंरा रूपी पुतलियों को उड़ाऊँगी और जहाँ पर सूर्य रूपी रत्नसेन है उन्हें ले जाकर उसे ले आऊँगी। मैं अपने हृदय को पीला और शरीर को खून से लाल करूँगी ( जैसे कि कमल ऊपर से लाल पर अन्दर से उसमें पीले रेशे हैं ) उसके वियोग को स्मरण करके मैं अपने जीवन की बलि दूँगी। मेरे आँसू ऐसे गिर रहे हैं जैसे सावन की वर्षा, उस अश्रु वर्षा से मेरा बदन हरी भूमि के समान और मेरे वस्त्र कुसुम्भी रंग के

(पीछे) हैं। मेरे केश ऐसे लहरा रहे हैं जैसे साँप चले हुए हों, मैं रोती हुई जोगिन के वेश में हो गयी हूँ। मैं रक्त के आँसुओं के कारण वर्षा ऋतु की बीर बहूटी के समान हो गयी हूँ फिर भी मेरे आँसू नहीं रुकते, आँखों से रास्ता इस प्रकार नहीं दिखाई पड़ता जैसे भादों मास की अँधेरी में नहीं दिखाई पड़ता।

अलंकार—उपमा, रूपक, और रूपकातिशयोक्ति।

[ ६०६ ]

तुम्ह गोरा बादिल खँभ दोऊ। जस भारथ तुम्ह और न कोऊ ॥
दुख बिरिखा अब रहै न राखा। मूल पतार, सरग भइ साखा ॥
छाया रही सकल मही पूरी। बिरह बेलि होइ बाढ़ि खजूरी ॥
तेहि दुख केत बिरिख बन बाढ़े। सीस उघारें रोवहिं ठाढ़े ॥
पुहुमी पूरि, सायर दुख पाटा। कौड़ी भई बिहरि हिय फाटा ॥
बिहरा हिए खजूरि क बिया। बिहरै नहिं यह पाहन हिया ॥
पिय जहँ बंदि जोगिनि होइ धावौं। हौं होइ बंदि पियहि मोकरावौं।

सूरज गहन गरासा, कँवल न बैठै पाट।
महूँ पंथ तेहि गवनब, कंत गए जेहि बाट ॥ ६०६ ॥

शब्दार्थ—खँभ = खँभा, सहारा। भारथ = महाभारत-पाठान्तर-पारथ = अर्जुन। बिरिखा = वृक्ष-पाठान्तर-बरखा = वर्षा। पूरी = भर गयी। केत = कितने ही-पाठान्तर-लेत। बिरिख = वृक्ष। बिहरि = विदीर्ण होकर। बिया = बीज। मोकरावौं = छुड़ाऊँ। महूँ = मैं भी।

अर्थ— पद्मावती कहती जा रही है कि हे गोरा-बादल तुम्हीं इस राज्य के एक मात्र आधार हो। तुम्हारे समान इस महाभारत की विपत्ति में और कोई नहीं है। अब तो दुःख रूपी वृक्ष रखा नहीं जाता, इस वृक्ष की मूल पाताल तक और शाखायें स्वर्ग तकप हुँच चुकी हैं। इसकी छाया सारे संसार में भर गयी है। विरह की बेल बढ़कर खजूर बन गयी है। उसी दुःख के कारण अन्य कितने ही वृक्ष वन में बढ़ गये हैं और वे सिर खोले रो रहे हैं। पृथ्वी को दुःख से भर कर उसने सागर को भी पाट दिया, कौड़ी भी उसी से हृदय में फट गयी ( कल्पना है कि कौड़ी जो फटी होती है उसका कारण

यही दुःख है ) खजूर के बीज का भी हृदय फट गया पर यह मेरा पत्थर दिल नहीं फट रहा है । जहाँ मेरा पति बन्दी है वहाँ मैं जोगिनी बनकर जाऊँगी और मैं बंदिनी बन कर अपने प्रियतम को छुड़वा दूँगी । सूर्य पर ग्रहण लगा है अर्थात् रत्नसेन बन्दी है तो मैं (कमल) सिंहासन पर न बैठूँगी, मैं भी उसी रास्ते जाऊँगी जिस रास्ते पर मेरा प्रिय गया है ।

[ ६१० ]

गोरा बादिल दुवौ पसीजे । रोवत रुहिर सीस पाँ भीजे ।
हम राजा सौं इहै कोहाने । तुम्ह न मिलहु धरि येहु तुरुकाने ॥
जो मत सुनि हम आइ कोंहाई । सो निआन हम माँथें आई ॥
जब लगि जियहिं, न ताकहिं दोहू । स्यामि जिऔ कस जोगिनि होहू ॥
उऔ अगस्ति हस्ति घन गाजा । नीर घटा घर आइहि राजा ॥
का बरखा अगस्त की डीठी । परै पलानि तुरंगम पीठी ॥
बेधौं राहु छड़ावौं सूरू । रहै न दुख कर मूल अँकूरू ॥
वह सूरज तुम्ह ससि सरद, आनि मिलावहिं सोइ ।
तस दुख महँ सुख उपनै, रैनि माँझ दिन होइ ॥ ६१० ॥

शब्दार्थ दुवौ = दोनों । पसीजे = द्रवित हुए । पाँ = पैर । पाठान्तर-रोवत रुहिर बूड़ि तन भीजे । कोहाने = रूठे । धरि = पकड़ो । तुरकाने = मुसलमान को । निआन = निदान, अन्त, परिणाम । ताकहिं = देखेंगे-पाठान्तर-भागहिं । दोहू = दोनों । स्यामि = स्वामी, पति । जिऊ = जीते जी । अगस्त = अगस्त तारा वर्षा के बाद शरद ऋतु में उदय होता है ( उदित अगस्त पंथ जल सोखा—तुलसी रामायण ) । हस्ति = हथिया नक्षत्र जो कि आश्विन (शरद) में होता है । पलानि = जीन । बेधौं = छेद दूँगा ।

अर्थ—गोरा-बादल दोनों ही रानी के वचनों पर बड़े ही द्रवीभूत हुए वे भी रोने लगे, उसके रक्त के आँसुओं से सिर से लेकर पैर तक भी भीग गये । उन्होंने कहा कि हम तो राजा से इसी लिए रूठे थे कि हे राजा तुम इस तुर्क (अलाउद्दीन) से न मिलो, इसे पकड़ लो । जिस राय पर हम रूठ कर चले आये थे वही परिणाम हमारे मत्थे पर आ गिरा । फिर भी जब तक हम दोनों जियेंगे और कहीं न देखेंगे इसलिये स्वामी (रत्नसेन) के

जीते जी तुम जोगिनी क्यों होगी ? अभी वर्षा ऋतु है, शरद् में अगस्त नक्षत्र के उदय होते ही हथिया नक्षत्र लगेगा, पानी घट जायेगा और राजा घर आयेगा। अर्थात् हम हाथियों को सजा कर चढ़ाई करेंगे, आपका दुःख घट जायगा। और राजा को हम वापस लायेंगे। अगस्त की दृष्टि से वर्षा क्या कर सकती है और फिर घोड़ों की पीठ पर जीन चढ़ेगी—भाव यह कि हमारे चढ़ाई करने पर मजाल नहीं कि आपका दुःख रह जाय। हम मत्स्यवेध कर अपने सूर्य (रत्नसेन) को छुड़ा लेंगे और फिर दुःख का मूल और अंकुर भी न रह पायेगा। रत्नसेन सूर्य है और तुम शरद् की चांद हो। हम सूर्य को चाँद से ला मिलायेंगे। दुःख से सुख उसी प्रकार उत्पन्न होता है जैसे रात में ही से दिन निकलता है।

अलंकार—सांग रूपक और पूर्णोपमा।

[ ६११ ]

लेहु पान बादिल औ गोरा। केहि लै देउँ उपमा तुम्ह जोरा॥
तुम्ह सावँत, नहिं सरवरि कोऊ। तुम्ह अंगद हनिवंत सम दोऊ॥
तुम्ह बलबीर जाज जगदेऊ। तुम्ह मुस्टिक और मालकँदेऊ॥
तुम्ह अरजुन औ भीम भुआरा। तुम्ह नल नील मेंड़ देनिहारा॥
तुम्ह टारन भारन जग जाने। तुम्ह सो परसु औ करन बखाने॥
तुम्ह मोरे बादिल औ गोरा। काकर मुख हेरों बँदिछोरा॥
जस हनिवँत राघौ बँदि छोरी। तस तुम्ह छोरि मिलावहु जोरी॥
जैसें जरत लखा घिहँ, साहस कीन्हेउ भीवँ।
जरत खंभ तस काढ़हु, कै पुरुखारथ जीवँ॥ ६११॥

शब्दार्थ—लेहु = लो। जोरा = बराबरी। सावँत = सामन्त। सरबरि = समता। जाज पाठान्तर-जैसे। मुस्टिक-पाठान्तर-शंकर। मालकँदेऊ = मालदेव। भुवारा = भूपाल, राजा। मेंड़ = रोक। देनिहारा = देने वाले। परसु = परशुराम-पाठान्तर-सुपुरुष। बँदिछोरा = बन्धन काटने वाले।

अर्थ—रानी ने कहा कि हे गोरा और बादल! पान का बीड़ा लो। तुम्हारे समान किस की उपमा दूँ ? तुम हमारे सामन्त हो। तुम्हारे समान कोई नहीं है, तुम हमारे लिए अंगद और हनूमान् के समान हो। तुम बल-

वीर और जगदेव हो, तुम मुस्टिक और मालवदेव हो। तुम दोनों अर्जुन और भीम हो। तुम नल-नील के समान सहारा देने वाले हो, तुम संसार के भार टालने वाले प्रसिद्ध हो। तुम्हारे समान परशुराम और कर्ण थे। तुम्ही मेरे गोरा और बादल हो, तुम बन्धन के छुड़ाने वाले हो। तुम्हारे होते हुए मैं किसका मुख देखूँ ? जिस प्रकार हनूमान् जी ने राम का दुःख दूर किया उसी प्रकार तुम हमारे दुःख को दूर कर हमारी जोड़ी को मिलाओ। जैसे जब लाक्षागृह जल रहा था, तो भीम ने साहस किया था, उसी प्रकार जलते हुए खंभे को गिराकर दिल पै पुरुषार्थ करके रक्षा करो।

अलंकार—पूर्णोपमा।

इस पद के पश्चात् भी पं० रामचन्द्र शुक्ल संपादित ग्रन्थावली में निम्न-लिखित पद हैं जो कि डा० माताप्रसाद वाली ग्रन्थावली में प्रक्षिप्त माना गया है—

राम लखन तुम दैत संवारा। तुमही घर बलभद्र भुवारा॥
तुमही द्रोन और गंगेऊ। तुम लेखौं जैसे सहदेऊ॥
तुमही जुधिष्टिर औ दुरजोधन। तुमही नील नल दोउ संबोधन॥
परसुराम राघव तुम जोधा। तुम्ह परतिज्ञा तें हिम बोधा॥
तुमहिं सत्रुहन भरत कुमारा। तुमहि कृस्न चानूर संवारा॥
तुम परदुम्न औ अनिरुध दोऊ। तुम अभिमन्यु बोल सब रोऊ॥
तुम्ह सरि पूज न विक्रम साके। तुम हमीर हरिचन्द सत आँके॥
जस अति संकट डवन्ह, भएउ भींव बंदि छोर।
तस परबस पिऊ काढ़उ, राखि लेहु भ्रम मोर॥

शब्दार्थ—गंगेऊ = गांगेय-भीष्म। लेखौं = समझती हूँ, देखती हूँ। भ्रम = आग्रह। बँदिछोर = बन्धन से छुड़ाने वाला।

अर्थ—स्पष्ट है।

नोट—इस पद में कई पुनरुक्तियाँ हैं और कई जगहों पर दो के स्थान पर एक ही उपमान लाया गया है, पर जायसी की काव्य-प्रवृत्ति के लिए यह अस्वाभाविक नहीं है।

[ ६१२ ]

गोरा बादिल बीरा कीन्हा । जस अंगद हनिवंत बर कीन्हा ॥
साजि सिंहासन, तानहिं छातू । तुम्ह माँथें जुग जुग अहिवातू ॥
कवँल चरन भुइँ धरत दुखावहु । चढ़हु सुखासन मँदिल सिधावहु ॥
सुनि सूरज कवँलहि जिय जागा । केसरि बरन फूल हियँ लागा ॥
जनु निसि महँ रवि दीन्ह देखाई । भा उदोत, मसि गई बिलाई ॥
चढ़ि सो सिंघासन झमकत चली । जानहुँ दुइज चाँद निरमली ॥
औ सँग सखी कमोद तराईं । ढारत चँवर मँदिल लै आईं ॥

देखि सो दुइज सिंघासन, संकर धरा लिलाट ।
कवँल चरन पदुमावति, लै बैसारेन्हि पाट ॥ ६१२ ॥

शब्दार्थ—बर = बल । अहिवातू = सोहाग, सधवापन । उदोत = प्रकाश । मसि = अँधेरा । बिलाई = नष्ट हुआ । बैसारेन्हि = बिठाया ।

अर्थ—गोरा-बादल ने पान का बीड़ा लिया । जैसे अंगद और हनूमान् ने राम-युद्ध में शौर्य दिखाया—उसी प्रकार महान् कार्य करने के लिए दोनों तैयार हुए । उन्होंने कहा कि हे रानी, तुम सिंहासन को सजवा कर उस पर छत्र लगवाओ । तुम्हारे मत्थे पर सोहाग युग-युग रहे । कमल रूपी चरणों को आपने भूमि में रख कर अत्यन्त दुःखी किया है, अब सुन्दर रथ पर चढ़ कर महल को जाइए । सूर्य रूपी रत्नसेन के मिलने की आशा को सुनकर कमल रूपी पद्मावती का हृदय जग पड़ा । उसका हृदय केसर के वर्ण का होने लगा अर्थात् उस पर प्रसन्नता का प्रकाश छा गया । उसके चेहरे पर प्रकाश हुआ मानो रात्रि में दिन दिखाई पड़ा हो, प्रकाश हुआ और निराशा रूपी अन्धकार नष्ट हो गया । वह सुन्दर पालकी पर चढ़ कर चमकती हुई चली, मानो दूज का निर्मल चन्द्रमा है । उसके साथ सखियाँ ऐसी लगीं जैसे तारागण हों । वे चँवर डुलाती हुई रानी को राजमहल में ले आईं । उस दूज रूपी पद्मावती को देख कर शंकर ने अपने मत्थे को सिंहासन रूप में रख दिया, उसी प्रकार सखियों ने कमल-चरणों वाली पद्मावती को राजसिंहासन पर ला बिठाया ।

अलंकार—उत्प्रेक्षा—रूपक ।

# ५२. गोरा-बादल-युद्ध-यात्रा खण्ड

[ ६१३ ]

बादिल केरि जसोवै माया। आइ गहे बादिल के पाया॥
बादिल राय मोर तूँ बारा। का जानसि कस होइ जुझारा॥
पातसाहि पुहुमीपति राजा। सनमुख होइ न हमीरहिं छाजा॥
छत्तिस लाख तुरै जेहिं छाजहिं। बीस सहस हस्ती दर गाजहिं॥
जबहिं आइ जुरिहै वह ठटा। देखत जैस गगन घन घटा॥
चमकहिं खरग सो बीजु समाना। गल गाजहिं घुम्मरहिं निसाना॥
बरसहिं सेल बान घन घोरा। धीरज धीर न बाँधहि तोरा॥

जहाँ दलपती दलमलहिं, तहाँ तोर का जोग।
आजु गवन तोर आवै, मंदिल मानु सुख भोग॥ ६१३॥

शब्दार्थ—केरि = की। जसोवै = यशोदा। माया = माँ। पाया = पैर। बारा = बालक। जानसि = जानते हो। जुझारा = युद्ध। तुरै = घोड़े। दर = दल। ठटा = झुंड। गलगाजहिं = गर्जेंगे। गवन = गौना।

अर्थ—बादल की माँ यशोदा ने आकर उसके पैर पकड़ लिए। उसने कहा कि हे बादलराय! तू अभी बालक है, तू क्या जाने कि युद्ध कैसा होता है? बादशाह अलाउद्दीन पृथ्वी का राजा है, उसके सामने होकर तो हम्मीर देव भी न टिक सका। भला जिसकी सेना में छत्तीस लाख घोड़े शोभा पा रहे हैं और बीस हजार हाथी गर्ज रहे हैं, जब वह सेना आकर उपस्थित होगी जो कि देखने में आकाश की घटाओं के समान है, उसमें बिजली के समान तलवारें चमकेंगी, नगाड़ों की आवाज चारों ओर गूँज उठेगी, बाण-सेल आदि घनघोर रूप से बरसेंगे, ऐसे युद्ध में बड़े-बड़े धैर्यवान् भी नहीं टिकते, जहाँ बड़े-बड़े सेनापति लोग नष्ट हो जाते हैं, वहाँ भला तू किस योग्य है। तेरा तो आज ही गौना आया है, तू महल में रह कर सुख का भोग कर।

[ ६१४ ]

मता न जानसि बालक आदी । हौं बादिला सिंघ रनबादी ॥
सुनि गज जूह अधिक जिउ तपा । सिंघ की जाति रहै नहिं छपा ॥
तब गाजन गलगाज सिंघेला । सौंह साहि सौं जुरौं अकेला ॥
अंगद कोपि पाँव जस राखा । टेकौं कटक छतीसौं लाखा ॥
को मोहि सौंहँ होइ मैमंता । फारौं कुंभ, उचारौं दंता ॥
जादौं स्याम सँकरे जस टारा । बल हरि जस जुरजोधन मारा ॥
हनिवँत सरिस जंघ बर जोरौं । धँसौं समुद्र, स्वामि बँदि छोरौं ॥

जौं तुम्ह मात जसोवै, कान्ह न जानहु बार ।
जहँ राजा बलि बाँधा, छोरौं पैठि पतार ॥ ६१४ ॥

शब्दार्थ—आदी = बिलकुल । रनबादी = युद्ध करने वाला । जूह = झुँड । सिंघेला = सिंह का बच्चा । जुरौं = उपस्थित हूँगा । मैमंता = मस्त हाथी । कुंभ = मस्तक । उचारौं = तोड़ डालूँगा । जादौं = यदुवंशी-पाठान्तर-जुरौं । स्वामि-सँकरे = स्वामी के संकट में । टारा = हटाया-पाठान्तर-ढारा = ढाला । बल हरि = शक्ति को नष्ट कर-पाठान्तर-पेलौं = जोर से चलाऊँ । जुरजोधन = दुर्योधन । हनिवँत = हनूमान् । जंघ बर = जंघा के बल से । स्वामि = स्वामी ।

अर्थ—बादल ने कहा कि हे माता ! तू अपने बालक को बिलकुल ही नहीं जानती । मैं रण में युद्ध करने वाला वीर बादल हूँ । सुनो, जैसे यदि हाथियों का बड़ा भारी झुण्ड क्रोध करके बढ़े तो सिंह जाति का शेर उनके डर से छिप नहीं जाता । उन्हें देख कर तो शेर-बच्चा बड़े जोर से प्रसन्न होकर गर्जता है । इसी प्रकार मैं भी शाह अलाउद्दीन की सेना से अकेले ही भिड़ूँगा । जिस प्रकार अंगद ने क्रोध करके अपने पैर को रोक दिया था उसी प्रकार मैं भी शाह की छत्तीस लाख सेना को रोक दूँगा । मेरे सामने मस्त हाथी बन कर कौन आ सकता है, मैं उसका पेट फाड़ डालूँगा और दाँत तोड़ डालूँगा । जिस प्रकार यदुवंशी कृष्ण ने संकट को टाला था और दुर्योधन की सारी शक्ति को हरण करके उसे मरवाया था, उसी प्रकार मैं भी

शाह की सेना का संहार करूँगा। हनूमान् के समान मैं भी अपने बल का प्रयोग करूँगा और समुद्र में प्रवेश करके अपने स्वामी रत्नसेन के बन्धन को छुड़ाऊँगा। तू तो सचमुच यशोदा माता है, कृष्ण की माँ यशोदा भी तो अपने बालक कृष्ण का बल नहीं जानती थी, जहाँ मेरा राजा बलि (रत्नसेन) बँधा है, उस पाताल में प्रवेश करके मैं उसे छुड़ा लाऊँगा।

अलंकार—साङ्गरूपक।

[ ६१५ ]

बादिल गवन जूझि कहँ साजा। तैसेहिं गवन आइ घर बाजा॥
तिहँ साथ गवने कर चारू। चन्द्र बदनि रचि कीन्ह सिंगारू॥
माँग मोंति भरि सेंदुर पूरा। बैठ मँजूर, बाँक तस जूरा॥
भौंहें धनुक टँकोरि परीखे। काजर नैंन, मार सर तीखे॥
घालि कचपची टीका सजा। तिलक जो देख ठाऊँ जिउ तजा॥
मनि कुंडल डोलहिं दुइ सवना। सीस धुनहिं सुनि सुनि पिय गवना॥
नागिनि अलक, झलक उर हारू। भएउ सिंगार कंत बिनु भारू॥
गवन जो आई पिय रवनि, पिय गवने परदेस।
सखी बुझावौं किमि अनल, बुझै सो कहु उपदेस॥ ६१५॥

शब्दार्थ—जूझि=युद्ध। बाजा=उपस्थित हुआ। चारू=रीति। पूरा=भरा हुआ। मंजूर=मयूर-मोर। बाँक=सुन्दर। जूरा=जूड़ा, चोटी का गुच्छा। धनुक=धनुष। टंकोरि=टंकार कर। परीखे=परीक्षा की। घालि=डाल कर, लगा कर। कचपची=कृत्तिका नक्षत्र, चमकी। टीका=मस्तक पर की बिन्दी। अलक=बाल। रवनि=रमणी-पाठान्तर-पंवरी=ड्योढ़ी।

अर्थ—ज्यों ही बादल ने युद्ध की तैयारी की वैसे ही उसकी नव-वधू का गौना घर पर आ उपस्थित हुआ। गौने की रीति लिये हुए चन्द्रमुखी वधू शृंगार युक्त आ गई। उसने अपनी मांग में सिंदूर भरा था और मोती पहन रखे थे। उसके बालों का जूड़ा ऐसा सुन्दर था, मानो मोर बैठा हो। उसने भौंहें रूपी धनुष पर टंकार करके उनकी परीक्षा ली अर्थात् टेढ़ी भौंहों से पति को देखा और कजराले नेत्रों से तीखे बाणों को चला दिया। उसने कृत्तिका नक्षत्रों के समान चमकी लगा कर टीका लगा रखा था, जो कोई

उस टीके को देखता वही मूर्छित हो जाता। उसके दोनों कानों पर मणि जटित कुंडल डोल रहे थे, मानो वे इसलिए सिर धुन रहे थे कि उन्होंने प्रिय के रण गमन को सुन लिया था। सर्पिणी रूपी चोटी झलक रही थी और हृदय का हार चमक रहा था, यह सब श्रृंगार बिना पति के भार हो रहा था। यह सुन्दरी तो गौने आई है और पति परदेश ( रण ) को चला है। इस पर वधू अपनी सखी से कहती है कि अब मैं अपने अन्तर की आग को कैसे बुझाऊँ। अब तू ऐसा उपदेश कर कि यह आग बुझ जाय।

[ ६१६ ]

मानि गवन जस घूँघट काढ़ी। बिनवैं आइ नारि भै ठाढ़ी॥
तीखे हेरि चीर गहि ओढ़ा। कंत न हेर, कीन्ह जिय पोढ़ा॥
तब धनि बिहँसि कीन्ह चख डीठी। बादिल तबहिं दीन्ह फिरि पीठी॥
मुख फिराइ मन उपनी रीसा। चलत न तिरिया कर मुख दीसा॥
भा मन फीक नारि के लेखें। कस पिय पीठि दीन्ह मोहि देखें॥
मकु पिय दिस्टि समानेउ सालू। हुलसा पीठि कढ़ावै सालू॥
कुच तूँबी अब पीठि गड़ोवौं। कहेसि जो हूक, काढ़ि रस धोवौं॥
रहौं लजाइ तो पिय चलै, कहौं तो मोहि कह ढाठि।
ठाढ़ि तिवानी का करौं, दूभर दुवौ बसीठि॥६१६॥

शब्दार्थ—काढ़ी = निकाला। नारि-पाठान्तर-बार = द्वार। हेरि = देख कर। पोढ़ा = कठोर। धनि = स्त्री। चखु = आँख। डीठी = दृष्टि। उपनी = उत्पन्न हुई। रीसा = क्रोध। तिरिया=स्त्री। दीसा = देखते हैं। मकु = शायद। समानेउ = समा गई। हुलसा = निकला। कढ़ावै = निकलवायेगा। सालू = काँटा, दर्द। तूँबी = एक छोटी तुम्बी जिसे लगा कर मुँह से चूस कर उभरे हुए काँटे को लोग निकालते हैं—या पीठ के दर्द को निकलवाते हैं। कहेसि = कहेगा-पाठान्तर गहे = पकड़े। हूक = दर्द। तिवानी=चिन्ता में पड़ी हुई। दूभर = कठिन। दुवौ = दोनों। बसीठि = दूत-पाठान्तर-बईठ = बैठा।

अर्थ—बहू ने गौना समझ कर लम्बा घूँघट निकाल रखा था, पर विनय करने के लिए बादल के सामने आकर खड़ी हो गयी। टेढ़ी दृष्टि से

देख कर उसने अपने पल्लों को खींच कर ओढ़ लिया, पर उसका पति उसकी ओर नहीं देखता। उसने अपना हृदय कठोर कर लिया है। तब बहू ने मुस्करा कर अपनी दृष्टि बादल पर डाली, तब बादल ने उसे पीठ पीछे कर लिया। उसने मुख फिरा लिया। उसे क्रोध हुआ, क्योंकि युद्ध को चलते हुए पत्नी का मुख न देखना चाहिए। नारी की ओर से उसका मन फीका हो गया। इस पर बहू ने सोचा कि क्या कारण है जो पति मुझे देख कर पीठ दिखा रहा है। शायद पति में मेरी दृष्टि का बाण समा गया है और वह पीठ में उभर आया है और उसी बाण की अनी को निकलवाने के लिए इसने अपनी पीठ मेरी ओर कर दी है। तो अब मैं अपने कुच रूपी तूम्बो को इसकी पीठ पर गड़ाऊँगी और जिस दर्द के लिए इसने कहा है उसे निकाल कर सुख के रस से उसे धो दूँगी।

यदि मैं अब लजा कर रहूँगी तो पति चला जायेगा और उससे कुछ कहूँगी तो लोग मुझे बड़ी धृष्ट कहेंगे। अब मैं चिन्ता में पड़ी क्या करूँ। मेरे लिए तो दोनों ही बातें बड़ी कठिन हैं।

अलंकार—हेतूत्प्रेक्षा—मकु पिय दिस्टि ········रस धोवौं।

[ ६१८ ]

मान किहें जौ पियहि न पावौं। तजौं मान कर जोरि मनावौं॥
कर हुँति कंत जाइ जेहि लाजा। घूँघट लाज आव केहि काजा॥
तब धनि बिहँसि कहा गहि फेंटा। नारि जो बिनवै कंत न मेंटा॥
आजु गवन हौं आई नाहाँ। तुम्ह न कंत गवनहुँ रन माहाँ॥
गवन आव धनि मिलन की ताईं। कवन गवन जो गवनै साईं॥
धनि न नैन भरि देखा पीऊ। पिय न मिला धनि सौं भरि जीऊ॥
तहँ सब आस भरा हिय केवा। भँवर न तजै बास रस लेवा॥
पायन्ह धरै लिलाट धनि, बिनति सुनहु हो राय।
अलक परी फँदवारि होइ, कैसेहुं तजै न पाय॥६१७॥

शब्दार्थ—मान, पाठान्तर लाज। कर हुँति = हाथ से-पाठान्तर-करि हठ। फेंटा = कमरबंद। ताईं = लिए। केवा = कमलिनी। लेवा = लेने वाला। अलक = बाल। फंदवार = फंदा। पाय=पैर।

अर्थ—वधू अपने आप कहने लगी कि—रूठने पर पति को नहीं पा सकती, इसलिए अब मैं रूठना छोड़ कर हाथ जोड़ कर विनती करूँगी। जिस लाज के कारण हाथ से पति निकल जाय वह घूँघट की लज्जा किस काम की। तब वह स्त्री हँस कर और अपने पति के कमर बंद को पकड़ कर कहने लगी कि पत्नी जो विनय करती है पति उसे अस्वीकार नहीं करता। हे नाथ ! मैं आज ही गौने को आयी हूँ। इसलिए हे पति तुम रण में न जाओ। वधू तो मिलने ही के लिए गौने में आती है, तो भला यह कौन सा गौना है जिसमें पति ही चला जाय। न तो वधू ने पति को नेत्र भर के देखा और न पति बहू से जी भर कर मिल सका। कमलिनी रूपी मेरा दिल अनेक आशाओं और आकांक्षाओं से भरा है, भौंरा इस प्रकार कमल को नहीं छोड़ता वह तो रस लेता है। हे पतिदेव, मैं आपके पैरों पर पड़ती हूँ, मेरे बाल फंदे होकर तुम्हारे पैरों में पड़े हैं। किसी प्रकार इन्हें छोड़ नहीं सकते।

[ ६१८ ]

छाँड़ु फेंट धनि बादिल कहा। पुरुख गवन धनि फेंट न गहा॥
जौं तूँ गवन आइ गजगामी। गवन मोर जहँवाँ मोर स्वामी॥
जब लगि राजा छूटि न आवा। भावै बीर, सिंगारु न भावा॥
तिरिया पुहुमि खरग कै चेरा। जीतै खरग होइ तेहि केरा॥
जेहिं कर खरग मूठि तेहि गाढ़ी। जहाँ न आँछ न मोंछ न दाढ़ी॥
तब मुख मोंछ जीव पर खेलौं। स्वामि काज इंद्रासन पेलौं॥
पुरुख बोलि कै टरै न पाछू। दसन गयंद, गीव नहिं काछू॥
तूँ अबला धनि मुगुध बुधि, जानै जाननिहार।
जहँ पुरुखन्ह कहँ बीर रस, भाव न तहाँ सिंगार॥५१८॥

शब्दार्थ—खरग=तलवार। स्वामि=स्वामी। मूँठि=तलवार की मूँठ-पाठान्तर-मूँछ।

अर्थ—बादल ने कहा कि हे बहू, तू मेरे कमरबन्द को छोड़ दे, पुरुष के चलते समय कोई भली स्त्री उसका कमरबन्द नहीं पकड़ती। हे गज-गामिनी यदि तू इस समय गौने में आई है तो मैं भी कहता हूँ कि मेरा गौना (जाना) भी वहाँ है, जहाँ मेरा स्वामी है। जब तक राजा छूट कर नहीं आता

तब तक मुझे भी वीर रस अच्छा ही लगता है, शृंगार नहीं अच्छा लगता है। स्त्री और पृथ्वी तो तलवार की दासियाँ हैं, जो तलवार में जीतता है उसी की हो जाती हैं। जिसके हाथ में तलवार है उसी में बड़प्पन है। पर जहाँ तलवार की रोक नहीं है वहाँ न मूँछ है और न दाढ़ी अर्थात् उसकी कोई इज्जत नहीं है। मेरे मुख पर मूँछें तभी समझनी चाहिएं, जब मैं जीव पर खेल जाऊँ और स्वामी के काम के लिए इन्द्रासन को ढकेल दूँ। पुरुष एक बार कह कर फिर पीछे नहीं हटता, हाथी का दाँत भी उसके लिए कुछ नहीं है। तू तो स्त्री है, तेरी बुद्धि मोहित है, इस बात को तो वही समझेगा जो इसका अच्छा समझदार है, जहाँ पुरुषों के लिए वीर रस है वहाँ शृंगार रस प्रिय नहीं लगता।

[ ६१६ ]

जौं तुम्ह जूझि चहौ पिय बाजा। किहें सिंगाह जूझि मैं साजा॥
जोबन आइ सौंहँ होइ रोपा। पखरा बिरह, काम दल कोपा॥
भएउ वीर रस सेंदुर माँगा। राता रुहिर खरग जस नाँगा॥
भौहें धनुक नैन सर साँधे। काजर पनच, बरुनि बिख बाँधे॥
दै कटाख सो सान सँवारे। औ नख सेल भाल अनियारे॥
अलक फाँस गियँ मेलि असूझा। अधर अधर सौं चाहै जूझा॥
कुंभस्थल दुइ कुच मैमंता। पेलौं सौंहँ, सँभारहु कंता॥
कोपि सँघारहु बिरह दल, टूटि होइ दुइ आध।
पहिलें मोहि संग्राम कै, करहु जूझ कै साध॥ ६१६॥

शब्दार्थ—बाजा = लड़ना। पखरा = विखरा हुआ। साँधे = चलाए। पनच=प्रत्यंचा-धनुष की डोरी। अनियारे = बड़े तेज।

अर्थ—बादल की स्त्री बोली कि हे पति यदि तुम युद्ध में ही लड़ना चाहते हो तो मैंने शृंगार के युद्ध की तैयारी कर रखी है। यौवन सामने आकर उपस्थित है। विरह बिखरा है और काम-दल क्रुद्ध है। इसमें मांग का सिन्दूर वीर रस है और लाल रङ्ग खून से रंगी हुई नंगी तलवार है। भौंहें ही धनुष हैं और नेत्र ही बाण चल रहे हैं। काजल प्रत्यंचा है और बरौनियाँ विष से बुझे बाण बँधे हैं। कटाक्ष ने इनको सान पर चढ़ा कर

सँवारा है, नाखून सेल, भाले आदि हैं। बाल गले में लिपट कर, होंठ होठों से मिल कर युद्ध करना चाहते हैं। छाती में दो कुच मतवाले हाथी हैं, इन्हें मैं आगे गिरा रही हूँ, हे प्रिय तुम इससे सम्भलो। विरह के दल को रोक करके संहार कीजिए, टूट कर आधा हो जायेगा। इस प्रकार पहले मुझसे युद्ध करो और युद्ध सम्बन्धी अपनी चाह को पूरी करो।

अलंकार—साङ्ग रूपक।

( ६२० )

कैसेहु कंत फिरै नहिं फेरें। आगि परी चितउर धनि केरें॥
उठे सो धूम नैन करुआने। जबहीं आँसु रोइ बेहराने॥
भीजे हार, चीर, हिय चोली। रही अछूत कंत नहिं खोली॥
भीजी अलक चुईं कटि मंडन। भीजे भँवर कँवल सिर फुंदन॥
चुइ काजर आँचर भीजा। तबहूँ न पिय कर रोवँ पसीजा॥
छाँड़ि चला हिरदै दै डाहू। निठुर नाह आपन नहिं काहू॥
सबै सिंगार भीज भुइँ चुवा। छार मिलाइ कंत नहिं छुवा॥
रोएँ कंत न बहुरे, तेहि रोएँ का काज।
कंत धरा मन जूझ रन, धनि साजे सब साज॥ ६२० ॥

शब्दार्थ—करुआने = कड़ुए लगने से दुखने लगे। बेहराने = बिखर गये। चुईं = टपकी। कटि मंडन = करधनी, तगड़ी।

पाठान्तर—अन्तिम चार पंक्तियों के स्थान पर शुक्ल जी द्वारा सम्पादित ग्रन्थावली में पद इस प्रकार हैं।

जौ तू केत जूझ जिउ कीधा। तुम किय साहस मैं सत बाँधा।
रन संग्राम जूझि जिति आवहु। लाज होइ जौ पीठि दिखावहु॥
तुम्ह पिय साहस बाँधा, मैं दिय माँग सिंदूर।
दोउ सँभारे होइ सँग, बाजे मादर तूर॥

अर्थ—किसी प्रकार भी उसका पति लौटता नहीं। तब उस स्त्री के हृदय में अग्नि पड़ गई अर्थात् वेदना उत्पन्न हुई। उस अग्नि के पड़ने से धुँआ उठा, उससे उसकी आँखें कड़ुआने लगीं, इस पर उसके आँसू बिख-

रने लगे। आँसुओं के जल से उसके हार, चीर, हृदय की चोली सब भीग गये। उसकी चोली अभी तक छुई न गई क्योंकि उसके पति ने उसे खोला ही नहीं। उसकी लटें भी भीग गईं, उसकी करधनी जल के प्रवाह से गिर गयी। उसके भौंरों के समान काले बाल और उसके बाँधने वाले फंदे सब भीग गये। काजल चू-चू कर गिरे, उनसे उसका सारा अंचल भीग गया, तब भी उसके पति को दया न आई। वह उसके हृदय में जलन उत्पन्न करके चला गया, पति निष्ठुर हो जाय तो अपना कोई नहीं है। सभी शृंगार भीग-भीग कर जमीन में बह गये, सभी मिट्टी में मिल गये, पर उन्हें पति ने छुआ न था। कवि कहता है कि पत्नी के रोने पर भी पति तो लौटता नहीं, तो रोने से क्या लाभ। पति ने तो लड़ाई की ओर चित्त लगा रखा है और पत्नी ने सभी शृंगार कर रखे हैं।

———

# ५३. गोरा-बादल-युद्ध-खण्ड

[ ६८१ ]

मँते बैठ बादिल औ गोरा । सो मन कीज परै नहिं भोरा ॥
पुरुख न करहिं नारि मति काँची । जस नौसावै कीन्ह न बाँची ॥
हाथ चढ़ा इसिकंदर बरी । सकति छाँड़ि कै भै बँदि परी ॥
सजरा जो नाहिं काह बर काँधा । बधिक हुतें हस्ती गा बाँधा ॥
देवन्ह चालि आई असि आँटी । सुजन कंचन दुर्जन भा माँटी ॥
कंचन जुरै भए दस खंडा । फुटि न मिलै माँटी कर भंडा ॥
जस तुरुकन्ह राजहिं छर साजा । तस हम साजि छुड़ावहिं राजा ॥

पूरुख तहाँ करै छर, जहँ बर कीन्हें न आँट ।
जहाँ फूल तहाँ फूल होइ, जहाँ काँट तहाँ काँट ॥ ६८१ ॥

शब्दार्थ—मंते = सलाह के लिए । कीज = करना चाहिए । भोरा = धोखा । काँची = कच्ची । नौसावैं = नौशाबा नाम की एक स्त्री जिसके यहाँ सिकन्दर दूत के वेश में गया था । नौशाबा ने सिकन्दर को पहचान कर भी छोड़ दिया । फल यह हुआ कि बाद में वह सिकन्दर के अधीन हुई । यह कथा सिकन्दरनामा में है । बाँची = बची । बरी-पाठान्तर-बैरी । बर = बल । काँधा = कन्धे में । हुते = से—इस पंक्ति का पाठान्तर इस प्रकार है—सुबुधि जो ससा सिंह कहँ मारा । कुबुद्धि सिंघ कूआं परिहारा ॥ इसमें खरगोश के द्वारा सिंह का कुएँ में गिरना है । आँटी = ढेर-बहुत । भंडा = बर्तन । छर = छल । बर = बल । आँट = पूरा पड़ता ।

अर्थ—बादल और गोरा सलाह के लिए बैठे, उन्होंने कहा कि ऐसी राय बनानी चाहिए कि फिर संशय न रहे, काम पूरा ही हो जाय । पुरुष स्त्री की भाँति कच्ची राय नहीं करता । जैसे नौशाबा ने जब कच्ची राय की तो वह बच न सकी—सिकन्दर को उसने एक बार छोड़ दिया, तभी तो वह सिकन्दर के हाथ में आ गयी, उसकी शक्ति हीन हो गयी और वह सिकन्दर

के अधिकार में हो गयी। यदि कोई सजग न रहे तो उसके कन्धों का बल क्या कर सकता है। बड़ा बलशाली हाथी भी वधिक के द्वारा चतुराई से बाँध लिया जाता है। देवताओं से ही ऐसे आम उदाहरण मिलते जाते हैं। सज्जन तो सोने के समान और दुर्जन मिट्टी के समान होता है—सोना तो दस टुकड़े हो जाय तो भी जुड़ सकता है, पर मिट्टी का बर्तन एक बार टूट कर फिर नहीं जुड़ सकता—अर्थात् सज्जन तो बिगड़ कर मिल भी सकता है पर दुर्जन कभी नहीं मिल सकता। जिस प्रकार मुसलमानों ने राजा को छल करके पकड़ लिया उसी प्रकार हम भी छल करके राजा को छुड़ायेंगे। पुरुष तो वहीं छल करता है जहाँ उसका बल पूरा नहीं पड़ता। जहाँ फूल है वहाँ फूल और जहाँ काँटा है वहाँ काँटा अर्थात् भले के साथ भला वर्ताव और छली के साथ छल करना उचित है।

[ ६२२ ]

सोरह सौ चंडोल सँवारे। कुँवर सँजोइल कै बैसारे ॥
साजा पदुमावति क बेवानू। बैठ लोहार न जानै भानू ॥
रचि बेवान तस साजि सँवारा। चहुँ दिसि चँवर करहिं सब ढारा ॥
साजि सबै चंडोल चलाए। सुरँग ओढ़ाइ, मोंति तिन्ह लाए ॥
भै सँग गोरा बादिल बली। कहत चले पदुमावति चली ॥
हीरा रतन पदारथ झूलहिं। देखि बेवान देवता भूलहिं ॥
सोरह सै सँग चलीं सहेलीं। कँवल न रहा, औरु को बेली ॥
रानी चली छड़ावै राजहिं, आपु होइ तेहि ओल।
बत्तिस सहस सँग तुरिअ खिंचावहि, सोरह सै चंडोल ॥ ६२२ ॥

शब्दार्थ—चंडोल = पालकी। सँजोइल = हथियारों से सुसज्जित। बैसारे=बैठाये। बेवानू = विमान-पालकी। ओढ़ाइ-पाठान्तर-ओहार = पालकी ढाँकने की चादर। ओल = जमानतदार। तुरिअ = घोड़ा।

अर्थ—सोलह सौ पालकियाँ सजाई गईं, उन पर हथियारों से सजाए हुए वीर राजपूत बिठाये गये। पद्मावती की पालकी भी सजाई गयी, उस पर एक लोहार इस प्रकार गुप्त भाव से बैठा जिसे सूर्य भी नहीं जान सकता। पालकी सजकर उसको इस प्रकार सुशोभित किया कि चारों ओर चँवर

डुलाये जाते थे। सभी पालकियां सज-सज कर सुशोभित हुईं और चलीं। उसके ऊपर सुन्दर रंग के कपड़े जिनमें मोतियों की झालर लगी थी, डाले गये थे। इस रानी की पालकी के साथ गोरा और बादल बली राजपूत चले। सब लोगों ने कहा कि पद्मावती जा रही है। उसकी पालकी में मोती और हीरे की झूलें लगी थीं। उसकी पालकी को देखकर देवता तक मोहित हो जाते थे। उसके साथ सोलह सौ सहेलियाँ भी जा रही हैं। जब कमल (पद्मावती) ही न रही तो और लतायें (सखियाँ) क्या करेंगी। रानी राजा को छुड़ाने चली है उसके स्थान पर अपने को जमानतदार के रूप में दे देगी। उसके साथ बत्तीस सौ घोड़े और सोलह सौ पालकियाँ जा रही हैं क्योंकि प्रत्येक पालकी के अगल-बगल एक-एक घुड़सवार है।

[ ६२३ ]

राजा बन्दि जेहि की सौंपना। गा गोरा तापहँ अगुमना॥
टका लाख दस दीन्ह अँकोरा। विनती कीन्ह पाय गहि गोरा॥
बिनवहु पातसाहि पहँ जाई। अब रानी पदुमावति आई॥
बिनै करै आई हौं ढीली। चितउर की मो सिउँ है कीली॥
एक घरी जौं अग्याँ पावौं। राजहिं सौंपि मँदिल कहँ आवौं॥
बिनवहु पातसाहि के आगें। एक बात दीजै मोहि माँगें॥
हते रखवार आगें सुलतानी। देखि अँकोर भए जस पानी॥
लीन्ह अँकोर हाथ जेईं जाकर, जीव दीन्ह तेहि हाँथ।
जो वह कहै सरै सो कीन्हे, कनउड़ झार न माँथ॥ ६२३॥

शब्दार्थ—जेहिकी = जिसकी। सौंपना = देखरेख-सुपुर्दगी। गा = गया। अगुमना = आगे। अँकोरा = रिश्वत-भेंट। ढीली = दिल्ली। सिउँ = साथ। कीली = कुंजी। हते = थे-पाठान्तर-बब। पानी = नम्र। सरै = पूरा पड़े। कनउड़ = एहसानमन्द-आभारी।

अर्थ—राजा रत्नसेन जेल में जिसकी देख रेख में था, गोरा पहले उसी के पास गया। उसे दस लाख मुद्रायें घूस में दीं, फिर उसके पैर पकड़कर गोरा ने विनती की कि तुम बादशाह के पास जाकर विनती करो कि अब तो रानी पद्मावती आ गयी है। वह प्रार्थना कर रही है कि अब तो मैं दिल्ली

आ गयी हूँ, पर मेरे पास सारे चित्तौड़ की चाबी है। यदि एक घड़ी का अवकाश मिल जाय तो राजा को सारा राजमहल सौंप कर आ जाऊँ। इस प्रकार तुम बादशाह के सामने प्रार्थना करो। यही एक बात मैं आपसे माँग रहा हूँ। जो सुलतान के रक्षक थे वे रिश्वत पाकर पानी-पानी हो गये। कवि कहता है कि जो हाथ में रिश्वत ले लेता है वह तो रिश्वत देने वाले के हाथ अपना जीव ही रख देता है। रिश्वत देने वाला तब तो जो कुछ करना चाहता है उसका कार्य पूरा हो जाता है, रिश्वत के आभार के कारण घूस लेने वाला अपना मस्तक भी नहीं हिला पाता।

[ ६२४ ]

लोभ पाप कै नदी अँकोरा। सत्तु न रहै हाथ जस बोरा॥
जहँ अँकोर तहँ नेगिन्ह राजू। ठाकुर केर बिनासहिं काजू॥
भा जिउ घिउ रखवारन्ह केरा। दरब लोभ चंडोल न हेरा॥
जाइ साहि आगें सिर नावा। ऐ जग सूर चाँद चलि आवा॥
औ जावँत सँग नखत तराईं। सोरह सै चंडोल सो आईं॥
चितउर जेति राज कै पूँजी। लै सो आई पदुमावति कूँजी॥
बिनति करै कर जोरें खरी। लै सौंपौं राजहि एक घरी॥
इहाँ उहाँ के स्वामी, दुहूँ जगत मोहि आस।
पहिलें दरस देखावहु, तौ आवौं कबिलास॥ ६२४॥

शब्दार्थ—बोरा = डाला। ठाकुर = स्वामी। नेगिन्ह = धन लेने वाले-पाठान्तर-जीवन अच्छा नहीं। बिनाहिं = नष्ट करै। घिउ = घी-घी की तरह पिघल गया। हेरा = देखा। जाँवत = जितनी भी। नखत तराईं = सखियाँ। कबिलास = स्वर्ग-महल।

अर्थ—जायसी कहते हैं कि रिश्वत तो लोभ और पाप की नदी है। क्योंकि मनुष्य रिश्वत में हाथ डालता है उसका सत नहीं रह जाता। जहाँ रिश्वत चलती है वहाँ राज्य के घूस-खोर अपने स्वामी के कार्य को नष्ट कर देते हैं। रक्षकों का हृदय रिश्वत पाकर घी के समान पिघल गया इसलिये धन के लोभ में पड़ कर उन लोगों ने पालकियों को न देखा। जाकर रक्षक ने शाह के सामने सिर नवाया और कहा कि हे संसार के सूर्य! चन्द्रमा (पद्मावती)

आया है। साथ ही उसकी जितनी भी सखियाँ तारा गणों के समान थीं वे भी आयी हैं। इस प्रकार सोलह सौ पालकियाँ आई हैं। चित्तौड़ की जितनी सम्पत्ति है सबकी कुंजी पद्मावती लेकर आई है और खड़ी हुई विनती कर रही है कि यदि आज्ञा हो तो एक घड़ी में राजा को सब सौंप दूँ। वह कहती है तुम यहाँ-वहाँ दोनों संसारों के स्वामी हो। तुमसे मुझे यही आशायें हैं। पहले मुझे रत्नसेन का दर्शन करा दो, फिर मैं तुम्हारे महल में आऊँगी।

[ ६२५ ]

अग्याँ भई, जाउ एक घरी। छूँछि जो घरी फेरि विधि भरी॥
चलि बेवान राजा पहँ आवा। सँग चंडोल जगत गा छावा॥
पदुमावति मिस हुत जो लोहारू। निकसि काटि बँदि कीन्ह जोहारू॥
उठेउ कोपि जस छूटेउ राजा। चढ़ा तुरंग, सिंघ अस गाजा॥
गोरा बादिल खाँडा काढ़े। निकसि कुँवर चढ़ि चढ़ि भए ठाढ़े॥
तीख तुरंग गँगन सिर लागा। केहु जुगुति को टेकै बागा॥
जौं जिउ ऊपर खरग सँभारा। मरनिहार सो सहसन्हि मारा॥
भई पुकार साहि सौं, ससियर नखत सो नाहिं।
छर कै गहन गरासा, गहन गरासे जाहिं॥ ६२५॥

शब्दार्थ—घरी = घड़ी। घरी = घड़िया जो समय मालूम करने के लिए पानी में डाली रहती थी। भरी = पानी से भर गई—श्लेष से इसका अर्थ यह हुआ कि सौभाग्य की घड़ी भर गयी—भाग्य पलट गया। मिस = बहाने पाठान्तर-भेस। हुत = था। जोहारू = प्रणाम। खाँडा = तलवार। टेकै = रोके। बागा = बागडोर। जिऊ ऊपर = प्राण रक्षा के लिए। मरनिहार = मरने वाला। ससियर = चन्द्रमा (पद्मावती)! नखत = सखियाँ। छर = छल। गहन-गरासा = ग्रहण लगा था-बन्दी किया था। गहन, गरासे = ग्रहण लगाये जाते हैं—छल किये जाते हैं।

अर्थ—शाह की आज्ञा हुई कि एक घड़ी के लिए जाओ। जो घड़ी खाली थी भर गई। अर्थात् जो असमय अब तक था वह दूर हुआ। सौभाग्य की घड़ी आ गई। रानी की पालकी राजा के पास आई, साथ में अनेक पालकियाँ सुशोभित थीं। पद्मावती के बहाने जो लोहार उसमें बैठा

था, उसने निकल कर राणा के बन्धन काट दिये और प्रणाम किया। जब राजा छूटा तो वह क्रुद्ध हो उठा, वह घोड़े पर चढ़ कर सिंह के समान गर्ज उठा। गोरा और बादल ने अपनी तलवारें निकालीं, सारे अन्य राजपूत पालकियों से निकल-निकल कर खड़े हुए। तेज घोड़े आकाश में उड़ चले, किसी प्रकार कोई उनकी बाग नहीं रोक नहीं सकता। जो प्राण रक्षा के लिए तलवार को सँभालता था, वह मरने के लिए प्रस्तुत राजपूत हजारों को मार कर ही मरता था। शाह अलाउद्दीन के पास पुकार हुई कि न तो पद्मावती (चन्द्रमा) है और न सखियाँ (तारायें) छल से जिन पर ग्रहण लगाया था, वे ही ग्रहण लगा करके जा रहे हैं। अर्थात् जैसे राजा को छल से पकड़ा था, उसी प्रकार छल करके ये चले जा रहे हैं।

[ ६२६ ]

लै राजहिं चितउर कहँ चले। छूटेउ मिरिग सिंघ कलमले॥
चढ़ा साहि चढ़ि लागि गोहारी। कटक असूझ पारि जग कारी॥
फिरि बादिल गोरा सौं कहा। गहन छूट पुनि जाइहि गहा॥
चहुँ दिसि आइ अलोपत भानू। अब यह गोइ, इहै मैदानू॥
तूँ अब राजहिं लै चलु गोरा। हौं अब उलटि जुरौं भा जोरा॥
दहुँ चौगान तुरुक कस खेला। होइ खेलार रन जुरौं अकेला॥
तब पावौं बादिल अस नाऊँ। जीति मैदान गोइ लै जाऊँ॥
आजु खरग चौगान गहि, करौं सीस रन गोइ।
खेलौं सौंहँ साहि सों, हाल जगत महँ होइ॥ ६२६॥

शब्दार्थ—कलमले = चौंक पड़े-पाठान्तर-छुटेउ सिंघ मिरिग = खल-भले। गोहारी = पुकार। असूझ = बहुत भयंकर। पारि = पड़ गई। कारी = अन्धेरी। गहन = ग्रहण। अलोपत = छिपा रहा है। गोइ = छिपा कर। इहै = यही। हौं = मैं। जुरौं = भिड़ूँगा। जोरा = खेल का जोड़ा या प्रतिद्वन्द्वी। दहुँ = पता नहीं। चौगान-खेल = युद्ध। खेलार = खेलाड़ी। हाल = हलचल।

अर्थ—गोरा और बादल राजा को लेकर चित्तौड़ की ओर चले। मृग रूपी राजा जो बन्द था छूट गया। तब सिंह रूपी जो रक्षक थे चौंक पड़े।

शाह अलाउद्दीन ने चढ़ाई की, चारों ओर पुकार होने लगी, उसकी सेना बहुत बड़ी थी, उसके चढ़ने पर संसार भर में अंधेरा छा गया। तब बादल ने गोरा से कहा कि ग्रहण छूट तो गया, पर मालूम होता है कि ग्रहण फिर होना चाहता है अर्थात् मालूम होता है कि अलाउद्दीन की भयंकर सेना फिर राजा को पकड़ लेगी। चारों ओर सेना ऐसी उमड़ रही है, जैसे सूर्य को बादलों की घटा घेर रही हो। अब इसको इस मैदान में छिपा रखना चाहिए। गोरा तुम तो राजा की रक्षा करते हुए लेकर आगे बढ़ो और मैं अब लौट कर प्रतिद्वन्द्वी बन कर युद्ध में भिड़ूँगा। मैं देखूँगा कि आज मुसलमान कैसे युद्ध का खेल-खेलता है, एक खेलाड़ी होकर रण में अकेले ही भिड़ूँगा। मेरा नाम बादल तब सार्थक हो जब रण को जीत कर राजा को छिपा लूँ। आज इस चौगान रूपी युद्ध के खेल में तलवार लेकर सिर पर भयंकर युद्ध करूँगा। शाह अलाउद्दीन के सम्मुख लड़ूँगा और सारे जगत् में हलचल मच जायेगी।

[ ६२७ ]

तब अंकम दै गोरा मिला। तूँ राजहिं लै चलु बादिला॥
पिता मरै जो सारें साथें। मीचु न देइ पूत के मांथें॥
मैं अब आउ भरी औ भूँजी। का पछितांउ आउ जौं पूजी॥
बहुतन्ह मारि मरौं जौं जूझी। ताकहँ जनि रोवहु मन बूझी॥
कुँवर सहस सँग गोरै लीन्हें। और बीर सँग बादिल दीन्हें॥
गोरहिं समदि बादिला गाजा। चला लीन्ह आगें कै राजा॥
गोरा उलटि खेत भा ठाढ़ा। पुरखन्ह देखि चाउ मन बाढ़ा॥

आउ कटक सुलतानी, गँगन छपा मसि माँझ।
परत आव जग कारी, होत आव दिन साँझ॥ ६२७॥

शब्दार्थ—अंकम = आलिंगन-पाठान्तर-अगमन होइ = आगे होकर। सारें = पाठान्तर-सँकरे = कठिनाई में। मीचु = मृत्यु। माँथे = मत्थे। आउ = आयु। भरी = पूरी की। भूँजी = भोग ली। पूजी = पूरी हो गई। जूझी = युद्ध कर। जनि = मत। समदि = विदा होकर। उलटि = लौट कर।

खेत = रण क्षेत्र। पुरुखन्ह = पूर्वजों। देखि = स्मरण करके। चाउ = चाव, उत्साह। मसि = कालिमा अँधेरा।

अर्थ—तब गोरा बादल से गले मिला और कहा कि हे बादल राजा को तू ले चल। पिता कठिनाई से भी मरता है तो वह पुत्र के मस्तक पर मृत्यु नहीं डालता। मैंने अब तक अपनी सारी आयु पूरी की और उसे भोगा। अब जब आयु पूरी हो गयी तो मुझे कोई पछतावा नहीं। अब अनेकों को मार कर यदि मैं युद्ध में मर जाऊँ तो उसको सोच कर रोना मत। ऐसा कह कर गोरा ने एक हजार वीर साथ में लिए। शेष वीर उसने बादल को दिये। गोरा को बिदा कर बादल गरज उठा और राजा को आगे करके ले चला। गोरा लौट कर युद्ध क्षेत्र में खड़ा हो गया और अपने पूर्वजों को याद करके उसके मन में बड़ा उत्साह बढ़ गया। सुलतान अलाउद्दीन की सेना बढ़ी। उसके अन्धकार में आकाश छिप गया। सारे संसार में कालिमा छाने लगी और दिन में ही संध्या काल होने लगा।

[ ६२८ ]

होइ मैदान परी अब गोई। खेल हाल दहुँ काकरि होई॥
जोबन तुरै चढ़ी सो रानी। चली जीति अति खेल सयानी॥
लट चौगान गोइ कुच साजी। हिय मैदान चली लै बाजी॥
हाल सो कर गोइ लै बाढ़ा। कूरी दुहूँ बीच कै काढ़ा॥
भए पहार दुवौ वै कूरी। दिस्टि नियर, पहुँचत सुठि दूरी॥
ठाढ़ बान अस जानहुँ दोऊ। सालहिं हिए कि काढ़ै कोऊ॥
सालहिं तेहि न जासु हियँ ठाढ़े। सालहिं तासु चहै ओन्ह काढ़े॥
मुहमद खेल पिरेम का, खरी कठिन चौगान।
सीस न दीजै गोइ जौं, हाल न होइ मैदान॥ ६२८॥

शब्दार्थ—गोई = गेंद। हाल = हलचल, मैदान मारना-पाठान्तर-हार। दहुँ = पता नहीं। काकरि = किसकी। कूरी = कुड़ी, मिट्टी का बनाया हुआ टीला जिसे गेंद को लाँघना पड़ता है। सालहि = दर्द पहुँचाना।

अर्थ – इस पद में युद्ध की चौगान के खेल के साथ समता की गई है, साथ ही चौगान के खेल में प्रेम के खेल का भी रूपक है। इस प्रकार युद्ध,

खेल और प्रेम तीनों का समन्वय है—

मैदान (रणक्षेत्र) में गेंद पड़ गई। पता नहीं किसकी ओर से हलचल मचेगी अर्थात् पता नहीं मैदान किसका होगा ? यौवन रूपी घोड़े पर जो रानी चढ़ी है वह खेल-मेल में जीत कर चल दी। भाव यह कि गेंद रूपी रानी ही इस प्रेम के खेल का लक्ष्य है। यौवन ही उसके केश और गेंद ही उसका कुच है, मैदान ही उसकी छाती है और वह बाजी ले चली है। हल-चल तो वही कर सकता है अर्थात् मैदान वही ले सकता है जो गेंद ले कर बढ़ेगा और कुंडी (टीले) पर से गेंद को दोनों दलों के बीच से निकाल ले जाय। चौगान के दोनों ओर की कुंडियाँ (गोल) पहाड़ मालूम होते हैं क्योंकि वहाँ तक पहुँचना बहुत कठिन है। दृष्टि में तो वे निकट हैं पर वास्तव में बहुत दूर हैं। खड़े हुए बाण की भाँति वे दोनों हैं, हृदय में दर्द पहुँचा है कि कोई उन्हें निकाल ले अर्थात् दोनों दलों को लक्ष्य सालता रहता है। उन्हें ही दर्द नहीं होता जिनके हृदय खड़े हैं अर्थात् जो उसको सहर्ष चाहते हैं और सोत्साह उसे झेलने को तैयार रहते हैं, उसे बाण सालते तो रहते है पर उनको निकालने पर भी वह चाहता है। अर्थात् खेलाड़ी-योद्धा या प्रेमी—इस खेल में सोत्साह रहता है और उसके कष्ट को हृदय से चाहता है। जायसी कहता है कि यह प्रेम का खेल है और चौगान कठिन है। इस गेंद पर जो शीश नहीं देता वह मैदान में हलचल नहीं पैदा कर सकता। अर्थात् सफलता प्राप्त नहीं कर सकता।

नोट—जायसी का प्रधान लक्ष्य पद्मावत की रचना में सूफी मत का प्रकाशन था। सूफी मत का मूल है प्रेम, जिसमें विरह की तड़पन और उत्सर्ग की प्रधानता है। यही कारण है कि युद्ध क्षेत्र में भी जायसी ने प्रेम के खेल की अभिव्यंजना चौगान के सहारे प्रस्तुत कर दी।

[ ६८६ ]

फिरि आगें गोरें तब हाँका। खेलौं आजु करौं रन साका॥
हौं खेलौं धौलागिरि गोरा। टरौं न टारा बाग न मोरा॥
सोहिल जैस इंद्र उपराहीं। मेघ घटा मोहि देखि बिलाहीं॥

सहसौं सीसु सेस सरि लेखौं। सहसौं नैन इंद्र भा देखौं॥
चारिउ भुजा चतुर्भुज आजू। कंस न रहा औरु को राजू॥
हौं होइ भीवँ आजु रन गाजा। पाछें घालि दुंगवै राजा॥
होइ हनिवँत जमकातरि ढाहौं। आजु स्वामि सँकरें निरबाहौं॥
होइ नल नील आजु हौं, देउँ समुँद महँ मेंड़।
कटक साहि कर टेकौं, होइ सुमेरु रन बेंड़॥ ६२६॥

शब्दार्थ - हाँका = घोड़ा बढ़ाया। साका = यश। टारा = टालने पर। बाग = बागडोर। सोहिल = सुहेल (अगस्त) तारा। इन्द्र-पाठान्तर-गगन। उपराहीं = ऊपर। बिलाही = नष्ट होंगे। घालि = नष्ट करके। दुंगवै-पाठान्तर-डुंगवै = लचय। जमकातरि = राक्षसी सेना। ढाहौं = नष्ट करूँ। सँकरे = संकट में। निरबाहौं = बचाऊँ। बेड़ = बेड़ा, रोक।

अर्थ—फिर गोरा ने अपने घोड़े को आगे बढ़ाया। उसने निश्चय किया कि आज मैं रण में खेल कर अपना यश स्थापित करूँगा। मैं आज धौलागिरि के समान अटल हो जाऊँगा और मुझे कोई हटा न सकेगा और मेरे घोड़े की बागडोर मोड़े न मुड़ेगी। जैसे सुहेल तारे के निकलने पर बादल नहीं रह जाते उसी प्रकार मेरे सामने बादलों की घटा के समान शत्रु सेना नष्ट हो जायगी। आज मैं अपने सिर को शेषनाग के हजार शिर समझूँगा और इन्द्र होकर हजार नेत्रों से देखूँगा। आज मैं चार भुजा वाले भगवान् के समान चतुर्भुज हूँगा, आज तो कंस भी नहीं रह सकता और कौन हो सकता है। आज मैं भीम बन कर रण में गजूँगा और अपने पीछे अपने राजा को रख लूँगा। हनूमान् बन कर शत्रु सेना रूपी राक्षसों की सेना का नाश करूँगा और अपने स्वामी को संकट से बचाऊँगा। आज मैं नल-नील बन कर समुद्र में पुल बाँधूंगा और सुमेरु पर्वत रूपी रोक बन कर शाह अलाउद्दीन की सेना को रोकूँगा।

अलंकार—रूपक-माला।

[ ६३० ]

ओनै घटा चहुँ दिसि तसि आई। चमकहिं खरग बान झरि लाई॥
डोलहिं नाहिं देव जस आदी। पहुँचे तुरुक बाद कहँ बादी॥

हाथन्ह गहे खरग हिरवानी। चमकहिं सेल बीज की बानी॥
सजे बान जानहुँ ओड़ गाजा। बासुकि डरै सीस जनि बाजा॥
नेजा उठा डरा मन इंदू। आइ न बाज जानि कै हिंदू॥
गोरै साथ लीन्ह सब साथी। जनु मैमंत सुंड बिनु हाथी॥
सब मिलि पहिलि उठौनी कीन्ही। आवत आनी हाँकि सब लीन्ही॥
रुंड मुंड सब टूटहिं, सिउँ बकतर औ कुंडि।
तुरिअ होहिं बिनु काँधे, हस्ति होहिं बिनु सुंडि॥ ६३०॥

शब्दार्थ—ओनै = झुकी हुई। तसि = इस प्रकार। आदी = बिलकुल-पूरा। बादी = शत्रु। हिरवानी-पाठान्तर-हरद्वानी = एक प्रसिद्ध तलवार। सेल = तलवार। बीज = बिजली। बानी = रंग की। नेजा = भाला। इंदू = इन्द्र। बाज = लगे। उठौनी = धावा। अनी = सेना। सिउँ = साथ। बकतर= कवच। कुंडि = लोहे की टोपी।

अर्थ—अलाउद्दीन की सेना चारों ओर इस प्रकार बढ़ी जैसे बादलों की घटा चारों ओर से छाई हो, उसमें तलवारें बिजली के समान चमकती हैं और बाण ऐसे चलते हैं जैसे झड़ी लगी हो। पर गोरा इस प्रकार अपने स्थान से बिलकुल नहीं हटता जैसे देवता न हटे। तब बहुत से मुसलमान शत्रु आ पहुँचे। उन सबके हाथ में हरद्वानी तलवारें थीं, उस सेना में तलवारें ऐसी चमकती थीं जैसे बिजली हो। बाण सजे हैं, सब ऐसे गर्जते हैं, जिन्हें सुन कर शेषनाग डरता है कि कहीं ये सारे बाण उसके ऊपर न आ पड़ें। उनके उठे हुए भालों को देख कर इन्द्र भी डरने लगा कि कहीं उसे भी हिन्दू (हिन्दू देवता) समझ कर तो उसी के ऊपर तो नहीं चलने वाले हैं। गोरा ने अपने साथियों को साथ लिया, वह ऐसा मतवाला था जैसे सूँड के कट जाने पर हाथी पागल होकर आगे बढ़ता है। सबने मिल कर पहला धावा किया और आगे बढ़ती हुई शत्रु-सेना को भगा दिया। रुण्ड-मुण्ड टूटने लगे, जिरह बक्तर और लोहे की टोपियाँ टूटने लगीं, घोड़े बिना कन्धे के होने लगे और हाथी बिना सूँड के होने लगे।

[ ६३१ )

ओनवत आव सैन सुलतानी। जानहुँ पुरवाई उठति बानी॥

लोहैं सैन सूझ सब कारी। तिल एक कतहुँ न सूझ उघारी॥
खरग पोलाद निरँग सब काढ़े। हरे बिज्जु अस चमकहिं ठाढ़े॥
कनक बानि गजबेलि सो नाँगी। जानहुँ काल करहिं जिउ माँगी॥
जनु जमकात करहिं सब भवाँ। जिउ लै चहहिं सरग उपसवाँ॥
सेल साँप जनु चाहहिं डसा। लेहिं काढ़ि जिउ मुख बिख बसा॥
तिन्ह सामुहँ गोरा रन कोपा। अंगद सरिस पाउ रन रोपा॥
सुपुरुस भागि न जानै, भएँ भीर भुइँ लेइ।
असि बर गहें दुहूँ कर, स्यामि काज जिउ देइ॥ ६३१॥

शब्दार्थ—ओनवत = झुकती हुई, उमड़ती हुई। आव = आती है। पुरवाई = पूर्व से आने वाली तेज हवा। सैन = से। सूझ = दिखाई पड़ती है। तिल = तिल भर। कतहु = कहीं भी। उघारी = खुला हुआ। खरग = तलवार। पोलाद = फौलाद। निरंग = नङ्गी-पाठान्तर-तुरुक। काढ़े = निकाले हुए। हरे-पाठान्तर-धरे। बानि = रंग-पाठान्तर-पीलवान गज पेलै बाँके। जानहु काल करहि दुइ फाँके = पीलवान हाथी को आगे बढ़ाते हैं जो कि काल को भी दो टुकड़े करने वाले हैं। जमकात = जमराज का खाँडा। भवाँ = घूमा। उपसवाँ = जाना। स्यामि = स्वामी।

अर्थ—सुलतान की सेना उमड़ी चली आ रही है आगे पूर्वीय हवा तेजी से आ रही है। लोहे के हथियारों से सुसज्जित काली दिखाई पड़ती है। उसकी तिल भर जगह भी खुली हुई नहीं दिखाई पड़ती। सब ने फौलादी तलवारें नंगी निकाल रखी हैं जैसे बादलों में बिजली चमक रही हैं। वह नंगी तलवारें सुनहली लपलपा रही हैं मानो जान मांग-मांग कर उनका नाश करने को उद्यत हैं। मानो यमराज का खांडा घूम रहा है और जान लेकर स्वर्ग चढ़ जाना चाहता है। सेल रूपी साँप काटना चाहते हैं, उनके मुख में विष भरा है उससे वे जीव निकाल लेते हैं। उनके सामने गोरा रण में क्रुद्ध हुआ उसने अंगद के समान रण में अपना पैर रोप दिया। वीर पुरुष भागता नहीं, कठिनाई पड़ने पर क्षेत्र में डटा रहता है। अपने दोनों हाथों में तलवार ग्रहण किये हुए स्वामी के कार्य के लिए अपना जीवन देता है।

[ ६३२ ]

भै बगमेल, मेल घनघोरा। औ गज पेल, अकेल सो गोरा॥
सहस कुँवर सहसौं सत बाँधा। भार पहार जूझि कर काँधा॥
लागे मरैं गोरा के आगें। बाग न मुरैं, दोसर जिउ देहीं॥
जैस पतंग आगि धँसि लेहीं। एक मुवै, घाव मुख लागें॥
टूटहिं सीस, अधर धर मारे। लोटहिं कंध कबंध निनारे॥
कोई परहि रुहिर होइ राते। कोइ घायल घूमहिं जस माते॥
कोइ खुर खेह गए भरि भोगी। भसम चढ़ाइ परे जनु जोगी॥

घरी एक भा भारथ, भा असवारन्ह मेल।
जूझि कुँवर सब बीते, गोरा रहा अकेल॥ ६३२॥

शब्दार्थ—बगमेल = बागडोरों से मिलना। अधर = बिना धड़ के। धर = धड़। निनारे = अलग। रुहिर = रुधिर। राते = लाल। खुर खेह = घोड़े की टापों की धूल। भारथ = महायुद्ध।

अर्थ—दोनों ओर के घोड़ों की बागडोरें मिलीं। हाथी ठेल पेल रहे थे, इनमें गोरा अकेले ही सामना कर रहा था। हजारों वीर राजपूतों ने भी अपने सत को बांध रक्खा था। वे पहाड़ के भार को कन्धे पर ले रहे हैं। वे सब गोरा के सामने मरने लगे। वे सब घोड़े की बाग नहीं मोड़ते यद्यपि घाव मुख पर लगते थे। जैसे पतंगे आग में धँस-धँस कर जलते हैं उसी प्रकार एक मरता था तो दूसरा आगे बढ़ता था और जान देता था। उनके सिर टूटते हैं, धड़ लड़ने लगते हैं, कन्धे और धड़ अलग अलग लोटते रहते हैं। कोई खून से लाल हो कर गिरता है कोई घायल हो कर मतवाला सा घूमता है। कोई घोड़े की टापों की धूल में मिल कर समाप्त हो गया। वे मिट्टी में लिपटे इस प्रकार पड़े हैं, जैसे जोगी भस्म रमाये पड़ा हो। एक घड़ी तक महायुद्ध हुआ जिसमें सवारों की मुठभेड़ हुई। तब सारे राजपूत मारे गये अकेला गोरा बच रहा।

[ ६३३ ]

गोरैं देख साथ सब जूझा। आपन काल नियर भा बूझा॥
कोपि सिंह सामुहँ रन मेला। लाखन्ह सौं नहिं मुरै अकेला॥

लई हाँकि हस्तिन्ह कै ठटा। जैसें सिंघ बिडारै घटा॥
जेहि सिर देइ कोपि कर वारू। सिउँ घोरा टूटै असवारू॥
टूटहिं कंध कबंध निनारे। माँठ मँजीठि जांनु रन ढारे॥
खेलि फागु सेंदुर छिरियावै। चाँचरि खेलि आगि रन धावै॥
हस्ती घोर आइ जो ढूका। उठै देह तिन्ह रुहिर भभूका॥
भै अग्याँ सुलतानी, बेगि करहु एहि हाथ।
रतन जात है आगें, लिए पदारथ साथ॥ ६३३॥

शब्दार्थ—नियर = निकट। बूझा = समझा। ठट्ठा = समूह। बिडारै = नष्ट करे। घटा = हाथियों का समूह। सिउँ = साथ। निनारे = अलग। माँठ = एक पकवान। छिरियावै = बिखरे हुए। चाँचरि = होली। घोर = घोड़ा। ढूका = झुका। भभूका = अंगारा।

अर्थ—गोरा ने देखा कि उसके साथ के सभी साथी मर गये और अब अपनी मृत्यु भी निकट ही है। तब वह सिंह क्रोध कर रण में सामने घुस गया, वह अकेला लाखों व्यक्तियों से भी मोड़े नहीं मुड़ता। उसने हाथियों के समूह भगा दिए। सिंह की भाँति वह हाथियों की घटा को नष्ट करने लगा। जिस के सिर पर क्रोध करके वह वार करता था वह सवार घोड़े के साथ ही टूट जाता था। उनके कन्धे और धड़ अलग-अलग गिरते थे। जैसे मजीठ के रंग के माठ हों उसी प्रकार कबन्ध खून से सने दिखाई पड़ते हैं। खून की बिखेर ऐसी हो रही है जैसे फाग हो रहा हो और गुलाल उड़ रहा हो और होली हो रही है और यह अग्नि युद्ध में दौड़ रहा है। जो भयंकर हाथी आ रहा था उसके शरीर में से खून का गोला उठ रहा था।

उसके ऐसे भयंकर युद्ध को देख कर सुल्तान अलाउद्दीन की आज्ञा हुई कि इसे शीघ्र ही पकड़ लो क्योंकि पद्मावती को लिए रत्नसेन आगे चला जा रहा है।

[ ६३४ ]

सबहि कटक मिलि गोरा छेंका। कुंजल सिंघ जाइ नहिं टेका॥
जेहिं दिसि उठै सोइ जनु खावा। पलटि सिंघ तेहिं ठायन्ह आवा॥
तुरुक बोलावहिं बोलहिं बाहाँ। गोरैं मीचु धरा मन माहाँ॥

मुए पुनि जूझि जाज जगदेऊ। जियत न रहा जगत महँ केऊ॥
जनि जानहु गोरा सो अकेला। सिंघ की मोंछ हाथ को मेला॥
सिंघ जियत नहिं आपु धरावा। मुए पार कोई घिसियावा॥
करै सिंघ हठि सौंही डीठी। जब लगि जियै देइ नहिं पीठी॥

रतनसेनि तुम्ह बाँधा, मसि गोरा के गात।
जब लगि रुहिर न धोवौं, तब लगि होइ न रात॥ ६३५॥

शब्दार्थ—छेंका = घेर लिया। कुंजल = कुंजर, हाथी—पाठान्तर-गूंजत = गर्जता हुआ। टेका = पकड़ा। ठायँन्ह = जगहों पर—पाठान्तर ठाउँन। बोलहिं बाँहा = भुजाएँ फड़कती हैं। जाज जगदेऊ = पीछे भी जाज और जगदेव नाम के वीरों का प्रसंग गोरा-बादल के प्रसंग में आता है। केऊ = कोई। मोंछ = मूँछ। मेला = डाल सकता है। पार = बाद—पाठान्तर-पाछ। घिसियावा = घसीटे। मसि = स्याही, कलंक। गात = शरीर। रुहिर = खून से। रात = लाल, कलंकरहित।

अर्थ—सब ने मिल कर गोरा को घेर लिया। पर जैसे हाथियों के झुंड से सिंह नहीं पकड़ा जाता, उसी प्रकार कोई गोरा को पकड़ नहीं पाता था। जिसी ओर उठता था मालूम होता था कि सब को खा जायगा, वह घूम कर फिर उसी जगह नहीं आता था, जहाँ से चलता था। तुरक लोग एक दूसरे को बुलाते थे, उनकी भुजायें भी उठती थीं। गोरे ने मृत्यु को अपने मन में धारण कर लिया था, जैसे जाज और जगदेव मरने पर भी युद्ध करते थे और जीते जी तो उनके सामने कोई न था, उसी प्रकार गोरा के जीते जी कोई सामने न आता था। उसने गर्ज कर कहा कि मत समझो कि गोरा अकेला है—भला सिंह की मूँछ को हाथ से कौन पकड़ेगा? जीते जी सिंह को कोई नहीं पकड़ सकता, मर जाने पर तो जो चाहे उसे घसीट सकता है। सिंह तो सामने दृष्टि रखता है और जब तक जीता है, कभी पीठ नहीं देता। उसने अलाउद्दीन से कहा कि तुमने राजा रत्नसेन को बाँध लिया था, उसका कलंक गोरा के शरीर पर है, इसलिए जब तक मैं खून से उस दाग को न धो लूँगा तब तक मैं निष्कलंक नहीं हो सकता।

[ ६३५ ]

सरजा बीर सिंघ चढ़ि गाजा। आइ सौहँ गोरा के बाजा ॥
पहलवान सो बखाना बली। मदति मीर हमजा औ अली ॥
मदति अयूब सीस चढ़ि कोपे। राम लखन जिन्ह नाउँ अलोपे ॥
औ ताया सालार सो आए। जिन्ह कौरौ पंडौ बँदि पाए ॥
लिंधउर देव धरा जिन्ह आदी। और को माल बादि कहँ बादी ॥
पहुँचा आइ सिंघ असवारू। जहाँ सिंघ गोरा बरियारू ॥
मारसि साँगि पेट महँ धँसी। काढ़ेसि हुमुकि आँति भुइँ खसी ॥
भाँट कहा धनि गोरा, तू भोरा रन राउ।
आँति सैंति करि काँधे, तुरै देत है पाउ ॥ ६३५ ॥

शब्दार्थ— बाजा = लड़ा। मदति = सहायता में। मीरहमजा = मुहम्मद साहब के चचा जो बड़े बली प्रसिद्ध थे। अली = मुसलमानों के धार्मिक युद्ध में सबसे बली समझे जाते हैं। अलोपे = छिपा दिया। कौरौ-पंडौ = कौरव-पांडव। लिउंधर = एक हिन्दू राजा जिसे मीर हमजा ने हरा कर अपना मित्र बनाया था, यह बड़ा विशालकाय था। बादी = शत्रु। बरियारू = वीर। साँगि = कटार। काढ़ेसि = निकाला। हुमुकि = जोर लगा कर। आँति = आँतें। खसी = निकल गई; सैंति = समेट कर। तुरै = घोड़ा।

अर्थ—सेनापति सरजा सिंह पर चढ़ कर बड़े जोर से गर्जा और गोरा के सामने आकर उससे भिड़ गया। सरजा बड़ा वीर कहा गया था, साथ में उसके मीरहमजा, अली, अयूब आदि थे। ये सब ऐसे शक्तिमान् थे कि राम-लछमण से भी बढ़ कर थे। इनके साथ ताया और साला भी थे, जिन्होंने कौरव और पांडवों को भी कैदी कर लिया, अर्थात् जो कौरव-पांडवों से भी बढ़ कर युद्ध में सिद्ध हुए थे। इन लोगों ने लंधौर देव को भी हरा दिया था, इनसे और कौन-कौन शत्रु लड़ सकता था। इस प्रकार के वीरों के साथ सेनापति सरजा सिंह पर सवार वहाँ पहुँचा, जहाँ सिंहरूपी बली गोरा था। सरजा ने फेंक कर ऐसी साँग मारी कि गोरा के पेट में वह घुस गई, पर गोरा ने जोर लगा कर उस साँग को निकाल लिया, ऐसा करने से उसकी सारी आँतें जमीन में गिर गईं, पर वह युद्ध में रत रहा। उसे देख कर चारण

बोल उठा कि हे गोरा! तू धन्य है, तू तो रण में मग्न है, तूने तो अपनी आँतों को कंधे पर समेट कर घोड़े के ऊपर पाँव दिया है।

[ ६३६ ]

कहेसि अंत अब भा भुइ परना। अंत सो तंत खेह सिर भरना॥
कहि कै गरजि सिंघ अस धावा। सरजा सारदूर पहँ आवा॥
सरजैं कीन्ह साँगि सौं घाऊ। परा खरग जनु परा निहाऊ॥
बज्र साँगि औ बज्र के डाँडा। उठी आगि सिर बाजत खाँडा॥
जानहुँ बजर बजर सौं बाजा। सबहीं कहा परी अब गाजा॥
दोसर खरग कूँडि पर दीन्हा। सरजैं धरि ओड़न पर लीन्हा॥
तीसर खरग कंध पर लावा। काँध गुरुज हत, घाव न आवा॥
अस गोरैं हठि मारा, उठी बजर कै आगि।
कोइ न नियरें आवैं, सिंघ सदूरहि लागि॥ ६३६॥

शब्दार्थ—अन्त = अन्त-मृत्यु। तंत = तत्त्व। खेह = मिट्टी। सारदूर = शार्दूल। घाऊ = घाव। निहाऊ = निहाई (लोहे की एक वस्तु जिस पर रख कर लोहे को पीटा जाता है)। डाँडा = दंड-तलवार। बजर = वज्र। गाजा = प्रलय। दोसर = दूसरी। कूँडि = लोहे की टोपी। ओड़न = ढाल। गुरुज = कवच। हति = था। नियरें = निकट। सदूरहि = शार्दूल-शेर।

अर्थ—गोरा ने अपने मन से कहा कि अब तो अन्त आ गया है, जमीन पर गिरना ही है, अन्त में तो वही तत्त्व है, इस शरीर को मिट्टी में मिला देता है। ऐसा कह कर गर्ज कर सिंह के समान धावा किया और सरजा और उसके वाहन सिंह के पास आ गया। सरजा ने फिर साँग का वार किया, वह गोरा की तलवार पड़ी। गोरा की तलवार निहाई जैसी जबरदस्त थी, अतः सरजा की साँग का कोई प्रभाव न हुआ। वज्र के समान ही सरजा की साँग थी और वज्र के समान ही गोरा की तलवार, अतः दोनों शस्त्रों के लड़ने से एक आग निकली, ऐसा प्रतीत हुआ कि वज्र-वज्र से लड़ रहे हैं और सारे संसार में प्रलय होना चाहती है। दूसरी तलवार गोरा ने सिर की टोपी पर मारी, पर सरजा ने उसे ढाल पर रोक लिया। तीसरी तलवार कंधे पर मारी, पर कंधे पर गुर्ज थी जिससे घाव नहीं लगा। गोरा इस प्रकार बलपूर्वक मार

रहा है कि वज्र की अग्नि निकल रही है, कोई भी उस सिंह (गोरा) के पास नहीं आ पाता।

[ ६३७ ]

तब सरजा गरजा बरिवंडा। जानहुँ सेर केर भुअडंडा॥
कोपि गुरुज मैलेसि तस बाजा। जनहुँ परी परबत सिर गाजा॥
ठाठ टूट, टूट सिर तासू। सिउँ सुमेरु जनु टूट अकासू॥
धमकि उठा सब सरग पतारू। फिर गै डीठि, भवाँ संसारू॥
भा परलौ सबहूँ अस जाना। काढ़ा खरग सरग नियराना॥
तस मारेसि सिउँ घोरैं काटा। धरती काढ़ि, सेस फन फाटा॥
अति जौं सिंघ बरिअ होइ आई। सारदूर से कवनि बड़ाई॥
गोरा परा खेत महँ, सिर पहुँचावा बान।
बादलि लै गा राजहिं, लै चितउर नियरान॥ ६३७॥

शब्दार्थ—गरजा-पाठान्तर-कोपा। बरिबंडा = वीर। सेर-पाठान्तर-सद्दूर = सिंह। भुअडंडा = भुजदंड। मेलेसि = डाल दिया। गाजा=बिजली। ठाठर = ठठरी-शरीर की हड्डियाँ। तासू = उसका। सिंउ = साथ। भवाँ= घूम उठा। सिंघ = सिंह (गोरा)। बरिअ = बली। सारदूर = शार्दूल-सरजा।

अर्थ—तब सरजा वीर बड़े जोर से गर्जा, उसके भुजदंड ऐसे फड़के जैसे शेर के हों। क्रुद्ध होकर उसने गुर्ज ही डाल दी, वह गोरा के सिर पर ऐसी पड़ी मानो बिजली पर्वत पर गिरी हो। गोरे के शरीर की ठठरियां टूट गईं, उसका सिर नष्ट-भ्रष्ट हो गया, जैसे सुमेरु पर्वत के साथ आकाश टूट गया हो। सारे स्वर्ग और पाताल में धमाका हुआ, सब की दृष्टियाँ फिर गईं, सारे संसार में एक भूचाल आ गया। सब ने समझा कि प्रलय हो गया, निकली हुई तलवार स्वर्ग के निकट पहुँच गई। ऐसा वार किया था कि गोरा के साथ ही उसका घोड़ा भी कट गया और पृथ्वी कट गई और गुर्ज की चोट से शेषनाग का फन फट गया (असम्बन्धातिशयोक्ति अलंकार)। कवि कहता है कि यद्यपि सिंहरूपी गोरा बड़ा बली था पर शार्दूलरूपी सरजा के सामने उसकी कौन सी बड़ाई है—अर्थात् उससे बढ़ कर नहीं था।

गोरा तो रणक्षेत्र में गिर पड़ा, उसका सिर बाण से उड़ गया, उधर बादल राजा को लेकर भाग गया और चित्तौड़ के समीप पहुँच गया।

# ५४. बन्धन-मोक्ष, पद्मावती-मिलन-खण्ड

[ ६३८ ]

पदुमावति मन अही जो झूरी। सुनत सरोवर हिय गा पूरी ॥
अद्रा महँ हुलास जस होई। सुख सोहाग आदर भा सोई ॥
नलिनि निकंदी लीन्ह अँकूरू। उठा कँवल उगवा सुनि सूरू ॥
पुरइनि पूरि सँवारे पाता। पुनि बिधि आनि धरा सिर छाता ॥
लागे उहै होइ जस भोरा। रैनि गई, दिन कीन्ह बहोरा ॥
अस्तु अस्तु सुनि भा किलकिला। आगे मिले कटक सब चला ॥
देखि चाँद असि पदुमिनि रानी। सखी कमोद सबै बिगसानी ॥
गहन छूट दिनकर कर, ससि सौं होइ मेराउ।
मँदिल सिंघासन साजा, बाजा नगर बधाउ ॥ ६३८ ॥

शब्दार्थ—झूरी = सूख रही थी। पूरी = भर गया। अद्रा = वर्षा ऋतु का पहला नक्षत्र। हुलास = प्रफुल्लता। नलिन = कमलिनी। निकंदी = बिना जड़ की-पाठान्तर-नीक दल = अच्छे पत्ते। अँकूरू = अंकुर। सूरू = सूर्य। पुरइनि = कमल का पत्ता। भोरा = प्रातःकाल। बहोरा = लौटा। अस्तु-अस्तु = वाह-वाह। किलकिला = खिल-खिलाहट। बिगसानी = खिलीं। मेराउ = मेल।

अर्थ—पद्मावती जो अब तक अपने मन में बिल्कुल सूखी हुई थी, राजा को आता सुनकर ऐसी प्रसन्न हुई जैसे तालाब पूरी तरह से भर गया हो। जैसे आर्द्रा नक्षत्र के लगने पर सारी वनस्थली प्रफुल्लित होती है उसी प्रकार उसका सुख, सौभाग्य और सम्मान चमक उठा। जो कमलिनी बिना जड़ की हो गई थी उसमें नये अंकुर फूट निकले। सूर्य (रत्नसेन) को देख कर कमल (पद्मावती) में नई उमंग आई। पुरइन के पत्ते सँवर गये अर्थात् रानी ने अपना शृङ्गार किया, फिर ब्रह्मा ने ला कर सिर पर छत्र रखा। फिर पहले जैसे ही प्रातः काल का आनन्द होने लगा। विपत्ति के दिनों

की रात्रि बीती सौभाग्य का फेरा हुआ। वाह-वाह होने लगी। खिलखिलाहट होने लगी, सभी चित्तौड़ के लोग सेना से आगे मिलने को चले। चन्द्रमा के समान पद्मावती को विकसी हुई देख कर कुमदिनी रूपी सभी सखियाँ प्रसन्न हो उठीं। सूर्य का ग्रहण छूटा है, अब चन्द्रमा से उसका मिलन होगा (रत्नसेन पद्मावती मिलन होगा)। महल में सिंहासन सजाया गया और सारे नगर में बधाइयाँ बजीं।

[ ६३६ ]

बिहँसि चंद दै मांग सेंदूरा। आरति करै चली जहँ सूरा॥
औ गोहने सब सखीं तराईं। चितउर की रानी जहँ ताईं॥
जनु बसंत रितु फूली छूटी। कै सावन महँ बीरबहूटी॥
भा अनन्द, बाजा पँच तूरा। जगत रात होइ चला सेंदूरा॥
राजा जनहुँ सूर परगासा। पदुमावति मुख कँवल बिगासा॥
कँवल पाय सूरुज के परा। सूरज कँवल आनि सिर धरा॥
दुन्द मृदङ्ग मुर ढोलक बाजे। इन्द्र सबद सो सबद सुनि लाजे॥
सेंदुर फूल तँबोर सिउँ, सखी सहेलीं साथ।
धनि पूजे पिय पाय दुइ, पिय पूजै धनि माथ॥ ६३६॥

शब्दार्थ—गोहने = साथ में। जहँ ताईं = जितनी भी।

अर्थ—प्रसन्न हो कर पद्मावती (चंद) ने माँग में सिंदूर डाला और रत्नसेन (सूर्य) की आरती करने को चली। उसके साथ में और भी सखियाँ थीं जैसे तारागण हों। सभी चित्तौड़ की रानियां ऐसी लगीं जैसे बसन्त ऋतु में भिन्न-भिन्न प्रकार के फूल फूले हों, या जैसे सावन के महीने में बीर बहूटियाँ शोभा देती हैं। आनन्द हुआ और पाँचों प्रकार के बाजे बज उठे। सारा संसार उन रानियों की ललाई की आभा से लाल हो गया। राजा ऐसा है मानो सूर्योदय हुआ है और पद्मावती का मुख ऐसा खिला जैसे कमल। पद्मावती (कमल) रत्नसेन (सूर्य) के पैरों पर आ पड़ी और रत्नसेन (सूर्य) ने पद्मावती का सिर उठा लिया। ढोल, मृदंग आदि सभी बाजे बजने लगे, उस बाजे को सुन कर इन्द्र के यहां के बाजे भी लज्जित हो गये।

सिंदूर, फूल, पान आदि से सखियों समेत रानी राजा के पैरों की पूजा कर रही है और राजा रानी के मस्तक की पूजा कर रहा है।

[ ६४० ]

पूजा कवनि देउँ तुम्ह राजा। सबै तुम्हार आव मोहि लाजा॥
तन मन जोबन आरति करऊँ। जीउ काढ़ि नेवछावरि देऊँ॥
पंथ पूरि कै दिस्टि बिछावौं। तुम्ह पगु धरहु, नैन हौं लावौं॥
पाँय बुहारत पलक न मारौं। बरुनिन्ह सैंति चरन रज झारौं॥
हिया सो मँदिल तुम्हारै नाहाँ। नैननि्ह पंथ आवहु तेहि माहाँ॥
बैठहु पाट छत्र नव फेरी। तुम्हरें गरब गरुइ हौं चेरी॥
तुम्ह जियँ हौं तन जौं अति मया। कहै जो जीउ करै सो कया॥
जौं सूरुज सिर ऊपर आवा, तब सो कँवल सुख छान।
नाहिं तौ भरे सरोवर, सूखै पुरइनि पात॥ ६४०॥

शब्दार्थ—पूरि कै = भर कर। बुहारत = झाड़ते। बरुनिन्ह सैंति = बरौनियों से। गरुई = भारी-गौरवमयी।

अर्थ—रानी पद्मावती ने कहा कि हे राजा मैं आपकी कौन सी पूजा करूँ, सब कुछ तो तुम्हारा है, तुम्हारी वस्तुओं को ही तुम्हें अर्पित करते मुझे लज्जा मालूम होती है। तन, मन और यौवन से आपकी आरती कर रही हूँ, अपने जीव को निकाल कर निछावर कर सकती हूं। सारे रास्ते में अपनी दृष्टि बिछा दूँगी, हे नाथ तुम उस रास्ते पर पैर रखो। मैंने आँख बिछा रखी है। अपनी पलकों से तुम्हारे पैर झाड़ते हुए मैं पलक न मारूँगी और बरौनियों से आपके चरणों की धूल को साफ कर दूँगी। हे नाथ, मेरा हृदय तुम्हारा घर है, तुम मेरी दृष्टि के रास्ते से इसमें आ जाओ। फिर से नये सिंहासन पर बैठो, तुम्हारे ही गर्व पर मैं दासी गौरव से युक्त हूँ। तुम जीव हो तो मैं शरीर हूँ, जब दया करके जीव कुछ कहेगा तो शरीर उसी को पूरा करेगा। जब सूर्य (रत्नसेन) सिर ऊपर आता है तभी कमल (पद्मावती) को सुख छत्र मिलता है नहीं तो भरे सरोवर में भी पुरइन का पत्ता सूख जाता है।

अलंकार—पूर्णोपमा।

[ ६४१ ]

परसि पाय राजा के रानी। पुनि आरति बादिल कहँ आनी॥
पूजे बादिल के भुअडंडा। तुरिअ के पाउ दाबि कर खंडा॥
यह गज गवन गरब सिउँ मोरा। तुम्ह राखा बादिल औ गोरा॥
सेंदुर तिलक जो आँकुस अहा। तुम्ह माँथें राखा तब रहा॥
काज रतन तुम्ह जिय पर खेला। तुम्ह जिउ आनि मँजूसा मेला॥
राखेउ छात, चँवर औ ढारा। राखेउ छुद्रघंट झनकारा॥
तुम्ह हनिवँत होइ धुजा बईठे। तब चितउर पिय आइ पईठे॥
पुनि गज हस्ति चढ़ावा, नेत बिछावा बाट।
बाजत गाजत राजा, आइ बैठ सुख पाट॥ ६४१॥

शब्दार्थ—भुअडंडा = भुजायें। तुरिअ = घोड़ा। कर खंडा = हाथ की उंगलियों से। छुद्रघंट = बिछुआ-पैर में पहने जाने वाला घुंघरू जो सोहाग का प्रतीक है। नेत = रेशमी।

अर्थ—रानी पद्मावती राजा के पैरों के छूने के बाद बादल की आरती करने लगी। उसने बादल के भुजदंडों की पूजा की फिर उसके घोड़े के पैरों को अपने हाथों से दबाया। उसने कहा कि तुम गोरा और बादल ने मेरे गज-गमन और गर्व की रक्षा की है। मेरे मत्थे में सिंदूर, जो कि अंकुश की भांति मेरे सौभाग्य की निशानी है, तुम्हारे द्वारा ही रक्षा करने पर रह सका है। तुम राजा रत्नसेन के कार्य के लिए जी पर खेल गये हो, तुमने मेरे शरीर रूपी पिंजड़े में जीव लाकर डाला है। तुमने हमारे छत्र और चंवर की रक्षा की, तुमने हमारे बिछुओं के झनकार की रक्षा की। तुम हनूमान् की भुजा बने तब कहीं राजा चित्तौड़ में प्रवेश कर सके। फिर एक हाथी पर रेशमी सिंहासन बिछा कर राजा को चढ़ाया और फिर बाजे-गाजे के साथ राजा सुख से अपने सिंहासन पर आ बैठा।

[ ६४२ ]

निसि राजैं रानी कँठ लाई। पिय मरजिया, नारि ज्यौं पाई॥
रँग कै राजैं दुख अगुसारा। जियत जीव नहिं करौं निनारा॥
कठिन बंदि लै तुरुकन्ह गहा। जौं सँवरौं जिय पेट न रहा॥

खनि गड़ ओबरी महँ लै मेला। साँकर औ अँधियार दुहेला॥
राँध न तहँवाँ दोसर कोई। न जनौं पवन पानि कस होई॥
खिन खिन जीव सँडासिन्ह आँका। आवहिं डोंव छुवावहिं बाँका॥
बीछी साँप रहहिं निति पासा। भोजन सोइ, डसहिं हर स्वाँसा॥
आस तुम्हारे मिलन कौ, रहा जीव तब पेट।
नाहिं तो होत निरास जौं, कत जीवन कत भेंट॥ ६४२॥

शब्दार्थ—मरजिया = गोताखोर। अगुसारा = प्रकट किया। खनि = खोदकर। निनारा = अलग। ओबरी = भीतर का कमरा। मेला = डाला। दुहेला = कष्ट। राँध = समीप। दोसर = दूसरा। सँडासिन्ह = लोहे की गर्म संडासियाँ। आँका = दागा। डोंव = डोम, चांडाल। बाँका = हँसिये की भांति का औजार जिससे चांडाल लोग बाँस छीलते हैं।

अर्थ—रात में राजा ने रानी को गले लगाया, उसने रानी को इस प्रकार पाया है जैसे गोताखोर प्राणों की बाजी लगाकर मोती को पाता है। प्रीति के बाद राजा अपने दुखों को प्रकट करने लगा। उसने कहा कि अब जीते जी तुझे अलग न करूँगा। मुसलमानों ने मुझे कठिन जेलखाने में डाला था, जब उस बंदीखाने की याद करता हूँ तो जीव पेट में नहीं रह जाता। एक अंधेरी कोठरी में गड्ढा खोदकर मुझे उसी में डाल दिया, वहाँ लोहे की साँकलों से बाँधा था और अंधेरे का और भी कष्ट था। वहाँ और कोई पास न होता था, पता नहीं पानी और हवा कहाँ से पहुँचते थे। अनेक बार उन्होंने गर्म संडासियों से हमें दागा और चांडाल लोग आकर के अपना खांडा मेरे शरीर में छुआते थे। बिच्छू और साँप नित्य पास ही रहते थे, मेरे तो वे ही भोजन थे जो प्रति स्वाँस में डसा करते थे। केवल तेरे मिलन की आशा थी इसीलिए मेरा जीव पेट में रह सका, नहीं तो यदि तुमसे मिलने की निराशा होती तो मेरा जीवन कैसे रह सकता था और हम कैसे मिल सकते थे?

[ ६४३ ]

तुम्ह पिय भँवर परी अति बेरा। अब दुख सुनहु कँवल धनि केरा॥
छाँड़ि गएहु सरवर महँ मोहीं। सरवर सूखि गएउ बिनु तोहीं॥

केलि जो करत हंस उड़ि गएऊ। दिनअर मीत सो बैरी भएऊ॥
गई भीर तजि पुरइनि पाता। मुइउँ धूप सिर रहा न छाता॥
भइउँ मीन तन तलफै लागा। बिरहा आइ बैठ होइ कागा॥
काग चोंच, तस साल न नाहाँ। जसि बँदि तोरि साल हिय माहाँ॥
कहेउँ काग अब लै तहँ जाही। जहँवाँ पिउ देखै मोहि खाही॥
काग निखिद्ध गीध अस, का मारहिं हौं मंदि।
एहि पछताएँ सुठि मुइउँ, गइउँ न पिय सँग बंदि॥ ६४३॥

शब्दार्थ—बेरा = समय। कँवल-धनि = कमल के समान स्त्री अर्थात् मैं। तलफै = तड़फने लगा। साल = दर्द करना। सुठि = बहुत। निखिद्ध = नीच।

अर्थ—रानी ने कहा कि हे प्रिय तुम तो काल गति के चक्कर में पड़ गये थे। अब तुम मेरा भी दुःख सुनो। मुझे तालाब में छोड़ गये और तुम्हारे बिना तालाब ही सूख गया। इस तालाब में जो हंस क्रीड़ा करते थे वे सब उड़ गये अर्थात् जीवन के सभी आनन्द समाप्त हो गये। जो सूर्य मित्र था वही शत्रु हो गया—सुखदायक वस्तुएँ दुखदायक हो गयीं। पुरइन के पत्ते भीड़ छोड़कर चले गये अर्थात् शृंगार की हजार वस्तुएँ दूर हो गईं। मैं धूप से मरने लगी क्योंकि सिर पर छात्ता नहीं था। तुम्हारे वियोग में मैं तड़फने लगी - मछली के समान होकर मैं तड़फने लगी, विरह कौआ होकर आ बैठा। पर कौए की चोंच मुझे उतनी दर्द नहीं करती थी, जितनी यह कि मेरा प्रियतम बन्दीखाने में है। मैंने कौए से कहा कि हे कौआ तू मेरे जीव को वहाँ लेजा जहाँ मेरा प्रियतम है, उसकी आँखों के सामने ही मेरे जीव को तू खाना। पर कौए और गीध तो अति नीच पक्षी है वे भला मुझे क्या मारते, मैं स्वयं मर रही थी, मैं तो इसी पछतावे में बहुत मर रही थी कि मैं अपने पति के साथ बन्दीखाने न जा सकी

[ ६४४ ]

तेहि ऊपर का कहौं जो मारी। बिखम पहार परा दुख भारी॥
दूति एक देवपाल पठाई। बाँभनि भेस छरै मोहिं आई॥
कहै तोरि हौं आदि सहेली। चलु लै जाउँ भँवर जहँ बेली॥

तब मैं ग्यान कीन्ह, सतु बाँधा । ओहि के बोल लागु बिख साँधा ॥
कहेउ कँवल नहिं करै अहेरा । सो है भँवर करिहि मै फेरा ॥
पाँच भूत आतमा नेवारेउँ । बारहि बार फिरत मन मारेउँ ॥
औ समुझाएउँ आपन हियरा । कंत न दूरि, अहै सुठि नियरा ॥
बास फूल घिउ छीर जस, निरमल नीर मँझाहिं ।
तस कि घटै घट पूरुख, ज्यों रे अगिनि कठाहिं ॥ ६४४ ॥

शब्दार्थ— बिखम = भयंकर । साँधा = सना, मिला हुआ । पाँच भूत आतमा = जोगिनी बन कर जाने की इच्छा । नेवारेउँ = रोका ।

अर्थ—रानी ने कहा कि इससे भी बढ़ कर मैं जिस प्रकार मारी गई उसका क्या वर्णन करूँ । मेरे ऊपर तो पहाड़ के समान भयंकर दुःख पड़ा है । देवपाल की एक दूती थी, वह ब्राह्मणी का वेष धारण करके मुझे छलने आयी थी । वह कहती थी कि मैं तुम्हारी बचपन की सहेली हूँ, चलो तुम को वहाँ ले चलूँ, जहाँ भौंरा है । तब मैंने बुद्धि से सोचा और अपने सतीत्व की रक्षा की उसकी बोली मुझे ऐसी लगी, जैसे विष से सनी हुई है । मैंने उससे कहा कि कमल भौंरे का शिकार नहीं करता, अर्थात् कमल भौंरे को खोजता नहीं फिरता जो उसका भौंरा (प्रियतम) है, वही फेरा करेगा । फिर जोगिनी बन कर तुम्हारे पास जाने की इच्छा हुई पर मैंने उस इच्छा को दबा लिया और बार-बार अपने मन को रोका । मैंने अपने हृदय को समझाया कि प्रियतम दूर नहीं, हृदय के तो अत्यन्त ही निकट है । जैसे फूल में सुगंधि, दूध में घी और मट्ठे में पानी रहते हैं पर दिखाई नहीं पड़ते उसी प्रकार इस घट (शरीर) में मेरा प्रियतम है, ऐ अग्नि ! क्यों काष्ठरूपी शरीर को जलाती है ।

नोट—इस पद्य में रहस्यात्मक व्यंजना है ।

अलंकार—समासोक्ति ।

## ५५. रत्नसेन-देवपाल-युद्ध-खण्ड

[ ६४५ ]

सुनि देवपाल राव कर चालू। राजहि कठिन परा जिय सालू॥
दादुर पुनि सो कँवल कहँ पेखा। गादुर मुख न सूर कर देखा॥
अपने रँग जस नाँच मँजूरु। तेहि सरि साध करै तँवचूरु॥
जब लहि आइ तुरुक गढ़ बाजा। तब लगि धरि आनौं तौ राजा॥
नींद न लीन्ह, रैनि सब जागा। होत बिहान जाइ गढ़ लागा॥
कुंभलनेरि अगम गढ़ बाँका। बिखम पंथ चढ़ि जाइ न झाँका॥
राजहि तहाँ गएउ लै कालू। होइ सामुँह रोपा देवपाल॥

दुवौ लरै होइ सनमुख, लोहें भएउ असूझ।
सतुरु जूझि तब निबरै, एक दुहूँ महँ जूझ॥ ६४५॥

शब्दार्थ—कर = की। दादुर = मेंढक। पेखा = देखा। गादुर = चमगीदड़। मँजूरु = मयूर-मोर। तँवचूरु = मुर्गा। सरि = बराबरी। साध = इच्छा। सामुँह = सामने। सतुरु = शत्रु। जूझि = युद्ध में। निबरे = निपटे।

अर्थ—राजा रत्नसेन के हृदय में राजा देवपाल की चाल को सुन कर बड़ा दुःख हुआ। उसने सोचा कि मेंढक ने फिर कमल को देखना चाहा। पर चमगीदड़ तो कभी सूर्य की ओर देख नहीं सकता। जिस प्रकार स्वेच्छापूर्वक मोर नाचता है, उसे देख कर उसकी बराबरी करने की इच्छा मुर्गा करने लगा है। इसलिए जब तक कि अलाउद्दीन आकर हमारे गढ़ पर हमला करे तो मैं इस राजा देवपाल को कैद कर लूँ। उसे रात में नींद न आई और सवेरा होते उसने देवपाल के गढ़ को घेर लिया। कुंभलनेरगढ़ बड़ा ही कठिन और दुर्गम था, उसका मार्ग बड़ा ही टेढ़ा था, इतना ऊँचा भी था कि उस पर चढ़ कर नीचे देखा नहीं जाता था। राजा को काल वहाँ ले गया, राजा के सामने आकर देवपाल ने सामना किया। दोनों आमने-सामने लड़े, उनके हथियार बड़े भयानक चल रहे थे। युद्ध में तो तभी निपटारा होता है, जब दो में से एक मर जाय।

[ ६४६ ]

चढ़ि देवपाल राउ रन गाजा। मोहि तोहि जूझि एकौझा राजा ॥
मेलेसि साँगि आइ बिख भरी। मेटि न जाइ काल की घरी ॥
आइ नाभि तर साँगि बईठी। नाभि बेधि निकसी गइ पीठी ॥
चला मारि, तब राजैं मारा। कंध टूट, धर परा निनारा ॥
सीस काटि कै पैरैं बाँधा। पावा दाउँ बैर जस साँधा ॥
जियत फिरा आइउँ बलु हरा। माँझ बाट होइ लोहैं धरा ॥
कारी घाउ जाइ नहिं डोला। गही जीभ जम कहै को बोला ॥

सुधि बुधि सब बिसरी, बाट परी मँझ बाट।
हस्ति घोर को काकर, घर आना कै खाट ॥ ६४६ ॥

शब्दार्थ—एकौझा = द्वन्द्व युद्ध । मेलेसि = मार दिया । निनारा = अलग । साँधा = किया । माँझ = बीच । बाट = रास्ता । कारी = गहरा । काकर = किसका ।

अर्थ—राजा देवपाल रण में गर्ज उठा कि हे राजा ! रत्नसेन अब हमारा तुम्हारा द्वन्द्व युद्ध हो । उसने विष से भरी हुई साँग मारी, काल की घड़ी मेटी नहीं जाती । वह साँग आकर राजा रत्नसेन की नाभि के नीचे लगी और नाभि को छेद कर पीठ तक निकल गयी । जब उसने मार दिया तब राजा रत्नसेन ने भी मारा, जिससे उसका कंधा टूट गया और धड़ अलग हो गया । उसके सिर को काट कर अपने रथ के चक्के में बाँध लिया । जैसा बैर उसने किया था, उसका बदला ले लिया । जीता हुआ राजा अपने गढ़ को लौटा पर उसका सारा बल तो हरा जा चुका था । रास्ते के बीच में ही उसने हथियार फेंक दिये । गहरा घाव लगा था इससे उससे चला नहीं जाता था, फिर उसकी जबान बन्द हो गयी, कवि कहता है कि उसकी जीभ को तो यमराज ने पकड़ लिया, फिर कौन बोल सकता है ? भाव यह कि रास्ते में ही राजा का शरीरांत हो गया । राजा को सारी सुध-बुध भूल गयी, राजा रत्नसेन भार की भान्ति रास्ते में गिर पड़ा, हाथी-घोड़ा कौन किसका है, घर से खाट मँगाई गई और उसी पर राजा गया ।

———

# ५६. राजा-रत्नसेन-वैकुण्ठ-वास-खण्ड

[ ६४७ ]

तेहि दिन साँस पेट महँ रही। जौ लगि दसा जियन की रही ॥
काल आइ देखराई साँटी। उठि जिउ चला छाँड़ि कै माँटी ॥
काकर लोग कुटुँब घरबारू। काकर अरथ दरब संसारू ॥
ओहि घरी सब भएउ परावा। आपन सोइ जो बेरसा खावा ॥
अहे जो हितू साथ के नेगी। सबै लाग काढ़ै पै बेगी ॥
हाथ झारि जस चला जुवारी। तजा राज, होइ चला भिखारी ॥
जब हुत जीव, रतन सब कहा। जौं भा बिन जिय, कौड़ि न लहा ॥
गढ़ सौंपा बादिल कहँ, गए निकसि बसुदेउ।
छाँड़ी लंक भभीखन, जेहि भावै सो लेउ ॥ ६४७ ॥

शब्दार्थ—जियन = जीने की। साँटी = छड़ी। माँटी = शरीर। बेरसा = विलास किया, सुख भोगा। नेगी = पाने वाले। बसुदेव = जीव।

अर्थ—कवि कहता है कि उसी दिन तक स्वाँस पेट में रहती है, जब तक कि जीने की दशा शेष है। जब काल आकर अपनी छड़ी दिखाता है तो जीव शरीर को छोड़ कर चला जाता है। लोग, कुटुम्ब, घरबार, धन, द्रव्य, संसार यह सब किसके हैं? मृत्यु के समय सब पराये हो जाते हैं, उस समय तो वही सब कुछ है, जो जीवन पर्यन्त भोग लिया। जो साथ के हितैषी हैं, वे तो सब पाने वाले हैं इसलिए ज्यों ही प्राण निकलते हैं, लोग तुरन्त ही उसे घर से निकालने लगते हैं। जैसे जुआरी सब कुछ हार जाने पर हाथ झाड़ कर चल देता है, उसी प्रकार राजा भी राज्य छोड़ कर भिखारी बन कर चल पड़ा। जब तक जीव था, सभी उसे रत्न कहते थे, पर जीव से रहित होने पर कोई उसे कौड़ी को भी न पूछेगा (रतन शब्द श्लिष्ट है)। मरते समय उसने गढ़ बादल को सौंपा और उसका जीव निकल गया, विभीषण ने लंका छोड़ दी, अब जो चाहे उसे ले।

———

# ५७. पद्मावती-नागमती-सती-खण्ड

[ ६४८ ]

पदुमावति नइ पहिरि पटोरी । चली साथ होइ पिय की जोरी ॥
सूरुज छपा, रैनि होइ गई । पूनिउँ ससि सो अमावस भई ॥
छोरे केस मोति लर छूटे । जानहु रैनि नखत सब टूटे ॥
सेंदुर परा जो सीस उघारी । आगि लाग जनु जग अँधियारी ॥
एहि देवस हौं चाहति नाहाँ । चलौं साथ, बाहौं गल बाहाँ ॥
सारस पंखि न जियै निनारे । हौं तुम्ह बिनु का जिऔं पियारे ॥
नेवछावरि कै तन छिरिआवौं । छार होइ संग, बहुरि न आवौं ॥

दीपक प्रीति पतंग जेउँ, जनम निबाह करेउँ ।
नेवछावरि चहुँ पास होइ, कंठ लागि जिउ देउँ ॥ ६४८ ॥

शब्दार्थ--पटोरी = रेशमी वस्त्र । नाहाँ = नाथ । गलबाहाँ = गले में बाँह डाल कर छिरिआवौं = बिखराऊँ । जेउ = जैसे । चहुँ पास = चारों ओर ।

अर्थ--पद्मावती ने नये रेशमी वस्त्र पहने और अपने पति की जोड़ी बन कर साथ चली । सूर्य छिप गया । रात्रि हो गई, पूर्णिमा के चाँद को अमावस्या लग गई । उसने केश छोड़ दिये, उसके मोतियों की लड़ियां छूट गईं । वे इस प्रकार गिरे जैसे रात्रि के सारे तारे टूट गये हैं । खुले हुए शीश पर जो सिंदूर पड़ा है वह ऐसा लगता है मानों संसार के अन्धेरे में आग लगी है । रानी पद्मावती कहने लगी कि हे नाथ, मैं तो इसी दिन को चाहती थी कि गले में बाँह डाल कर साथ चलूँ । सारस पक्षी अलग नहीं जीता है, हे प्यारे, फिर तुम्हारे बिना मैं कैसे जी सकती हूं । अपने शरीर को निछावर करके बिखेर दूँगी तुम्हारे साथ ही राख होकर फिर न लौटूँगी । जैसे पतंगा जीवन भर दीपक की प्रीति का निर्वाह करता है उसी प्रकार मैंने भी किया अतः अब चारों ओर से निछावर हो कर तुम्हारे गले से लग कर सती हो जाऊंगी ।

अलङ्कार—पूर्णोपमा ।

[ ६४६ ]

नागमती पदुमावती रानीं। दुवौ महासत सती बखानीं॥
दुवौ आइ चढ़ि खाट बईठीं। औ सिवलोक परा तिन्ह डीठीं॥
बैठौ कोइ राज औ पाटा। अंत सबैं बैठिहि एहि खाटा॥
चंदन अगर काढ़ि सर साजा। औ गति देइ चले लै राजा॥
बाजन बाजहिं होइ अकूता। दुऔ कंत लै चाहहिं सूता॥
एक जो बाजा भएउ बियाहू। अब दोसरें होइ ओर निबाहू॥
जियत जो जरहिं कंत की आसा। मुँए रहसि बैठहिं एक पासा॥
आजु सूर दिन अँथवा, आजु रैनि ससि बूड़ि।
आजु बाँच जिय दीजिअ. आजु आगि हम जूड़ि॥ ६४६।

शब्दार्थ—दुवौं = दोनों। तिन्ह डीठीं = उनका दृष्टि में। पाट = सिंहासन। सर = चिता। अकूता = बहुत। अँथवा = अस्त हुआ। बूड़ि = डूब गया। बाँचि—पढ़ कर-खोल कर-पाठान्तर-नाँच = प्रसन्न हो कर। हम = हमारे लिए। जूड़ि = ठंढी।

अर्थ—नागमती और पद्मावती दोनों ही रानियाँ बड़ी सती थीं। उनके सतीत्व की बड़ी प्रशंसा थी। दोनों सौतें खाट पर एक साथ बैठीं, उन्हें अब ब्रह्मलोक दिखाई पड़ने लगा। चाहे कोई राज्य सिंहासन पर ही बैठे पर अन्त में तो सबको इसी खाट पर बैठना होता है। चन्दन और अगर से चिता सजाई गई। सब लोग राजा को गति देने (जलाने) चले। बहुत प्रकार के बाजे बजने लगे क्योंकि दोनों ही पत्नियाँ अपने पति को लेकर सोना चाह रही हैं। एक बाजा बजा था तो विनाह हुआ था अब दूसरे बाजे के बजने पर मुक्ति हो रही है। जो रानियाँ जीते जी पति की आशा में एक दूसरे से जला करती थीं वे अब प्रसन्नता के साथ पास पास बैठी हुई हैं। आज तो सूर्य अस्त हो गया, आज रात्रि में चन्द्रमा भी डूब गया। रानी कहती है आज खुल कर जीवन उत्सर्ग करो आज अग्नि हमारे लिए ठंडी है।

[ ६५० ]

सर रचि दान पुन्नि बहु कीन्हा। सात बार फिरि भाँवरि दीन्हा॥

एक भँवरि भैं जो रे बियाहीं । अब दोसरि दे गोहन जाहीं ॥
लै सर ऊपर खाट बिछाई । पौढ़ीं दुवौ कंत कंठ लाई ॥
जियत कंत तुम्ह हम कँठ लाई । मुए कंठ नहिं छांड़हिं सांई ॥
औ जो गाँठि, कंत तुम्ह जोरी । आदि अंत दिन्हि जाइ न छोरी ॥
एहि जग काह जो आथि निआथी । हम तुम्ह नाहिं दुहुँ जग साथी ॥
लागीं कंठ आगि दै होरी । छार भईं, जरि अंग न मोरी ॥
　　रातीं पिय के नेह गईं, सरग भएउ रतनार ।
　　जो रे उवा सो अँथवा, रहा न कोइ संसार ॥६५०॥

शब्दार्थ—सर = चिता । पुन्नि = पुण्य । गोहन = साथ । पौढ़ीं = लेटीं आथि = है । निआथी—अस्थिर ।

अर्थ—चिता को रचवा कर रानियों ने बहुत दान पुण्य किया । फिर उन्होंने सात फेरे किये । कवि कहता है कि एक बार तो इन भाँवरों से ब्याह हुआ था अब दूसरी बार इन फेरों को देकर ये साथ साथ परलोक जा रही हैं । फिर चिता के ऊपर खाट बिछाई गई । उस पर दोनों अपने पति को गले लगा कर लेट गईं । वे कहती हैं कि हे प्रियतम, जीते जी तुमने हमें गले लगाया था इस लिए हे स्वामी मरने पर भी हम तुम्हारे गले को न छोड़ेंगी । और हे स्वामी तुमने जो गाँठ ब्याह में जोड़ी थी वह गाँठ आदि से अन्त तक छोड़ी नहीं जा सकती । इस संसार में ऐसी कौन सी वस्तु है जो अस्थिर नहीं है । हम तुम तो दोनों लोकों के साथी हैं । होली की आग देकर दोनों गले से चिपट गईं, जल कर राख हो गईं पर उन्होंने अपना अंग नहीं मोड़ा ।

पति के प्रेम में लाल होकर वे स्वर्ग गईं और स्वर्ग भी उनकी ललायी से लाल हो गया । जो इस संसार में उदय होता है वह अस्त अवश्य होता है कोई इस संसार में नहीं रह सकता ।

नोट—रहस्य भावना प्रधान कथा का अन्त कवि ने शान्ति में किया है । ग्रन्थ न तो दुःखान्त है और न सुःखान्त वरन् प्रशान्त है ।

[ ६५१ ]

ओइ सह गवन भईं जब ताईं । पातसाहि गढ़ छेंका आई ।

तब लगि सो औसर होइ बीता। भए अलोप राम औ सीता॥
आइ साहि सब सुना अखारा। होइ गा राति देवस जो बारा॥
छार उठाइ लीन्हि एक मूँठी। दीन्हि उड़ाइ, पिरिथमी झूठी॥
जब लगि ऊपर छार न परई। तब लगि नाहिं जो तिस्ना मरई॥
सगरैं कटक उठाई माँटी। पुल बाँधा जहँ जहँ गढ़ घाटी॥
भा ढोवा, भा जूझि असूझा। बादिल आइ पँवरि होइ जूझा॥
जौहर भईं इस्तिरी, पुरुख भए संग्राम।
पातसाहि गढ़ चूरा, चितउर भा इसलाम॥६५१॥

शब्दार्थ—ओइ = वे। सहगवन = पति के साथ सहगमन, सती होना। जब ताईं = जब तक। छेंका = घेरा। अखारा = दंगल, खेल। पिरिथिमी = पृथ्वी। तिस्ना = लालच। सगरैं = सारा। ढोवा—पाठान्तर—धावा। चूरा = चूर-चूर कर दिया।

अर्थ—जब तक उन रानियों ने सहगमन किया बादशाह अलाउद्दीन ने आ कर गढ़ को घेर लिया। तब तक तो सारा अवसर समाप्त हो गया, राम और सीता दोनों ही लुप्त हो गये। जब शाह ने आ कर यह सब खेल सुना तो उसे ऐसा प्रतीत हुआ कि प्रकाशमान दिन रात्रि में परिवर्तित हो गया। उसने जली हुई भस्म की एक मुट्ठी ली और उड़ा कर कहा कि सारी पृथ्वी झूठी है। जब तक मिट्टी ऊपर नहीं पड़ती, आदमी की तृष्णा नहीं जाती। सारी सेना ने एक-एक मुट्ठी राख उठाई और जहाँ-जहाँ घाटी थी डाल दी. ऐसा करने से जहाँ घाटी थी वहाँ पुल बँध गया। इतने में राजपूतों ने धावा कर दिया और भयंकर युद्ध हुआ। बादल ड्योढ़ी पर लड़ता हुआ मारा गया।

चित्तौड़ की सारी स्त्रियों ने जौहर कर डाला (सब एक साथ एक चिता में जल कर मर गईं) और पुरुष युद्ध में काम आये। बादशाह ने चित्तौड़ गढ़ को तोड़ डाला और चित्तौड़ में मुसलमान बस गये।

— — · —

# उपसंहार

उपसंहार—डा० माताप्रसाद गुप्त की ग्रन्थावली में पं० शुक्ल जी सम्पादित ग्रन्थावली के उपसंहार का परम प्रसिद्ध पद नहीं है, गुप्त जी ने इस पद को प्रक्षिप्त पदों की तालिका में भी नहीं दिया है। यह पद तो सारे ग्रन्थ की कुञ्जी है, इसके बिना ग्रन्थ ही अधूरा है। पता नहीं, इस प्रकार डा० गुप्त जी का इस पद के सम्बन्ध में क्या मत है? पद इस प्रकार है—

मैं एहि अरथ पण्डितन्ह बूझा। कहा कि हम्ह किछु और न सूझा ॥
चौदह भुवन जो तर उपराहीं। ते सब मानुष के घट माहीं ॥
तन चितउर मन राजा कीन्हा। हिय सिंहल बुधि पदमिनि चीन्हा ॥
गुरु सुवा जेहि पन्थ देखावा। बिन गुरु जगत को निरगुन पावा ॥
नागमती यह दुनिया-धंधा। बाँचा सोइ न एहि चित बँधा ॥
राघव दूत सोई सैतानू। माया अलाउद्दीन सुलतानू ॥
प्रेम कथा एहि भाँति बिचारहु। बूझि लेहु जो बूझै पारहु ॥

तुरकी अरबी हिंदुई, भाषा जेती आहि।
जेहि महँ मारग प्रेम कर, सबै सराहैं ताहि ॥

शब्दार्थ—घट = शरीर। बाँचा = बचा। पारहु = सके। हिंदुई = हिंदी।

अर्थ—जायसी कहते हैं कि मैंने अपनी पद्मावत की कहानी सुना कर पण्डितों से अर्थ पूछा। उन लोगों ने कहा कि हमारी समझ में कुछ नहीं आया। इस पर जायसी कहते हैं कि चौदहों भुवन जो कि ऊपर और नीचे स्पष्ट कहे जाते हैं सब इसी मनुष्य शरीर के भीतर ही हैं। फिर वे अपने पद्मावत काव्य के रूपक को स्वयं स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि चित्तौड़ तन है, राजा मन है, सिंहल हृदय और बुद्धि पद्मिनी है। सुआ गुरु है जो रास्ते को दिखाता है बिना गुरु के इस जगत् में निर्मल ज्ञान को कोई नहीं पा सकता। नागमती संसार है जिससे कोई बच नहीं पाता, सभी उसमें बन्ध जाते हैं। राघव चेतन शैतान है और अलाउद्दीन माया है। मैंने यह प्रेम कथा कही, जो इसे समझ

सके समझ ले। तुर्की, अरबी और हिंदी जितनी भाषायें हैं, उन सब में जिसमें प्रेम का मार्ग उसे ही सराहा गया है।

नोट—अन्त में आ कर सिद्धान्त निरूपण में भी जायसी की प्रवृत्ति न बदली। उन्होंने अपने सूफी मत के सिद्धान्तों को हिन्दी नामों से प्रस्तुत किया है और बीच-बीच में हिन्दू दर्शन सिद्धान्तों को मिला दिया है। उक्त पद के वास्तविक मर्म को समझने के लिए पहले सूफी मत का मर्म और उसकी शब्दावली देखनी चाहिए।

सूफी लोग मनुष्य के चार विभाग करते हैं—नफ्स (इन्द्रिय) २. रूह (आत्मा) ३. कल्ब (हृदय) ४. अक्ल (बुद्धि)। इन्हीं से मिलते हुए, आलमे नासूत (भौतिक जगत्) जिसमें नफ्स (इन्द्रियों) की प्रधानता होती है। २. आलमे मलकूत (चित्त जगत, जिसमें रूह (आत्मा) का प्रभाव होता है। ३. आलमे जबरूत (आनन्दमय जगत्) जिसमें कल्ब (हृदय) का प्रसार है और ४. आलमे लाहूत (सत्य जगत्) जिसमें अक्ल (बुद्धि) का वैभव है।

सूफी मत का साधक इन्हीं जगतों से क्रमशः पार होता है, पर ऐसा करने में उसे अपने गुरु की सहायता लेनी पड़ती है। इसी लिए सूफीमत में गुरु-परम्परा बहुत महत्वपूर्ण है। गुरु के पथप्रदर्शन पर ही वह प्रेम पन्थ पर अग्रसर होता है और शरीअत, तरीकत, हकीकत और मारिफत के द्वारा वह जमाल (प्रेममयी प्रकृति) का अनुसरण करता हुआ अपने लक्ष्य को पुष्ट करता है। सच्चे प्रेम-मार्ग में वह संसार को छोड़ता है और प्रेम को प्राप्त करता है पर प्रेम की प्राप्ति के बाद भी शैतान के द्वारा वह अलग किया जाता है और फिर वह प्रयत्न करके अपने उद्देश्य को प्राप्त करता है। जायसी ने उक्त पद में जिन शब्दों का प्रयोग किया है वे इस प्रकार हैं—

तन, चितउर = शरीर = इन्द्रिय—नफ्स या नासूत जिसमें इन्द्रिय जगत् है, यह इन्द्रिय जगत् चित्तौड़ है। भाव यह कि जब तक तोता नहीं आता और राजा चित्तौड़ छोड़ कर नहीं जाता तब तक नफ्स की स्थिति है।

मन राजा = आत्मा = रूह = आलमे मलकूत, जिस में चैतन्यता आती है।

तोते के आने पर राजा में चैतन्यता आ जाती है और वह चित्तौड़ (आलमे नासूत) छोड़ कर चला जाता है।

हिय, सिंहल = हृदय। कल्ब—आलमे जबरूत (आनन्दमय जगत)—राजा को आनन्द सिंहल में मिलता है क्योंकि वहाँ पर उसे पद्मावती का साक्षात्कार होता है और मिलन प्राप्त होता है।

बुधि = पद्मिनि = बुद्धि = अक्ल, आलमे लाहूत (सत्य जगत) पद्मिनी, सत की चरमावस्था है। सारे ग्रन्थ में इसी लिए कवि ने सत की प्रशंसा की और ग्रन्थ की समाप्ति सत की पराकाष्ठा सतीपने में दिखाई।

गुरु सुआ तो स्पष्ट ही है।

नागमती को दुनिया का माया-मोह कहा है क्योंकि उसे ही छोड़ कर वह गया है। शैतान की स्थिति सूफी मत में अनिवार्य है। शैतान का काम अलग करना है। वास्तव में शैतान का काम राघवचेतन और अलाउद्दीन दोनों करते हैं, इसीलिए उत्तरार्द्ध में अलाउद्दीन का ऐतिहासिक वृत्त इसमें डाला भी गया है। माया—हिन्दू अद्वैतवाद का प्रधान सिद्धान्त है और कबीर आदि ने माया को ठगिनी कह कर भक्त और भगवान् के बीच का रोड़ा कहा था इसी लिए भ्रमवश जायसी ने हिन्दू शब्दावली में कहने के कारण अलाउद्दीन को माया कह डाला। समष्टि में उक्त पंक्तियों का सार इस प्रकार है—

कहानी में चित्तौड़ तक की कहानी—तन या नफ्स सम्बन्धी नासूत है।

राजा का योगी होना—मन या रूह सम्बन्धी आलमे मलकूत है।

सिंहलद्वीप में पहुंचने तक की कथा—हिय या कल्ब सम्बन्धी-आलमे जबरूत है।

और पद्मावती के मिलन की कहानी—बुद्धि=अक्ल सम्बन्धी आलमे लाहूत है।

नागमती की कहानी या उसका-विरह--वर्णन-संसार के माया-मोह के आकर्षण का प्रतीक है। राघवचेतन और अलाउद्दीन की कथा सूफीमत के शैतान का प्रतीक है जो प्रेमी और प्रेमिका को अलग करता तो है पर वे पुनः मिल जाते हैं।

[ ६५२ ]

मुहमद यहि कबि जोरि सुनावा। सुना जो पेम पीर गा पावा ॥
जोरी लाइ रकत कै लेई। गाढ़ी प्रीति नैन जल भेई ॥
औ मन जानि कबित अस कीन्हा। मकु यह रहै जगत महँ चीन्हा ॥
कहाँ सो रतनसेनि अस राजा। कहाँ सुवा असि बुधि उपराजा ॥
कहाँ अलाउदीन सुलतानू। कहँ राघौ जेइँ कीन्ह बखानू ॥
कहँ सुरूप पदुमावति रानी। कोइ न रहा जग रही कहानी ॥
धनि सो पुरुख जस कीरति जासू। फूल मरै पै मरै न बासू ॥
केइँ न जगत जस बेंचा, केइँ न लीन्ह जस मोल।
जो यह पढ़ै कहानी, हम सँवरै दुइ बोल ॥ ६५२ ॥

शब्दार्थ—लेई = कागज चिपकाने वाली लेई। चीन्हा = निशानी।

अर्थ—मलिक मुहम्मद जायसी ने यह कहानी जोड़ कर सुना दी, जिसने इस कहानी को प्रेम से सुना वह पीर (साधु) हो गया। इस कहानी को मैंने खून की लेई लगा-लगा कर जोड़ रखा है और गाढ़ी प्रीति के आँसुओं से भिगोया है। अपने मन में यह समझ कर लिखा है कि शायद मेरे मर जाने के बाद भी यह संसार में मेरी निशानी रहे। अब वह राजा रत्नसेन कहाँ है और वह तोता कहाँ है जिसने ऐसी बुद्धि उत्पन्न की। वह अलाउद्दीन सुलतान और राघव चेतन कहाँ हैं, वह रूपवती पद्मावती भी नहीं रही, संसार में उसकी कहानी मात्र रह गयी। वह पुरुष धन्य है जिसकी कीर्ति ऐसी है जैसे फूल की सुगंध। फूल तो मर जाता है पर उसकी सुगंधि नहीं मरती। ऐसे कितने हैं जिन्होंने संसार में कीर्ति न बेची हो और जिन्होंने कीर्ति मोल न ली हो। जो इस कहानी को पढ़ेगा वह दो शब्दों में हमें भी याद कर लेगा।

[ ६५३ ]

मुहमद बिरिध बएस अब भई। जोबन हुत, सो अवस्था गई ॥
बल जो गएउ कै खीन सरीरू। दिस्टि गई नैनन्ह दै नीरू ॥
दसन गए कै तुचा कपोला। बैन गए दै अनरुचि बोला ॥
बुद्धि गई हिरदै बौराई। गरब गएउ तरहुँड सिर नाई ॥

सरवन गए ऊँच ह्वै सुना। गारौ गएउ, सीस भा भुना ॥
भँवर गएउ केसन्ह ह्वै भुवा। जोबन गएउ, जियत जनु मुवा ॥
तब लगि जीवन जोबन साथाँ। पुनि सो मीचु पराए हाथाँ ॥
बिरिध जो सीस डोलावैं, सीस धुनै तेहि रीस।
बूढ़ आउ होहु तुम्ह, केइँ यह दीन्ह असीस ॥ ६५३ ॥

शब्दार्थ—बिरिध बएस = वृद्धावस्था। तुचा = पिचक गया। तरहुँत = नीचे। गारौ = गर्व-पाठान्तर-स्याही-काले बाल। भुना = धुनी हुई रुई।

अर्थ—जायसी कहता है कि अब तेरी वृद्धावस्था आ गयी जो जवानी की अवस्था थी वह तो बीत गई। बल के जाने से शरीर क्षीण हो गया। आँखों की ज्योति गई और पानी भी निकलने लगा। दाँत गये जिससे गाल पिचक गये। वाणी गई और बोली अच्छी नहीं लगती। हृदय में बुद्धि भी नष्ट हो गई। सारा गर्व गया और नम्रता आ गयी। कान की शक्ति गई और ऊँचे बोलने पर ही सुनाई पड़ता है। काले बाल गये और सिर धुनी हुई रूई की भाँति सफेद हो गया। भौंरे रूपी काले बाल सेंबल की रुई के समान हो गये। जवानी चली गई तो जीते जी ऐसे हैं जैसे मृत हों। तभी तक जीवन है जब तक जवानी साथ है, फिर तो मृत्यु ही है और हम दूसरे के हाथ हैं। वृद्धावस्था में सिर हिलता है, उसे देखकर जायसी कहता है कि मानो वह क्रुद्ध होकर कहता है कि तुमको किसने यह आशीर्वाद दिया कि "तुम बूढ़े हो जाओ"।

नोट—अन्तिम पद कुछ अप्रासंगिक है, इसमें कवि की आत्माभिव्यक्ति है, पर इसका विषय से कोई सम्बन्ध नहीं। ग्रन्थ की समाप्ति सूचक पद तो पद संख्या ६५२ ही है।

---

# अखरावट

# अखरावट

[ १ ]

गगन हुता नहिं महि हुती, हुते चंद नहिं सूर।
अैसेइ अंधकूप महँ, रचा मुहम्मद नूर॥
साईं केरा नावँ, हिया पूर काया भरी।
मुहमद रहा न ठाँव, दूसर कोइ न समाइ अब॥

आदिहु तें जो आदि गोसाईं। जेइँ सब खेल रचा दुनियाईं॥
जस खेलेसि तस जाइ न कहा। चौदह भुवन पूरि सब रहा॥
एक अकेल न दूसर जाती। उपजे सहस अठारह भाँती॥
जौ वै आनि जोति निरमई। दीन्होसि ग्याँन, समुझि मोहिं भई॥
औ उन्ह आनि बार मुख खोला। भइ मुख जीभ, बोल मैं बोला॥
वै सब किछु करता किछु नाहीं। जैसे चले मेघ परछाहीं॥
परगट गुपुत बिचारि सो बूझा। सो तजि दूसर और न सूझा॥

कहौं सो ग्याँन ककहरा, सब आखर महँ लेखि।
पंडित पढ़ि अखरावटी, टूटा जोरेहु देखि॥
हुता जो सुन्न-म-सुन्न, नाँव ठाँव ना सुर सबद।
तहाँ पाप नहिं पुन्नि, मुहमद आपुहि आपु महँ॥ १॥

[ २ ]

आपु अलख पहिले हुत जहाँ। नाँव न ठाँव न मूरति तहाँ॥
पूर पुरान पाप नहिं पुन्नू। गुपुत ते गुपुत सुन्न ते सुन्नू॥
अलख अकेल सबद नहिं भाँती। सूरुज चाँद देवस नहिं राती॥
आखर सुर नहिं बोल अकारा। अकथ कथा का कहौं बिचारा॥
किछु कहिए तौ किछु नहिं आखौं। पै किछु मुहँ महँ किछु हिय राखौं॥
बिना उरेह अरंभ बखाना। हुता आपु महँ आपु समाना॥
आस न बास न मानुस अंडा। भए चौखंड जो अैस पखंडा॥

सरग न धरति
बजर बीज
तब भा पुनि
रचा मुहम्मद

ऐस जो ठाकुर किय
तेहि के प्रीति बीज
होतै बिरवा भए
सूरुज चाँद देवस
चलि सो लिखनी भइ
मेटेन्हि जाइ पुनि
औ तब भए नरक
नूर मुहम्मद
पुनि इबलीस
हुता जो एक
अब जिउ

जो उतपति उपराजै
रहा जो एक जल गुपुत
सोई अंस घट घट
भए आपु औ कहा
आने फूल भाँति बहु
जिया जंतु सब अस्तुति
तुम्ह करता बड़ सिरजन
भर भँडार गुन
पुनि अनबन
परैं प्रेम के
ज सिर संती

# अखरावट

[ १ ]

गगन हुता नहिं महि हुती, हुते चंद नहिं सूर।
ऐसेइ अंधकूप महँ, रचा मुहम्मद नूर॥
साईं केरा नावँ, हिया पूर काया भरी।
मुहमद रहा न ठाँव, दूसर कोइ न समाइ अब॥
आदिहु तें जो आदि गोसाईं। जेइँ सब खेल रचा दुनियाईं॥
जस खेलेसि तस जाइ न कहा। चौदह भुवन पूरि सब रहा॥
एक अकेल न दूसर जाती। उपजे सहस अठारह भाँती॥
जौ वै आनि जोति निरमई। दीन्होसि ग्याँन, समुझि मोहिं भई॥
औ उन्ह आनि बार मुख खोला। भइ मुख जीभ, बोल मैं बोला॥
वै सब किछु करता किछु नाहीं। जैसे चले मेघ परछाहीं॥
परगट गुपुत बिचारि सो बूझा। सो तजि दूसर और न सूझा॥
कहौं सो ग्याँन ककहरा, सब आखर महँ लेखि।
पंडित पढ़ि अखरावटी, टूटा जोरेहु देखि॥
हुता जो सुन्न-म-सुन्न, नाँव ठाँव ना सुर सबद।
तहाँ पाप नहिं पुन्नि, मुहमद आपुहि आपु महँ॥ १॥

[ २ ]

आपु अलख पहिले हुत जहाँ। नाँव न ठाँव न मूरति तहाँ॥
पूर पुरान पाप नहिं पुन्नू। गुपुत ते गुपुत सुन्न ते सुन्नू॥
अलख अकेल सबद नहिं भाँती। सूरुज चाँद देवस नहिं राती॥
आखर सुर नहिं बोल अकारा। अकथ कथा का कहौं बिचारा॥
किछु कहिए तौ किछु नहिं आखौं। पै किछु मुहँ महँ किछु हिय राखौं॥
बिना उरेह अरंभ बखाना। हुता आपु महँ आपु समाना॥
आस न बास न मानुस अंडा। भए चौखंड जो ऐस पखंडा॥

सरग न धरति न खंभमय, बरम्ह न बिसुन महेस।
बजर बीज बीरौ अस, ओहि न रंग न भेस॥
तब भा पुनि अंकूर, सिरजा दीपक निरमला।
रचा मुहम्मद नूर, जगत रहा उजियार होइ॥ २॥

[ ३ ]

ऐस जो ठाकुर किय एक दाऊँ। पहिले रचा मुहम्मद नाऊँ॥
तेहि कै प्रीति बीज अस जामा। भए दुइ बिरिछ सेत औ सामा॥
होतै बिरवा भए दुइ पाता। पिता सरग औ धरती माता॥
सूरुज चाँद देवस औ राती। एकहि दूसर भएउ सँघाती॥
चलि सो लिखनी भइ दुइ फारा। बिरिछ एक, उपनी दुइ डारा॥
भेटेन्हि जाइ पुन्नि औ पापू। दुख औ सुख आनँद संतापू॥
औ तब भए नरक बैकूँठू। भल औ मंद, साँच औ झूठू॥
नूर मुहम्मद देखि तौ, भा हुलास मन सोइ।
पुनि इबलीस सँचारेउ, डरत रहै सब कोइ॥
हुता जो एकहि संग, हौं तुम्ह काहे बीछुरा।
अब जिउ उठै तरंग, मुहमद कहा न जाइ किछु॥ ३॥

[ ४ ]

जौ उतपति उपराजै चहा। आपनि प्रभुता आपु सौं कहा॥
रहा जो एक जल गुपुत समुंदा। बरसा सहस अठारह बुंदा॥
सोई अंस घट घट मेला। औ सोइ बरन बरन होइ खेला॥
भए आपु औ कहा गोसाईं। सिर नावहु सगरिउ दुनियाईं॥
आने फूल भाँति बहु फूले। बास बेधि कौतुक सब भूले॥
जिया जंतु सब अस्तुति कीन्हा। भा संतोख सबै मिलि चीन्हा॥
तुम्ह करता बड़ सिरजन हारा। हरता धरता सब संसारा॥
भर भँडार गुपुत तहँ, जहाँ छाँह नहिं धूप।
पुनि अनबन परकार, सौं खेला परगट रूप॥
परै प्रेम के झेल, पिउ सहुँ धनि मुख सो करै।
ज सिर सेंती खेल, मुहमद खेल सो प्रेम रस॥ ४॥

[ ५ ]

एक चाक सब पिंडा चढ़ै। भाँति भाँति के भाँडा गढ़ै॥
जबहीं जगत किएउ सब साजा। आदि चहेउ आदम उपराजा॥
पहिलेइँ रचे चारि अढ़वायक। भए सब अढ़वैयन के नायक॥
भइ आयसु चारिहु के नाऊँ। चारि बस्तु मेरवहु एक ठाऊँ॥
तिन्ह चारिहु कै मँदिर सँवारा। पाँच भूत तेहि महँ पैसारा॥
आपु आपु महँ अरुझी माया। अैस न जानै दहुँ केहि काया॥
नव द्वारा राखे मँझियारा। दसवँ मूँदि कै दिएउ केवारा॥

रकत माँसु भरि पूरि हिय, पाँच भूत कै संग।
प्रेम देस तेहि ऊपर, बाज रूप औ रंग॥
रहेउ न दुइ महँ बीचु, बालक जैसे गरभ महँ।
जग लेइ आई मीचु, मुहमद रोएउ बिछुरि कै॥ ५॥

[ ६ ]

उहँई कीन्हेउ पिंड उरेहा। भइ सँजूत आदम कै देहा॥
भइ आयसु यह जग भा दूजा। सब मिलि नवहु करहु एहि पुजा॥
परगट सुना सबद सिर नावा। नारद कहँ बिधि गुपुत देखावा॥
तू सेवक है मोर निनारा। दसईं पँवरि होसि रखवारा।
भइ आयसु जब वह सुनि पावा। उठा गरब कै सीस नवावा॥
धरिमिहि धरि पापी जेहि कीन्हा। लाइ संग आदम के दीन्हा॥
उठि नारद जिउ आइ सँचारा। आइ छींक उठि दीन्ह केवारा॥

आदम हौवा कहँ सृजा, लेइ घाला कैलास।
पुनि तहँवाँ ते काढा, नारद के बिसवास॥
आदि किएउ आदेस, सुन्नहिं तें अस्थूल भए।
आपु करै सब भेस, मुहमद चादर ओट जेउँ॥ ६॥

[ ७ ]

का-करतार चाहिय अस कीन्हा। आपन दोख आन सिर दीन्हा॥
खाएनि गोहूँ कुमति भुलाने। परे आइ जग महँ पछिताने॥

छोड़ि जमाल जलालहि रोवा। कौन ठाँव तें दैउ बिछोवा॥
अंधकूप सगरउँ संसारू। कहाँ सो पुरुख, कहाँ मेहरारू॥
रैनि छ मास तैसि झरि लाई। रोइ रोइ आँसु नदी बहाई॥
पुनि माया करता के भई। भा भिनुसार, रैनि हटि गई॥
सूरुज उए कँवल दल फूले। दुवौ मिले पंथ कर भूले॥

तिन्ह संतति उपराजा, भाँतिन्ह भाँति कुलीन।
हिंदू तुरुक दुवौ भए, अपने अपने दीन॥
बुंदहि समुँद समान, यह अचरज कासौं कहौं।
जो हेरा सो हेरान, मुहमद आपुहि आपु महँ॥ ७॥

[ ८ ]

खा-खेलार जस है दुइ करा। उहै रूप आदम अवतरा॥
दूहूँ भाँति तस सिरिजा काया। भए दुइ हाथ भए दुइ पाया॥
भए दुइ नयन स्रवन दुई भाँती। भए दुइ अधर दसन दुइ पाँती॥
माथ सरग धर धरती भएऊ। मिलि तिन्ह जग दूसर होइ गएऊ॥
माटी माँसु रकत भा नीरू। नसें नदी हिय समुँद गंभीरू॥
रीढ़ सुमेरु कीन्ह तेहि केरा। हाड़ पहार जुरे चहुँ फेरा॥
बार बिरिछ रोवाँ खर जामा। सूत सूत निसरे तन चामा॥

सातौं दीप नवौं खंड, आठौं दिसा जो आहिं।
जो बरम्हंड सो पिंड है, हेरत अंत न जाहिं॥
आगि बाउ जल धूरि, चारि मेरइ भाँडा गढ़ा।
आपु रहा भरि पूरि, मुहमद आपुहि आपु महँ॥ ८॥

[ ९ ]

गा-गौरहु अब सुनहु गियानी। कहौ ग्यान संसार बखानी॥
नासिक पुल सरात पथ चला। तेहि कर भौंहैं हैं दुइ पला॥
चाँद सूरुज दुनौ सुर चलहीं। सेत लिलार नखत झलमलहीं॥
जागत दिन निसि सोवत माँझा। हरख भोर बिसमय होइ साँझा॥
सुख बैकुंठ भुगुति औ भोगू। दुख है नरक जो उपजै रोगू॥

बरखा रुदन गरज अति कोहू। बिजुरी हँसी हिवंचल छोहू॥
घरी पहर बेहर हर साँसा। बीतै छओ ऋतु बारह मासा॥
जुग जुग बीतै पलहि पल, अवधि घटति निति जाइ।
मीचु नियर जब आवै, जानहुँ परलय आइ॥
जेहि घर ठग हैं पाँच, नवौ बार चहुँदिसि फिरहिं।
सो घर केहि मिस बाँच, मुहमद जौ निसि जागिए॥ ९॥

[ १० ]

घा-घट जगत बराबर जाना। जेहि महँ धरती सरग समाना॥
माथ ऊँच मक्का बन ठाऊँ। हिया मदीना नबी के नाऊँ॥
सरवन आँखि नाक मुख चारी। चारिहु सेवक लेहु बिचारी॥
भावै चारि फिरिस्ते जानहु। भावै चारि यार पहिचानहु॥
भावै चारिहु मुरसिद कहऊ। भावै चारि किताबैं पढ़ऊ॥
भावै चारि इमाम जे आगे। भावै चारि खंभ जे लागे॥
भावै चरिहु जुग मति पूरी। भावै आगि बाउ जल धूरी॥
नाभि कँवल तर नारद, लिए पाँच कोटवार।
नवौ दुवारि फिरै निति, दसईं कर रखवार॥
पवनहु ते मन चाँड़, मन तें आसु उतावला।
कतहूँ मेड़ न डाँड़, मुहमद बहु बिस्तार सो॥ १०॥

[ ११ ]

ना-नारद तस पाहरू काया। चारा मेलि फाँद जग माया॥
नाद बेद औ भूत सँचारा। सब अरुझाइ रहा संसारा॥
आपु निपट निरमल होइ रहा। एकहु बार जाइ नहिं गहा॥
जस चौदह खँड तैस सरीरा। जहँवै दुख है तहँवै पीरा॥
जौन देस महँ सँवरै जहँवाँ। तौन देस सो जानहु तहँवाँ॥
देखहु मन हिरदय बसि रहा। खन महँ जाइ जहाँ कोइ चहा॥
सोवत अंत अंत महँ डोलै। जब बोलै तब घट महँ बोलै॥
तन तुरँग पर मनुआ, मन मस्तक पर आसु।
सोई आसु बोलावई, अनहद बाजा पासु॥

छाँड़ि जमाल जलालहि रोवा। कौन ठाँव तें दैउ बिछोवा॥
अंधकूप सगरउँ संसारू। कहाँ सो पुरुख, कहाँ मेहरारू॥
रैनि छ मास तैसि झरि लाई। रोइ रोइ आँसू नदी बहाई॥
पुनि माया करता के भई। भा भिनुसार, रैनि हटि गई॥
सूरुज उए कँवल दल फूले। दुवौ मिले पंथ कर भूले॥

तिन्ह संतति उपराजा, भाँतिन्ह भाँति कुलीन।
हिंदू तुरुक दुवौ भए, अपने अपने दीन॥
बुंदहि समुंद समान, यह अचरज कासौं कहौं।
जो हेरा सो हेरान, मुहमद आपुहि आपु महँ॥ ७॥

[ ८ ]

खा-खेलार जस है दुइ करा। उहै रूप आदम अवतरा॥
दूहूँ भाँति तस सिरिजा काया। भए दुइ हाथ भए दुइ पाया॥
भए दुइ नयन स्रवन दुई भाँती। भए दुइ अधर दसन दुइ पाँती॥
साथ सरग धर धरती भएऊ। मिलि तिन्ह जग दूसर होइ गएऊ॥
माटी माँसु रकत भा नीरू। नसैं नदी हिय समुंद गंभीरू॥
रीढ़ सुमेरु कीन्ह तेहि केरा। हाड़ पहार जुरे चहुँ फेरा॥
बार बिरिछ रोवाँ खर जामा। सूत सूत निसरे तन चामा॥

सातौं दीप नवौं खंड, आठौं दिसा जो आहिं।
जो बरम्हंड सो पिंड है, हेरत अंत न जाहिं॥
आगि बाउ जल धूरि, चारि मेरइ भाँडा गढ़ा।
आपु रहा भरि पूरि, मुहमद आपुहि आपु महँ॥ ८॥

[ ९ ]

गा-गौरहु अब सुनहु गियानी। कहौं ग्यान संसार बखानी॥
नासिक पुल सरात पथ चला। तेहि कर भौहैं हैं दुइ पला॥
चाँद सूरुज दूनौ सुर चलहीं। सेत लिलार नखत झलमलहीं॥
जागत दिन निसि सोवत माँझा। हरख भोर बिसमय होइ साँझा॥
सुख बैकुंठ भुगुति औ भोगू। दुख है नरक जो उपजै रोगू॥

बरखा रुदन गरज अति कोहू। बिजुरी हँसी हिवंचल छोहू॥
घरी पहर बेहर हर साँसा। बीतै छओ ऋतु बारह मासा॥
जुग जुग बीतै पलहि पल, अवधि घटति निति जाइ।
मीचु नियर जब आवै, जानहुँ परलय आइ॥
जेहि घर ठग हैं पाँच, नवौ बार चहुँदिसि फिरहिं।
सो घर केहि मिस बाँच, मुहमद जौ निसि जागिए॥ ९॥

[ १० ]

घा-घट जगत बराबर जाना। जेहि महँ धरती सरग समाना॥
माथ ऊँच मक्का बन ठाऊँ। हिया मदीना नबी के नाऊँ॥
सरवन आँखि नाक मुख चारी। चारिहु सेवक लेहु बिचारी॥
भावै चारि फिरिस्ते जानहु। भावै चारि यार पहिचानहु॥
भावै चारिहु मुरसिद कहऊ। भावै चारि किताबैं पढ़ऊ॥
भावै चारि इमाम जे आगे। भावै चारि खंभ जे लागे॥
भावै चरिहु जुग मति पूरी। भावै आगि बाउ जल धूरी॥
नाभि कँवल तर नारद, लिए पाँच कोटवार।
नवौ दुवारि फिरै निति, दसईं कर रखवार॥
पवनहु ते मन चाँड़, मन तें आसु उतावला।
कतहूँ मेड़ न डाँड़, मुहमद बहु बिस्तार सो॥ १०॥

[ ११ ]

ना-नारद तस पाहरू काया। चारा मेलि फाँद जग माया॥
नाद बेद औ भूत सँचारा। सब अरुझाइ रहा संसारा॥
आपु निपट निरमल होइ रहा। एकहु बार जाइ नहिं गहा॥
जस चौदह खँड तैस सरीरा। जहँवै दुख है तहँवै पीरा॥
जौन देस महँ सँवरै जहँवाँ। तौन देस सो जानहु तहँवाँ॥
देखहु मन हिरदय बसि रहा। खन महँ जाइ जहाँ कोइ चहा॥
सोवत अंत अंत महँ डोलै। जब बोलै तब घट महँ बोलै॥
तन तुरँग पर मनुआ, मन मस्तक पर आसु।
सोई आसु बोलावई, अनहद बाजा पासु॥

देखहु कौतुक आइ, रूख समाना बीज महँ।
आपुहि खोदि जमाइ, मुहमद सो फल चाखई॥ ११॥

[ १२ ]

चा-चरित्र जौ चाहहु देखा। बूझहु बिधिना केर अलेखा॥
पवन चाहि मन बहुत उताइल। तेहि तें परम आसु सुठि पाइल॥
मन एक खंड न पहुँचै पावै। आसु भुवन चौदह फिरि आवै॥
भा जेहि ग्याँन हिए सो बूझै। जो धर ध्यान न मन तेहि रूझै॥
पुतरी महँ जो बिंदि एक कारी। देखै जगत सो पट बिस्तारी॥
हेरत दिस्टि उघरि तसि आई। निरखि सुन्न महँ सुन्न समाई॥
पेम समुँद सो अति अवगाहा। बूड़ै जगत न पावै थाहा॥

जबहिं नींद चख आवै, उपजि उठै संसार।
जागत ऐस न जानै, दहुँ सो कौन भँडार॥
सुन्न समुँद चख माँहि, जल जैसी लहरैं उठहिं।
उठि उठि मिटि मिटि जाहिं, मुहमद खोज न पाइए॥ १२॥

[ १३ ]

छा-छाया जस बुंद अलोपू। ओठइँ सौं आनि रहा करि गोपू॥
सोइ चित्त सों मनुवाँ जागै। ओहि मिलि कौतुक खेलै लागै॥
देखि पिंड कहँ बोली बोलै। अब मोहिं बिनु कस नैन न खोलै॥
परम हंस तेहि ऊपर देई। सोऽहं सोऽहं साँसै लेई॥
तन सराय मन जानहु दीया। आसु तेल दम बाती कीया॥
दीपक महँ बिधि जोति समानी। आपुहि बरै बाति निरबानी॥
निघटे तेल झूरि भइ बाती। गा दीपक बुझि अँधियरि राती॥

गा सो प्रान परेवा, कै पींजर तन छूँछ।
मुए पिंड कस फूलै, चेला गुरु सन पूछ॥
बिगरि गए सब नावँ, हाथ पाँव मुँह सीस धर।
तोर नावँ केहि ठावँ, मुहमद सोइ बिचारिए॥ १३॥

[ १४ ]

जा-जानहु अस तन महँ भेदू। जैसे रहै अंड महँ मेदू॥
बिरिछ एक लागीं दुइ डारा। एकहिं ते नाना परकारा॥
मातु के रकत पिता के बिंदू। उपने दुवौ तुरुक औ हिंदू॥
रकत हुतें तन भए चौरंगा। बिंदु हुतें जिउ पाँचौ संगा॥
जस ये चारिउ धरति बिलाहीं। तस वै पाँचौ सरगहि जाहीं॥
फूलै पवन पानि सब गरई। अगिनि जारि तन माटी करई॥
जस वै सरग के मारग माहाँ। तस ये धरति देखि चित चाहा॥
जस तन तस यह धरती, जस मन तैस अकास।
परमहंस तेहि मानस, जैसि फूल मँह बास॥
तन दरपन कहँ साजि, दरसन देखा जौ चहै।
मन सौं लीजिय माँजि, मुहमद निरमल होइ हिया॥ १४॥

[ १५ ]

झा-झाँखर तन महँ मन भूलै। काँटन्ह माँझ फूल जनु फूलै॥
देखेउ परमहंस परछाहीं। नयन जोति सो बिछुरति नाहीं॥
जगमग जल महँ दीखै जैसे। नाहिं मिला, नहिं बेहरा तैसे॥
जस दरपन महँ दरसन देखा। हिय निरमल तेहि महँ जग देखा॥
तेहि संग लागीं पाँचौ छाया। काम, कोह, तिस्ना, मद, माया॥
चख महँ निथर निहारत दूरी। सब घट माँह रहा भरिपूरी॥
पवन न उड़ै न भींजै पानी। अगिनि जरै जस निरमल बानी॥
दूध माँझ जस घीउ है, समुँद माहँ जस मोति।
नैन मींजि जौ देखहु, चमकि उठै तस जोति॥
एकहि ते दुइ होइ, दुइ सौं राज न चलि सकै।
बीचु तें आपुहि खोइ, मुहमद एकै होइ रहु॥ १५॥

[ १६ ]

ना-नगरी काया बिधि कीन्हा। जेइ खोजा पावा तेइ चीन्हा॥
तन महँ जोग भोग औ रोगू। सूझि परै संसार सँजोगू॥

रामपुरी औ कीन्ह कुकरमा । मौन लाइ साधै अस्तर मां ॥
पै सुठि अगम पंथ बड़ बाँका । तस मारग जस सुई क नाका ॥
बाँक चढ़ाव सात खँड ऊँचा । चारि बसेरे जाइ पहूँचा ॥
जस सुमेरु पर अमृत मूरी । देखत नियर चढ़त बड़ि दूरी ॥
नाँघि हिवंचल जो तहँ जाइ । अमृत मूरि पाइ सो खाइ ॥

एहि बाट पर नारद, बैठ कटक कै साज ।
जो ओहि पेलि पईठे, करै दुवौ जग राज ॥
हौं कहते भए ओट, पिये खंड मो मौं किए३ ।
भए बहु फाटक कोट, मुहमद अब कैसे मिलहिं ॥ १६ ॥

[ १७ ]

टा-टुक झाँकहु सातौ खंडा । खंडै खंड लखहु बरम्हंडा ॥
पहिल खंड जो सनीचर नाऊँ । लखि न अँटकु पौरी महँ ठाऊँ ॥
दूसर खंड ब्रिहस्पति तहवाँ । काम दुवार भोग घर जहँवाँ ॥
तीसर खंड जो मंगल जानहु । नाभि कमल महँ ओहि अस्थानहु ॥
चौथ खंड जो आदित अहई । बाईं दिसि अस्तन महँ रहई ॥
पाँचवें खंड सुक्र उपराहीं । कंठ माहँ औ जीभ तराहीं ॥
छठएँ खंड बुद्ध कर बासा । दुइ भौंहन्ह के बीच निवासा ॥

सातवें सोम कपार महँ, कहा सो दसवँ दुवार ।
जो वह पँवरि उघारै, सो बड़ सिद्ध अपार ॥
जौं न होत अवतार, कहाँ कुटुम परिवार सब ॥
झूँठ सबै संसार, मुहमद चित्त न लाइए ॥

[ १८ ]

ठा-ठाकुर बड़ आप गुसाईं । जेइ सिरजा जग अपनिहि नाईं ॥
आपुहि आपु जौ देखै चहा । आपनि प्रभुता आपु सौं कहा ॥
सबै जगत दरपन कै लेखा । आपुहि दरपन आपुहि देखा ॥
आपुहि बन औ आपु पखेरू । आपुहि सौजा आपु अहेरू ॥
आपुहि पुहुप फूलि बन फूले । आपुहि भँवर बास रस भूले ॥

आपुहि फल आपुहि रखवारा। आपुहि सो रस चाखनहारा॥
आपुहि घट घट महँ मुख चाहै। आपुहि आपन रूप सराहै॥
आपुहि कागद आपु मसि, आपुहि लेखनहार।
आपुहि लिखनी आखर, आपुहि पँडित अपार॥
केहु नहिं लागिहि साथ, जब गौनब कैलास महँ।
चलब झारि दोउ हाथ, मुहमद यह जग छोड़ि कै॥ १८॥

[ १९ ]

डा-डरपहु मन सरगहि खोई। जेहि पाछे पछिताव न होई॥
गरब करै जौ हौं हौं करई। बैरी सोइ गोसाइँ क अहई॥
जो जानै निहचय है मरना। तेहि कहँ मोर तोर का करना॥
नैन बैन सरवन बिधि दीन्हा। हाथ पाँव सब सेवक कीन्हा॥
जेहि के राज भोग सुख करई। लेइ सवाद जगत जस चहई॥
सो सब पूँछिहि मैं जो दीन्हा। तैं ओहि कर कस अवगुन कीन्हा॥
कौन उतर का करब बहाना। बोवै बबुर लवै कित धाना॥
कै किछु लेइ न सकत तब, नितिहिं अवधि नियराइ।
सो दिन आइ जो पहुँचै, पुनि किछु कीन्ह न जाइ॥
जेइ न चिन्हारी कीन्ह, यह जिउ जौ लहि पिंड महँ।
पुनि किछु परै न चीन्ह, मुहमद यह जग धुंध होइ॥ १९॥

[ २० ]

ढा-ढारै जो रकत पसेऊ। सो जानै एहि बात क भेऊ॥
जेहि कर ठाकुर पहरै जागै। सो सेवक कस सोवै लागै॥
जो सेवक सोवै चित देई। तेहि ठाकुर नहिं मया करेई॥
जेइ अवतारि उन्ह कहँ नहिं चीन्हा। तेइ यह जनम अँबिरथा कीन्हा॥
मूँदे नैन जगत महँ अवना। अंधधुंध तैसै पै गवना॥
लइ किछु स्वाद जागि नहिं पावा। भरा मास तेइ सोइ गँवावा॥
रहै नींद दुख भरम लपेटा। आइ फिरै तिन्ह कतहुँ न भेंटा॥

भावत बीतै रैनि दिन, परम सनेही साथ।
तेहि पर भएउ बिहान जब, रोइ रोइ मींजै हाथ॥
लछिमी सत कै चेरि, लाल करै बहु मुख चहै।
दीठि न देखै फेरि, मुहमद राता प्रेम जो॥ २०॥

[ २१ ]

ना-निसता जो आपु न भएऊ। सो एहि रसहि मारि बिस किएऊ॥
यह संसार झूठ थिर नाहीं। उठहिं मेघ जेउँ जाइ बिलाहीं॥
जो एहि रस के बाएँ भएऊ। तेहि कहँ रस बिख भर होइ गएऊ॥
तेइ सब तजा अरथ बेवहारू। औ घर बार कुटुम परिवारू॥
खीर खाँड तेहि मीठ न लागै। उहै बार होइ भिच्छा मागै॥
जस जस नियर होइ वह देखै। तस तस जगत हिया महँ लेखै॥
पुहुमी देखि न लावै दीठी। हेरै नवै न आपनि पीठी॥
छोड़ि देहु सब धंधा, काढ़ि जगत सौं हाथ।
घर माया कर छोड़ि कै, धरु काया कर साथ॥
साँई के भँडारु बहु, मानिक मुकता भरे।
मन चोरहि पैसारु, मुहमद तौ किछु पाइए॥ २१॥

[ २२ ]

ता-तप साधहु एक पथ लागे। करहु सेव दिन राति सभागे॥
ओहि मन लावहु रहै न रूठा। छोड़हु झगरा यह जग झूठा॥
जब हँकार ठाकुर कर आइहि। एक घरी जिउ रहै न पाइहि॥
ऋतु बसंत सब खेल धमारी। दगला अस तन चढ़य अटारी॥
सोइ सोहागिनि जाहि सोहागू। कंत मिलै जो खेलै फागू॥
कै सिंगार सिर सेंदुर मेलै। सबहि आइ मिलि चाँचरि खेलै॥
औ जो रहै गरब कै गोरी। चढ़ै दुहाग जरै जस होरी॥
खेलि लेहु जस खेलना, ऊख आगि देइ लाइ।
झूमरि खेलहु झूमि कै, पूजि मनोरा गाइ॥
कहाँ ते उपने आइ, सुधि बुधि हिरदय उपजिए।
पुनि कहँ जाहिं समाइ, मुहमद सो खँड खोजिए॥ २२॥

[ २३ ]

था-थापहु बहु ग्याँन बिचारू। जेहि महँ सब समाइ संसारू॥
जैसी अहै पिरथिमी सगरी। तैसिहि जानहु काया नगरी॥
तन महँ पीर औ बेदन पूरी। तन महँ बैद औ ओखद मूरी॥
तन महँ बिख औ अमृत बसई। जानै सो जो कसौटी कसई॥
का भा पढ़े गुने औ लिखे। करनी साध किए औ सिखे॥
आपुहि खोइ ओहि जो पावा। सो बीरौ मनु लाइ जमावा॥
जो ओहि हेरत जाइ हेराई। सो पावै अमृत फल खाई॥
आपुहि खोए पिउ मिलै, पिउ खोए सब जाइ।
देखहु बूझि बिचार मन, लेहु न हेरि हेराइ॥
कटु है पिउ कर खोज, जो पावा सो मरजिया।
तहँ नहिं हँसी न रोज, मुहमद ऐसै ठाँव वह॥ २३॥

[ २४ ]

दा-दाया जाकहँ गुरु करई। सो सिख पंथ समुझि पग धरई॥
सात खंड औ चारि निसेनी। अगम चढ़ाव पंथ तिरबेनी॥
तौ वह चढ़ै जौ गुरू चढ़ावै। पाँव न डगै, अधिक बल पावै॥
जो बरु सकति भगति भा चेला। होइ खेलार खेल बहु खेला॥
जो अपने बल चढ़ि कै नाँघा। सो खसि परा, टूटि गइ जाँघा॥
नारद दौरि सग तेहि मिला। लेइ तेहि साथ कुमारग चला॥
तेली बैल जो निसि दिन फिरई। एका परग न सो अगुसरई॥
सोइ सोधु लागा रहै, जेहि चलि आगे जाइ।
नतु फिरि पीछे आवई, मारग चलि न सिराइ॥
सुनि हस्ती कर नावँ, अधरन्ह टोवा धाइ कै।
जेइ टोवा जेहि ठावँ, मुहमद सो तैसै कहा॥ २४॥

[ २५ ]

धा-धावहु तेहि मारग लागे। जेहि निस्तार होइ सब आगे॥
बिधिना के मारग हैं तेते। सरग नखत तन रोवाँ जेते॥

जेइ हेरा तेइ तहँवैं पावा। भा संतोख समुझि मन गावा ॥
तेहि महँ पंथ कहौं भल गाई। जेहि दूनौ जग छाज बड़ाई ॥
सो बड़ पंथ मुहम्मद केरा। है निरमल कैलास बसेरा ॥
लिखि पुरान विधि पठवा साँचा। भा परवान दुवौ जग बाँचा ॥
सुनत ताहि नारद उठि भागे। छूटे पाप पुन्नि सुनि लागे ॥
वह मारग जो पावैं, सो पहुँचै भव पार।
जो भूला होइ अनतहि, तेहि लूटा बटपार ॥
साईं केरा बार, जो थिर देखै औ सुनै।
नइ नइ करै जोहार, मुहमद निति उठि पाँच बेर ॥ २५ ॥

[ २६ ]

ना-नमाज है दीन क थूनी। पढ़ै नमाज सोइ बड़ गूनी ॥
कही सरीयत चिसती पीरू। उधरित असरफ औ जहँगीरू ॥
तेहि के नाव चढ़ा हौं धाई। देखि समुंद जल जिउ न डेराई ॥
जेहि के ऐसन सेवक भला। जाइ उतरि निरभय सो चला ॥
राह हकीकत परै न चूकी। पैठि मारफत मार बुड़ूकी ॥
ढूँढि उठै लेइ मानिक मोती। जाइ समाइ जोति महँ जोती ॥
जेहि कहँ उन्ह अस नाव चढ़ावा। कर गहि तीर खेइ लेइ आवा ॥
साँची राह सरीअत, जेहि बिसवास न होइ।
पाँव राखि तेहि सीढ़ी, निभरम पहुँचै सोइ ॥
जेइ पावा गुरु मीठ, सो सुख मारग महँ चलै।
सुख अनंद भा डीठ, मुहमद साथी पोढ़ जेहि ॥ २६ ॥

[ २७ ]

पा-पाएउँ गुरु मोहदी मीठा। मिला पंथ सो दरसन दीठा ॥
नावँ पियार सेख बुरहानू। नगर कालपी हुत गुरु थानू ॥
औ तिन्ह दरस गोसाईं पावा। अलहदाद गुरु पंथ लखावा ॥
अलहदाद गुरु सिद्ध नवेला। सैयद मुहमद के वै चेला ॥
सैयद मुहमद दीनहि साँचा। दानियाल सिख दीन्ह सबाचा ॥

जुग जुग अमर सो हजरत ख्वाजे । हजरत नबी रसूल नेवाजे ॥
दानियाल तइँ परगट कीन्हा । हजरत ख्वाज खिजिर पथ दीन्हा ॥
खड़ग दीन्ह उन्ह जाइ कहँ, देखि डरै इबलीस ।
नावँ सुनत सो भागै, धुनै ओट होइ सीस ॥
देखि समुँद महँ सीप, बिनु बूड़े पावै नहीं ।
होइ पतंग जलदीप, मुहमद तेहि धँसि लोजिए ॥

[ २८ )

फा-फल मीठ जो गुरु हुँत पावैं । सो बीरौ मन लाइ जमावै ॥
जो पखारि तन आपन राखै । निसि दिन जागै सो फल चाखै ॥
चित भूलै जस भूलै ऊखा । तजि के दोउ नींद औ भूखा ॥
चिंता रहै ऊख पहँ सारू । भूमि कुल्हाड़ी करै प्रहारू ॥
तन कोल्हू मन कातर फेरै । पाँचौ भूत आतमहि पेरै ॥
जैसे भाठी तप दिन राती । जग धंधा जारै जस बाती ॥
आपुहि पेरि उड़ावै खोई । तब रस औट पाकि गुड़ होई ॥
अस कै रस औटावहु, जामत गुड़ होइ जाइ ।
गुड़ तें खाँड मीठि भइ सब परकार मिठाइ ॥
धूप रहै जग छाइ, चहूँ खँड संसार महँ ॥
पुनि कहँ जाइ समाइ, मुहमद सो खँड खोजिए ॥ २८॥

[ २६ ]

बा-बिनु जिउ तन अस अँधियारा । जौ नहिं होत नयन उजियारा ॥
मसि क बुंद जो नैनन्ह माहीं । सोई प्रेम अंस परिछाहीं ॥
ओहि जोती सौं परखै हीरा । ओहि सौं निरमल सकल सरीरा ॥
उहै जोति नैनन्ह महँ आवै । चमकि उठै जस बीजु दिखावै ॥
मग ओही सगरे जाहिं बिचारू । साँकर मुँह तेहि बड़ बिस्तारू ॥
जहँवाँ किछु नहिं है सत करा । जहाँ छूँछ तहँ वह रस भरा ॥
निरमल जोति बरनि नहिं जाई । निरखि सुन्न महँ सुन्न समाई ॥

माटी तें जल निरमल, जल तें निरमल बाउ।
बाउहिं तें सुठि निरमल, सुनु यह आकर भाउ॥
ईहै जगत कै पुन्न, यह जप तप सब साधना॥
जानि परै जेहि सुन्न, मुहमद सोई सिद्ध भा॥ २९॥

[ ३० ]

भा-भल सोइ जो सुन्नहि जानै। सुन्नहि तें सब जग पहिचानै॥
सुन्नहिं तें है सुन्न उपाती। सुन्नहि तें उपजै बहु भाँती॥
सुन्नहिं माँझ इन्द्र बरम्हंडा। सुन्नहि तें टीकै नवखंडा॥
सुन्नहिं ते उपजे सब कोई। पुनि बिलाइ सब सुन्नहि होई॥
सुन्नहिं सात सरग उपराहीं। सुन्नहि सातौ धरति तराहीं॥
सुन्नहिं ठाट लाग सब एका। जीवहि लाग पिंड सगरे का॥
सुन्नम सुन्नम सब उतिराई। सुन्नहि महँ सब रहै समाई॥
सुन्नहि महँ मन रूख, जस काया महँ जीउ।
काठी माँझ आगि जस, दूध माहँ जस घीउ॥
जावँन एकहि बूँद, जामै देखहु छीर सब।
मुहमद मोति समुँद, काढ़हु मथन अरंभ कै॥

[ ३१ ]

मा-मन मथन करै तन खीरू। दुहै सोइ जो आपु अहीरू।
पाँचौ भूत आतमहि मारै। दरब गरब करसी कै जारै।
मन माठा सम अस कै धोवै। तन खैला तेहि माहँ बिलोवै॥
जपहु बुद्धि कै दुइ सन फेरहु। दही चूर अस हिया अभेरहु॥
पछवाँ कढुई कैसन फेरहु। ओहि जोति महँ जोति अभेरहु॥
पछवाँ कढुई कैसन फेरहु। ओहि जोति महँ जोति अभेरहु॥
जस अंतरपट साढ़ी फूटै। निरमल होइ मया सब छूटै॥
माखन मूल उठै लेइ जोती। समुँद माँह जस उलथै मोती॥
जस घिउ होइ जराइ कै, तस जिउ निरमल होइ।
महै महेरा दूर करि, भोग करै सुख सोइ॥

हिया कँवल जस फूल, जिउ तेहि महँ जस बासना।
तन तजि मन महँ भूल, मुहमद तब पहिचानिए ॥३१॥

[ ३२ ]

जा-जानहु जिउ बसै सो तहँवाँ। रहै कँवल हिय संपुट जहँवाँ ॥
दीपक जैसे बरत हिय आरे। सब घर उजियर तेहि उजियारे ॥
तेहि कहँ अंस समानेउ आई। सुन्न सहज मिलि आवै जाई ॥
जहाँ उठै धुनि आउंकारा। अनहद सबद होइ झनकारा ॥
तेहि महँ जोति अनूपम भाँती। दीपक एक बरै दुइ बाती ॥
एक जो परगट होइ उजियारा। दूसर गुपुत सो दसवँ दुवारा ॥
मन जस टेम प्रेम जस दीया। आसु तेल दम बाती किया ॥

तहँवा जिउ जस भँवरा, फिरा करै चहुँ पास।
मींचु पवन जब पहुँचै, लेइ फिरै सो बास ॥
सुनहु बचन यह मोर, दीपक जस आरे बरै।
सब घर होइ अँजोर, मुहमद तस जिउ हीय महँ ॥ ३२ ॥

[ ३३ ]

रा-रातहु अब तेहि के रँगा। बेगि लागु प्रीतम के संगा ॥
अरध उरध अस है दुइ हीया। परगट गुपुत बरै जस दीया ॥
परगट मया मोह जस लावै। गुपुत सुदरसन आप लखावै ॥
अस दरगाह जाइ नहिं पैठा। नारद पँवरि कटक लेइ बैठा ॥
ताकहँ मंत्र एक है साँचा। जो वह पढ़ै जाइ सो बाँचा ॥
पंडित पढ़ै सो लेइ लेइ नाऊँ। नारद छाँडि देइ सो ठाऊँ ॥
जेकरे हाथ होइ वह कूँजी। खोलि केवार लेइ सो पूँजी ॥

उघरै नैन हिया कर, आछे दरसन रात।
देखै भुवन सो चौदहौ, औ जानै सब बात ॥
कंत पियारे भेंट, देखै तूलम तूल होइ।
भए बयस दुइ हेंठ, मुहमद निति सरबर करै ॥ ३३ ॥

[ ३४ ]

ला-लखई सोई लखि आवा। जो एहि मारग आपु गँवावा॥
पीउ सुनत धुनि आपु बिसारै। चित्त लखै तन खोइ अडारै॥
हौं हौं करत अडारहु खोई। परगट गुपुत रहा भरि सोई॥
बाहर भीतर सोइ समाना। कौतुक सपना सो निजु जाना॥
सोइ देखै औ सोई गुनई। सोई सब मधुरी धुनि सुनई॥
सोई करै कीन्ह जो चहई। सोइ जानि बूझि चुप रहई॥
सोई घट घट होइ रस लेई। सोई पूँछै सोइ ऊतर देई॥
सोई साजै अंतर पट, खेलै आपु अकेल।
वह भूला जग सेंती, जग भूला ओहि खेल॥
जौ लगि सुनै न मीचु, तौ लगि मारै जियत जिउ।
कोई हुतेउ न बीचु, मुहमद एकै होइ रहै॥ ३४॥

[ ३५ ]

वा-वह रूप न जाइ बखानी। अगम अगोचर अकथ कहानी॥
छंदहि छंद भएउ सो बंदा। छन एक माहँ हँसी रोवंदा॥
बारे खेल तरुन वह सोवा। लउटी बूढ़ लेइ पुनि रोवा॥
सो सब रंग गोसाईं केरा। भा निरमल कैलास बसेरा॥
सो परगट महँ आइ भुलावै। गुपुत में आपन दरस देखावै॥
तुम अनु गुपुत मते तस सेऊ। ऐसन सेउ न जानै केऊ॥
आप मरे बिनु सरग न छुवा। आँधर कहहिं चाँद कह उवा॥
पानी महँ जस बुल्ला, तस यह जग उतिराइ।
एकहि आवत देखिए, एक है जात बिलाइ॥
दीन्ह रतन बिधि चारि, नैन बैन सरवन्न मुख।
पुनि जब मेटहि मारि, मुहमद तब पछिताब मैं॥ ३५॥

[ ३६ ]

सा-साँसा जौ लहि दिन चारी। ठाकुर से करि लेहु चिन्हारी॥
अंध न रहहु होहु डिठियारा। चीन्हि लेहु जो तोहि सँवारा॥

पहिले सो जो ठाकुर कीजिय। ऐसे जियन मरन नरिं छीजिय॥
छाँड़हु घिउ औ मछरी माँसू। सूखे भोजन करहु गरासू॥
दूध माँसु घिउ करु न अहारू। रोटी सानि करहु फरहाऊ॥
एहि बिधि काम घटावहु काया। काम क्रोध तिस्ना मद माया॥
तब बैठहु बज्रासन मारी। गहि सुखमना पिंगला नारी॥

प्रेत तंतु तस लाग रहु, करहु ध्यान चित बाँधि।
पारधि जैस अहेर कहँ, लाग रहै सर साँधि॥
अपने कौतुक लागि, उपजाएन्हि बहु भाँति कै।
चीन्हि लेहु सो जागि, मुहमद सोइ न खोइए॥ ३६॥

[ ३७ ]

खा-खेलहु खेलहु ओहि भेंटा। पुनि का खेलहु खेल समेटा॥
कठिन खेल औ मारग सँकरा। बहुतन्ह खाइ फिरे सिर टकरा॥
मरन खेल देखा सो हँसा। होइ पतंग दीपक महँ धँसा॥
तन पतंग कै भिरिंग कै नाईं। सिद्ध होइ सो जुग जुग ताईं॥
बिनु जिउ दिए न पावै कोई। जो मरजिया अमर भा सोई॥
नीम जो जामै चंदन पासा। चंदन बेधि होइ तेहि बासा॥
पावँन्ह जाइ बली सन टेका। जौ लहि जिउ तन तौ लहि भेका॥

अस जानै है सब महँ, औ सब भावहि सोइ।
हौं कोहाँर कर माटी, जो चाहै सो होइ॥
सिद्ध पदारथ तीनि, बुद्धि पाँव औ सिर कया।
पुनि लेइहि सब छीनि, मुहमद तब पछिताब मैं॥ ३७॥

[ ३८ ]

सा-साहस जाकर जग पूरी। सो पावा वह अमृत मूरी॥
कहौ मंत्र जो आपनि पूँजी। खोलु केवारा ताला कूँजी॥
साठि बरिस जो लपई झपई। छन एक गुपुत जाप जो जपई॥
जानहु दुवौ बराबर सेवा। ऐसन चलै मुहमदी खेवा॥
करनी करै जो पूजै आसा। सँवरै नावँ जो लेइ लेइ साँसा॥

काठी घँसत उठै जस आगी । दरसन देखि उठै तस जागी ॥
जस सरवर महँ पंकज देखा । हिय कै आँखि दरस सब लेखा ॥

जासु कया दरपन कै, देखु आप मुँह आप ।
आपुइ आपु जाइ मिलु, जहँ नहिं पुन्नि न पाप ॥
मनुवाँ चंचल ढाँप, बरजे अहथिर ना रहै ।
पाल पेटारे साँप, मुहमद तेहि बिधि राखिए ॥ ३८ ॥

[ ३९ ]

हा-हिय ऐसन बरजे रहई । बूड़ि न जाइ बूड़ अनि अहई ॥
सोइ हिरदय कै सीढ़ी चढ़ई । जिमि लोहार घन दरपन गढ़ई ॥
चिनगि जोति करसी तें भागे । परम तंतु परचावै लागे ॥
पाँच भूत लोहा गति तावै । दुहूँ साँस भाठी सुलगावै ॥
कया ताइ केकरि दर (?) करई । प्रेम के संड़सी पोढ़ कै धरई ॥
हनि हथेव हिय दरपन साजै । छोलनी जाप लिहे तन माँजै ॥
तिल तिल दिस्टि जोति सहुँ ठानै । साँस चढ़ाइ कै ऊपर आनै ॥

तौ निरमल मुख देखै, जोग होइ तेहि रूप ।
होइ डिठियार सो देखै, अंधन के अंधकूप ॥
जेकर पास अनफाँस, कहु हिय फिकिर सँभारि कै ।
कहत रहै हर साँस, मुहमद निरमल होइ तब ॥३९॥

खा-खेलन औ खेल पसारा । कठिन खेल औ खेलन हारा ॥
आपुहि आपुहि चाह देखावा । आदम रूप भेस धरि आवा ॥
अलिफ एक अल्ला बड़ सोई । दाल दीन दुनिया सब कोई ॥
मीम मुहम्मद प्रीति पियारा । तिनि आखर यह अरथ बिचारा ॥
मुख बिधि अपने हाथ उरेहा । दुइ जग साजि सँवारा देहा ॥
कै दरपन अस रचा बिसेखा । आपन दरस आप महँ देखा ॥
जो यह खोज आप महँ कीन्हा । तेइ आपुहि खोजा सब चीन्हा ॥

भागि किया दुइ मारग, पाप पुन्नि दुइ ठाँव ।
दहिने सो सुठि दाहिने, बायें सो सुठि बाँव ॥

भा अपूर सब ठाँव, गुड़िला मोम सँवारि कै।
राखा आदम नाँव, मुहमद सब आदम कहै ॥ ४० ॥

[ ४१ ]

औ उन्ह नावँ सीखि जौ पावा। अलख नावँ लेइ सिद्ध कहावा ॥
अनहद ते भा आदम दूजा। आप नगर करवावै पूजा ॥
घट घट महँ होइ निति सब ठाऊँ। लाग पुकारै आपन नाऊँ ॥
अनहद सुन्न रहै सँग लागे। कबहुं न बिसरे, सोए जागे ॥
लिखि पुरान महँ कहा बिसेखी। मोहिं नहिं देखहु, मैं तुम्ह देखी ॥
तू तस साइँ न मोहिं बिसारसि। तू सेवा जीतै नहिं हारसि ॥
अस निरमल जस दरपन आगे। निसि दिन तोरि दिस्टि मोहि लागे ॥

पुहुप बास जस हिरदय, रहा नैन भरिपूरि।
नियरे से सुठि नीयरे, ओहट से सुठि दूरि।
दुवौ दिस्टि टक लाइ, दरपन जौ देखा चहै।
दरपन जाइ देखाइ, मुहमद तौ मुख देखियं ॥४१॥

[ ४२ ]

छा-छाँड़हु कलंक जेहि नाहीं। केहुन बराबरि तेहि परछाहीं ॥
सूरुज तपै परै अति घामू। लागे गहन गसत होइ सामू ॥
ससि कलंक का पटतर दीन्हा। घटै बढ़ै औ गहनै लीन्हा ॥
आगि बुझाइ जौ पानी परई। पानि सूख माटी सब सरई ॥
सब जाइहि जो जग महँ होई। सदा सरबदा अहथिर सोई ॥
निहकलंक निरमल सब अंगा। अस नाहीं केहु रूप न रंगा ॥
जो जानै सो भेद न कहई। मन महँ जानि बूझि चुप रहई ॥

मति ठाकुर कै सुनि कै, कहै जो हिय मझियार।
बहुरि न मत तासौं करै, ठाकुर दूजी बार।
गगरी सहस पचास, जौ कोउ पानी भरि धरै।
सुरुज दिपै अकास, मुहमद सब महँ देखिए ॥४२॥

[ ४३ ]

ना-नारद तब रोइ पुकारा । एक जोलाहैं सौं मैं हारा ॥
प्रेम तंतु नित ताना तनई । जप तप साधि सैकरा भरई ॥
दरब गरब सब देइ बिथारी । गनि साथी सब लेहि सँभारी ॥
पाँच भूत माँड़ी गनि मलई । ओहि सौं मोर न एकौ चलई ॥
बिधि कहँ सँवरि साज सो साजै । लेइ लेइ नावँ कूँच सौं माँजै ॥
मन मुरी देइ सब अंग मारै । तन सों बिनै दोउ कर जारै ॥
सूत सूत सो कया मँजाई । सीझा काम बिनत सिधि पाई ॥

राउर आगे का कहै, जो सँवरै मन लाइ ।
तेहि राजा निति सँवरै, पूछै धरम बोलाइ ॥
तेहि मुख लावा लूक, समुझाए समुझै नहीं ।
परै खरी तेहि चूक, मुहमद जेइ जाना नहीं ॥४३॥

[ ४४ ]

मन सौं देइ कढ़नी दुइ गाढ़ी । गाढ़े छीर रहै होइ साढ़ी ॥
ना ओहि लेखे राति न दिना । करगह बैठि साट सो बिना ॥
खरिका लाइ करै तन घीसू । नियर न होइ डर इबलीसू ॥
भरै साँस जब नावै नरी । निसरै छूँछी पैठै भरी ॥
लाइ लाइ कै नरी चढ़ाई । इलालिलाह कै ढारि चलाई ॥
चित डोलै नहिं खूटी टरई । पल पल पेखि आग अनुसरई ॥
सीधे मारग पहुँचै जाई । जा एहि भाँति कर सिधि पाई ॥

चलै साँस तेहि मारग, जेहि सें तारन होइ ।
धरै पाँव तेहि सीढ़ी, तुरतै पहुँचै सोइ ॥
दरपन बालक हाथ, मुख देखै दूसर गए ।
तस भा दुइ एक साथ, मुहमद एकै जानिए ॥४४॥

[ ४५ ]

कहा मुहम्मद प्रेम कहानी । सुनि सो ग्यानी भए धियानी ॥
चेलै समुझि गुरू सौं पूछा । देखहु निरखि भरा औ छूँछा ॥
दुहूँ रूप है एक अकेला । औ अनवन परकार सौं खेला ॥

औ भा चहै दुवौ मिलि एका। को सिख देइ काहि को टेका॥
कैसे आपु बीच सो मेटै। कैसे आप हेराइ सो भेंटै॥
जो लहि आपु न जीयत मरई। हँसै दूरि सौं बात न करई॥
तेहि कर रूप बदन सब देखै। उहै घरी महँ भाँति बिसेखै॥
सौ तौ आपु हेरान, है तन मन जीवन खोइ।
चेला पूछै गुरू कहँ, तेहि कस अगरे होइ॥
मन अहथिर कै टेकु, दूसर कहना छाँड़ि दे।
आदि अंत जो एक, मुहमद कहु दूसर कहाँ॥४५॥

[ ४६ ]

सुनु चेला उत्तर गुरु कहई। एक होइ सो लाखन लहई॥
अहथिर कै जो पिंडा छाँड़ै। औ लेइ कै धरती महँ गाड़ै॥
काह कहौं जस तू परिछाहीं। जौ पै किछु आपन बस नाहीं॥
जो बाहर सो अंत समाना। सो जानै जो ओहि पहिचाना॥
तू हेरै भीतर सौं मिंता। सोइ करै जेहि लहै न चिंता॥
अस मन बूझि छाँड़ को तोरा। होहु समान करहु मति मोरा॥
दुइ हुंत चलै न राज न रैयत। तब वेइ सीख जो होइ मग औयत॥
अस मन बूझहु अब तुम, करता है सो एक।
सोइ सूरत सोइ मूरत, सुनै गुरू सौं टेक॥
नवरस गुरु पहँ भीज, गुरु परसाद सो पिउ मिलै।
जामि उठै सो बीज, मुदमद सोई सहस बुँद॥ ४६॥

[ ४७ ]

माया जरि अस आपुहि खोई। रहै न पाप मैलि गइ धोई॥
गौ दूसर भा सुन्नहि सुन्नू। कहँ कर पाप कहाँ कर पुन्नू॥
आपुहि गुरू आपु भा चेला। आपुहि सब औ आपु अकेला॥
अहै सो जोगी अहै सो भोगी। अहै सो निरमल अहै सो रोगी॥
अहै सो कडुआ अहै सो मीठा। अहै सो आमिल अहै सो सीठा॥
वै आपुहि कहँ सब महँ मेला। रहै सो सब महँ खेलै खेला॥
उहै दोउ मिलि एकै भएऊ। बात करत दूसर होइ गएऊ॥

जो किछु है सो है सब, ओहि बिनु नाहिंन कोइ।
जो मन चाहा सो किया, जो चाहै सो होइ॥
एक से दूसर नाहिं, बाहर भीतर बूझि ले।
खाँड़ा दुइ न समाहिं, मुहमद एक मियान महँ॥ ४७॥

[ ४८ ]

पूछौं गुरू बात एक तोहीं। हिया सोच एक उपना मोहीं॥
तोहि अस कतहुँ न मोहिं अस कोई। जो किछु है सो ठहरा सोई॥
तस देखा मैं यह संसारा। जस सब भाँड़ा गढ़ै कोहारा॥
काहू माँझ खाँड़ भरि धरई। काहू माँझ जो गोबर भरई॥
वह सब किछु कैसे कै कहई। आपु बिचारि बूझि चुप रहई॥
मानुस तौ नीके सँग लागौं। देखि घिनाइ न उठि कै भागौं॥
सीझ चाम सब काहू भावा। देखि मरा सो नियर न आवा॥
पुनि साईं सब जग रमै, औ निरमल सब चाहि।
जेहि न मैलि किछु लागै, लावा जाइ न ताहि॥
जोगि उदासी दास, तिन्हहिं न दुख औ सुख हिया।
घर ही माहँ उदास, मुहमद सोइ सराहिए॥ ४८॥

[ ४९ ]

सुनु चेला जस सब संसारू। ओही भाँति तुम किया बिचारू॥
जौ जिउ कया तौ दुख सौं भीजा। पाप के ओट पुन्नि सब छीजा॥
जस सुरुज उअ देख अकासू। सब जग पुन्नि उहै परगासू॥
भल औ मंद जहाँ लगि होई। सब पर धूप रहै पुनि सोई॥
मंद पर वह दिस्टि जो परई। ताकर मैलि नैन सौं टरई॥
अस वह निरमल धरति अकासा। जैसे मिली फूल महँ बासा॥
सबै ठाँव औ सब परकारा। ना वह मिला न रहै निनारा॥
ओहि जोति परछाहीं, नवौ खंड उजियार।
सुरुज चाँद कै जोती, उदित अहै संसार॥
जेहि कै जोति सरूप, चाँद सुरुज तारा भए।
तेहि कर रूप अनूप, मुहमद बरनि न जाइ किछु॥ ४९॥

[ ५० ]

चेलैं समुझि गुरु सौं पूछा। धरती सरग बीच सब छूँछा॥
कीन्ह न थूनी भीति न पाखा। केहि बिधि टेकि गगन यह राखा॥
कहाँ से आइ मेघ बरिसावै। सेत साम सब होइ कै धावै॥
पानी भरै समुंद्रहि जाई। जहाँ से उतरै बरसि बिलाई॥
पानी माँझ उठै बजरागी। कहाँ से लौकि बीजु भुइँ लागी॥
कहवाँ सूर चंद औ तारा। लागि अकास करहिं उजियारा॥
सूरुज उवै बिहानहि आई। पुनि सो अथै कहाँ कहँ जाई॥

काहे चंद घटत, है काहे सूरुज पूर।
काहे होइ अमावस, काहे लागै मूर॥
जस किछु माया मोह, तैसे मेघा, पवन, जल।
बिजुरी जैसे कोह, मुहमद तहाँ समाइ यह॥ ५०॥

[ ५१ ]

सुनु चेला! एहि जग कर अवना। सब बादर भीतर है पवना॥
सुन्न सहित बिधि पवनहि भरा। तहाँ आप होइ निरमल करा॥
पवनहि महँ जो आप समाना। सब भा बरन ज्यों आप समाना॥
जैस डोलाए बेना डोलै। पवन सबद होइ किछुहु न बोलै॥
पवनहि मिला मेघ जल भरई। पवनहि मिला बुंद भुइँ परई॥
पवनहि माहँ जो बुल्ला होई। पवनहि फुटै, जाइ मिलि सोई॥
पवनहि पवन अंत होइ जाई। पवनहि तन कहँ छार मिलाइ॥

जिया जंतु जत सिरजा, सब महँ पवन सो पूरि।
पवनहि पवन जाइ मिलि, आगि, बाउ, जल धूरि॥
निति सो आयसु होइ, साईं जो आज्ञा करै।
पवन-परेवा सोइ, मुहमद बिधि राखे रहै॥ ५१॥

[ ५२ ]

बड़ करतार जिवन कर राजा। पवन बिना किछु करत न छाजा॥
तेहि पवन सौं बिजुरी साजा। ओहि मेघ परबत उपराजा॥
उहै मेघ सौं निकरि देखावै। उहै माँझ पुनि जाइ छपावै॥

उहै चलावै चहुँ दिसि सोई। जस जस पावै धरै जो कोई॥
जहाँ चलावै तहवाँ चलई। जस जस नावै तस तस नवई॥
बहुरि न आवै छिटकत थाँपै। तेहि सेंग सेंग खन खन काँपै॥
जस पिउ सेवा चूके रूठै। परै गाज पुहुमी तपि फूटै॥

आगिनि, पानि औ माटी, पवन फूल कर मूल।
उहइ सिरजन कीन्हा, मारि कीन्ह अस्थूल॥
देखु गुरू, मन चीन्ह, कहाँ जाइ सो मन रहै।
जानि परै परवीन, मुहमद तेहि सुधि पाइए॥ ५२॥

[ ५३ ]

चेला चरचत गुरु-गुन गावा। खोजत पूछि परम गति पावा॥
गुरु बिचारि चेला जेहि चीन्हा। उत्तर कहत भरम लइ लीन्हा॥
जगमग देख उहै उजियारा। तीनि लोक लहि किरिन पसारा॥
ओहि ना बरन, न जाति अजाती। चंद न सुरुज, दिवस ना राती॥
कथा न अहै, अकथ भा रहई। बिना बिचार समुझि का परई?॥
सोऽहं सोऽहं बसि जो करई। जो बूझै सो धीरज धरई॥
कहै प्रेम कै बरनि कहानी। जो बूझै सो सिद्ध गियानी॥

माटी कर तन भाँडा, माटी महँ नव खंड।
जे केहु खेलै माटि कहँ, माटी प्रेम प्रचंड॥
गलि सोइ माटी होइ, लिखनेहारा बापुरा।
जौ न मिटावै कोइ, लिखा रहै बहुतै दिना॥ ५३॥

---

# आखिरी कलाम

उहै चलावै चहुँ दिसि सोई । जस जस पानी भरै सो कोई ॥
जहाँ चलावै तहवाँ चलई । जस जस नावै तस तस नवई ॥
बहुरि न आवै छिटकन भाँवै । नाहिं सेव सेवा खन खन कावै ॥
जस पिउ सेवा चूकै रूठै । परै गाज पुहुमी तपि कूटै ॥

आगिनि, पानि औ माटी, पवन फूल कर मूल ।
उहइ सिरजन कीन्हा, मारि कीन्ह अस्थूल ॥
देखु गुरू, मन चीन्ह, कहाँ जाइ सोवत रहै ।
जानि परै परबीन, मुहमद तेहि सुधि पाइए ॥ ५२ ॥

[ ५३ ]

चेला चरचत गुरु-गुन गावा । खोजत पूछि परम गति पावा ॥
गुरु बिचारि चेला जेहि चीन्हा । उत्तर कहत भरम लइ लीन्हा ॥
जगमग देख उहै उजियारा । तीनि लोक लहि किरिन पसारा ॥
ओहि ना बरन, न जाति अजाती । चंद न सुरुज, दिवस ना राती ॥
कथा न अहै, अकथ भा रहई । बिना बिचार समुझि का परई ? ॥
सोऽहं सोऽहं बसि जो करई । जो बूझै सो धीरज धरई ॥
कहै प्रेम कै बरनि कहानी । जो बूझै सो सिद्ध गियानी ॥

माटी कर तन भाँडा, माटी महँ नव खंड ।
जे केहु खेलै माटि कहँ, माटी प्रेम प्रचंड ॥
गलि सोइ माटी होइ, लिखनेहारा बापुरा ।
जौ न मिटावै कोइ, लिखा रहै बहुतै दिना ॥ ५३ ॥

---

# आखिरी कलाम

# आखिरी कलाम

[ १ ]

पहिले नावँ दैउ कर लीन्हा । जेइ जिउ दीन्ह, बोल मुख कीन्हा ।।
दीन्हेसि सिरा सँवारे पागा । दीन्हेसि कया जो पहिरै बागा ।।
दीन्हेसि नयन जोति उजियारा । दीन्हेसि देखै का संसारा ।।
दीन्हेसि स्रवन बात जेहि सुनै । दीन्हेसि बुधि गियान बहु गुनै ।।
दीन्हेसि नासिक लीजै बासा । दीन्हेसि सुमन सुगंध बिरासा ।।
दीन्हेसि जीभ बैन रस भाखै । दीन्हेसि भुगुति साध तेहि राखै ।।
दीन्हेसि दसन सुरंग कपोला । दीन्हेसि अधर जो रचैं तँबोला ।।
दीन्हेसि बदन सुरूप रँग, दीन्हेसि माथे भाग ।
देखि दयाल मुहम्मद, सीस नाइ पथ लाग ।। १ ।।

[ २ ]

दीन्हेसि कंठ बोल जेहि माहाँ । दीन्हेसि भुजाडंड बल बाहाँ ।।
दीन्हेसि हिया भोग जेहि जामा । दीन्हेसि पाँच भूत आतमा ।।
दीन्हेसि बदन हीत (सीत?) औ घामू । दीन्हेसि सुक्ख नींद बिसरामू ।।
दीन्हेसि हाथ चाह अस कीजै । दीन्हेसि कर परलौ(पल्लव?) गहि लीजै ।।
दीन्हेसि रहस कोड़ बहुतेरा । दीन्हेसि हरख हिया औ थारा ।।
दीन्हेसि बैठक आसन मारै । दीन्हेसि बूत जो उठै सँभारै ।।
दीन्हेसि सबै सँपूरन काया । दीन्हेसि दोइ चलने का पाया ।।
दीन्हेसि नौ नौ नाटका (फाटका?), दीन्हेसि दसवँ दुवार ।
सो अस दानि मुहम्मद, तिनकै हौं बलिहार ।। २ ।।

[ ३ ]

मरम नैन कर आँधरै बूझा । तेहि बिय(बिन?)रे संसार न सूझा ।।
मरम स्रवन कर बहिरै जाना । जो न सुनै किछु दीजै साना ।।
मरम जीभ कै गूँगै पावा । साधहि मरै पै निकर [न] नावाँ ।।
मरम बाँह कर लूलै चान्हा । जेहि बिधि हाथन्ह पाँगुर कीन्हा ।।

मरम कया कै कुन्दी भेदा । जिन निरखुद सो कहै अपेदा ॥
मरम बैठ उठ तेहि पै गुना । जो रे सिखिया कलमी पढ़ा ॥
मरम पाँव कै तेहि पै दीठा । जो अस्थर भइ नावें बईठा ॥

अति सुख दीन्ह बिधाते, औ सब सेवक ताहि ।
आपन मरम मुहम्मद, अबहूँ समुझ कि नाहि ॥ ३ ॥

[ ४ ]

मा औतार मोर नौ सदी । तीस बरिख ऊपर कवि बदी ॥
आवत उधतचार बड़ ठाना । भा भूकंप जगत अकुलाना ॥
धरती दीन्ह चक्र बिधि भाई । फिरै अकास रहट कै नाई ॥
गिरि पहार मेदिनि तस हाला । जस चाला चलनी भल चाला ॥
मिरित लोक ओहि रचा हिंडोला । सरग पताल पवन घट (खट?) डोला ।
गिरि पहार परबत ढहि गए । सात समुंद्र कहच (कीच?) मिलि भए ॥
धरती छात फाटि भहरानी । पुनि भइ मया जो सिस्टि ठानी (निठानी?) ॥

जो अस खंभहि पाई कै, सहस जीव (नाम?) गहिराई ।
सो अस कीन्ह मुहम्मद, तो अस बपुरे काई ॥ ४ ॥

[ ५ ]

सूरुज सेवक वाके अहै । आठों पहर फिरत जो रहै ॥
आयसु लिहे राति दिन धावै । सरग पताल दुवौ फिरि आवै ॥
दगधि आग महँ होइ अँगारा । तेहि कै आँच धिकै संसारा ॥
सो अस बपुरै गहनै लीन्हा । औ धरि बाँधि चँडालै दीन्हा ॥
गा अलोप होइ भा अँधियारा । दीखै दिनहि सरग मा तारा ॥
उवतै झाँपि लीन्ह धुप चापै । लाग सरप (सरब?) जिउ थर थर काँपै ॥
जिउ का परै कया (ग्याँन?) सब छूटै । तब भा मोख गहन सो छूटै ॥

ताकों आता तरासै, जो सेवक अस मिल ।
अबहुँ न डरसि मुहम्मद, काह रहसि निहचिंत ॥ ५ ॥

[ ६ ]

ताकरि अस्तुति कीन्हि न जाई । कौनी जीभि मैं करौं बड़ाई ॥
जग पताल जो सेतै कोई । लेखनी परखि समुंद्र मसि होई ॥

लागै लिखै सिस्टि मिलि जाई। समुद घटै पै लिखि न सिराई ॥
साँचा सोइ और सब झूठे। ठाँव न कतहूँ ओन के रूठे ॥
आयसु हूँ इबलीस जौ टारै। नारद होइ नरक महँ पारै ॥
सो दुइ कटक कइउ लख घोरा। फरऊँ रौंदि नील महँ बोरा ॥
जो सदाद बकुंठ सँवारा। पैठत पौरि बीच गहि मारा ॥
जो ठाकुर अस दारुन, सेवक तहँ निरदोख।
माया करै मुहम्मद, तौ पै होइहि मोख ॥ ६ ॥

[ ७ ]

रतन एक बिधनै अवतारा। नावँ मुहम्मद जग उजियारा ॥
चारि मीत चहुँ दिसि गजमोती। माँझ दिपै मनि मानिक मोती ॥
जेहि हित सिरिजा सात समुंदा। सातहु दीप भरे एक बुंदा ॥
ता पर चौदह भुवन दसारे (?)। बिच बिच खंड बिखंड सँवारे ॥
धरती औ गिरि मेरु पहारा। सरग चाँद सूरुज औ तारा ॥
सहस अठारह दुनिया सेरी (?)। आवत जात जातरा फेरी ॥
जेइ नहिं लीन्ह जनम माँ नाऊँ। तेहि कहँ कीन्ह नरक माँ ठाऊँ ॥
सो अस दैव न राखा, जेहि कारन सब कीन्ह।
दहुँ तुम काह मुहम्मद, एहि प्रिथिमी चित दीन्ह ॥ ७ ॥

[ ८ ]

बाबर साह छत्रपति राजा। राज पाट उनका बिधि साजा ॥
मुलुक सुलेमाँ का अस दीन्हा। अदल दून (दुनी?) उम्भर जस कीन्हा ॥
अली केर जस कीन्हेसि खाँडा। लीन्हेसि जगत समुंद भा डाँडा ॥
बल हमजा कर जैस सँभारा। जो बरियार उठा तेहि मारा ॥
पहलवान नाए सब आदी। रहा न कतहुँ बादि का बादी ॥
बड़ परताप आप तप साधे। धरम के पंथ दई चित बाँधे ॥
दरब जोरि सब काहूँ दिए। आपुन बिरह(?) आपु जस लिए ॥
राजा होइ करै तब (तप), छाँड़ि जगत माँ राज।
सब अस कहै मुहम्मद, वैं कीन्हा किछु काज ॥ ८ ॥

[ ९ ]

मानिक एक पाएउँ उजियारा । सैयद असरफ पीर पियारा ॥
जहाँगीर चिस्ती निरमारा । कुल जग माँ दीपक बिधि सारा ॥
औ निहंग दरिया जल माहाँ । बूड़त कहँ धरि काढ़त बाहाँ ॥
समुँद माँझ जो बोहित फिरई । लेतैं नावँ महँ होइ तरई ॥
तिन्ह घर हौं मुरीद सो पीरू । सँवरत बिन गुन लावै तीरू ॥
कर गहि धरम पंथ देखराएउ । गा भुलाइ तेहि मारग लाएउ ॥
जो अस पुरुषैं मन चित लाए । इच्छा पूजै आस तुलाए ॥
जौं चालिस दिन सेवै, बार बुहारै कोइ ॥
दरसन होइ मुहम्मद, पाप जाइ सब धोइ ॥ ९ ॥

[ १० ]

जायस नगर मोर अस्थानू । नगर के नावँ आदि उदयानू ॥
तहाँ देवस दस पहुने आएउँ । भा बैराग, बहुत सुख पाएउँ ॥
सुख भा सोच एक दुख मानौं । ओहि बिनु जिवन मरन कै जानौं ॥
नैन रूप सो गएउ समाई । रहा पूरि भरि हिरदै छाई ॥
जहँवै देखौं तहँवै सोई । और न आवै दिस्टि नर कोई ॥
आपुन देखि देखि मन राखौं । दूसर नाहि सो कासौं भाखौं ॥
सबै जगत दरपन कर लेखा । आपुन दरसन आपुहि देखा ॥
अपने कौतुक कारन, मीर पसारिन हाट ।
मलिक मुहम्मद भिनहीं, होइ निकसिन तेहि बाट ॥ १० ॥

[ ११ ]

धूत एक मारत घन गुना । कपट रूप नारद कर जना ॥
नावँ असाधु साधु कहवावै । तहाँ लगि चलै जौ गारी पावै ॥
भाव गाँठि अस मुख कर भाँजा । कारिख तेल घालि मुख माँजा ॥
परत [हि] दीठि छरत मोहि लेखै । दिनहि माँझ अँधियार मुख देखै ॥
लीन्हें चंग राति दिन रहई । परपँच कीन्ह लोगन माँ चहई ॥
भाइ बंधु माँ लाई लावै । बाप पूत माँ घटी करावै ॥

मन मैलै कै ठग ठगै, ठगै न पाएउ काहु।
बरजेउ सबहिं मुहम्मद, अस जिनि तुम पतियाहु ॥ ११ ॥

[ १२ ]

अंग छड़ा औ सूरी भारा। जाइ कहौ अति चंग अधारा ॥
जौ काहू सौं आनि न छूटै। सुनहु मोर बिधि कैसे छूटै ॥
उहै नावँ करता करै लेऊ। पढ़े पलीता धूवाँ देऊ ॥
जौ यह धुवाँ नासिक माँ लागै। मिनती करै औ उठि उठि भागै ॥
धरि बाईं लट सीस झकोरै। करिया बरग जो हाथ मरोरै ॥
तबहिं सँकोच अधिक वै होवै। छाँड़ौ छाँड़ौ कहि कै रोवै ॥
धरि बाहीं लै धुवाँ उड़ावै। तासौं डरै जो अैस छुड़ावै ॥
है नरकी औ पापी, टेढ़ बदन औ आँखि।
चीन्हत उहै मुहम्मद, झूठि भरी सब साखि ॥ १२ ॥

[ १३ ]

नौ से बरस छतीस जो भए। तब एहि कविता आखर कहे ॥
देखौ जगत धुंध कलि माहाँ। उवत धूप धरि आवत छाहाँ ॥
यह सँसार सपने कर लेखा। माँगत बदन नैन भरि देखा ॥
लाभ दिए बिनु भोग न पाउब। परें डाँड़ जहाँ [मूर?] गँवाउब ॥
राति कर सपन जागि पछिताना। ना जानौं कब होइ बिहाना ॥
अस मन जानि बेसाहौ सोई। मूर न घटै लाभ जेहि होई ॥
ना जानौ बाढ़त दिन जाई। तिल तिल घटै आइ नियराई ॥
अस जिन जानेहु ओहट है, दिन आवत नियरात।
कहै सो बूझि मुहम्मद, फिर फिर कहौं असि बात ॥ १३ ॥

[१४]

जबहिं अंत कर परलौ आई। धरमी लोग रहै ना पाई ॥
जबही सिद्ध साधु गा तपा। तबहीं चलैं चोर औ जपा ॥
जाई मया मोह सब केरा। मच्छ रूप कै आई बेरा ॥
उठिहैं पंडित बेद पुराना। दत्त सत्त दोउ करिहिं पयाना ॥

धूम बरन सूरज होइ जाई। किसुन बरन सिस्टिहि दिखाई ॥
दो अद (?) पुरुब दिसि उअहै जहाँ। पुनि फिरि आइ अथइहै तहाँ ॥
चढ़ि गदहा निकसै दजालू। हाथ खाँड होइ आगि कालू ॥
जो रे मिलै तेहि मारै, फिरि फिरि आइ अकाज।
सबहीं मारि मुहम्मद, भूँजि अकेला राज ॥ १४ ॥

[ १५ ]

पुनि धरती का आयसु होई। उगिलै दरब लोग सब लेई ॥
सोन सोन कै उठिहैं भारी। आपु आपु मों करिहैं मारी ॥
अस न केउ जानै मन माहाँ। जो यह सबा अहै सो काहाँ ॥
सैंति सैंति लेइ लेइ घर भरहीं। रहस काढ़ अपने जिउ करहीं ॥
खनै उतंग खनै बर साँती। नितहि दुलंब उठै बहु भाँती ॥
पुनि एक अचरज सँचरै आई। नावँ मजारी गँधा बिलाई ॥
ओहि के सूँघे जियै न कोई। जो न मरै तेहि मकरंद सोई ॥
सब सुंसार सिराइ औ, तेहि मं केरी (?) घात ।
उनहूँ कहैं मुहम्मद, बार न लागै जात ॥ १५ ॥

[ १६ ]

पुनि मेकाइल आएसु पाए। अनबन भाँति मेघ बरसाए ॥
पहिले लागै परै अँगारा। धरती सरग होइ उजियारा ॥
लागी सबै पिरिथिमी जरै। पाछे लागे पाथर परै ॥
सौ सौ मन कै एक एक सिला। चलै पिंद (पिंड?) घुंटि आगै मिला ॥
बजर गोट तस छूटै भारी। टूटैं रूख बिरिख सब ,झारी ॥
परत दमाग (धमाक?) धरति सब हालै। आदरन उठै सरग लै सालै ॥
अधाधार बरसै बहु भाँती। लाग रहै चालिस दिन राती ॥
जिया जंतु सब मरि घटे, जित सिरिजा संसार ।
कोउ न रहै मुहम्मद, होइ बीता संघार ॥ १६ ॥

[ १७ ]

जिबरईल पाउब फरमानू। आइ सिस्टि देखब मैदानू ॥
जियत न रहा जगत केउ ठाढ़ा। मारा कोरि कचरा सब गाढ़ा ॥

मरि गंवाइँ सास नहिं आवै। उठै बिगंध सड़ाइँध आवै॥
जाइ दैउ से करहु बिनाती। कहब जाइ जस देखब भाँती॥
देखहु जाइ सिस्टि बेवहारू। जगत उजाड़ सून सुंसारू॥
अस्ट दिसा उजारि सब मारा। कोउ न रहा नावँ लेनिहारा॥
मरि माजारे पिरथिमीं पाटी। परै पिछानि न दीखै माटी॥
सून पिरथिमीं होवै, धरती दहुं सब लीप।
जेतनी सिस्टि मुहम्मद, सबै भाइ जल दीप॥ १७॥

[ १८ ]

मकाईल पुनि कहब बुलाई। बरसौ मेघ पिरथिमीं जाई॥
आनै मेघ भरि उठिहैं पानी। गरजि गरजि बरसैं अति वानी॥
झरी लागि चालिस दिन राती। घरी न निमुसै एकै भाँती॥
छूट पानि परलौ कै नाईं। चढ़ा छापि सगरी दुनियाईं॥
बूड़हिं परवत मेरु पहारा। जलहल उमड़ि चलै असरारा॥
जहँ लगि मरि माजरि जत होई। लेइ बहाइ जाइहि भुइँ धोई॥
पुनि घटि नीर भँडारै आई। जनौं न बरसा तैस सुखाई॥
सून पिरथिमीं होइहि, बूझै हँसै ठठाइ।
एतनि जो सिस्टि मुहम्मद, सो कहँ गएउ हेराइ॥ १८॥

[ १९ ]

पुनि ईसराफील फरमाए। फूँके सब सुंसार उड़ाए॥
दै मुख सूर भरै जो साँसा। डोलै धरती लुपुत अकासा॥
भुवन चौदहो गिरि बन डोला। जानौ घालि झुलाएसि हिंडोला॥
पहिले एक फूँक जो आई। ऊँच नीच एक सम होइ जाई॥
नदी नार सब जैहैं पाटी। अस होइ मिले जो ठारे(?) बाटी॥
दूसर फूँक जो मेरु उड़ैहैं। परबत समुंद एक होइ जैहैं॥
चाँद सुरुज तारा घट टूटै। परतहि खंभ सेसहि घट फूटै॥
तस रे बजर मयाउब, अस भुइँ लेव मयाइ।
पूरुब पछिउँ मुहम्मद, एक रूप होइ जाइ॥ १९॥

धूम बरन सूरज होइ जाई। किस्न बरन सिस्टिहि दिखराई॥
दाँ अद (?) पुरुब दिसि उठिहै जहाँ। पुनि फिरि आइ अथइहै तहाँ॥
चढ़ि गदहा निकसै दुर जालू। हाथ खाँड़ होइ आग कालू॥
जो रे मिलै तेहि मारै, फिरि फिरि आइ अकाज।
सबहिं मारि मुहम्मद, भूँजि अदूनिया राज॥ १४॥

[ १५ ]

पुनि धरती का आयसु होई। उगिलै दरब लोग सब लेई॥
मोर मोर कै उठिहैं भारी। आपु आपु माँ करिहैं मारी॥
अस न कोउ जानै मन माहाँ। जो यह सबा अहै सो काहाँ॥
सैंति सैंति लेइ लेइ घर भरहीं। रहस कोड़ अपने जिउ करहीं॥
खनै उतंग खनै बर साँती। नितहि हुलंब उठै बहु भाँती॥
पुनि एक अचरज सँचरै आई। नावँ भजारी भँवा बिलाई॥
ओहि के सूँघे जियै न कोई। जो न मरै तेहि भकसै सोई॥
सब सुंसार सिराइ औ, तेहि में केरी (?) मान।
उनहूँ कहँ मुहम्मद, बार न लागै भान॥ १५॥

[ १६ ]

पुनि मेकाइल आएसु पाए। अनबन भाँति मेघ बरसाए॥
पहिले लागै परै अँगारा। धरती सरग होइ उजियारा॥
लागी सबै पिरिथिमी जरै। पाछे लागै पाथर परै॥
सौ सौ मन कै एक एक सिला। चलै सिंद (पिंड?) घुटि आवै मिला॥
बजर गोट तस छूटै भारी। टूटै रूख बिरिख सब झारी॥
परत दमाग (धमाक?) धरति सब हालै। आदरन उठै सरग लै सालै॥
अधाधार बरसै बहु भाँती। लाग रहै चालिस दिन राती॥
जिया जंतु सब मरि घटे, जित सिरिजा संसार।
कोउ न रहै मुहम्मद, होइ बीना संघार॥ १६॥

[ १७ ]

जिबरईल पाउब फरमानू। आइ सिस्टि देखब मैदानू॥
जियत न रहा जगत केउ ठाढ़ा। मारा झोरि कचरा सब गाढ़ा॥

मरि गंआइँ सास नहिं आवै। उठै बिगंध सड़ाइँध आवै॥
जाइ दैउ से करहु बिनाती। कहब जाइ जस देखब भाँती॥
देखहु जाइ सिस्टि बेवहारू। जगत उजाड़ सून सुंसारू॥
अस्ट दिसा उजारि सब मारा। कोउ न रहा नावँ लेनिहारा॥
मरि माजारि पिरथिमीं पाटी। परै पिछानि न दीखै माटी॥
सून पिरथिमीं होवै, धरती दहुं सब लीप।
जेतनी सिस्टि मुहम्मद, सबै भाइ जल दीप॥ १७॥

[ १८ ]

मकाईल पुनि कहब बुलाई। बरसौ मेघ पिरथिमीं जाई॥
आनै मेघ भरि उठिहैं पानी। गरजि गरजि बरसैं अति वानी॥
झरी लागि चालिस दिन राती। घरी न निमुसै एकै भाँती॥
छूट पानि परलौ कै नाईं। चढ़ा छापि सगरी दुनियाईं॥
बूड़हिं परवत मेरु पहारा। जलहल उमड़ि चलै असरारा॥
जहँ लगि मरि माजरि जत होई। लेइ बहाइ जाइहि भुइँ धोई॥
पुनि बटि नीर भँडारै आई। जनौं न बरसा तैस सुखाई॥
सून पिरथिमीं होइहि, बूझै हँसै ठठाइ।
एतनि जो सिस्टि मुहम्मद, सो कहँ गएउ हेराइ॥ १८॥

[ १९ ]

पुनि ईसराफील फरमाए। फूँके सब सुंसार उड़ाए॥
दै मुख सूर भरै जो साँसा। डोलै धरती लुपुत अकासा॥
भुवन चौदहो गिरि बन डोला। जानौ घालि झुलाएसि हिंडोला॥
पहिले एक फूँक जो आई। ऊँच नीच एक सम होइ जाई॥
नदी नार सब जैहैं पाटी। अस होइ मिले जो ठारे(?) बाटी॥
दूसर फूँक जो मेरु उड़ैहैं। परबत समुंद एक होइ जैहैं॥
चाँद सुरुज तारा घट टूटै। परतहि खंभ सेसहि घट फूटै॥
तस रे बजर मयाउब, अस भुइँ लेव मयाइ।
पूरुब पछिउँ मुहम्मद, एक रूप होइ जाइ॥ १९॥

धूम बरन सूरुज होइ जाई । किस्न बरन सिस्टिहि दिखाई ॥
दो अद (?) पुरुब दिसि उअहै जहाँ । पुनि फिरि आइ अथइहै तहाँ ॥
चढ़ि गदहा निकसै दर जालू । हाथ संग होइ आग कालू ॥
जो रे मिलै तेहि मारै, फिरि फिरि आइ अकाज ।
सबईं मारि मुहम्मद, भूँजि अदूनिया राज ॥ १४ ॥

[ १५ ]

पुनि धरती का आयसु होई । उगिलै दरब लोग सब लेई ॥
सोर सोर कै उठिहैं भारी । आपु आपु मौं करिहैं मारी ॥
अस न केउ जानै मन माहाँ । जो यह सचा अहै सो काहाँ ॥
सैंति सैंति लेइ लेइ घर भरहीं । रहस कोड़ अपने जिउ करहीं ॥
खनै उतंग खनै बर साँती । नितहि हुलास उठै बहु भाँती ॥
पुनि एक अचरज सँचरै आई । नावँ मजारी भँवा दिखाई ॥
ओहि के सूँघे जियै न कोई । जो न मरै तेहि भरकै सोई ॥
सब सुमार सिराइ औ, तेहि मँ केरी (?) भान ।
उनहूँ कहैं मुहम्मद, बार न लागी जान ॥ १५ ॥

[ १६ ]

पुनि मैकाइल आयसु पाए । अनबन भाँति मेघ बरसाए ॥
पहिले लागै परै अँगारा । धरती सरग होइ उजियारा ॥
लागी सबै पिरिथिमी जरै । पाछे लागै पाथर परै ॥
सौ सौ मन कै एक एक सिला । चलै पिंद (पिंड?) बुन्दि आवै मिला ॥
बजर गोट तस छूटै भारी । टूटे रूख बिरिछ सब झारी ॥
परत दमाग (धमाक?) धरति सब हालै । आदरत उठै सरग लै सालै ॥
अधाधार बरसै बहु भाँती । लाग रहै चालिस दिन राती ॥
जिया जंतु सब मरि घटे, जित सिरिजा संसार ।
कोउ न रहै मुहम्मद, होइ बीता संघार ॥ १६ ॥

[ १७ ]

जिबरईल पाउब फरमानू । आइ सिस्टि देखब मैदानू ॥
जियत न रहा जगत केउ ठाढ़ा । मारा झौंरि कचारी सब गाढ़ा ॥

भरि गंधाइँ सास नहिं आवै। उठै बिगंध सड़ाइँध आवै॥
जाइ दैउ से करहु बिनाती। कहब जाइ जस देखब भाँती॥
देखहु जाइ सिस्टि बेवहारू। जगत उजाड़ सून सुंसारू॥
अस्ट दिसा उजारि सब मारा। कोउ न रहा नावँ लेनिहारा॥
भरि माजारे पिरथिमीं पाटी। परै पिछानि न दीखै माटी॥
सून पिरथिमीं होवै, धरती दहुं सब लीप।
जेतनी सिस्टि मुहम्मद, सबै भाइ जल दीप॥ १७॥

[ १८ ]

मकाईल पुनि कहब बुलाई। बरसौ मेघ पिरथिमीं जाई॥
आनै मेघ भरि उठिहैं पानी। गरजि गरजि बरसैं अति बानी॥
झरी लागि चालिस दिन राती। घरी न निमुसै एकै भाँती॥
छूट पानि परलौ कै नाईं। चढ़ा छापि सगरी दुनियाईं॥
बूड़हिं परबत मेरु पहारा। जलहल उमड़ि चलै असरारा॥
जहँ लगि मरि माजरि जत होई। लेइ बहाइ जाइहि भुइँ धोई॥
पुनि बटि नीर भँडारै आई। जनौं न बरसा तैस सुखाई॥
सून पिरथिमीं होइहि, बूझै हँसै ठठाइ।
एतनि जो सिस्टि मुहम्मद, सो कहँ गएउ हेराइ॥ १८॥

[ १९ ]

पुनि ईसराफील फरमाए। फूँके सब सुंसार उड़ाए॥
दै मुख सूर भरै जो साँसा। डोलै धरती लुपुत अकासा॥
भुवन चौदहौ गिरि बन डोला। जानौ घालि झुलाएसि हिंडोला॥
पहिले एक फूँक जो आई। ऊँच नीच एक सम होइ जाई॥
नदी नार सब जैहैं पाटी। अस होइ मिले जो ठारे(?) बाटी॥
दूसर फूँक जो मेरु उड़ैहैं। परबत समुंद एक होइ जैहैं॥
चाँद सुरुज तारा घट टूटै। परतहि खंभ सेसहि घट फूटै॥
तस रे बजर मयाउब, अस भुइँ लेव मयाइ।
पूरुब पछिउँ मुहम्मद, एक रूप होइ जाइ॥ १९॥

[ ५० ]

अजराइल कहँ बेगि बुलाए। जीउ जहाँ लगि सबै लिवाए॥
पहिले जिउ जिबरैल कै लेई। लौटि जीउ मैकाइल देई॥
पुनि जिउ देइ इसराफील्। तीनिहुन का मारै अजराईल्॥
काल फिरिस्तन केर जो होई। कोउ न जागै निसि होइ सोई॥
पुनि पूँछत जम सब जिउ लीन्हा। एकौ रहा बाज जिउ दीन्हा॥
सुनि अजाराइल आगे होइ आउब। उत्तर देब सीस भुइँ लाउब॥
आयसु होइ करौं अब सोई। की हम की तुम और न कोई॥
जो जम आनि जिउ लेत हैं संकर, तिनहू कर जिउ लेब।
सो अवतरे मुहम्मद, देखु नहूँ जिउ देब॥ ५०॥

[ ५१ ]

पुनि फुरमाए आप गोसाईं। तुमहूँ देउ जिवाइहि नाहीं॥
सुनि आयसु पाछे का धाए। तिसरी पौरि नाँघि नहिं पाए॥
परत कीन्ह जिउ निसरन लागे। होइ कस्ट एकौ एक आगे॥
प्रान देत सँवरै मन माहाँ। उवत भूप धरि आवन छाहाँ॥
जस जिउ देत मोहिं दुख होई। ऐसै दुखिया भा सब कोई॥
जौं जनतेउँ जिउ अस दुख देता। तौ जिउ काहू केर न लेता॥
लौटि काल तिनहूं कर होवै। आइ नींद निभरक होइ सोवै॥
भंजन गढ़न सँवारन, जिन खेला सब खेल।
सब का टारि मुहम्मद, अब हूँ रहा अकेल॥ ५१॥

[ ५२ ]

चालिस बरिख जबहि होइ जैहैं। उठिहि मया पछिलै (सब) अहैं॥
मया मोह कै किरपा आए। आपुहि कहँ आपु फुरमाए॥
मैं सुंसार जो सिरिजा एता। मोर नावँ कोऊ नहिं लेता॥
जेतने परे अब सबहि उठावौं। पुल सिलवात कै पंथ रेंगावौं॥
पाछे जिए पूछौं सब लेखा। नैन माद (माह?) जैसा हौं देखा॥
जस वाकर सरवन बिन सूना। धरम पाप गुन औगुन गूना॥
कै निरमल कौसर अन्हवावौं। पुनि जीवन बैकुंठ पठावौं॥

मरन गँजन धन होइ जस, जस दुख देखत लोग।
तस सुख होइ मुहम्मद, दिन दिन मानैं भोग ॥ २२ ॥

[ २३ ]

पहिले सेवक चारि जियाउब। तिन्ह सब काजै काज पठाउब ॥
जिबरईल औ मैकाईलू। असराफील औ अजराईलू ॥
जिबरईल प्रिथिमीं माँ आए। जाइ मुहम्मद का गोहराए ॥
जिबरईल जग आइ पुकारब। नावँ मुहम्मद लेत हँकारब ॥
होइहैं जहाँ मुहम्मद नाऊँ। कइउ लाख बोलिहैं एक ठाऊँ ॥
ठाढ़ि रहै कतहूँ ना पावै। फिरि कै जाइ मारि गोहरावै ॥
कहै गोसाईं कहाँ वै पावौं। लाखन बोलैं जौ रे बोलावौं ॥
सब धरती फिरि आएऊँ, जहाँ नावँ सो लेउँ।
लाखन उठैं मुहम्मद, केहि कै उत्तर देउँ ॥ २३ ॥

[ २४ ]

जिबराइल पुनि आयसु पाए। सूँघै जगत ठाँव सो पाए ॥
बास सुबास लीन है जाहाँ। नावँ रसूल पुकारसि ताहाँ ॥
जिबरईल फिरि प्रिथिमीं आए। सूँघत जगत ठावँ सो पाए ॥
उठहु मुहम्मद होहु बड़ नेगी। देन जुहार बोलाएँ बेगी ॥
बेगि हँकारे उमत समेता। आवहु तुरँत साथ सब लेता ॥
एतने बचन जबहिं मुख काढ़े। सुनत रसूल भए उठि ठाढ़े ॥
जहँ लगि जीउ मोख सब पाए। अपने अपने पिंजरे आए ॥
कइउ जुगन के सोवत, उठे लोग मत जाग।
अस सब कहैं मुहम्मद, मैन पलक ना लागि ॥ २४ ॥

[ २५ ]

उठत उमत कहँ आलस लागै। नींद भरी सोवत ना जागै ॥
पौढ़त बार न हम का भएऊ। अबहीं अवधि आइ कब गहेऊ ॥
जिबरईल तब कहब पुकारीं। अबहुँ नींद ना गई तुम्हारी ॥
सोवत तुम्हैं कइउ जुग बीते। असे तौ तुम हौं नहिं चोते ॥
कइउ करोरि बरस भुइँ परे। उठहु न बेगि मुहम्मद खरे ॥

सुनि कै जगत उठी सब झारी। जेतना सिरजा पुरुष औ नारी॥
नँगा नाँग उठिहै संसारू। नैना होइहैं सब के तारू॥
कोउ न कतहुँ पुनि बेरै?, दिस्टि सरग सब केरि।
ऐसे जतन मुहम्मद, सिस्टि चली सब घेरि॥ २५॥

[ २६ ]

पुनि रसूल जहइँ होइ आगे। उमत चलै सब पाछे लागे॥
अध गियान होइ सब केरा। ऊँच नीच जहँ होइ अँधेरा॥
सबहीं जियत चहै मुँसारा। नैनन नीर चलै असरारा॥
सो दिन सँवरि उमत सब रोवै। ना जानौं आगे कस होवै॥
जो न रहै तेहि का यह संगा। मुख सूखै तेहि पर यह ढंगा॥
जेहि दिन का नित करत डरावा। सोइ दिवस अब आगे आवा॥
जो पै हमसे लेखा लेबा। का हम कहब उतर का देबा॥
एत सब सँवरि कै मन माँ, रहै जाइ सो भूलि।
पैगै पैग मुहम्मद, चित्त रहै सब भूलि॥ २६॥

[ २७ ]

पुल सिलवात पुनि होइ अँधेरा। लेखा लेब पंथ (उमत?) सब केरा॥
एक दिसि बैठि मुहम्मद रोइहैं। जिबरईल दूसर दिसि होइहैं॥
वार पार किछु सूझत नाहीं। दूसर नाहिं को टेकै बाहीं॥
तीस सहस्र कोस कै बाटा। अस साँकर जेहि चलै न चाँटा॥
बारहु ते पतरा अस झीनी। खड़ग धार सैं अधिकौ पैनी॥
दोउ दिसि नरक कुंड कै भरे। खोज न पाउब तेहि मां परे॥
देखत काँपै लागै जाँघा। सो पंथ कैसे जैहै नाँघा॥
तहाँ चलत सब परखब, को रे पूर को ऊन।
अबहूँ को जानै मुहम्मद, भरे पाप औ पून॥ २७॥

[ २८ ]

जो धरमी होइहि संसारा। चमकि बीजु गइहैं औ पारा॥
बहुतक जानु तुरंग भल धैहैं। बहुतक जानु पखेरु उड़ैहैं॥

बहुतक चाल चलै माँ जैहैं। बहुतक मरि मरि पाव उठैहैं ॥
बहुतक जानु पखेरु उड़ैहैं। पवन कि नाइँ जिय माँ जैहैं ॥
बहुतक जानौं रेगैं चाँटी। बहुतक रहैं दाँत धरि माटी ॥
बहुतक नरक कुंड माँ पड़िहीं। बहुतक रकत पी माँ पड़िहीं ॥
जेहि कै जाँघ भरोस न होई। सो पंथी निभरोसी रोई ॥
परै तराप सो नाँघत, को रे वार को पार।
कोउ तरि हा मुहम्मद, कोउ बूड़ा मँझधार ॥ २८ ॥

[ २९ ]

लौटि हँकारब यह जब भानू। तपै कहैं होइहि फुरमानू ॥
पूँछब कटक जहाँ ते आवा। को सेवक को बैठे खावा ॥
जेहि जस आहि जियन मैं दीन्हा। तेहि तस संमर चहौं मैं लीन्हा ॥
अब लगि राज देस कर भूँजा। अब दिन आइ लिखा कर पूजा ॥
छः मास कर दिन करौं आजू। आउ क लेउँ औ देखौं साजू ॥
से चौराहा बैठै आवै। एक एक जनौ का पूँछि पकरावै ॥
नीर खीर हुँत काढ़ब छानी। करब निनार दूध औ पानी ॥
घरम पाप फरियाउब, गुन औगुन सब दोख।
दुखी न होहु मुहम्मद, जोखि लेब धरि जोख ॥ २९ ॥

[ ३० ]

पुनि कस होइहि दिवस छ मासू। सूरुज आइ तपहिं होइ बाँसू ॥
कैं सउहै नियरे रवि हाँकै। तेहि कै आँच गूद सिर पाकै ॥
बजरागिनि अस लागै तैसे। [बि] लखै लोग पियासन बैसे ॥
उनै अगिनि अस बरसै घामू। भूँजि देह जरि जाए चामू ॥
जेइ किछु धरन कीन्ह जग माहाँ। तेहि सिर पर किछु आवै छाहाँ ॥
धरमिहि आनि पियाउब पानी। पापी बपुरहि छाहँ न पानी ॥
चोरा जपा सो काज न आवै। इहाँ का दीन्ह उहाँ सो पावै ॥
जो लखपती कहावै, लहै न कौड़ी आधि।
चौदह धजा मुहम्मद, ठाढ़ करहिं सब बाँधि ॥ ३० ॥

[ ३१ ]

सवा लाख पैगम्बर जेते । अपनें अपनें पाप तेते ॥
एक रसूल न बैठहिं छाहाँ । सबही धूप लेहिं सिर माहाँ ॥
घामैं उमत दुखी जेहि केरी । सो का मानै सुख अवसेरी ॥
दुखी उमत तौ पुनि मैं दुखी । तेहि सुख होइ तौ पुनि मैं सुखी ॥
पुनि करता कै आयसु होई । उमत हँकारु लेखा मोहिं देई ॥
कहब रसूल कि आयसु पावौं । पहिले सब धरमी लै आवौं ॥
होइ उतर तिन्ह हौं ना चाहौं । पापी घालि नरक मह् पाहौं(?)बाहौं ॥
पाप पुन्नि केतें खवं, होइ चहत है पोच ।
अस मन जानि मुहम्मद, हिरदै मानेउ सोच ॥ ३१ ॥

[ ३२ ]

पुनि जैहैं आदम केरं पासा । पिता तुम्हारि बहुत मोहि आसा ॥
उमत मोरि गाढ़े है परी । भा न दान लेखा का घरी ॥
दुखिया पूत होत जो अहै । सब दुख पै बापै सें कहै ॥
बाप बाप कै जो कछु खागी । तुमहि छाँड़ि कासौं निनि मांगै ॥
तुम जठेर पुनि सबहीं केरा । अहै सँतति मुख तुम्हरं हेरा ॥
जेठ जठेर जो करिहैं मिनती । ठाकुर जबहीं सुनिहैं बिनती ॥
जाइ देउ सै बिनवौ रोई । मुख दयाल दाहिन तोहि होई ॥
कहहु जाइ जस देखै, जेहि होवै उदघाट ।
बहु दुख दुखी मुहम्मद, बिधि संकर तेहि काट ॥ ३२ ॥

[ ३३ ]

सुनौ पूत आपन दुख कहऊँ । हौं अपनें दुख बाउर रहऊँ ॥
होइ बैकुंठ जो आयसु ठेलौं(ठेलेउँ) । दूत के कहे मुख गोहूँ मेलौं(मेलेउँ) ॥
दुखिया पेट लागि सँग धावा । काढ़ि बिहिस्त से मेल ओढ़ावा ॥
परलौ जाइ मँडल सुंसारा । नैन न सूझ निसि अँधियारा ॥
सकल (ज)गत में फिरि फिरि रोवा । जीउ जान बाँधि के खोवा ॥
भएँ उजियार पिरथिमी जइहौं । औ गोसाईं कै अस्तुति कहिहौं ॥
लौटि मिलै जौ हौवै आई । तौ जिउ कहँ धीरज भा जाई ॥

तेहि हुते लाजि उठै जिउ, मुहँ न सकौं दरसाइ।
सो मुहँ लाइ मुहम्मद, बात कहौं का जाइ॥ ३३॥

[ ३४ ]

पुनि जैहैं मूसै केर दोहाई। ऐ बंधु मोहिं उपगरु आई॥
तुम का बिधिनै आयसु दीन्हा। तुम नेरे होइ बातैं कीन्हा॥
उम्मत मोरि बहुत दुख देखा। भा निदान माँगत है लेखा॥
अब जो भाइ मोर तुम अहेऊ। एक बात मोहि कारन कहेऊ॥
तुम अस तुहसे बात का काई। सोई कहेऊ बात जेहि होई॥
गाढ़े मीत कहौं का काहू। कहौ जाइ जहि होइ निबाहू॥
तुम सँवारि कै जानौ बाता। मकु सुनि माया करै बिधाता॥
मिनती किहेउ मोर हुते, सीस नाइ कर जोरि।
है है करैं मुहम्मद, उमत दुखी है मोरि॥ ३४॥

[ ३५ ]

सुनहु रसूल बात का कहौं। हौं अपने दुख बाउर रहौं॥
कै कै देखेउँ बहुत ढिठाई। मुँह कड़ुदाना खात मिठाई॥
पहिले मो कहँ आयसु दीन्हा। फरऊँ से मैं झगरा कीन्हा॥
रोद नील कै डावसि चाला। फुर भा झूँठ झूँठ (भा) भला॥
पुनि देखै वैकुण्ठ पठाएउ। एकौ दिसि करै पंथ न पाएउ॥
पुनि जो मो कहँ दरसन भएऊ। कोह तूर रावट होइ गएऊ॥
भा अनेक मैं फिर फिर जाँपी। हर दावँन कै लीन्हेसि चापी॥
निरखि नैन मैं देखौं, कतहुँ परै नहिं सूझि।
रहौं लजाइ मुहम्मद, बात कहौं का बूझि॥ ३५॥

[ ३६ ]

दौरि दौरि सबही पा जैहैं। उतर दिहें सब फिर बहिरैहैं॥
ईसै कहिन कि कस नहि कहतेउँ। जौ किछु कहे क उत्तर बैठेउँ(?)॥
मैं मुए मानुस बहुत जियावा। औ बहुतै जिउ दान दिवावा॥
इब्राहिम कहा कस ना कहतेउँ। बात कहे बिन मैं ना रहतेउँ॥

सोसौं खेल हिंदू जो खेला । सव रचि चाहि आगिनि मा मेला ॥
तहाँ आगिनि हव(हुत?)भइ फुलवारी । अपउर करौं न विरह संभारी ॥
नूह कठिन जस परलौ आना । सब जग बूड़ रहेउ नहि(नाहिं?)नावा ॥
केउ कहै काहू सें, सबै उठाउब भार ।
अस कै चलें मुहम्मद, करु आपन निस्तार ॥ २६ ॥

[ २७ ]

सबै भार अस सोसि उठाउब । फिरि फिरि कहब उतर ना पाउब ॥
पुनि रसूल जैहैं दरबारा । पैग मारि भुइँ करब पुकारा ॥
तैं सब जानसि एक गोसाईं । कोउ न आव मोरी उमत के नाईं ॥
जेइ सें कहौं सो चुप होइ रहई । उमत लाइ केउ बात न कहई ॥
मोरे चाँड़ केऊ नहिं चाँड़ा । देखा दुख सबहीं मोहिं छाँड़ा ॥
मोहिं अस तुहीं लाग करतारा । तुहि होइ भल सोइ निस्तारा ॥
जो दुख चहहि उमत का दीन्हा । सो सब मैं अपने सिर लीन्हा ॥
लिखि जोखि कहियावल(?), सरन गजन दुख दाहु ।
सो सब सबै (सहै?)मुहम्मद, दुखी करौ जनि काहु ॥ २७ ॥

[ २८ ]

पुनि रिसाइ कै कहै गोसाईं । फातिम कहँ ढूँढ़हु दुनियाईं ॥
का मोसौं उन झगरि बिसारा । हसन हुसैन कहौ को मारा ॥
ढूँढ़े जगत कतहुँ ना पैहैं । फिरि कै जाइ मारि गोहरैहैं ॥
ढूँढ़ि जगत दुनिया सब आएउँ । फातिम खोज कतहुँ ना पाएउँ ॥
आयसु होइ अहैं पुनि ताहाँ । उठै नाथ हैं धरती माहाँ ॥
मूँदै नयन सकल सुंसारा । बीबी उठै करै निस्तारा ॥
जो कोउ आव देखै नैन उघारी । तेहि कहँ छाह करौं भरि जारी ॥
आयसु होइ देउ कर, नैन रहै सब झाँपि ।
एक ओर डरै मुहम्मद, उमत मरै डर काँपि ॥ २८ ॥

[ २९ ]

उठिन बीबी तब रिस किंहें । हसन हुसैन दुवौ संग लिंहें ॥
तैं करता हरता सब जानसि । झूठै फुरै नीक पहिचानसि ॥

हसन हुसेन दुवौ मोर बारे। दुनहु यजीद कौने गुन मारे॥
पहिले मोर नियाव निबारू। तेहि पाछे जेतना सुंसारू॥
समुझै जीउ आगि महँ दहऊँ। देहु दादि तौ चुप कै रहऊँ॥
नाहिं त देउँ सराप रिसाई। मारौं आहि अर्स जरि जाई॥
वहु संताप उठै जिया, कतहूँ समुझि न जाइ।
बरजहु मोहि मुहम्मद, अधिक उठै दुख दाइ॥ ३९॥

[ ४० ]

पुनि रसूल कहँ आयसु होई। फातिमा कहँ समुझावहु सोई॥
मारै आहि अर्स जरि जाई। तेहि पाछे आपुहि पछिताई॥
जौं नहिं बात क करै बिबादू। जानौं मोहिं दीन्ह परसादू॥
जौं बीबी छाँड़हि यह दोखू। तौं मैं करौं उमत कै मोखू॥
नाहिं तौ घालि नरक महँ जारौं। लौटि जियाइ मुए पर मारौं॥
अगिनि खंभ देखहु जस आगे। हिरकत छार होइ तेहि लागे॥
चहुँ दिसि फेरि सरग लै लावौं। मुँगरिन मारौ लोब(लोह?)चटावौं॥
तेहि पाछे धरि सारौं, घालि नरक के काँट।
बीबी कहँ समुझावै जौ, रे उमत कै चाँट॥ ४०॥

[ ४१ ]

पुनि रसूल तलफत तहाँ जैहैं। बीबी आइ बार समुझैहैं॥
बीबी कहब घाम कत सहौ। कस ना बैठि छाहँ माँ रहौ॥
सब पैगंबर वैठे छाहाँ। तुम कस तपौ बजर अस माहाँ॥
कहब रसूल छाहँ का बैठौं। उमत लागि धूपहु नहिं बैठौं॥
तेइँ सब बाँधि घाम महँ मेले। का भा मोरे छाहँ अकेले॥
तुम्हरे कोह सबहि जो मरै। समुझहु जीउ तबै निस्तरै॥
जौ मोहिं चहौ निवारहु कोहू। तब बिधि करै उमत पर छोहू॥
बहु दुख देखि पिता कर, बीबी समुझा जीउ।
जाइ मुहम्मद बिनवा, ठाढ़ पाक (पाग) कै गीउ॥ ४१॥

[ ४२ ]

तब रसूल [कें] कहँ भइ माया। जिन चिंता मानौ भइ दाया॥

जो बीबी अवहूं रिसियाई। सबहि उमत सिर आनि बिसाई॥
अब फातिमा का बेगि बोलावौ। देउ दाद तौ उमत छोड़ावौ॥
फातिमा आइ के पार लगावा। धरि यजीद मां गोवा [आवा?]॥
अंत कहा धरि जान से मारै। जिउ देइ देइ पुनि लौटि पछारै॥
तस मारब जेहि मुइँ गड़ि जाई। खन खन मारैं लौटि जिआई॥
बजर आगिनि जारब कै छारा। लौटि धावै(दहै?)अस धावै(दहै?)अंगारा॥

मारि जारि घिसियावौं, धरि दोजख मां देब।
जेतनी सिस्टि मुहम्मद, सबहि पुकारै लेब॥ ४२॥

[ ४३ ]

पुनि सब उम्मत लेब बुलाई। हरू गरू लागब बहिराई॥
निरखि रहौती कारब(गारब)छानी। करब निनार दूध औ पानी॥
बाप पूत ना पूतै बापू। पाप पुन्नि ना पुन्नै पापू॥
आप [हि] आप आइ के परी। क्याउ न कयाउ क धरहरि करी॥
कागज काढ़ि लेब सब लेखा। दुख सुख जो पिरथिमी महँ देखा॥
पौन पियाला लेखा माँगब। उतर देत उन पानी पाँगब॥
नैन का देखा स्रवन का सुना। कहब करब औगुन औ गुना॥

हाथ पाँव मुख काया, स्रवन सीस औ आँखि।
पाप न छपै मुहम्मद, अंत भरैं सब साँखि॥ ४३॥

[ ४४ ]

देह का रोवाँ बैरी होइहैं। बजर बिया गहि जीउ के बोइहैं॥
पाप पुन्नि निरमल कै धोउब। राखब पुन्नि पाप सब खोउब॥
पुनि कौसर पउब अन्हवाए। जहाँ कया निरमल सब पाए॥
बुड़की देब देह सुख लागी। पलुहब उठि सोवत अस जागी॥
खोरि नहाइ धोइहैं सब दूंदू। होइ निकरहि पुनिया कै चंदू॥
सब के सरीर सुबास बसाई। चंदन कै अस खाना आई॥
भूठै सबहि आप पुनि साँचै। सबहि नबी के पाछे बाँचै॥

नबी छाँड़ि सब होइ, बरह बरिस कै राह।
सब अस जानौ मुहम्मद, होइ बरिस कै राह॥ ४४॥

[ ४५ ]

पुनि रसूल नेवतब जेवनारा। बहुत भाँति होई परकारा॥
ना अस देखा ना अस सुना। जौ सरहौं तौ है दस गुना॥
पुनि अनेक बिस्तर जहाँ डासब। बास सुबास कपूर से बासब॥
होइ आएसु जौ पैग(बेगि?)बोलाउब। औ सब उमत साथ लेइ आउब॥
जिबरईल आगे होइ जइहैं। पग डारै का आयसु होइहैं॥
चलब रसूल उमत लै साथा। परग परग पर नावत माथा॥
आवै भीतर बेगि बोलाउब। बिस्तर जहाँ तहाँ बैठाउब॥
झारि उमत सब बैठे, जोरि कै एकै पाँति।
सब के माँझ मुहम्मद, जानौ दुलह १राति॥ ४५॥

[ ४६ ]

पुनि जेंवन का आवन लागै। सब (के) आगे धरत न खाँगै॥
भाँति भाँति के देखब थारा। जानब ना दहुँ कौन प्रकारा॥
पुनि फुरमाउब आपु गुसाईं। बहुतै दुख देखौ(देखेउ?)दुनियाईं॥
हाथन से जेंवनार मुख डारब। जीभ पसारत दाँत उघारब॥
कूँचत खात बहुत दुख पावौ। तहँ ऐसै जेवनार जेंवावौ॥
अब जिनि लौटि कस्ट जिउ करौ। सुख संवाद औ इंद्री भरौ॥
पाँच भूत आतमा सेराई। बैठि अघाइ और ना भाई॥
अैस करब पहुनाई, तब होई संतोख।
दुखी न ह्वाव मुहम्मद, पोखि लेहु धरि पोख॥ ४६॥

[ ४७ ]

हाथन्ह से केउ कौर न लेई। सेइ जाइ मुख पैठै जोई॥
दाँत जीभ मुख किछु न डोलाउब। जस जस रुची तस तस खाउब॥
जैस अन्न बिनु कूँचे रूचै। तैस सिठाइ जौ कोऊ कूँचै॥
एक एक परकार जो आए। सत्तर सत्तर स्वाद जो पाए॥
जहँ जहँ जाइ के परै जुड़ाई। इंछा पूजै खाइ अघाई॥
अन चाखे चाते (?) फिर चाखा। सब अस लेब अपरस रस राखा॥
जनम जनम के भूख बुझाई। भोजन केरे साथै जाई॥

जेंवन अँचवन होइ पुनि, पुनि होइ खिलवान ।
अमृत भरा कटोरा, पियौ मुहम्मद पानि ॥ ४७ ॥

[ ४८ ]

एक अमृत औ चाख कपूरा । नाहि कहँ कहा शराब न सूरा ॥
लागब भरि भरि देइ कटोरा । पुरुब स्यान अस करैं अँकोरा ॥
ओहि कै मिठाइ आनि एक दाऊँ । जनम न मानब होइ अस काहू ॥
सचु मतवार रहब होइ सदा । रहब [औ] सोइ सदा सरवदा ॥
कबहुँ न खोवै जनम खुमारी । जनों बिहान उठे भरि भारी ॥
ततखन चासि [बासि] जनु लाला । घरी घरी जस लेब पियाला ॥
सबहिं क भा मन सो मधु पिया । तब औनार भगा औ जिया ॥
फिरै तँबोल माया सें, कहब आपुन लेइ खाउ ।
भा परसाद मुहम्मद, उठि बिहिस्त मों जाउ ॥ ४८ ॥

[ ४९ ]

कहब रसूल बिहिस्त ना जाऊँ । जब लें दरस न तुम्हार न पाऊँ ॥
उघर न नैन तुमहिं बिनु देखें । सबहिं अँधियार मोरें लेखें ॥
तौ लै केउ बैकुंठ न जाई । औ लै तुम्हारा दरस न पाई ॥
करु दीदार देखौं मैं तोही । तौ पै जीउ जाइ सुख मोंही ॥
देखे दरस नैन भरि लेऊँ । सीस नाइ पै भुइँ कहँ देऊँ ॥
जनम मोर लागा सब यारा । पलुहै जीउ जो गीउ उभारा ॥
होइ दयाल करु दिस्टि फिरावा । तोहि छाँड़ि मोहिं और न भावा ॥
सीस पाइ भुइँ लावौं, जो देखौं तोहि आँखि ।
दरसन देखि मुहम्मद, हिये भरौं तोरि साखि ॥ ४९ ॥

[ ५० ]

सुनौ रसूल होत फुरमानू । बोल तुम्हार कीन्ह परमानू ॥
तहाँ हुतेउँ जहँ हुतेउ न ठाऊँ । पहिलै रचेउँ मुहम्मद नाऊँ ॥
तुम बिनु अबहूँ न परगट कीन्हेउँ । सहस अठारह का जिउ दीन्हेउँ ॥
चौदह खंड उतर क राखेउँ । नाद चलाइ भेद बहु भाखेउँ ॥
चार फिरिस्ते बड़े औतारेउँ । सात खंड बैकुंठ सँवारेउँ ॥

सवा लाख पैगंबर सिरिजेउँ। कहि करतूति उन्हहि धै बंधेउँ॥
औरन्ह का आगे निति लेखा। जेतना सिरजा को ओहि देखा॥
तुम तन एता सिरिजा, आइ कै अंतर हेत।
देखहु दरस मुहम्मद, आपनि उमत समेत॥ ५०॥

[ ५१ ]

सुनि फुरमान हरख जिउ बाढ़े। एक पावँ से भए उठि ठाढ़े॥
भारि उमत लागी तब नारी(तारी?)। जेवा सिरिजा पुरुख औ नारी॥
लागै सब से दरसन होई। ओहि बिनु देखे रहै न कोई॥
एक चमकार होइ उजियारा। छपै बीजु तेहि के चमकारा॥
चाँद सुरुज छपिहैं बहु जोती। रतन पदारथ मानिक मोती॥
सो मन दिपै जो कीन्ह थिराई। छए सो रंग घात पर आई॥
आहु रूप निरमल होइ जाई। और रूप ओहि रूप समाई॥
ना अस कबहूँ देखा, न केऊ ओहि भाँति।
दरसन देखि मुहम्मद, मोहि परे बहु भाँति॥ ५१॥

[ ५२ ]

दुइ दिन लहि कोउ सुधि न सँभारे। बिनु सुधि रहे ना नैन उघारे॥
तिसरे दिन जिबरैल जो आए। सब मधु माते आनि जगाए॥
जेहि भेदियहि सुदरसन राते। पड़े पड़े लोटै जस माते॥
सब अस्तुति कै करै बिसेखा। अैसा रूप हम कतहुँ न देखा॥
अब सब गएउ जनम दुख धोई। जो चाहिय हठि पावा सोई॥
अब निहचिंत जीउ बिधि कीन्हा। जौ पिय आपन दरसन दीन्हा॥
मन कै जेति आस सब पूजी। रहे न कोउ औ आस गति दूजी॥
मरन गँजन औ परिहँस, दुख दलिद्र सब भाग।
सब सुख देखि मुहम्मद, रहस कोड़ जिया लाग॥ ५२॥

[ ५३ ]

जिबराईल कहँ आयसु होई। अछरिन्ह आइ आगे पथ जोई॥
उमत रसूल केर बहिराउब। कै असवार बिहिस्त पहुँचाउब॥
सात बिहिस्त बिधिनै औतारा। औ आठए सदाद सँवारा॥

सो सब देव उमत का बांटी। एक बराबरि सब का आंटी॥
एक एक का दीन देवासू। जगत लोक बिरमैं कैलासू॥
चालिस चालिस हूरें सोई। औ सँग लागि बियाही जोई॥
औ सेवा का अछरिन केरी। एक एक जनि का सौ सौ चेरी॥
ऐसें जतन बियाहैं, जस साजै बरियात।
दूलह जतन मुहम्मद, बिहिस्त चलें बिहँसात॥ ५३॥

[ ५४ ]

जिबराईल तात कहँ धाउब। जौलहि आनि उमत पहिनाउब॥
पहिरहु दगल सुरँग रंग राते। करहु सोहाग जनहु मद माते॥
ताज कुलाह सिर मुहमद सोहै। चंदन बदन औ कोकब(कोकिल?)मोहै॥
न्हाइ खोरि जस बनी बराता। नबी तँबोल खात मुख राता॥
तुम्हरे रुचें उमत सब आनब। औ सँवारि बहु भाँति बखानब॥
खड़े गिरत उधमाते ऐहैं। चढ़ि कै घोड़न का कुदरैहैं॥
जिन भरि जनम बहुत हिय जारा। बैठइ पाँएउँ दुइ जन पारा॥
जैसे नबी सँवारे, तैसे नबी पुनि साज।
दूलह जतन मुहम्मद, बिहिस्त करैं सुख राज॥ ५४॥

[ ५५ ]

तानब छत्र मुहम्मद माथे। औ पहिरै फूलन्ह बिनु गाथे॥
दूलह जतन होब असवारा। लिए बरात जैहैं संसारा॥
रचि रचि अछरिन्ह कीन्ह सिंगारा। बास सुबास उठै महकारा॥
आज रसूल बियाहन ऐहैं। सब दूलह दूलहिनि सो नैहैं॥
आरति करि सब आगे ऐहैं। नंद सरोद पुनि सब मिलि गैहैं॥
मँदिलन्ह होइहि सेज बिछावन। आजु सबहि के मिलिहैं रावन॥
बाजन बाजै बिहिस्त दुवारा। भीतर गीत उठै झनकारा॥
बनि बनि बैठीं अछरीं, बैठि जोहैं कैलास।
बेगइ आउ मुहम्मद, पूजै मन कै आस॥ ५५॥

[ ५६ ]

जिबरईल पहिले से जैहैं। जाइ रसूल बिहिस्त नियरैहैं॥

खुलिहैं आठौ पँवरि दुवारा। औ पैठै लागे असवारा॥
सकल लोग जब भीतर जैहैं। पाछे होब रसूल सीधरैं(सिधैहैं?)॥
मिलि हूरैं नेवछावरि करिहैं। सबके बदन फूल रस झरिहैं॥
रहसि रहसि तिन करब किरीरा। अगर कुमकुमा जो भरि सरीरा॥
बहुत भाँति कर नंद सरोदू। बास सुबास उठै परमोदू॥
अगर कपूर बेना कस्तूरी। मँदिल सुबास रहब भरपूरी॥
सोवन आजु जो चाहै, साजन मरदन होइ।
दीन सोहाग मुहम्मद, सुख बिरसै सब कोइ॥ ५६॥

[ ५७ ]

पैठि बिहिस्त जौ नौ निधि पैहैं। अपने अपने मंदिलसी धरैं(सिधै हैं?)॥
एक एक मंदिल सात दुवारा। अगर चन्दन के लाग केवारा॥
हरे हरे बहु खंड सँवारे। बहु [त] भाँति दइ आपु सँवारे॥
सोनै रूपै घालि उँचावा। निरमल कुहुकुहु लाग गिलावा॥
हीरा रतन पदारथ जरे। तेहिक जोति दीपक जस बरे॥
नदी दूध कै अँतरिख कै बहैं। मानिक मोति परे भुइँ रहैं॥
औ परि गा अब छाह सोहाई। एक एक खंड चहा दुनियाई॥
तात न जूड़ न गुनगुन, दिवस राति नहिं दुक्ख।
नींद न भूख मुहम्मद, सब बिरसैं अति सुक्ख॥ ५७॥

[ ५८ ]

देखत अछरिन केरि निकाई। रूप ते मोहि रहत मुरझाई॥
लाली करत मुख जोहत बासा। कीन्ह चाहैं किछु भोग बिलासा॥
हैं आगे बिनवैं सब रानी। और हम सब चेरिन्ह की रानी॥
यहि सब आवैं मोरे निवासा। तुम आगे तो अपनि कैलासा॥
जहाँ अस रूप पाट परधानी। औ सबहिन्ह चेरिन कै रानी॥
बदन जोति मनि माथे भागू। औ बिधि आगर दीन्ह सोहागू॥
साहस करैं सिंगार सँवारी। रूप सुरूप पदुमिनी नारी॥
पाट बैठि बैठीं जो हियें, हँसि जारैं माँस।
दीन दयाल मुहम्मद, मानौ भोग बिलास॥

[ ५९ ]

सुनि अस रूप बिहसी बहु भाँती । इनहिं चाहि को है रुपवाँती ॥
सातौं पवँरि नखत मन सेखन (पेखन?) । मानौं आगमु कौतुक देखन ॥
चले जात आगे नहिं आसा । जाइ परत भीतर कैलासा ॥
तखत बैठि सब देखब रानी । औबाहि सब चाहि पाट बक आनी ॥
दरसन जोति उठै चमकारा । सकल बिहिस्त होइ उजियारा ॥
बारह बानी सरि हो सुबरना । तेहि का चाहि रूप आनि लोना ॥
निरमल बदन चंदन कै जोती । सबकै सरीर दिपै जस मोती ॥

बास सुबास तस छूटै, बेधि भँवर कहि जान ॥
बर सो देखि मुहम्मद, हिरदै माँ न समान ॥ ५९ ॥

[ ६० ]

पैग पैग जस जस नियराउब । अधिक सवाद मिलै कर पाउब ॥
नैन समाइ रहे चुप लागे । सब कै आइ लेइहैं होइ आगे ॥
बिरसहु दुलहिनि जोबनवारी । पाएउ दुलहिनि राजकुमारी ॥
एहि माँ सो कर गहि कै जैहैं । आधे तखत पर लै बैठैहैं ॥
सदा अछूत तुम का भरि राखे । यहै सवाद जोरे जौ चाखे ॥
निति पिरीति नित नव नव नेहू । निति उठि चौगुन जोरै सनेहू ॥
नित्त अनित्त जो बारि बिथा है । बीसौ बीस अधिक ओहि चाहै ॥

तहाँ न मीचु न नींदु दुख, रह न देह माँ रोग ।
सदा अनंद मुहम्मद, सदा सुख माने (मानै?) भोग ॥ ६० ॥

म्हारी बाईसी

# महरी बाईसी

[ १ ]

सुनो बिनति मैं किरति बखानौं, महरा जस महराई रे।
गयेउ केवट को नाव चलावै, को लागेउ गहराई रे॥
कोइ गुन लाइ पंथ सिर धुनहू, चला डोर गुन खींचइ रे।
तीर नीर उथलैं भै सोई, गहिरें तौ फल पाँचइ रे॥
कोइ तरवार सूति अस कहताँ, भाव भीर मन माने रे।
काहू फंद तिरिस्ना देखा, परा जाल अरुझाने रे॥
काहू समुँद माँह बुड़कावा, ढूँढि सिस्ट लै आनेउँ रे।
कोइ टकटोरि छूँछ होइ बहुरा, हाथ छार पछतानेउँ रे॥
कोई औघट हारिगा बहुरत, रहा बीच होइ ठाढ़ो रे।
कोइ अवगाह परा गहिरे में, सो भल आहि जो काढ़ो रे॥
कोइ लै थाह उठा पानी सों, तीर तीर बहि लागें रे।
कोइ सत छोड़ि दिसउ गहिरे पुनि, गा हर दिसि चह खाएँ रै॥
कहै मुहम्मद रहो सम्हारे, पाव पानि में घालें रे।
टोइ टोइ भुइँ पाँव उठाओ, नाहिं तो परिहौ खालें रे॥

[ २ ]

बार भए जो पंथ तिहारे, अहै पार जेहि जाना रे।
चढ़ेउ जो नाव पार सो उतरेउ, नाहिं तो मन पछिताना रे॥
ऊभि बाँह कै ठाढ़ पुकारै, केवट बेगि न पावसि रे।
सहै लोक बहु मूरख आया, पै पुनि कहँ चढ़ै बतावसि रे॥
दूरि गौन साँभर जहँ ताईं, तू बुड़हा (?) भा डोलै रे।
बेति चलावै सोइ न कोई, केवट गरब न बोलै रे॥
जेहि अस बूझ सूझ मारग कै, गाँठि सोधि कै आवा रे।
माँगत दान दीन्ह जेहि पहिले, तेहि धरि बाँह चढ़ावा रे॥

औरु अपुनी पाँव परि बिनवौं, बिनवौं फिर न आनौं रे ।
देखहु रहा न कोउ निन्हारी, अब कैसे पहिचानौं रे ॥
आइ बंधु औ मीत अपाना, सो न मिलै मोहि आई रे ।
दरस दुरौ मन जूरौं आँखा, कोउ मोहि दिखरावै रे ॥
कहै मुहम्मद पंथ न भूलउ, आगे अगम अपारा रे ।
सो कै चलहु पार जेहि उतरहु, नतु बूड़हु मँझधारा रे ॥

[ ३ ]

चढ़ि कै नाव भरम जेहि आछो, औ लगि पार न लागौं रे ।
मारै मंझ जाइ भरि झोका, मँझधार होइ आगे रे ॥
बहुत पाट भइ भादौं नदिया, गुरु बूझि अनि बूझहु रे ।
फैलव कहाँ कहाँ होइ लागौ, यहु मन मान न मानहु रे ॥
उठहि पवन औ समुँद हिलोरैं, पवन बास खट डोलै रे ।
देखि वार जिउ खिन खिन कंपै, कौन भरोसे बोलै रे ॥
कछु औ सूस चहुँ दिसि उठहि, मगरमोह धरियारा रे ।
होइ मँझधार डरावन लागौ, कैसे उतरब पारा रे ॥
करिया पोढ़ करहु जिनि डोलै, सिखर बाँह तेहि लाइहि रे ।
केवट हीं गहु लाइ चित्त कहै, गुन गहि तीर लगाइहि रे ॥
ऊँच करार चढ़त दुख होइहि, धाइ तीर जनु खाइहि रे ॥
जेहि खन तीर लै (?) लाइहि, पैठि पेट जिउ आइहि रे ।
कहै मुहम्मद धुन्ध सवाई, सुनौ मूढ़ बुधि अइसे रे ।
छाड़हु मोह एक चित बाँधहु, पार उतारै जइसे रे ॥

[ ४ ]

धीमे चलहु धीर मन कीन्हें, जस बक नाउँ पधारी रे ।
धरम करैं लीलै सैं काटैं, को ओहि जाहि न टारी रे ॥
जौ लगि राति नींद नहिं साधै, दिन नहिं करहि रहतरा रे ।
तौ लगि मछरी वार पार नहिं, लागौं, जो कीजै सो पहरा रे ॥
मेलि सिस्टि बारहि चित बाँधहु, रहौ दिस्टि मन लागे रे ।
जस दुख देहि रहँट बहु ऊपर, तस सुख होइहि आगे रे ॥

जो खुटकार बेगि ना लागै, हिएँ निवारहु कोहू रे।
गाढ़ डोर ढील कै खींचहु, तौ पै पावहु रोहू रे॥
नाहिं तो घोर रूप लै भेंटेउ, नदी भई जहाँ सूते रे।
कहुँ कीओ सवार सब नगरी, पावहु खेत किमि मूते रे॥
कहै मुहम्मद यह समझौता, समझु मूरख अब ताईं रे॥
चैन नाहीं आए ढिगा वासों, तैं बैठो सुस्ताई रे॥

[ ५ ]

जेहि अस साथ होइ गहि की, औ चाहै जो राखा रे।
चढ़हि तुरंगै तौ बौराई, लीन्हें हाथ बचाखा (?) रे॥
कोड़िया लोभ मरत मछरी, के अमर जाल धरि घाला रे।
बहुत पसार सकति वहिं भँवरी, परा जीउ कर लाला रे॥
महरहिं भली खेल यहु चाँचरि, जेइ रे खेल अस खेला रे।
मछरी डारि मेलि पाले (पानी?), में देखै चरत अकेला रे॥
लै लोका रे जाल पसारै, रहै खँड खँड ताना रे।
पढ़िना परा जाइ जल तजि कै, सत कै जाइ फँदावै रे॥
चा (?) भेद रूप लाइ भुइँ डाँड़ा, सकति हाँक लै आवै रे।
जो पुनि माँछ जाइ कै छूटै, सत जिउ जाइ गँवावै रे॥
कहै मुहम्मद काल अहेरी, वहि सों काउ न बाँचो रे।
सबही तारि रहा थिर अपुना, सौंह बोल बहु साँचो रे॥

[ ६ ]

जेइ रे टोह मछरी बड़ि पाई, सो तीरे लाग छनावै रे।
गुरू घेरि तीनहि लै जो रे, हिलि कै कतहुँ खसावै रे॥
गरुवे ताप लाइ भुइँ जो रे, [?] संग औ मुकरी रे।
घालि हाथ ढूँढहु सैं जेहि के, नाथ छहंदह अँगुरी रे॥
वार पार लै लावहि झौंरा, जोट बड़े सब बैठे रे।
खिन एक देखि चलै खुटकारी, पुनि सब घालि समेटै रे॥
पलना अहै पाल चलि आगे, तीर तीर कस टोवसि रे।
उलले रहसि बरिस जिन घर बिनु, मंत हाथ भुकि घोरसि रे॥

गहि गहाइ तीर लै लागसि, लागा लोग सब चिन्हे रे ।
जे पावा तेहि नहीं छपावा, बरनि न पावै जानै रे ॥
जे मंजुन अगुमन कै राखा, फिरा मंझ लै गहरा रे ।
जेहि के हाथ पान कछु नाहीं, लागा भरै सो महरी रे ॥
कहै मुहम्मद तहाँ न पारै, जहाँ न लहार बुड़ाई रे ।
जहाँ मान आपन नहिं देखौं, लाखन छाँड़ पराई रे ॥

[ ७ ]

है कापर झाँगर अरुझाना, सकहु न चलहु छँड़ाई रे ।
एक राह जो गुरू बताई, साथ पाँच समुझाई रे ॥
बरजत रहहु होइ जनि करकच, करहँ कौन अँकारै रे ।
.. ...
मनुवहिं गही रहिअ मन मारै, खोकहु खोझि न बाँजिअ रे ।
मनुवा मोत मिलाइ छाँड़ै, कामा(?)काहु न मानिअ रे ॥
भोगहिं भूलि भुगुति नहिं भूलहु, जोग जुगुति पुनि मानहु रे ।
जो एहि भाँति करहु मतवारै, तौ मद सौं चित बाँधहु रे ॥
नाहिं तौ ठाकुर है अति दारुन, करहु चार कोइ चारो रे ।
मारहु बाँधि डाँड़ कै लेहू, निसरहिं सब मतवारो रे ॥
जबहिं सोंटिया आइ तुलाईहिं, सांति परह पर टूटिहि रे ।
भाइ बंधु ठाढ़हिं सब देखैं, काहू के कहे न छूटिहि रे ॥
लै घिसियाइ चलहिं राउर कहँ, उतर देत मुँह मारिहि रे ।
कुड़बा लोग कहा नहिं लागै, कहै न को उर पारिहि रे ॥
कहै मुहम्मद सो मतवारा, जो पिउ के मदमाते रे ।
ताकर पिया नीक मोहिं लागै, नाहीं तो झूठे नाते रे ॥

[ ८ ]

हुड़ुक झाँझ सब बाजत आवहिं, औ पंरा सब नाचै रे ।
चढ़ि कै दूलह ब्याहन आवै, दुलहिनि बहु रँग राचै रे ॥
रहस कोड सब महरी गावहिं, सब कर आइस बियाहू रे ।
नैहर छाँड़ि चलब अब सोहरैं, समुझि परै नहिं काहू रे ॥

* पंक्ति प्रति में नहीं है ।

बात सुनहु तुम्ह सखी सहेली, सत तोलौं तुम आगे रे।
सवरि सेज मन पियकै डरपौ, रहै खुरुक जिम लागे रे॥
गीत बाद मोहि कछू न भावै, हौं तेहि संग सगाई रे।
कंत बाँह धरि पूँछै बैना, कहा कहब तेहि ठाईं रे॥
इहाँ खेलि लेहु जो खेलन, उहाँ खेल कस होई रे।
सास ननँद देइहैं उलहाना, लाज रहब मुँह गोई रे॥
देवर जेठ केर सुनतहि सनका, निसरि होब तहीं ठाढ़ी रे।
गुनवर ससुर देखि कस बालब, निसि दिन घूँघट काढ़ी रे॥
कहै मुहम्मद सोइ सुहागिनि, जो अइसै पिउ रावै रे।
नैहर केर होइ गुनवंती तब, ससुरें सुख पावै रे॥

[ ६ ]

सखी सहेली सुनहु सोहागिनि, सब कोउ अइसि बियाही रे।
नैहर दिवस चारि लै रहना, ससुरें ओर निबारी रे॥
जनमत दुइ बटवा होइ जाहीं, अस चरित्र बिधि खेला रे।
दुइ दुइ लाइ जगत सब जोरा, आपुन रहा अकेला रे॥
सरग लाइ धरती सों जोरा, चंद सूर दुइ कीन्हे रे।
दिन औ राति भोर औ साँझा, सेत स्याम दुइ चीन्हे रे॥
भै इस्तिरी पुरुख दुइ हौं लै, ईसर गौरा सानेउ रे।
उहाँ सबद एक सुना स्रवन दुइ, जब दुइ मथवा बाजेउ रे॥
चले लखपती होइ दुइ भारा, भारदुख सुख कर लीन्हा रे।
जो नहिं होत बरन दुइ प्रगटे, कहा कहिअ तो कीन्हा रे॥
हिंदू तुरुक दोउ पर देखौं, जो बारा सो ब्याहा रे।
बूझि बिचारि देखु मन अपने, भए जनम कर लाहा रे॥
कहै मुहम्मद दुइ जग तारे, लीन्हे पिउ कर आएसु रे।
जेहि जेहि पँथ चलावै सजना, हठि हठि मारग जाएसु रे॥

[ १० ]

सुनि रे अयाने होइ हुसियाले, गुरू ग्यान मति लीन्हे रे।
चलि पनिहारी परग सँभारी, पानि भरन जब दीन्हे रे॥

गहि गहाइ नीर लै लागसि, लाग लोग सब खिनै रे।
जे पाया तेहि नहीं छपाना, बरनि न पावै छीनै रे॥
जे संजुन अगुमन कै राखा, फिरा अंत लै दहरा रे।
जेहि के हाथ पाव कछु नाहीं, लाग भरै सो महरी रे॥
कहै मुहम्मद नहा न पारै, गहा न लहाि बुडाइ रे।
जहाँ मान आपन नहिं देखै, लाखन छाँड़ पराइ रे॥

[ ७ ]

है कापर झाँगर अरुझाना, सकहु न चलहु छुड़ाइ रे।
एक राह जो गुरू बताई, साथ पाँच समुहाई रे॥
बरजत रहहु होइ जनि करकच, करहैं कौन झँकारै रे।
... ...
मनुवहिं गही रहिअ मन मारै, खाँकहु खाँकि न बोलिअ रे।*
मनुवा मीत मिलाइ छाँड़ै, कामा(?)काहु न खोलिअ रे॥
जोगहिं भूलि जुगुति नहिं भूलहु, जोग जुगुति पुनि मागहु रे।
जो एहि भाँति करहु मतवारे, तौ मद सों नित बाँचहु रे॥
नाहिं तौ ठाकुर है अति दारुन, करहु चार कोइ चारा रे।
मारहु बाँधि डाँड़ कै लेहु, निसरहि सब मतवारा रे॥
जबहिं सोंटिया आइ तुलाइहि, सांनि परह पर टूटिहि रे।
भाइ बंधु ठाढ़हिं सब देखैं, काहु के कहे न छूटिहि रे॥
लै धिसियाइ चलहिं राउर कहँ, उतर देत मुँह मारिहि रे।
कुड़बा लोग कहा नहिं लागै, कहै न को उर पारिहि रे॥
कहै मुहम्मद सो मतवारा, जो पिउ के मदमाते रे।
ताकर पिया नीक मोहिं लागै, नाहीं तो झूठे नाते रे॥

[ ८ ]

हुड़ुक झाँझ सब बाजत आवहिं, औ घेरा सब नाचै रे।
चढ़ि कै दूलह ब्याहन आवै, दुलहिनि बहु रँग राचै रे॥
रहस कोड सब महरी गावहिं, सब कर आइस बियाहु रे।
नैहर छाँड़ि चलब अब सोहरें, समुझि परै नहिं काहु रे॥

* पंक्ति प्रति में नहीं है।

बात सुनहु तुम्ह सखी सहेली, सत तोलौं तुम आगे रे।
सवरि सेज मन पियकै डरपौ, रहै खुरुक जिम लागे रे॥
गीत बाद मोहि कछू न भावै, हौं तेहि संग सगाई रे।
कंत बाँह धरि पूँछै बैना, कहा कहब तेहि ठाईं रे॥
इहाँ खेलि लेहु जो खेलन, उहाँ खेल कस होई रे।
सास ननँद देइहैं उलहाना, लाज रहब मुँह गोई रे॥
देवर जेठ केर सुनतहि सनका, निसरि होब तहीं ठाढ़ी रे।
गुनवर ससुर देखि कस बालब, निसि दिन घूँघट काढ़ी रे॥
कहै मुहम्मद सोइ सुहागिनि, जो अइसै पिउ रावै रे।
नैहर केर होइ गुनवंती तब, ससुरें सुख पावै रे॥

[ ९ ]

सखी सहेली सुनहु सोहागिनि, सब कोउ अइसि बियाही रे।
नैहर दिवस चारि लै रहना, ससुरें ओर निबारी रे॥
जनमत दुइ बटवा होइ जाहीं, अस चरित्र बिधि खेला रे।
दुइ दुइ लाइ जगत सब जोरा, आपुन रहा अकेला रे॥
सरग लाइ धरती सों जोरा, चंद सूर दुइ कीन्हे रे।
दिन औ राति भोर औ साँझा, सेत स्याम दुइ चीन्हे रे॥
भै इस्तिरी पुरुख दुइ हौं लै, ईसर गौरा सानेउ रे।
उहाँ सबद एक सुना स्रवन दुइ, जब दुइ मथवा बाजेउ रे॥
चले लखपती होइ दुइ भारा, भारदुख सुख कर लीन्हा रे।
जो नहिं होत बरन दुइ प्रगटे, कहा कहिअ तो कीन्हा रे॥
हिंदू तुरुक दोउ पर देखौं, जो बारा सो ब्याहा रे।
बूझि बिचारि देखु मन अपने, भए जनम कर लाहा रे॥
कहै मुहम्मद दुइ जग तारे, लीन्हे पिउ कर आएसु रे।
जेहि जेहि पँथ चलावै सजना, हठि हठि मारग जाएसु रे॥

[ १० ]

सुनि रे अयाने होइ हुसियाले, गुरू ग्यान मति लीन्हे रे।
चलि पनिहारी परग सँभारी, पानि भरन जब दीन्हे रे॥

दुइ कानन कुंडल पहिरहु औ, लाइ बिज्जु चमकारा रे।
भीतर नाक दिपै गज मोती, सोहै सोहिल तारा रे॥
कोकिल कंठ संपूरन अभरन, हिरदै हार बिसाला रे।
दोउ कुच बीच बनी रोमावलि, चंप कुसुम कै माला रे॥
दुइ पायन पायल औ चूरा, अस, कै कीन्ह सिंगारा रे।
काया साजि माँजि कै दरपन, देखै सबहि सितारा रे॥
कहै मुहम्मद कौन सुनै दुइ, दुइ जग से सब जानेउ रे।
दाहिन बायें बूझि कै होइ रहु, तो आपुहि पहिचानेउ रे॥

[ १३ ]

साजहु साजहु होव चहूँ दिसि, गै बरात निअराई हो।
सुनि पिय केर गहगहे बाजन, धिक धिक जीउ चुराई हो॥
खिन खिन अँसुवा ढुरि ढुरि आवहिं, लै चला मँदिर गोसाईं रे।
बिछुरहिं बाप भाइ महतारी, समुझि न रहै रोवाईं रे॥
लाग बराती भीतर पैठै, अब मिलि लेहु सहेली रे।
तुम ठाढ़े सब घूँघट देखहु, हौं धनि देब अकेली रे॥
चाहिअ चित्र भोग मत बिसरहु, बाउर होइ जिउ जाई रे।
हँसि हँसि कंत बात जो पूँछहि, रोइ रोइ उत्तर पाई रे॥
तासों प्रीति पेट भरि करिही, जो ओहि के मन भाई रे।
पिय कर खेल मरन धनिआ कर, बोले कछु न बसाई रे॥
जा तिसु नगर ठौर है मुहमद, मनुवाँ सो निति जूझै रे।
मारे मरै न मान मनोरथ, बाउर कभी न पूजै रे॥

[ १४ ]

निचिंत रहिउँ जानी नहिं पाइउँ, आए खटोलिनहारा रे।
ठावँहि ठावँ रहा सब अस पुनि, सुनि पिय केर कहाँरा रे॥
समदि तू लोक को मीत भाइ बंधु, तैं [न?] नियर ठहरावै रे।
अब नैहर तजि भई पराई, चला लोग पहुँचावै रे॥

दुइ कानन कुंडल पहिरहु औ, लाइ बिज्जु चमकारा रे।
भीतर नाक दिपै गज मोती, सोहै सोहिल तारा रे॥
कांकिल कंठ संपूरन अभरन, हिरदै हार बिसाला रे।
दोउ कुच बीच बनी रोमावलि, चंप कुसुम कै माला रे॥
दुइ पायन पायल औ चूरा, अस! कै कीन्ह सिंगारा रे।
काया साजि मांजि के दरपन, देखै सबहि सितारा रे॥
कहै मुहम्मद कौन सुनै ·दुइ, दुइ जग से सब जानेउ रे।
दाहिन बायें बूझि कै होइ रहु, तो आपुहि पहिचानेउ रे॥

[ १३ ]

साजहु साजहु होउ चहूँ दिसि, गै बरात निअराई हो।
सुनि पिय केर गहगहे बाजन, धिक धिक जीउ चुराई हो॥
खिन खिन अँसुवा ढुरि ढुरि आवहिं, लै चला मँदिर गोसाईं रे।
बिछुरहिं बाप भाइ महतारी, समुझि न रहै रोवाई रे॥
आग बराती भीतर पठै, अब मिलि लेहु सहेली रे।
तुम ठाढ़ सब घूँघट देखहु, हौं धनि देब अकेली रे॥
चाहिअ चित्र भोग मत बिसरहु, बाउर होइ जिउ जाई रे।
हंसि हंसि कंत बात जो पूँछहि, रोइ रोइ उत्तर पाई रे॥
तासों प्रीति पेट भरि करिही, जो ओहि के मन भाई रे।
पिय कर खेल मरन धनिआ कर, बोले कछु न बसाई रे॥
जा तिसु नगर ठौर है मुहमद, मनुवाँ सो निति जूझै रे।
मारे मरै न मान मनोरथ, बाउर कभी न पूजै रे॥

[ १४ ]

निचिंत रहिउँ जानी नहिं पाइउँ, आए खटोलिनहारा रे।
ठावँहिं ठावँ रहा सब अस पुनि, सुनि पिय केर कहाँरा रे॥
समदि लू लोक को मीत भाइ बंधु, तैं [न?] नियर ठहरावै रे।
अब नैहर तजि भई पराई, चला लोग पहुँचावै रे॥

कहन न आना रिस का बूझा, रिस अरु राँडकी लहुराई रे।
नैन लागे जो देखन पौदहि (?), यह कस दोसरि साईं रे॥
मूँ मन तेरे उर भा हेरें, राखहि सीर (?) गोसाईं रे।
महरी गावत हुडुक बजावत, रात करब सब आई रे॥
खिन खिन काँपै औ मुख झाँपै, तहाँ न आपन कोई रे।
चहुँ दिसि बूझै कहूँ न सूझै, तेहि दुक्ख हौं रोई रे॥
कंत पियारा हो कनहारा, हौं धनि निरखन हारी रे।
जो हँसि बैठै सब दुख मेटै, तौ पै कुसल हमारी रे॥
कहै मुहम्मद पिउ मद मातेउ, कहौ मोर कछु नाहीं रे।
भार जो लादहु सो सत छाँड़हु, पुनि पाछें पछिताहीं रे॥

[ १७ ]

सबही सेवा दुख ना जीवाँ, कासों कहौं को साखी रे।
घरी जम होइ लाग तस ..*, फिरि नहिं धंधा राखी रे॥
भयेउ नियान तहाँ मति(?)मंडप, महँ सकति आनि हिय केरी रे।
पूजा पाती देवस न राती, सब मानैं चहुँ फेरी रे॥
कंत निबाहै दुलहिनि चाहै, पहिलै तस वहि पासा रे।
संग सहेली रहौं अकेली, तौ पूजै मन आसा रे॥
अवधू अथिरे बूड़हू सतरे, जौ लहि हो भिनुसारा रे।
पुनि हम आउब आनि उठाउब, ले जाउब घर बारा रे॥
अस कहि कोई रात दरोबे (?), देखै बज्र किवारा रे।
मंडप महँ मैं फिरब सकाना, नगर आव अँधियारा रे॥
कहै मुहम्मद सँवरहु ओही, जो वहि भार बहु खाँचे रे।
मुवसि न जौलहि मरा न तौ लहि, जो मारि जिअे सो नाँचै रे॥

*प्रति में यह शब्द छूटा हुआ है।

कहै मुहम्मद बूझि करहु मुधि, नेहि चित आँखिन्ह बांधे रे।
... न दूसर बाबुल आसर, अस कै पिउ अवराधें रे॥

[ २० ]

भा भिनुसार अधिकारा. होतहिं [*] पाछिल पहरा रे।
दूलह बोलावहु चौक पुरावहु, ओ हँसि बोला महरा रे॥
ढुढुक तबला झाँझ मँजीरा, महुवर बाँसुरि बाजै रे।
सबद सोहावा मेहरिन गावा, घर घर महरी साजै रे॥
पूजा पाती दुलहिन राती, दूलह भा असवारा रे।
बाजन बाजे कियेउ सब साजे, भा सब तत्त पसारा रे॥
मंगलचारा भा चहकारा, चले गरब सब केली रे।
... ... ... ... । †
सुंदरि लै लै महरी दही दही, राती सबहीं डोली रे।
महा सन भीनेउ मोजा तीनौ (?), जस फागुन कै होली रे॥
कहै मुहम्मद मोइ सो रहहू, जो दिन आगे आवै रे।
है एकै नग मुँदरी सब जग, दीन्ह सोहाग को पावै रे॥

[ २१ ]

जोग चढ़ाइ काँप तब जोरै, जो मुख दीपक बारें रे।
कहा सो नारी खेलनवारा, प्रेम प्रीति उजियारें रे॥
नाउँ ओइ सारा दुवा सम्हारा, पूरा सोहार सो वारी रे।
जस भादौं होइ नदिया भारी, पुरुख जिता धनिहारी रे॥
सो धनि बारी है कलवारी, सँवरि बेल अस चाखै रे।
जेउँ जेउँ कलियाँ औ रस रलियाँ, सेज साजि धनि राखै रे॥
कान्ह चले तजि सब गयेउ, भामी को बसागि [करै?] बासा रे।

---

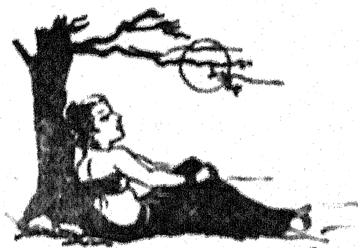
* प्रति में यहाँ शब्द छूटा हुआ है।
† प्रति में यह पंक्ति छूटी हुई है।

गोकुल छाँड़ा छाग मधुबन, किए कूबरा घर बासा रे ॥
कहै मुहम्मद नारि होइ गा[नी?], कंत दिस्टि सो बहुरै रे ।
अधिक बादि(?)कै रहै अकस्म दै, आनि निबाजै ठौरै रे ॥

[ २२ ]

दीन्ह बसेरा गाउँ आस पावा, भले भई जस आसी रे ।
बेधा भँवर बास रस भूला, चढ़ि दिस्टि केंटवा आसी रे ॥
विधि का चरित देइ नहिं जो जानि, जस भरि नस न बिसारे रे ।
तरवर डारि देहि लै बैरै, बैरै, दीन्ह को भँडार रे ॥
जोग सेवक आपुन कै जानै, नहिं भीख मँगावै रे ।
कहता पंडित दुक्ख दरद महँ, सुक्ख राज बड़ आवै रे ॥
चंदन जहाँ नाग तहाँ बादि कै, जहाँ फूल तहाँ काँटा रे ।
मधु जहवाँ किन माखी तहवाँ, गुर जहवाँ तहँ चाँटा रे ॥
करि कुबेर निरमूल कीन्ह धरि, समुँद खार किय पानी रे ।
छपद छचाख अकेला कीए, मँदिका रावन गहि मानी (?)॥
कहै मुहम्मद जो रे भलो बड़, भली गरब धरि पूरा रे ।
निहकलंक बस आपु गोसाईं, बारह बानी पूरा रे ॥

इति शुभम्



'पद्मावत भाष्य' पर कुछ सम्मान्य

# सम्मतियाँ

रीतिकालीन कवियों में जायसी की रचनाएँ अपना विशेष महत्व रखती
है। प्रेम का विशुद्ध विश्लेषण जायसी की रचनाओं में ही प्राप्य है।
'पद्मावत' का अनुशीलन कर कोई भी सहृदय प्रेम की महत्ता स्वीकार नहीं
कर, ऐसा संभव नहीं। फिर भी उनकी कविताओं का रसास्वादन सभी के
लिए सरल नहीं है। भाषा और भाव को दृष्टि में रख कर उनकी रचनाओं का
आस्वादन विद्वान् ही कर सकते हैं।

हिन्दी में 'पद्मावत-भाष्य' प्रस्तुत कर श्री गौतम जी ने साहित्य-संसार
को वह वस्तु प्रदान की है—जिसकी बड़ी अपेक्षा थी। रीगल बुक डिपो को
ऐसे प्रकाशन के लिए शतशः धन्यवाद है।

प्रो० ठा० रामलगनसिंह एम० ए०

'पद्मावत-भाष्य' का स्वागत हिन्दी-संसार करेगा, ऐसा मेरा विश्वास
है। श्री गौतम जी ने एक भाष्यकार का सफल दायित्व निभाया है। जायसी
की सभी प्राप्त रचनाएँ भी इसमें परिशिष्ट रूप में संकलित कर दी गई हैं—
जिससे पुस्तक का महत्व और भी बढ़ गया है।
भाष्यकार तथा प्रकाशक, दोनों ही बधाई के पात्र हैं।

श्री कुमुद विद्यालंकार

'पद्मावत-भाष्य' हिन्दी में पहला सर्वाङ्ग पूर्ण भाष्य कहा जायगा।

डा० सत्यव्रत एम० ए०, पी-एच० डी०

'पद्मावत भाष्य' उन विद्यार्थियों तथा अनुशीलन-प्रिय हृदयों को संतोष देगा, जिन्हें मध्यकालीन कवियों का अध्ययन अपेक्षित है। भाष्य में प्रामाणिकता का जोर है।

श्री शम्भुनाथ बलियाग्रे 'मुकुल'

सम्पादक—'प्रकाश'

जायसी की रचनाओं पर प्रोफेसर गौतम जी ने जो श्रम किया है, वह अभिनंदनीय श्रम कहा जायगा। 'पद्मावत भाष्य' अपने ढंग का अद्वितीय भाष्य है।

श्री श्यामवदन पाठक 'श्याम'

'पद्मावत भाष्य' के भाष्यकार अपने प्रयत्न में, बहुतों को पीछे छोड़ गए हैं। प्रस्तुत कृति उन्हें यशस्वी बनाएगी, इसमें सन्देह नहीं।

श्री सुमन सांकृत्यायन

भाष्यकार का कार्य बड़ा ही संकट पूर्ण होता है— सभी के लिए इस क्षेत्र में सफलता संभव नहीं होती। श्री गौतम जी की सफलता पर हमें ईर्ष्या है।

श्री रामावतार 'शक्र'

सम्पादक 'बाद्दंश'

'पद्मावत भाष्य' के लिए मैं इतना ही कहूँगा कि श्री गौतम जी ने 'कीन्हों सुलभ सुधा बसुधा हू' की उक्ति चरितार्थ करदी है। बधाई।

श्री आशुतोष

सह-सम्पादक—'विश्वमित्र'